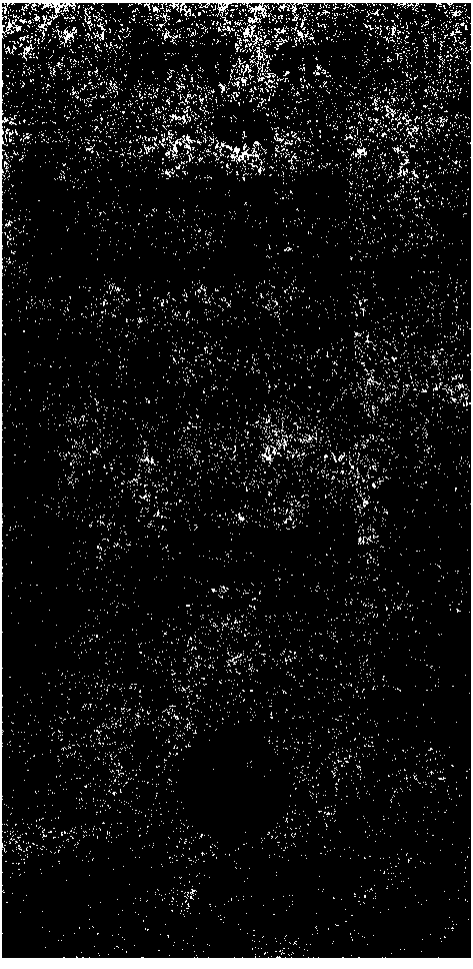

हिन्दी भाषा
और
साहित्य का
विवेचनात्मक इतिहास

डा० धीरेन्द्र वर्मा पुस्तक-संग्रह

लेखक
श्रीव्यथितहृदय
लेक्चरर
हिन्दू महिला विद्यालय

स्टूडेण्ट्स फ्रेण्ड्स
प्रयाग : काशी

प्रकाशक
श्री अविनाश चन्द्र सामन्त
स्टूडेण्ट्स फ्रेण्ड्स
प्रयाग

मुद्रण अधिकार १९५६
सर्वाधिकार सुरक्षित। केवल टीका-टिप्पणी के निमित्त किसी समालोचक को छोड़कर अन्य को प्रकाशक की लिखित अनुमति बिना इस पुस्तक का कोई लेख किसी रूप में उद्धृत करने का अधिकार नहीं।

मूल्य ७)

मुद्रक—
श्री विनोद शङ्कर शुक्ल
प्रमोद प्रेस
१० युनिवर्सिटी रोड
इलाहाबाद

आत्म निवेदन

प्रस्तुत पुस्तक में भाषा विज्ञान, हिन्दी भाषा, और साहित्य तथा साहित्य के अंगों का विवेचन किया गया है। भाषा विज्ञान और हिन्दी भाषा पर सूक्ष्म रूप में ही प्रकाश डाला गया है। हिन्दी साहित्य और साहित्य के अङ्गों का विवेचन दो दृष्टियों से किया गया है—ऐतिहासिक दृष्टि से, और विवेचनात्मक दृष्टि से। यद्यपि दोनों ही दृष्टियों के विवेचन में उतनी ही दूरी का मार्ग तै किया गया है, जितना, कि सर्वोच्च कक्षा के विद्यार्थियों के लिए आवश्यक है, फिर भी यह कहने में संकोच नहीं किया जा सकता, कि उस दूरी में महत्त्वाकांक्षा है। प्रस्तुत पुस्तक का निर्माण मुख्य रूप से विद्यार्थियों के लिए किया गया है। अतः इसमें उन अंशों को जान बूझ कर बचाया गया है, जो विषय का अनावश्यक रूप से विस्तार करते हैं, और जिनके कारण विषय विद्यार्थी के लिए एक जाल सा बन जाता है। विषय और उसकी सामग्रियों की संयोजना में विद्यार्थियों की आवश्यकताओं पर पूर्ण रूप से ध्यान दिया गया है। विषय को स्पष्ट करने, और उसके प्रत्येक चित्र को साफ-साफ सामने उपस्थित करने के प्रयत्न की मुख्य रूप से चेष्टा की गई है। काव्य से लेकर हिन्दी निबन्ध तक की भाषा और शैली तथा उसके सौन्दर्य का विवेचन सरलता और सुस्पष्टता को ही ध्यान में रख कर किया गया है। विवेचन में जिस भाषा और शैली का उपयोग किया गया है, उसे शक्ति भर दुरूहता से बचाने का प्रयत्न किया गया है। यथा-शक्ति सरल भाषा और व्यंजक शैली के ही द्वारा विषय के चित्रों को सुस्पष्ट करने का प्रयत्न किया गया है। इस बात का तो दावा नहीं किया जा सकता, कि इतिहास और विवेचन के क्षेत्र में पुस्तक सर्वश्रेष्ठ होगी। पर यह बात निःसंकोच रूप से कही जा सकती है, कि पुस्तक को नवीनता के साँचे में ढालने का प्रयत्न किया गया है। पुस्तक में नवीनता और उपयोगिता के कितने तत्त्व हैं—इसका निर्णय तो विद्यार्थी समुदाय ही कर सकेगा; क्योंकि पुस्तक के निर्माण में जो भी प्रयत्न किये गये हैं, उनका एक मात्र ध्येय विद्यार्थियों की ही आवश्यकताओं की पूर्ति करना है।

पुस्तक की सामग्री की संयोजना में कई गण्यमान लेखकों की कृतियों से सहायता ली गई है। इन लेखकों में डा० रामकुमार वर्मा, डा० धीरेन्द्र वर्मा, डा० हजारी

प्रसाद द्विवेदी, पं० रामचन्द्र शुक्ल, श्री राजेन्द्र प्रसाद गौड़, डा० श्यामसुन्दरदास, डा० मंगलदेव, श्री जनार्दन स्वरूप अग्रवाल और श्री पं० नन्ददुलारे वाजपेयी इत्यादि का मख्य स्थान है। हम इन लेखकों के हृदय से कृतज्ञ हैं, और उनके प्रति अपना आभार प्रदर्शित करते हैं। अन्त में हम अपने विद्वान और श्रद्धेय बन्धु डा० रामकुमार वर्माजी के प्रति हृदय से कृतदाता प्रगट कर रहे हैं, जिन्होंने अवकाश न रहते हुए भी इस पुस्तक पर दो शब्द लिख कर मुझ पर अत्यन्त कृपा की है।

आशा है, विद्यार्थी समुदाय में पुस्तक को स्थान प्राप्त हो सकेगा।

श्रमिक निवास, कटरा
प्रयाग
२२।११।५५

विनीत
श्रीव्यथितहृदय

—०—

भूमिका

किसी देश के साहित्य का इतिहास वहाँ की सांस्कृतिक एवं सामाजिक प्रवृत्तियों की क्रिया-प्रतिक्रिया का आकलन है। एक आलोचक के सम्मुख साहित्य का इतिहास लिखते समय अनेक समस्याएँ उठ खड़ी होती हैं। भारतवर्ष ने शताधिक वर्षों की परतन्त्रता देखी है, और इसी कारण विषम परिस्थितियों में लिखित प्रचुर साहित्य-राशि का पता ही नहीं चलता। परिणाम स्वरूप साहित्य की परम्पराओं के अनुशीलन के समय जो व्यवधान पड़ता है, उसकी विवेचना के लिए लेखक को अनुमान का आश्रय लेना पड़ता है।

श्री व्यथितहृदय द्वारा लिखित प्रस्तुत ग्रन्थ अनेक दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण है। 'हिन्दी भाषा और साहित्य का विवेचनात्मक इतिहास' इतिहास की परम्परा का नवीन पुष्प है, जिसमें भाषा और साहित्य के विभिन्न अंगों का सुगठित और क्रमिक अध्ययन है। पुस्तक की अपनी विशेषता यह है कि श्री व्यथितहृदयजी ने विषय का विवेचन परम्परागत काल-विभाजन के अनुसार न करके, भाषा, काव्य, गद्य उपन्यास, कहानी, एकांकी, नाटक, निबन्ध आदि की विचार धारा के आधार पर स्पष्ट किया है।

विषय-प्रतिपादन सरल और सुबोध है। विश्वविद्यालय के विद्यार्थियों के लिए यह पुस्तक निस्सन्देह लाभप्रद सिद्ध होगी, तथा साहित्य-प्रेमी भी इसका उपयोग कर सकेंगे।

श्री व्यथितहृदयजी का यह प्रयास प्रशंसनीय है। आशा है, हिन्दी-प्रेमी इसे अपनाकर अपनी गुण-ग्राहकता का परिचय देंगे।

साकेत,
इलाहाबाद—२
२२-११-५५

रामकुमार वर्मा

मुख्य सूची

१—भाषा विज्ञान	१
२—हिन्दी भाषा और उसका विकास	५१
३—हिन्दी काव्य	६१
४—गीति काव्य	२६६
५—हिन्दी गद्य	३४५
६—कहानी	४६५
७—उपन्यास	५२४
८—नाटक	५८७
९—एकांकी	६८१
१०—निबन्ध	७२५

विशेष द्रष्टव्य—प्रत्येक अध्याय की विस्तृत सूची उसी अध्याय के प्रारम्भ में देखिए। अध्याय का पृष्ठ संख्या मुख्य सूची में देखिए।

१

भाषा विज्ञान

विषय सूची

१—प्रवेश १

(क) भाषा विज्ञान क्या है ? (ख) तुलनात्मक भाषा विज्ञान, (ग) भाषा-विज्ञान या कला, (घ) भाषा विज्ञान और व्याकरण ।

२—भाषा ७

(च) भाषा की उत्पत्ति, (छ) भाषा और परम्परा, (ज) भाषा अर्जित सम्पत्ति है, (झ) भाषा विकास के कारण, (ञ) भाषा और बोलियों का अन्तर ।

३—ध्वनि विचार १४

(ट) ध्वनि, (ठ) ध्वनि-विचार के अंग, (ड) ध्वनि के प्रकार—नाद और श्वास (ढ) ध्वनियों का वर्गीकरण, (त) स्वर और ध्वनियों का वर्गीकरण, (थ) व्यंजनों का वर्गीकरण, (द) ध्वनियों के गुण, (ध) संयुक्त ध्वनियाँ, (न) ध्वनि परिवर्तन के कारण ।

४—रूप-विचार २३

(प) शब्द, (फ) पद और सम्बन्ध तत्त्व, (ब) सम्बन्ध और अर्थ तत्त्व का पारस्परिक सम्बन्ध, (भ) संबन्ध तत्त्व के काम ।

५—वाक्य-विचार २६

(म) वाक्य, (य) वाक्यों के प्रकार, (र) वाक्य क्यों बदलते हैं ?

६—अर्थ विचार २८

(ल) अर्थ विचार का विषय, (व) अर्थ परिवर्तन की दिशाएँ, (श) अर्थ परिवर्तन के कारण ।

७—भाषाओं का वर्गीकरण ३१

(ष) आकृति मूलक भाषाएँ, (स) योगात्मक, (ह) पारिवारिक मूलक, (क्ष) अफ्रिका खण्ड, (त्र) यूरेशिया खण्ड, (ज्ञ) प्रशांत महासागरीय खण्ड (श्र) अमरीका खण्ड ।

८—भाषा विज्ञान का इतिहास ४३

(इ) भारत में भाषा विज्ञान, (ई) पश्चिम में भाषा विज्ञान ।

९—लिपि और उसका विकास ४६

(उ) लिपि और उसकी उत्पत्ति, (ऊ) लिपि विकास की अवस्थाएँ, (ए) चीनी लिपि, (ऐ) यूरोपीय लिपियाँ, (ओ) भारतीय लिपियाँ, (औ) लिपि ज्ञान, (क) ब्राह्मी और भारतीय लिपियाँ ।

—:o:—

प्रवेश

संपूर्ण विश्व शब्दमय है। ब्रह्मांड दिन रात शब्दों से ही गुंजित रहता है। संपूर्ण सृष्टि में जितने प्राणी हैं, उन सब के पास मनोगत भावों को व्यक्त करने के लिए अपने अपने शब्द हैं। सभी अपने अपने शब्दों ही के द्वारा अपने उस हृदय के भाव को, जो भावों और विचारों का स्रोत कहा जाता है, अभिव्यक्त करते हैं। अतः विश्व के रंग मंच पर शब्दों की अधिक महत्ता है। भाषा का गठन शब्दों ही के द्वारा होता है। शब्दों के द्वारा सुगठित भाषा का विस्तृत व्यापार आज समस्त विश्व में फैला हुआ है। विश्व के समस्त कार्य-क्षेत्र आज भाषा की विश्व व्यापिनी शक्ति से ही संचालित हो रहे हैं। भाषा कितनी सामर्थ्य शालिनी है, कितनी उपयोगिनी है, क्या इसका चित्रण वास्तविक रूप से किया जा सकता है!

विश्व में जितने प्राणी हैं, सब के पास अपनी-अपनी भाषा की सम्पत्ति है। उन प्राणियों की बात नहीं, जो भाषा की संपत्ति होने पर भी मानवों की भाँति उसका उपयोग करने में अक्षम होते हैं, पर मानव जगत में भाषा के सम्बन्ध में आये दिन विवेचना होती ही रहती है। प्रत्येक शिक्षित और अशिक्षित मनुष्य के अधर पर भाषा की बात रहती है। व्यक्तिगत जीवन में भाषा का महत्त्व तो है ही, सामाजिक और राष्ट्रीय जीवन के उत्थान में भी भाषा का अत्यधिक हाथ होता है। अतः सामाजिक और राष्ट्रीय उत्थान-आंदोलनों के साथ ही साथ भाषा के उत्थान और विकास के लिए भी आंदोलन होते ही रहते हैं; तात्पर्य यह है, कि भाषा मनुष्य की विविध प्रकार की प्रगतियों, वैभवों, और उन्नति की सहगामिनी है। अतः भाषा से संबंध रखने वाले सम्पूर्ण ज्ञान का बोध प्रत्येक शिक्षित जन को भली प्रकार होना आवश्यक है।

मानव जीवन का संपूर्ण व्यापार आदान-प्रदान पर निर्भर है। आज मानव विश्व के कोने-कोने में फैला हुआ है; पर यदि देखा जाय तो उसका समस्त व्यापार एक दूसरे से संबंधित है। मनुष्य ने अपने व्यापार के आदान प्रदान, अपने विचारों के विनिमय, और अपने संबंधों के स्थापन तथा उनके विकास के लिए एक ऐसे महत्व पूर्ण साधन का आविष्कार किया है, जो आज उसके जीवन के लिए एक अमूल्य संपत्ति प्रमाणित हो रहा है। मनुष्य के उसी आविष्कृत साधन का नाम भाषा है; दूसरे शब्दों में भाषा वह शक्ति है, जो सार्थक ध्वनियों की समष्टि से बनती है, और जिसके द्वारा मनुष्य अपने विचारों का आदान-प्रदान करता है। विचारों के आदान प्रदान के लिए और भी

भाषा किसे कहते हैं!

कई साधन हैं—जैसे शरीर के विभिन्न अंगों द्वारा मन के विचारों को अभिव्यक्त करना, झंडियों और भाँति-भाँति के सांकेतिक चिह्नों के द्वारा मन के भावों को प्रकट करना तथा भाँति-भाँति की वस्तुओं के द्वारा मनोगत भावों को एक दूसरे पर प्रगट करना, पर क्या मनोगत भावों को व्यक्त करने वाले इन तथा दूसरे संपूर्ण संकेतों को भी हम 'भाषा' की संज्ञा दे सकेंगे? यद्यपि इन साधनों और संकेतों से भी आवश्यकतानुसार मनोगत भाव प्रगट किए जाते हैं, पर भाषा अपने रूप में इतनी विस्तृत नहीं होती, जितने, कि उक्त साधन और संकेत हैं। भाषा के निश्चित नियम, और उसकी व्यवस्थाएँ होती हैं। उसका स्वरूप नियमों, और व्यवस्थाओं से आग्रस्त होने के कारण सीमित होता है। वह सार्थक होती है, और श्रवणेन्द्रिय से सुनी जाती है। अतः हम भाषा केवल उसी को कहेंगे, जो सार्थक होती है, और मनुष्य की सार्थक ध्वनियों की समष्टि से बनती है।

विश्व में जितनी भाषाएँ हैं, सब का अपना पृथक पृथक इतिहास है। किसी एक भाषा के जीवन में उसके अनेक उत्थान-पतन की कहानियाँ सम्मिलित होती हैं। कुछ महत्व पूर्ण बातें ऐसी हैं, जो प्रत्येक भाषा के जीवन में पाई जाती हैं। जैसे:—भाषा की उत्पत्ति, भाषा का विकास, भाषा को बनाने वाली बोलियाँ, और उपबोलियाँ, युग और जातियों का भाषा पर प्रभाव, अन्यान्य भाषाओं के शब्दों की

भाषा विज्ञान क्या है?

उत्पत्ति, और उनके रूपों का विकास, तथा वाक्यों की बनावट इत्यादि। प्रत्येक उन्नति पूर्ण भाषा के जीवन में भाषा सम्बन्धी इन तथ्यों का समावेश रहता है। जो शास्त्र हमें भाषा के जीवन से सम्बन्ध रखने वाले उपरोक्त तथ्यों को जानने, समझने, और अध्ययन करने में सहायता प्रदान करता है; दूसरे शब्दों में जिसके द्वारा हम भाषा से सम्बन्ध रखने वाली उक्त समस्त बातों का ज्ञान प्राप्त करते हैं, उसे भाषा शास्त्र या भाषा विज्ञान कहते हैं।

तुलनात्मक भाषा विज्ञान

किसी भी भाषा के वैज्ञानिक अध्ययन को ही 'भाषा विज्ञान' कहते हैं। भाषा के वैज्ञानिक अध्ययन में दो बातें मुख्य रूप से सम्मिलित रहती हैं। एक तो वह, जिनका ज्ञान हम ऐतिहासिक पद्धति के द्वारा प्राप्त करते हैं। ऐतिहासिक पद्धति के द्वारा हम किसी भाषा के जीवन और उसके इतिहास का संपूर्ण ज्ञान प्राप्त करते हैं। किसी भी भाषा का ऐतिहासिक और उसके जीवन संबंधी समस्त बातों का अनुशीलन करने के पश्चात् हम उसी दृष्टि से अन्यान्य भाषाओं का अनुशीलन और अध्ययन करते हैं, और एक भाषा के सिद्धांतों तथा नियमों से दूसरी भाषा के सिद्धांतों तथा नियमों की तुलना करते हैं। इसको तुलनात्मक अध्ययन कहते हैं। तुलनात्मक अध्ययन के द्वारा हमें भाषा के वे गुण-दोष ज्ञात होते हैं, जो अन्यान्य भाषाओं की अपेक्षा उसमें विद्यमान हैं। जो शास्त्र हमें भाषा, और भाषाओं के पारस्परिक गुण-दोषों को अवगत कराता है, अथवा जिसके निश्चित विधानों के द्वारा हम अन्यान्य भाषाओं के गुण-दोष पर

दृष्टि डालते हुए किसी भाषा के गुण-दोष निश्चित करते हैं, उसे तुलनात्मक भाषा विज्ञान कहते हैं।

भाषा विज्ञान का मानव मात्र से अधिक घनिष्ठ संबंध है। यह एक ऐसी वस्तु है, जो मानव के जीवन में अधिक महत्त्व पूर्ण स्थान रखती है। अतः विश्व के

भाषा विज्ञान- विज्ञान या कला ?

विद्वान भाषा विज्ञान और उसके सिद्धांतों के संबंध में बड़ी संलग्नता से रुचि दिखाते रहे हैं। भाषा विज्ञान 'शुद्ध विज्ञान' है, या कला—इस सम्बन्ध में भी वे गवेषणा करते रहे हैं। 'विज्ञान' और 'कला' की स्वाभाविक प्रवृत्तियों का मंथन करने के पश्चात् संसार के विद्वानों ने यही निष्कर्ष निकाला है, कि भाषा विज्ञान की गणना विज्ञान के ही क्षेत्र में की जानी चाहिए, क्योंकि विज्ञान की भाँति ही भाषा विज्ञान के भीतर भी प्रकृति की शक्तियाँ सन्निहित हैं।

सृष्टि के रंग मञ्च पर दो प्रकार की कृतियाँ पाई जाती हैं। एक प्रकार की कृतियाँ तो वे हैं, जो मनुष्य कृत हैं, और दूसरी प्रकार की कृतियाँ वे हैं, जिनमें प्रकृति की शक्तियाँ समाविष्ट हैं। मनुष्य कृत कृतियों में चित्रकला, मूर्तिकला, और काव्य कला इत्यादि का स्थान है। इन्हीं कृतियों को हम कलात्मक या कला संबंधी कृतियाँ कहते हैं। प्रकृति सम्बन्धी कृतियों में वनस्पति विज्ञान, भौतिक विज्ञान, जीवन विज्ञान, और मनोविज्ञान इत्यादि रचनाएँ आती हैं। इन्हीं रचनाओं को वैज्ञानिक कृतियाँ या विज्ञान संबंधी रचनाएँ कहते हैं। 'भाषा विज्ञान' विज्ञान है या कला—इसका निर्णय करने के पूर्व हमें कलात्मक, और वैज्ञानिक कृतियों की प्रकृति पर ध्यान देना होगा। कलात्मक कृतियों में मनुष्य का प्रयास होता है, पर वैज्ञानिक कृतियाँ प्रकृति की ही शक्ति की ओर देखती हैं। कलात्मक कृतियाँ मानवीय शक्तियों और आंदोलनों से प्रभावित होती हैं, पर वैज्ञानिक कृतियों का संबंध अधिकतर प्रकृति से ही होता है। कलात्मक और वैज्ञानिक कृतियों की प्रवृत्ति को ध्यान में रख कर जब हम 'भाषा विज्ञान' पर विचार करते हैं, तो वस्तुतः उसे विज्ञान के ही निकट पाते हैं, क्योंकि उसके प्रारंभ, और विकास का संबंध प्राकृतिक सिद्धान्तों से ही मुख्य रूप से है। यद्यपि भाषा के विकास में मनुष्य का भी हाथ होता है, पर यह विकास भी शक्ति के ही ऊपर आधारित है। भाषा का विकास मनुष्य के द्वारा होता है, उसमें मनुष्य की सामूहिक शक्ति अंतर्निहित रहती है। एक मनुष्य जहाँ कलात्मक कृतियों का निर्माण कर सकता है, वहाँ उसके द्वारा किसी भाषा का निर्माण नहीं हो सकता। भाषा सदा शक्ति और प्रकृति की ही ओर देखती है। उसकी उत्पत्ति और विकास में प्रकृत ही प्रकृति रूप में विद्यमान रहती है। अतः 'भाषा विज्ञान' की गणना कला में नहीं, विज्ञान में ही की जाती है।

भाषा के क्षेत्र में 'भाषा विज्ञान' से मिलता जुलता, एक दूसरा शास्त्र है, जिसका संबंध भी भाषा से अधिक घनिष्ठ है। उस शास्त्र का नाम है व्याकरण।

भाषा विज्ञान और व्याकरण व्याकरण और भाषा विज्ञान के पारस्परिक सामीप्य के कारण कभी कभी भाषा विज्ञान और व्याकरण के स्वरूप को समझने में भ्रांति उत्पन्न हो जाती है। अतः दोनों को अन्तर के ठीक ठीक जान लेना अत्यावश्यक है।

'भाषा विज्ञान' और व्याकरण—दोनों के आदि का पृथक-पृथक स्रोत है। भाषा विज्ञान का स्रोत प्रकृति है, किन्तु व्याकरण का स्रोत मानव है। भाषा विज्ञान का आदि स्रोत प्रकृति होने के कारण उसकी गणना विज्ञान में की जाती है, किन्तु व्याकरण एक कला है; क्योंकि उसकी सृष्टि, और विकास में मानव-शक्ति का हाथ रहता है। व्याकरण और भाषा-विज्ञान का पृथक-पृथक कार्य क्षेत्र भी है। व्याकरण का कार्य भाषा में साधुता और असाधुता का विचार करना है; किन्तु भाषा विज्ञान का कार्य इसके प्रतिकूल है। भाषा विज्ञान के द्वारा भाषा का वैज्ञानिक विवेचन होता है। व्याकरण अपना संबंध किसी एक काल की भाषा से विशेष रूप से स्थापित रखता है; पर भाषा विज्ञान अपनी दृष्टि भाषा के अतीत काल की ओर ले जाता है, और उसकी आलोचना करता है। व्याकरण का संबंध जहाँ किसी एक विशेष भाषा से ही होता है, वहाँ भाषा विज्ञान एक किसी भाषा से संबंध रखता हुआ अन्यान्य भाषाओं से भी संबंध रखता है, और तुलनात्मक आलोचना करता है। व्याकरण अपनी शक्ति को नियमों, उपनियमों, और अपवादों के विवेचन तक ही सीमित रखता है, किन्तु भाषा विज्ञान की दृष्टि प्रत्येक शब्द पर पड़ती है, और वह प्रत्येक शब्द के इतिहास को भी सामने प्रस्तुत करता है।

व्याकरण के दो भेद होते हैं—वर्णनात्मक, और व्याख्यात्मक। वर्णनात्मक व्याकरण उसे कहते हैं, जिसके द्वारा सामान्य नियमों की रचना की जाती है। व्याख्यात्मक व्याकरण भाषा के भीतर प्रवेश करता है, और उसके द्वारा भाषा की प्रवृत्तियों की व्याख्या होती है। व्याख्यात्मक व्याकरण के भी तीन रूप होते हैं—ऐतिहासिक, तुलनात्मक, और सामान्य। ऐतिहासिक व्याकरण के द्वारा हम किसी भी भाषा के पूर्व रूपों की खोज करते हैं, तुलनात्मक व्याकरण के द्वारा भाषा की समकालीन, या उसकी पूर्व की सजातीय भाषाओं की तुलनात्मक परीक्षा होती है, और सामान्य व्याकरण के द्वारा भाषाओं के सिद्धान्तों की मीमांसा की जाती है। व्याख्यात्मक व्याकरण यद्यपि वर्णनात्मक व्याकरण का ही एक अंग है, पर दोनों के कार्यों में पृथकता है। वर्णनात्मक व्याकरण जहाँ भाषा के बाह्य स्वरूप तक ही सीमित रहता है, वहाँ व्याख्यात्मक व्याकरण भाषा के भीतर प्रवेश करता है, और उसकी व्याख्या करता है। व्याख्यात्मक और विवेचनात्मक होने ही के कारण व्याख्यात्मक व्याकरण 'भाषा विज्ञान' के अंतर्गत समझा जाता है।

भाषा विज्ञान और व्याकरण में अधिक अन्तर होते हुए भी अधिक घनिष्ठता है। भाषा के क्षेत्र में दोनों का एक दूसरे से अन्योन्याश्रय संबंध है। व्याकरण

भाषा विज्ञान का अन्यान्य ज्ञानों से सम्बन्ध

किसी भी भाषा के वर्तमान रूपों को सामने उपस्थित करता है; किन्तु भाषा विज्ञान की दृष्टि उसके प्राचीन रूपों पर जाती है, और वह उन कारणों की विवेचना करता है, जिनके द्वारा प्राचीन रूपों को वर्तमान रूप प्राप्त हुए हैं; दूसरे शब्दों में हम यह कह सकते हैं, कि व्याकरण भाषा विज्ञान के लिए सामग्री एकत्र करता है, और भाषा-विज्ञान अपनी शक्ति से व्याकरण के द्वारा एकत्र सामग्री के व्यापार की अभिवृद्धि करता है। भाषा विज्ञान को हम व्याकरण का भी व्याकरण कह सकते हैं।

भाषा विज्ञान का संबंध अन्यान्य शास्त्रों से भी घनिष्ठ रूप से है। उन शास्त्रों में साहित्य, मनोविज्ञान, शरीर विज्ञान, भूगोल, इतिहास, भौतिक शास्त्र, तर्क शास्त्र, पुरातत्त्व, और मानव विज्ञान इत्यादि उल्लेखनीय हैं। व्याकरण और भाषा विज्ञान के सम्बन्ध की चर्चा ऊपर की जा चुकी है। साहित्य और भाषा विज्ञान का पारस्परिक घनिष्ठ संबंध है। साहित्य अपने प्राचीन भण्डार से भाषा विज्ञान को सामग्री प्रदान करता है, और भाषा विज्ञान इसके बदले में उसे शुद्ध और व्यवस्थित रखता है। 'मनोविज्ञान' विचार मूलक होने के कारण भाषा विज्ञान की ही ओर देखता है। 'मनोविज्ञान' की ग्रन्थियाँ भाषा विज्ञान के ही द्वारा खुलती हैं। 'भाषा विज्ञान' को भी 'मनोविज्ञान' से विचारों की संपत्ति प्राप्त होती है। 'भाषा विज्ञान' 'शरीर विज्ञान' का मुखापेक्षी है। 'शरीर विज्ञान' को भाषा विज्ञान से सहायता नहीं मिलती, पर शरीर विज्ञान मुख्य रूप से भाषा विज्ञान का सहायक है। शरीर के विशिष्ट अवयवों द्वारा उच्चरित शब्दों से ही भाषा का गठन होता है। भाषा के श्रवण में भी शरीर के अवयवों का ही महत्त्व पूर्ण भाग होता है। भाषा-विज्ञान के क्षेत्र में ध्वनि का महत्त्व पूर्ण स्थान होता है। ध्वनियों के उच्चारण, और उनके परिवर्तन पर जल वायु का अधिक प्रभाव पड़ता है। जल वायु का संबंध भूगोल से है। अतः भूगोल की भाषा विज्ञान को अधिक आवश्यकता है। इतिहास भी भाषा विज्ञान का अधिक सहायक है। इतिहास के द्वारा भाषा विज्ञान को इस बात का ज्ञान प्राप्त होता है, कि कौन सी जाति देश में किस समय आई, और उसके साथ कौन सी बोली तथा भाषा का प्रवेश देश के भीतर हुआ, तथा उसके परिणाम स्वरूप देश की भाषा या भाषाओं की ध्वनियों, रूपों, और वाक्य-संगठनों में क्या परिवर्तन उपस्थित हुआ? भाषा विज्ञान भी इतिहास को सहायता प्रदान करता है। वह प्रागैतिहासिक काल की सामग्री को प्रस्तुत करके उसके अध्ययन को सुलभ बनाता है। ध्वनि संबंधी ज्ञान प्राप्त करने में भौतिक शास्त्र भाषा विज्ञान को सहायता प्रदान करता है। अर्थों के विचार में 'तर्क शास्त्र' भाषा विज्ञान का निश्चित सहायक है। पुरातत्त्व व्याख्या के लिए नवीन और प्राचीन रूपों को भाषा विज्ञान के सामने प्रस्तुत करता है, और भाषा विज्ञान अपनी विवेचनात्मक शक्ति से उसकी व्याख्या करके पुरातत्त्व के प्रयास को सफल बनाता है। मानव

विज्ञान भी भाषा विज्ञान को बहुत कुछ प्रदान करता है, और इसके बदले में भाषा विज्ञान भी उसकी बहुत कुछ सेवा करता है।

इस प्रकार भाषा विज्ञान का सभी शास्त्रों से कुछ न कुछ संबंध है; क्योंकि भाषा विज्ञान एक ऐसा विज्ञान है, जिसके अभाव में किसी का व्यापार पूर्ण नहीं हो सकता। विश्व में जितने प्रकार के ज्ञान हैं, वे सभी भाषा की ही ओर तो देखते हैं।

—०—

भाषा

मानव-जगत में भाषा का अधिक महत्त्व है। विश्व में जितने देश हैं, सब की अपनी पृथक पृथक भाषा है। जंगलों में रहने वाली असभ्य जातियाँ भी अपनी भाषा में ही संलाप करती हैं। भाषा मनुष्य की एक प्राकृतिक सम्पत्ति है। मनुष्य जन्म लेने के साथ ही रुदन के रूप में भाषा का उच्चारण करता है। जन्म से लेकर मृत्य तक उसके जीवन का जो तार बजता है, वह भाषा से ही ध्वनित होता है। मनुष्य अपने विचारों का आदान-प्रदान तथा भावों का उद्भवन भाषा के ही द्वारा करता है।

मानव-जगत में जिस भाषा का इतना अधिक महत्त्व है, उसकी उत्पत्ति किस प्रकार हुई है, यह एक महत्व पूर्ण प्रश्न है। भाषा की उत्पत्ति के प्रश्न को लेकर

भाषा की उत्पत्ति

विश्व के भाषा-वैज्ञानिकों ने बड़ी-बड़ी आलोचनाएँ की हैं। निश्चित रूप से आज तक यह कोई नहीं कह सका कि सर्व प्रथम भाषा की उत्पत्ति किस प्रकार हुई, पर विद्वानों ने अनुमान के आधार पर उसकी उत्पत्ति के संबंध में कुछ सिद्धांत स्थिर किए हैं। यद्यपि उन सिद्धान्तों में परस्पर वैषम्य है, पर उनसे भाषा की उत्पत्ति विषयक प्रश्न को समझने में सहायता अवश्य मिलती है। उन सिद्धांतों में महत्त्व पूर्ण सिद्धांतों के नाम इस प्रकार हैं:- दिव्य उत्पत्तिवाद, अनुकरण मूलकतावाद, मनोभावाभिव्यंजकवाद, अनुरणन मूलकता वाद, श्रम परिहरण मूलकतावाद, विकासवाद और समन्वितवाद।

दिव्य उत्पत्तिवाद आस्तिक वादियों का मत है। इस मत के अनुसार भाषा की उत्पत्ति आदि काल में ईश्वर के द्वारा हुई है। इसी मत के आधार पर, सभी धर्मानुयायी अपने प्राचीन धर्म-ग्रन्थों की भाषा को आदि भाषा मानते हैं। वेदों में आस्था रखने वालों का कहना है, की वेदों की भाषा संस्कृति देव वाणी है। इसी प्रकार मुसलमान कुरान की भाषा, अरबी को खुदा का कलाम कहते हैं। इसाई भी बाइबिल की भाषा को ईश्वरीय भाषा मानते हैं। बौद्धों ने पाली को ईश्वर की वाणी की संज्ञा दी है।

अनुकरण मूलकतावाद अनुकरण पर आधारित है। इस सिद्धांत के पोषकों का कथन है, कि मनुष्य की भाषा की उत्पत्ति पशु-पक्षियों की बोली के आधार पर हुई है। उनका कहना है, कि जब मनुष्य ने पक्षियों की बोली सुनी, तो उसने उसी

बोली का अनुकरण करके अपने लिए शब्दों का निर्माण किया। वे इसके लिए प्रमाण भी देते हैं। जैसे मनुष्य ने जब किसी पक्षी के 'काका' शब्द को सुना, तब उसने उसीका अनुकरण करके 'काक' शब्द की रचना की। इसी प्रकार पशु पक्षियों की बोली के अनुकरण से ही म्याऊँ, कूकू, कोकिल, और बुग्बू आदि शब्दों की रचना हुई। हिन हिनाना, भौं भौं करना, और पिपियाना आदि क्रियाओं की उत्पत्ति भी इसी प्रकार हुई, और शनैःशनैः भाषा ने अपने वास्तविक स्वरूप को धारण कर लिया।

मनोभावाभिव्यंजक वाद मनके विकारों पर आधारित है। इस मत के पोषकों का कथन है, कि आदि काल में मनुष्य के मन में घृणा, क्रोध, हर्ष विषाद, और ईर्षा इत्यादि विकार निश्चित रूप से उठे होंगे, और उनके परिणाम स्वरूप आवेश में मनुष्य के भीतर से आह, ओह, वाह, छिः धिक इत्यादि शब्द निकले होंगे। अंग्रेजी के पूह, पिश, और फाई इत्यादि शब्द भी इसी प्रकार के शब्द बताए जाते हैं। मनोभावाभिव्यंजक वादियों के कथनानुसार भाषा की उत्पत्ति इन्हीं शब्दों से हुई है।

अनुरणन वाद प्रतिध्वनि पर आधारित है। जो लोग भाषा की उत्पत्ति में इस सिद्धांत को महत्त्व देते हैं, उनका कहना है, कि पानी के प्रवाह, जल की वर्षा, वस्तुओं के गिरने, पत्तों के खड़कने, और वस्तुओं के रगड़ने से जो शब्द या प्रतिध्वनि होती है, उसी से भाषा की उत्पत्ति हुई है। वे इसके प्रमाण में हिन्दी अंगरेजी के कई शब्द उपस्थित करते हैं। हिन्दी के कल कल, छल छल, और झम झम इत्यादि शब्द इसी प्रकार के शब्द बताये जाते हैं।

श्रम परिहरण मूलकतावाद श्रम को अपना आधार मानता है। इस मत के पोषकों का कथन है, कि आदि काल में जब मानव परिश्रम करते-करते थक गया होगा, तो उसके मुख से विश्रांति को दूर करने के लिए "हियो या छियो", "ओ हे, हो" "हे या हूँ" इत्यादि शब्द निकल पड़े होंगे। वे इसके प्रमाण में यह दृष्टांत उपस्थित करते हैं, कि आज भी धोबियों, मल्लाहों, और मजदूरों के मुख से काम करते समय इस तरह के शब्द निकलते हैं। उनका कथन है, कि इन्हीं शब्दों के प्रसार और प्रचार में भाषा की उत्पत्ति का मूल तत्त्व छिपा हुआ है।

विकास वाद की उद्भावना विकास-क्रम को प्रमुख मान कर की गई है। इस मत के मानने वाले विकासवाद को ही भाषा की उत्पत्ति का कारण बताते हैं। उनका कथन है, कि आदि काल में मनुष्य के भीतर से ऐसी ध्वनियाँ निकलती थीं, जो अस्पष्ट और निरर्थक होती थीं। मनुष्य ज्यों ज्यों उन्नति और प्रगति की ओर अग्रसर हुआ, त्यों त्यों उसकी ध्वनियाँ भी सार्थक और स्पष्ट होती गईं। शनैः शनैः उन्हीं ध्वनियों ने ही भाषा का स्वरूप धारण कर लिया है।

समन्वितवाद का आधार समन्वय है। इस सिद्धांत के अनुसार भाषा की उत्पत्ति उक्त सिद्धांतों के समन्वय के आधार पर हुई है। वे सिद्धांत हैं—अनुकरण, आत्माभि

व्यंजन, विकास, अनुरणन और प्रतीक। इस सिद्धांत का सबसे बड़ा पोषक स्वीट है, जो भाषा-विज्ञान का एक आचार्य समझा जाता है। स्वीट का कथन है, कि भाषा की उत्पत्ति इन्हीं सिद्धांतों की समन्वित शक्ति से हुई है।

'प्रतीक' को छोड़ कर शेष सिद्धांतों की ऊपर व्याख्या की जा चुकी है। 'प्रतीक' का आधार मनुष्य के शरीर की क्रियाएँ हैं। संसार के संपूर्ण मनुष्यों के शरीरों में, किसी विशेष अवसर पर एक ही सी क्रिया होती है। जैसे जब मनुष्य को प्यास लगती है, तब उसके मन में पानी पीने की इच्छा उत्पन्न होती है। इस स्थिति में वह जिस शब्द का प्रयोग करता है, संसार की सभी भाषाओं का वह शब्द 'ओष्ठ' से ही उच्चरित होता है। जैसे हिन्दी का 'पीना', लैटिन का 'बिबेर', और संस्कृत का 'पिबति' इत्यादि। स्वीट का कथन है, कि भाषा की उत्पत्ति इन सभी 'वादों' के संयोग से हुई है। सभी भाषा शास्त्री भी स्वीट के इस मत का पोषण करते हैं, कि भाषा की उत्पत्ति अनुकरण, आत्माभिव्यंजन, अनुरणन, विकास, और प्रतीक इत्यादि सिद्धांतों के संयोग से ही हुई है।

भाषा का प्रवाह आदि काल से मानव-जगत में अखण्ड रूप से बहता चला आ रहा है। युग पर युग बीतते चले जा रहे हैं, पर भाषा का निःसृत स्रोत अविच्छिन्न गति से बहता ही जा रहा है। उसमें नए नए शब्द बनते जा रहे हैं, नई नई विधियाँ निकलती जा रही हैं, और उसका व्यापार दिनों दिन बढ़ता ही जा रहा है। प्राचीन शब्दों और रूपों, तथा ध्वनियों में कितना परिवर्तन हुआ है, यह कोई नहीं कह सकता। भाषा के शब्द, रूप, और ध्वनि-संकेत निसर्ग की स्थिति, और मनुष्यों के पारस्परिक मिलन के कारण बदलते हैं। जब किसी भाषा में कोई नया शब्द आता है, तो शनैः शनैः वह उसका स्थायी शब्द बन जाता है, और कुछ दिनों के पश्चात् वह स्वाभाविक समझ कर अपना लिया जाता है। तथा जन-समाज में उसका प्रचलन होने लगता है। भाषा में इसी प्रकार नए नए शब्दों, और ध्वनियों का समावेश होता रहता है। एक मनुष्य जब किसी शब्द का प्रयोग करता है, तब उसके शब्दों को सुन कर उसके आस पास के लोग भी उसी या उन्हीं शब्दों का प्रयोग करने लगते हैं। इस प्रकार एक मनुष्य के शब्द धीरे धीरे सामाजिक और राष्ट्रीय भाषा में अपना स्थान बना लेते हैं।

भाषा और परंपरा

भाषा का निर्माण किसी एक मनुष्य के द्वारा नहीं होता। भाषा के निर्माण में सैकड़ों-सहस्रों पीढ़ियों का हाथ होता है। भाषा सदा एक के पास से होकर दूसरे के पास जाती है। समय और घटनाओं का भाषा पर प्रभाव अवश्य पड़ता है, पर उसके आदि स्रोत में किसी प्रकार का व्याघात उपस्थित नहीं होता। भाषा का प्राचीन स्वरूप ही उसके नवीन स्वरूप का आधार होता है; दूसरे शब्दों में प्राचीन स्वरूप की नींव पर ही नए नए भवन खड़े किए जाते हैं। जहाँ तक हो सकता है, लोग अपनी भाषा को विकारों से बचाने का प्रयत्न करते हैं। वे जान-

बूझ कर अपनी भाषा में किसी प्रकार का परिवर्तन करना नहीं चाहते। क्योंकि भाषा में परिवर्तन करने से उनकी वह शृंखला टूट जाती है, जो परम्परा से उनके जीवन या समाज में चली आ रही है। इसी बात को लक्ष्य करके भाषा शास्त्रियों ने भाषा को परम्परागत संपत्ति का संज्ञा दी है। क्योंकि किसी एक मनुष्य, समाज, और राष्ट्र के जीवन में परम्पराओं की भाँति ही उसका विशेष स्थान होता है।

किन्तु इसका यह तात्पर्य कदापि नहीं है, कि भाषा पर किसी का पैतृक अधिकार होता है। भाषा का सम्बन्ध शिक्षा और अनुकरण से है। जैसे सभी कलाओं का

भाषा अर्जित सम्पत्ति है।

ज्ञान सीख कर प्राप्त किया जा सकता है, उसी प्रकार भाषा भी सीखी जा सकती है। कोई भी व्यक्ति किसी भी भाषा को सीख सकता है। किसी एक जाति के ही लोग कई भाषायें सीखते हैं। किसी एक घर के लोग भी कई भाषायें सीखते, और बोलते हैं। किसी एक घर में यदि स्त्री हिन्दी बोलती है, तो उसका पुत्र अँगरेजी सीखता और बोलता है। उसका दूसरा भाई संस्कृत बोलता है। उसी का तीसरा भाई है, जो ग्रामीण बोली बोलता है। इस प्रकार एक ही कुटुम्ब में कई भाषायें सीखी, और बोली जाती हैं। फ्रांस में केल्ट जाति के लोग निवास करते हैं। वे अपनी केल्टिक भाषा न बोल कर फ्रेंच का प्रयोग करते हैं। इसी प्रकार भारत के पारसी भी अपनी भाषा के स्थान पर उर्दू, हिन्दी, और गुजराती इत्यादि भाषायें बोलते हैं। इन दृष्टांतों से यह प्रगट होता है, कि भाषा अर्जित वस्तु है। कोई भी व्यक्ति प्रयत्न करके किसी भाषा को सीख सकता है, और उसमें सुदक्ष हो सकता है, किन्तु फिर भी वह इस बात का दावा नहीं कर सकता, कि वह उसकी व्यक्तिगत वस्तु है। नई भाषा वह सीख सकता है, किन्तु एकाकी वह उसकी रचना नहीं कर सकता। भाषा की रचना समाज के द्वारा होती है, अतः वह व्यक्ति की सम्पत्ति न होकर समाज और राष्ट्र की ही सम्पत्ति होती है।

यह संसार परिवर्तनशील है। संसार में जितनी वस्तुएँ हैं, सब में समय-समय पर परिवर्तन होता ही रहता है। किसी वस्तु का आज जो रूप है, सैकड़ों वर्ष पहले उसका वह रूप न था, और सैकड़ों वर्ष पश्चात् उसका वह रूप न रहेगा। परिवर्तन के महाचक्र के कारण अनवरत प्रत्येक वस्तु के रूप में परिवर्तन होता ही रहता है। भाषा भी परिवर्तन के महाचक्र में बँधी हुई रहती है। किसी भी भाषा में कितने ही अब तक परिवर्तन हो चुके हैं! परिवर्तन के कारण उसके कितने ही रूप, वाक्य, और शब्द बिलकुल लुप्त हो चुके हैं, और उनके स्थान को कितने ही रूपों, शब्दों, और वाक्यों ने ग्रहण कर लिया है! भाषा का विकास परिवर्तन शीलता के ही कारण हुआ है। किन किन कारणों से भाषा के क्षेत्र में परिवर्तन उपस्थित होता है--इस पर भाषा शास्त्रियों ने विधिवत विवेचनाएँ की हैं। उनकी विवेचनाओं का सार तत्त्व यही है, कि भाषा का विकास जगत की परिवर्तन शीलता के कारण होता है, और उसके कई मूल कारण

किन कारणों से भाषा में परिवर्तन उपस्थित होता है, और परिवर्तन के द्वारा वह विकास की ओर अग्रसर होती है; इस पर जब हम विचार करते हैं, तो हमारे

भाषा विकास के कारण

संमुख कुछ ऐसे कारणों का चित्र उपस्थित होता है, जिनमें परस्पर वैषम्य होता है। हम उन कारणों को सुविधा की दृष्टि से दो भागों में बाँटते हैं। एक को हम आभ्यंतरिक और दूसरे को बाह्य की संज्ञा देंगे। आभ्यंतरिक कारण वे कारण हैं, जो किसी भी भाषा के जीवन में उसकी स्वभाविक गति के कारण घटित होते हैं। बाह्य कारण बाहरी कारण होते हैं, जो स्थितियों, वातावरण, संस्कृतियों के सम्मिलन, और बोलियों के मिलन आदि से संबंध रखते हैं।

आभ्यंतरिक कारण कई रूपों में उपस्थित होते हैं, किन्तु उनमें भी प्रयोग, बल, उच्चारण, अनुकरण की अपूर्णता, और प्रयत्न से उपस्थित होने वाले कारण मुख्य हैं। जब भाषा में उसके रूपों और शब्दों के बार बार प्रयोग के कारण शिथिलता उत्पन्न हो जाती है, और उनके स्थान पर नए रूप, और शब्द आ जाते हैं, तब उस परिवर्तन को प्रयोग संबंधी परिवर्तन कहते हैं। यह अपने ही आप स्वाभाविक रूप में उपस्थित हुआ करता है। ध्वनियों या अर्थों पर अधिक बल देने से उनमें निर्बलता उत्पन्न हो जाती है, और कुछ दिनों में वे समाप्त प्राय से हो जाते हैं। उनके नष्ट होने के साथ ही उनके स्थान को नई ध्वनियाँ, और नए अर्थ घेर लेते हैं। इसी को बल से उत्पन्न हुआ परिवर्तन कहते हैं। किसी भी भाषा को बोलने वालों के विचारों में बराबर उलटफेर हुआ करता है। विचारों में उलटफेर होने के कारण उनकी मानसिक स्थितियाँ भी बदलती रहती हैं, जिनके फल स्वरूप भाषा में भी परिवर्तन होता है। इसी को उच्चारण से उत्पन्न परिवर्तन कहते हैं। प्रत्येक मनुष्य के शारीरिक अवयवों, ध्यान, और शिक्षा में समानता नहीं होती। अतः एक ही भाषा के शब्दों, और ध्वनियों का उच्चारण सभी मनुष्य एक समान हीं नहीं करते। इस असमानता के कारण भी भाषा में परिवर्तन उपस्थित होता है। इस प्रकार के परिवर्तन को अनुकरण की अपूर्णता संबंधी परिवर्तन कहते हैं। प्रयत्न लाघव परिवर्तन उसे कहते हैं, जो कम से कम प्रयत्न में अधिक भाव व्यक्त करने के कारण भाषा के जीवन में उपस्थित होता है। जहाँ इस प्रकार के प्रयत्न होते हैं, वहाँ भाषा की ध्वनियाँ अपने अस्तित्व की रक्षा नहीं कर पातीं, और शनैः शनैः उनमें उलट फेर होने लगता है।

बाह्य कारणों में जलवायु, यातायात, भूमि, संस्कृति, व्यक्ति की विशेषता, और संस्कृतियों के संम्मिलन से संबंध रखने वाले कारण प्रमुख हैं। जलवायु के कारण भी भाषा में परिवर्तन होता है। भाषा का उच्चारण शारीरिक अवयवों के द्वारा होता है, जो गर्मी और शीत से अधिक प्रभावित हुआ करते हैं। भूमि का ऊर्वरा और बंजर पन भी भाषा को प्रभावित करता है। उपजाऊ प्रदेश के निवासियों को अपने जीवन निर्वाह के लिए अधिक मरना खपना नहीं पड़ता। उनके पास सोचने

समझने और विचार करने के लिए अधिक समय होता है। अतः उनकी भाषा भी बंजर प्रदेशों के निवासियों की भाषा से अधिक गम्भीर होती है। संस्कृति का प्रभाव मुख्य रूप से भाषा पर पड़ता है। किसी भी देश की भाषा उसकी संस्कृति के अनुसार ही बनती और बिगड़ती है। विशिष्ट व्यक्ति की रचनाएँ भी भाषा को प्रभावित करती हैं। जैसे गोस्वामी तुलसीदास के रामचरित मानस ने हिन्दी को अधिक प्रभावित किया है। जब दो संस्कृतियाँ आपस मिलती हैं, तब शब्दों, विचारों, और सामाजिक व्यवस्थाओं में परिवर्तन उपस्थित होता है, जिसके परिणाम स्वरूप भाषा भी परिवर्तित होने लगती है। शब्दों का आदान-प्रदान प्रत्यक्ष रूप में होता है। शब्दों में आदान-प्रदान होने के साथ ही साथ विचारों में भी आदान-प्रदान होता है, जिन्हें हम जान नहीं पाते। सामाजिक व्यवस्थाओं में भी उलट फेर हो जाता है। इन कारणों का भाषा पर अधिक प्रभाव पड़ता है, और वह आन्दोलित हो उठती है।

भाषा और बोलियों का अंतर

भाषा के स्वरूप और गठन पर वातावरण का प्रभाव निश्चयात्मक रूप से पड़ता है। जो मनुष्य जिस प्रकार के वातावरण में रहता है, अथवा जिस ढंग की स्थिति में उसका जीवन पलता है, उसी प्रकार की उसकी भाषा होती है। एक पुजारी जो मन्दिर में रहता है, उसकी भाषा में संस्कृत के शब्दों का होना स्वाभाविक ही है। इसी प्रकार एक मौलवी की भाषा में अरबी के शब्दों की प्रचुरता रहती है। किसानों, मजदूरों, और ग्रामीणों की भाषा विद्वानों तथा नागरिकों की भाषा से पृथक होती है।

भाषा का गठन बोलियों से होता है। बोली उसे कहते हैं, जो एक सीमित क्षेत्र में निवास करने वाले मनुष्यों के द्वारा बोली जाती है। किसी एक गाँव में बोली जाने वाली भाषा को बोली कहते हैं। गाँव की बोली के पश्चात् जनपद की बोलियों का स्थान होता है। एक प्रांत में कई जनपद होते हैं। इस प्रकार एक ही प्रांत में विभिन्न बोलियाँ बोली जाती हैं, क्योंकि प्रत्येक जनपद की अपनी पृथक-पृथक बोली होती है। किसी किसी विस्तृत जनपद में दो-दो, तीन-तीन बोलियाँ बोली जाती हैं।

भाषा का गठन इन्हीं बोलियों से होता है; दूसरे शब्दों में भाषा उन्हीं बोलियों में से किसी एक प्रमुख और वैज्ञानिक गुणों से संपन्न बोली का नाम है। कोई बोली जब भाषा का स्वरूप धारण करती है, तब उसका क्षेत्र अधिक विस्तृत हो जाता है, और साथ ही साथ उसका महत्त्व भी अधिक बढ़ जाता है। बोली के रूप में उसका स्थान ग्राम या जनपद तक ही सीमित रहता है, किन्तु भाषा का स्वरूप धारण करने पर वह प्रांत और कभी कभी राष्ट्र भाषा का भी स्थान प्राप्त कर लेती है। 'बोली' के रूप में वह एकाकिनी रहती है; किन्तु भाषा का स्वरूप धारण करने पर उसमें सभी बोलियाँ समाविष्ट हो जाती हैं। 'बोली' के रूप में वह केवल 'बोलने' के काम में आती है, किन्तु भाषा के पद पर आसीन होने पर उसे लोग लिखते और पढ़ते हैं। 'बोली' के रूप में रहने पर उसके पास शब्दों की संपत्ति नहीं होती, इसलिए

उसमें साहित्य का पूर्ण रूप से अभाव रहता है। किन्तु भाषा का स्वरूप धारण करने पर उसका शब्द-क्षेत्र विस्तृत हो जाता है, और उसमें विविध प्रकार के साहित्य का प्रणयन होने लगता है। बोलियों का अपना व्याकरण भी नहीं होता, पर भाषा व्याकरण के नियमों के साथ चलती है, और उसके रूप में व्यवस्था तथा सुकरता का समावेश रहता है। 'बोली' और 'भाषा' में वैसा ही अन्तर समझना चाहिए, जो एक बालक और वय प्राप्त पुरुष की भाषा में अन्तर हुआ करता है। बालक की भाषा शृंखला हीन, और अस्त-व्यस्तता लिए हुए होती है, पर वय प्राप्त पुरुष की भाषा में एक क्रम, और एक शृंखला होती है। इसी प्रकार बोलियों में शृंखला हीनता और भाषा में क्रम बद्धता होती है—यही दोनों का अन्तर है।

ध्वनि विचार

भाषा के जीवन में ध्वनियों का अधिक महत्त्व होता है। जब हम किसी को अपनी ओर आकर्षित करने के लिए कोई शब्द बोलते हैं, तब उससे एक प्रकार की ध्वनि निकलती है। इस प्रकार के ध्वनि संकेतों के समूह को ही हम साधारण रूप से भाषा की संज्ञा देते हैं। ध्वनियों का क्षेत्र अधिक विस्तृत होता है। उसके भीतर वर्ण, वर्णों से बनने वाले भिन्न भिन्न शब्द, शब्दों से बनने वाले भिन्न भिन्न वाक्य, और वाक्यों से बनने वाली भाषा इत्यादि सभी का अन्तर्भाव हो जाता है। ध्वनि का यह व्यापक अर्थ है, पर भाषा-विज्ञान में वर्ण के लिए ही ध्वनि का व्यवहार किया जाता है। 'ध्वनि' का इतना अधिक महत्त्व है, कि उसे संकीर्णता की शृंखला में कसने पर भी उसका व्यवहार कई अर्थों में होता है, जिनमें दो मुख्य हैं—भाषण ध्वनि, और ध्वनि मात्र।

भाषण ध्वनि उसे कहते हैं, जब मनुष्य अपने मुख के निर्दिष्ट स्थान से, निश्चित प्रयत्नों के द्वारा किसी ध्येय को सुस्पष्ट करने के लिए उच्चारण करता है, और श्रोता उसे उसी अर्थ में ग्रहण करता है; संक्षेप में भाषण ध्वनि का सम्बन्ध मनुष्य के व्यक्तिगत उच्चारण से होता है। ध्वनि मात्र में मिलती-जुलती अनेक भाषा-ध्वनियाँ मिली रहती हैं, जिनका खंड नहीं किया जा सकता।

भाषण ध्वनि और ध्वनि मात्र में क्या अन्तर होता है—इसको सुस्पष्ट करने के लिए हम 'जल्दी' और 'माल्टा' दो शब्द उपस्थित करते हैं। दोनों ही शब्दों में 'ल' ध्वनि का प्रयोग हुआ है, किन्तु दोनों के उच्चारण की जब हम परीक्षा करेंगे, तो देखेंगे कि दोनों की ध्वनियों में अन्तर है। दोनों की ध्वनियों के अन्तर को जानने के पूर्व यह समझ लेना चाहिए, कि मनुष्य के शरीर की रचना बड़ी अद्भुत है। मनुष्य के शरीर में नाभि के ऊपरी भाग से लेकर मुख तक ऐसे यन्त्र बने हुए हैं, जिन्हें हम यदि ध्वनि-यन्त्र कहें, तो कोई आश्चर्य की बात न होगी। हम शब्दों का जो उच्चारण करते हैं, उस उच्चारण में इन्हीं ध्वनि-यन्त्रों का ही विशेष हाथ होता है। हम जिस शब्द का उच्चारण जिस ध्वनि-यन्त्र की सहायता से करते हैं, उसी प्रकार की ध्वनि भी बाहर निकलती है। अब आइए देखें, कि 'जल्दी' और माल्टा' के 'ल' का उच्चारण एक ही ध्वनि यन्त्र से होता है, या उसमें असमता है। 'जल्दी' के 'ल' का उच्चारण जब हम करते हैं, तो उससे जो ध्वनि निकलती है, वह दाँत के पास जीभ के टकराने से उत्पन्न होती है। किन्तु 'माल्टा' के 'ल' के उच्चारण की

ध्वनि जीभ के मूर्द्धा स्थान के पास लगने से होती है। यद्यपि दोनों ही 'ल' की ध्वनि एक सी सुनाई देती है, किन्तु दोनों के उच्चारण यन्त्रों में जो असमता है, उससे ध्वनि-मात्र एक होने पर भी भाषण-ध्वनियाँ दो हो गई हैं। इसी प्रकार ध्वनि-यन्त्रों की विभिन्नता, और उच्चारणों की असमता के कारण कभी कभी कई भाषण ध्वनियाँ हो जाया करती है। अँगरेजी, मराठी, गुजराती इत्यादि सभी भाषाओं के शब्दों के उच्चारण में इस प्रकार की भाषण ध्वनियाँ पाई जाती हैं। एक ध्वनि मात्र में अनेक भाषण ध्वनियाँ होती हैं। क्योंकि सब का उच्चारण करने का ढङ्ग पृथक पृथक है। अतः हम कह सकते हैं, कि ध्वनि मात्र एक विशेष जाति है, जिसमें कई भाषण ध्वनियाँ समाविष्ट रहती हैं।

'ध्वनि विचार' को ध्वनि शिक्षा या ध्वनि-विज्ञान कहते हैं। इसका एक महत्व पूर्ण उद्देश्य होता है। इसके द्वारा हम इस बात का अध्ययन करते हैं, कि अक्षरों

ध्वनि विचार के अंग

की उत्पत्ति किस प्रकार होती है, अक्षरों का वास्तविक स्वरूप क्या है, ध्वनि क्या वस्तु है, ध्वनि मात्र, और भाषण ध्वनि किसे कहते हैं, तथा दोनों में क्या अन्तर है, इत्यादि! ध्वनि विज्ञान इन्हीं रहस्यों पर प्रकाश डालता है। इन रहस्यों पर प्रकाश पड़ना अत्यधिक आवश्यक है। इन पर प्रकाश पड़ने से ज्ञान की अभिवृद्धि होती है, और साथ ही भाषा के मर्म को समझने में सहायता भी मिलती है।

ध्वनि-शिक्षा के मुख्य रूप में दो अंग हैं—स्थान, और प्रयत्न। स्थान से तात्पर्य ध्वनियों की उत्पत्ति के स्थान से है। प्रयत्न वह है, जो ध्वनियों के उच्चारण के लिए आवश्यक होता है। 'ध्वनि' का ज्ञान प्राप्त करने के लिए हमें उसके 'स्थान' और 'प्रयत्न' का ज्ञान प्राप्त करना आवश्यक है। ध्वनि-ज्ञान के लिए स्थान का ज्ञान अधिक महत्व पूर्ण है। हम पहले इसकी चर्चा कर चुके हैं, कि हमारे शरीर में नाभि के ऊपरी स्थान से लेकर मुख तक अनेक ध्वनि यन्त्र हैं। ये ध्वनि यन्त्र और कुछ नहीं, हमारे शरीर के भीतरी अवयव हैं। ध्वनियों का यथोचित वर्गीकरण और विश्लेषण इन शरीरावयवों का ज्ञान प्राप्त करने के पश्चात् ही किया जा सकता है।

हमारे शरीर के जो अवयव बोल चाल में मुख्य रूप से हमारी सहायता करते हैं, उनके नाम इस प्रकार हैं:—

क—फेफड़े
ख—काकल
ग—अभिकाकल [काकलाग्र]
घ—ध्वनि तन्त्री
च—कंठ पिटक [कंठ का ढालू भाग]
छ—अन्न प्रणाली
ज—श्वास प्रणाली

ट—कंठ मार्ग
ठ—कौआ [काकल का लटकता हुआ भाग]
ड—कोमल तालु
ढ—मूर्द्धा
त—तालु [जिह्वा का ऊपरी भाग]
थ—वक्त्र [दाँत और मूर्द्धा के मध्य का भाग]
द—दंत मूल [दाँतों की जड़]
ध—दंत
न—ओष्ठ
प—जिह्वा [जिह्वानीक, जिह्वाग्र, जिह्वोपाग्र, जिह्वा मध्य या पश्च जिह्वा, और जिह्वा मूल]

'ध्वनियों' में शरीर के इन्हीं अवयवों का महत्त्व पूर्ण योग रहता है। इन्हीं अवयवों के द्वारा 'ध्वनियाँ' बाहर निकल कर हमें सुनाई पड़ती हैं। परीक्षण और व्यवहार से यह ज्ञात हुआ है, कि ध्वनि दो प्रकार की होती है। एक को नाद ध्वनि, और दूसरी को श्वास ध्वनि कहते हैं। नाद ध्वनि, और श्वास ध्वनि को समझने के पूर्व 'नाद' और 'श्वास' क्या वस्तु है, यह जानना आवश्यक है। शरीर के अवयवों में 'स्वर तंत्री' और 'फेफड़ा' नामक अवयव भी है। जब वायु फेफड़े से आकर, स्वरतंत्री को खोल कर प्रयत्न पूर्वक बाहर निकलती है, तो उसके धक्के से जो 'ध्वनि' उत्पन्न होती है, उसी को 'नाद' कहते हैं। जब स्वर तन्त्रियां आपस में एक दूसरे से दूर रहती हैं, और खुली हुई होती हैं, तो उस अवस्था में बाहर निकलने वाली वायु से उत्पन्न ध्वनि को श्वास कहते हैं। 'प' 'क' और 'स' इत्यादि श्वास ध्वनियाँ हैं। 'ब' 'ग' और 'ज' इत्यादि ध्वनियाँ यद्यपि 'प' 'क' और 'स' के ही सदृश हैं, पर यह नाद ध्वनियाँ हैं। हिन्दी और संस्कृत 'ह' में नाद ध्वनि है, किन्तु अँगरेजी में यह श्वास ध्वनि के अंतर्गत माना जाता है।

ध्वनियों के प्रकार-नाद और श्वास

नाद और श्वास ध्वनियों का अंतर बहुत कुछ अब सुस्पष्ट हो चुका है। इन ध्वनियों में जो अंतर पाया जाता है, उसका एक मात्र कारण स्वर तन्त्रियां होती हैं। स्वर तन्त्रियों की स्थिति में पृथकता होने के कारण उनकी ध्वनियों में भी 'नाद' और 'श्वास' के रूप में पृथकता उत्पन्न हो जाती है। नाद और श्वास-दोनों ही ध्वनियाँ मुख के द्वारा ही उच्चरित होती हैं। पर दोनों के उच्चारणों में असमानता पाई जाती है। दोनों ध्वनियाँ मुख के द्वारा किस प्रकार उच्चरित होती हैं, इस बात को दृष्टि में रख कर ध्वनियों को दो वर्गों में विभक्त किया गया है, जिनमें एक को स्वर, और दूसरे को व्यंजन कहते हैं। स्वर ध्वनि का उच्चारण बिना किसी अवरोध के मुख के द्वारा होता है। उच्चारण के समय जो निश्वास निकलती है, उसका संघर्षण भी मुख के भीतर किसी के साथ नहीं होता। किन्तु व्यंजन ध्वनि के उच्चारण

में थोड़ा बहुत संघर्षण होता है स्वर ध्वनि अपने ही आप उच्चरित होने वाली ध्वनि है। उसके उच्चारण के समय श्वास निरंतर मुख के बाहर निकलता रहता है। किन्तु व्यंजन ध्वनि को अपने उच्चारण में स्वर-ध्वनि की सहायता की अपेक्षा होती है। व्यंजन ध्वनियों की अपेक्षा स्वर ध्वनियाँ अधिक दूर तक सुनाई देती है।

संपूर्ण स्वर नाद के ही अंतर्गत माने जाते हैं। किन्तु व्यंजनों में कुछ तो ऐसे हैं, जो नाद ध्वनि के अन्तर्गत माने जाते हैं, और कुछ की गणना श्वास ध्वनि के अन्तर्गत होती है। इस प्रकार व्यंजन 'नाद', और 'श्वास' दोनों ही होते हैं। पर किसी भाषा और बोली में दोनों प्रकार की ध्वनियों का व्यवहार होता है, यह नहीं कहा जा सकता! अँगरेजी का 'ह' श्वास ध्वनि है। उसका उच्चारण नाद ध्वनि के साथ भी किया जा सकता है, पर ऐसा होता नहीं। इसी प्रकार हिन्दी का 'ह' नाद ध्वनि है। उसका उच्चारण श्वास ध्वनि के अन्तर्गत किया जा सकता है, किन्तु ऐसा होता नहीं।

ध्वनियों का वर्गीकरण

ऊपर उच्चारण की दृष्टि से ध्वनियों के दो भेदों की चर्चा की गई है—व्यंजन, और स्वर। 'व्यंजनों' को समझने के लिए उन पर दो ढंग से विचार किया जा सकता है। एक तो शरीर के उपयोगी अवयवों के अनुसार, जिनसे उनका उच्चारण होता है; दूसरा उनके उच्चारण की रीति के अनुसार। प्रथम लक्ष्य को सामने रख कर व्यंजनों पर विचार करने से उनके आठ भेद किये जा सकते हैं, जो इस प्रकार हैं:—१ काकल्य, २ कंठ्य ध्वनि, ३ मूर्द्धन्य, ४ तालव्य, ५ वर्त्स्य, ६ दंत्य, ७ ओष्ठ्य, और ८ जिह्वा मूलीय। इसी प्रकार दूसरे लक्ष्य को सामने रख कर व्यंजनों पर विचार करने से हिन्दी में उनके आठ वर्ग किये जा सकते हैं:—स्पर्श, घर्ष, स्पर्श घर्ष अनुनासिक, पार्श्विक लुंठित, उत्क्षिप्त, और अर्द्ध स्वर।

(१) जो ध्वनि 'काकल' नामक स्थान से उत्पन्न होती है, उसे काकल्य कहते हैं। हिन्दी में 'ह' इसी कोटि की ध्वनि है।

(२) कंठ से उत्पन्न होने वाली ध्वनि को कंठ्य ध्वनि कहते हैं। कंठ ध्वनि का उच्चारण उस समय होता है, जब कोमल तालु का स्पर्श जिह्वा के द्वारा होता है। जैसे:—'क', 'ख'।

(३) मूर्द्धन्य ध्वनि उसे कहते हैं, जिसका उच्चारण कठोर तालु के पिछले भाग, और जिह्वा के द्वारा होता है। जैसे:—ट, ठ, और ष।

(४) तालव्य ध्वनि उस ध्वनि का नाम है, जो कठोर तालु और जिह्वोपाग्र से उच्चरित होती है। जैसे:—'च', 'छ', 'ज'।

(५) वर्त्स्य ध्वनि उसे कहते हैं, जो तालु के अन्तिम भाग, ऊपरी मसूढ़ों, और जिह्वानीक के द्वारा उच्चरित होती है। जैसे:—'न', अथवा 'ह्'।

(६) दाँतों की पंक्ति और जिह्वानीक की सहायता से उच्चरित होने वाली ध्वनियों को दंत्य ध्वनियाँ कहते हैं। जैसे—त, थ, द, और ध।

(७) जिन ध्वनियों का उच्चारण जिह्वा की विशेष सहायता के बिना ओठों के द्वारा होता है, उन्हें ओष्ठ्य ध्वनियाँ कहते हैं। ओष्ठ ध्वनियाँ दो प्रकार की होती हैं—द्वयोष्ठ्य, और दन्तोष्ठ्य। 'प', और 'फ' द्वयोष्ठ्य ध्वनियाँ हैं। 'ब' दन्तोष्ठ्य है।

(८) जिह्वा मूल से उच्चरित होने वाली ध्वनियों को जिह्वा मूलीय ध्वनियाँ कहते हैं। जैसे—'क़', 'ख़' और 'ग़'। यह विदेशी ध्वनियाँ हैं, जो हिन्दी में आ गई हैं।

उच्चारण की रीति के अनुसार भी व्यंजन ध्वनियों के आठ भाग किये गये हैं, जिनकी व्याख्या इस प्रकार है:—

(१) जिनके उच्चारण में अवयवों का परस्पर पूर्ण रूप से स्पर्श होता है, उन्हें स्पर्श ध्वनिया कहते हैं। जैसे—'क', अथवा 'प'।

(२) जिन ध्वनियों के उच्चारण में जिह्वा, और दन्त मूल के बीच का मार्ग खुला रहता है, तथा वायु रगड़ खाती हुई बाहर निकलती है, उन्हें 'घर्ष' ध्वनियाँ कहते हैं। जैसे—'स', 'श', और 'ष' इत्यादि।

(३) जिन ध्वनियों के उच्चारण में अवयवों का पारस्परिक स्पर्श होने के साथ ही साथ वायु का घर्षण भी होता है, उन्हें स्पर्श-घर्ष कहते हैं। जैसे—'च', 'छ', और 'ज' इत्यादि।

(४) अनुनासिक ध्वनियाँ वे हैं, जिनके उच्चारण में मुख बन्द हो जाने के कारण वायु नासिका के मार्ग से बाहर निकलती है। जैसे—'न', और 'म' इत्यादि।

(५) 'पार्श्विक' का अर्थ है 'पार्श्वों' से सम्बन्ध रखने वाली। पार्श्विक ध्वनियों में वायु मुख के मध्य में रुक कर, जिह्वा के दोनों ओर से बाहर निकलती है। इसीलिए इन ध्वनियों का यह 'पार्श्विक' नाम भी है। 'ल' पार्श्विक ध्वनि है।

(६) जिन ध्वनियों के उच्चारण में जिह्वा वेलन की भाँति चक्कर देकर तालु का स्पर्श करती है, उन्हें लुंठित ध्वनियाँ कहते हैं। जैसे—'र'।

(७) जिन ध्वनियों के उच्चारण में 'जिह्वा' वेग पूर्वक तालु के किसी भाग से टकरा कर अलग हो जाती है, उन्हें 'उत्क्षिप्त' ध्वनियाँ कहते हैं। जैसे—'ड़', और 'ढ़'।

(८) जो ध्वनियाँ व्यंजनवत् होने पर भी कभी कभी 'स्वर' के रूप में उच्चरित होती है, उन्हें 'अर्द्ध स्वर' ध्वनियाँ कहते हैं। जैसे—'य', और 'व'।

'स्वर ध्वनि' पर विचार करने के पूर्व हमें 'अक्षर', और 'वर्ण' के भेद को समझ लेना चाहिए। ध्वनियाँ दो प्रकार की होती हैं—स्वर, और व्यञ्जन। संस्कृत में वर्ण से दोनों ही ध्वनियों का बोध होता है, किन्तु 'अक्षर' से केवल 'स्वर' का ही बोध होता है। हिन्दी में 'वर्ण' और 'अक्षर' में बहुत कम भेद माना जाता है। कभी

कभी दोनों का प्रयोग एक दूसरे के पर्याय के ही रूप में किया जाता है। व्यंजनों की अपेक्षा स्वर-वर्णों में अधिक गुण, और विशेषताएँ होती हैं। स्वरों में ये विशेषताएँ ओष्ठों और जिह्वा की स्थितियों, और अवस्थाओं के कारण उत्पन्न होती हैं। अतः स्वरों का वर्गीकरण जिह्वा की अवस्थाओं को दृष्टि में रख करके ही किया जा सकता है। जिह्वा की साधारण रूप में तीन अवस्थायें होती हैं—एक अवस्था सबसे आगे की है, जो ऊँची होती है; दूसरी सबसे पीछे की है, जो ऊँची होती है; और तीसरी मध्य की अवस्था होती है, जो सबसे नीची होती है। जीभ की स्थिति को दृष्टि में रख कर जब हम स्वर ध्वनियों पर विचार करते हैं, तो उनके तीन रूप पाते हैं, जिन्हें अग्र, पश्च, और मध्य या मिश्र कहते हैं।

स्वर और स्वर ध्वनियों का वर्गीकरण

स्वरों के उच्चारण में जिह्वा की तीन स्थितियाँ होती हैं, जिनका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है; दूसरे शब्दों में हम उन स्थितियों को जिह्वा की आड़ी, खड़ी, और मिश्रित स्थिति भी कह सकते हैं। जिह्वा की आड़ी स्थिति पर विचार करने से स्वर ध्वनियों के तीन रूप प्राप्त होते हैं—अग्र, पश्च, और मिश्र। इसी प्रकार जिह्वा की खड़ी स्थिति को दृष्टि में रख कर विचार करने से भी स्वर ध्वनियों के चार रूप प्राप्त होते हैं, जिन्हें संवृत, अर्द्ध संवृत, विवृत और अर्द्ध विवृत कहते हैं। संवृत अवस्था उसे कहते हैं, जिसमें जिह्वा बिना संघर्षण के यथासंभव ऊपर उठ जाती है। अर्द्ध संवृत और अर्द्ध विवृत उस अवस्था को कहते हैं, जिसमें जिह्वा अपनी मध्यम स्थिति में रहती है। विवृत अवस्था उसे कहते हैं, जिसमें जिह्वा यथासंभव नीचे की ओर आती है।

व्यंजनों का वर्गीकरण

व्यञ्जनों के संबंध में पहले कुछ प्रकाश डाला जा चुका है। उनके आठ भेदों का भी उल्लेख किया जा चुका है। यहाँ अब स्वर ध्वनियों की भांति ही व्यंजनों के वर्गीकरण का भी चित्र उपस्थित किया जायगा। व्यंजनों का वर्गीकरण करने के पूर्व ध्वनियों के मूल वर्ग पर ध्यान देना आवश्यक है। ध्वनियों के मूल वर्ग दो हैं, जिनमें एक को घोष, और दूसरे को अघोष कहते हैं। ध्वनि का घोष मूल वर्ग उसे कहते हैं, जिसमें श्वास का संघर्षण होने के कारण शब्द होता है। अघोष ध्वनि मूल वर्ग वह है, जिसमें तन्त्रियाँ ढीली रहती हैं, और श्वास बिना किसी अवरोध के बाहर निकलता है, और शब्द नहीं होता। शब्द न होने से ही उसे अघोष ध्वनि मूल कहते हैं। सभी स्वरों की गणना घोष ध्वनि मूल के अन्तर्गत होती है। किन्तु व्यंजनों में कुछ घोष और कुछ अघोष-दोनों ही प्रकार के होते हैं। इस प्रकार व्यंजनों के दो प्रकार होते हैं—सघोष व्यंजन, और अघोष व्यंजन; फिर सघोष के भी दो प्रकार होते हैं—पूर्ण सघोष, और अपूर्ण सघोष। इस प्रकार उच्चारण की दृष्टि से व्यंजनों के आठ प्रकार होते हैं, जिनका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है।

जब हम किसी वर्ण का उच्चारण करते हैं, तो उसके लिए हमें एक विशेष

प्रकार की चेष्टा करनी पड़ती है। उच्चारण की इस चेष्टा को 'प्रयत्न' कहते हैं। प्रयत्न में भीतर, और बाहर दोनों की ही शक्तियाँ काम करती हैं। इसीलिए प्रयत्न के दो भेद हो जाते हैं—आभ्यन्तर, और बाह्य। बाह्य प्रयत्न उसे कहते हैं, जो मुख के बाहर होता है। आभ्यन्तर प्रयत्न मुख के भीतर होता है। 'क' से लेकर 'म' तक पच्चीस वर्ण आभ्यन्तर प्रयत्न ही द्वारा उच्चारित होते हैं। स्वर तन्त्रियों की स्थिति में समीपता, और दूरी होने तथा वायु वेग की कमी और अधिकता के कारण भी वर्णों के चार भेद दिये गए हैं, जिनके नाम सघोष, अघोष, महाप्राण, और अल्प प्राण हैं।

स्वरों और व्यंजनों के उच्चारण में भी अंतर होता है। स्वरों का उच्चारण अधिक स्पष्टता के साथ होता है, और वे दूर तक सुनाई देते हैं। इसके प्रतिकूल व्यंजनों का उच्चारण अस्पष्ट होता है, और उनकी ध्वनि दूर गामिनी नहीं होती। स्वरों में भी ऐसे कई स्वर हैं, जिनके उच्चारण की स्पष्टता में न्यूनाधिक्य होता है। यदि किसी स्वर के आगे कोई अधिक सुस्पष्ट स्वर आ जाता है, तो वह पूर्व स्वर को आक्रांत कर लेता है। ऐसी अवस्था में पहले वाले स्वर का अति ह्रस्व के रूप में उच्चारण होता है। ऐसे स्वरों को 'अंतस्थ' कहा जाता है। अंतस्थ स्वरों की गणना 'व्यंजनों' में ही की जाती है। हिन्दी में 'य', 'र', 'ल', और 'व' इत्यादि अंतस्थ कहलाते हैं।

ध्वनियाँ विशेष महत्व पूर्ण होती हैं। ध्वनियाँ ही वह शक्ति हैं, जिनसे 'नर्म' और 'वाक्य' दोनों में घनिष्ठ संबंध स्थापित होता है। 'ध्वनियाँ' किस प्रकार अपनी

ध्वनियों के गुण

संज्ञा को सार्थक करती हैं, अथवा वह कौन से साधन हैं, जिनके द्वारा उन्हें यह विशेष गुण संपन्न पदवी प्राप्त है—यह एक अति आवश्यक विचारणीय प्रश्न है। ध्वनियों के गुणों और उनकी विशेषताओं पर जब हम विचार करते हैं, तो हमें ज्ञात होता है, कि दो ऐसे उपयोगी गुण हैं, जिनसे उनकी 'विशेषता' सुरक्षित है। ध्वनियों के वे गुण हैं—मात्रा काल और स्वराघात। ध्वनियों का उच्चारण इन्हीं की सहायता से होता है। ऐसी कोई ध्वनि नहीं, जिसके उच्चारण में इनमें से किसी न किसी की सहायता न ली जाती हो। यही कारण है, कि इनकी गणना ध्वनियों की विशेषताओं में की जाती है। किसी ध्वनि विशेष के उच्चारण में काल की जो मात्रा लगती है, उसी को मात्राकाल कहते हैं। मात्रा काल तीन वर्गों में विभक्त है—ह्रस्व, दीर्घ, और प्लुत। 'अ', 'इ' और 'उ' ह्रस्व मात्राएँ हैं। अनुमान से ज्ञात हुआ है, कि एक बार चिटकी बजाने में जितना समय लगता है, उतना ही समय ह्रस्व के उच्चारण में लगता है। यही कारण है, कि ह्रस्व एक मात्रिक होता है। 'दीर्घ' के उच्चारण में ह्रस्व का दूना समय लगता है, इसलिए वह द्विमात्रिक होता है। ह्रस्व का तिगुना समय लगने के कारण प्लुत त्रिमात्रिक होता है; किन्तु इसका प्रयोग प्रायः नहीं के ही बराबर होता है।

जब हम किसी वाक्य को बोलते हैं, तो बोलने में वाक्य के किसी शब्द पर

अन्यान्य शब्दों की अपेक्षा विशेष बल देते हैं। इससे कभी कभी उस शब्द के अर्थ में भी परिवर्तन हो जाता है। शब्द पर यही बल देना स्वराघात कहलाता है। स्वराघात दो प्रकार का होता है—संगीतात्मक, और बलात्मक। संगीतात्मक स्वराघात केवल घोष ध्वनियों में होता है। इसका सीधा संबंध स्वर-तन्त्रियों से होता है। संगीत के सरगम की भाँति इसका सुर ऊँचा, या नीचा होता है। संगीतात्मक स्वराघात थोड़ा बहुत सभी भाषाओं में पाया जाता है, पर वैदिक संस्कृत, प्राचीन ग्रीक, चीनी भाषा, बंगाली, हिन्दी, और ग्रामीण भोजपुरी इत्यादि में उसकी प्रचुरता है।

बलात्मक स्वराघात का संबंध फेफड़े से होता है। इसलिए इसके उच्चारण में केवल 'बल' दिया जाता है। जिस वर्ण के साथ स्वराघात होता है, उस पर 'बल' दिए जाने के कारण वह जोर से भी सुनाई देता है। प्राचीन भाषाओं में 'अवस्ता' तथा आधुनिक भाषाओं में अंगरेजी और फारसी बलात्मक स्वराघात के लिये प्रसिद्ध हैं।

ध्वनियों के समूह को भाषा कहते हैं। भाषा के किसी एक वाक्य में स्वर, और व्यंजन'-दोनों ही ध्वनियां साथ साथ रहती हैं। दोनों ही ध्वनियों के संमिलन से

संयुक्त ध्वनियाँ — ही किसी एक वाक्य की पूर्ति होती है। कभी कभी आवश्यकता पड़ने पर दोनों ध्वनियाँ आपस में, किसी विशेष स्थान पर मिल जाती हैं। इस प्रकार जब कोई ध्वनि किसी दूसरी ध्वनि से मिलती है, तो उसे संयुक्त ध्वनि कहते हैं। जैसे—'पक्का' में 'क् × क्' ध्वनियाँ आपस में मिली हुई हैं। इस प्रकार जब दो ध्वनियाँ आपस में मिलती हैं, तो उससे एक दूसरी ही ध्वनि उत्पन्न हो जाया करती है।

'संयुक्त' और ध्वनि-संयोग में कुछ अंतर होता है। 'संयुक्त' में दोनों ध्वनियाँ एक दूसरे से मिल जाती हैं, किन्तु ध्वनि-संयोग में ध्वनियां परस्पर न मिल कर केवल एक-दूसरे के समीप आ जाती हैं। जैसे 'आदमी' में 'आ', और 'द्' बिलकुल पास ही आ गई हैं। ध्वनि-संयोग कई रूपों में होता है। जैसे—व्यंजन × व्यंजन, व्यंजन × स्वर, और स्वर × स्वर। व्यंजनों का संयोग दो तीन रूपों में होता है। कभी तो दो व्यंजन आपस में एक दूसरे से मिलते हैं। ऐसी स्थिति में दोनों व्यंजनों का उच्चारण 'स्वर' के कारण अलग किया जाता है। जैसे—'कमल' में 'क्' और 'म्' बीच में 'अ' के कारण एक दूसरे से पृथक हैं। कभी एक ही व्यंजन का संयोग होता है। जैसे—'पक्का' में 'क' और 'क्' का संयोग हुआ है। जब एक ही व्यंजन आपस में मिलते हैं, तो दोनों का उच्चारण पृथक-पृथक नहीं होता। कभी-कभी दो भिन्न व्यंजनों का भी संयोग होता है। जैसे—'चक्र'। किन्तु सभी भिन्न व्यंजन आपस में नहीं मिलते। सघोष और अघोष व्यंजनों का परस्पर मिलना बहुत कम देखा जाता है।

व्यंजनों और स्वरों का संयोग साधारण रूप में होता है। इनके उच्चारणों में भी कठिनाई नहीं प्रतीत होती। जैसे—'आय' में 'आ', और 'य'। व्यंजन कभी स्वर

के पहले आता है, और कभी बाद में। जब वह पहले आता है, तो अलग अलग रहता है। किन्तु जब बाद में आता है, तो स्वर के साथ ही जोड़ा जाता है। 'स्वरों' का संयोग भी साधारण रूप में ही होता है। कभी कभी तीन 'स्वर' तक एक साथ देखे जाते हैं। जैसे—'पिआऊ'। जब दो 'स्वर' आपस में एक-दूसरे से मिलते हैं, तो उसे संयुक्त स्वर कहते हैं।

ध्वनि परिवर्तन के कारण

जगत की संपूर्ण वस्तुओं में प्रति क्षण परिवर्तन होता ही रहता है। भाषा भी परिवर्तन के चक्र में बँधी हुई है। भाषा में परिवर्तन वर्णों की ध्वनियों के कारण होता है। वर्णों की ध्वनियाँ जब बदलती हैं, तो भाषा में भी परिवर्तन होता है। वर्णों की ध्वनियों में किन कारणों से परिवर्तन होता है; इस पर जब हम विचार करते हैं तो यह ज्ञात होता है, कि ध्वनियों में परिवर्तन कई कारणों से उपस्थित होता है। उन कारणों को हम दो वर्गों में विभक्त कर सकते हैं—बाह्य, और आंतरिक। बाह्य कारण वे हैं, जो राजनीतिक, धार्मिक, सांस्कृतिक, और भौगोलिक आंदोलनों के परिणाम से उपस्थित होते हैं। आंतरिक कारण वे हैं, जो भाषा के भीतर अपने ही आप 'स्वराघात' इत्यादि से उत्पन्न होते हैं।

दोनों वर्गों के कारणों की विस्तार पूर्वक यदि समीक्षा की जाय तो वे निम्नांकित रूप में सामने उपस्थित होते हैं—वाक् यंत्रों की विभिन्नता, श्रवणेन्द्रिय की विभिन्नता, अनुकरण की कमी, अज्ञानता, भ्रम पूर्ण व्युत्पत्ति, बोलने में शीघ्रता, प्रयत्न लाघव, भावुकता, बोलने में कृत्रिमता का प्रयोग, विभाषा का प्रभाव, भौगोलिक प्रभाव, सामाजिक प्रभाव, लिखने का ढङ्ग, शब्दों की अधिक लम्बाई, कमजोर व्यंजनों की अधिकता, सादृश्य, कविता में तुकों की सुविधा, और स्वराघात। ध्वनियों में इन्हीं कारणों से परिवर्तन होता है। यह ऐसे कारण हैं, जो किसी भी भाषा के जीवन में बराबर उपस्थित होते रहते हैं। ध्वनियों में परिवर्तन एक साथ ही नहीं हो जाता। जो भी परिवर्तन ध्वनियों में होता है, मन्द-मन्द गति से होता है। कभी तो यह परिवर्तन स्पष्ट रूप से दिखाई पड़ता है, और कभी भाषा के भीतर ही भीतर होता रहता है, जो कुछ दिनों के पश्चात् स्पष्ट रूप से दिखाई पड़ता है।

रूप विचार

भाषा विज्ञान में 'रूप' का प्रयोग शब्द के लिए किया जाता है। अतः 'रूप विचार' में शब्दों पर ही विवेचना की जानी चाहिए; पर साधारण रूप से लोग 'रूप' को व्याकरण का पर्याय मानते हैं। अतः 'रूप विचार' में साधारणतः व्याकरण का ही विचार किया जाता है। व्याकरण के दो मुख्य वर्ग हैं—शब्द साधन, और वाक्य विचार। शब्द साधन उसे कहते हैं, जिसमें रूपों का वर्णन रहता है। वाक्य विचार में रूपों के प्रयोग और उनके अर्थ की विशेष चिन्ता की जाती है।

शब्द

भाषा विज्ञान में शब्दों का अधिक महत्व है। शब्दों से ही वाक्य बनता है, और वाक्यों से भाषा का गठन होता है। भाषा जगत की जो कुछ महिमा है, शब्दों की ही महिमा है। शब्द क्या है, यहाँ इसी बात पर हमें विचार करना है। शब्द उस ध्वनि समूह का नाम है, जिसका कुछ अर्थ होता है, और जिसके संयोग से वाक्य बनते हैं। 'शब्द' दो प्रकार के होते हैं। एक को तो 'शब्द' ही कहते हैं, किन्तु दूसरे को 'पद' कहते हैं। 'शब्द' वह है, जो अपने रूप में शुद्ध होता है, और विभक्तियों से जिसका कोई सम्बन्ध नहीं होता। 'पद' शब्द के प्रतिकूल होता है। शब्द जब सम्बन्ध सूचक विभक्तियों से अपना सम्बन्ध जोड़ लेता है, तब उसे 'पद' की संज्ञा दी जाती है। शब्दों की रचना धातुओं में पूर्व, मध्य, या 'पर' प्रत्यय जोड़ कर की जाती है। धातुएँ विकार रहित होती हैं, और विचारों पर प्रकाश डालती हैं।

पद और सम्बन्ध तत्त्व

शब्द के दो रूप होते हैं। एक रूप तो वह है, जो वाक्य में जुटने के पूर्व होता है, और दूसरा रूप वह है, जो वाक्य में प्रयुक्त होने पर होता है। अपने प्रथम रूप में शब्द शुद्धावस्था में होता है, किन्तु द्वितीय रूप में उसमें कृत्रिमता आ जाती है। क्योंकि वाक्य में मिलने के पूर्व उसे वाक्य के अनुरूप बना लेना पड़ता है। इससे उसका सहज स्वरूप बिगड़ जाता है। शब्द जब वाक्य में जुटने के योग्य बना लिया जाता है, तब उसे 'पद' का नाम दिया जाता है। अब विचार इस बात पर करना है, कि

वह कौन सी विधि या विधियां हैं, जिनके द्वारा शब्द वाक्य के योग्य बनाकर उसमें जोड़ा जाता है।

वाक्य में दो तत्त्व विशेष रूप से सन्निहित रहते हैं। उनमें एक को संबंध और दूसरे को अर्थ तत्त्व कहते हैं। संबंध तत्त्व उसे कहते हैं, जिससे वाक्य के पदों में संबंध स्थापित किया जाता है। उसके छः प्रकार होते हैं - शब्द स्थान, शब्दों को ज्यों का त्यों छोड़ देना, स्वतंत्र शब्द, अपश्रुति, स्वराघात और स्वराघात का न होना। जब शब्दों का पारस्परिक संबंध उनके स्थान से ही स्पष्ट हो जाय तो उसे शब्द स्थान कहते हैं। कई कई भाषाओं में ऐसा भी नियम है, कि शब्द विकार-ग्रस्त हुए बिना ही पद का कार्य करते हैं। अतः शब्दों को ज्यों का त्यों छोड़ देने से भी 'शब्द' और वाक्य का संबंध स्थापित होता है। स्वतंत्र शब्दों में कारक चिन्हों की गणना होती है। कभी कभी इनके द्वारा भी संबंध तत्त्व का कार्य संपादित होता है। अपश्रुति में शब्द संबंध तत्त्व का अंग बन जाता है। चीनी और स्यामी इत्यादि भाषाओं में स्वराघात के द्वारा भी संबंध तत्त्व स्थापित किया जाता है। किसी किसी स्थान में स्वराघात के न होने से भी संबंध तत्व प्रगट होता है।

सम्बन्ध और अर्थ तत्त्व का पारस्परिक सम्बन्ध

वाक्य के तत्त्वों में संबंध तत्त्व के साथ ही साथ अर्थ तत्त्व का भी नाम आया है। अर्थ तत्त्व वाक्य का एक प्रधान तत्त्व है। वाक्य के भीतर यह सबसे अधिक महत्व पूर्ण होता है। यह वाक्य के दूसरे तत्त्व-संबंध तत्त्व से बड़ी कुशलता के साथ अपना संबंध स्थापित किये रहता है। किन्तु सभी भाषाओं में दोनों का संबंध एक सा नहीं होता। किसी भाषा में दोनों का संबंध पूर्ण रूप से होता है, और किसी किसी में उनके संबंध-स्थापन में अपूर्णता रहती है। सभी भाषाओं के संबंध और अर्थ तत्त्व की मिलन-प्रणालियों को दृष्टि में रखते हुए दोनों के सम्बन्ध स्थापन के तीन वर्ग किए जा सकते हैं—पूर्ण संयोग, अपूर्ण संयोग, और स्वतंत्र। जहाँ संबंध और अर्थ दोनों एक दूसरे से पूर्ण रूप रूप से मिले रहते है, वहाँ पूर्ण संयोग होता है। अरबी इत्यादि सौमिटिक भाषाओं में इस प्रकार के दृष्टांत अधिक मिलते हैं। जहां दोनों तत्त्व आपस में मिले होने पर भी अपनी पृथक सत्ता रखते है, वहाँ अपूर्ण संयोग होता है। द्राविड़ और तुर्की इत्यादि भाषाओं में इस प्रकार के उदाहरण मिलते हैं। कई भाषाओं में ऐसा भी नियम है, कि सम्बन्ध और अर्थ दोनों ही स्वतन्त्र रहते हैं। चीनी इत्यादि भाषाओं में इस प्रकार स्वतंत्र पदों के उदाहरण अधिक मिलते हैं। हिन्दी में सभी प्रकार के दृष्टांत मिलते हैं।

सम्बन्ध तत्त्व के काम

वाक्य में सम्बन्ध तत्त्व के ही कारण भावों का प्रस्फुटन होता है। क्रिया, संज्ञा, और विशेषण सम्बन्धी भावों के प्रदर्शन में सम्बन्ध तत्व से अधिक सहायता ली जाती है। क्रियाएँ तीन होती हैं—भूत कालिक, वर्तमान कालिक, और भविष्यत् कालिक। इन तीनों ही क्रियाओं के

भावों का प्रदर्शन सम्बन्ध तत्त्व के ही द्वारा किया जाता है। उत्तम, मध्यम और अन्य पुरुषों के भाव भी सम्बन्ध तत्त्व के ही द्वारा प्रगट किये जाते हैं। संज्ञा में कारकों और लिंग वचन के भाव सम्बन्ध तत्त्व द्वारा ही प्रदर्शित किए जाते हैं। इसी प्रकार लिंग वचन की दृष्टि से विशेषण के भेदों के भाव भी सम्बन्ध तत्त्व द्वारा ही प्रगट किये जाते हैं।

—:o:—

वाक्य विचार

वाक्यों के गठन में शब्दों का महत्व है। जिस प्रकार वाक्यों के गठन में शब्दों का महत्व है, उसी प्रकार भाषा के निर्माण में वाक्यों का अधिक महत्व है। भाषा वाक्यों से बनती है; दूसरे शब्दों में वाक्य ही भाषा के प्राण हैं। अतः वाक्य क्या है, उसके कितने भेद होते हैं—यह जानना अधिक आवश्यक है। शब्दों के समूह को वाक्य कहते हैं। वाक्य में ही लोग बोलते, और लिखते हैं। वाक्य स्वाभाविक

वाक्य

रूप से ही मुख से निकलते हैं। यही कारण है, कि लोग वाक्यों को स्वाभाविकता के पद पर प्रतिष्ठित करते हैं। शब्द गढ़े जाने के कारण कृत्रिम होते हैं, किन्तु वाक्य अपने ही आप बनते हैं। वाक्य दो भागों में विभक्त होता है। एक भाग को उद्देश्य, और दूसरे को विधेय कहते हैं। जैसे 'मोहन खाता है' में 'मोहन' उद्देश्य, और 'खाता है' विधेय है।

वाक्य चार प्रकार के होते हैं। उनके नाम इस प्रकार हैं—अयोगात्मक, प्रश्लिष्ट योगात्मक, अश्लिष्ट योगात्मक, और श्लिष्ट योगात्मक। अयोगात्मक वाक्यों में सम्बन्ध तत्त्व के प्रदर्शन के लिए शब्दों में परिवर्तन नहीं किया जाता। अतः इस

वाक्यों के प्रकार

प्रकार के वाक्यों में शब्द निश्चित स्थान में ही रहते हैं। इनके दृष्टांत उन भाषाओं में अधिक प्राप्त होते हैं, जो एकाक्षर परिवार की हैं। प्रश्लिष्ट योगात्मक वाक्य अपने नाम के ही अनुरूप होते हैं। इनमें कई शब्दों के शब्दांश से एक बड़ा शब्द बनता है; दूसरे शब्दों में एक बड़े शब्द में कई छोटे-छोटे शब्दों के अंश संश्लिष्ट रहते हैं। अधिक संश्लिष्ट होने के ही कारण इनकी व्याख्या भी सरलता के साथ नहीं की जा सकती। अश्लिष्ट योगात्मक वाक्यों में प्रत्ययों के द्वारा मूल शब्द, और सम्बन्ध प्रगट किये जाते हैं। इनके उदाहरण बंटू भाषाओं में अधिक मिलते हैं। श्लिष्ट योगात्मक वाक्यों में विभक्तियों की प्रधानता होती है। इनके उदाहरण संस्कृत में अधिक मिलते हैं।

वाक्य शब्दों से बनते हैं। शब्दों में विभिन्न कारणों से परिवर्तन हुआ करता है। अतः शब्दों के साथ ही साथ वाक्यों में भी परिवर्तन होता है। वाक्यों और

वाक्य क्यों बदलते हैं?

शब्दों का अधिक घनिष्ठ सम्बन्ध है; दूसरे शब्दों में शब्द समूह को ही वाक्य कहते हैं। अतः जिन कारणों से ध्वनि और रूपों में परिवर्तन होता है, वही वाक्य परिवर्तन के भी मुख्य कारण हैं। वाक्यों के ऊपर विभिन्न भाषाओं और संस्कृतियों का अधिक प्रभाव पड़ता है। जब

दो भाषाओं और संस्कृतियों का मिलन होता है, तो उस मिलन का प्रभाव उनके वाक्यों पर भी पड़ता है। जैसे अँगरेजी और 'फारसी' का प्रभाव स्पष्ट रूप से हिन्दी के वाक्यों पर पड़ा हुआ दृष्टिगोचर होता है। वाक्यों में परिवर्तन होने का कारण विभक्तियों का घिसना भी है। विभक्तियाँ शनैः शनैः जब घिस जाती हैं, तो अर्थों में अस्त व्यस्तता उत्पन्न होने लगती है। अर्थों की अस्त व्यस्तता को रोकने के लिए वाक्यों में नए नए शब्द जोड़ने पड़ते हैं, जिससे वाक्यों की परंपरा में उलट-फेर हो जाता है। शब्दों पर अधिक बल देने से भी आंशिक रूप में वाक्य परिवर्तित हो जाते हैं। जिस शब्द पर अधिक बल दिया जाता है, धीरे धीरे उसके स्थान में परिवर्तन हो जाता है, और इस प्रकार वाक्य का क्रम-विकास बदल जाता है। वाक्यों के परिवर्तन पर मनुष्यों की मानसिक स्थिति का भी अधिक प्रभाव पड़ता है। शांति के दिनों में मनुष्यों के मुख से जिस प्रकार के वाक्य निकलते हैं; अथवा जिस प्रकार के वाक्य वह बोलता है, युद्ध के दिनों में वह उस प्रकार के वाक्यों का प्रयोग नहीं करता। शांति के दिनों में जहाँ उसके वाक्य अलंकृत शैली के होते हैं, युद्ध के दिनों में वहाँ वह स्पष्ट और सीधे वाक्य ही मुख्य रूप में बोलता है।

अर्थ विचार

अर्थ विचार का महत्व उसके नाम से ही प्रगट है। भाषा विज्ञान के जिन अंगों की विवेचना अभी तक हम कर आए हैं, यदि वस्तुतः देखा जाय तो उनकी सार्थकता 'अर्थ विचार' में ही सन्निहित है। 'अर्थ विचार' भाषा विज्ञान का एक महत्व पूर्ण अंग है। अर्थ विचार के अंतर्गत किस बात का विवेचन किया जाता है, इस सम्बन्ध में विद्वानों में मत भेद रहा है। कोई कोई विद्वान अब भी अर्थ-विचार का तात्पर्य शब्दों की ऐतिहासिक व्युत्पत्ति से लगाते हैं, पर अधिकांश विद्वानों की संमति इसके विपरीत है। अधिकांश विद्वान अर्थ विचार को भाषा-विज्ञान की भाँति ही एक विज्ञान मानते हैं। उनका कथन है, कि अर्थ-विचार का विषय भाषा का मनोवैज्ञानिक अध्ययन तथा उसके सिद्धांतों का प्रतिपादन करना है। प्रोफेसर अस्टल के विचारानुसार अर्थ विचार में निम्नांकित प्रश्न सन्निहित हैं:—'प्रथम यह कि किसी भाषा ने अपने भावों और विचारों को किन किन साधनों के द्वारा प्रगट किया है, दूसरा यह, कि किसी एक रूप से कितने अर्थों का बोध होता है, और तृतीय यह, कि एक अर्थ कितने भिन्न रूपों में प्रयुक्त हो सकता है?

अर्थ विचार का विषय

इन्हीं प्रश्नों का उत्तर देना अर्थ विचार का मुख्य विषय है।

अर्थ विचार का अध्ययन एक रोचक विषय है। अर्थ का विकास जिस प्रकार होता है, उसे देख कर मानव-बुद्धि की रहस्यात्मकता का पता चलता है। एक छोटे से बालक में अर्थ का विकास वस्तुतः रहस्यात्मक ही ढङ्ग से होता है। छोटा सा अबोध बालक अपने भावों को 'एक' 'एक' खंडित अक्षरों में ही व्यक्त करता है। पर वे अक्षर उसके लिए समूचे वाक्य की ही भाँति सत्ता रखते हैं। वह पहले उनका प्रयोग अपने ही लिये करता है, किन्तु धीरे धीरे जब उसकी बुद्धि विकसित हो जाती है, तो वह अपने अक्षरों का सम्बन्ध अर्थ से जोड़ लेता है। बुद्धि के और अधिक विकसित होने पर वह उस अर्थ का अनुभव भी करने लगता है। वय-प्राप्त होने पर उसका अनुभव प्रौढ़ हो जाता है, और वह ठीक ठीक सब का अर्थ समझने लगता है। अर्थ का विकास सब में इसी प्रकार बुद्धि के विकसित होने पर होता है। ज्यों ज्यों मनुष्य की बुद्धि विकसित होती जाती है, त्यों त्यों उसके अर्थ-विकास का ज्ञान भी बढ़ता जाता है।

अर्थ परिवर्तन की दिशाएँ

'अर्थ विकास' या अर्थ-परिवर्तन की मुख्य रूप से तीन दिशायें होती हैं—अर्थ विस्तार, अर्थ सङ्कोच, और अर्थादेश। अर्थ विस्तार उसे कहते हैं, जब शब्दों का अर्थ एक सीमित दायरे से निकल कर अधिक फैल जाता है। अर्थ विस्तार में शब्दों के अर्थ पर ही मुख्य रूप से ध्यान दिया जाता है। प्रारंभ में वस्तुओं के नाम उनके गुणों के ही आधार पर रख लिए जाते हैं। किन्तु कुछ दिनों के पश्चात् उनके यौगिक अर्थों का लोप हो जाता है, और रूढ़ अर्थ ही रह जाते हैं। यही रूढ़ अर्थ शनैः शनैः सामान्य की ओर बढ़ते हैं। दृष्टांत के लिए 'स्याही' शब्द को लिया जा सकता है। इसका अर्थ है, 'काली', पर अब इसका प्रयोग हर एक प्रकार की स्याही के लिए होने लगा है। 'तैल' शब्द भी इसी प्रकार का शब्द है। 'तिल' से निकले हुए 'तैल' को ही 'तैल' कहना चाहिए, किन्तु आज तो सभी प्रकार के 'तेलों' के लिए 'तैल' शब्द का प्रयोग होता है।

'अर्थ विस्तार' में जहाँ अर्थों का विस्तार होता है, वहाँ अर्थ सङ्कोच में अर्थ संकुचित और सीमित होते हैं; दूसरे शब्दों में किसी शब्द का प्रयोग सामान्य या विस्तृत अर्थ से हटकर सीमित रूप में होने लगता है। किसी भी भाषा या जाति में उसकी वृद्धि के साथ ही साथ उसमें अर्थ सङ्कोच की भी वृद्धि होती है। प्रोफेसर 'बेल' के विचारानुसार मानव की सभ्यता की वृद्धि के साथ ही साथ उसकी भाषा में अर्थ सङ्कोच की भी वृद्धि हुई है। दृष्टांत के लिए 'मृग' शब्द लिया जा सकता है। ऋग्वेद में 'मृग' शब्द का प्रयोग सभी पशुओं के लिए किया गया है, किन्तु अब उससे केवल 'हरिण' का ही बोध होता है। इसी प्रकार 'गोली' शब्द का प्रयोग पहले सिपाही, दरजी, वैद्य, और खिलाड़ियों से संबंधित था; पर अब उसका प्रयोग केवल 'दवा' के ही अर्थ में किया जाता है।

भावों के साहचर्य के कारण जब धीरे-धीरे एक अर्थ का लोप हो जाता है, और उसके स्थान पर नया व्यवहृत होने लगता है, तब वह अर्थादेश कहलाता है। दृष्टांत के लिए 'असुर' शब्द पर ध्यान देना चाहिए। ऋग्वेद की प्रारंभिक ऋचाओं में यह देव वाची शब्द माना गया है, पर अब उसका प्रयोग बिलकुल बदल गया है। अब तो उसका प्रयोग 'राक्षस' के अर्थ में किया जाता है। 'दुहितृ' शब्द भी इसी प्रकार का शब्द है। पहले इसका प्रयोग 'दूहने वाले' के अर्थ में किया जाता था; किन्तु अब उसका स्थान 'दुहिता' ने ले लिया है।

भाषा और मनुष्य के विचारों का अधिक घनिष्ठ सम्बन्ध है। विचार मन के स्रोत होते हैं। मन स्थितियों और दशाओं से बराबर आंदोलित हुआ करता है।

अर्थ परिवर्तन के कारण

मन के आंदोलन को मनोविज्ञान द्वारा भली भाँति जाना जा सकता है। मन में परिवर्तन होने के कारण विचार बराबर बदलते रहते हैं। इसलिए भाषा में भी बराबर परिवर्तन हुआ ही करता है। भाषा में परिवर्तन शब्दों के कारण होता है। शब्दों में परिवर्तन होने के कारण अर्थों में भी परिवर्तन होता है। अर्थों में परिवर्तन होने का मुख्य कारण भाव-साहचार्य है;

किन्तु कुछ ऐसे सामाजिक, और भौगोलिक कारण भी हैं, जिनका प्रभाव अर्थों के परिवर्तन पर पड़ता है।

अर्थों के परिवर्तन पर मनोविज्ञान का अधिक प्रभाव पड़ता है। मनुष्य का मन उच्च गामी, और 'शुभत्त्व' का प्रेमी होता है। वह प्रायः अशुभ अवसरों पर भी 'शुभत्त्व' की खोज किया करता है। उसकी इस प्रवृत्ति का परिचय स्पष्ट रूप से उसके शब्दों के अर्थों में मिलता है। जैसे यदि कोई मर जाता है, तो लोग उसकी मृत्यु-यात्रा के समाचार को 'स्वर्ग गमन' के रूप में प्रगट करते हैं। इसी प्रकार आदर और शिष्टाचार के स्थानों में भी लोग शब्दों को बदल दिया करते हैं, जिसके कारण अर्थों में परिवर्तन होता है।

पुस्तकालय
इलाहाबाद

भाषाओं का वर्गीकरण

संसार में अनेक भाषाएँ हैं। यदि हम विश्व की संपूर्ण भाषाओं का अध्ययन करते हैं, तो उनमें परस्पर एक-दूसरे में अधिक अंतर पाते हैं, किन्तु इस वैषम्य में भी उनमें दो बातों में सादृश्य पाया जाता है। उनमें एक को हम संबंध तत्त्व, और दूसरे को अर्थ तत्त्व कहते हैं। संबंध तत्त्व का बोध प्रत्यय के द्वारा होता है। जैसे:—करना, खाना, और जाना। इन तीनों ही शब्दों में एक ही प्रत्यय 'ना' लगा हुआ है, और उसके द्वारा एक ही संबंध तत्त्व का बोध होता है। अर्थ तत्त्व में संबंध तत्त्व की विभिन्नता होने पर भी अर्थ तत्त्व में सादृश्य रहता है। जैसे:—खाना, खाया, खाता है, और खायेगा इत्यादि। 'खाना' क्रिया के यह भिन्न भिन्न रूप हैं। इनमें संबंध तत्त्व की विभिन्नता है, पर तीनों के अर्थ तत्व में साम्य है।

विश्व की भाषाओं के सम्बन्ध तत्व, और अर्थ तत्व के साम्य पर ध्यान देते हुए उन्हें दो वर्गों में विभक्त किया गया है; जिनमें एक को आकृति मूलक, और दूसरे को परिवारिक कहते हैं। आकृति मूलक वर्ग में उन भाषाओं की गणना होती है, जिनमें सम्बन्ध तत्त्व की समता पाई जाती है। इसी प्रकार जिन भाषाओं में सम्बन्ध तत्व की समानता के साथ ही साथ अर्थ तत्व की भी समानता पाई जाती है, उनकी गिनती पारिवारिक वर्ग की भाषाओं में की जाती है।

आकृति मूलक भाषाएं

आकृति मूलक वर्ग में जिन भाषाओं को स्थान दिया गया है, उनमें सम्बन्ध तत्व और अर्थ तत्त्व की समता पाई जाती है; दूसरे शब्दों में सम्बन्ध तत्व किस प्रकार प्रगट किए गए हैं, तथा किस प्रकार प्रत्ययों या धातुओं की सहायता से शब्दों का गठन हुआ है—इन्हीं बातों की कसौटी पर कस कर उन्हें इस वर्ग में सन्निहित किया गया है। इन भाषाओं के गठन पर जब हम विचार करते हैं, तब उन्हें भी दो वर्गों में विभक्त पाते हैं, जिनमें एक को आयोगात्मक, और दूसरे को योगात्मक वर्ग कहते हैं। आयोगात्मक वर्ग उसे कहते हैं, जिसमें ऐसी भाषाएँ हैं, जिनमें स्वतंत्र सत्ता के शब्द होते हैं। चीनी भाषा इस वर्ग की भाषाओं में सर्व श्रेष्ठ समझी जाती है। चीनी भाषा का प्रत्येक शब्द स्वतन्त्र सत्ता रखता है। उसके शब्दों में, बिना विकार-ग्रस्त हुए ही भिन्न भिन्न सम्बन्ध और अर्थ को प्रगट करने की क्षमता है। योगात्मक वर्ग की भाषाएँ इसके विपरीत होती हैं। योगात्मक वर्ग की भाषाओं में सम्बन्ध और अर्थ-दोनों ही तत्व प्रत्ययों द्वारा जुटे हुए रहते हैं।

योगात्मक वर्ग की भाषाओं की प्रधानता उनके योग में होती है; दूसरे शब्दों में उनकी प्रकृति में संबंध और अर्थ तत्त्व में योग स्थापित करने की मुख्य भावना रहती

योगात्मक है। योगात्मक वर्ग की भाषाओं की प्रकृति को दृष्टि में रख कर उनके तीन भाग किए जा सकते हैं--प्रश्लिष्ट, अश्लिष्ट, और श्लिष्ट। प्रश्लिष्ट वर्ग की भाषाएँ वे हैं, जिनमें दोनों तत्व इस प्रकार मिलते हैं, कि उनका अलगाव नहीं किया जा सकता। संस्कृत में इसके उदाहरण मिलते हैं। इसके भी दो भाग किए जा सकते हैं—पूर्ण प्रश्लिष्ट, और आंशिक प्रश्लिष्ट। पूर्ण प्रश्लिष्ट में दोनों तत्त्व का योग पूर्ण रूप से होता है, जिसके दृष्टांत दक्षिण अमेरिका की चेरोकी भाषा में प्राप्त होते हैं। आंशिक प्रश्लिष्ट में योग किंचित रूप में ही होता है, जिसके दृष्टांत बास्क में मिलते हैं।

अश्लिष्ट वर्ग की भाषायें वे हैं, जिनमें दोनों तत्त्वों का योग इस प्रकार किया जाता है, कि दोनों ही तत्वों की अपनी अपनी सत्ता झलकती रहती है। इसके भी तीन भेद किए जा सकते हैं—पूर्वयोगात्मक, मध्य योगात्मक, और अंत योगात्मक। पूर्व योगात्मक भाषाओं में प्रत्ययों के स्थान पर उपसर्गों से काम लिया जाता है। इसके दृष्टांत अफ्रिका की बंटू परिवार की भाषाओं में मिलते हैं। मध्य योगात्मक भाषाओं में संबंध तत्व बीच और अंत में जोड़ा जाता है। इसके दृष्टांत प्रशांत सागरीय द्वीपों की भाषाओं में मिलते हैं। अंत योगात्मक वर्ग की भाषाएँ वे हैं, जिनमें संबंध तत्व का योग अन्त में ही किया जाता है। द्राविड़ भाषाओं में इसके दृष्टांत प्राप्त होते हैं।

श्लिष्ट संयोगात्मक वर्ग की भाषाएँ वे हैं, जिनमें सम्बन्ध तत्त्व और अर्थ तत्त्व इस प्रकार मिलते हैं, कि अर्थ तत्व में विकार उत्पन्न हो जाता है। दृष्टांत के लिए दिन, वेद, और इतिहास शब्द को लिया जा सकता है। यदि इन तीनों शब्दों में 'इक' लगाया जाय तो सम्बन्ध तत्व के स्पष्ट रहने पर भी वे विकार ग्रस्त होकर इस रूप में हो जाते हैं—दैनिक, वैदिक, और ऐतिहासिक इसके दृष्टांत संस्कृत और अरबी में प्रचुर रूप में मिलते हैं।

श्लिष्ट योगात्मक वर्ग की भाषाएँ भी दो भागों में विभक्त की जा सकती हैं—अन्तर्मुखी, और बहिर्मुखी अन्तर्मुखी भाषाएँ वे हैं, जिनमें सम्बन्ध तत्व के द्वारा जोड़ा हुआ भाग अर्थ तत्व के बीच में बिलकुल मिल जाता है। इसके उदाहरण अरबी में प्रचुर रूप में मिलते हैं। बहिर्मुखी भाषाओं में जोड़ा हुआ भाग अर्थ तत्व के बाद आता है। इसके दृष्टांत संस्कृत में मिलते हैं।

सम्बन्ध तत्व और अर्थ तत्व की समानता की दृष्टि से विश्व की भाषाएँ दो वर्गों में विभक्त की गई हैं—आकृति मूलक, और पारिवारिक। आकृति मूलक वर्ग की

पारिवारिक मूलक भाषाओं पर प्रकाश डाला जा चुका है। अब यहाँ पारिवारिक मूलक भाषाओं की विवेचना की जायगी। पारिवारिक मूलक भाषाएँ वे हैं, जिनमें परस्पर शब्दों और वाक्यों की गठन-शैली में सादृश्य होते हुए अर्थ तत्व

में भी सादृश्य पाया जाता है। भाषा के वर्गीकरण में मुख्य रूप से व्याकरण, शब्दों, और ध्वनियों की समानता पर ही ध्यान दिया जाता है। विश्व की जिन भाषाओं में इन बातों में समानता पाई जाती है, वे एक परिवार की भाषाएँ कही जाती हैं। इस प्रकार विश्व की संपूर्ण भाषाएँ अब तक बारह परिवारों में बाँटी गई हैं, जिनके नाम इस प्रकार हैं—भारोपीय, सेमिटिक, हैमिटिक, चीनी, यूराल अल्टाइक, द्राविड़, मेलेघाली नोशियन, बंटू, मध्य अफ्रीका, आष्ट्रो प्रशांतीय, तथा इसी प्रकार के दो और पश्चिार वर्गों के नाम हैं। पर छान बीन करने से ज्ञात हुआ है, कि विश्व की भाषाओं को इन बारह कुलों में विभक्त करने पर भी ऐसी बहुत सी भाषाएँ बच गई हैं, जिनका इसमें समावेश नहीं हो सका है, अतः भाषा-शास्त्रियों ने सुविधा के लिए भौगोलिक दृष्टि से विश्व की भाषाओं के चार खंड किए हैं—अफ्रीकाखण्ड, यूरेशियाखंड, प्रशांत महासागरीय खंड, और अमरीका खंड।

अफ्रीका खंड में पाँच पारिवारिक भाषाएँ सम्मिलित हैं:—बुशमैन परिवार, बंटू परिवार, सूडान परिवार, हैमिटिक परिवार, और सैमिटिक या सामी परिवार।

अफ्रीका खंड

बुशमैन परिवार की भाषाएँ पुरानी भाषाएँ हैं। इनके बोलने वाले दक्षिण अफ्रीका में बसते हैं, जो आरैंज नदी से नगामी झील तक के स्थानों में बिखरे हुए हैं। इस वर्ग की भाषाएँ पहले अश्लिष्ट योगात्मक रही हैं; पर अब शनैः शनैः आयोगात्मक होती जा रही हैं। इनमें मुख्य रूप से पाँच ध्वनियाँ मानी जाती हैं—दन्त्य, ओष्ठ्य; मूर्द्धन्य, तालव्य, और पार्श्विक। इस वर्ग की भाषाओं में लिंग नहीं होने।

इनमें मौखिक गीतों के रूप में साहित्य मिलता है, जो कथात्मक है।

बंटू परिवार की भाषाएँ भी दक्षिण अफ्रीका में ही बोली जाती हैं। इनके बोलने वाले मध्य, और दक्षिण अफ्रीका में भूमध्य रेखा के नीचे के विस्तृत भूभाग में फैले हुए हैं। इस परिवार में लगभग एक सौ पचास भाषाएँ सम्मिलित हैं, जो तीन भागों में विभक्त हैं—काफिर और जुलू, सेसुतो, और कागो। जुलू पूर्व में, सेसुतो मध्य में, और कागो पश्चिम में बोली जाती है।

इस परिवार की भाषाएँ अश्लिष्ट योगात्मक हैं। इनमें लिंग का सर्वथा अभाव होता है। एक वचन के लिए उपसर्ग का प्रयोग किया जाता है, और बहु वचन के लिए 'ब' को जोड़ कर काम चलाया जाता है। इस परिवार की भाषाएँ सुनने में बड़ी मधुर होती हैं। वे विदेशी शब्दों को भी अपनी मधुरता के साँचे में ढाल कर उन्हें भी अपने मधुर जीवन के अनुकूल बना लेती हैं।

सूडान परिवार में चार सौ पैंतीस भाषाएँ सम्मिलित हैं। इस परिवार की भाषाएँ अफ्रीका में बोली जाती हैं। इसके बोलने वाले अफ्रीका में भूमध्य रेखा के उत्तर, पश्चिम से पूर्व तक के पतले भाग में फैले हुए हैं। इस परिवार की सभी भाषाएँ अयोगात्मक हैं। उनमें विभक्तियाँ नहीं होतीं। व्याकरण की आवश्यकता का अनुभव भी उनमें नहीं किया जाता। वचन-भेद के लिए भी स्पष्ट नियम नहीं हैं—

'अ' को 'ओ' के रूप में परिवर्तित करके वचन भेद किया जाता है। लिंग-भेद के लिए भी निश्चित विधान नहीं हैं। 'नर' और 'मादा' शब्दों की सहायता से ही लिंग-भेद किया जाता है। वाक्यों के गठन में भी व्यवस्था का अभाव है। प्रायः वाक्य छोटे छोटे, और एक ही क्रिया या संज्ञा के होते हैं। इनमें मुहाविरों को ध्वनि या शब्द-चित्र कहते हैं, जो वर्णनात्मक होते हैं, और क्रिया विशेषण के रूप में व्यवहृत होते हैं।

इस परिवार की भाषाएँ चार वर्गों में विभक्त हैं—सेनेगल, ईव, मध्यवर्ती, और नीलोत्तरी। इनमें चार सौ पैंतीस भाषाएँ सम्मिलित हैं, किन्तु उनमें बोलोफ, ईव, ष्यूल, हौसा, सोम, और सूची इत्यादि का मुख्य स्थान है।

हैमेटिक परिवार की भाषाएँ उत्तरी अफ्रीका में बोली जाती हैं। इस परिवार की भाषाओं के बोलने वाले संपूर्ण उत्तरी अफ्रीका, और कई छोटे-छोटे द्वीपों में भी फैले हुए हैं। इसमें बहुत सी भाषाएँ सम्मिलित हैं, जो पाँच वर्गों में विभक्त हैं—मिश्र वर्ग, एथिओपिक वर्ग, लिबियन वर्ग, मिश्रित वर्ग, और फुल वर्ग। इस परिवार की संपूर्ण भाषाएँ श्लिष्ट योगात्मक हैं। इनमें पदों की रचना में क्रिया में प्रत्यय, और उपसर्ग-दोनों से ही सहायताएँ ली जाती हैं। संज्ञा में केवल प्रत्यय का ही उपयोग किया जाता है। इनमें स्वरों के साथ ही साथ अर्थ भी बदल जाता है। जब किसी शब्द पर जोर देने की आवश्यकता पड़ती है, तो उस शब्द का पुनः प्रयोग किया जाता है। क्रिया में काल के बोध का अभाव होता है। 'काल' का बोध कराने के लिए अन्यान्य शब्दों की सहायता ली जाती है। लिंग भेद का निर्णय 'नर' और 'मादा' की दृष्टि से नहीं किया जाता। बड़ी बड़ी और मजबूत वस्तुओं को पुलिंग माना जाता है। इसके विपरीत छोटी छोटी कमजोर वस्तुओं को स्त्री लिंग समझा जाता है। पुलिंग वाची शब्दों का उच्चारण कंठ से, और स्त्री लिंग वाची शब्दों का उच्चारण दन्त्य से किया जाता है। लिंग-भेद के सम्बन्ध में बहुत से तरीके काम में लाए जाते हैं। प्रायः छोटी छोटी चीजें, और कीड़े-मकोड़े बहुवचन के रूप में समझे जाते हैं। बहुवचन शब्दों को जब एक वचन में लाना होता है, तो बहुवचन शब्दों में प्रत्यय जोड़ दिया जाता है।

सेमेटिक परिवार की भाषाएँ मुख्य रूप से एशिया में बोली जाती हैं। अतः इस परिवार की भाषाओं पर यूरेशिया खंड में प्रकाश डाला जायगा।

यूरेशिया खंड में आठ परिवार-भाषायें सम्मिलित हैं—सेमेटिक, यूराल अल्टाइक, एकाक्षर, द्राविड़ आग्नेय, काकेशस, अनिश्चित, और भारोपीय।

यूरेशिया खंड

सेमेटिक परिवार की भाषायें मोरक्को से स्वेज नहर तक बोली जाती हैं। इनका नामकरण हजरत नौह के लड़के सेम के नाम के आधार पर हुआ है जो इस क्षेत्र के निवासियों के आदि पुरुष बताये जाते हैं। इस क्षेत्र में बोली जाने वाली भाषाओं का 'सेमेटिक' नाम उन्हीं के नाम पर पड़ा है। सेमेटिक और हेमेटिक—दोनों ही भाषाओं में बहुत कुछ साम्य है। दोनों में

सर्वनाम और संज्ञा के बहुवचन एक से होते हैं। दोनों के लिंगों में भी सादृश्य है। स्त्री लिंग बनाने का नियम दोनों में 'त' प्रत्यय के उपयोग से पूर्ण किया जाता है।

सेमेटिक परिवार की भाषाओं में कई अपनी विशेषताएँ होती हैं। इनमें धातु तीन व्यञ्जनों का होता है। पदों की रचना व्यञ्जनों में स्वर जोड़ कर की जाती है। कभी कभी स्वरों के स्थान पर प्रत्ययों, और उपसर्गों का प्रयोग किया जाता है। इस परिवार की भाषाओं में समास केवल दो ही शब्दों के मिलते हैं, और वह भी केवल व्यक्ति वाचक संज्ञाओं में ही। पहले प्रत्ययों की सहायता से ही कर्ता, कर्म, और सम्बन्ध कारक बनाये जाते थे, पर अब अन्याय भाषाओं के प्रभाव से पृथक शब्द जोड़ कर बनाये जाते हैं। इनमें पूर्ण और अपूर्ण-दो ही काल होते हैं। पुरुष वाची शब्दों में 'त' या 'अत्' प्रत्यय जोड़ कर स्त्री लिंग वाची शब्द बनाये जाते हैं। कुछ भाषाओं में 'त' ने 'थ' या 'ह' का रूप धारण कर लिया है।

सेमेटिक परिवार में कई भाषाएँ संमिलित हैं, जिनमें अरबी का महत्त्व पूर्ण स्थान है। यक्कदी, अरमी, यहूदी, और हब्शी इत्यादि भाषाएँ इसी परिवार की हैं।

यूराल अल्टाइक परिवार की भाषायें विस्तृत क्षेत्र में फैली हुई हैं। इनके बोलने वाले यूराल और अल्टाई पर्वत के मध्य के क्षेत्र में दूर तक फैले हुए हैं। यूराल अल्टाइक परिवार की दो शाखायें हैं—'यूराल' और अल्टाइक। यूराल शाखा की फिनी, उग्री और मगियार इत्यादि भाषाएँ मुख्य मानी जाती हैं। अल्टाई की मंगोल, तुर्गोजी, और तुर्की इत्यादि भाषाएँ मुख्य हैं।

इस परिवार की सभी भाषाएँ अश्लिष्ट अंतयोगात्मक हैं। इनमें धातुओं को जोड़ कर पदों की रचना की जाती है। एक पद के गठन में अधिक प्रत्ययों की सहायता ली जाती है। इनमें धातु अव्यय के समान होते हैं, जो बहुत बड़े बड़े होते हैं। संबंध वाचक सर्वनामों में प्रत्यय जोड़ना इस परिवार की भाषाओं की सबसे बड़ी विशेषता है। स्वर अनरूपता भी सब में एक समान प्राप्त होती है।

एकाक्षर परिवार को चीनी परिवार भी कहते हैं। क्योंकि इस परिवार की भाषाओं में चीनी भाषा का अधिक महत्त्वपूर्ण स्थान है। इस परिवार की भाषाएँ एक विस्तृत भूखंड में बोली जाती हैं, जो चीन, तिब्बत, स्याम, और ब्रह्मा आदि प्रदेशों में दूर तक फैला हुआ है।

इस परिवार की सभी भाषाएँ अयोगात्मक हैं। इनमें शब्द एकाक्षर होते हैं, जो अव्यय की भाँति होते हैं। शब्दों का रूप प्रायः एक सा ही रहता है। दो शब्द कभी एक में नहीं मिलते। शब्दों के संबंध का पता शब्द से ही चलता है। शब्द दो प्रकार के होते हैं—सार्थक, और निरर्थक। निरर्थक शब्दों के द्वारा ही सार्थक शब्दों का संबंध तत्त्व प्रदर्शित किया जाता है। इनमें सुर-भेद की अधिकता और व्याकरण का पूर्ण अभाव पाया जाता है।

अनामी, थाई, तिब्बती, और वर्मी इत्यादि इस परिवार की मुख्य भाषाएँ हैं। इन सब में भी चीनी का अधिक महत्त्व पूर्ण स्थान है।

द्राविड़ परिवार की भाषाएँ भारतवर्ष के दक्षिण में बोली जाती हैं, जो नर्मदा से लेकर कुमारी अंतरीप तक फैला हुआ है। इस परिवार में कई भाषाएँ संमिलित हैं, जिनमें तामिल, तेलगू, कन्नड़, और मलयालम् आदि का मुख्य स्थान है।

इस परिवार की सभी भाषाएँ अश्लिष्ट अंत योगात्मक हैं। इनमें मूर्द्धन्य ध्वनियों अर्थात् टवर्ग की प्रधानता रहती है। स्वरों की अनुरूपता सभी भाषाओं में पाई जाती है। अंतिम व्यंजनों के उच्चारण 'उकार' की ध्वनि के संयोग से किए जाते हैं। शब्दों के आरंभ में घोष व्यंजन नहीं मिलते। 'प्रत्ययों' को जोड़ कर बहुवचन बनाने की रीति इस परिवार की सभी भाषाओं में पाई जाती है। 'नपुंसक' शब्द एक वचन के ही होते हैं।

आग्नेय परिवार की भाषाएँ प्रशांत महा सागरीय द्वीपों में बोली जाती हैं। इस परिवार की भाषाएँ दो भागों में बँटी हैं—आग्नेय द्वीपी, और आग्नेय देशी। आग्नेय द्वीपी भाषाएँ प्रशांत महा सागरीय द्वीपों में बोली जाती हैं। आग्नेय देशी भाषाओं की गणना यूरेशिया खण्ड में की जाती है, जिनके बोलने वाले स्याम, ब्रह्मा, बंगाल, बिहार, और मध्य प्रांत के पहाड़ी भागों में रहते हैं। इस परिवार में कई भाषाएँ सम्मिलित हैं, जिनमें मुंडा, इन्डोनेशियन, नीकोबारी, और खासी इत्यादि का मुख्य स्थान है।

इस परिवार की सभी भाषाएँ अश्लिष्ट योगात्मक हैं, इनमें दो अक्षरों की धातु होती है। पदों की रचना प्रत्ययों और उपसर्गों की सहायता से की जाती है। स्थान की अनुकूलता को दृष्टि में रखकर एक ही शब्द से संज्ञा, क्रिया और विशेषण का काम लिया जाता है।

काकेशस परिवार की भाषाएँ पहाड़ी प्रदेश की भाषाएँ हैं। इनके बोलने वाले काकेशस पहाड़, और उसके आस-पास के स्थानों में निवास करते हैं। इस परिवार की भाषाएँ दो शाखाओं में बँटी हैं। एक को उत्तरी काकेशस शाखा, और दूसरी को दक्षिणी काकेशस शाखा कहते हैं।

इस परिवार की सभी भाषाएँ अन्त अश्लिष्ट योगात्मक हैं। इनमें न साहित्य है, और न इनके लिखने का ढंग ही व्यवस्थित है। पदों की रचना करने में अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। एक संज्ञा में तीस-तीस तक विभक्तियाँ होती हैं। किसी-किसी में संज्ञा के छः-छः लिङ्ग माने जाते हैं।

इस परिवार की भाषाओं में दक्षिणी काकेशस का मुख्य स्थान है। कई भाषायें बोलियों के ही रूप में पाई जाती हैं, जिनमें 'भार्जी' प्रमुख है।

अनिश्चित भाषाएँ वे हैं, जिनका समावेश अभी तक किसी परिवार में नहीं हो सका है। यही कारण है, कि इनको कुछ लोग परिवार मुक्त भाषाएँ भी कहते हैं। इनमें कुछ तो प्राचीन हैं, और कुछ नवीन हैं। प्राचीन भाषाओं में सुमेरी,

मितानी, कोसी, बन्नी, एलामा, हिट्टाइट कप्प दोसी, और एत्रस्कुन इत्यादि का मुख्य स्थान है। नवीन भाषाओं में जापानी, कोरियाई, ऐनू, हाईपरबोरी, और बास्क इत्यादि की गणना की जाती है।

भारोपीय परिवार विश्व के संपूर्ण भाषा परिवारों से अधिक बड़ा, और समृद्धि-शाली परिवार है। इस परिवार की भाषाएँ सम्पूर्ण यूरोप, अमेरिका, ईरान, अर्मीनिया, और अफ्रिका के दक्षिण पश्चिम कोने में बोली जाती हैं। कला, साहित्य और संस्कृति में इस परिवार की भाषाओं ने अधिक उन्नति की है। इस परिवार के अब तक इंडोजर्मनिक, इंडोकैल्टिक, और इन्डोयुरोपियन आदि कई नाम रक्खे जा चुके हैं। 'भारोपीय' इसका नया नाम है। कुछ लोग इसे 'आर्य परिवार' भी कहते हैं।

इस परिवार की संपूर्ण भाषाएँ पहले संयोगात्मक थीं, पर शनैः शनैः उनका रूप बदल कर वियोगात्मक हो गया। इनमें एक अक्षर की धातुएँ होती हैं, और पदों की रचना प्रत्ययों की सहायता से की जाती है। विभक्तियों का प्रयोग धातुओं के अर्थ में परिवर्तन करने के लिए किया जाता है। सामासिक पदों की रचना इस परिवार की भाषाओं की सबसे बड़ी विशेषता है।

इस परिवार की सम्पूर्ण भाषाओं का अध्ययन करने से ज्ञात होता है, कि इनमें बहुत कुछ साम्य है। संस्कृत, अवस्ता, ग्रीक, और लैटिन आदि के प्राचीन स्वरूपों में यह समानता भली भाँति देखी जा सकती है। इस समानता को दृष्टि में रख कर इस बात का अनुमान किया गया है, कि प्राचीन काल में कोई एक भाषा ऐसी अवश्य रही होगी, जिसे हम इन भाषाओं की मूल भाषा कह सकते हैं।

आज की ग्रीक, लैटिन, अवस्ता और संस्कृत के स्वरूप को सामने रख कर यह अनुमान किया गया है, कि उस मूल या आदि भाषा क', जिससे ये भाषाएँ निकली हैं, कैसा स्वरूप रहा होगा! निश्चय उसमें अन्तस्थ स्वरों, संयुक्त स्वरों, मूल स्वरों, उदासीन स्वरों, अन्तस्थ व्यञ्जनों, और शुद्ध व्यञ्जनों की ध्वनियां रही होंगी। यह पता चलता है, कि वह श्लिष्ट योगात्मक थी। उसमें सम्बन्ध और अर्थ तत्व-दोनों ही घुले-मिले होते थे। एक, द्वि और बहु-तीनों ही वचनों का प्रयोग होता था। पदों की रचना धातुओं में प्रत्यय जोड़ कर की जाती थी। संज्ञा को आठ विभक्तियां और तीन लिङ्ग-पुरुष, स्त्री और नपुंसक होते थे। संज्ञा, क्रिया, और अव्यय पृथक पृथक होते थे।

धातुओं की ध्वनियों को दृष्टि में रख कर भारोपीय परिवार दो वर्गों में विभक्त किया गया है—शतम् वर्ग, और केन्टुम् वर्ग। वर्गों के नाम करण का कारण यह है, कि इनके अन्तर्गत जो भाषाएँ हैं, उनमें 'सौ' के लिए व्यवहृत शब्दों में समानता है। जैसेः—

शतम् वर्ग	केन्टुम वर्ग
संस्कृत—शतम्	लैटिन—केन्टुम
रूसी—स्तो	फ्रेंच—केन्त

फारसी—सद्	इटैलियन—केन्टो
हिन्दी—सौ	ग्रीक—हेक्टोन

केन्टुम वर्ग में कई भाषाएँ संमिलित हैं, जिन्हें केल्टिक, ट्यूटानिक, लैटिन, हेलेनिक, हिट्टाइट, और तोखारी कहते हैं। केल्टिक प्राचीन भाषा है। प्राचीन काल में यह यूरोप के भिन्न भिन्न स्थानों में बोली जाती थी। वर्तमान काल में यह आयर्लैंड, ग्रेट ब्रिटेन, फ्रांस के कुछ प्रदेशों, बेल्जियम, स्विटजरलैंड, जर्मनी, इटली और ग्रीस इत्यादि देशों में बोली जाती है।

ट्यूटानिक का अधिक महत्व पूर्ण स्थान है। अँगरेजी ट्यूटानिक की ही एक महत्व पूर्ण शाखा है, जो आज अन्तर्राष्ट्रीय भाषा के रूप में प्रसिद्ध है। इसे जर्मेनिक भी कहते हैं। इसकी कई शाखाएँ हैं। ब्रिटेन में इसकी तीन शाखाएँ विकसित हुई हैं। अँगरेजी उन्हीं में से एक शाखा का विकसित स्वरूप है।

लैटिन को इटाली भी कहते हैं। इटाली वर्ग की भाषाएँ लैटिन से ही निकली हुई हैं। इसलिए इस समूह की भाषाएँ लैटिन समूह के नाम से विख्यात हैं। इस समूह में कई भाषाएँ संमिलित हैं, जिनमें इटाली, रूमानी, प्रोवेंशिल, फ्रेंच, पुर्तगाली, और स्पेनी इत्यादि मुख्य हैं। इटाली सिसली, सार्डीनिया, और कार्जिका इत्यादि स्थानों में बोली जाती है। प्रोवेंशल फ्रांस के दक्षिण की भाषा है। फ्रेंच फ्रांस में मुख्य रूप से बोली जाती है। पुर्तगाली पुर्तगाल की, और स्पेनी स्पेन की भाषा है। रूमानी रूमानिया, ट्रान्सल्वेनिया तथा ग्रीस के कुछ स्थानों की भाषा है।

हेलेनिक को ग्रीक शाखा भी कहते हैं। इसमें प्राचीन ग्रीक भाषा के साथ ही साथ आधुनिक ग्रीक और बोलियाँ भी संमिलित हैं। यूरोप की सभी भाषाओं से इसका भारत-इरानी वर्ग से अधिक घनिष्ठ संबंध है। इस शाखा में संमिलित भाषाओं के नाम आइओनियन, और डोरिक इत्यादि हैं।

हिट्टाइट शाखा की भाषाएँ बिलकुल नवीन हैं। इनका अस्तित्व ईसा से डेढ़ हजार वर्ष पूर्व से माना गया है। इस शाखा की भाषाएँ एशिया माइनर की भाषाएँ कही जाती हैं। क्योंकि इनके अक्षर, उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में एशिया माइनर के एक स्थान की खुदाई में प्राप्त हुए हैं।

तोखारी शाखा की भाषाओं का अभी थोड़े ही दिन हुए पता लगा है। १९०२-३ में जर्मन विद्वानों द्वारा तुर्किस्तान में इस भाषा की खोज हुई है। प्राचीन काल में यह शकों, और तोखारियों की भाषा थी। महाभारत में भी तोखारी जाति के मनुष्यों का उल्लेख मिलता है।

शतम् वर्ग में कई शाखाएँ संमिलित हैं जिनके नाम इस प्रकार हैं—इलीरियन, बाल्टिक, स्लैवोनिक, आर्मेनियन, और आर्य।

इलीरियन शाखा की भाषाएँ अधिक प्राचीन हैं। प्राचीन काल में यह इटली के दक्षिण-पूर्व में बोली जाती थीं। किन्तु अब इनके प्राचीन रूप का पता नहीं

लगता। इस शाखा की भाषाओं में अल्बेनियन ही एक ऐसी भाषा है जिसके संबंध में विचार-सामग्री प्राप्त है। इसीलिए इसको आल्बेनियन शाखा भी कहते हैं।

बाल्टिक को लेट्टिक भी कहते हैं। इसमें तीन भाषाएँ संमिलित हैं—प्रशियाई, लिथुएनी, और लैटो। प्रशियाई अब लुप्त प्राय हो चुकी है। लिथुएनी प्रशा के उत्तर पूर्व में – लिथुआनिया में बोली जाती है। इसका विकास बहुत ही धीरे धीरे हुआ है। यह संगीतात्मक और द्वियत्नों वाली भाषा है। लैटो लैटेबिया की भाषा है। इस पर रूसी का प्रभाव स्पष्ट रूप से दिखाई पड़ता है।

स्लैवोनिक शाखा की भाषाएँ यूरोप के एक विस्तृत क्षेत्र में फैली हुई हैं। रूस, पोलैंड, गलसिआ, आस्ट्रेलिया का अधिकांश भाग; बोहेमिया, मोराविआ, वलगेरिया, और स्लावोनिया आदि का क्षेत्र इसी शाखा के अंतर्गत है। इस शाखा की भाषाएँ तीन भागों में बँटी हैं—पूर्वी, पश्चिमी, और दक्षिणी। रूसी जो रूस में बोली जाती है, पूर्वी भाग की भाषा है। पश्चिमी शाखा में जेक और सर्वियन आदि भाषाएँ हैं। दक्षिणी शाखा में वलगेरियन, और इलिरिअन की गणना की जाती है।

आर्मेनिअन अर्मीनिया की भाषा है। इसमें तुर्की और अरबी शब्द अधिक मिलते हैं। इसमें संस्कृत के समान ही व्यंजन पाया जाता है। ईरानी भाषा का प्रभाव इस पर स्पष्ट रूप से परिलक्षित होता है।

आर्य शाखा की भाषाओं का विश्व के भाषा-इतिहास में अधिक महत्व है। इस शाखा की भाषाओं ने साहित्य और कला के क्षेत्र में अधिक उन्नति की है। वेद, जो संसार में सबसे अधिक उत्कृष्ट विचार-संपन्न हैं, इसी शाखा की संस्कृत भाषा में हैं। 'जेन्द अवस्ता' इत्यादि महत्व पूर्ण ग्रन्थ इसी शाखा की भाषा में मिलते हैं।

आर्य शाखा की भाषाओं के तीन वर्ग हैं—ईरानी, दरद और भारतीय। ईरानी वर्ग की भाषाएँ वे हैं, जो ईरान और उसके समीपवर्ती प्रदेशों में बोली जाती हैं। ईरानी वर्ग की भाषाओं को कई बार अधिक क्षति उठानी पड़ी है। सिकन्दर और अरबों की चढ़ाइयों से इस वर्ग की भाषाओं का साहित्य नष्ट भ्रष्ट हो चुका है। फिर भी शिला लेखों के द्वारा उसके प्राचीन स्वरूप की झलक मिलती है। पारसियों के धर्म ग्रन्थ 'अवस्ता' से भी उसके प्राचीन समुन्नत स्वरूप का आभास मिलता है।

ईरानी वर्ग में कई भाषाएँ संमिलित हैं, जिनमें प्राचीन फारसी, मध्यकालीन फारसी, साहित्यिक फारसी, ओसेटिक, कुर्दी, गालचा, बिलूची, पश्तो, प्रादेशिक फारसी, और प्रधान फारसी मुख्य हैं। पामीर, और 'फारसी' की बोलियाँ भी इसमें संमिलित हैं।

दरद पामीर और पश्चिमोत्तर पञ्जाब के बीच के क्षेत्र में बोली जाती है। इसका गठन इस प्रकार का है, कि इसे हम ईरानी और भारतीय के बीच की भाषा

कह सकते हैं। ऐसा ज्ञात होता है, कि इसके बोलने वाले कभी भारत के अन्यान्य प्रदेशों में फैले हुए थे, क्योंकि मराठी, सिंधी, और पञ्जाबी इत्यादि पर इसका स्पष्ट रूप से प्रभाव दिखाई पड़ता है।

भारतीय वर्ग की भाषाएँ वे भाषाएँ हैं, जो भारतवर्ष में बोली जाती हैं। इस वर्ग की भाषाओं का अधिक महत्व है। प्राचीन भारतीय आर्य भाषा विश्व में अपना एक विशिष्ट स्थान रखती है। आज भी वेदों, ब्राह्मण ग्रन्थों, सूत्रों, रामायण, महाभारत, और शिला लेखों में उसका प्राचीन स्वरूप देखने को मिलता है।

भारतीय शाखा को समझने के लिए इसके तीन भाग किए जा रहे हैं—प्राचीन युग, मध्य युग, और वर्तमान युग। प्राचीन युग में दो भाषाओं का प्रचार था। एक को वैदिक और दूसरे को लौकिक कहते थे। प्राचीन भारतीय आर्य भाषा वही भाषा है जो वेदों में पाई जाती थी। किन्तु धीरे-धीरे यह भाषा अधिक साहित्यिक हो जाने के कारण कृत्रिम हो गई, जिससे इसका जोर कम हो गया।

वैदिक को ही संस्कृत कहते हैं। संस्कृत का जोर जब कम हो गया, तब मध्य युग में उसका स्थान पाली, और प्राकृत ने ले लिया। मध्य युग का संपूर्ण साहित्य पाली और प्राकृत में ही है। मध्य युग को भी तीन भागों में विभाजित किया जा सकता है—आदि, मध्य, और उत्तर। आदि काल की प्रतिनिधि भाषा पाली और वह प्राकृत है, जिसके उदाहरण अशोक की धर्म-लिपियों में मिलते हैं। पाली उस काल की साहित्यिक भाषा थी। उसमें कथात्मक साहित्य की प्रचुरता है। व्याकरण और कोष भी पाली में मिलते हैं। प्राकृत के प्रारंभिक रूप अशोक के शिला लेखों में पाए जाते हैं। मध्य युग की प्रतिनिधि भाषा साहित्यिक प्राकृत है। प्राकृत के कई रूप हैं—जैसे मागधी प्राकृत, महाराष्ट्रीय प्राकृत, शौरसेनी प्राकृत पैशाची प्राकृत, अर्द्ध मागधी प्राकृत, और केकय प्राकृत इत्यादि। प्राकृतों में शौरसेनी का सबसे अधिक महत्व है। उत्तर काल की प्रतिनिधि भाषा भी प्राकृत ही थी, जिसे हम अपभ्रंश भी कह सकते हैं। उत्तर काल में प्राकृत अपनी गिरी हुई अवस्था में थी, और विकार ग्रस्त हो गई थी।

वर्तमान युग की भाषाएँ वे हैं, जो आज कल बोली जाती हैं। इन देशी भाषाओं का उदय अपभ्रंश से ही हुआ है। डाक्टर ग्रियर्सन ने भारतीय देशी भाषाओं के व्याकरण और उच्चारण पर ध्यान देकर उन्हें तीन उपशाखाओं में बाँटा है—अन्तरंग, बहिरंग, और मध्यवर्ती।

अंतरंग उपशाखाः—

(१) पश्चिमोत्तरी वर्ग—१ लहँदा, २ सिंधी।

(२) दक्षिणी वर्ग—३—मराठी।

(३) पूर्वी वर्ग—४—असामी, ५—बङ्गाली, ६—उड़िया, ७—बिहारी।

मध्यवर्ती उपशाखाः—

(४) मध्यवर्ती वर्ग—८—पूर्वी हिन्दी।

अंतरंग उपशाखाः—

(५) केन्द्र वर्ग—९—पश्चिमी हिन्दी, १०—पञ्जाबी, ११—गुजराती, १२—भीली, १३—खान देशी, १४—राज स्थानी।

(६) पहाड़ी वर्ग— १५—पूर्वी पहाड़ी, अथवा नैपाली, १६—केन्द्रवर्ती पहाड़ी, १७—पश्चिमी पहाड़ी।

किन्तु डाक्टर सुनीति कुमार चटर्जी ने डाक्टर गियर्सन के इस वर्ग को भ्रामक बताया है। उन्होंने भारतीय भाषाओं का वर्गीकरण इस प्रकार किया है, जो अधिक सरल और सुविधाजनक है:—

उत्तरी वर्ग—१—सिंधी, २—लहँदा, ३—पञ्जाबी।

पश्चिमी वर्ग—४—गुजराती, ५—राजस्थानी।

मध्य देशीय—६—पश्चिमी हिन्दी।

पूर्वी वर्ग—७—पूर्वी हिन्दी ८—बिहारी, ९—उड़िया, १०—बँगला, ११—आसामी।

दक्षिणी वर्ग—१२—मराठी।

डा० गियर्सन और चटर्जी के वर्गीकरण पर जब हम विचार करते हैं, तो चटर्जी का वर्गीकरण अधिक महत्व पूर्ण ज्ञात होता है। क्योंकि उन्होंने मध्य देश की भाषा हिन्दी को ही आधार मान कर भाषाओं का वर्गीकरण किया है। भारतीय भाषाओं की प्रकृति को ध्यान में रखते हुए यह सिद्धांत ठीक ज्ञात होता है। डाक्टर चटर्जी ने पहाड़ी भाषाओं को राजस्थानी का ही रूपान्तर माना है। यही कारण कि उन्होंने पहाड़ी भाषाओं को अपने वर्ग में स्थान नहीं दिया है।

प्रशांत महासागरीय खंड

प्रशांत महासागरीय खंड में बहुत सी भाषाएँ और बोलियाँ सम्मिलित हैं। यह खंड हिन्द महासागर, और प्रशांत महासागर के द्वीपों में बहुत दूर तक फैला हुआ है। इस खंड की संपूर्ण भाषाओं को पाँच परिवारों में बाँटा जा सकता है—मलाया परिवार, मलेनेशिया परिवार, पालिनेशिया परिवार, पापुआ परिवार, और आस्ट्रेलिया परिवार।

मलाया परिवार को इंडोनेशिया परिवार भी कहते हैं। यह मलय प्राय द्वीप, सुमात्रा के एक अंश, और बोर्नियो के आस पास बोली जाती है। मलेनेशिया परिवार में फिजियन, कैलीडोनी, ल्वायल्टी, होब्रेड्रो, और सोलोमोनी आदि भाषाएँ सम्मिलित हैं। यह फीजी और उसके आस पास के द्वीपों में बोली जाती हैं। पालेनेशिया परिवार में मओरी, टोंगा, समोई, हवाई, ताहिती, और मार क्वीसन आदि भाषाएँ सम्मिलित हैं। इनका नाम करण अपने क्षेत्रों के ही आधार पर हुआ है। यह अपने नाम के अनुसार न्यूजीलैंड, टोंगा, समोआ, हवाई, और ताहिती इत्यादि छोटे छोटे द्वीपों में बोली जाती हैं। पापुआ न्यूगिनी के समीपवर्ती छोटे-छोटे द्वीपों की भाषा है। आस्ट्रेलिया परिवार की भाषाएँ आस्ट्रेलिया और टस्मानिया में बोली जाती हैं।

अमरीका खंड के दो भाग किए जा सकते हैं:—उत्तरी और दक्षिणी। दोनों भागों में मिल कर कुल चार सौ भाषाएँ इस खंड में पाई जाती हैं, जिन्हें तीस परिवारों में विभक्त किया जा सकता है। इस खंड की भाषाओं का अभी तक पूर्ण रूप से अध्ययन नहीं हो सका है। इसलिए किसी भाषा शास्त्री ने इस खंड की भाषाओं पर अभी तक विशेष प्रकाश नहीं डाला।

अमरीका खंड

भाषा विज्ञान का इतिहास

भारत में भाषा विज्ञान

भाषा विज्ञान का इतिहास अत्यन्त प्राचीन है। भारतवर्ष में अति प्राचीन काल से ही भाषा-विज्ञान के प्रति लोगों के हृदय में प्रेम, और पिपासा है। भारतीय विद्वानों ने जिस प्रकार जीवन के अन्यान्य क्षेत्रों में अपने ज्ञान और अध्ययन का महत्व प्रगट किया है, उसी प्रकार भाषा विज्ञान के क्षेत्र में भी भारतीय विद्वानों की गति रही है। यह बात सत्य है, कि आज भाषा विज्ञान का जो स्वरूप है, प्राचीन काल में वह नहीं था। प्राचीन काल में व्याकरण के रूप में ही हमारे देश में भाषा-विज्ञान का विकास हुआ था। साधारण रूप से अर्थ, ध्वनि, और शब्दों पर भी विवेचनाएँ मिलती हैं।

हमारे देश में भाषा-विज्ञान का जो महत्व पूर्ण अध्ययन हुआ है, उसके इतिहास को हम दो भागों विभक्त करते हैं। उनमें एक भाग को प्राचीन, और दूसरे को आधुनिक की संज्ञा दे सकते हैं। प्राचीन अध्ययन का इतिहास वेदों, ब्राह्मण ग्रंथों, पद पाठों, प्रति शाख्यों, निघंटों और निरुक्तों में मिलता है। यजुर्वेद से पता चलता है, कि वैदिक काल में लोगों की भाषा विज्ञान में अच्छी गति थी। क्योंकि यजुर्वेद में कई स्थानों में वाक्यों के विश्लेषण की बात आई है। संहिताएँ, जो वेदों के बाद बनी हैं, भारतीयों के भाषा विज्ञान-ज्ञान के चित्र को सामने उपस्थित करती हैं। यजुर्वेद संहिता में भी वाक्यों के विश्लेषण की बात का उल्लेख है। ब्राह्मण ग्रन्थ संहिताओं के बाद की रचना है। ब्राह्मण ग्रन्थों में शब्दों के अर्थ और वाक्यों के खंडों पर ध्यान दिया गया है। विश्व के भाषा-विज्ञान के इतिहास में ब्राह्मण ग्रन्थ ही ऐसे प्रथम ग्रन्थ हैं, जिनमें शब्दों के अर्थ की ओर ध्यान दिया गया है। पद पाठों में, जिनकी रचना संहिताओं के पश्चात् हुई है, भाषा विज्ञान के ज्ञान का और भी अधिक विकास मिलता है। पद पाठों में संहिताएँ पदों के रूप में परिवर्तित की गई हैं। उनमें वाक्यों के शब्दों को संधि और समासों के आधार पर पृथक-पृथक किया गया है। प्रतिशाख्यों की रचना पद पाठों के पश्चात् उच्चारण सम्बन्धी धार्मिक अशुद्धियों से बचने के उद्देश्य से की गई है। प्रति शाख्यों में ध्वनियों के अध्ययन की बात विशेष रूप से मिलती है। निघंटों की रचना वैदिक शब्दों के संग्रहार्थ की गई है। यद्यपि आज कल एक ही निघंट मिलता है, पर उससे तत्कालीन विद्वानों के भाषा-विज्ञान का अच्छा परिचय मिलता है। प्राप्त निघंट में शब्दों के पर्याय को एक क्रम

से रक्खा गया है। निरुक्त में निघंट की व्याख्या की गई। शब्दों को पृथक-पृथक देकर उनकी व्युत्पत्ति की गई है; साथ ही उनके अर्थ पर भी विचार किया गया है।

प्राचीन काल के भाषा वैज्ञानिकों में पाणिनि, कात्यायन पातंजलि, जयादित्य तथा वामन, जिनेंद्र बुद्धि, हरदत्त, भतृहरि, कय्यट, विमल सरस्वती, और जीव सिद्धि इत्यादि का नाम मुख्य रूप से लिया जा सकता है। इनकी रचनाओं का अध्ययन करने से यह ज्ञात होता है, कि वे भाषा-विज्ञान के महत्वपूर्ण अंगों पर अपना अधिकार रखते थे।

आधुनिक भाषा विज्ञान के अध्ययन का स्रोत यूरोपीय संपर्क से फूटा है। ज्यों ज्यों हिन्दी और अन्य देशी भाषाएँ अंगरेजी के संपर्क में आई हैं, त्यों त्यों उनमें भाषा विज्ञान के अध्ययन की लिप्सा भी बढ़ती गई है। अब तक हिन्दी तथा अन्यान्य देशी भाषाओं में भी इस सम्बन्ध में कई महत्व पूर्ण प्रयत्न हो चुके हैं। हिन्दी में प्रयत्न करने वालों में श्री श्याम सुन्दरदास, डा० मंगल देव, डा० धीरेन्द्र वर्मा, डा० बाबूराम सक्सेना, डा० सान्याल, और सुनीत कुमार चटर्जी का नाम मुख्य रूप से लिया जा सकता है। राम कृष्ण भंडारकर ने भी तुलानात्मक भाषा-विज्ञान के अध्ययन के मार्ग को प्रशस्त बनाने का प्रशंसनीय प्रयत्न किया है। पंजाबी के क्षेत्र में बनारसी दास जैन का प्रयत्न स्तुत्य है। इसी प्रकार कई लब्ध प्रतिष्ठ विद्वानों ने, भिन्न भिन्न भाषा के क्षेत्रों में भाषा-विज्ञान के अध्ययन को गति प्रदान की है।

पश्चिम में भाषा-विज्ञान

यद्यपि आधुनिक काल में भाषा-विज्ञान के अध्ययन में पश्चिम भारत से आगे बढ़ा हुआ है, पर यह बात निर्विवाद है, कि भाषा-विज्ञान का अध्ययन भारत की अपेक्षा पश्चिम में बहुत समय पश्चात् प्रारंभ हुआ है। जिस समय भारत भाषा-विज्ञान के अध्ययन के मार्ग पर भली भाँति चल रहा था, उस समय पश्चिम चलना-मात्र ही सीख रहा था। प्राचीन काल में यूरोप की सभ्यता का केन्द्र ग्रीस था। अतः सर्व प्रथम ग्रीस में ही भाषा-विज्ञान के अध्ययन का ज्ञान भी उदय हुआ। पश्चिम में सर्व प्रथम भाषा विज्ञान के ज्ञान की झलक अरस्तू के ग्रन्थों में मिलती है। अरस्तू के पश्चात् प्लेटो ने इस ज्ञान को आगे बढ़ाने का प्रयत्न किया है। अरस्तू के ग्रन्थों में जहाँ केवल भाषा के पदों के विश्लेषण की बात मिलती है, वहाँ प्लेटो के ग्रन्थों में ध्वनियों का वर्गीकरण भी मिलता है। प्लेटो के पश्चात् एक ग्रीक विद्वान ने, जिसका नाम थिरेस था, ग्रीक व्याकरण की रचना थी। पश्चिम का यही सर्व प्रथम व्याकरण माना जाता है।

समय की गति के कारण जब ग्रीस की सभ्यता का पतन हुआ, तब उसका स्थान रोम ने ले लिया, और उस समय रोम ही पश्चिमी सभ्यता का केन्द्र बन गया। इस परिवर्तित परिस्थिति के कारण ग्रीक के साथ ही साथ लैटिन का भी अध्ययन किया जाने लगा। लैटिन प्रभाव पूर्ण भाषा थी। समय और स्थिति भी उसके अनुकूल थी। अतः शनैः शनैः उसका प्रभाव सारे यूरोप पर छा गया। इन्हीं दिनों संस्कृत-ग्रन्थों का अनुवाद यूरोप में पहुँचा। पश्चिम के विद्वानों ने ग्रीक, लैटिन और

संस्कृत में अधिक सादृश्य देखा, तब उनके आश्चर्य का ठिकाना न रहा, और वे उस मूल भाषा की खोज में तन्मय हो गए, जिससे यह भाषाएँ निकली हैं। पश्चिम के कई विद्वानों ने इस सम्बन्ध में महत्व पूर्ण गवेषणाएँ की हैं, जिनमें रूसो कौंडिलक, हर्डर, और जेनिश इत्यादि का नाम विशेष उल्लेखनीय है। सर्व प्रथम हर्डर और जेनिश ने ही मानव-प्रकृति को सामने रख कर भाषा के जन्म और उसके विकास के सम्बन्ध में अपने मत स्थिर किये हैं। अतः यही दोनों पश्चिमी क्षेत्र में भाषा-विज्ञान के अध्ययन के जन्मदाता भी माने जाते हैं।

भारतीय भाषा-विज्ञान के इतिहास की भाँति पश्चिम का भाषा-विज्ञान सम्बन्धी इतिहास भी दो भागों में बाँटा जा सकता है—प्राचीन और आधुनिक। प्राचीन इतिहास के निर्माताओं में श्री फ्रडेटिक वान, श्री श्लेग्ल गेले, श्री अडोल्फ, श्री रैस्क, जेकब, ग्रीम, मैक्स मूलर, और ह्विटनी इत्यादि के नाम महत्व पूर्ण हैं। इन विद्वानों ने अपने ग्रन्थों में भाषा के अंगों पर प्रकाश डाला है, और उनका विश्लेषण किया है। तुलनात्मक भाषा-विज्ञान की नींव जेकब ग्रीम के द्वारा पड़ी है। सर्व प्रथम ग्रीम ने ही भाषाओं के तुलनात्मक अध्ययन के लिए नियम स्थिर किए हैं।

आधुनिक युग के विद्वानों में स्टाइ नथल, हेनरी स्वीट, आटो जेस्परसन, ट्राम्प, टरनर, केन्डवल, और ब्रील इत्यादि विद्वानों के नाम उल्लेखनीय हैं, जिन्होंने अँगरेजी, फ्रेंच, और जर्मन इत्यादि भाषाओं में भाषा विज्ञान के सूक्ष्मातिसूक्ष्म अंगों पर विचार प्रगट करने का स्तुत्य प्रयास किया है।

लिपि और उसका विकास

प्रत्येक भाषा की अपनी अपनी लिपि है। लिपि की ओर मनुष्य का ध्यान किस समय गया—इस सम्बन्ध में कुछ अधिक ठीक-ठीक नहीं कहा जा सकता। किन्तु

लिपि और उसकी उत्पत्ति

यह निश्चय है, कि भाषा का आविष्कार हो जाने के पश्चात् ही मनुष्य का ध्यान लिपि की ओर गया होगा। जब मनुष्य के पारस्परिक सम्बन्ध का क्षेत्र विस्तृत हुआ होगा, तब अपने मनोभावों को सुदूर-स्थित मनुष्यों पर व्यक्त करने के लिए ही मनुष्य ने लिपि का आविष्कार किया होगा। क्योंकि दूर-स्थित मनुष्यों पर, मौखिक भाषा-द्वारा मनोभाव नहीं व्यक्त किये जा सकते थे।

भाषा के सम्बन्ध में जिस प्रकार कुछ लोगों का विचार है, कि भाषा ईश्वर प्रदत्त है, उसी प्रकार कुछ लोग लिपि को भी ईश्वर प्रदत्त बताते हैं। उनका कहना है, कि ब्राह्मी ब्रह्मा की बनाई हुई लिपि है, और उसी से संपूर्ण लिपियाँ उद्भवित हुई हैं। पर लिपियों का जो इतिहास हमारे सामने है, उससे पता चलता है, कि लिपि ईश्वर प्रदत्त नहीं, वरन् भाषा की भाँति ही उसका भी क्रमिक विकास हुआ है।

लिपि के क्रमिक विकास की चार अवस्थाएँ प्राप्त होती हैं—सूत्र लिपि, रेखा लिपि, चित्र लिपि, और अक्षर। प्रारंभ काल में जब मनुष्य को लिपि की आव-

लिपि विकास की अवस्थाएँ

श्यकता पड़ी होगी, तब वह सूत या डोरी में गाँठ देकर अपने हृदय के भावों को प्रदर्शित करता रहा होगा। कभी कभी खाल के धागों में विभिन्न रंग की वस्तुएँ बाँध कर इस काम की पूर्ति की जाती रही होगी। इस अनुमान के प्रत्यक्ष दृष्टांत आज भी पीरू में प्राप्त होते हैं। सूत्र लिपि के साथ ही साथ किन्हीं स्थानों में रेखा-लिपि भी रही होगी; अर्थात् किन्हीं किन्हीं स्थानों के मनुष्य रेखाओं के द्वारा भी अपने मनोभाव व्यक्त करते रहे होंगे। अफ्रिका में आज भी रेखा लिपि प्रचलित है। 'चित्र लिपि' इन दोनों लिपियों का विकसित स्वरूप है। निश्चय इन दोनों लिपियों के पश्चात् जब मनुष्य के ज्ञान की अभिवृद्धि हुई होगी, तब वह भाँति भाँति के चित्र बनाकर अपने मनोभावों को व्यक्त करने लगा होगा। चीन, मिश्र, स्काटलैण्ड और केलिफोर्निया इत्यादि देशों में चित्र लिपि संबंधी ऐसे दृष्टांत प्राप्त हुए हैं, जिनसे चित्र लिपियों पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है।

किन्तु मनुष्य की आवश्यकताओं की पूर्ति चित्र लिपियों से भी न हो सकी। इसका कारण यह है, कि मनुष्य अपने भावों को शीघ्रता के साथ व्यक्त करना चाहता था, किन्तु भावों को व्यक्त करने के एक-एक वाक्य को चित्र-संकेत का रूप देने में अधिक समय लगता था। अतः चित्र-संकेतों में मनुष्य परिवर्तन करने लगा। धीरे धीरे इस परिवर्तन ने ही अक्षर का रूप धारण कर लिया। सर्व प्रथम ध्वनि युक्त अक्षरों की सृष्टि चीन में हुई। पहले जहाँ एक वाक्य के लिए चित्र बनाया जाता था, वहाँ अब चीन में प्रत्येक शब्द के लिए एक चित्र निश्चित् हो गया। शब्दों के ये चित्र ध्वन्यात्मक नहीं, अर्थात्मक थे। धीरे-धीरे इन शब्द-चित्रों का विकास होता गया। आगे चल कर इनमें भी यह कठिनाई प्रतीत हुई, कि प्रत्येक नवीन भाव के लिए पृथक पृथक स्वतन्त्र शब्द-चित्रों की आवश्यकता पड़ती थी, जिससे भाव-प्रदर्शन में कठिनाइयों का सामना करना पड़ता था। फल स्वरूप ऐसे चिह्न निर्धारित किये गये, जो कई अर्थों के द्योतक होते थे। शनैः शनैः इन चिह्नों की संख्या बढ़ती गई। यही भाव-चिह्न चीनी लिपि के नाम से विख्यात हैं।

चीनी लिपि

यूरोपीय लिपियों का विकास भी चित्र लिपि से ही हुआ है। ऐतिहासिक गवेषणा से पता चलता है, कि चीन की भाँति ही मिश्र में भी चित्र लिपि का अधिक विकास हुआ था। चित्र लिपि मिश्र से कोनिशियन लोगों को प्राप्त हुई, क्योंकि उन दिनों वे लोग मिश्र में प्रायः व्यापार करने के उद्देश्य से जाया करते थे। कोनिशियनों के ही द्वारा यह लिपि यूनान में पहुँची। यूनानियों ने शनैः शनैः इस लिपि में अधिक उन्नति की, और उसे ध्वन्यात्मक अक्षरों का स्वरूप दिया। यूरोप की संपूर्ण लिपियाँ इसी लिपि से निकली हुई हैं।

यूरोपीय लिपियाँ

मिश्र की ही चित्र लिपियाँ आर्मेनिया में भी पहुँची, और अरब तथा ईरान निवासियों ने भी उनसे इस लिपि को ग्रहण किया। इस प्रकार अरबी के विकास के मूल में भी यही चित्र-लिपि है। ईरानी भाषा का विकास भी चित्र-लिपि के ही द्वारा हुआ है। मैसोपटामिया के निवासी, जो सुमेरी कहलाते थे, चित्र-लिपि में अधिक प्रवीण थे। ये मुलायम ईंटों पर कीलों से रेखाएँ खोद कर अपने भावों को व्यक्त किया करते थे। ईरान के प्राचीन निवासियों ने सुमेरी जाति के लोगों से इस विधि को ग्रहण किया। ईरानियों के प्राचीन अक्षर कीलाक्षर कहलाते हैं। क्योंकि वे उन्हें कील से खोद कर बनाते थे।

चीन और मिश्र की भाँति ही भारतवर्ष की सभ्यता अधिक पुरानी है। विचारों की प्रांजलता, और सुन्दरता में भारत विश्व का एक ही राष्ट्र है। ऐतिहासिक तथ्य इस बात के प्रमाण हैं, कि भाषा का आविष्कार भारतीयों ने संसार में सबसे पहले किया था। इससे यह भी ज्ञात होता है, कि लिपि के आविष्कार के सम्बन्ध में भी भारतीय पीछे न रहे होंगे। चीन और

भारतीय लिपियां

मिश्र की भाँति ही हमारे देश में भी लिपि का जन्म हुआ होगा, और वह धीरे-धीरे विकसित होकर आज की लिपियों के रूप में पल्लवित और पुष्पित हुई होगी। पर इस संबंध का कोई ऐतिहासिक प्रमाण अभी तक सामने नहीं आ सका है। इतिहास से पता चलता है, कि आधुनिक लिपियों का प्रथम स्वरूप अशोक के लेखों में ही प्राप्त होता है। इसके पूर्व कोई लिपि थी, या नहीं—इसके सम्बन्ध में ऐतिहासिक तथ्य अभी मौन तक हैं।

अशोक के लेखों में मुख्य रूप से दो लिपियाँ पाई जाती हैं। एक को ब्राह्मी, और दूसरे को खरोष्ठी कहते हैं। विदेशी विद्वानों का कथन है, कि यह दोनों ही लिपियाँ विदेशी हैं, पर ऐतिहासिक प्रमाण इस कथन के विपरीत मिलते हैं। ऐतिहासिक तथ्यों से पता चलता है, कि ब्राह्मी लिपि भारतीय लिपि हैं, और उसी से भारत की संपूर्ण लिपियाँ निकली हुई हैं। खरोष्ठी लिपि के सम्बन्ध में यह बात अवश्य कही जा सकती है, कि उसका विकास इस देश में नहीं हुआ है। 'खरोष्ठी' लिपि कभी चीन और तुर्किस्तान में प्रचलित थी। यह शुद्ध अभारतीय लिपि है, और अब इसका लोप हो चुका है।

यह सत्य है, कि आधुनिक लिपि का प्रथम स्वरूप अशोक के लेखों में ही प्राप्त होता है; पर उसके साथ ही साथ यह भी सच है, कि प्राचीन काल में भारतवर्ष में लिपि-ज्ञान प्रचलित था। 'लिपि-ज्ञान' के प्रमाण आज भी प्राचीन पुस्तकों में सुरक्षित हैं। बौद्ध त्रिपिटकों, और छान्दोग्य पनिषदों इत्यादि प्राचीन ग्रन्थों में 'अक्षर' शब्द का कई बार प्रयोग हुआ है। पाणिनि के व्याकरण में भी 'लिपि' या 'लिबि' शब्द का प्रयोग मिलता है, जिससे लिपि की विद्यमानता का पता चलता है। प्राचीन भारतीयों की विचार और ज्ञान-शक्ति भी इस बात का प्रमाण है, कि उन्होंने अवश्यमेव ही लिपि का आविष्कार किया होगा।

लिपि-ज्ञान

ज्यों ज्यों इतिहास पर नया प्रकाश पड़ रहा है, त्यों त्यों यह सत्य भी सामने आता जा रहा है। मोहन जोदड़ों और हड़प्पा की खुदाई ने इतिहास के पृष्ठों को बदल दिया है। मोहन जोदड़ों और हड़प्पा की खुदाई में कई ऐसे लेख प्राप्त हुए हैं, जो ईसा के कई हजार वर्ष पूर्व के हैं। इन लेखों में जिस लिपि का प्रयोग हुआ है, वह ब्राह्मी और खरोष्ठी से भिन्न है, तथा वैदिक काल की ज्ञात होती है। हैदराबाद की खुदाई में भी ऐसे लेख मिले हैं, जो मिट्टी के बरतनों पर अंकित हैं, बसी (अजमेर) और नैपाल की तराई में भी ऐसे लेख प्राप्त हुए हैं, जो ब्राह्मी के बहुत पहले के हैं। यह सामग्रियाँ निश्चित रूप से इस बात को सामने उपस्थित करती हैं, कि प्राचीन काल में लिपि ज्ञान का प्रचार भारतवर्ष में अपने विकसित रूप में था।

अशोक के लेखों में दो लिपियाँ पाई जाती हैं—'खरोष्ठी' और ब्राह्मी। 'खरोष्ठी' विदेशी लिपि है। यद्यपि अशोक के 'शाहबाज गढ़ी' और 'मानसेरा' के लेखों में खरोष्ठी लिपि का प्रयोग हुआ है, पर विदेशी होने के कारण इस लिपि का विकास हमारे देश में न हो

ब्राह्मी और भारतीय लिपियां

सका। 'अशोक' के पश्चात् किसी भी भारतीय नृपति ने इस लिपि को ग्रहण न किया, जिससे इसका लोप हो गया। इसका अस्तित्व कुछ विदेशी राजाओं के सिक्कों पर मिलता है, जिनकी चलन पश्चिमोत्तर प्रांत में ही मुख्य रूप से रही है।

'ब्राह्मी लिपि' भारत की अपनी और सर्व श्रेष्ठ लिपि है। विदेशी विद्वानों का ब्राह्मी के सम्बन्ध में भिन्न-भिन्न मत है। विलसन और प्रिंसेप से नार्ट प्रभृति विद्वानों का कहना है, कि ब्राह्मी लिपि का उद्भव 'फोनेशा' लिपि से हुआ है। इसके प्रतिकूल डीके के मतानुसार यह असीरी के कीलाक्षरों से निकली है। बेबर बूलर और जॉलने 'सामी' को ब्राह्मी का उद्गम कहा है, किन्तु वास्तव में देखा जाय तो यह विचार अनुमान मात्र हैं। तथ्यों से यही सिद्ध होता है, कि ब्राह्मी भारतीय लिपि है। ब्राह्मी का जन्म और विकास भारतवर्ष में ही हुआ है। डाक्टर तारा पुरा वाला ने 'ब्राह्मी' का संबन्ध प्रागैतिहासिक काल से स्थापित किया है। वे इसके प्रमाण में उन लेखों को उपस्थित करते हैं, जो हैदराबाद की खुदाई में मिट्टी के बरतनों पर पाये गए हैं।

चार सौ शताब्दी में ब्राह्मी संपूर्ण उत्तर भारत में प्रचलित थी, इसके पश्चात् यह दो भागों में विभक्त हो गई। उत्तरी, और दक्षिणी। उत्तरी भाग से कई लिपियों का जन्म हुआ है, जिनमें गुप्त, कुटिल, नागरी, शारदा, और बँगला लिपि का नाम मुख्य है। इसी प्रकार दक्षिणी भाग से कई लिपियों का जन्म हुआ है, जिनमें पश्चिमी, मध्य देशीय तेलगू, कन्नड़ी, ग्रन्थ लिपि, कलिंग, और तामिल का नाम उल्लेखनीय है।

गुप्त राजाओं के शासन काल में 'ब्राह्मी' लिपि को 'गुप्त' लिपि की संज्ञा दी गई। इसके पश्चात् यह 'कुटिल' लिपि के रूप में सामने आई। इसका कारण यह है, कि छठी शताब्दी में उसकी आकृति टेढ़ी-मेढ़ी हो गई थी। 'कुटिल' से ही नागरी और शारदा का जन्म हुआ है। 'नागरी' का यह नाम क्यों पड़ा—इस सम्बन्ध में विद्वानों के विभिन्न मत हैं। कुछ लोगों का कहना है, कि नागरी नागर ब्राह्मणों की लिपि थी, इसीलिए उसे लोग नागरी कहने लगे। इसके विपरीत कुछ लोग यह कहते हैं, कि नगर की लिपि होने के ही कारण इसका 'नागरी' नाम पड़ा है। कुछ लोगों के कथनानुसार तान्त्रिक चिह्नों 'देव नागर' से इसकी समता है, इसलिए यह नागरी नाम से अभिहित हुई। कुछ लोग इसके नागरी नाम होने का कारण यह बताते हैं, कि देव मूर्तियों के बनने के पूर्व उनकी उपासनाएँ सांकेतिक चिह्नों के द्वारा होती थी, जिन्हें 'देवानागर' कहते थे। 'देव नागरी' लिपि का उनसे संबंध होने के कारण उसे 'नागरी' कहने लगे। इन कथनों में कितना सार है, यह निश्चय पूर्वक नहीं कहा जा सकता।

नागरी लिपि से कई लिपियों का जन्म हुआ है, जिनमें कैथी, महाजनी, गुजराती, राजस्थानी और नन्दिनागरी मुख्य हैं। इसी प्रकार शारदा लिपि से भी कई लिपियाँ निकली हैं—जिनमें काश्मीरी, टाकरी, और गुरुमुखी का नाम उल्लेखनीय है।

'बँगला' लिपि भी कई लिपियों का उद्गम मानी जाती है, जिनमें नैपाली, मैथिली, और उड़िया इत्यादि का मुख्य स्थान है।

इस प्रकार नागरी लिपि का संबंध सभी लिपियों से है। दक्षिण की लिपियाँ, जिन्हें तुलू, मलयालम्, कन्नड़ी, तामिल और तेलगू इत्यादि कहते हैं, नागरी से ही संबंधित हैं। देव नागरी, जो आज हिन्दी में लिखी जाती है, और भारत की राष्ट्र लिपि हैं, नागरी से ही निकली हुई है।

२

हिन्दी भाषा और उसका विकास

विषय सूची

१—भाषा परिवार और हिन्दी ५१

(अ) भारोपीय परिवार, (आ) आर्य कुल।

२—भारतीय प्राचीन भाषाएँ ५५

(इ) ऋग्वेद की भाषा, (ई) संस्कृत, (ए) पाली, (ऐ) प्राकृत, (ऐ) अपभ्रंश।

३—हिन्दी की जन्म-प्रसूता—शौरसेनी ६०

(ओ) आर्यों का मूल स्थान, (औ) मध्यदेश, (क) शौरसेनी।

४—आधुनिक भारतीय आर्य भाषाएँ ६३

(ख) ग्रियर्सन का वर्गीकरण, (ग) चटर्जी का वर्गीकरण, (घ) सामान्य परिचय—सिंधी, (ङ) लहँदा, (च) पंजाबी, (छ) गुजराती, (ज) राजस्थानी, (झ) पश्चिमी हिन्दी, (ञ) पूर्वी हिन्दी, (ट) बिहारी, (ठ) पहाड़ी, (ड) उड़िया, (ढ) बंगाली, (ण) आसामी, (त) मराठी।

५—हिन्दी और उसकी उपभाषाएँ ७१

(थ) हिन्दी शब्द की उत्पत्ति, (द) हिन्दी का क्षेत्र, (ध) हिन्दी का क्षेत्र नए अर्थ में, (न) पश्चिमी हिन्दी, (प) पूर्वी हिन्दी, (फ) बिहारी, (ब) राजस्थानी, (भ) पहाड़ी भाषा, (म) साहित्यिक भाषाएं।

६—हिन्दी के विकास की गति ७६

(य) हिन्दी का जन्म, (र) आदि काल, (ल) मध्य काल, (व) आधुनिक काल।

७—हिन्दी का शब्द भण्डार ८६

(श) शब्दागमन के साधन, (ष) संस्कृत या प्राकृत के शब्द, (स) देशज, (ह) अनुकरणात्मक, (क्ष) तत्समाभास, (अ) अनार्य भाषा के शब्द, (आ) प्रतिध्वनित, (इ) विदेशी भाषाओं के शब्द।

—:*:—

भाषा परिवार और हिन्दी

हमारे देश में कई प्रादेशिक भाषाएँ हैं। उनमें बंगाली, गुजराती और मराठी इत्यादि ऐसी भाषाएँ हैं, जो भाषा-विज्ञान की दृष्टि से उत्तम कही जा सकती हैं, और जिनका साहित्यिक दृष्टिकोण से भी अधिक उच्च स्थान हैं; किन्तु इन भाषाओं के रहते हुए भी आज हिन्दी का स्थान सर्वोपरि है। आज हिन्दी राष्ट्र भाषा के पद पर आसीन है, और देश में एक कोने से लेकर दूसरे कोने तक उसकी विजय-वैजयन्ती फहरा रही है। हिन्दी को जो यह महत्व पूर्ण पद प्राप्त हुआ है, उसका बहुत बड़ा कारण है। हिन्दी ही हमारे देश में एक ऐसी भाषा है, जिसका सीधा संबंध उस संस्कृत भाषा से है, जो विश्व के एक विशेष भाषा परिवार में अपना महत्व पूर्ण स्थान रखती है। इस रूप में यह भी कहा जा सकता है, कि हिन्दी एक ऐसी भाषा है, जो विश्व की कई भाषाओं के अधिक निकट है। इसके अतिरिक्त एक दूसरा कारण यह भी है, कि हिन्दी का जन्म और उसका विकास प्राकृतिक ढंग से हुआ है। हिन्दी के विकास और उसके पोषण में समय, स्थितियाँ, और संस्कृति का विशेष रूप से योग रहा है। अतः हिन्दी एक ऐसी वैज्ञानिक भाषा बन गई है, जिसमें प्रत्येक दृष्टिकोण को स्पष्ट करने की सफल शक्ति है।

भाषा शास्त्रियों ने भौगोलिक दृष्टि से विश्व की भाषाओं को चार खण्डों में विभक्त किया है—अफ्रिका खन्ड, यूरेशिया खन्ड, प्रशांत महासागरीय खन्ड, और अमरीका खन्ड। प्रत्येक खन्ड में कई भाषाएँ हैं, जिनमें कुछ को मिला कर एक परिवार की स्थापना की गई है। यहाँ हम केवल यूरेशिया खन्ड के एक विशेष परिवार की ही चर्चा करेंगे; क्योंकि हिन्दी का संबंध उसी विशेष परिवार से है।

यूरेशिया खन्ड की भाषाओं को आठ परिवारों में विभक्त किया है—सेमेटिक, काकेशस, युराल अल्टाइक, एकाक्षर, द्राविड़, अज्ञेय, अनिश्चित् और भारोपीय।

भारोपीय परिवार इन परिवारों में भारोपीय परिवार ही वह परिवार है, जिसका हिन्दी से अधिक घनिष्ठ संबंध है। भारोपीय परिवार को दो भागों में विभक्त किया गया है—'केंटुम', और 'शतम्'। इन दोनों ही भागों में चार-चार कुलों की भाषाएँ संमिलित हैं। इस प्रकार भारोपीय परिवार में आठ कुलों की भाषाएँ संमिलित हैं, जिनके नाम इस प्रकार हैं—आर्य या भारत ईरानी, आर-

मेनियन, बाल्टोस्लैवोनिक, अल्बेनियन, ग्रीक, इटैलिक, केल्टिक, और जर्मनिक या ट्यूटानिक। आर्य या भारत ईरानी की तीन शाखायें हैं—भारतीय भाषाएँ, ईरानी भाषाएँ, और दरद। आर्मेनियन आर्मेनिया की भाषा है, जिसमें ईरानी शब्द अधिकता से पाए जाते हैं। बाल्टोस्लैवोनिक कुल की भाषाएँ सारे रूस में फैली हुई हैं। अल्बेनियन के बोलने वाले अल्बेनिया और ग्रीस में रहते हैं। ग्रीक को हेलेनिक भी कहते हैं। इसके प्राचीन दृष्टांत 'होमर' के इलियड और 'ओडिसी' नामक महाकाव्यों में प्राप्त होते हैं। यह बहुत सी बातों में वैदिक संस्कृत से मिलती-जुलती है। इटैलिक को लैटिन भी कहते हैं। यह अधिक प्राचीन भाषा है। इटली, फ्रांस, स्पेन, रुमानिया और पुर्तगाल इत्यादि देशों में जो भाषाएँ बोली जाती हैं, वे लैटिन से निकली हुई हैं। यूरोप की अन्य सभी भाषाएँ भी लैटिन से प्रभावित हैं। केल्टिक के बोलने वाले आयर्लैण्ड, वेल्स, स्काटलैंड, मान द्वीप, ब्रिटेनी और कार्नवाल के कुछ भागों में निवास करते हैं। प्राचीन काल में इसका नाम गाल था। आज कल इसका प्राचीन स्वरूप कहीं देखने को नहीं मिलता। ट्यूटानिक को जर्मनिक भी कहते हैं। अँगरेजी और जर्मन इत्यादि भाषाएँ इसी कुल की हैं। स्वीडस, डेन मार्क, नार्वे, और आइसलैण्ड की भाषाएँ भी इसी कुल से निकली हुई हैं।

इस प्रकार भारोपीय परिवार की भाषाएँ आठ कुलों में विभक्त हैं। यद्यपि इन कुलों के नाम पृथक पृथक हैं, और उनके अपने क्षेत्र भी अलग-अलग हैं। किन्तु

आर्य कुल कई ऐसी महत्व पूर्ण बातें हैं, जिनमें इन भाषाओं में समानताएँ पाई जाती हैं। उनमें एक महत्व पूर्ण समानता कंठ स्थानीय ध्वनियाँ हैं। इस परिवार में कई ऐसी भाषाएँ हैं, जिनमें 'क' इत्यादि की कंठ स्थानीय ध्वनियाँ ज्यों की त्यों रह गई हैं। ऐसी भाषाओं में लैटिन, ग्रीक, इटालियन, फ्रेंच, ब्रीटन, और तोखारी इत्यादि का नाम लिया जा सकता है। इसके प्रतिकूल ऐसी भी कई भाषाएँ हैं जिनमें कंठास्थानीय ध्वनियाँ ऊष्म अर्थात् 'स' और 'श' हो गई हैं। ऐसी भाषाओं में अवस्ता, फारसी, संस्कृत, हिन्दी, रूसी, और बलगेरियन इत्यादि का नाम लिया जा सकता है। 'शतम्' और 'केन्टुम' भाग की नींव भी उच्चारण के 'क' और 'स' के भेदाधार पर ही की गई है। 'शतम्' भाग में वे भाषाएँ हैं, जिनमें कंठास्थानीय ध्वनियाँ ऊष्म हो गई हैं। यह भाषाएँ अधिकतर भारोपीय परिवार के उस कुल की हैं, जिसे आर्य अथवा भारत ईरानी कुल कहते हैं।

हिन्दी इसी आर्य कुल की भाषा है। भारोपीय परिवार में आर्य कुल अपना एक विशिष्ट स्थान रखता है। साहित्य और कला का, इस कुल की भाषाओं में अधिक अभ्युदय हुआ है। इस कुल की भाषाएँ तीन शाखाओं में विभक्त हैं—ईरानी, दरद, और भारतीय। ईरानी एक प्राचीन भाषा है, जो मुख्य रूप से ईरान में बोली जाती है। इसके तीन रूप मिलते हैं—प्राचीन, मध्य कालिक और नई। ईरानी का प्राचीन स्वरूप पारसियों की धर्म पुस्तक। अवस्ता, और दारा के द्वारा कीलाक्षरों में खुदवाए हुए

शिला खंडों में प्राप्त होता है। मध्यकालिक ईरानी का स्वरूप 'पहलवी' के विकास के रूप में प्राप्त होता है। 'पहलवी' में साहित्य की अच्छी रचना हुई है। नई ईरानी फिरदौसी के शाहनामे से आरंभ हुई है। किन्तु आजकल ईरानी का जो स्वरूप है, वह 'फिरदौसी' के ईरानी से भिन्न है। आजकल की ईरानी में अरबी शब्द अधिकता से पाए जाते हैं। फिरदौसी ने यथा-शक्ति इस प्रकार के शब्दों को अपनी भाषा से दूर रक्खा था।

'दरद' काश्मीर तथा उत्तरी हिमालय के प्रदेशों की भाषा है। इसको बोलने वाले आज भी काश्मीर में अधिक संख्या में निवास करते हैं। इसकी लिपि को शारदा लिपि कहते हैं, जो नागरी लिपि से निकली हुई है। इस पर संस्कृत का प्रभाव स्पष्ट रूप से दिखाई देता है। इसके उद्भव के सम्बन्ध में विद्वानों का कथन है, कि यह भाषा उन आर्यों की भाषा है, जो दूसरी बार वक्षु नदी के उद्गम स्थान से पर्वतों को पार करके भारतवर्ष में आए थे। और हिमालय प्रदेश के आस पास बस गए थे। इन आने वाले आर्यों की भाषा पर संस्कृत का अधिक प्रभाव पड़ा। क्योंकि इनसे पहले जो आर्य भारतवर्ष में आये थे, उनकी भाषा 'संस्कृत' के रूप में अधिक विकसित हो गई थी। नए आने वाले आर्यों की मूल भाषा जब संस्कृत से मिली, तो उसने एक तीसरा ही स्वरूप धारण कर लिया। इसी स्वरूप का नाम 'दरद' है। कुछ लोग इसे 'पिशाच' भी कहते हैं।

भारतीय शाखा की भाषाएँ वे हैं, जो भारतवर्ष में बोली जाती हैं। भारतीय शाखा की भाषाओं को ठीक-ठीक समझने के लिए उसे तीन भागों में बाँटा जा सकता है—प्राचीन भारतीय काल, मध्य कालीन भारतीय काल, और आधुनिक भारतीय काल। प्राचीन भारतीय काल का युग १५०० ई० पूर्व से ५०० ई० पूर्व तक है। इस काल की भाषा का स्वरूप ऋग्वेद के प्राचीन अंशों में मिलता है। धीरे-धीरे ऋग्वेद की भाषा में कई उलट फेर हुए। वैदिक संस्कृत, जो ऋग्वेद में थी, धीरे धीरे एक लौकिक भाषा बन गई। लौकिक भाषा बनने के कारण उसका रूप बिगड़ने लगा। पाणिनि ने अपने व्याकरण के नियमों से संस्कृत को विकृत होने से बचा तो लिया, पर उसके विकास में मंदता आ गई। उधर लोक भाषा, जो संस्कृत के विकृत रूप में थी, पूर्ण वेग पर थी। अतः संस्कृत ने प्राकृत के रूप में एक दूसरा ही स्वरूप धारण कर लिया।

मध्य कालीन भारतीय काल तीन भागों में बाँटा जा सकता है—प्रथम काल पाँच सौ ई० पूर्व से, १ ई० पूर्व तक, द्वितीय काल १ ई० पूर्व से ५०० ई० तक, और तृतीय काल ५०० ई० से १००० ई० तक। प्रथम काल की प्रतिनिधि भाषा वह प्राकृत और पाली है, जो अशोक के शासन काल में प्रचलित थी, और जिसमें अशोक की धर्म लिपियाँ तथा शिलालेख पाए जाते हैं। द्वितीय काल की प्रतिनिधि भाषा साहित्यिक प्राकृत और तृतीय काल की अपभ्रंश है। इस प्रकार मध्यकालीन भारतीय भाषा का स्वरूप प्राकृत, पाली और अपभ्रंश में प्राप्त होता है। आधुनिक

काल अपभ्रंश के पश्चात् से ही आरंभ होता है। अपभ्रंश से आधुनिक काल की कई भाषाओं का उद्भव हुआ है, जिनमें हिन्दी का स्थान अधिक महत्त्व पूर्ण है। आधुनिक काल की भाषाओं में बंगाली, गुजराती, और मराठी भी अपना विशेष महत्व रखती हैं, किन्तु हिन्दी की सरलता और उसकी वैज्ञानिकता ने प्रायः सब के ऊपर अपना सिक्का जमा लिया है।

इस प्रकार विश्व की भाषाओं, और हिन्दी के बीच में एक लड़ी है, जो दोनों के बीच में सम्बन्ध स्थापन का काम करती है।

भारतीय प्राचीन भाषाएँ

हिन्दी के जन्म और उसके विकास के इतिहास को जानने के लिए भारत की प्राचीन भाषाओं और उनके उत्थान-पतन के इतिहास को जानना अधिक आवश्यक है; क्योंकि हिन्दी के जन्म और विकास की कहानी प्राचीन भाषाओं के ही उत्थान-पतन के इतिहास से सम्बन्धित है। ऐतिहासिक दृष्टि से भारतीय जीवन का सूत्रपात वैदिक काल से माना जाता है। अतः प्राचीन भाषाओं के इतिहास को जानने के लिए हमें वैदिक काल पर अपनी दृष्टि डालनी होगी। भाषा की दृष्टि से जब हम प्राचीन भारत के इतिहास पर दृष्टि डालते हैं, तो हिन्दी के जन्म के पूर्व कई ऐसी भाषाएँ पाते हैं, जिन्हें हम भारत की प्राचीन भाषाएँ कह सकते हैं। भारत की प्राचीन भाषाओं में जिन भाषाओं का नाम लिया जा सकता है, उनके नाम इस प्रकार हैं—ऋगवेद की भाषा, संस्कृत, 'प्राकृत', पाली, और अपभ्रंश।

ऋगवेद की भाषा

ऋगवेद की ऋचाओं की भाषा को हम प्राचीन संस्कृत कह सकते हैं। ऋगवेद की ऋचाओं का निर्माण विभिन्न काल में और विभिन्न स्थानों में हुआ था। पर फिर भी ऋचाओं की भाषा में असमता दिखाई नहीं देती। इसका कारण यह प्रतीत होता है, कि इन ऋचाओं का सपादन और संग्रह किसी एक ही व्यक्ति के द्वारा हुआ होगा, और उसने भाषा में सादृश्य उत्पन्न किया होगा। ऋगवेद की ऋचाओं के संपादन का स्थान मध्य देश बताया जाता है, जो पूर्वी पंजाब और गंगा के उत्तरी भाग के बीच का क्षेत्र है। अतः यह कहा जा सकता है, कि उन दिनों मध्य देश में उस भाषा का प्रचलन था, जो ऋगवेद की ऋचाओं में है। किन्तु ऋचाओं की भाषा साहित्यिक है। अब यह प्रश्न होता है, कि फिर उस समय आर्य जनता की साधारण बोल चाल की भाषा क्या थी? निश्चय, साधारण बोल चाल की भाषा ऋचाओं की भाषा से विभिन्न रही होगी, किन्तु आज तक उस भाषा का कोई स्वरूप प्राप्त नहीं हो सका है। केवल ऋचाओं में ही उसकी कुछ झलक देखने को मिलती है।

संस्कृत

ऋगवेद की रचना का काल ईसा के एक सहस्र वर्ष बहुत पहले का माना जाता है। उन दिनों का जो इतिहास उपलब्ध है, उससे उसी भाषा का पता चलता है, जो ऋगवेद की ऋचाओं में है, और जिसे हम प्राचीन संस्कृत भी कह सकते हैं। धीरे-धीरे इस भाषा का अधिक विकास हुआ। किंतु यह भाषा साहित्यिक

होने के कारण इतनी कठिन थी, कि साधारण जनता की समझ में नहीं आती थी। साधारण जनता में पहले से ही बोल चाल की एक अन्य भाषा थी। अतः साहित्यिक प्राचीन संस्कृत और बोल चाल की भाषा के संयोग से एक नवीन रूप का गठन हुआ, जिसे लौकिक संस्कृत कहते हैं। लौकिक संस्कृत के प्रचार का यह परिणाम हुआ कि प्राचीन संस्कृत, जो वेद की भाषा थी, विकृत होने लगी। वेद की भाषा होने के कारण प्राचीन संस्कृत का अधिक महत्त्व था। अतः उसकी सुरक्षा की ओर विद्वानों का ध्यान आकर्षित हुआ। 'पाणिनि' ने इस दिशा में प्रशंसनीय प्रयत्न किया। प्राचीन संस्कृत की महत्ता को नष्ट होने से बचाने के लिए पाणिनि ने व्याकरण के नियमों की रचना की, और प्राचीन संस्कृत को नियमों की जंजीर में इस प्रकार जकड़ दिया, कि उसके स्वरूप के विकृत होने की आशंका जाती रही! पाणिनि ने इसी उद्देश्य से अपने 'अष्टाध्यायी' की रचना की थी। पाणिनि के उद्योग से प्राचीन संस्कृत का जो स्वरूप सामने आया, उसी का नाम संस्कृत है। उस भाषा के दृष्टांत ब्राह्मण ग्रन्थों और सूत्र ग्रन्थों में प्राप्त होते हैं। 'रामायण', 'महाभारत' और अभिज्ञान शाकुंतल में भी 'प्राचीन संस्कृत', और 'संस्कृत' का स्वरूप कुछ परिवर्तन के साथ दृष्टिगोचर होता है। किन्तु यह कहना पड़ेगा, कि यह भाषा भी शुद्ध साहित्यिक थी। यह आज भी हमारे देश में अपने इसी रूप में विद्यमान है। साधारण बोल चाल की भाषा इससे पृथक थी; किंतु उसका स्वरूप क्या था, इस सम्बन्ध में इतिहास आज भी मौन है।

किन्तु यह तो निश्चय है, कि 'संस्कृत' का विकास होने के साथ ही साथ उस भाषा का भी विकास हुआ होगा, जो मूल भाषा थी, और बोलचाल के काम में लाई जाती थी। संस्कृत शुद्ध साहित्यिक भाषा थी। यह निश्चय है, कि साधारण जन समाज बोल चाल के रूप में इस भाषा का प्रयोग न करता रहा होगा। खोज से

पाली

ज्ञात हुआ है, कि उन दिनों संस्कृत के अतिरिक्त विभिन्न बोलियाँ भी थीं, जो सर्व साधारण में प्रचलित थीं। इसके अतिरिक्त समाज में एक ऐसी भाषा बनती जा रही थी, जिसके जन्म का एक मात्र कारण संस्कृत के शब्दों का अशुद्ध उच्चारण था। संस्कृत व्याकरण के विद्वान पंडितों की भाषा बन चुकी थी; वह सर्व साधारण के योग्य न थी। सर्व साधारण ने उसे अपनी स्वाभाविकता के साँचे में ढाल करके ही ग्रहण किया। इस प्रकार यह कहा जा सकता है, कि साधारण जनता में एक ऐसी भाषा उस समय भी प्रचलित थी, जो मूल भाषा और संस्कृत के अशुद्ध उच्चारणों के संयोग के कारण बनी थी।

पर इस भाषा का कोई स्वरूप अशोक के शासन काल के पूर्व देखने को नहीं मिलता। महात्मा बुद्ध ने अपने उपदेशों के प्रचार के लिए इसी भाषा को अपनाया था। क्योंकि उन दिनों इसी भाषा का जनता में अधिक प्रचार था। महात्मा बुद्ध द्वारा गृहीत किये जाने के कारण इसकी मर्यादा अधिक बढ़ गई। किन्तु यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता, कि यह पाली थी। 'पाली' में इसके स्वरूप की कुछ कुछ झलक अवश्य दिखाई पड़ती है।

संस्कृत के पश्चात् जो भाषा सामने आई, वह 'पाली' थी। पाली का सर्व प्रथम परिचय हमें अशोक की धर्म-लिपियों में मिलता है। अशोक के पूर्व भाषा का क्या स्वरूप था, इस सम्बन्ध में निश्चयात्मक रूप से कुछ कहा नहीं जा सकता; पर अशोक की धर्म-लिपियों से पता चलता है, कि उस समय उत्तर भारत में भाषा के तीन भिन्न-भिन्न रूप थे—पूर्वी, पश्चिमी, और पश्चिमोत्तरी। निश्चय दक्षिण में भी इसी प्रकार भाषा के अलग अलग रूप रहे होंगे, पर इसका कोई प्रमाण नहीं मिलता। अब प्रश्न यह होता है, कि जिस पाली का परिचय हमें अशोक की धर्म लिपियों में मिलता है, उसका गठन किस प्रकार हुआ। संस्कृत की भाँति पाली भी साहित्यिक भाषा है। कई विद्वानों ने इसे आर्य भारत की राष्ट्र भाषा बताया है। कुछ विद्वान इसे कोशल प्रदेश की बोली पर आधारित मानते हैं। 'पाली' का अध्ययन करने से पता चलता है, कि 'पाली' में लोगों की बोलियों और साहित्यिक स्वरूप का संमिश्रण है। निश्चय पाली का उद्भव किसी ऐसी बोली से हुआ होगा, जो संस्कृत की साहित्यिकता के काल में 'मध्य देश' में बोली जाती रही होगी।

पाली का समय ५०० ई० पूर्व से १ ई० पूर्व तक माना जाता है। 'पाली' का एक स्वरूप निश्चित रूप से नहीं मिलता। अशोक की धर्म लिपियों में जो पाली प्राकृत मिलती है, उसके कई रूप हैं। इससे यह ज्ञात होता है, कि 'पाली' का कोई निश्चित स्वरूप नहीं गठित हो सका। इसका एक मात्र कारण यह है कि यह अशोक की धर्म-भाषा होने के कारण प्रचार भाषा भी थी। अशोक की सम्पूर्ण धर्म लिपियों में मूल तो 'पाली' ही है, पर प्रचार के उद्देश्य की पूर्ति के लिए इस पर भिन्न-भिन्न प्रादेशिक बोलियों का भी प्रभाव है। इस प्रकार पाली और विभिन्न बोलियों का बराबर संमिश्रण होता रहा है। इस प्रकार 'पाली' और प्रादेशिक भाषाओं के संमिश्रण से भाषा के भिन्न भिन्न रूपों का गठन हो गया। यही गठन 'प्राकृतों' के नाम से विख्यात है।

प्राकृत जन भाषा थी। इसके भीतर शक्ति और वेग था। इसलिए थोड़े ही दिनों में इसकी सत्ता स्थापित हो गई, और संस्कृत के साथ ही साथ इसका भी ग्रन्थों और नाटकों में उपयोग होने लगा। नाटकों में निम्न श्रेणी के पात्र प्रायः प्राकृत का ही उपयोग किया करते थे। प्राकृतों को काव्यों और धर्म ग्रन्थों में भी स्थान दिया गया। प्राकृतों की सर्व व्यापकता को देख कर विद्वानों ने इनके व्याकरण भी रच डाले, और संस्कृत की भाँति ही प्राकृतों को भी शुद्ध साहित्य भाषा का स्वरूप प्राप्त हो गया। प्राकृतों का साहित्यिक स्वरूप आज भी प्राकृत-ग्रन्थों में देखने को मिलता है।

प्राकृत भाषाओं का काल १ ई० से ५०० ता है। जिन दिनों प्राकृत भाषाओं की सत्ता थी उन दिनों सर्व साधारण में भाषा का प्रचार था, यह एक विचारणीय विषय है, निश्चय साहित्यिक प्राकृतों से पृथक सर्व साधारण के दैनिक बोल चाल की बोलियाँ रही होंगी। ऐतिहासिक गवेषणा से जो कुछ ज्ञात हो सका है,

उसके आधार पर कहा जा सकता है, कि उस समय भिन्न भिन्न प्रदेशों में भिन्न भिन्न बोलियाँ प्रचलित थी, और प्रत्येक प्रदेश की प्राकृत अपने प्रदेश की बोली से पूर्ण रूप से प्रभावित थी। इस प्रकार विभिन्न बोलियों से प्रभावित होने के कारण प्राकृतों के भी भिन्न-भिन्न रूप थे। प्राकृतों के रूपों के नाम इस प्रकार हैं—पैशाची प्राकृत, खेतानी प्राकृत, केकय प्राकृत, पाली मागधी से प्रभावित प्राकृत, शौरसेनी प्राकृत, अर्द्ध मागधी प्राकृत, मागधी प्राकृत, और महाराष्ट्री प्राकृत।

पैशाची प्राकृत दरद प्रदेश की भाषा थी। 'खेतानी' या खोटान के शिला लेखों में मिलती है। इसका विकास अधिक नहीं हो सका था। 'केकय' का क्षेत्र पश्चिमी पञ्जाब था। 'खस' नैपाल और गढ़वाल के पहाड़ी क्षेत्रों में प्रचलित थी। कुरु, पाँचाल, पूर्वी पञ्जाब, और पश्चिमी उत्तर प्रदेश में शौरसेनी का जोर था। मागधी मगध जन पद की भाषा थी। मागधी और शौरसेनी के बीच की एक और भाषा मिलती है, जिसे अर्द्ध मागधी कहते हैं। इसका स्वरूप जैन ग्रन्थों में मिलता है। अशोक के शिला लेखों की मूल भाषा के रूप में इसी का उपयोग हुआ है। प्राकृत महाराष्ट्री महाराष्ट्र प्रदेश की भाषा थी।

प्राकृत भाषाओं के विभिन्न साहित्यिक स्वरूप थे, जो आज भी प्राचीन ग्रन्थों में विद्यमान हैं। व्याकरण के पंडितों ने जिस प्रकार संस्कृत को कठिन नियमों में बाँध

अपभ्रंश

दिया था, उसी प्रकार प्राकृत भाषाओं का जोर होने पर विद्वानों ने उन्हें भी नियमों से जकड़ दिया। इसका परिणाम यह हुआ, कि कुछ दिनों के पश्चात् साहित्यिक प्राकृतें सर्व साधारण की भाषा से पृथक हो गईं। इस प्रकार एक तो वह प्राकृत भाषाएँ हुईं, जिनका उपयोग केवल विद्वान और पंडित किया करते थे, और दूसरी प्रकार की प्राकृतें वे हुईं, जिनका प्रचलन सर्व साधारण में होता था, यह प्राकृतें साहित्यिक प्राकृतों का बिगड़ा हुआ स्वरूप थीं। अतः विद्वानों ने उन्हें अपभ्रंश की संज्ञा दी। व्याकरण के कठिन नियमों में आबद्ध होने के कारण प्राकृत भाषाओं के विकास की गति मन्द पड़ गई, और थोड़े ही दिनों में वे मृत प्राय हो गईं। अपभ्रंश भाषाओं के साथ जनता की शक्ति थी; अतः धीरे-धीरे उनका विकास होने लगा। प्राकृत भाषाओं के ह्रास से अपभ्रंश भाषाओं को और भी अधिक सुयोग प्राप्त हुआ, और थोड़े ही दिनों में उनकी प्रधानता स्थापित हो गई।

अपभ्रंश भाषाओं का काल ५०० ई० से १००० ई० माना जाता है। प्राकृत भाषाओं के मृत प्राय होने के पश्चात् अपभ्रंश भाषाओं का भी साहित्य के क्षेत्र में प्रयोग होने लगा। इसमें सन्देह नहीं, कि प्राकृत भाषाओं की भाँति ही अपभ्रंश भी प्रादेशिक बोलियों से प्रभावित होंगी, और उनके भी विभिन्न स्वरूप होंगे, क्योंकि पृथक-पृथक प्राकृतों से पृथक-पृथक अपभ्रंशों का जन्म भी हुआ है, पर व्याकरण के पंडितों और विद्वानों ने साहित्यिक अपभ्रंशों को केवल तीन ही भागों में विभक्त किया है, जिनके नाम इस प्रकार हैं—नागर, ब्राचड़ और उपनागर। 'नागर' गुजरात में नागर ब्राह्मणों की भाषा थी। कुछ लोगों का मत है, कि नागरी अक्षरों का

नाम 'नागर' के ही नाम पर रक्खा गया है। 'हेमचन्द' ने इसके व्याकरण की रचना क है। हेमचन्द के मतानुसार 'नागर' अपभ्रन्श का जन्म शौरसेनी प्राकृत से हुआ था। ब्राचड़ सिंध प्रदेश की भाषा थी। 'उप नागर' ब्राचड़ और 'नागर' के बीच की भाषा थी, जिसका क्षेत्र दक्षिणी पञ्जाब और पश्चिमी राजस्थान था।

अपभ्रंश भाषाओं से ही भारत की आधुनिक भाषाओं का जन्म हुआ है। भारत की आधुनिक भाषाओं के संबंध में हम आगे प्रकाश डालेंगे; यहाँ तो हम पुनः प्राचीन भाषाओं के वर्गीकरण का एक चित्र प्रस्तुत कर रहे हैं। भारत की प्राचीन भाषाओं का जो क्रमिक उल्लेख ऊपर हो चुका है, सुविधा और सरलता के लिए उसे हम तीन भागों में इस प्रकार विभक्त कर सकते हैं:—

क—प्राचीन भारतीय आर्य भाषा काल।

[१५०० ई० पूर्व से ५०० ई० पूर्व तक]

यह वह काल है, जिसमें ऋगवेद की प्रचीन संस्कृत, और पाणिनि के संस्कृत का प्रचार था।

ख—मध्य कालीन आर्य भाषा काल।

[५०० ई० पूर्व से १००० ई०]

मध्य काल के भी तीन भाग किए जा सकते हैं:—

प्रथम काल—५०० ई० पूर्व से १ ई० पूर्व।

द्वितीय काल—१ ई० पूर्व से ५०० ई०।

तृतीय काल—५०० ई० से १००० ई०।

प्रथम काल में अशोक की पाली और प्राकृत का प्रचार था। द्वितीय काल साहित्यिक प्राकृतों का युग था। तृतीय काल को अपभ्रंश काल कहते हैं।

ग—आधुनिक आर्य भाषा काल।

[१९०० ई० से आज तक]

इस काल के अन्तर्गत वे आधुनिक भाषाएँ हैं, जो आज भारतवर्ष में बोली जाती हैं, और जिनका जन्म अपभ्रंश भाषाओं से हुआ है।

हिन्दी की जन्म-प्रसूता—शौरसेनी

आधुनिक भारतीय भाषाओं का जन्म अपभ्रंश भाषाओं से हुआ है। अपभ्रंश शौरसेनी हिन्दी की जन्म दात्री है। अपभ्रंश भाषाओं में शौरसेनी का संस्कृत से अधिक निकटतम संबंध है। यही कारण है, कि हिन्दी संस्कृत की भी पुत्री कही जाती है। शौरसेनी किस प्रदेश की भाषा थी, और उसका संस्कृत से अधिक निकटतम संबंध क्यों था—यह जानने के लिए हमें आर्यों के आदि इतिहास पर ध्यान देना होगा। क्योंकि जब तक हम आर्यों के पारभिक इतिहास पर ध्यान न देंगे, शौरसेनी का चित्र स्पष्ट न हो सकेगा

आर्यों का मूल स्थान

आज कल अधिकांश लोग इसी बात को मानते हैं, कि भारतवर्ष में आर्यों का आगमन बाहर से हुआ। यद्यपि इस मत के भी बहुत से लोग हैं, कि आर्य कहीं बाहर से नहीं आये, वरन् वे भारतवर्ष में ही रहते थे। आर्य यदि भारतवर्ष में बाहर से आए, तो उनका मूल स्थान कहाँ था, इस संबंध में विद्वानों में अधिक मतभेद है। प्राचीन भारतीय ग्रंथों के अनुसार आर्यों का आदि स्थान तिब्बत है। लोकमान्य तिलक ने ध्रुव के निकट वर्ती प्रदेशों को आर्यों का मूल स्थान माना है। ऋग्वेदिक इंडिया के लेखक ने 'सरस्वती' नदी के तटवर्ती स्थानों में आर्यों के प्राचीन निवास-स्थान की बात का उल्लेख किया है। यूरोपीय विद्वान आर्यों का मूल स्थान बाल्टिक समुद्र के आस पास मानते हैं। जो हो. यह निश्चय है, कि आर्यों के मूल स्थान के संबंध में, अभी तक विश्व के विद्वान आपस में एक मत नहीं हो सके हैं। किन्तु आज कल यूरोपीय विद्वानों का ही मत अधिक प्रचलित है। अतः हम भी यहाँ उसी मत को आधार मानकर आगे बढ़ते हैं।

यूरोपीय विद्वानों के मतानुसार, प्राचीन काल में आर्य पूर्व यूरोप में बाल्टिक समुद्र के समीपवर्ती स्थानों में निवास करते थे। यहाँ संपूर्ण आर्यों की भाषा एक ही रही होगी। किन्तु उसका स्वरूप क्या था, इसका पता कुछ भी नहीं चलता। यहाँ जब आर्यों की संख्या बढ़ी, तो एक दल तो यूरोप की ओर गया,

और दूसरा भारत तथा ईरान की ओर अग्रसर हुआ। कुछ लोग बाल्टिक समुद्र के समीपवर्ती स्थानों में ही रह गए होंगे, और कुछ उसके आस पास फैल कर के भी बस गए होंगे। इस प्रकार आवश्यकताओं से अभिभूत होकर आर्य विभिन्न टोलियों में बिखर गए, और उनकी भाषा तथा संस्कृति में पृथकता उत्पन्न हो गई।

आर्यों का जो दल ईरान और भारत की ओर अग्रसर हुआ, वह कुछ दिनों तो तक ईरान में एक ही साथ रहा। इसके पश्चयात् एक दल तो ईरान में रह गया, और दूसरा भारत की ओर अग्रसर हुआ, और भारत में आकर पंजाब के प्रदेशों में बस गया। ऋगवेद की ऋचाओं का निर्माण, इन्हीं आर्यों के द्वारा हुआ है। यह आर्य जब भारतवर्ष में आए तो इनकी वही भाषा थी, जो ईरानी दल की थी। किन्तु भारत वर्ष में आने पर ईरानी आर्यों और भारतीय आर्यों की भाषा में अंतर पड़ गया। फिर भी दोनों की भाषाओं में बहुत कुछ साम्य दृष्टिगोचर होता है। यह 'साम्य' ईरानियों की प्राचीन धर्म पुस्तक 'अवस्ता' और आर्यों के प्राचीन धर्म ग्रन्थ 'ऋगवेद' की ऋचाओं में स्पष्ट रूप से दिखाई पड़ता है।

ईरान से आर्यों का भारतवर्ष में आगमन एक ही बार में न हुआ होगा। ऐतिहासिक तथ्यों के अनुसार आर्य भारतवर्ष में दो बार दो समूहों में आए। ऋगवेद की ऋचाओं से भी यही बात प्रगट होती है। प्रथम बार जो आर्य भारतवर्ष में आए थे, वे काबुल की घाटी के मार्ग से आये थे, और पंजाब के मैदान में बस गए थे। किन्तु दूसरी बार आर्यों की जो टोली भारतवर्ष में आई, वह गिलगित और चितराल के कठिन पहाड़ी मार्गों से भारतवर्ष में पहुँची, और दक्षिण की ओर उतरी और सरस्वती नदी के समीपवर्ती स्थानों में बस गई। यद्यपी इन नवागत आर्यों की भाषा और संस्कृति पूर्वागत आर्यों की भाषा और संस्कृति से भिन्न थी; फिर भी यह कहना ही पड़ेगा, कि एक विस्तृत प्रदेश में आर्यों की बस्ती बस गई। प्राचीन संस्कृत साहित्य में इसी प्रदेश को 'मध्य देश' की संज्ञा दी गई है। पहले मध्य देश में कुरु, पांचाल, और हिमालय के प्रदेश संमिलित थे। किन्तु धीरे धीरे इसकी सीमा हिमालय और विंध्य के बीच की संपूर्ण भूमि तक फैल गई।

मध्य देश

यही वह मध्य देश है, जहाँ 'संस्कृत' का पालन-पोषण हुआ था। इसी मध्य देश में उस शौरसेनी प्राकृत का जन्म हुआ था, जो हिन्दी की जन्म दात्री कही जाती है। 'प्राकृत' बोल चाल की भाषा के रूप में पहले से ही जनता में विद्यमान थी। संस्कृत जब व्याकरण के नियमों में अधिक जकड़ दी गई तो 'प्राकृत' का विकास कई रूपों में हुआ, जिनमें 'पाली' और 'साहित्यिक' 'प्राकृत' मुख्य हैं। साहित्यिक प्राकृत के मुख्य रूप से चारभेद माने जाते हैं— महाराष्ट्री, शौरसेनी, मागधी, और अर्द्ध मागधी, कहा जाता है, कि महाराष्ट्री उनमें सबसे अधिक प्रधान थी और राष्ट्र की भाषा थी। 'राष्ट्र' शब्द महाराष्ट्रीय की राष्ट्रीयता

शौरसेनी

के आधार पर ही 'राष्ट्र' का बोधक माना जाता है। शौरसेनी मध्यदेश की भाषा थी। शौरसेनी के संबंध में यह कहा जाता है कि इसका ब्रजमंडल में अधिक प्रचार था। प्राचीन काल में ब्रजमन्डल को 'शूरसेन देश' भी कहते थे। शूरसेनदेश की भाषा होने ही के कारण इसका नाम 'शौरसेनी' पड़ा। शौरसेनी प्राकृत से ही अपभ्रंश शौरसेनी का जन्म हुआ, जो हिन्दी की जन्म दात्री है।

—:०:—

आधुनिक भारतीय आर्य भाषाएँ

भारतवर्ष की आधुनिक-आर्य भाषाएँ वे हैं, जो इस समय भारतवर्ष के विभिन्न प्रांतों और स्थानों में बोली जाती हैं। इन भाषाओं में कुछ ऐसी भाषाएँ हैं, जो अधिक महत्व पूर्ण हैं। जैसेः—हिन्दी, गुजराती, बंगाली, और मराठी इत्यादि। इन सभी भाषाओं का जन्म अपभ्रंश भाषाओं से हुआ है। इन देशी भाषाओं में कुछ भाषाएँ तो ऐसी हैं, जिनका सीधा सम्बन्ध अपभ्रंश भाषाओं से है और कुछ ऐसी हैं, जो अपभ्रंश भाषाओं से उत्पन्न आधुनिक भाषाओं से पैदा हुई हैं। जैसे हिन्दी एक ऐसी भाषा है, जिसका उद्भव शौरसेनी अपभ्रंश से हुआ है। पर गुजराती और राजस्थानी आदि ऐसी भाषाएँ हैं, जो हिन्दी से सम्बन्ध रखती हैं। इस प्रकार की कई बोलियाँ और उपभाषाएँ भी पाई जाती हैं, जो अपभ्रंशोद्भव मुख्य देशी भाषाओं से निकली हुई हैं।

आधुनिक भाषाओं का काल १००० ई० से आरंभ होता है। आधुनिक भाषाओं के जन्म के पूर्व साहित्य के क्षेत्र में अपभ्रंश भाषाओं की ही मान्यता थी। आधुनिक भाषाएँ उद्भवित होने के पश्चात्, धीरे-धीरे विकसित हुई हैं। आधुनिक भाषाओं के जन्म के पश्चात् भी साहित्य-जगत में बराबर अपभ्रंश भाषाओं का प्रयोग होता रहा है। इतिहास के पृष्ठों से ज्ञात होता है, कि अपभ्रंश भाषाओं का प्रयोग चौदहवीं शताब्दी तक होता रहा है। अपभ्रंश भाषाओं का यही अंतिम काल था। इस समय की अपभ्रंश भाषाएँ निर्जीव सी ज्ञात होती हैं। क्योंकि इसके पूर्व तेरहवीं शताब्दी के आदि में ही आधुनिक भाषाएँ विकास के क्षेत्र में आ चुकी थी, और उनका साहित्य-जगत में प्रयोग होने लगा था। इस प्रकार आधुनिक भाषाओं के पूर्ण विकास-क्षेत्र में आने पर अपभ्रंश भाषाओं का लोप हो गया, और आज तो वे केवल प्राचीन ग्रन्थों के पृष्ठों में विद्यमान हैं।

भारत की आधुनिक भाषाएँ प्राचीन आर्य भाषा से ही निकली हुई हैं। आर्यों की प्राचीन भाषा के दो रूप प्राप्त होते हैं, जिनका उल्लेख इसके पहले किया जा चुका है। डाक्टर ग्रियर्सन ने भारत की प्राचीन भाषा के रूपों, अथवा आधुनिक भाषाओं के व्याकरण और उनके उच्चारण को दृष्टि में रखकर आधुनिक भाषाओं को तीन भागों में विभक्त किया है—अंतरंग, बहिरंग, और मध्यवर्ती। उन्होंने अपने भागों का वर्गीकरण इस प्रकार किया हैः—

ग्रियर्सन का वर्गीकरण

[क] बहिरंग—

१—पश्चिमोत्तरी वर्ग—१ लहँदा, २—सिंधी। दक्षिणी वर्ग—३ मराठी।
पूर्वी वर्ग—४ आसामी, ५ बङ्गाली, ६ उड़िया, ७ बिहारी।
[ख] मध्यवर्ती—
मध्यवर्ती वर्ग—८ पूर्वी हिन्दी।!
[ग] अंतरंग—
केन्द्रवर्ग—९ पश्चिमी हिन्दी, १० पंजाबी, ११ गुजराती, १२ भीली, १३ खान देशी, १४ राजस्थानी। पहाड़ी वर्ग—१५ पूर्वी पहाड़ी, अथवा नैपाली १६ केन्द्रवर्ती पहाड़ी, १७ पश्चिमी पहाड़ी।

डाक्टर ग्रियर्सन की दृष्टि में अंतरङ्ग और बहिरङ्ग भागों की भाषाओं में ऐसी असमानताएँ पाई जाती हैं, जिनसे दोनों ही भागों की भाषाओं का अस्तित्व स्पष्ट रूप से पृथक-पृथक सामने आ जाता है। दृष्टांत के लिए 'स' अक्षर को लिया जा सकता है। 'स' का उच्चारण दाँत से किया जाता है। 'अंतरङ्ग' भाग की भाषाओं में 'स' का उच्चारण अपने स्वाभाविक ढङ्ग से ही किया जाता है, पर बहिरङ्ग भाग की भाषाओं में 'स' को तालव्य और मूर्द्धन्य कर देते हैं, अर्थात् बहिरङ्ग भाषाओं में 'स' का उच्चारण 'श' और 'ष' की भाँति किया जाता है। 'बहिरंग' भाषाओं में 'स' को 'ह' कर देने की भी विधि है। 'पंजाबी' और सिंधी में, जो बहिरंग भाषाएँ हैं, प्रायः 'कोस' को 'कोह' बोलते हैं। 'मराठी' में 'स' 'श' हो जाता है। इसी प्रकार बंगला में भी उच्चारण की असमानता पाई जाती है। पश्चिमोत्तर प्रांत की भाषाओं में 'स' का उच्चारण 'ह' के रूप में किया जाता है।

इस सम्बन्ध में यह प्रमाण उपस्थित किया जाता है, कि बहिरङ्ग भाषाएँ अंतरंग भाषाओं से अधिक विकसित हैं। क्योंकि भाषा विज्ञान के सिद्धांतों के अनुसार अन्त रंग भाषाएँ इस समय वियोगावस्था में हैं, जो भाषा की प्रारंभिक अवस्था कही जाती है, किन्तु बहिरङ्ग भाषाएँ संयोगावस्था में हैं, जो भाषा के विकास की अवस्था कही जाती है। इसके लिए यह प्रमाण भी दिया जाता है, कि हिन्दी में सम्बन्धकारक 'का' 'के' और 'की' के चिन्हों से बनता है, जिनका संज्ञा से अलग अस्तित्व होता है, किन्तु बङ्गला में जो बहिरङ्ग भाग की भाषा है, सम्बन्धकारक 'एक' लगा कर बनाया जाता है, जो संज्ञा का ही एक भाग बन जाता है। इसी प्रकार दोनों की क्रियाओं में भी अन्तर है। बहिरङ्ग भाषाओं में भूतकालिक क्रियाओं के साधारण रूपों से ही उनके पुरुष और वचन का भेद प्रगट हो जाता है, किन्तु अन्तरङ्ग भाषाओं में सभी पुरुषों में उन क्रियाओं का रूप एक समान रहता है।

किन्तु ग्रियर्सन के इस वर्गीकरण से डाक्टर चटर्जी सहमत नहीं हैं। उन्होंने भारतीय भाषाओं का अध्ययन एक नवीन ढङ्ग से किया है, और उनका वर्गीकरण भी एक दूसरे ढंग पर है। चटर्जी महोदय ने अपना वर्गीकरण भूगोल के आधार पर किया है, जो इस प्रकार है:—

चटर्जी का वर्गीकरण

क—उदीच्य (उत्तरी), सिन्धी, २ पञ्जाबी, ३ लहँदा।
ख—प्रतीच्य (पश्चिमी)—४ गुजराती, ५ राजस्थानी।
ग—मध्य देशीय (बीच का)—६ पश्चिमी हिन्दी।
घ—प्राच्य (पूर्वी)—७ पूर्वी हिन्दी, ८ बिहारी, ९ उड़िया, १० बँगला, ११ आसामी।
ङ—दाक्षिणात्य—(दक्षिणी) १२ मराठी।

पहाड़ी भाषाओं के सम्बन्ध में डाक्टर चटर्जी का मत है, कि पहाड़ी भाषाएँ पैशाची, दरद या खस से निकली हुई हैं। वे पहाड़ी भाषाओं को राजस्थानी का रूपांतर मानते हैं। उनका कथन है, कि पहाड़ी भाषाओं का वर्गीकरण सरलता के साथ नहीं किया जा सकता है; अतः उन्होंने पहाड़ी भाषाओं का वर्गीकरण स्वतन्त्र रूप से करना ही ठीक माना है।

सामान्य परिचय—सिंधी

सिंधी सिंध में सिंधु नदी के दोनों किनारों पर बोली जाती है, इसके बोलने वालों में अधिकतर मुसलमान हैं, जिनकी संख्या ४० लाख के लगभग होगी। इसके बोलने वालों में मुसलमानों की संख्या अधिक है, इसलिए इसमें फारसी शब्दों का प्रयोग प्रचुरता के साथ होता है। इसकी लिपि भी फारसी लिपि का ही एक विकृत स्वरूप है। दैनिक काम काजों में यह देव नागरी और कभी कभी गुरु मुखी लिपि में लिखी जाती है।

सिंधी की पाँच विभाषाएँ हैं, जिनके नाम इस प्रकार हैं:—विचोली, सिरैकी, लारी, थारेली, और कच्छी। इनमें विचोली का मुख्य स्थान है। इसका प्रयोग साहित्य क्षेत्र में होता है। सिंधी में 'साहित्य' बहुत अल्प मात्रा में है। कच्छी कच्छ द्वीप में बोली जाती है, जो सिंध के दक्षिण में है।

लहँदा

लहँदा का क्षेत्र पश्चिमी पञ्जाब है, जो अब पाकिस्तान के अन्तर्गत है। यह जटकी, अच्छी, हिन्द की, और डिलाही आदि नामों से भी पुकारी जाती है, इसे बोलने वालों की संख्या ६६ लाख के लगभग बताई जाती है। यह 'दरद' और पैशाची से अधिक प्रभावित है। आज जिस प्रदेश में लहँदा बोली जाती है, प्राचीन काल में उसी को केकय देश कहते थे, और वहीं पैशाची प्राकृत तथा केकय अपभ्रंश का विकास हुआ था। 'लहँदा' में साहित्य का पूर्णतः अभाव है। वास्तव में यह एक ऐसी भाषा है, जिसमें विभिन्न भावों को प्रकट करने की शक्ति नहीं है।

लहँदा की चार विभाषाएँ हैं, जिनके नाम इस प्रकार हैं—केन्द्रिय लहँदा, दक्षिणी लहँदा, उत्तरी पूर्वी लहँदा, और उत्तर पश्चिमी लहँदा। केंद्रिय लहँदा अधिक टकसाली मानी जाती है। यह नमक की पहाड़ी के दक्षिण प्रदेश में बोली जाती है। दक्षिणी लहँदा को मुल्तानी भी कहते हैं। इसका प्रयोग मुल्तान के आस पास होता है। उत्तरी पूर्वी लहँदा को पोठवारी भी कहते हैं। उत्तर पश्चिमी धन्नी के नाम

से भी विख्यात हैं। यह उत्तर में हजारा जिले तक बोली जाती है। लहँदा की लिपि लंडा है।

पंजाबी 'पंजाबी' उस भाषा को कहते हैं, जो समूचे पंजाब में बोली जाती है। पंजाब में बोली जाने ही के कारण इसका पंजाबी नाम प्रसिद्ध है। आज कल इसका एक भाग पश्चिमी पाकिस्तान के अन्तर्गत है, जिसे पूर्वी भाग कहते हैं। पंजाब के एक भाग में हिन्दी बोली जाती है, जिसे पश्चिमी भाग कहते हैं। 'लहँदा' की भाँति ही पंजाबी पर भी 'दरद', और 'पैशाची' का अधिक प्रभाव है। यही कारण है, कि पंजाबी में 'लहँदा' घुल मिल गई है, और पृथक करना अधिक कठिन जान पड़ता है। शुद्ध पंजाबी अमृतसर के आस पास बोली जाती है; इसे बोलने वालों की संख्या एक करोड़ उनतालिस लाख के लगभग है।

'लहँदा' की 'लंडा' लिपि का ही प्रयोग पंजाबी में किया जाता है, जो 'महाजनी' और 'शारदा' लिपि से बहुत मिलती-जुलती है। सिख गुरुओं ने इस लिपि का सुधार किया था। वही सुधरी हुई लिपि आज गुरुमुखी के नाम से प्रसिद्ध है।

शुद्ध पंजाबी में वैदिक संस्कृत के शब्द प्राप्त होते हैं। पर जो पंजाबी मिश्रित है, उस पर उर्दू का प्रभाव है। इसका एक मात्र कारण यह है, कि उर्दू से प्रभावित पंजाबी के क्षेत्र में मुसलमानों की संख्या अधिक है। पंजाबी में थोड़ा साहित्य भी पाया जाता है।

पंजाबी की विभाषा 'डोग्री' जंबू रियासत और काँगड़ा जिले में बोली जाती हैं। 'डोग्री' की लिपि का नाम 'टक्करी' है, जिसे टकरी भी कहते हैं।

गुजराती गुजराती का क्षेत्र गुजरात प्रान्त है। बड़ौदा, कच्छ, और काठियावाड़ की रियासतों में भी गुजराती का प्रयोग होता है। बहुत से पारसी भी गुजराती बोलते हैं, और व्यापार के काम-काजों में उसका प्रयोग करते हैं। बंबई इत्यादि स्थानों में भी गुजराती व्यापार की भाषा है। इसे बोलने वालों की संख्या एक करोड़ नौ लाख के लगभग बताई जाती है।

'गुजराती' भीली, और खान देशी बोलियों से अधिक प्रभावित है। इसका साहित्य भी अच्छा कहा जा सकता है। पहले 'गुजराती' 'देव नागरी' लिपि में ही लिखी जाती थी, किन्तु आज कल उसकी लिपि कैथी से मिलती जुलती है, जो देव नागरी का विकृत रूप जान पड़ती है।

राजस्थानी 'राजस्थानी' उस भाषा को कहते हैं, जो राजस्थान में बोली जाती है। 'राजस्थानी' का क्षेत्र पंजाबी के दक्षिण में पड़ता है। 'राजस्थानी' का अपना कोई अलग अस्तित्व नहीं है। राजस्थानी को हिन्दी की एक उपभाषा माननी चाहिए। आज की राजस्थानी मध्य देश की उस प्राचीन भाषा का ही एक विकसित स्वरूप है, जो दक्षिण-पश्चिम में प्रचलित थी, और जिसे हिन्दी कह सकते हैं। राजस्थानी का गठन हिन्दी से ही हुआ है। गुजराती उसके विकास की अंतिम

सीढ़ी है। यही कारण है, कि राजस्थानी और गुजराती में अधिक संबद्धता है। क्योंकि दोनों ही हिन्दी की विभाषाएँ हैं। किन्तु आज कल दोनों में अधिक भेद हो गया है, जिससे दोनों का अपना-अपना स्वतंत्र अस्तित्व हो गया है। आज कल दोनों में स्वतंत्र रूप से साहित्य की रचना हो रही है। पर राजस्थानी का साहित्यिक क्षेत्र आज भी हिन्दी को ही प्राप्त है। इसका प्राचीन साहित्य 'डिंगल' और पुरानी मारवाड़ी में है।

राजस्थानी की कई विभाषाएँ हैं, जिनके नाम मेवाती, मालवी, मारवाड़ी, और जयपुरी आदि हैं। राजस्थानी की दो लिपि है—मारवाड़ी और देवनागरी। दैनिक काम-काजों में मारवाड़ी लिपि का व्यवहार होता है। पुस्तकें और समाचार पत्र इत्यादि देवनागरी लिपि में छपते हैं।

पश्चिमी हिन्दी

पश्चिमी हिन्दी उस भाषा को कहते हैं, जो मेरठ और बिजनौर के आस पास बोली जाती है। इसके दो स्वरूप हैं। एक स्वरूप तो वह है, जिसका साहित्यिक हिन्दी के नाम से आजकल प्रयोग हो रहा है, और दूसरा स्वरूप 'उर्दू' के नाम से विख्यात है।

इसमें कई बोलियाँ भी सम्मिलित हैं, जिनमें ब्रजभाषा, अवधी, बाँगरू, कनौजी, और बुंदेली इत्यादि का प्रमुख स्थान है। आज कल खड़ी बोली का साहित्य-जगत में पश्चिमी हिंदी जो स्थान है, किसी समय ब्रजभाषा का भी वही स्थान था। अवधी का प्रभुत्व भी कुछ दिनों तक हिन्दी-साहित्य के क्षेत्र में था। बाँगरू, कनौजी, और बुन्देली इत्यादि बोलियों का साहित्यिक दृष्टि से विशेष मूल्य नहीं है। उर्दू मुसलमानों की भाषा है, और मुसलमानों में ही उसका प्रचार भी है।

पूर्वी हिन्दी

पूर्वी हिन्दी का क्षेत्र उसके नाम से ही प्रगट है, अर्थात् यह उस प्रदेश की भाषा है, जो पश्चिमी हिन्दी के पूर्व में पड़ता है। इसकी सीमा 'बिहारी' से मिली हुई है। पूर्वी हिन्दी यही कारण है, कि कुछ लोग इसे 'अर्द्ध बिहारी' भी कहते हैं। यह कुछ बातों में पश्चिमी हिन्दी से मिलती है, और कुछ बातों में बिहारी से; इसलिए कुछ लोग इसे बिहारी और पश्चिमी हिन्दी के बीच की भाषा भी कहते हैं। इसकी तीन विभाषाएँ हैं—अवधी, बघेली, और छत्तीस गढ़ी। अवधी वह भाषा है, जो अवध प्रांत में बोली है। 'अवध' के नाम पर ही इसका नाम 'अवधी' पड़ा है। प्राचीन काल में अवध का नाम कोशल था। इसलिए प्राचीन काल में 'अवधी' को 'कोसली' कहते थे। 'देवनागरी' अवधी की लिपि है। 'लिपि' के लिए कभी-कभी 'कैथी' का भी प्रयोग किया जाता है। गोस्वामी तुलसीदास जी ने अवधी में ही श्रीरामचरितमानस की रचना की है।

बिहारी

'बिहारी' से यह बोध होता है, कि वह बिहार प्रांत की भाषा है। इसमें संदेह नहीं, कि 'बिहारी' मुख्य रूप से बिहार के उस भूमि-भाग की भाषा है, जो कभी मागध अपभ्रंश का क्षेत्र था; पर 'बिहारी' का बहुत कुछ सम्बन्ध उत्तर प्रदेश से भी है। इसका क्षेत्र उत्तर प्रदेश में गोरखपुर-बनारस कमिश्नरी

में दूर तक फैला हुआ है। बिहार प्रांत में छोटा नागपुर में भी इसका प्रयोग होता है।

'बिहारी' की उत्पत्ति मागध अपभ्रंश से है। यही कारण है, कि इसका बँगला, उड़िया, और असमी से अधिक घनिष्ठ सम्बन्ध है। क्योंकि इन भाषाओं की उत्पत्ति भी मागध अपभ्रंश से ही हुई है। बिहारी की तीन विभाषाएँ हैं—मैथिली, मगही, और भोजपुरी। मैथिली गंगा के उत्तर में दरभंगा के समीपवर्ती स्थानों में बोली जाती है। भोजपुरी गोरखपुर बनारस कमिश्नरी, और चंपारन सारन जिले में व्यवहृत होती है। मगही का केन्द्र पटना और गया है। 'बिहारी' की इन तीनों विभाषाओं में परस्पर अधिक अन्तर है। 'मगधी' और 'मैथिली' में परस्पर समानता है। पर भोजपुरी इन दोनों से अधिक भिन्न है। भोजपुरी की भिन्नता को देख करके ही ग्रियर्सन महोदय उसे 'बिहारी' के अन्तर्गत नहीं मानते। उनका कथन है, कि भोजपुरी का अपना पृथक अस्तित्व है।

बिहारी में तीन लिपियों का प्रयोग किया जाता है—देवनागरी, कैथी, और मैथिली। देवनागरी का प्रयोग मुद्रण सम्बन्धी कार्यों में किया जाता है। साधारण रूप से लिखने-पढ़ने के काम में 'कैथी' का प्रयोग किया जाता है। मैथिली ब्राह्मण 'मैथिली' का व्यवहार करते हैं।

आधुनिक भाषाओं में कुछ भाषाएँ ऐसी हैं, जो पहाड़ी प्रांतों में बोली जाती हैं। इन भाषाओं को पहाड़ी भाषाएँ कहते हैं। पहाड़ी भाषाएँ राजस्थानी से अधिक

पहाड़ी मिलती जुलती हैं। इनमें साहित्य का अभाव है। साहित्य के नाम पर इनमें केवल ग्राम गीत, और लोक-गीत पाए जाते हैं। आजकल जितनी पहाड़ी भाषाएँ पाई जाती हैं, उन्हें हम तीन भागों में विभक्त कर सकते हैं—केन्द्रवर्ती पहाड़ी भाषा, पश्चिमी पहाड़ी भाषा, और पूर्वी पहाड़ी भाषा। केन्द्रवर्ती पहाड़ी कुमाऊँ और गढ़वाल के जिलों में बोली जाती है। 'कुमाइनी' और 'गढ़वाली' इसकी दो विभाषाएँ हैं। यह देवनागरी अक्षरों में लिखी जाती है। पश्चिमी पहाड़ी का क्षेत्र विस्तृत है। इसमें कई बोलियाँ सम्मिलित हैं। इसकी विभिन्न बोलियाँ उत्तर प्रदेश में सिरमौर रियासन, शिमला पहाड़ी, और काश्मीर के पहाड़ी क्षेत्रों में फैली हुई हैं। इसकी कई विभाषाएँ हैं, जिनमें जौनसारी, कुड़ली, और चंबाली आदि प्रसिद्ध हैं। पूर्वी पहाड़ी नैपाल में बोली जाती है। नैपाल में बोली जाने के कारण इसे लोग 'नैपाली' भी कहते हैं। कुछ लोग इसे परबतिया, अथवा बनसकुरा के नाम से भी पुकारते हैं। यह नागरी अक्षरों में लिखी जाती है। इसमें नये ढंग का साहित्य भी पाया जाता है।

उड़िया उस भाषा को कहते हैं, जो आज कल उड़ीसा में बोली जाती है। प्राचीन काल में उड़ीसा 'उत्कल' के नाम से प्रसिद्ध था। उन दिनों उड़िया का नाम

उड़िया भी 'उत्कली' अथवा ओड़ी था। आज कल अधिकांशतः इसका नवीन उड़िया नाम ही प्रचलित है। उड़िया में मराठी, तैलगू, और अँगरेजी तथा

फारसी भाषा के शब्द अधिक मिलते हैं। इसका एक मात्र कारण राजनीति है। बंगाल के निकटहोने के कारण मुसलमानी शासन काल में 'उड़िया' फारसी से अधिक प्रभावित थी। इसलिए उसमें फारसी के शब्द अधिक आ गए हैं। अंगरेजी शासन काल में उसमें अंगरेजी के शब्द प्रवेश कर गए। आठवीं शताब्दी में उड़ीसा पर तैलंगों का शासन था। नागपुर के भोंसले राजाओं ने भी कुछ दिनों तक उड़ीसा पर राज्य किया था। इसलिए उड़िया में तैलगू, और मराठी के शब्द भी आ गए हैं।

उड़िया की लिपि नागरी से निकली हुई है, पर वह अधिक कठिन है। उड़िया में कृष्ण साहित्य की अधिकता है। उड़िया और बंगाली के व्याकरण में अधिक सादृश्य पाया जाता है। इस सादृश्य को देख करके बंगाली के कुछ विद्वान उड़िया को बंगाली की पुत्री मानते हैं। पर यह बात तथ्य हीन मालूम होती है, क्योंकि इतिहास से यह बात प्रमाणित है, कि उड़िया और बंगाली दोनों का ही जन्म मागधी अपभ्रंश से हुआ है।

बंगाली

बंगाली उस भाषा को कहते हैं, जो बंगाल में बोली जाती है। इसके दो भाग हैं—पूर्वी, और पश्चिमी। पूर्वी बङ्गाली जिस क्षेत्र में बोली जाती है, वह आज कल पाकिस्तान के अन्तर्गत है। पश्चिमी बंगाली हुगली नदी के तटवर्ती स्थानों में बोली जाती है। मध्य पूर्वी और पश्चिमी—दोनों में अन्तर है, पर दोनों में ही संस्कृत के तत्सम शब्द अधिक परिमाण में पाए जाते हैं। साहित्य क्षेत्र में आज कल जिस बंगाली का प्रयोग होता है, वह पश्चिमी बंगाली का ही एक विकसित स्वरूप है। 'बंगाली' लिपि देव नागरी का ही रूपांतर है, पर उच्चारण में अन्तर है। 'बंगाली' में 'अ' का 'ओ' और 'स' का 'श' हो जाता है। बंगाली में साहित्य अधिक उन्नत अवस्था में पाया जाता है।

आसामी

'असमी' को आसामी भी कहते हैं। इसके नाम से ज्ञात होता है, कि यह आसाम प्रदेश की भाषा है। आसाम के निवासी इसे असामिया कहते हैं। 'आसामी' और 'बँगाली' के व्याकरण में सादृश्य है, इसलिए 'उड़िया' की भाँति आसामी को भी कुछ लोग 'बंगाली' की पुत्री मानते हैं, पर उड़िया की भाँति आसामी का भी उसी मागध अपभ्रंश से जन्म हुआ है, जिससे बंगाली उद्भवित हुई है। अतः आसामी और बंगाली का परस्पर सम्बन्ध भगिनी का है। आसामी से बगाली का साहित्य अधिक उन्नत है। 'आसामी' में प्राचीन ऐतिहासिक ग्रन्थ अधिक पाये जाते हैं।

मराठी

मराठी वह भाषा है, जो महाराष्ट्र प्रान्त में बोली जाती है। यद्यपि पूना और उसके आस पास बोली जाने वाली 'मराठी' ही प्रतिनिधि भाषा के रूप में विख्यात है, पर उसका क्षेत्र बम्बई प्रांत के पूना तथा उसके आस पास के स्थान, वरार, तथा मध्य प्रांत के दक्षिण जिले हैं। मराठी महाराष्ट्र अपभ्रंश से निकली हुई है। इसकी तीन विभाषाएँ हैं—मराठी, कोंकणी, और बरारी। मराठी

पूना के आस पास बोली जाती है। यह सबसे अधिक टकसाली समझी जाती है। इसी को साहित्यिक भाषा होने का गौरव प्राप्त है। 'कोंकणी' दक्षिण कोंकण प्रदेश में बोली जाती है। 'बरारी' बरार प्रांत की भाषा है। इनके अतिरिक्त मराठी की एक और बोली है, जिसे 'हल्बी' कहते हैं। यह द्राविण मिश्रित है, और बस्तर में बोली जाती है।

हिन्दी और उसकी उपभाषाएँ

आज हम अपनी राष्ट्र भाषा 'हिन्दी' के लिए जिस 'हिन्दी' शब्द का प्रयोग करते हैं, उसका जन्म किस प्रकार हुआ है—यहाँ हम इसी बात पर प्रकाश डालेंगे।

'हिंदी' शब्द की उत्पत्ति

संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश आदि जो प्राचीन भाषाएँ हैं, और इनमें जो प्राचीन ग्रन्थ हैं, उनका जब हम अध्ययन करते हैं, तब कहीं भी 'हिन्दी' शब्द का प्रयोग नहीं पाते। इतिहास से ज्ञात होता है, कि 'हिन्दी' शब्द का प्रयोग मुसलमानों के आगमन के पश्चात् से होने लगा है। मुसलमानों ने सर्व प्रथम भारतवर्ष के सिन्धु प्रदेश में प्रवेश किया था। 'सिंधु नदी' और 'सिंधी' आदि संस्कृत के शब्द ही उन्हें पहले पहल बोलने पड़े थे। निश्चय है कि फारस की ओर से आने वाले मुसलमान 'सिंधु' और 'सिंधी' का उच्चारण ठीक-ठीक न कर पाए होंगे। उन्होंने 'स' का उच्चारण 'ह' के रूप में किया। इस प्रकार 'सिंधु' से 'हिन्द' और 'सिंधी' से 'हिन्दी' शब्द बन गया। फारसी में 'हिन्दी' या 'हिन्दवी' शब्द का भी प्रयोग मिलता है। 'हिन्द' का प्रयोग 'फारसी' में हिन्दुस्तान के लिए किया गया है, और 'हिन्दी' का प्रयोग उस भाषा के लिए हुआ है, जो हिन्दुस्तान में बोली जाती है। इस प्रकार हिन्दी शब्द के अन्तर्गत वे सभी भाषाएँ समझी जाती थीं, जिनका उस समय हिन्दुस्तान में प्रयोग होता था। किन्तु कालांतर में इसका प्रयोग मध्यदेश की उस भाषा के लिए किया जाने लगा, जो उत्तर भारत के मध्यदेश के हिन्दुओं की मुख्य भाषा थी। आजकल 'हिन्दी' का प्रयोग मध्यदेश की उस साहित्यिक भाषा के लिए ही किया जाता है, जिसका क्षेत्र दूर दूर तक फैला हुआ है।

हिंदी का क्षेत्र

हिन्दी का क्षेत्र अधिक विस्तृत है। इसकी सीमा पश्चिम में जैसेलमेर, उत्तर पश्चिम में अंबाला, उत्तर शिमला से लेकर नैपाल के पूर्वी छोर तक के पहाड़ी प्रदेश पूर्व में भागलपुर, दक्षिण में रायपुर, तथा दक्षिण पश्चिम में खंडवा तक पहुँचती है। यह हिन्दी की एक प्रतिनिधि सीमा है; वास्तव में बात तो यह है, कि आज हिन्दी का क्षेत्र बहुत दूर तक फैल गया है। आज भारतवर्ष का ऐसा कोई प्रान्त नहीं, जहाँ हिन्दी अपने वास्तविक रूप में पढ़ी लिखी, और बोली न जाती हो। हिन्दी की कई विभाषाएँ और बोलियाँ हैं, जो हिन्दी के मुख्य क्षेत्र में प्रचलित हैं। उनमें जो मुख्य हैं, उनके नाम इस प्रकार हैं—बिहारी, राजस्थानी,

पूर्वी हिन्दी, और पहाड़ी हिन्दी इत्यादि। इन विभाषाओं की भी बोलियाँ हैं, जैसे बिहारी की भोजपुरी, मगही, मैथली; राजस्थानी की मारवाड़ी, मेवाती, और पूर्वी हिन्दी की अवधी, बघेली, और छत्तीसगढ़ी इत्यादि। हिन्दी बोलने वालों की संख्या १२ करोड़ के लगभग बताई जाती है। पर आज तो यह संख्या बढ़ कर और भी अधिक हो गई है।

हिन्दी के क्षेत्र में मुख्य रूप से चार भाषाएँ बोली जाती हैं—बिहारी, राजस्थानी, पहाड़ी, और पूर्वी हिन्दी। कुछ लोग हिन्दी की इन विभाषाओं को सामने रख कर इस बात का प्रतिपादन करते हैं, कि हिन्दी केवल उस भूमि खंड की भाषा है, जिसे प्राचीन काल में मध्य देश अथवा अन्तरवेद कहते थे। कुछ लोग हिन्दी की विभाषाओं को ही दृष्टि में रख कर 'हिन्दी' को दो भागों में भी विभक्त करते हैं—पश्चिमी हिन्दी और पूर्वी हिन्दी। वे पश्चिमी हिन्दी को ही 'हिन्दी' मानते हैं। पर इतिहास इसके विपरीत है। इतिहास से यह बात प्रगट होती है, कि हिन्दी की संपूर्ण विभाषाएँ हिन्दी में समाविष्ट हैं। इसमें संदेह नहीं, कि अपने जन्म काल में हिन्दी मध्यदेश की भाषा थी, पर उसके पश्चात् तो उसका क्षेत्र अधिक विस्तृत हो गया। आज तो उसका साहित्यिक स्वरूप इतना वेगगामी है, कि उसकी सभी उपभाषाओं ने उसकी गति में अपने को डुबो दिया है। अतः नवीन अर्थ में हिन्दी का क्षेत्र उन संपूर्ण स्थानों को मानना चाहिए, जहाँ उससे निकली हुई उपभाषाएँ और बोलियाँ बोली जाती हैं।

हिन्दी का क्षेत्र-नये अर्थ में

हिन्दी की कई उपभाषाएँ हैं, जिनके नाम इस प्रकार हैं—पश्चिमी हिन्दी, पूर्वी हिन्दी, बिहारी, राजस्थानी, और पहाड़ी इत्यादि। यद्यपि इन विभाषाओं का अपना पृथक अस्तित्व है, पर यह सब हिन्दी के ही सूत्र में गुँथी हुई हैं। हिन्दी के साहित्यिक स्वरूप का इन सब पर अखंड आधिपत्य है। यहाँ हम एक एक करके इनकी विवेचना करेंगे। सर्व प्रथम हम पश्चिमी हिन्दी को लेते हैं। पश्चिमी हिन्दी की पाँच विभाषाएँ हैं—खड़ी बोली, बाँगरू, ब्रजभाषा, कन्नौजी, और बुन्देली। खड़ी बोली के तीन रूप मिलते हैं – उच्च हिन्दी, उर्दू, और हिन्दुस्तानी। अतः खड़ी बोली के साथ ही साथ इन पर भी विचार करना आवश्यक होगा।

पश्चिमी हिंदी

खड़ी बोली हिन्दी की मुख्य उपभाषा है। आज हिन्दी का संपूर्ण साहित्य खड़ी बोली में ही है। आज खड़ी बोली अपने विकसित और उन्नत स्वरूप में है। आज हिन्दी के साहित्यिक पद का गौरव खड़ी बोली को ही प्राप्त है। पर वर्तमान भाषा शास्त्री खड़ी बोली उस बोली को कहते हैं, जो रामपुर रियासत, मुरादाबाद, बिजनौर, मेरठ, मुजफ्फरनगर, सहारनपुर, देहरादून, अंबाला, कलसिया, और पटियाला रियासत के पूर्वी भाग में बोली जाती है। इसमें सन्देह नहीं, कि मूल अर्थ में खड़ी बोली का यही क्षेत्र है, पर आज तो खड़ी बोली अपने क्षेत्र से बाहर निकल कर दूर दूर तक फैल गई है। खड़ी बोली अपने मूल अर्थ में जिन स्थानों में बोली जाती है, उन स्थानों में मुसलमानों की संख्या अधिक है। इसलिए खड़ी बोली में अरबी

और फारसी के शब्दों का प्रचुर रूप में प्रवेश है पर इन सभी शब्दों का प्रयोग अर्द्ध तत्सम और तद्भव रूप में किया जाता है।

खड़ी बोली का विकास शौरसेनी अपभ्रंश से हुआ है। पंजाबी का भी उस पर प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। इसके बोलने वालों की संख्या ४३ लाख के लगभग है।

ऊपर इस बात का उल्लेख किया जा चुका है कि खड़ी बोली के तीन रूप हैं—उच्च हिन्दी, उर्दू, और हिन्दुस्तानी। अतः अब इन पर भी विचार कर लेना ठीक होगा।

उच्च हिन्दी उस खड़ी बोली को कहते हैं, जिसमें संस्कृत के तत्सम शब्दों की अधिकता होती है। अर्द्ध तत्सम शब्दों का भी अधिक प्रयोग उच्च हिन्दी में होता है। यही वह हिन्दी है, जिसे साहित्यिक हिन्दी कहते हैं। आजकल हिन्दी की जो सर्वतोमुखी उन्नति हो रही है, उसको भाषा यही उच्च हिन्दी है। पढ़े लिखे लोग प्रायः इसी भाषा का प्रयोग करते हैं। यही भाषा राष्ट्र भाषा के पद पर भी आसीन है।

उर्दू हिन्दी खड़ी बोली के उस स्वरूप का नाम है, जिसमें अरबी और फारसी के तत्सम तथा अर्द्ध तत्सम शब्दों की अधिकता रहती है। खड़ी बोली के दो स्वरूप हैं। एक स्वरूप तो वह है, जिसमें संस्कृत के तत्सम, और अर्द्ध तत्सम शब्दों की अधिकता रहती है। इस स्वरूप को उच्च हिन्दी कहते हैं। दूसरा स्वरूप वह है, जिसमें अरबी-फारसी के तत्सम और अर्द्ध तत्सम शब्द अधिक संख्या में पाये जाते हैं। खड़ी बोली के इस दूसरे स्वरूप को ही उर्दू कहते हैं। उच्च हिन्दी और उर्दू-दोनों का आधार एक ही है। दोनों के व्याकरण के रूपों में भी बहुत कम अन्तर है। किन्तु दोनों का पालन पोषण, और गठन एक दूसरे से विपरीत वातावरण में होता है। उच्च हिन्दी अधिकतर हिन्दुओं में ही व्यवहृत होती है। वह मुख्य रूप से संस्कृत और भारतीय संस्कृति की ओर देखती है। उसके गठन और निर्माण में भारतीय तत्त्व निहित हैं, पर उर्दू इसके विपरीत मुसलमानों में ही व्यवहृत होती है। पश्चिमी जिलों के कुछ हिन्दुओं, और प्राचीन पीढ़ी के कायस्थों में भी उर्दू का प्रचार है। उर्दू के गठन और निर्माण में उस सभ्यता का अधिक हाथ है, जिसे अरब की सभ्यता कहते हैं। उर्दू अपने शब्द भंडार के लिए अरबी और फारसी की ओर देखती है। यही कारण है, कि उच्च हिन्दी और उर्दू दोनों का मूलाधार एक होने पर भी दोनों के साहित्यिक वातावरण, शब्द समूह, और लिपि में अधिक अन्तर है।

'खड़ी बोली' के इस दूसरे स्वरूप, उर्दू का जन्म किस प्रकार हुआ—यह एक विचारणीय बात है। हम यह पहले बता चुके हैं, कि खड़ी बोली वह बोली है, जो बिजनौर, मेरठ, और दिल्ली के आस पास के स्थानों में बोली जाती है। यह ध्यान में रखने की बात है, कि खड़ी बोली के उच्च, हिन्दी रूप का विकास बहुत पीछे हुआ है। जिन दिनों उच्च हिन्दी की नींव ही पड़ रही थी, उन दिनों भी खड़ी बोली का, उसके अपने क्षेत्र में अधिक प्रचार था। मुसलमानों का आगमन जब दिल्ली में हुआ, तो

उनके सामने निश्चय ही भाषा का प्रश्न उपस्थित हुआ होगा। क्योंकि भारत में आने वाले मुसलमानों की भाषा फारसी, तुर्की और अरबी थी। उन दिनों राज्य का केन्द्र भी दिल्ली में ही था। अतः दिल्ली में रहने वाले मुसलमानों ने, दिल्ली की समीपवर्ती जनता से अपना संपर्क स्थापित करने के लिये उसकी भाषा—खड़ी बोली के शब्दों को अवश्य ग्रहण किया होगा। इस प्रकार खड़ी बोली और अरबी फारसी तथा तुर्की के शब्दों के मेल से एक नई भाषा का सूत्रपात हुआ। सर्व प्रथम यह नई भाषा फौजी सिपाहियों में बोली जाती थी। यह बाजारू भाषा थी, अर्थात् इसका अपना कोई निश्चित सिद्धांत नहीं था। बाजारू भाषा होने ही के कारण इसका नाम 'उर्दू' पड़ा, क्योंकि तुर्की भाषा में उर्दू का अर्थ बाजार होता है। पहले इसका प्रचार मुसलमान सैनिकों में था, किन्तु इसके पश्चात् धीरे धीरे उन हिन्दुओं में भी उर्दू का प्रचार हो गया, जो शाही दरबार में रहते थे, या जिनका दरबारी मुसलमानों से अधिक सम्बन्ध होता था; क्योंकि तुर्की और अरबी की अपेक्षा इस भाषा के द्वारा उनसे बातचीत करने में सरलता होती थी। 'उर्दू' शासकों द्वारा गृहीत थी, इसलिये इसका शीघ्र प्रचार हो गया। मुसलमानी शासन काल में उर्दू को अधिक गौरव प्राप्त था। मुसलमानों में व्यापक रूप से इसका प्रचार तो था ही, राज काज में भी इसका अधिक व्यवहार होता था। अँगरेजों के शासन काल में भी उर्दू को महत्व पूर्ण पद प्राप्त था। देश के बँटवारे के पश्चात्, पाकिस्तान में इसे राजभाषा का भी पद प्राप्त हुआ है।

उर्दू के दो रूप हैं—एक दिल्ली लखनऊ की तत्सम शब्दों से भरी हुई उर्दू, और दूसरी हैदराबादी उर्दू। लखनऊ और दिल्ली आदि स्थानों की उर्दू अधिक कठिन होती है; क्योंकि उसमें फारसी के तत्सम शब्दों का प्रयोग अधिक होता है। इसके प्रतिकूल दक्षिण हैदराबाद की उर्दू, जो दिन्दवी कहलाती है, अधिक सरल होती है। उसमें फारसी शब्दों का प्रयोग बहुत कम होता है।

हिन्दुस्तानी खड़ी बोली का एक तीसरा रूप है। इसका वास्तविक स्वरूप क्या है, यह अभी तक निश्चित नहीं हो सका है। वास्तव में देखा जाय तो सरल हिन्दी को ही 'हिन्दुस्तानी' कहते हैं। सर्व प्रथम 'हिन्दुस्तानी' शब्द का प्रयोग अँगरेजों ने किया था। 'हिन्दुस्तानी' शब्द से अँगरेजों का तात्पर्य उस भाषा से था, जो देव नागरी लिपि में ऐसी सरल भाषा में लिखी जाती थी, जिसमें उर्दू के शब्द अधिक होते थे। इधर राजनीतिक कारणों से 'हिन्दुस्तानी' ने एक दूसरा ही रूप धारण कर लिया है; अर्थात् इसकी लिपि तो अब भी देवनागरी ही है, पर अब इसमें 'फारसी' के शब्दों की अधिकता रहती है। आजकल 'हिन्दुस्तानी' लोग उस भाषा को कहते हैं, जिसमें संस्कृत के तत्सम और अर्द्ध तत्सम शब्दों का पूर्ण रूप से अभाव हो।

वर्तमान 'हिन्दुस्तानी' को हम खिचड़ी भाषा कह सकते हैं। क्योंकि इसमें संस्कृत, अरबी, फारसी और अँगरेजी आदि सभी भाषाओं के शब्द पाए जाते हैं। कुछ लोगों ने 'हिन्दुस्तानी' में अपने भावों को प्रगट करने का प्रयत्न किया है, पर उनके

प्रयत्नों से भी अभी तक 'हिन्दुस्तानी' को कोई निश्चित स्वरूप नहीं प्राप्त हो सका है।

बाँगरू को खड़ी बोली का ही एक उपरूप मानना चाहिए। पर इसमें पंजाबी और राजस्थानी के शब्दों का भी मिश्रण पाया जाता है। इसकी सीमा हिन्दी से जुटी हुई है; अर्थात् यह पानीपत और कुरुक्षेत्र के मैदान से प्रारम्भ होकर दिल्ली, करनाल, रोहतक, और हिसार के जिलों तथा पटियाला, नाभा, और झींद की रियासतों में भी बोली जाती है। इसकी पश्चिमी सीमा पर सरस्वती नदी बहती है। इसको बोलने वालों की संख्या २२ लाख के लगभग है।

ब्रजभाषा वह विभाषा है, जो ब्रज मण्डल में बोली जाती है। यों तो ब्रजभाषा का क्षेत्र अधिक विस्तृत है, पर आजकल इसका शुद्ध स्वरूप मथुरा, आगरा, अलीगढ़ और धौलपुर में ही प्राप्त होता है। अन्यान्य स्थानों में इसका शुद्ध रूप अब नहीं रह गया है। गुड़गाँव, करौली, और भरतपुर इत्यादि स्थानों में जो ब्रजभाषा बोली जाती है, उस पर 'बुन्देली' और राजस्थानी का प्रभाव है। इसी प्रकार बदायूँ और बुलन्दशहर के आस पास की ब्रजभाषा पर खड़ी बोली का, और मैनपुरी तथा एटा की ब्रजभाषा पर 'कन्नौजी' का प्रभाव स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होता है।

'रीति काल' में ब्रजभाषा को अधिक महत्व पूर्ण पद प्राप्त था। रीति काल में कई महाकवियों ने ब्रजभाषा में ही अपनी रचनाओं का शृंगार किया है। रीति काल में इसकी इतनी महत्ता बढ़ गई थी, कि इसने एक मुख्य भाषा का ही रूप धारण कर लिया था, पर खड़ी बोली के प्रचार ने इसे पीछे हटने के लिये विवश कर दिया। फिर भी आज भी इसमें साहित्य की रचना होती है। इसमें कृष्ण-साहित्य की अधिकता है। इसको बोलने वालों की संख्या ७६ लाख के लगभग है।

कनौजी ब्रजभाषा की पड़ोसिनी है। ब्रजभाषा की सरसता और मधुरता ने इसे अक्रांत कर रक्खा है। यद्यपि इसके क्षेत्र में कई कवियों ने जन्म धारण किया है, पर उन्होंने ब्रजभाषा में ही रचनाएँ की हैं। यही कारण है, कि कनौजी का अपना कोई पृथक साहित्य नहीं है। इसका साहित्य ब्रजभाषा के ही साहित्य में विलीन सा है।

कनौजी नाम से यह प्रगट होता है, कि वह किसी समय कन्नौज राज्य की प्रमुख भाषा रही होगी। आज भी कनौजी का केन्द्र फर्रुखाबाद ही माना जाता है; यों तो वह हरदोई, शाहजहाँपुर, पीलीभीत, इटावा और कानपुर के पश्चिम में भी बोली जाती है। इसको बोलने वालों की संख्या ४५ लाख के लगभग है।

बुन्देली के नाम से ही यह प्रगट होता है, कि वह बुन्देल खण्ड की भाषा है। बुन्देल खंड की भाषा होने ही के कारण इसका नाम बुन्देली पड़ा है। कन्नौजी की भाँति इस पर भी ब्रजभाषा का प्रभाव है। मध्य काल में इसके भू भाग में कई प्रतिष्ठित कवियों का जन्म हुआ है पर उन्होंने ब्रजभाषा में ही रचनाएँ की हैं। उनकी ब्रजभाषा में स्पष्ट रूप से बुन्देली की झलक दिखाई पड़ती है।

बुन्देली अपने शुद्ध रूप में झाँसी, जालौन, हमीरपुर, ग्वालियर, भूपाल, ओड़छा,

सागर, नरसिंहपुर, सिवनी, और होशंगाबाद इत्यादि जिलों में बोली जाती है। इसके कई मिश्रित स्वरूप हैं, जो दतिया, पन्ना, चरखारी, दमोह, बालाघाट, और छिंदवाड़ा के कुछ भागों में मिलते हैं। इसको बोलने वालों की संख्या ६६ लाख के लगभग है।

पूर्वी हिन्दी

पूर्वी हिन्दी की तीन विभाषाएँ हैं—अवधी बघेली, और छत्तीसगढ़ी। पूर्वी हिन्दी को ही वह गौरव प्राप्त है, जिसमें गोस्वामी तुलसीदास जी ऐसे महाकवि उत्पन्न हुए हैं। जायसी भी पूर्वी हिन्दी के ही कवि हैं। पूर्वी हिन्दी की लिपि नागरी है। कभी कभी कैथी लिपि में भी यह लिखी जाती है।

अवधी पूर्वी हिन्दी की महत्व पूर्ण शाखा है। हिन्दी के अमर कवि गोस्वामी तुलसीदास जी ने अवधी में ही अपने श्री रामचरित मानस की रचना की है। 'जायसी' भी अवधी के प्रसिद्ध कवि है। 'अवधी' उस प्रदेश की भाषा है, जिसे अवध कहते हैं। लखनऊ, उन्नाव, रायबरेली, सीतापुर, खीरी, फैजाबाद, गोंडा, बहराइच, सुल्तानपुर, प्रतापगढ़, और बाराबंक की इत्यादि जिले इस प्रदेश के अन्तर्गत माने जाते हैं। यों तो शुद्ध रूप में यह इन्हीं जिलों में बोली जाती है, किन्तु कुछ मिश्रित रूप में इसे बिहार के मुसलमान भी बोलते हैं। इलाहाबाद, कानपुर, फतेहपुर, जौनपुर, मिर्जापुर, और मिर्जापुर जिले के कुछ हिस्सों में भी अवधी का प्रचार है। अवधी को बोलने वालों की संख्या एक करोड़ ४२ लाख के लगभग है।

अवधी के दो रूप मिलते हैं। एक को पश्चिमी अवधी, और दूसरे को पूर्वी अवधी कहते हैं। पश्चिमी अवधी का क्षेत्र लखनऊ से कन्नौज तक है। पश्चिमी अवधी की सीमा ब्रजभाषा की सीमा से मिली हुई है, अतः उस पर ब्रजभाषा का प्रभाव है। पूर्वी अवधी गोंडा और अयोध्या के आस पास बोली जाती है। इसी अवधी को शुद्ध अवधी कहते हैं।

बघेली बघेल खंड की भाषा है। बघेल खंड मुख्य रूप से रीवाँ राज्य को कहते हैं, पर बघेली का क्षेत्र रीवाँ राज्य के अतिरिक्त दमोह, जबलपुर, मंडिला, और होशंगाबाद तक फैला हुआ है। बघेली का अपना कोई साहित्यिक स्वरूप नहीं है। वास्तव में यह एक बोली मात्र है। इसके साहित्यिक पद पर, इसके स्थान पर 'अवधी' विराजमान है। बघेल खण्ड में कई लब्ध प्रतिष्ठ कवि उत्पन्न हो चुके हैं, जिन्होंने अवधी में ही रचनाएँ की हैं। 'बघेली' को बोलने वालों की संख्या ४६ लाख के लगभग है।

छत्तीसगढ़ी का भी अपना कोई साहित्यिक स्वरूप नहीं है। यद्यपि यह भी 'अवधी' का ही एक स्वरूप है, पर इसकी सीमा मराठी, और उड़िया से मिली हुई है। इसलिए इस पर मराठी उड़िया का अधिक प्रभाव है, जिससे यह अवधी से भिन्न हो गई है। इसको बोलने वालों की संख्य ३३ लाख के लगभग है।

छत्तीसगढ़ी का मुख्य क्षेत्र रायपुर और बिलासपुर जिला है, पर यह अपने

भिन्न रूपों में खैरागढ़, रायगढ़, सरगुजा, उदयपुर, और जयपुर आदि राज्यों में भी बोली जाती है।

बिहार में बोली जाने वाली भाषा को बिहारी कहते हैं। बिहारी युक्त प्रान्त के बनारस-गोरखपुर कमिश्नरी से आरम्भ होती है, और पूरे बिहार भर में बोली जाती है। छोटा नागपुर में भी बिहारी का प्रचलन है। बिहारी की तीन विभाषाएँ हैं—भोजपुरी, मैथिली, और मगही।

बिहारी

भोजपुरी का क्षेत्र बिहार प्रांत में दूर तक फैला हुआ है। बिहार में यह शाहाबाद, चंपारन, सारन, और छोटा नागपुर के जिलों में बोली जाती है। उत्तर प्रदेश के बनारस, मिर्जापुर, जौनपुर, गाजीपुर, बलिया, गोरखपुर, बस्ती, और आजमगढ़ में भी भोजपुरी का प्रचार है। इसको बोलने वालों की संख्या दो करोड़ के लगभग है। संस्कृत से इसका अधिक सानिध्य रहा है; तो भी इसका अपना साहित्य नहीं है। इसके भूमि भाग में जो कवि उत्पन्न हुए हैं, उन्होंने अवधी या ब्रजभाषा में ही रचनाएँ की हैं। आज कल इसके क्षेत्र में भी साहित्य-पद पर खड़ी बोली ही प्रतिष्ठित है।

मैथिली, उस भूमि भाग की भाषा है, जिसे मिथिला कहते हैं। मिथिला बिहार प्रांत में है, जिसका मुख्य केन्द्र दरभंगा राज्य है। 'मैथिली' और संस्कृत का अधिक साथ है। अतः इसमें कुछ साहित्य की रचना भी हुई है। इसको बोलने वालों की संख्या एक करोड़ के लगभग है।

मगधी एक साधारण बोली मात्र है। इसकी साहित्यिक प्रतिष्ठा कुछ भी नहीं है। यह बिहार प्रांत में गंगा के दक्षिण में बोली जाती है। पटना और गया के जिले इसके मुख्य केन्द्र समझे जाते हैं। इसके बोलने वालों की संख्या ६५ लाख के लगभग है।

राजस्थानी राजस्थान की भाषा है। यह कई भाषाओं से घिरी हुई है। इसके दक्षिण में बुन्देली, मराठी, भीली, खान देशी और गुजराती है। पश्चिम की ओर सिंधी तथा पश्चिमी पञ्जाबी है, और उत्तर में पश्चिमी पञ्जाबी तथा बाँगरू आदि भाषाएँ हैं। इसकी चार विभाषाएँ हैं, जिनके नाम इस प्रकार हैं—मारवाड़ी, जयपुरी, मेवाती, और मालवी।

राजस्थानी

मारवाड़ी उस भाषा को कहते हैं, जो मारवाड़ प्रांत में बोली जाती है। इसका क्षेत्र जोधपुर, बीकानेर, जैसलमेर, और उदयपुर आदि राज्य हैं। मारवाड़ी के कई भेद और उपभेद भी हैं। इसका प्राचीन साहित्य उस भाषा में है, जिसे डिंगल कहते हैं। प्राचीन काल में ब्रजभाषा में कविता करने वालों की भाषा 'पिंगल' कहलाती थी। कुछ लोगों ने 'मारवाड़ी' भाषा की ध्वनि पर, ब्रजभाषा से पृथक एक नवीन भाषा की सृष्टि की। यही 'नवीन' भाषा डिंगल के नाम से प्रसिद्ध है।

मारवाड़ी बोलने वालों की संख्या ६० लाख के लगभग है।

जयपरी जयपुर की भाषा है। इसमें अपना साहित्य है। यह प्रायः जयपुर में,

और उसके आस पास के स्थानों में बोली जाती है। प्रसिद्ध भक्त कवि दादू दयाल और उनके शिष्यों ने अपनी वाणियों की रचना इसी में की है। जयपुरी की एक दूसरी बहन भी है, जिसे हाड़ौती कहते हैं। हाड़ौती का क्षेत्र कोटा और बूँदी राज्य है। दोनों को मिलाकर जयपुरी को बोलने वालों की संख्या ३० लाख के लगभग है।

मेवाती पर ब्रजभाषा का प्रभाव है। इसका अपना कोई साहित्य नहीं है। यह एक बोली मात्र है, जो अलवर राज्य और पूर्वी पञ्जाब के दक्षिण और, गुड़गाँव जिलों में बोली जाती है। इसको बोलने वालों की संख्या १६ लाख के लगभग है।

मालवी बुन्देल खंडी से बहुत कुछ मिलती जुलती है। उसका मुख केन्द्र इन्दौर राज्य है। इसको बोलने वालों की संख्या ४४ लाख के लगभग है। यह भी केवल एक बोली मात्र है। साहित्य का इसमें पूर्ण रूप से अभाव है।

पहाड़ी भाषा

पहाड़ी भाषाएँ वे हैं, जो पहाड़ी प्रान्तों में बोली जाती हैं। इसके तीन भाग हैं—पश्चिमी पहाड़ी, मध्य पहाड़ी, और पूर्वी पहाड़ी। इनके सम्बन्ध में 'आधुनिक भारतीय भाषाएँ' नामक शीर्षक में पहले प्रकाश डाला जा चुका है। पहाड़ी भाषाओं मे पूर्वी पहाड़ी ही एक ऐसी भाषा है, जिसमें साहित्य की रचना हुई है। पूर्वी पहाड़ी को ही नैपाली भी कहते हैं। नैपाली का मुख्य केन्द्र काठमांडू है।

साहित्यिक भाषाएँ

हिन्दी की उपभाषाओं में कुछ ही ऐसी भाषाएँ हैं, जिन्हें हम साहित्यिक भाषाएँ कह सकते हैं। जैसे:—अवधी, ब्रज, डिंगल, खड़ी बोली, और उर्दू। एक उर्दू को छोड़ कर सभी उपभाषाओं पर हिन्दी का आधिपत्य है। हिन्दी की खड़ी बोली आज सभी उपभाषाओं के क्षेत्र में विराजमान है। उर्दू पर भी खड़ी बोली का आधिपत्य है। आज हिन्दी के साहित्य का सृजन 'खड़ी बोली' में ही हो रहा है। हिन्दी की खड़ी बोली ही आज भारत की राष्ट्रभाषा के पद पर आसीन है।

—:०:—

हिन्दी के विकास की गति

हिन्दी आज भारत की राष्ट्र भाषा के पद पर आसीन है। आज उसके जीवन का स्वर्ण काल है। आज भारतवर्ष में कंठ-कंठ से उसकी कीर्ति का गान निकल रहा है। उन्नति के इस युग तक पहुँचने में हिन्दी को कितने दुरूह मार्गों को पार करना पड़ा है, और कितने ही घात-प्रतिघातों के सँकरे मार्ग से उसे निकलना पड़ा है—इस पर जब हम विचार करते हैं, तो यह मानना पड़ता है, कि हिन्दी, भाषा के स्वाभाविक गुणों से सम्पन्न है। वह अपनी स्वाभाविक शक्ति और गुणों के बल से ही सङ्कीर्ण मार्गों को पार कर सकी है, और उन्हीं के कारण वह आज राष्ट्र-भाषा के पद पर भी आसीन है।

हिन्दी का जन्म

हिन्दी का जन्म कब हुआ—यह एक विचारणीय विषय है। यह तो निश्चय है, कि हिन्दी का जन्म उस अपभ्रंश शौरसेनी से हुआ है, जो मध्य देश की भाषा थी; पर उसके जन्म के समय के सम्बन्ध में अभी तक ठीक-ठीक निश्चय नहीं हो सका है। हिन्दी के जन्म-काल के निर्णय के सम्बन्ध में हमें उस काल के उन साधनों पर दृष्टिपात करना होगा, जो इस समय ऐतिहासिक साधनों के रूप में प्राप्त हैं। उन ऐतिहासिक साधनों को हम चार भागों में विभक्त कर सकते हैं:—

क—प्राचीन शिला लेख, और ताम्र पत्र।

ख—अपभ्रंश काल की रचनाएँ

ग—चारण काव्य।

घ—हिन्दवी, अथवा पुरानी खड़ी बोली।

प्राचीन शिला लेख और ताम्र पत्रों में जो कुछ सामग्री प्राप्त है, वह अधिक अपर्याप्त है। इस दिशा में अभी अधिक अनुसन्धान करने की आवश्यकता है। अतः इसके द्वारा हिन्दी के जन्म-काल के सम्बन्ध में कुछ भी विवेचन नहीं किया जा सकता। अपभ्रंश काल ५०० ई० से १००० तक माना जाता है। इस अपभ्रंश काल में यह देखना है, कि क्या हिन्दी का जन्म हुआ था? इतिहास से पता चलता है, कि हिन्दी के उदय का प्रारम्भ अपभ्रंश काल के आदि चरण में ही हो गया था। इसके पूर्व यह उल्लेख किया जा चुका है, कि हिन्दी की उपभाषाओं में एक बिभाषा बिहारी भी है, और उसकी एक बोली का नाम मगही है। ईसा की आठवीं शताब्दी

में ही उन कवियों ने मगही में रचना की थी, जो अपने को 'सिद्ध' कवि कहते थे। यह कवि मन्त्रों के द्वारा सिद्धि प्राप्त करने वाले एक विशेष पन्थानुयायी साधक थे। उनकी रचनाओं से पता चलता है, कि उनके पहले से ही 'मगही' के रूप में हिन्दी का सूत्रपात हो चुका था। सिद्ध कवियों का समय ७०० ई० से १३०० ई० तक माना जाता है। सिद्ध कवियों की भाषा यद्यपि अपभ्रन्श मगही है, पर उसमें स्पष्ट तथा परिवर्तन के चिह्न दृष्टिगोचर होते हैं, अर्थात् उनकी भाषाओं से स्पष्ट यह ज्ञात होता है, कि एक नई भाषा ने जन्म लिया है, और वह भाषा हिन्दी के अतिरिक्त और कोई नहीं है। सिद्ध कवियों की रचनाओं के अतिरिक्त अपभ्रन्श काल की और भी कई रचनाएँ हमें मिलती हैं। पर उन रचनाओं पर अपभ्रन्श का ही अधिक प्रभाव परिलक्षित होता है। हिन्दी के जन्म की विवेचना की दृष्टि से अपभ्रन्श काल की जिस रचना पर विचार किया जा सकता है, वह है हेमचन्द रचित 'सिद्धराज हैम व्याकरण।' हेमचन्द की मृत्यु ११७२ ई० में हुई थी। अतः उसकी रचना का समय इसके पूर्व का ही मानना होगा। हेमचन्द के व्याकरण की भाषा में स्पष्ट ऐसे शब्द मिलते हैं, जो अपभ्रन्श भाषा के नहीं हैं। हेमचन्द के व्याकरण की रचना काल में, यह निश्चय है, कि हिन्दी का जन्म हो चुका था। ११८४ ई० का एक और ग्रन्थ मिलता है, जिसका नाम 'कुमार पाल प्रतिबोध' है, और जिसके लेखक का नाम सोम प्रभाचार्य है। इस ग्रन्थ की भाषा में भी हिन्दी की झलक मिलती है। सबसे बड़ा प्रमाण तो नरपति नाल्ह और चंद कवि की कविताएँ हैं। नरपति नाल्ह का समय ११५५ ई०, और 'चन्द' का समय ११६८ ई० माना जाता है। 'नरपति नाल्ह' और 'चन्द' की रचनाओं की भाषा की जब हम समीक्षा करते हैं, तब हम उनकी भाषा में स्पष्ट रूप से खड़ी बोली के रूप पाते हैं। चारण काल के इन दोनों ही कवियों की भाषा को देख कर सहज में ही यह विश्वास हो जाता है, कि हिन्दी का जन्म इनके बहुत पूर्व हो चुका था। खड़ी बोली का प्रथम कवि 'अमीर खुसरो' माना जाता है। अमीर खुसरों का समय १२५५ ई० से १३२५ ई० तक माना जाता है। अमीर खुसरों की रचनाओं से भी यह पता चलता है, कि हिन्दी का जन्म उसके बहुत पूर्व हो चुका था; क्योंकि उसकी रचनाओं में खड़ी बोली के विकसित स्वरूप मिलते हैं।

हिन्दी के जन्म के संबंध में अभी तक जिन साधनों पर प्रकाश डाला जा चुका है, उनके आधर पर निर्विवाद रूप से यह कहा जा सकता है, कि हिन्दी का जन्म १००० ई० के आस पास हो चुका था। यद्यपि हिंदी के जन्म का सूत्रपात इसके बहुत पहले हो चुका था, और वह समय सिद्ध कवियों का समय माना जा सकता है, पर १००० ई० के आस पास का समय तो ऐसा समय है, जिसमें हिन्दी के स्वरूप का पता स्पष्ट रूप से लगता है।

हिन्दी के विकास को हम तीन कालों में विभक्त कर सकते हैं—

क—आदि काल—१००० से १५०० ई० तक।

ख—मध्य काल—१५०० ई० से १८०० ई० तक।

ग—आधुनिक काल—१८०० ई० से···

आदि काल के संबंध में यद्यपि मत भेद है, फिर भी हम इसे १००० ई० से ही आरंभ हुआ मानते हैं। आदि काल में ही वह काल आता है, जो हिन्दी में चारण

आदि काल काल के नाम से प्रसिद्ध है। इस काल के प्रसिद्ध कवियों में नरपति नाल्ह, चन्द्र बरदाई, और जगनिक का नाम उल्लेखनीय है। यद्यपि नरपति नाल्ह का समय चन्द्रबरदाई के पहले का है; फिर भी लोग चंद्रबरदाई को ही हिन्दी का आदि कवि मानते हैं। चंद्रबरदाई का लिखा हुआ पृथ्वीराज रासो एक सुप्रसिद्ध ग्रंथ माना जाता है। चंद्रबरदाई के पूर्व नरपतिनाल्ह ने बीसलदेव रासो की रचना की थी। पृथ्वीराज रासो के संबंध में कुछ लोगों का कथन यह है, कि उसका कुछ भाग चंद्र के पीछे निर्मित हुआ है। इसमें संदेह नहीं, कि पृथ्वीराज रासो में कुछ प्रक्षिप्त अंश पाया जाता है, पर उसमें कितना अंश चंद का लिखा हुआ है, और कितना उसके पश्चात् का—इस संबंध में अभी तक ठीक-ठीक निर्णय नहीं हो सका है। चंद्र का ही समकालीन जगनिक था, जो महोबे में राजा परमाल के दरबार में रहता था। जगनिक के द्वारा 'आल्ह खंड' की रचना हुई है, जो आल्हा छन्द में एक गीतात्मक काव्य है। पर अभी तक इसकी कोई प्रमाणित प्रति उपलब्ध नहीं हो सकी है। इसके छन्द विभिन्न रूपों में उत्तर प्रदेश और बुन्देल खंड की जनता में प्रचलित हैं।

यह ध्यान देने योग्य बात है, कि इन कवियों का उदय उसी भू भाग में हुआ था, जिसे मध्य देश कहते हैं। उन दिनों मध्य देश में तीन मुख्य शासन केन्द्र थे—दिल्ली, कन्नौज, और महोबा। 'हिन्दी' इन्हीं शासन केन्द्रों में धीरे धीरे पल्लवित हो रही थी। अभी उसमें अंकुर लगने प्रारंभ ही हुए थे, कि मुसलमानों के आक्रमण के रूप में देश पर संकट के बादल छा गए। सर्व प्रथम उस दिल्ली को, जो हिन्दी के पोषण का केन्द्र थी, इस सङ्कट का सामना करना पड़ा। मुसलमानों के आक्रमण से हिन्दी की गति अवरुद्ध तो हो गई, पर साथ ही उसमें एक नवीनभाव ने जन्म धारण किया; अर्थात् उसमें वीरभावों की सृष्टि हुई। सर्व प्रथम वीर काव्य की सृष्टि मध्य देश में ही हुई थी; इसके पश्चात् उसकी धारा राजस्थान की ओर मुड़ गई। राजस्थान के डिंगल-कवियों ने वीर भाव-धारा को और भी अधिक आगे बढ़ाया। हिन्दी के लिए यह बड़े संकट का समय था। मुसलमानों ने दिल्ली पर आधिपत्य स्थापित करने के पश्चात् कन्नौज और महोबे को भी हस्तगत कर लिया। इस प्रकार हिन्दी के सभी पोषण केन्द्र विदेशियों के हाथों में चले गए, और हिन्दी एक प्रकार से निराश्रिता सी हो गई।

हिन्दी अपने आदि काल में बराबर परिस्थितियों के झँकोरों में पड़कर इधर-उधर भटकती रही। आदि काल के तीन चार सौ वर्षों में हिन्दी की अधिक उन्नति नहीं हो सकी। इसका कारण विदेशियों का आक्रमण था। विदेशियों के आक्रमण

से हिन्दी की गति अवरुद्ध हो उठी। इस काल में केवल कुछ वीर-काव्यों की सृष्टि हो सकी है। इन वीर काव्यों की भाषा दो प्रकार की है। एक प्रकार की भाषा तो शुद्ध राजस्थानी या गुजराती है, और दूसरे प्रकार की भाषा साहित्यिक है। प्रथम प्रकार की भाषा में प्राकृत के शब्दों की अधिकता है। यही चारणों की प्राचीन भाषा है, जिसे डिंगल कहते थे। दूसरे प्रकार की साहित्यिक भाषा में प्राचीन ब्रजभाषा, और खड़ी बोली या पंजाबी का मेल है। यह भाषा पिङ्गल के नाम से प्रसिद्ध थी। इसका हिन्दी से अधिक घनिष्ट सम्बन्ध है। पृथ्वीराज रासो डिंगल में लिखा गया है। यही कारण है, कि उसे हिन्दी का आदि काव्य कहते हैं।

हिन्दी के विकास का दूसरा काल मध्यकाल है, जो १५०० ई० के आस-पास से प्रारम्भ होता है। भाषा की दृष्टि से हम मध्यकाल को तीन वर्गों में विभक्त कर सकते

मध्य काल हैं—मिश्रित, अवधी, और ब्रज। यह पहले कहा जा चुका है, कि आदि काल में हिन्दी तीन-चार सौ वर्षों तक विपन्नावस्था में थी। यह सच है, कि इन दिनों हिन्दी की गति अवरुद्ध हो उठी थी, पर प्रकृत रूप में जनता के मध्य में उसका विकास तो हो ही रहा था। मुसलमानों के आक्रमण के कारण उन दिनों जनता में चारों ओर निराशा की भावना छा गई थी। निराशा की इस भावना को दूर करने में, तत्कालीन संतों ने अधिक योग दिया। तत्कालीन संतों ने अपनी वाणियों के द्वारा जहाँ ईश्वर-भक्ति का प्रचार किया, वहाँ उन्होंने अप्रत्यक्ष रूप से जनता को कर्तव्य, और वीर भाव की ओर पढ़ने की प्रेरणा दी। इसके लिए साधु-संतों ने जिस भाषा को ग्रहण किया, वह जनता की भाषा थी। उन दिनों जनता में कई विभाषाएँ बोली जाती थीं। जैसे—राजस्थानी, पंजाबी, खड़ी बोली, अवधी और ब्रजभाषा इत्यादि। साधु सन्तों ने अपने सिद्धांतों के प्रचार के लिए इन्हीं बोलियों और विभाषाओं से शब्द ग्रहण किए। गोरख पन्थी साधुओं की रचनाओं में यह मिश्रित भाषा साफ-साफ दिखाई पड़ती है। कबीर की रचनाओं में भी इसी मिश्रित भाषा की झलक मिलती है।

कबीर इस मिश्रित भाषा के ज़ोर पर खड़े दिखाई पड़ते हैं। कबीर के पश्चात् मध्यकाल का वह वर्ग सामने आता है, जिसे हम अवधी का वर्ग कहते हैं। कबीर की रचनाओं में भी अवधी की झलक दृष्टिगोचर होती है। कबीर के बाद अवधी ने अपना स्वरूप धारण कर लिया। इन्हीं दिनों एक दूसरी दिशा में ब्रजभाषा, और खड़ी बोली का भी धीरे-धीरे विकास हो रहा था। खड़ी बोली की गति मन्द थी, किन्तु ब्रजभाषा अवधी के समान ही उभड़ रही थी। कबीर के पश्चात् जायसी और तुलसी ने अवधी को ग्रहण किया। गोस्वामी तुलसीदास जी के समय में ब्रजभाषा अपने विकास पर थी। यद्यपि गोस्वामी तुलसीदास जी ने ब्रजभाषा में भी रचनाएँ की हैं, पर उनके महाकाव्य की भाषा मुख्य रूप से अवधी ही है। इसका कारण यह है, कि उनके आराध्य देव श्रीरामचन्द्रजी का जन्म उस अयोध्या में हुआ था, जिसकी भाषा अवधी थी। अतः स्वभावतः गोस्वामी तुलसीदास जी को अवधी

से प्रेम होना ही चाहिए था। किन्तु गोस्वामी तुलसीदासजी के पश्चात् हिन्दी-काव्य जगत से अवधी का अस्तित्व लुप्त हो गया, और उसके स्थान पर चारों ओर से व्रजभाषा का स्रोत छल छला उठा। सूर, नन्ददास, बिहारी, मतिराम और देव इत्यादि कवियों ने व्रजभाषा में ही अपनी रचनाओं का शृङ्गार किया है। हिन्दी काव्य जगत में व्रजभाषा का एक युग सा स्थापित हो गया है। काव्य के इतिहास में यह युग रीति-काल के नाम से विख्यात है।

व्रजभाषा के दो रूप में मिलते हैं। व्रजभाषा का एक रूप तो वह है, जो सूरदास जी की रचनाओं में प्राप्त होता है, और दूसरा रूप वह है, जो केशव और बिहारी इत्यादि कवियों की रचनाओं में पाया जाता है। सूरदासजी की भाषा पर यद्यपि प्राकृत और अपभ्रंश का प्रभाव स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होता है, पर मुख्य रूप से हम उसे शुद्ध व्रजभाषा कह सकते हैं। बिहारी और केशव इत्यादि कवियों की भाषा में बुन्देल खण्डी और राजस्थानी शब्दों का मिश्रण है। बिहारी के बाद कई कवियों की भाषा में अब तब फारसी के शब्द भी पाये जाते हैं।

मध्य काल में जिन दिनों अवधी और व्रजभाषा का शनैः शनैः विकास हो रहा था, उन दिनों खड़ी बोली अपने अस्तित्व में आ चुकी थी। चंद्रबरदाई, कबीर, और भूषण की रचनाओं में स्पष्ट रूप से खड़ी बोली के रूप मिलते हैं, पर जिस प्रकार अवधी और व्रजभाषा को हिन्दू कवियों ने आदर पूर्वक ग्रहण किया, उस प्रकार खड़ी बोली को उनके द्वारा हिन्दी में सम्मान न प्राप्त हो सका। इसका एक मात्र कारण यह है, कि लोग उन दिनों खड़ी बोली को मुसलमानों की बोली समझते थे। बात थी भी कुछ इसी प्रकार की। प्रारंभ में खड़ी बोली मुसलमान लेखकों के द्वारा पाली पोसी जा रही थी। यद्यपि इसकी जन्म भूमि दिल्ली के आस पास मानी जाती है, पर सर्व प्रथम हैदराबाद के मुसलमान कवियों ने इसका साहित्य में प्रयोग किया। यह मुसलमान कवि सूफी थे। उन्होंने जनता में अपने सिद्धांतों का प्रचार करने के उद्देश्य से उस समय की 'खड़ी बोली' को सर्वोत्तम समझा था, क्योंकि उन दिनों जनता में इसका सर्वाधिक प्रचार था। यद्यपि उनकी लिपि 'उर्दू' थी, पर भाषा वही थी, जिसे हम खड़ी बोली कहते हैं। यह समय चौदहवीं शताब्दी का समय कहा जा सकता है। इतिहास से इस बात के कई उदाहरण मिलते हैं, कि खड़ी बोली चौदहवीं शदी के पूर्व ही साहित्य जगत में अस्तित्व में आ चुकी थी। उत्तर भारत में साहित्य के अन्तर्गत इसका प्रयोग अठारहवीं शताब्दी में प्रारम्भ हुआ है। खड़ी बोली के अस्तित्व में आने के पूर्व उत्तर भारत के सभी मुसलमान कवि प्रायः 'अवधी', और 'व्रजभाषा' में ही रचनाएँ किया करते थे।

हिन्दी के विकास का तीसरा काल आधुनिक युग है, जो हमारे सामने विद्यमान है। आधुनिक युग को हम खड़ी बोली का युग भी कह सकते हैं। इस नवीन युग का आधुनिक काल प्रारम्भ १८०० ई० के बाद से माना जाता है। इस युग की विशेषता वह खड़ी बोली है, जो आज साहित्य के अंग-प्रत्यंगों से पुष्ट होकर

उन्नति के पथ पर अग्रसर हो रही है। यद्यपि आधुनिक युग का प्रारम्भ १८०० ई० के बाद से माना जाता है, किन्तु साहित्य-जगत में खड़ी बोली चौदहवीं शताब्दी के आस पास ही स्थान पा चुकी थी। हिंदी में सर्व प्रथम इसकी झलक १८०० ई० के आस पास लल्लूलाल जी की रचनाओं में मिलती है। १८०० ई० के आस पास का समय राजनीतिक विप्लव का समय था। हिन्दी के मुख्य क्षेत्र—मध्य देश में इस समय विप्लव की आँधियाँ सी उठ रही थीं। मरहठों और अफगानों के युद्ध ने उसकी रीढ़ तोड़ दी थी। उसके पश्चात् ही अँगरेजों और मुसलमानों का भी युद्ध हुआ। अङ्गरेजों ने सबको परास्त करके एक प्रकार से संपूर्ण मध्य देश पर अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया था। इसके पश्चात् तो अँगरेजों की शासन-सत्ता सम्पूर्ण भारतवर्ष में स्थापित हो गई।

अठारहवीं शताब्दी के आस पास में मध्यदेश में जो विप्लव की आँधी चल पड़ी थी, उसका प्रभाव हिन्दी के ऊपर भी मुख्य रूप से पड़ा। ब्रजभाषा का प्रवाह जो इसके पूर्व जोर पर था, विप्लव की आँधी से सूख गया। उधर दूसरी ओर 'उर्दू' के रूप में 'खड़ी बोली' अपनी प्रगति के पथ पर थी। अङ्गरेजों के प्रोत्साहन से हिन्दी के क्षेत्र में भी 'खड़ी बोली' ने पदार्पण किया। सर्व प्रथम हमें खड़ी बोली के दर्शन लल्लूलाल जी द्वारा रचित 'प्रेम सागर', और सदल मिश्र के नासिकेतो पाख्यान में मिलते हैं। किन्तु उनकी खड़ी बोली ऐसी है, जिस पर ब्रजभाषा का अधिक प्रभाव है। उसमें ब्रजभाषा के इतने अधिक रूप मिलते हैं, कि एक प्रकार से यदि उसे ब्रजभाषा ही कहा जाय, तो अत्युक्ति न होगी। किन्तु इसके साथ ही साथ यह भी ठीक है, कि उनकी भाषा में खड़ी बोली के रूप भी मिलते हैं। लल्लूलाल जी के पश्चात् राजा शिव प्रसाद सितारे हिन्द ने भी इस दिशा में कुछ प्रयत्न किया। पर उनके और लल्लूलाल जी के प्रयत्न में अन्तर है। लल्लूलालजी के प्रयत्नों में जहाँ संस्कृत शब्दों की अधिकता है, वहाँ राजा शिव प्रसाद अरबी और फारसी के शब्दों को आधार मान कर आगे बढ़ते हुए दिखाई देते हैं। मुंशी सदासुख और इंशा अल्ला खां ने भी, अपनी रचनाओं के द्वारा हिन्दी में खड़ी बोली को प्रोत्साहन प्रदान किया।

पर हम इसे खड़ी बोली का प्रथम प्रयास ही कहेंगे। अपने प्रारम्भ से लेकर भारतेन्दुजी तक खड़ी बोली ने हिन्दी-साहित्य के भीतर जो मार्ग बनाया है, उसकी कोई निश्चित रूप-रेखा नहीं जान पड़ती। गद्य और पद्य दोनों ही क्षेत्रों में उसके अलग-अलग रूप मिलते हैं। किसी में संस्कृत के तत्सम शब्दों की प्रधानता है, तो किसी में अरबी और फारसी के शब्दों की। क्रिया-पदों के प्रयोगों और शब्दों के स्थापन में पूर्ण रूप से अनियमितता दृष्टिगोचर होती है। हिन्दी-साहित्य के अन्तर्गत खड़ी बोली का व्यवस्थित स्वरूप सर्व प्रथम हमें भारतेन्दु जी की रचनाओं में मिलता है। भारतेन्दुजी के पूर्व जो खड़ी बोली अव्यवस्थित रूप में थी, उसे भारतेन्दुजी ने व्यवस्था के साँचे में ढाला है। गद्य और पद्य दोनों ही क्षेत्रों में उन्होंने विधि पूर्वक खड़ी

बोली की स्थापना की। उनके जीवन काल में ही, उन्हीं के द्वारा प्रतिष्ठित होकर खड़ी बोली प्रगति के मार्ग पर चलने लगी थी। उनके समकालीन पं० प्रतापनारायण मिश्र, पं० बाल कृष्ण भट्ट, और पं० माधव प्रसाद मिश्र इत्यादि ने हिन्दी खड़ी बोली को अधिक प्रोत्साहन प्रदान किया। आर्य समाज के प्रवर्तक स्वामी दयानन्द के आंदोलन से भी हिन्दी खड़ी बोली को अधिक गति प्राप्त हुई। मुद्रण कला में प्रचार और अँगरेजी के संपर्क को पाकर हिन्दी खड़ी बोली प्रगति के पथ पर दौड़ने लगी। पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी ने उसे अग्रसर होने के लिए नव शक्ति प्रदान की। इस प्रकार कुछ ही दिनों में खड़ी बोली हिन्दी की मुख्य साहित्यिक भाषा बन गई।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के पूर्व साहित्य-क्षेत्र में ब्रजभाषा का राज्य था। खड़ी बोली का प्रचार होने पर 'ब्रजभाषा' की गति मन्द तो पड़ गई; किन्तु कुछ दिनों तक उसके लिए भी क्षीण प्रयास होता रहा है। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र जी ने स्वयं ब्रजभाषा में कविताएँ की हैं। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र जी के पश्चात् हरिऔध, पं० श्रीधर पाठक, और 'रत्नाकर' इत्यादि कवि भी ब्रजभाषा के माधुर्य लोभ को संवरण नहीं कर सके हैं; पर उनका प्रयास उन्हीं तक सीमित रह गया है। खड़ी बोली की आज जो वेगगामी धारा बह रही है, उसमें उनका वह प्रयास एक बूँद ही की भाँति ज्ञात होता है।

किन्तु ब्रजभाषा अब भी बोली के रूप में अपने स्थान में मौजूद है। इसी प्रकार अवधी, राजस्थानी, और बिहारी इत्यादि हिन्दी की विभाषाएँ और बोलियाँ भी पहले की भाँति ही अपने स्थानों में बोली जाती हैं। बोल चाल के रूप में इन सभी विभाषाओं और बोलियों का अपने अपने क्षेत्रों में प्रयोग होता है, पर इन सब के क्षेत्र में भी साहित्यिक पद का गौरव खड़ी बोली को ही प्राप्त है। 'खड़ी बोली' इन भाषाओं को जीवन देती है, और वह स्वयं भी उनसे जीवन और चेतना ग्रहण करती है। यद्यपि इन भाषाओं और बोलियों के स्वरूप में परिवर्तन होता जा रहा है, पर यह तो ठीक ही है, कि वे इस समय भी अपने पूर्ण अस्तित्व में हैं।

हिन्दी का शब्द-भण्डार

किसी भी भाषा की परीक्षा उसके शब्दों से ही की जाती है। जिस भाषा में जितने ही अधिक शब्द होते हैं; दूसरे शब्दों में जिस भाषा के शब्द-भंडार में जितने ही अधिक मनोभावों को व्यक्त करने वाले शब्द पाए जाते हैं, वह भाषा उतनी ही अधिक सक्षम, और शक्ति शालिनी मानी जाती है। इस दृष्टि से जब हम हिन्दी की आलोचना करते हैं, तो हमें यह मानना पड़ता है, कि हिन्दी का भंडार शब्दों के लिए अधिक पर्याप्त है। हिन्दी के पास शब्दों को उत्पन्न करने वाले इतने अधिक साधन हैं, कि उनके द्वारा वह किसी भी भाव के लिए शब्दों की सृष्टि कर सकती है।

हिन्दी के पास शब्दों की उत्पत्ति के लिए कई साधन हैं। इन साधनों में सबसे बड़ा साधन तो संस्कृत भाषा है। हिन्दी संस्कृत की पुत्री मानी जाती है। संस्कृत ऐसी भाषा है, जिसमें शब्दों की सृष्टि की अमोघ शक्ति है। एक तो संस्कृत में स्वयं अधिक शब्द हैं, दूसरे उसमें शब्दों के सृजन की अपूर्व शक्ति है। अतः हिन्दी को शब्दों का अभाव कभी प्रतीत न होगा। हिन्दी के शब्दाभाव को पूर्ण करने के लिए संस्कृत के पास शब्दों का अक्षय कोष है। शब्दों की आवश्यकता की पूर्ति के लिए हिन्दी के पास दूसरा साधन उसकी विभाषाएँ, और बोलियाँ हैं। यह सत्य है, कि विभाषाओं और बोलियों में साहित्य की दृष्टि से शक्तिशाली शब्दों का अभाव होता है, पर हिन्दी की कई ऐसी विभाषाएँ हैं, जो साहित्य की दृष्टि से अधिक महत्व पूर्ण हैं। इन विभाषाओं में ऐसे शब्दों की कमी नहीं है, जो हिन्दी में पहुँच कर उसकी शोभा को बढ़ा सकेंगे। इन विभाषाओं के न जाने कितने शब्द हिन्दी के साहित्य-भण्डार में आ चुके हैं, और इसी प्रकार बराबर आते ही रहेंगे। हिन्दी की बोलियाँ भी हिन्दी शब्द-भण्डार को भरने में बड़ी सहायिका हैं। बोलियाँ अपनी मुख्य भाषा के लिए शब्दों की खराद का काम करती हैं। हिन्दी की बोलियाँ अब तक न जाने कितने शब्दों को खराद कर हिन्दी के शब्द-भंडार में पहुँचा चुकी हैं।

किसी भी भाषा के शब्द-भंडार की जब हम परीक्षा करते हैं, तब हमें मुख्य रूप से उन साधनों पर ध्यान देना होता है, जिनके द्वारा शब्द किसी भी भाषा में आते

शब्दागमन के साधन

हैं। भाषा-विज्ञान के इतिहास से पता चलता है, कि किसी भी भाषा में शब्द निम्नांकित साधनों से आते हैं:—

क—उन प्राचीन भाषाओं से जिनसे उस भाषा का सम्बन्ध होता है।
ख—उन विदेशी भाषाओं से, जिनसे समय-समय पर उसका सम्बन्ध स्थापित होता है।
ग—विभाषाओं और बोलियों से।

हिन्दी शब्द भंडार में आज जो शब्द हैं, वे भी इन्हीं साधनों के द्वारा हिन्दी में आये हुए हैं। हम यह पहले कह चुके हैं, कि हिन्दी में शब्दों का अभाव नहीं है। हिन्दी के शब्दों को हम निम्नांकित वर्गों में बाँट सकते हैं:—

क – संस्कृत या प्राकृत से आने वाले शब्द।
ख – देशज शब्द।
ग—अनुकरणात्मक शब्द।
घ—द्विज।
च—तत्समाभास।
छ—अर्द्ध तद्भव।
ज—अनार्य भाषाओं से आने वाले शब्द।
झ—प्रतिध्वनि शब्द।
ट—विदेशी भाषाओं के शब्द।

संस्कृत या प्राकृत से जो शब्द हिन्दी के शब्द भंडार में आए हैं, वे दो प्रकार के हैं—एक प्रकार के शब्दों को हम तत्सम, और दूसरे प्रकार के शब्दों को तद्भव

संस्कृत या प्राकृत के शब्द — कहते हैं। तत्सम शब्द उन शब्दों को कहते हैं, जो संस्कृत से निकल कर अपने विशुद्ध और वास्तविक रूप में हिन्दी साहित्य में व्यवहृत होते हैं। हिन्दी-साहित्य में ऐसे शब्दों की संख्या अधिक परिमाण में है। ऐसे शब्दों की संख्या दिनों दिन और भी अधिक बढ़ती जा रही है। इसका एक मात्र कारण हिन्दी की नवीन आवश्यकताएँ हैं। समय और स्थिति के अनुसार हिन्दी को ज्यों ज्यों आवश्यकताएँ पड़ती जा रही हैं, वह संस्कृत से नए नए शब्दों को ग्रहण करती जा रही है। कुछ विद्वान् ऐसे हैं, जो जान-बूझ कर अपनी भाषा में तत्सम शब्दों का अधिक प्रयोग करते हैं। इस प्रकार तत्सम शब्दों की संख्या, हिन्दी के शब्द-भंडार में दिनों दिन अधिक बढ़ती जा रही है। तत्सम शब्दों का प्रयोग दो ढङ्ग से किया जाता है। अधिकांशतः तत्सम शब्दों का प्रयोग संस्कृत की विधि से ही होता है, पर कुछ ऐसे भी तत्सम शब्द हैं, जो हिन्दी में प्रयुक्त होने पर हिन्दी के नियमों के अनुशासन में आ जाते हैं। जैसे—राजा, पिता, और नदी आदि।

तद्भव शब्द उन शब्दों को कहते हैं, जो संस्कृत से सीधे हिन्दी में न आकर प्राकृत से होते हुए आए हैं। जैसे—साँप और काज इत्यादि। तद्भव शब्दों का प्रयोग साहित्य में बहुत कम होता है। जो भी तद्भव शब्द साहित्य में हैं, वे दिनों दिन निकलते जा रहे हैं। जनता की बोलियों में तद्भव शब्दों की प्रचुरता है। तद्-

भव शब्दों में कुछ तो ऐसे हैं, जो संस्कृत से निकले हुए हैं। पर इधर-उधर मध्य कालीन भाषाओं में भटकने के कारण उनका रूप अधिक बिगड़ गया है। कुछ शब्द ऐसे भी हैं, जिनके सम्बन्ध में यह नहीं कहा जा सकता, कि वे संस्कृत के हैं। पर उन्हें भी हम 'तद्भव' ही कहते हैं। क्योंकि उनका रूप भी अधिक परिवर्तित जान पड़ता है।

'तत्सम' और 'तद्भव' के अतिरिक्त इसी वर्ग के कुछ ऐसे भी संस्कृत शब्द हैं, जो आधुनिक काल में विकृत हुए हैं। जैसे—अगिन और बच्छ इत्यादि। ऐसे शब्दों को अर्द्ध तत्सम शब्द कहते हैं।

'देशज' शब्द हिन्दी में अधिक संख्या में मिलते हैं। 'देशज' शब्द किसे कहते हैं—इस सम्बन्ध में अभी तक ठीक-ठीक विवेचन नहीं किया जा सका है। साधारण

देशज रूप से लोग देशज शब्द उनको कहते हैं, जो विभिन्न बोलियों और विभाषाओं से हिन्दी में आ गए हैं। कौन सा देशज शब्द किस विभाषा या बोली से निर्गत हुआ है, यह खोज की वस्तु है। 'तेंदुआ' और 'खिड़की' आदि देशज शब्द हैं। किन्तु इनका प्रचलन किस प्रकार हिन्दी में हुआ—इस पर ठीक-ठीक मत व्यक्त नहीं किया जा सकता।

मनुष्य की भाषा का विकास अनुकरण के सिद्धांत पर हुआ है; अर्थात किसी वस्तु या पदार्थ के गिरने या बजने से जब जिस प्रकार की ध्वनि निकली, तो उसी

अनुकरणात्मक ध्वनि के आधार पर मनुष्य ने शब्द गढ़ लिए। जैसे यदि वस्तु या पदार्थ से 'खटखट' की आवाज हुई तो उसने 'खटखटाना' सीख लिया। हिन्दी में ऐसे बहुत से शब्द मिलते हैं, जो ध्वनियों के अनुकरण के आधार पर बने हैं। जैसे खटखटाना, चटचटाना, और 'फड़फड़ाना' इत्यादि। इस प्रकार के शब्दों को ध्वनि अनुकरणात्मक शब्द कहते हैं।

'द्विज' का अर्थ होता है, दो से उत्पन्न। अपने शब्द के अर्थ के अनुसार द्विज उन शब्दों को कहते हैं, जो भाषाओं में दो शब्दों के मिलने से बनते हैं। हिन्दी में इस प्रकार के कई शब्द बोले और लिखे जाते हैं। साहित्य में भी इस प्रकार के शब्दों का प्रयोग प्रायः देखने में आता है। जैसे 'कौंसिल निर्वाचन', और 'अमन-सभा' इत्यादि।

बहुत से शब्द ऐसे प्रचलित हैं, जो तत्सम के समान ही लगते हैं, किन्तु वास्तव में देखा जाय तो वे तत्सम नहीं हैं। इस प्रकार के शब्द हिन्दी में अधिक संख्या में

तत्समाभास हैं, और उनका प्रयोग भी अधिक दिनों से हो रहा है। इन शब्दों का आगमन किस प्रकार हुआ है, और यह कहाँ से हिन्दी में आए हैं—इसका ठीक ठीक निर्णय नहीं किया जा सकता। इन्हीं शब्दों को तत्समाभास शब्द कहते हैं। जैसेः—श्राप, प्रण, और क्षत्राणी इत्यादि।

कुछ ऐसे भी शब्द हैं, जिन्हें न तो तत्सम ही कहा जा सकता है, और न तद्भव

ही ! उनकी गणना देशज शब्दों में भी नहीं की जा सकती। जैसे: --'मौसा'। इसका

अर्द्ध तद्भवाभास स्त्री लिङ्ग 'मौसी' है, जो 'ई' प्रत्यय लगाने से बनता है। पर 'मौसा' तत्सम है, या तद्भव, और या देशज—यह कुछ नहीं कहा जा सकता। इस प्रकार के शब्द भी हिन्दी में अधिक प्रचलित हैं। इस प्रकार के शब्दों को 'अर्द्ध तद्भवाभास' कह सकते हैं।

हिन्दी में ऐसे शब्द भी प्रचलित हैं, जो अनार्य भाषाओं के हैं। प्राचीन काल में अनार्य भाषाओं के कुछ शब्द संस्कृत में आ गए थे, और संस्कृत से ही उनका आग-

अनार्य भाषा के शब्द मन हिन्दी में हुआ है। हिन्दी में ऐसे शब्दों का प्रयोग 'तत्सम' और 'तद्भव' के ही रूप में किया जाता है। वर्तमान द्राविण भाषाओं से हिन्दी में जो शब्द आये हैं, उनका प्रयोग बुरे रूप में किया जाता है। हिन्दी का 'पिल्ला' शब्द द्राविण भाषा से लिया गया है। द्राविण भाषा में इसका शुद्ध रूप 'पिल्लै' है, जिसका अर्थ पुत्र होता है। किन्तु हिन्दी में इसका प्रयोग 'कुत्ते के बच्चे' के लिये किया जाता है।

हिन्दी में ऐसे शब्द भी प्रचलित हैं, जो शब्दों की ध्वनि से उत्पन्न हुए हैं। ऐसे शब्दों को हम प्रति ध्वनित शब्द कह सकते हैं। जैसे—'धोड़ा-धोड़ा'। 'धोड़ा'

प्रतिध्वनित धोड़ा की ध्वनि से उत्पन्न हुआ है। इस प्रकार के शब्द बंगाली, मराठी, और गुजराती इत्यादि प्रान्तीय भाषाओं में मिलते हैं। भाषा शास्त्रियों का कहना है, कि प्रति ध्वनित शब्दों की यह प्रवृत्ति हिन्दी तथा अन्य प्रान्तीय भाषाओं में द्राविड़ भाषाओं से ग्रहण की गई है।

हमारे देश पर विदेशियों के बराबर आक्रमण हुए हैं। प्राचीन काल से लेकर अब तक विदेशियों के कई वर्ग हमारे देश में आ चुके हैं। उनकी संस्कृति

विदेशी भाषाओं के शब्द और भाषा का हमारे देश की संस्कृति और भाषा पर अधिक प्रभाव पड़ा है। प्राचीन काल में जो भी जातियाँ भारतवर्ष में आईं, उनकी संस्कृतियाँ और भाषा इस समय हमारे देश की संस्कृति और भाषा के गर्भ में समाविष्ट हो गई है। इसलिए उनका चिह्न अब कहीं ढूँढने पर दृष्टिगोचर नहीं होता। पर मुसलिम और ब्रिटिश संस्कृति तथा भाषा का प्रभाव इस समय स्पष्ट रूप से हमारे देश की संस्कृति और भाषा पर दिखाई देता है। इसका कारण यह है, कि इन दोनों ही संस्कृतियों, और भाषाओं के विधायकों की शासन-सत्ता अभी थोड़े ही दिन हुए भारत से विदा हुई है। संभव है, कालांतर में इनका प्रभाव भी हमारे देश की संस्कृति और भाषा में उसी प्रकार विलीन हो जाय, जिस प्रकार कई प्राचीन जातियों की संस्कृतियाँ और भाषाएँ विलीन हो चुकी हैं।

अँगरेजी, और मुसलिम संस्कृति का प्रभाव इस समय स्पष्ट रूप से हमारे देश की संस्कृति पर झलकता हुआ दिखाई देता है। संस्कृति की तरह हमारे देश की भाषाएँ भी अँगरेजी, अरबी, फारसी, तथा तुर्की आदि विदेशी भाषाओं से

प्रभावित हैं। हिन्दी में अँगरेजी और अरबी फारसी तथा तुर्की के अनेक शब्द प्रचलित हैं। अँगरेजों का राज्य लगभग तीन सौ वर्ष तक भारतवर्ष में रहा। इतने दीर्घ समय तक भारतवर्ष में रहने के कारण अँगरेजों, और भारतीय जनता का अधिक सम्पर्क बढ़ गया था। अँगरेजी के बहुत से शब्द हिन्दी में आ गए हैं, और उसमें इस प्रकार घुल-मिल गए हैं, कि उनका निकालना अधिक कठिन सा ज्ञात होता है। अँगरेजी के अनेक शब्द हिन्दी में प्रचलित हैं। जैसे—इंसपेक्टर, कलक्टर, कान्फ्रेंस, कामा, कालिज, गजट, गार्ड, थर्मामेटर, बटेलियन, बटन, मजिस्ट्रेट इत्यादि। अँगरेजी शब्दों की भाँति कुछ पुर्तगाली और फ्रांसीसी शब्द का प्रयोग भी हिन्दी में होता है। जैसे—गोदाम, चाबी, और तंबाकू इत्यादि। 'कारतूस' और 'कूपन' इत्यादि फ्रांसीसी भाषा के शब्द हैं। 'तुरुप' का हिन्दी में 'डच' से आगमन हुआ है।

अङ्गरेजों के पूर्व भारतवर्ष पर मुसलमानों का राज्य था। मुसलमानों का आगमन प्रायः १००० ई० से भारतवर्ष में आरंभ हो चुका था, और लगभग छः सौ वर्षों तक उनका भारतवर्ष से शासक रूप में सम्बन्ध था। भारत में आने वाले मुसलमानों में अरबी, फारसी, तुर्की और पश्तो इत्यादि भाषाओं का प्रचार था। अतः परिणाम स्वरूप अरबी, फारसी, तुर्की और पश्तो इत्यादि भाषाओं के शब्द भारतीय भाषाओं में आ गए हैं। मध्यदेश की भाषा होने के कारण हिन्दी में इस प्रकार के शब्द अधिक संख्या में पाये जाते हैं। जैसे:—आका, गलीचा, तुरुक, चाकू, बीबी, बेगम और बहादुर इत्यादि।

हिन्दी में जो भी विदेशी शब्द आए हैं, अब वे हिन्दी के बन गए हैं। इन संपूर्ण शब्दों पर अब हिन्दी का प्रभाव है। इन शब्दों का प्रयोग हिन्दी में, हिन्दी की विधि से किया जाता है। इनमें बहुत से ऐसे शब्द हैं, जिनका रूप अब बदल गया है। कुछ दिनों के पश्चात् इनका रूप इतना बदल जायगा, कि उनकी सत्ता का आभास भी कठिनाई से ही ज्ञात हो सकेगा। भाषा विज्ञान के नियमों के अनुसार वे धीरे धीरे हिन्दी के गर्भ में विलीन हो जायेंगे।

—:o:—

३
हिन्दी काव्य

विषय सूची

१—साहित्य का मूल स्रोत ९१
(अ) साहित्य और मानव हृदय, (आ) मानव हृदय और सौंदर्य प्रियता, (इ) साहित्य के दो स्वरूप, (ई) साहित्य और भाव, (उ) साहित्य और कला, (ऊ) साहित्य और जगत, (ए) साहित्य और देश साहित्य की अपनी विशेषताएँ, (ऐ) भारतीय जीवन की विशेषताएँ, (ओ) भारतीय जीवन और हिन्दी साहित्य।
२—काल विभाग ९९
(औ) हिन्दी साहित्य के चार काल-विभाग, (अं) संधि काल।
३—संधि काल १०१
(अः) नामकरण का कारण, (क) युग का विचार प्रवाह, (ख) संधि काल का साहित्य, (ग) सिद्ध साहित्य, (घ) जैन साहित्य, (ङ) नाथ साहित्य, (च) लौकिक साहित्य—शृङ्गार, मनोरंजन और प्रेम, (छ) संधि काल के साहित्य का सिंहावलोकन।

४—वीर गाथा काल ११२
(अ) वीर गाथा काल—नामकरण का कारण, (आ) राजनीतिक और सामाजिक स्थिति (अ) हिन्दी का आदि साहित्य, (ट) डिंगल, (ठ) प्रबन्ध काव्य, (ड) वीर गीत, (ढ) स्फुट रचनाएँ, (ण) वीर गाथा काल के साहित्य का सिंहावलोकन।
५—भक्ति काल १२०
(त) भक्ति काल के उद्भव का कारण, (थ) राजनीतिक, सामाजिक और धार्मिक स्थिति (द) भक्ति काल के साहित्य का प्रकार, (ध) ज्ञानाश्रयी शाखा के कवि, (न) ज्ञानाश्रयी शाखा के साहित्य का सिंहावलोकन, (प) प्रेमाश्रयी शाखा के कवि, (फ) प्रेमाश्रयी शाखा के साहित्य का सिंहावकोलक, (ब) राममक्ति शाखा, (भ) रामभक्ति शाखा के कवि, (म) रामभक्ति शाखा के साहित्य का सिंहावलोकन (य) कृष्ण भक्ति और उसका उद्भव, (र) कृष्ण भक्ति शाखा के कवि, (ल) कृष्ण भक्ति शाखा के साहित्य का सिंहावलोकन।
६—रीति काल १७७
(व) रीति काल और उसका नाम, (श) रीति काल का युग, (ष) रीति काल की प्रवृत्तियाँ, (स) रीतिकाल के कवि, (ह) रीतिकाल का स्फुट साहित्य, (क्ष) स्फुट साहित्य के कवि, (क) रीतिकाल के साहित्य कासिंहावलोकन।
७—आधुनिक काल २०६
(ख) राजनीतिक स्थिति—एक सूक्ष्म प्रकाश, (ग) सामाजिक स्थिति—एक चित्र, (घ) आधुनिक कविता का उदय, (ङ) खड़ी बोली का विकास, (च) आधुनिक कविता के तीन वर्ग, (छ) आधुनिक कविता-प्रथम उत्थान, (ज) प्रथम उत्थान के कवि, (झ) हिन्दी कविता और खड़ी बोली, (ञ) हिन्दी कविता-द्वितीय उत्थान, (ट) द्वितीय उत्थान के कवि, (ठ) द्वितीय उत्थान के अन्यान्य कवि, (ड) हिन्दी कविता तृतीय उत्थान, (ढ) हिन्दी कविता में वाद-अभिव्यंजनवाद, (ण) उपयोगितावाद, (त) व्यक्ति वैचित्र्यवाद, (थ) यथार्थवाद, (द) आदर्शवाद, (ध) समाजवाद और समष्टिवाद, (न) गाँधी वाद, (प) रहस्यवाद, (फ) छायावाद, (ब) प्रगतिवाद, (भ) तृतीय उत्थान के कवियों का वर्गीकरण, (म) नवीन भाववादी कवि, (य) ब्रजभाषा के कवि, (र) खड़ी बोली के नवीन कवि, (ल) रहस्यवाद और छायावाद के कवि, (व) विभिन्न भाव-धारा के कवि।
८—आधुनिक काल-गद्य २७७
(श) हिन्दी गद्य के जन्म का कारण, (ष) खड़ी बोली, (स) खड़ी बोली के गद्य की प्राचीन कहानी, (अ) गद्य की प्रारम्भिक स्थिति, (आ) भारतेन्दु युग का गद्य, (इ) पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी और हिन्दी गद्य, (ई) नागरी प्रचारिणी सभा और स्वर्गीय श्यामसुन्दरदास, (ए) समालोचना, (ऐ) नाटक, (ओ) उपन्यास, (औ) आख्यायिका, (अं) निबन्ध, (अः) जीवन चरित्र।

—:०:—

साहित्य का मूल स्रोत

साहित्य और मनुष्य का अधिक निकट का सम्बन्ध है। मेरा अपना यह मत है, कि मनुष्य अपने जीवन के आदि काल से ही साहित्यिक है। साहित्य के नाम पर आज विश्व में जो सपदा पाई जाती है, वह मानव हृदय की ही देन है। मानव हृदय में, विभिन्न विकारों के रूप में समय-समय पर जो विचार निकलते रहते हैं, उन्हीं के व्यवस्थित रूप-कोष का ही नाम साहित्य है। मानव हृदय अनन्त विचारों, और अनुभूतियों का भंडार है। साहित्य के रूप में आज मानव हृदय के जो विचार और अनुभूतियाँ हमें मिलती हैं, वे इतनी विशाल हैं, कि वामन रूप धारी विष्णु भी उनके ओर-छोर का पता अपने डगों से नहीं लगा सकते। कितनी नई नई अनुभूतियाँ और विचार अभी मानव हृदय से निकलेंगे, और बराबर निकलते रहेंगे—इसका भी अनुमान कोई त्रिकालज्ञ, और त्रिकाल द्रष्टा नहीं लगा सकता।

साहित्य और मानव हृदय

मनुष्य चिंतनमय प्राणी है। वह बराबर सोचता, समझता, और विचार करता है। चिन्तन उसका स्वभाव है। वह जगत को देख कर सोचता है, जगत की वस्तुओं को देख कर सोचता है, दृश्यों को देख कर सोचता है, और स्थितियों को देख कर सोचता है। सोचना और विचार करना ही उसके जीवन का व्यापार है। सोचने और विचार करने से उसके हृदय में विभिन्न प्रकार के मनोविकारों का जन्म होता है। कभी वह क्रोध से उन्मत्त हो जाता है, तो कभी प्रेम से विभोर हो जाता है। कभी कभी दया और सहानुभूति उसके प्राणों को पिघला देती है। इसी प्रकार नाना प्रकार के मनोविकार उसके हृदय में बराबर उठते ही रहते हैं। मनुष्य के हृदय में जब इन विकारों का वेग उठता है, तब वह अपनी वाणी के द्वारा उसे व्यक्त करता है। इन्हीं विकारों को ही वह भाषा के सूत्र में भी गूँथता है। इससे उसके हृदय को आनन्द प्राप्त होता है, और दूसरे लोग भी उसके विचारों से अवगत हो जाते हैं।

मनुष्य आदि काल से ही इसी प्रकार अपने विचारों को प्रगट करता चला आ रहा है। विचारों को प्रगट करने की प्रवृत्तियाँ मनुष्य के स्वभाव के भीतर हैं। विचारों को प्रगट करने की मानव-प्रवृत्तियों ने ही साहित्य को जन्म दिया है। आज जो साहित्य हमारे संमुख है, उसका कारण मनुष्य की वे प्रवृत्तियाँ ही हैं, जिनसे विवश होकर वह अपने विचारों को प्रगट करता है। भविष्य का साहित्य भी इन्हीं प्रवृत्तियों का

प्रतिफल होगा। इस प्रकार हम कह सकते हैं, कि साहित्य का मूल स्रोत मनुष्य की विचार प्रगट करने की प्रवृत्तियों में छिपा हुआ है।

किन्तु केवल 'विचार' और 'साहित्य' में अधिक अन्तर होता है। 'विचार' जहाँ शरीर का एक ढाँचा मात्र है, वहाँ 'साहित्य' प्राणमय है। 'विचार' जहाँ एक क्षेत्र मात्र है, वहाँ 'साहित्य' हरीतिमा, और भाँति-भाँति के फूलों से सजा हुआ है; दूसरे शब्दों में साहित्य 'रसमय', 'सुन्दर', और प्राणमय है। यों तो मनुष्य के हृदय से अनेक प्रकार के विचार निकलते हैं, पर हम उन सभी 'विचारों' को साहित्य की संज्ञा नहीं दे सकेंगे। साहित्य की संज्ञा मनुष्य के उन्हीं विचारों को मिलती है, जो सुसंस्कृत, रसमय, प्राणमय और सुन्दर होते हैं। मानव प्रकृति का अध्ययन करने से

मानव हृदय और सौंदर्य प्रियता

पता चलता है, कि सौंदर्य प्रियता की प्रवृत्ति मानव में आदि काल से ही है। एक ओर जहाँ उसमें विचारों को सौंदर्य प्रियता प्रगट करने की प्रवृत्ति पाई जाती है, दूसरी ओर उसमें सौन्दर्य प्रियता और 'रसमयता' की भी प्रवृत्ति पाई जाती है। मनुष्य अपने जीवन के आदि काल से ही अपने विचारों को सुसंस्कृत, सुन्दर, और 'रसमय' बनाता चला आ रहा है। 'साहित्य' में मानव के सुन्दर, प्राणमय, और रसमय विचारों का ही गुंफन हुआ है। साहित्य का मूल उद्देश्य ही है आनन्द। जो जितना ही अधिक अपने विचारों को 'रस' में घोलता है, वह उतना ही अधिक साहित्य के उद्देश्य के सन्निकट पहुँचता है। पर बहुधा यह सभ्यता और संस्कृति के ऊपर निर्भर करता है। देश और काल का भी इसके ऊपर प्रभाव पड़ता है। विश्व के साहित्य में जो आनन्द-विभेदता दृष्टिगोचर होती है, उसका एक मात्र कारण सभ्यता और संस्कृति की विषमता तथा देश और काल की विभिन्नता है।

इस प्रकार मनुष्य के विचारों के दो वर्ग हो जाते हैं। एक वर्ग में तो मनुष्य के वे विचार हैं, जो केवल विचार मात्र रहते हैं, और दूसरे वर्ग में वे विचार आते

साहित्य के दो स्वरूप

हैं, जो सरस, सुन्दर, और प्राणमय होते हैं। साहित्य के आचार्यों ने मानव की इन्हीं दोनों प्रवृत्तियों को दृष्टि में रख कर साहित्य को दो पक्षों में विभाजित किया है—भाव पक्ष, और कला पक्ष। भाव और कला-दोनों ही के मूल में मानव के मन के विचार हैं, पर दोनों का अपना पृथक-पृथक स्वरूप, और पृथक-पृथक क्षेत्र है। यद्यपि साहित्य रूपी शरीर दोनों के ही संयोग से निर्मित होता है, और साहित्य शरीर की रचना के लिए दोनों का संयोग अनिवार्य भी है; पर बाह्य स्थितियों के कारण साहित्य की रचना में दोनों का संयोग प्रायः समान रूप से नहीं हो पाता। साहित्य की रचना में कभी भाव पक्ष प्रबल हो जाता है, तो कभी कला पक्ष। वास्तव में साहित्य वही सुन्दर, और श्रेष्ठ है; जिसमें दोनों ही पक्षों का उचित रूप से विकास होता है।

मनुष्य भावमय प्राणी है। उसके हृदय की बनावट ऐसी है, कि उसमें भावों के स्रोत निरन्तर फूटा ही करते हैं। भावों के यह स्रोत बाह्य स्थितियों, और दृश्यों के

साहित्य और भाव

कारण फूटते हैं। यद्यपि सभी मनुष्यों के हृदय में स्रोत फूटते हैं, पर उनकी अनुभूति और उनका बोध केवल उस हृदय को ही होता है, जिसे हम कवि या लेखक का हृदय कहते हैं। एक किसी विशेष घटना को देख कर साधारण हृदय का व्यक्ति केवल 'आह' 'ऊह' करके ही रह जाता है, पर कवि हृदय का मनुष्य उसका हृदयंगम करता है, और भाव के रूप में उसे बाहर निकालता है। कवि या लेखक हृदय से निकला हुआ यही भाव साहित्य की संपत्ति होता है। साहित्य के क्षेत्र में भाव का अधिक मूल्य होता है। जिस साहित्य में हृदय की जितनी ही अधिक गहराई का भाव होता है, वह साहित्य उतना ही अधिक गंभीर और स्थायी होता है। इसके साथ ही साथ यह कहना भी अधिक उचित, और संगत होगा, कि जिस साहित्य में जितने ही अधिक परमोज्वल भाव होंगे, वह साहित्य उतना ही अधिक परमोज्वल, उन्नत, और श्रेष्ठ समझा जायगा। साहित्य की श्रेष्ठता भाव की ही ओर देखती है। अतः कहना पड़ेगा, कि भाव साहित्य का प्राण होता है।

भाव के कितने रूप होते हैं—कुछ कहा नहीं जा सकता। जिस प्रकार सागर के गर्भ में अनेक प्रकार की वस्तुएँ पाई जाती हैं, उसी प्रकार मानव हृदय में भी नाना प्रकार के भाव अन्तर्निहित रहते हैं। भाव अनेक प्रकार के होने के साथ ही साथ अधिक विचित्र भी होते हैं। भावों के वैचित्र्य का कारण मानव-प्रकृति है। मानव प्रकृति और प्रकृति विचित्रताओं का भंडार है। साहित्य में जो वैचित्र्य है, उसका कारण मानव प्रकृति की विचित्रता ही है। साहित्य में अनेक रूपता भी मानव प्रकृति की अनेक रूपता के ही कारण पाई जाती है। साहित्य के अनेक अंग और उपांग हैं। जैसे—कविता, कहानी, नाटक, और उपन्यास आदि। साहित्य के इन अंगों और उपांगों का एक मात्र आधार मानव प्रकृति की अनेक रूपता, और उसका वैचित्र्य है। पर इस अनेक रूपता और वैचित्र्य में भी भाव एक ऐसी शृंखला है, जो सभी अंगों और उपांगों को परस्पर आबद्ध किए हुए रहता है; दूसरे शब्दों में भाव ही एक साधन है, जो सब की अनेकरूपता और वैचित्र्य में साम्य स्थापित किये रहता है। अतः यह कहना ही पड़ता है, कि भाव साहित्य जगत का प्राण होता है।

भाव और कला-दोनों का अन्योन्याश्रय संबंध है। भाव के द्वारा हम अपने हृदय की इच्छाओं, विचारों और आकांक्षाओं को व्यक्त करते हैं। कला हमारे विचारों

साहित्य और कला

को सुन्दरता का स्वरूप प्रदान करती है; दूसरे शब्दों में हम कला के द्वारा अपने विचारों में सौन्दर्य और चमत्कार उत्पन्न करते हैं। साहित्य जगत में भाव के साथ ही साथ कला का भी अधिक मूल्य है। यदि भाव साहित्य का प्राण है, तो कला उस प्राण को धारण करने वाला शरीर। साहित्य क्षेत्र में भाव, भाषा के भीतर अंतर्निहित रहता है, पर भाषा को मुखरित और प्राणमय बनाने का काम कला ही के द्वारा होता है। कला ही के द्वारा भाषा में शब्दों का उचित संस्थापन और संगठन किया जाता है। कला ही भाषा को ओजस्विनी और प्रवाहमय

बनाती है, जिसके भीतर भाव झलक कर अपनी अमूल्यता को प्रमाणित करता है। भाव का सम्बन्ध साहित्य में उसके अंतर्जगत से होता है। कला साहित्य के बाह्य जगत का अभिसार करती है; दूसरे शब्दों में कला का संबन्ध छन्द, शैली और भाषा से होता है। छन्द, शैली और भाषा में चमत्कार तथा ओजस्विता कला के ही द्वारा उत्पन्न होती है।

कला और भाव की विवेचना से यह प्रगट होता है, कि साहित्य का क्षेत्र अधिक व्यापक है। साहित्य की रचना सदा सर्वत्र हुई है, और सदा सर्वत्र होती रहेगी। यदि

साहित्य और जगत

हम विश्व के साहित्य की समीक्षा करें, तो हम यह देखेंगे, कि 'कला' और 'भाव' के क्षेत्र में उनमें परस्पर कितना साम्य है; अर्थात् भारतवर्ष के कालिदास की यदि हम इंगलैण्ड के शेक्सपियर, और यूनान के होमर से तुलनात्मक आलोचना करें, तो हमें यह पता चलेगा, कि यद्यपि दोनों की अपनी अपनी पृथक-पृथक जातीय विशेशताएँ हैं, पर फिर भी दोनों ने ही कला और भाव के क्षेत्र में एक सा ही प्रयत्न किया है, इतना ही नहीं बल्कि हमें इस बात का पता लगेगा, कि दोनों का ही भाव और दोनों की 'कला' 'सत्' की ही दिशा की ओर जा रही है। दोनों ही की कला का एक ही उद्देश्य है—शिवम्, हितम्, और सुन्दरम्। इससे यह प्रगट होता है, कि साहित्य की भावना मानव-प्रकृति के मूल में विद्यमान है। यद्यपि विश्व के राष्ट्रों में परस्पर जातिगत, संस्कारगत, और धर्मगत विषमताएँ हैं, पर कौन यह नहीं कह सकता, कि साहित्य इन विषमताओं की विद्यमानता में भी सब में साम्य स्थापित किये हुए है। आज के विश्व के मानव समाज में जो साम्य और मैत्री है, वह साहित्य की ही देन है।

यह सत्य है, कि भाव और कला के क्षेत्र में विश्व के संपूर्ण साहित्य में साम्य है, पर इसके साथ ही साथ यह भी सच है, कि प्रत्येक देश के साहित्य में अपनी कुछ

साहित्य और देश साहित्य की अपनी विशेषताएँ

विशेषताएँ होती हैं। प्रत्येक देश की भौगोलिक स्थिति और जलवायु में अधिक अन्तर होता है। भौगोलिक स्थिति और जलवायु का मनुष्य के विचारों और संस्कृति पर अधिक प्रभाव पड़ता है। साहित्य मनुष्य के संस्कृतिक विचारों के ही भंडार को कहते हैं। अतः प्रत्येक देश के साहित्य का गठन उसके सामाजिक विचारों के ही आधार पर हुआ करता है। जिस देश के मनुष्यों के जिस प्रकार के विचार हुआ करते हैं, उस देश का उसी प्रकार का साहित्य भी होता है। प्रत्येक देश के साहित्य में उसकी संस्कृति और उसके परंपरागत विश्वासों से छन कर जो विचार साहित्य कोष में एकत्र होते रहते हैं, वे उसकी जातीय सम्पत्ति होते हैं। उसकी समीक्षा करके हम यह जान सकते हैं, कि उस देश या जाति की अपनी किस प्रकार की और कितनी विशेषताएँ हैं। प्रत्येक देश को अपनी इन विशेषताओं पर अधिक गर्व हुआ करता है।

यूरोप और भारत के साहित्य की यदि हम समीक्षा करें, तो हमें यह राष्ट्र-गत

विशेषताएँ प्रत्यक्ष रूप में दिखाई पड़ेंगी। यूरोप और भारत के साहित्य में जहाँ कला और भाव के क्षेत्र में साम्य है, वहाँ दोनों की अपनी पृथक पृथक विशेषताएँ हैं। यूरोपीय 'कला', और साहित्य जहाँ भौतिकता की ओर उन्मुख है, वहाँ भारतीय साहित्य और कला में आध्यात्मिकता या आदर्श भावनाओं का समावेश है। इसका मुख्य कारण हमारे देश की भौगोलिक स्थिति और जलवायु है। हमारे देश की भौगोलिक स्थिति और जलवायु जीवन के अधिक अनुकूल हैं। इसलिए यहाँ के मनुष्यों को जीवन की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए प्रकृति से अधिक संघर्ष नहीं करना पड़ता। वे अपना अधिक समय ईश्वर चिंतन और अध्यात्म में ही सदा से लगाते रहे हैं। यही कारण है, कि हमारे देश की 'कला' और साहित्य में आध्यात्मिक भावनाओं का अधिक समावेश है। इसके प्रतिकूल यूरोपीय मनुष्य भौगोलिक स्थिति और जलवायु की विपरीतता के कारण जीवन की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए निरंतर प्रकृति से ही संघर्ष करते रहते हैं। उनके जीवन का अधिकांश समय निरंतर अपने जीवन की आवश्यकताओं की पूर्ति की चिंता में ही व्यतीत होता है। यही कारण है, कि उनकी कला और उनका साहित्य भौतिकता की ओर उन्मुख है।

प्रत्येक देश को अपने साहित्य की राष्ट्र और जाति-गत विशेषताओं पर गर्व हुआ करता है। कभी-कभी इन विशेषताओं में परिवर्तन भी होता है। जब कभी देश में किसी बाहरी जाति या संस्कृति का आगमन होता है, तो साहित्य की विशेषताओं पर भी इसका प्रभाव पड़ता है। किन्तु जीवित जातियाँ शक्ति भर, अपने साहित्य की जातीय विशेषताओं की रक्षा का प्रयत्न करती हैं। कभी कभी समय और स्थिति के अनुसार भी साहित्य में परिवर्तन उपस्थित होता है। किन्तु यह परिवर्तन प्राचीनता के ही आधार पर किया जाता है। नवीन विशेषताओं के प्रगट होने पर भी प्राचीन विशेषताएँ अक्षुण्ण रहती हैं। जीवित और जाग्रत जातियाँ अपने साहित्य की प्राचीन जातीय विशेषताओं को जीवन का महा मन्त्र समझती हैं। वे क्रांति और परिवर्तन के झँकोरों में भी उनकी रक्षा करती हैं, और अपने जीवन के कल्याण के लिए उनके अस्तित्व को बनाये रखती हैं।

भारतीय जीवन की विशेशताएँ

'साहित्य' और मानव जीवन का विवेचन करने से यह बात प्रगट होती है, कि वह भाषा अधिक गौरव पूर्ण होती है, जिसमें जातीय साहित्य के सृजन करने की अखंड शक्ति होती है; दूसरे शब्दों में जो अपने गुणों की तूलिका से राष्ट्र की आत्मा का चित्रांकन करने में सक्षम होती है। इस दृष्टि से जब हम हिन्दी पर विचार करते हैं, तो हम उसे एक बलवती और सुदृढ़ भाषा पाते हैं। 'हिन्दी' का जन्म 'संस्कृत' और 'प्राकृत' से हुआ है। 'संस्कृत' और 'प्राकृत' यह दोनों ऐसी भाषाएँ हैं, जो युगों तक भारत की आत्मा का चित्रांकन करती रही हैं। 'भारत' की संपूर्ण जीवन सम्बन्धी विशेषताएँ 'संस्कृत' और 'प्राकृत' में विद्यमान हैं। 'संस्कृत' और 'प्राकृत' से प्रसूता होने के कारण 'हिन्दी' में भी वह योग्यता और क्षमता है, जो राष्ट्र की आत्मा के चित्रांकन के लिए

परमावश्यक समझी जाती है। 'संस्कृत' और 'प्राकृत' की संपूर्ण सम्पत्ति उत्तराधिकार के रूप में हिन्दी को प्राप्त है। हिन्दी की इस सर्व संपन्नता को देख करके ही उसे राष्ट्र भाषा के पद पर आसीन किया गया है।

हिन्दी का जो साहित्य इस समय हमारे सामने है, उसकी समीक्षा करने से यह ज्ञात भी होता है, कि हिन्दी के साहित्य में राष्ट्र की आत्मा प्रति फलित हो रही है। भारत की अपनी जो जातीय विशेषताएँ हैं, और जिनके लिये भारतवर्ष विश्व के इतिहास में अधिक गौरवान्वित है, उनका चित्रांकन हिन्दी-साहित्य में यथोचित रूप से हो रहा है। अइये, अब यह देखें, कि भारतीय जीवन की अपनी विशेषताएँ क्या हैं? भारतवर्ष एक धार्मिक देश है। धार्मिक भावनाओं का शुद्ध रूप में विकास भारतवर्ष में ही हुआ है। धर्म और जीवन दोनों ही हमारे देश में घुल मिल गये हैं। समाज, राजनीति, और अर्थ-सभी क्षेत्रों में हमारे देश में धर्म का प्रभुत्व है। दैनिक व्यवहारों से लेकर जीवन के गहन और गूढ़ कर्मों तक में धर्म समाविष्ट है। हमारे देश की यह पहली विशेषता है, जो विश्व के इतिहास में कहीं और नहीं दिखाई पड़ती।

धार्मिक होने के कारण हमारा देश सबसे अधिक अध्यात्मवादी है। 'आत्मा' और 'परमात्मा' की खोज हमारे देश में ही सबसे अधिक हुई है। आध्यात्मिक होने के कारण हमारे देश में मानव हृदय की सद्वृत्तियों का भी अधिक व्यापार हुआ है। दया, करुणा, और सहानुभूति आदि सद् वृत्तियों का जितना विकास हमारे देश में हुआ है, उतना अन्यत्र और कहीं नहीं दिखाई पड़ता।

भारतीय जीवन की दूसरी विशेषता उसकी समन्वय की भावना है। हमारे जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में समन्वय की यह भावना दिखाई देती है। धर्म, समाज, अर्थ, राजनीति, और साहित्य-प्रत्येक क्षेत्र में समन्वय का सिद्धांत ही अपना ताना-बाना बुनता प्रतीत होता है। धर्म के क्षेत्र में भक्ति, कर्म, और ज्ञान का अपूर्व समन्वय दिखाई देता है। जीवन के क्षेत्र में चतुष्टय आश्रम का निरूपण किया गया है। इसी प्रकार समाजिक क्षेत्र में चतुर्वर्णों का समन्वय है। साहित्य और कला के क्षेत्र में भी समन्वय वाद का विकास हुआ है। साहित्य के क्षेत्र में मानव-हृदय की विरोधी प्रवृत्तियों, जैसे—हर्ष, शोक, दुख, सुख, उत्थान और पतन का चित्रण आनन्द के ही पक्ष में किया गया है। इसी प्रकार कला और नाटकों के क्षेत्र में भी समन्वयवाद की प्रतिस्थापना मिलती है।

भारतीय जीवन की तीसरी विशेषता है, उसकी भावात्मकता। जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में भावात्मकता पूर्ण रूप में विराजमान है। भावात्मकता से तात्पर्य है, भावुकता। प्रत्येक वस्तु को भावुकता की दृष्टि से ही देखना भारतीय जीवन की प्रधानता है। भारतीय जीवन में भावात्मकता होने के कारण उसमें अध्यात्मिकता की भावना भी अधिक है। अध्यात्मिक होने के साथ ही साथ भारतीय जीवन संगीतमय और कलामय है। संगीत और कला के क्षेत्र में—हमारे देश ने अधिक उन्नति की है।

भारतीय जीवन की चौथी विशेषता है उसका प्रकृति के साथ संयोग। भारतवर्ष प्रकृति का देश है। हमारे देश में प्रकृति विभिन्न रूपों में दृष्टि गोचर होती है। हमारे देश में प्रकृति के विभिन्न रूप और उसकी अवस्थाएँ जीवन के लिए बड़ी अनुकूल सिद्ध हुई हैं। यही कारण है, कि हमारे देश के जीवन में प्रकृति की भावना मुख्य रूप से पाई जाती है। प्रकृति में परिवर्तन होने के साथ ही साथ हमारे देश का जीवन भी परिवर्तित होता जाता है। खान पान, रहन सहन, सङ्गीत, कला प्रत्येक क्षेत्र में प्रकृति का प्रभाव जीवन पर अखंड रूप से पड़ता है।

अब हमें इस बात पर दृष्टि डालनी है, कि क्या वस्तुतः हिन्दी के साहित्य में भारतीय जीवन की विशेषताएँ प्रतिबिम्बित हो रही हैं? क्या वस्तुतः 'साहित्य' और 'भाषा' की वैज्ञानिक परिभाषा के अनुसार 'हिन्दी' सदाम और योग्य है? क्या वस्तुतः वह अपनी मर्यादाओं का पालन कर रही है? इन प्रश्नों के उत्तर के लिए हमें हिन्दी साहित्य के प्राचीन और अर्वाचीन इतिहास पर दृष्टि डालनी होगी। हिन्दी साहित्य में धार्मिक साहित्य की प्रचुरता है। धार्मिक भावना हिन्दी-साहित्य के भीतर इतनी अधिक पाई जाती है, कि साहित्य के भीतर उसका एक युग सा ही स्थापित हो गया है। कबीर, सूर और तुलसी इत्यादि महाकवि धार्मिक भावना को ही ग्रहण करके आगे बढ़े हैं। धार्मिक भाव कई रूपों में साहित्य के भीतर प्रतिफलित हुआ है। जैसेः—सगुण, निर्गुण, प्रेम पंथ, और रहस्यवाद इत्यादि। एक ओर तो धार्मिक भाव है, दूसरी ओर जीवन पर भी बड़ी सुन्दरता के साथ प्रकाश डाला गया है। एक ओर दर्शन और शास्त्रों के ऊँचे ऊँचे गहन सिद्धांतों पर प्रकाश डाला गया है; दूसरी ओर सांसारिकता का निरूपण भी बड़ी मनोहरता के साथ किया गया है। एक ओर विरक्ति की भावना है, तो दूसरी ओर सांसारिक जीवन का विकास भी मिलता है। इस प्रकार समन्वय की भावना हिन्दी-साहित्य के क्षेत्र में पूर्ण रूप से प्रतिफलित हुई

भारतीय जीवन और हिन्दी साहित्य

है। कबीर से लेकर आधुनिक काल तक के सम्पूर्ण साहित्य में समन्वयवाद का ही विकास प्राप्त होता है। भाव और कला का संयोग भी हिन्दी साहित्य के भीतर बड़े अपूर्व ढङ्ग से हुआ, और हो रहा है। कबीर से आधुनिक काल तक सर्वत्र भाव की ही प्रतिस्थापना मिलती है। तुलसी, सूर, जायसी, और बिहारी इत्यादि महाकवियों ने भाव के क्षेत्र से अपूर्व प्रसिद्धि प्राप्त की है। आधुनिक काल के महाकवियों में प्रसाद, पंत, 'निराला' और श्रीमती महादेवी का स्थान सर्वोपरि है। कलात्मक दृष्टिकोण भी इन महाकवियों का प्रशंसनीय है। 'कला' के क्षेत्र में तुलसी, सूर, केशव, बिहारी, पन्त, प्रसाद, श्रीमती महादेवी और निराला इत्यादि कवियों ने अपनी प्रसिद्धि की सुदृढ प्राचीर बनाई है। 'संगीत मयता' का विकास भी उनमें प्रचुर रूप से मिलता है। तुलसी, सूर, कबीर और मीरा के द्वारा संगीत और काव्य के संयोग स्थापन के अनुपम दृष्टांत स्थापित हुए हैं। आधुनिककाल के कवियों में पन्त, निराला, प्रसाद,

और श्रीमती महादेवी वर्मा ने काव्य के क्षेत्र में संगीत की आराधना बड़ी तन्मयता से की है।

प्रकृति का चित्रण भी हिन्दी के साहित्य में हुआ है। इस प्रकार हम यह कह सकते हैं, कि भारतीय जीवन की विशेषताएँ पूर्ण रूप से हिन्दी-साहित्य में प्रतिबिम्बित हो रही हैं; दूसरे शब्दों में भारतीय जीवन के अनुरूप ही हिन्दी साहित्य निर्मित हो रहा है। 'भारतीय जीवन' और हिन्दी साहित्य पर जब हम विचार करते हैं, तो यह देखते हैं, कि हिन्दी साहित्य का विकास भी भारतीय जीवन के उत्थान पतन के साथ ही साथ हो रहा है। हिन्दी साहित्य के चार युग —वीरगाथा काल, भक्ति काल, रीतिकाल और आधुनिक काल का निर्माण भारतीय जीवन के अनुरूप ही हुआ है। भारतीय जीवन जब विदेशियों के आक्रमण से छिन्न भिन्न हो रहा था, हिन्दी साहित्य का वह आदि काल था। आवश्यकता के अनुरूप उस समय वीर भाव पूर्ण कविताएँ रची गईं। इन वीर भाव पूर्ण कविताओं के काल को ही 'वीरगाथा काल' कहते हैं। इसके पश्चात् देश के जीवन में 'निराशा' और दुःख का वातावरण दिखाई देता है। इस स्थिति के अनुरूप ही साहित्य के भीतर धार्मिक भावनाओं का विकास हुआ है, जिसे भक्ति काल कहते हैं। भक्ति काल के पश्चात् देश में शान्ति और स्थिरता दृष्टिगोचर होती है, जो 'शृंगार' के रूप में साहित्य के अंन्तर्गत अविभूत हुई है। यही शृंगार भावना साहित्य में रीतिकाल के नाम से प्रसिद्ध है। रीतिकाल के पश्चात् देश में नए जीवन का संचार होता है। अंगरेजी सभ्यता और संस्कृति के संपर्क से जीवन में नई चेतना का उदय होता है। 'साहित्य' में भी जीवन की नई चेतना जागृत होती है। उसी 'चेतना' के जागरण के परिणाम स्वरूप साहित्य में 'आधुनिक काल' की सृष्टि हुई है। आधुनिक युग नवीन चेतनाओं का युग है। आज के हमारे जीवन में नवीन चेतनाओं की एक झङ्कार सी आ गई है। यद्यपि इन संपूर्ण चेतनाओं में 'जीवन' और स्थायित्व नहीं है, पर युग के अनुरूप उनका प्रवेश हमारे जीवन में होता जा रहा है। ज्यों ज्यों उनका प्रवेश हमारे जीवन में होता जा रहा है, त्यों त्यों उनकी छवि भी साहित्य में उतरती जा रही है। छायावाद, प्रयोगवाद, और प्रगतिवाद इत्यादि इन्हीं नवीन चेतनाओं का फल है। नवीन चेतनाओं से उत्पन्न यह 'वाद' साहित्य के प्रवाह में कहाँ तक आगे बढ़ सकेंगे, कुछ कहा नहीं जा सकता, पर साहित्य तो इन्हें अपने प्रवाह में लिए हुए आगे बढ़ा जा रहा है।

काल-विभाग

विश्व का प्रत्येक साहित्य दो भागों में विभक्त है—कविता, और गद्य। विश्व के साहित्य का मन्थन करने से यह बात ज्ञात होती है, कि प्रत्येक भाषा के साहित्य में सर्व प्रथम उस रचना का आविर्भाव हुआ है, जिसे हम 'पद्य' या कविता कहते हैं। हिन्दी भाषा के साहित्य में भी सर्व प्रथम 'रचना' के रूप में 'कविता' का ही विकास हुआ है। अतः हम सब प्रथम हिन्दी-कविता के ही इतिहास और उसके विकास पर प्रकाश डालेंगे।

साहित्य जन समाज के हृदय का प्रतिबिंब होता है। जन समाज के हृदय में जिस प्रकार के विचारों का उदय होता है, उसी के अनुसार उसके साहित्य का भी निर्माण होता है। 'हिन्दी' के जन्म से लेकर और आज तक उसकी जनता के हृदय में विचारों का किस प्रकार परिवर्तन हुआ है, और किस प्रकार राजनीतिक, सामाजिक और सांप्रदायिक स्थितियों ने उसके जीवन को आंदोलित किया है—इसका पता हमें हिन्दी साहित्य के इतिहास से भली भाँति लग जाता है, क्योंकि जन-समाज के वे संपूर्ण विचार हिन्दी साहित्य के कोष में सुरक्षित हैं।

साहित्य कोष में सुरक्षित जन समाज के उन विचारों की जब हम समीक्षा करते हैं, तो हम उन्हें चार भागों में विभक्त करते हैं:—आदि काल, या वीर गाथा काल (सम्वत् १०५०—१३७५), पूर्व मध्य काल या भक्ति काल (१३७५—१७००), उत्तर मध्य काल, या रीति-काल (१७००—१९००), आधुनिक काल या गद्य काल (१९००—२०१०)। इसका तात्पर्य यह है, कि सम्वत् १०५० से लेकर १३५० तक जन समाज की चित्त वृत्तियाँ वीर भावों की ओर मुख्य रूप से उन्मुख थीं। इसके पश्चात् १३७५ से उनके जीवन में परिवर्तन उपस्थित हुआ, जो १७०० तक भक्ति-भावनाओं के रूप में जन समाज के हृदय को आंदोलित करता रहा। १७०० के पश्चात् पुनः परिवर्तन उपस्थित हुआ; परिणाम स्वरूप जीवन का प्रवाह शृङ्गार की ओर मुड़ा, जिससे साहित्य में भी शृंगारिक भावनाओं का समावेश हुआ। सम्वत् १९०० तक शृंगारिक भावनाएँ जीवन में बनी रहीं। इसके पश्चात् जीवन में पुनः विचारों की आँधी उठीं, जिसके परिणाम स्वरूप आधुनिक काल की सृष्टि हुई।

हिन्दी साहित्य के चार काल-विभाग

जनता की चित्त वृत्तियों की दृष्टि से साहित्य को हमने चार कालों में विभक्त किया है—यही 'चार काल' मिल कर हिन्दी-साहित्य के समूचे इतिहास की सृष्टि करते हैं; दूसरे शब्दों में इन्हीं चारों कालों की समष्टि को हिन्दी साहित्य का इतिहास कहते हैं।

किन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं है, कि वीर गाथा काल में जनता की चित्त वृत्तियाँ केवल वीरता की ही ओर उन्मुख थीं; दूसरे शब्दों में वीर गाथा काल में केवल वीर भावों का ही चित्रण हुआ। प्रत्येक काल की रचनाओं की समीक्षा करने से यह प्रगट होता है, कि प्रत्येक काल में 'काल' की मुख्य भावनाओं के अतिरिक्त भी रचनाएँ हुई हैं। जैसे—वीर गाथा काल में ऐसी भी रचनाएँ हुई हैं, जिन्हें हम शृंगारिक रचनाएं कह सकते हैं। इसी प्रकार रीतिकाल में भी ऐसी बहुत सी रचनाएँ हुई हैं, जो वीर भावों से उद्दीप्त हैं। फिर यह प्रश्न उठता है, कि साहित्य के इस काल-विभाग का आधार क्या है? इसका उत्तर साहित्य के प्रत्येक 'काल-विभाग' के नाम में ही समाविष्ट है। जिस विभाग का जो नाम रक्खा गया है, उससे यह प्रगट होता है, कि यद्यपि उस काल के अन्तर्गत जन-समाज की चित्त वृत्तियों का झुकाव अन्यान्य ओर भी था, किन्तु उनमें वीरता, या भक्ति, या रीति, और या नवीन चेतनाओं का मुख्य रूप से समावेश था। जिस काल की चित्त वृत्तियों में जिसकी मुख्यता रही है, उसी के आधार पर इन 'कालों' का नाम करण किया गया है।

यों तो हिन्दी-साहित्य का इतिहास चार कालों में ही विभक्त है, पर जब हम हिन्दी के आदि काल पर दृष्टि डालते हैं, तो ज्ञात होता है, कि आदि काल के बहुत पूर्व से

संधिकाल हिन्दी भाषा में रचनाएँ होती चली आ रही हैं। यद्यपि इन रचनाओं की न तो कोई शृंखला है, और न साहित्य की दृष्टि से उनका कोई विशेष मूल्य ही निश्चित किया जा सकता है, किन्तु फिर भी इतना तो निश्चित ही है, कि हिन्दी के विकास में उनसे अधिक सहायता प्राप्त हुई है। एक साहित्य के विद्यार्थी के लिए इन रचनाओं के संबंध में भी ज्ञान प्राप्त करना अधिक आवश्यक है, क्योंकि इसका ज्ञान प्राप्त किये बिना वीर गाथा काल की रचनाओं की भाषा और शैली का भली भाँति बोध न हो सकेगा।

वीर गाथा काल के पूर्व की इन रचनाओं को हम संधिकाल की रचनाएँ कहेंगे, क्योंकि ये रचनाएँ जिस काल में हुई हैं, वह भाषा और शैली की दृष्टि से संधिकाल समझा जाता है; अर्थात् उन दिनों साहित्यिक अपभ्रंश रूढ़ि बन कर जन समाज के हृदय के सिंहासन से नीचे खिसकती जा रही थी, और उसके स्थान को जन समाज की भाषाएँ, जिन्हें हम मगही, और 'शौरसेनी' इत्यादि कह सकते हैं, ग्रहण करती जा रही थीं। 'भाषा', शैली के इसी संधिकाल में उन रचनाओं का निर्माण हुआ है। इसी लिए हम उन्हें सन्धि काल की रचनाएँ कहते हैं।

—:o:—

सन्धि काल

हिन्दी साहित्य का शृङ्खला पूर्ण इतिहास वीरगाथा काल से प्रारम्भ होता है। किन्तु हिन्दी भाषा में रचनाएँ वीरगाथा काल के बहुत पूर्व से होती चली आ रही हैं। यद्यपि साहित्यिक दृष्टि से इन रचनाओं में स्थायित्व नहीं है। पर भाषा और शैली के विकास में उनसे अधिक सहायता प्राप्त हुई है। अतः हिन्दी-साहित्य के इतिहास के अध्ययन में इन रचनाओं का भी अधिक महत्व पूर्ण स्थान है। इन रचनाओं को हम 'सन्धिकाल' की रचनाएँ कहते हैं।

नाम करण का कारण

'सन्धिकाल' नाम में एक अर्थ छिपा हुआ है। भाषा के इतिहास में इस बात का उल्लेख किया जा चुका है कि हिन्दी के जन्म के पूर्व अपभ्रंश भाषाओं का आधिपत्य था। जिस युग की हम बात कर रहे हैं, उस समय दो प्रकार की भाषाएँ प्रचलित थीं। एक तो साहित्यिक अपभ्रंश थी, जिसका सम्मान केवल विद्वत् समाज में था, और दूसरी वे बोलियाँ थीं, जो जन समाज में प्रचलित थीं। शनैः शनैः साहित्यिक प्राकृत ने अधिक दुरूहता का स्वरूप धारण कर लिया और वह जन समाज से बिलकुल पृथक हो गई। जन समाज से पृथक होने के कारण उसकी शक्ति क्षीण होने लगी। उधर अपभ्रंश का तो ह्रास होने लगा, और इधर जन समाज में प्रचलित बोलियां सुसंस्कृत होकर उन्नति की ओर अग्रसर होने लगीं। परिणाम स्वरूप 'शौरसेनी' अपभ्रंश से हिन्दी का जन्म हुआ। जिस प्रकार शौरसेनी अपभ्रंश से हिन्दी का उद्भव हुआ, उसी प्रकार मागधी और नागर अपभ्रंश भाषाओं से भी अर्ध मागधी इत्यादि जन भाषाओं का जन्म हुआ, और इन्हीं में रचनाएँ होने लगीं। एक ओर तो अपभ्रंश भाषाओं में, जो शनैः शनैः क्षीण होती जा रही थीं, रचनाएँ हो रह थीं, और दूसरी ओर अर्ध मागधी इत्यादि भाषाओं में भी रचनाएँ होने लगीं, जो अपभ्रंश से उत्पन्न होकर बढ़ रही थीं। इस प्रकार तत्कालीन युग की रचनाओं में दो दो शैलियों और दो दो भाषाओं का संगम दिखाई देता है; इसीलिये इन रचनाओं को हम संधिकाल की रचनाएँ कहते हैं।

आज हम जिसे हिन्दी कहते हैं, उसका प्रारंभिक स्वरूप हमें मागधी में मिलता है। यही कारण है, कि हम हिन्दी साहित्य के इतिहास की लड़ी को अर्द्ध मागधी की उन रचनाओं से जोड़ते हैं, जो वीर गाथा काल के पूर्व उसमें की गई थी। हिन्दी

का विकास होने पर अर्ध मागधी इत्यादि जन सभाएँ उसमें समाविष्ट हो गईं, इसलिए उनकी साहित्यिकता अक्षुण्ण न रह सकी। आज अपने क्षेत्र में वेएक बोली के रूप में विद्यमान हैं। उनके साहित्यिक सिंहासन पर हिन्दी को ही आसीन होने का गौरव प्राप्त है।

संधि काल संवत् ७५० से लेकर १२०० तक माना जाता है। संधि काल को यदि हम धार्मिक और आध्यात्मिक युग की संज्ञा दें तो अत्युक्ति न होगी। सन्धि काल

युग का विचार-प्रवाह

में मुख्य रूप से धार्मिक क्षेत्र में तीन प्रकार की मान्यताएँ थीं—बौद्ध, जैन, और नाथ सम्प्रदाय। सन्धि काल का पूर्ण साहित्य इन तीनों धार्मिक केन्द्रों का प्रतिबिम्ब है। अतः हम यहाँ तीनों ही धार्मिक दृष्टिकोणों पर सूक्ष्म रूप से प्रकाश डालने की चेष्टा करेंगे।

बौद्ध धर्म के संस्थापक महात्मा बुद्ध थे। ईसा के ४८३ वर्ष पूर्व महात्मा बुद्ध ने इस धर्म की नींव डाली थी। इस धर्म की आधार-शिला अहिंसा, सहानुभूति, समता और दुःख रहित निर्वाण की प्राप्ति थी। शनैः शनैः बौद्ध मत का व्यापक प्रचार हुआ। एक प्रकार से यह पृथ्वी के कई देशों का धर्म माना जाने लगा। अधिक व्यापक हो जाने के कारण शनैः शनैः इसके मूल में परिवर्तन भी उपस्थित होने लगा; परिणाम स्वरूप ईसा की पहली शताब्दी में यह दो सम्प्रदायों में विभाजित हो गया—'महायान', और 'हीन यान'। 'महायान' के रूप में बौद्ध धर्म में लौकिक बातों का भी समाविवेश किया गया; और निर्वाण प्राप्ति के लिए संन्यास की भावना को प्रधानता दी गई, साथ ही वर्ग-भेद को भी उठा दिया गया। पर 'हीनयान' के रूप में बौद्ध धर्म की मूल भावना को अक्षुण्ण रक्खा गया। 'हीनयान' का स्वरूप 'ज्ञानार्जन' 'चिंतन' और व्रतादि की कठिन मर्यादा पर ही स्थित था। पर आगे चल कर जब शङ्कराचार्य और कुमारिल भट्ट का आविर्भाव हुआ, तब बौद्ध धर्म को अधिक संघर्षों का सामना करना पड़ा। गुप्त काल में कई भागवतानुयायी राजाओं ने भी बौद्ध धर्म के मार्ग में कठिनाइयाँ उपस्थित कीं। शङ्कराचार्यजी के वैदिक धर्म प्रतिष्ठा के प्रयत्न और उनके शैव धर्म ने बौद्ध धर्म की उन्नति के मार्ग ही अवरुद्ध कर कर दिए, जिससे बौद्ध धर्म एक प्रकार से निःशक्त-सा हो उठा।

पर बौद्ध धर्म के आचार्यों ने धैर्य न छोड़ा, उन दिनों चारों ओर शैव मत का वेग से प्रचार हो रहा था। जन समाज का आकर्षण भी धीरे धीरे शैव मत की ओर बढ़ता जा रहा था। इसका कारण शैव मत की चमत्कार पूर्ण शक्तियाँ थीं, जो तन्त्र, मन्त्र, और अभिचार इत्यादि के द्वारा उत्पन्न की जाती थीं। 'बौद्धमत' के आचार्यों ने भी अपने मत के प्रचार के लिए तन्त्र, मन्त्र, और अभिचार इत्यादि को ग्रहण किया। इतना ही नहीं, धर्म की स्थिरता के लिए बौद्ध मत में योग, समाधि, और डाकिनी शकिनी की सिद्धि के लिए भी प्रयत्न किया जाने लगा। इस प्रकार बौद्धमत मन्त्रों के द्वारा सिद्ध प्राप्त करने वालों का एक दल बन गया। जो लोग मन्त्रों के द्वारा सिद्धि प्राप्त कर लेते थे, वे सिद्ध कहे जाते थे। इन सिद्धों में कई ऐसे लोग

हुए हैं, जिन्होंने साहित्य में रचनाएँ भी की हैं। इन्हीं सिद्धों की ही रचनाएँ साहित्य के क्षेत्र में 'सिद्ध-साहित्य' के नाम से विख्यात हैं।

शनैः शनैः बौद्ध धर्म तन्त्रों और मन्त्रों का केन्द्र बन गया। 'महायान' के सारे सिद्धांत लुप्त हो गए, और उनके स्थान पर 'मन्त्रयान' की प्रतिस्थापना हुई। 'नागार्जुन' मन्त्रयान के सबसे बड़े आचार्य हुए हैं। उनका प्रमुख केन्द्र दक्षिण का श्री पर्वत था। उत्तर भारत में जब बौद्ध धर्म का बिलकुल उन्मूलन हो गया, तो श्री पर्वत ही बौद्धों की साधना का प्रमुख केन्द्र था। ईसा के ८६० ई० के लगभग मन्त्रयान में भैरवी चक्र के रूप में 'मद्य' और 'मैथुन का समावेश किया गया। इस प्रकार 'मन्त्रयान' 'वज्रयान' के रूप में परिवर्तित हुआ। यह 'वज्रयान' लगभग तीन सौ वर्षों तक चलता रहा, और इसके पश्चात् इसका भी पूर्ण रूप से अधः पतन हो गया।

'सिद्ध काल' के क्षेत्र में एक ओर बौद्ध मत की धारा बह रही थी, तो दूसरी ओर जैन धर्म का प्रवाह भी लोगों के हृदय को आप्लावित कर रहा था। बौद्ध और जैन-दोनों ही धर्मों का जन्म स्थल भारतवर्ष ही है, पर बौद्ध धर्म की अपेक्षा जैन धर्म हिन्दू धर्म के अधिक सन्निकट है। जैन पुराणों के अनुसार जैन धर्म की स्थापना चौदह 'कुलकरों' के द्वारा हुई है। इन 'कुलकरों' ने ही पृथ्वी पर जन्म लेकर सर्व प्रथम ज्ञान का प्रसार किया। 'आदि' कुलकर का नाम प्रतिश्रुति था. जिन्होंने जगत को 'सूर्य' और 'चंद्र' के ज्ञान की शिक्षा दी थी। कुलकरों के पश्चात् ऋषभ देव का आविर्भाव हुआ, जिनके द्वारा धर्म की स्थापना हुई। ऋषभ देव की ज्येष्ठ पुत्री का नाम ब्राह्मी था। उन्होंने अपनी पुत्री के लिए एक लिपि का निर्माण किया, जिसे 'ब्राह्मी' लिपि कहते हैं। उन्होंने जगत को कृषि के साथ ही साथ 'असि', और 'मसि' की भी शिक्षा दी। जैन धर्म के मतानुसार 'लेखन कला' और 'लिपि' का जन्म सर्व प्रथम ऋषभ देव के ही द्वारा हुआ है। ऋषभ देव के पश्चात् जैन ग्रन्थों में तीर्थंकरों के युग का उल्लेख है। अब तक कुल २४ तीर्थंकर हुए हैं, जिन्होंने ऋषभ देव द्वारा स्थापित धर्म के प्रचार और प्रसार में मङ्गल जनक योग दिया है। महावीर चौबीसवें तीर्थंकर थे, जिनके द्वारा जैन धर्म का व्यवस्था पूर्ण और प्रशंसनीय संगठन हुआ है।

जैन धर्म का सिद्धांत 'अहिंसा', और आनन्द है। जैन धर्म में ईश्वर को चित्त के आनन्द के ही रूप में स्वीकार किया जाता है। जैन धर्म में ईश्वर एक आदर्श सत्ता है, जिसका संसार से कोई संबंध नहीं है। उसे सृष्टि का नियामक न मान कर, एक विशुद्ध और पूर्ण 'आत्मा' के ही रूप में माना जाता है। 'दया', 'करुणा', और सहानुभूति तो, जैन धर्म में मुख्य रूप से प्रतिस्थापना की गई है। संपूर्ण कर्मों से से 'दया' और 'करुणा' को श्रेष्ठता प्रदान की गई है। 'जीवन' की सर्व व्यापकता जैन धर्म की अपनी विशिष्ट वस्तु है। जैन धर्म के सिद्धांतों के अनुसार प्रकृति की छोटी से छोटी वस्तु में भी जीवन की गति है। अतः जैन धर्मानुयायी छोटे से छोटे

जीव तजा वनस्पतियों के प्रति भी 'दया' दिखाना अपना कर्त्तव्य समझते हैं। 'अहिंसा' जैन धर्म की प्रधान वस्तु है। 'त्याग', 'अहिंसा', और 'कष्ट सहन' पर ही जैन धर्म की दीवाल खड़ी की गई है। महावीर स्वामी ने अपनी तपश्चर्या से इस दीवाल को और भी अधिक सुदृढ़ बनाया। उन्होंने जैन धर्म को एक नवीन ढङ्ग से संसार के सम्मुख उपस्थित किया। उनके प्रयत्नों से जैन धर्म अधिक व्यावहारिक और उपयोगी बन गया। उन्होंने वर्ण-भेद को मिटाकर, मानवता की पृष्ठ भूमि पर ही अपने धर्म का संगठन किया, और 'दया' तथा 'करुणा' की डोर में सब को पिरो कर एक में मिलाने का प्रशंसनीय प्रयत्न किया।

सन्धि काल के उत्तरार्द्ध में नाथ संप्रदाय का भी जोर देखने को मिलता है। 'नाथ संप्रदाय' का आविर्भाव किस प्रकार हुआ—इस संबंध में लोगों में मतभेद है। कुछ लोगों का कथन है, कि बौद्धों की 'वज्रयान' साधना ही नाथ संप्रदाय के रूप में प्रतिफलित हुई है। पर 'वज्रयान' और नाथ संप्रदाय के सिद्धांतों की समीक्षा करने पर दोनों में अधिक मौलिक अंतर ज्ञात होता है। 'वज्रयानियों' में अनीश्वरता की भावना थी। उनका 'अभिचार' इत्यादि में अधिक विश्वास था। पर नाथ संप्रदाय ईश्वरता की भीत्ति पर खड़ा किया गया है। नाथ संप्रदाय में अभिचार इत्यादि का तीव्र विरोध मिलता है। ऐसा ज्ञात होता है, कि 'वज्रयानियों' की विकृतियों के परिणाम स्वरूप ही नाथ संप्रदाय की सृष्टि हुई है, क्योंकि वज्रयानियों की बहुत सी बातें नाथ संप्रदाय में पाई भी जाती हैं। नाथ संप्रदाय का प्रचार सर्व साधारण में अधिक न हो सका। इसका कारण यह है, कि नाथ संप्रदाय 'योग' से प्रभावित है, और उसमें कई नियम ऐसे प्रचलित हैं, जो सर्व साधारण के लिए अधिक दुरूह होने के साथ ही साथ भयानक भी हैं। जैसेः—व्याघ्र की गर्दन का आलिंगन करना, और विषैले सर्पों से क्रीड़ा करना इत्यादि।

नाथ संप्रदाय के आदि आचार्य गोरखनाथजी कहे जाते हैं। गोरखनाथजी के संबंध में अनेक किंवदंतियाँ कही जाती हैं। यहाँ हम उन किंवदंतियों पर प्रकाश नहीं डालेंगे; यहाँ तो हम केवल इतना ही कहेंगे, कि गोरखनाथजी एक सर्व शक्ति-संपन्न पुरुष थे। उन्होंने जिस पंथ या मत का प्रवर्तन किया, वह नाथ पंथ के नाम से प्रसिद्ध है। नाथ संप्रदाय के आराध्य देवता शिव हैं। अतः नाथ 'संप्रदाय' शैव मत के अंतर्गत ही माना जाता है, और उसमें वे संपूर्ण विभूतियाँ पाई जाती हैं, जिनका संबंध शिव से है।

'नाथ संप्रदाय' ज्ञान, और योग का संप्रदाय है। 'नाथ' में 'योग' और ज्ञान को ही प्रमुखता प्रदान की जाती है। 'नाथ' संप्रदाय में 'नाथ' का अर्थ 'मुक्ति दाता' के रूप में किया जाता है। इस प्रकार नाथ संप्रदाय में 'मुक्ति' की प्रधानता प्रतिष्ठित की गई है। मुक्ति के साधनों में 'वैराग्य' को महत्त्व दिया गया है। पर 'वैराग्य' गुरु की सहायता के बिना नहीं हो सकता। अतः गुरु का नाथ संप्रदाय में अधिक महत्त्व पूर्ण स्थान है। गुरु की सलाह से 'इन्द्रिय निग्रह' मुक्ति मार्ग का का प्रमुख

प्रयत्न है। इन्द्रिय निग्रह के साथ ही साथ प्राणों और मन की साधना पर भी अधिक जोर दिया गया है।

गोरखनाथजी, जो नाथ संप्रदाय के प्रर्तक हैं, एक अच्छे कवि थे। उन्होंने कई ग्रन्थों की रचना की है, जो संस्कृत में हैं। पर उस समय जन वाणी संस्कृत न होने कारण उनके मत का भली भाँति प्रचार न हो सका। अतः उन्होंने संस्कृत को छोड़ कर जन वाणी को ग्रहण किया; और उसमें रचनाएँ की। उस समय की जन वाणी में, जिसे हम हिन्दी का आदि रूप कह सकते हैं, उनकी लिखी हुई कई रचनाएँ मिलती हैं। उनके पश्चात् नाथ संप्रदाय के कुछ और सन्तों ने भी अपनी रचनाओं के द्वारा उनके पंथ का अनुगमन किया है

सन्धि काल का साहित्य

साहित्य जनता के विचारों का प्रतिबिंब होता है। जन समाज में जिस प्रकार के विचारों की प्रमुखता होती है, उसी के आधार पर उसके साहित्य का भी निर्माण होता है। सन्धि काल के जन समाज के विचारों को सामने रख कर जब हम उसके साहित्य की समीक्षा करते हैं, तब हम उसके साहित्य को पाँच वर्गों में बँटा हुआ पाते हैं—१ सिद्ध साहित्य, २ जैन साहित्य, ३ नाथ साहित्य, ४ शृंगार साहित्य, ५ मनोरंजन साहित्य। सिद्ध साहित्य वह है, जिसका सृजन बौद्ध मतानुयायी सिद्ध कवियों के द्वारा हुआ है। इसी प्रकार जैन साहित्य जैन मतानुयायी सन्तों के द्वारा निर्मित हुआ है: 'नाथ संप्रदाय' के कई सन्तों ने भी अपने मत के प्रचार के लिए रचनाएँ की हैं। उन्हीं की रचनाएँ 'नाथ साहित्य' के नाम से प्रसिद्ध हैं। 'सन्धि काल' अध्यात्म, और धर्म का युग था। किन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं है, कि जीवन उन दिनों अन्यान्य भावनाओं से रहित था। यद्यपि उन दिनों जीवन में आध्यात्मिकता की प्रमुखता थी; पर लौकिक दृष्टि से भी उसका कम महत्त्व न था। 'सन्धि काल' के साहित्य में जीवन का लौकिक दृष्टिकोण भी मिलता है, जो शृंगार, प्रेम, और मनोरञ्जन के रूप में प्रति बिंबित हुआ है।

सिद्ध साहित्य

सिद्ध साहित्य का सृजन सिद्ध कवियों के द्वारा हुआ है। सिद्ध कवियों ने अपनी रचनाओं में अपने मतों का प्रतिपादन किया है। इन कवियों की संख्या चौरासी के लगभग है, पर उनमें चौदह प्रमुख हैं, जिनके नाम इस प्रकार हैं:—१ सरहपा, २ शबरपा, ३ मुशुकुपा, ४ लुइपा, ५ विरूपा, ६ डिम्भिपा, ७ दारिकपा, ८ गुण्डरीपा, ९ कुक्कुरीपा, १० कमरिपा ११ कराहपा, १२ गोरक्षपा, १३ तिलोपा, और १४ शांतिपा। इन सिद्ध कवियों में शबरपा, मुशुकुपा, लुइपा, और विरूपा इत्यादि सिद्ध कवियों की रचनाएँ आज भी मिलती हैं। 'सरहपा' आदि सिद्ध कवि हैं। इसका समय सं० ६९० निश्चित् किया गया है। इसने अपनी रचनाओं में पंडितों को फटकार बताते हुए आंतरिक साधना पर बल प्रकट किया है। 'शबरपा' दूसरा सिद्ध कवि है। इसका समय संवत् ८३७ के लगभग माना जाता है। इसकी रचनाओं में रहस्य वादी भावनाओं का उन्मेष हुआ है। इसी

प्रकार शेष सिद्ध कवियों की रचनाओं में भी रहस्य वादी भावनाओं, और तन्त्र मन्त्र की विधियों का वर्णन मिलता है।

सिद्ध कवियों ने अपनी रचनाओं में तन्त्र और 'हठयोग' पर प्रकाश डाला है। किसी-किसी सिद्ध की वानी में रहस्य वाद का भी प्रस्फुटन हुआ है। किसी किसी ने योग तन्त्र में वज्रयानियों के योग तन्त्र और उनके मद्य तथा मैथुन का भी प्रतिपादन किया है। पर अधिकांश कवियों ने, वज्रयानियों से पृथक होकर सदाचार की ही रक्षा की है। 'तिलोपा' ने संसार के विष को दूर करने के लिए संसार के प्रयोग की संमति अवश्य दी है, किन्तु यदि सूक्ष्म रीति से उसकी रचनाओं का अध्ययन किया जाय तो उसमें सदाचार की ही मर्यादा मिलती है। अधिकांश सिद्ध कवियों की दृष्टि 'महासुखवाद' की ही ओर है; जिसकी प्राप्ति 'प्रज्ञा' और उपाय के योग से होती है, और जिसे हम आनन्द स्वरूप ईश्वरत्व की ही संज्ञा दे सकते हैं।

सिद्ध कवियों का आविर्भाव बिहार प्रान्तर्गत नालंदा और विक्रमशिला के आस पास हुआ था। उन दिनों इस प्रदेश की बोली अर्ध मागधी थी, जिसका उद्भव मागधी अपभ्रंश से हुआ था। अर्ध मागधी ही उन दिनों जनता की बोली थी। सिद्ध कवियों को अपने मत का प्रचार जनता में करना था। अतः उन्होंने अपनी रचनाओं के लिए अर्ध मागधी को ही चुना। उनकी संपूर्ण रचनाएँ अर्ध मागधी में ही पाई जाती हैं।

सिद्ध कवियों ने अधिकतर रचनाएँ आध्यात्मिक विषयों पर ही की हैं। अतः उनकी रचनाओं में मुख्य रूप से शांत रस का आविर्भाव हुआ है। किसी किसी सिद्ध कवि ने, जहाँ मद्य और मैथुन की चर्चा की है, वहाँ शृंगार रस प्रादुर्भूत हुआ है। कहीं कहीं रहस्य वादी भावनाओं में भी शृंगार रस की झलक देखने को मिलती है। 'रस' की दृष्टि से विचार करने पर सिद्ध कवियों की रचनाएँ खरी न उतर सकेंगी; क्योंकि साहित्यिक 'रस' के लिए उनकी रचना हुई ही नहीं है। उनकी रचना का उद्देश्य है, 'आत्मानन्द', और इसमें सन्देह नहीं, कि 'आत्मानन्द' सिद्ध कवियों की रचनाओं में पर्याप्त रूप से मिलता है।

सिद्ध कवियों ने अपनी रचनाओं के लिए जिस प्रकार जन वाणी को ग्रहण किया, उसी प्रकार उन्होंने अपनी रचनाओं के लिए जनता के 'गीत' भी अपनाए। सिद्ध कवियों की सभी रचनाएँ गीतों में हैं, जिन्हें हम 'लोक' के गीत कह सकते हैं। 'गीतों' के अतिरिक्त उन्होंने 'दोहा', 'चौपाई', और 'सोरठा' ऐसे लोक प्रिय छन्दों में भी रचनाएँ की हैं, जो सरलता पूर्वक कंठाग्र किये जा सकते हैं। किसी-किसी सिद्ध कवि ने छप्पय का भी प्रयोग किया है?

जैन साहित्य

महावीर स्वामी के पश्चात् जैन धर्मानुयायियों में कई ऐसे संत और महापुरुष हुए हैं, जिन्होंने रचनाओं के द्वारा जैन सिद्धान्तों का प्रचार किया है। हिन्दी भाषा के प्रचार और प्रसार में इन जैन संतों और कवियों से

अधिक सहायता प्राप्त हुई है। यद्यपि जैन सन्तों और कवियों की संख्या अधिक है, पर हम यहाँ केवल उन्हीं के नामों का उल्लेख करेंगे, जिन्होंने जैन साहित्य के निर्माण में अधिक योग दिया है। ऐसे उल्लेखनीय व्यक्तियों में स्वयंभूदेव, आचार्य देव सेन, माइल्लधवल, महाकवि पुष्पदन्त, धनपाल, मुनिरामसिंह, श्री अभय देव सूरि, हेमचन्द्र और सोमप्रभ सूरि इत्यादि का नाम मुख्य है।

स्वयंभूदेव जैन साहित्य के प्रथम कवि हैं। इनका समय विक्रम की आठवीं शताब्दी के आस पास माना जाता है। इन्होंने 'पद्म चरित जैन रामायण' की रचना की है, जिसका जैन साहित्य में अधिक उच्च स्थान है। जीवन की विविध दशाओं का वर्णन भी इनकी रचनाओं में मिलता है। आचार्य देव सेन की रचना का समय संवत् ९९७ के आस पास माना जाता है। इन्होंने 'दर्शन सार' नामक एक विशेष ग्रन्थ की रचना की है, जिसमें जैन धर्म के सिद्धांतों पर सुन्दरता के साथ प्रकाश डाला गया है। 'माइल्लधवल' देव सेन आचार्य के शिष्य थे। इनका समय दसवीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध है। इन्होंने हरिवंश पुराण की रचना की है, जो १८०० श्लोकों में है। महाकवि 'पुष्पदन्त' प्रतिभाशाली कवि और बहुत बड़े पण्डित थे। इनके द्वारा 'नागकुमार चरित' की रचना हुई है। धनपाल का समय दसवीं शताब्दी में माना गया है। इन्होंने 'भविष्य दत्त कथा' नामक ग्रन्थ की रचना की है। मुनिराम सिंह का समय १०५७ के आस पास माना जाता है। इनकी रचनाओं में रहस्यवादी भावनाओं की झलक देखने को मिलती है। इन्होंने 'दोहा' और 'गीतों' में आध्यात्मिक विषयों पर ही रचनाएँ की हैं। इनकी रचनाओं का दृष्टि कोण अधिक उदार, कल्याण मय, और विस्तृत है। श्री अभय देव सूरि का समय सं० १०८८ के आस पास है। इन्होंने कई ग्रन्थों की टीका की है, और उन पर व्याख्याएं भी लिखी हैं; इसलिए इन्हें आचार्य-पद भी प्राप्त हुआ था। 'हेमचंद' का समय संवत् ११५० के आस पास है। यह प्रसिद्ध जैन आचार्य थे। इन्होंने 'सिद्ध हेमचंद्र शब्दानुशासन' नामक व्याकरण ग्रन्थ की रचना की, जो अधिक प्रसिद्ध है। सोम प्रभ सूरि एक जैन पण्डित थे। इन्होंने गद्य-पद्य मय एक काव्य की रचना की है, जिसका नाम 'कुमार पाल प्रति बोध' है।

इन जैन कवियों ने जिस साहित्य की रचना की है, वही जैन साहित्य के नाम से प्रसिद्ध है। जैन साहित्य सिद्ध-साहित्य की तरह एकांगी नहीं है। जैन कवियों की दृष्टि जहाँ अलौकिकता की ओर गई है, वहाँ उन्होंने लौकिक विषयों का भी प्रतिपादन किया है। जैन कवियों ने आध्यात्मिक विषयों का चित्रण करने के साथ ही साथ जीवन के विविध स्वरूपों का भी चित्रण किया है। सांसारिक वस्तुओं पर भी जैन कवियों ने प्रकाश डाला है। तीर्थंकरों की जीवनियाँ भी उन्होंने लिखी हैं, और प्राचीन ग्रंथों का अनुवाद भी उनके द्वारा हुआ है। महाभारत की कथा भी जैन कवियों ने लिखी है। जैन साहित्य में प्रेम कथाएँ भी विविध रूपों में मिलती हैं।

इस प्रकार जैन साहित्य बहु मुखी है। सरलता की दृष्टि से हम उसके विषयों को

चार भागों में विभाजित कर सकते हैं:—१ प्रथमानुयोगः अर्थात् तीर्थंकरों की जीवनियाँ, २ करणानुयोगः अर्थात् विश्व का वर्णन, ३ करणानुयोग, अर्थात श्रावकों का वर्णन और, ४ द्रव्यानुयोग अर्थात् सांसारिक वस्तुओं का वर्णन।

जैन कवियों की भाषा को हम हिन्दी का प्राचीन रूप कह सकते हैं। जैन कवियों ने गद्य और पद्य दोनों में ही रचनाएँ की हैं। किन्तु उनकी प्रारंभिक रचनाएँ अधिकतर पद्यात्मक ही हैं। उनकी गद्यात्मक रचनाओं में गद्य काव्य की झलक मिलती है। उनकी गद्यात्मक और पद्यात्मक रचनाएँ नागर अपभ्रंश से प्रभावित हैं। 'नागर अपभ्रंश' के व्याकरण के नियमों को आधार मान करके ही उन्होंने अपनी भाषा का गठन किया है। जैन साहित्य शान्त रस से आप्लावित है। प्रेम काव्यों में शृंगार रस का भी सयोजन हुआ है। छंदों की दृष्टि से भी जैन साहित्य सिद्ध साहित्य से आगे बढ़ा हुआ है। जैन कवियों ने कई छन्दों का प्रयोग किया है, जिनमें चरित्र, रास चतुष्पदी चौढालिया, ढाल सिज्झाय, कवित्त, छन्द और दोहा इत्यादि का नाम मुख्य है।

नाथ साहित्य

नाथ संप्रदाय गोरखनाथ का चलाया हुआ है। बौद्धों की वज्रयान शाखा के चौरासी सिद्धों में गोरखनाथ का भी नाम गिनाया जाता है। पर वास्तव में बात तो यह है, कि गोरखनाथ ने वज्रयानियों की विकृतियों और उनकी कुरूपताओं को देखकर उनसे अपने को पृथक कर लिया था। उन्होंने शिव भक्ति को आधार मान कर पृथक ही अपना एक स्वतंत्र पन्थ चलाया। वही आज नाथ पन्थ के नाम से प्रसिद्ध है। गोरखनाथजी के पन्थ का केन्द्र पश्चिमी भारत था। राजपूताना और पंजाब इत्यादि प्रान्तों को ही उन्होंने अपना केन्द्र बनाया था। उनका पन्थ हठयोग पर आधारित था। उनके पन्थ में सभी जाति के लोग सम्मिलित हो सकते थे। इतिहास से पता चलता है कि कई मुसलमानों ने भी नाथ पन्थ को स्वीकार किया था, और उसके सिद्धान्तों के मार्ग पर चल कर उन्होंने चमत्कारिक सिद्धियाँ भी प्राप्त की थीं।

गोरखनाथजी के गुरु मत्स्येन्द्रनाथजी थे। गोरखनाथजी के समय के संबन्ध में अभी तक ठीक ठीक निर्णय नहीं हो सका है। किसी ने इनका समय संवत ६०० के आस पास, और किसी-किसी ने १००० के आस पास माना है। जो हो, गोरखनाथ एक अलौकिक पुरुष थे। उनमें चमत्कारिक शक्तियाँ थीं। वे विद्वान लेखक और कवि भी थे। उन्होंने संस्कृत और हिन्दी में कई ग्रन्थों की रचना की है। उनके संस्कृत ग्रन्थों के नाम गोरक्ष शतक, चतुर्थी त्यासन, ज्ञानामृत, योग चिन्तामणि योग सिद्धान्त पद्धति, विवेक मारतंड, और सिद्ध सिद्धान्त पद्धति इत्यादि हैं, उनके हिन्दी के ग्रन्थों में दस प्रमाणिक माने जाते हैं, जिनके नाम इस प्रकार हैं— गोरख-बोध, दत्तगोरख सम्वाद, गोरखनाथ जी के पद, गोरखनाथ जी के स्फुट ग्रन्थ, ज्ञान सिद्धान्त योग ज्ञान तिलक योगेश्वरी साखी, नरवै बोध विराट पुराण, और गोरख सार।

नाथ साहित्य की सृष्टि करने वालों में मत्स्येन्द्रनाथ, गाहिणी नाथ, चर्पटनाथ, ज्वालेन्द्रनाथ, भतृनाथ और गोपीचन्द्र नाथ का भी नाम आता है। मत्स्येन्द्रनाथ श्री गोरखनाथ जी के गुरु थे। उनमें योग की अलौकिक शक्तियाँ थीं। अभी तक उनकी एक पुस्तक का पता लग सका है, जो संस्कृत में है। किन्तु वह भी अभी तक प्रकाश में नहीं आ सकी है। गाहिणीनाथ गोरखनाथजी के शिष्य थे। इनका समय तेरवीं शताब्दी के आस पास माना जाता है। चर्पट नाथ भी गोरखनाथजी के शिष्यों में थे, और जाति के ब्राह्मण थे। ज्वालेन्द्रनाथ गोपीचन्द्र नाथ के गुरु थे। उनमें योग की अलौकिक शक्तियाँ थीं। 'भतृहरि' का ही नाम भतृनाथ था, यह जालधर के शिष्य थे। गोपीचन्द्र ज्वालेन्द्रनाथ के शिष्य थे। इन्होंने राज्य वैभव को छोड़ कर योग-साधन में अपने जीवन को व्यतीत किया है।

नाथ साहित्य वैराग्य और योग का साहित्य है। नाथ साहित्य के सभी कवियों ने 'शिव' को आराध्य मान कर 'वैराग्य' और 'योग' का ही चित्रण किया है। योग में भी हठ योग उनका मुख्य विषय है। उनके साहित्य में 'इन्द्रिय निग्रह' की बात मुख्य रूप से मिलती है। मन और प्राण की साधना पर उन्होंने अधिक बल दिया है। उनके साहित्य में 'नाद', 'घट', 'सुरति', 'नाड़ियाँ' और 'निरति' इत्यादि शब्दों का प्रयोग बार बार हुआ है, जिससे उनकी रहस्यात्मकता भी टपकती है।

अभी तक संधिकाल के धार्मिक साहित्य पर ही प्रकाश डाला गया है। अब यहाँ लौकिक दृष्टि कोण पर भी सूक्ष्म रूप में प्रकाश डाला जायगा। जिन दिनों सिद्ध और जैन साहित्य की रचना हो रही थी, इन्हीं दिनों कुछ ऐसे भी लोग थे, जिनका दृष्टि कोण पूर्णतः लौकिक था। स्वयं सिद्ध और जैन कवियों ने भी, अनेक स्थलों पर माया के रूप में नारी, उसकी वेश-भूषा, और उसके हाव भाव तथा हास-विलास का चित्रण किया है। यद्यपि उनके इस चित्रण में आध्यात्मिक प्रवृत्ति की ही प्रधानता है, किन्तु फिर भी उससे यह तो प्रगट ही है, कि वे जगत के उस नश्वर सौन्दर्य से, जिसे मोह माया कहते हैं, पूर्ण रूप से परिचित थे। उनके चित्रण में उनके परिचय की पूर्णता का ही आभास मिलता है। जैन और सिद्ध कवियों के अतिरिक्त भी कई ऐसे कवि हुए हैं, जिन्होंने लौकिक दृष्टि कोण को ही आधार मान कर अपने साहित्य का सृजन किया है। ऐसे लोगों में अब्दुर्रहमान, बब्बर, और अमीर खुसरो का नाम मुख्य है।

लौकिक साहित्य-शृङ्गार, मनोरंजन और प्रेम

अब्दुर्रहमान का समय संवत् १०६७ के आस पास माना जाता है। यह यद्यपि मुसलमान था, पर इसकी आत्मा हिन्दू संस्कारों में पूर्ण रूप से दीक्षित थी। इसका एक ग्रन्थ प्रसिद्ध है, जिसका नाम संदेश रासक है। इसमें विविध ऋतुओं के आधार पर वियोगिनी के संदेश का वर्णन उद्दीपन ढंग से किया गया है। 'बब्बर' का समय संवत् ११०७ के आस पास है। यह दरबारी कवि था। इसकी बहुत सी स्फुट रचनाएँ मिलती हैं, जिनमें शृङ्गारिक भावनाओं का चित्रण है। 'अमीर खुसरो' ने हिन्दी की

चार भागों में विभाजित कर सकते हैं:—१ प्रथमानुयोगः अर्थात् तीर्थंकरों की जीवनियाँ, २ करणानुयोगः अर्थात् विश्व का वर्णन, ३ करणानुयोग, अर्थात श्रावकों का वर्णन और, ४ द्रव्यानुयोग अर्थात् सांसारिक वस्तुओं का वर्णन।

जैन कवियों की भाषा को हम हिन्दी का प्राचीन रूप कह सकते हैं। जैन कवियों ने गद्य और पद्य दोनों में ही रचनाएँ की हैं। किन्तु उनकी प्रारंभिक रचनाएँ अधिकतर पद्यात्मक ही हैं। उनकी गद्यात्मक रचनाओं में गद्य काव्य की झलक मिलती है। उनकी गद्यात्मक और पद्यात्मक रचनाएँ नागर अपभ्रंश से प्रभावित हैं। 'नागर अपभ्रंश' के व्याकरण के नियमों को आधार मान करके ही उन्होंने अपनी भाषा का गठन किया है। जैन साहित्य शान्त रस से अप्लावित है। प्रेम काव्यों में शृंगार रस का भी संयोजन हुआ है। छंदों की दृष्टि से भी जैन साहित्य सिद्ध साहित्य से आगे बढ़ा हुआ है। जैन कवियों ने कई छन्दों का प्रयोग किया है, जिनमें चरित्र, रास चतुष्पदी चौढालिया, ढाल सिज्झाय, कवित्त, छन्द और दोहा इत्यादि का नाम मुख्य है।

नाथ साहित्य

नाथ संप्रदाय गोरखनाथ का चलाया हुआ है। बौद्धों की वज्रयान शाखा के चौरासी सिद्धों में गोरखनाथ का भी नाम गिनाया जाता है। पर वास्तव में बात तो यह है, कि गोरखनाथ ने वज्रयानियों की विकृतियों और उनकी कुरूपताओं को देखकर उनसे अपने को पृथक कर लिया था। उन्होंने शिव भक्ति को आधार मान कर पृथक ही अपना एक स्वतंत्र पन्थ चलाया। वही आज नाथ पन्थ के नाम से प्रसिद्ध है। गोरखनाथजी के पन्थ का केन्द्र पश्चिमी भारत था। राजपूताना और पंजाब इत्यादि प्रान्तों को ही उन्होंने अपना केन्द्र बनाया था। उनका पन्थ हठयोग पर आधारित था। उनके पन्थ में सभी जाति के लोग संमिलित हो सकते थे। इतिहास से पता चलता है कि कई मुसलमानों ने भी नाथ पन्थ को स्वीकार किया था, और उसके सिद्धान्तों के मार्ग पर चल कर उन्होंने चमत्कारिक सिद्धियाँ भी प्राप्त की थीं।

गोरखनाथजी के गुरु मत्स्येन्द्रनाथजी थे। गोरखनाथजी के समय के संबन्ध में अभी तक ठीक ठीक निर्णय नहीं हो सका है। किसी ने इनका समय संवत ६०० के आस पास, और किसी-किसी ने १००० के आस पास माना है। जो हो, गोरखनाथ एक अलौकिक पुरुष थे। उनमें चमत्कारिक शक्तियाँ थीं। वे विद्वान लेखक और कवि भी थे। उन्होंने संस्कृत और हिन्दी में कई ग्रन्थों की रचना की है। उनके संस्कृत ग्रन्थों के नाम गोरक्ष शतक, चतुर्थी त्यासन, ज्ञानामृत, योग चिन्तामणि योग सिद्धान्त पद्धति, विवेक मारतंड, और सिद्ध सिद्धान्त पद्धति इत्यादि हैं, उनके हिन्दी के ग्रन्थों में दस प्रामाणिक माने जाते हैं, जिनके नाम इस प्रकार हैं— गोरख-बोध, दत्तगोरख सम्वाद, गोरखनाथ जी के पद, गोरखनाथ जी के स्फुट ग्रन्थ, ज्ञान सिद्धान्त योग ज्ञान तिलक योगेश्वरी साखी, नरवै बोध विराट पुराण, और गोरख सार।

नाथ साहित्य की सृष्टि करने वालों में मत्स्येन्द्रनाथ, गाहिणी नाथ, चर्पटनाथ, ज्वालेन्द्रनाथ, भतृनाथ और गोपीचन्द्र नाथ का भी नाम आता है। मत्स्येन्द्रनाथ श्री गोरखनाथ जी के गुरु थे। उनमें योग की अलौकिक शक्तियाँ थीं। अभी तक उनकी एक पुस्तक का पता लग सका है, जो संस्कृत में है। किन्तु वह भी अभी तक प्रकाश में नहीं आ सकी है। गाहिणीनाथ गोरखनाथजी के शिष्य थे। इनका समय तेरवीं शताब्दी के आस पास माना जाता है। चर्पट नाथ भी गोरखनाथजी के शिष्यों में थे, और जाति के ब्राह्मण थे। ज्वालेन्द्रनाथ गोपीचन्द्र नाथ के गुरु थे। उनमें योग की अलौकिक शक्तियाँ थीं। 'भतृहरि' का ही नाम भतृनाथ था, यह जालंधर के शिष्य थे। गोपीचन्द्र ज्वालेन्द्रनाथ के शिष्य थे। इन्होंने राज्य-वैभव को छोड़ कर योग-साधन में अपने जीवन को व्यतीत किया है।

नाथ साहित्य वैराग्य और योग का साहित्य है। नाथ साहित्य के सभी कवियों ने 'शिव' को आराध्य मान कर 'वैराग्य' और 'योग' का ही चित्रण किया है। योग में भी हठ योग उनका मुख्य विषय है। उनके साहित्य में 'इन्द्रिय निग्रह' की बात मुख्य रूप से मिलती है। मन और प्राण की साधना पर उन्होंने अधिक बल दिया है। उनके साहित्य में 'नाद', 'धट', 'सुरति', 'नाड़ियाँ' और 'निरति' इत्यादि शब्दों का प्रयोग बार बार हुआ है, जिससे उनकी रहस्यात्मकता भी टपकती है।

अभी तक संधिकाल के धार्मिक साहित्य पर ही प्रकाश डाला गया है। अब यहाँ लौकिक दृष्टि कोण पर भी सूक्ष्म रूप में प्रकाश डाला जायगा। जिन दिनों सिद्ध और जैन साहित्य की रचना हो रही थी, इन्हीं दिनों कुछ ऐसे भी लोग थे, जिनका दृष्टि कोण पूर्णतः लौकिक था। स्वयं सिद्ध और जैन कवियों ने भी, अनेक स्थलों पर माया के रूप में नारी, उसकी वेश-भूषा, और उसके हाव भाव तथा हास-विलास का चित्रण किया है। यद्यपि उनके इस चित्रण में आध्यात्मिक प्रवृत्ति की ही प्रधानता है, किन्तु फिर भी उससे यह तो प्रगट ही है, कि वे जगत के उस नश्वर सौन्दर्य से, जिसे मोह माया कहते हैं, पूर्ण रूप से परिचित थे। उनके चित्रण में उनके परिचय की पूर्णता का ही आभास मिलता है। जैन और सिद्ध कवियों के अतिरिक्त भी कई ऐसे कवि हुए हैं, जिन्होंने लौकिक दृष्टि कोण को ही आधार मान कर अपने साहित्य का सृजन किया है। ऐसे लोगों में अबुर्रहमान, बब्बर, और अमीर खुसरों का नाम मुख्य है।

लौकिक साहित्य-शृङ्गार, मनोरंजन और प्रेम

अबुर्रहमान का समय संवत् १०६७ के आस पास माना जाता है। यह यद्यपि मुसलमान था, पर इसकी आत्मा हिन्दू संस्कारों में पूर्ण रूप से दीक्षित थी। इसका एक ग्रन्थ प्रसिद्ध है, जिसका नाम संदेश रासक है। इसमें विविध ऋतुओं के आधार पर वियोगिनी के संदेश का वर्णन उद्दीपन ढंग से किया गया है। 'बब्बर' का समय संवत् ११०७ के आस पास है। यह दरबारी कवि था। इसकी बहुत सी स्फुट रचनाएँ मिलती हैं, जिनमें शृङ्गारिक भावनाओं का चित्रण है। 'अमीर खुसरो' ने हिन्दी की

खड़ी बोली में कविता की है। हिन्दी काव्य के इतिहास में अमीर खुसरों की रचनाएँ अधिक महत्त्व रखती हैं। उसका साहित्य विनोद और मनोरंजन की प्रवृत्तियों से परिपूर्ण है। अमीर खुसरों के समय के आस पास ही संवत् १३७५ में एक और कवि हुआ है, जिसका नाम मुल्ला दाऊद था। मुल्ला दाऊद ने उसी समय एक प्रेम कथा लिखी थी, जो 'चंदायत' के नाम से प्रसिद्ध है। इस रूप में हम 'दाऊद' को ही 'प्रेम परंपरा' का प्रवर्तक कह सकते हैं। यद्यपि दाऊद की रचना अभी तक उपलब्ध नहीं हो सकी, और उसके संबंध में यह भी निश्चय पूर्वक नहीं कहा जा सकता, कि उसकी प्रेम-कथा का झुकाव आध्यात्मिकता की ओर है, या नहीं, जैसा, कि उसके परवर्ती कवियों कुतुबन, मंझन, और जायसी इत्यादि प्रेम-आख्यानक कवियों की कथाओं का है, पर साहित्य के इतिहास में उसका अस्तित्व होने के कारण इतना तो निश्चय ही है, कि उसने सब प्रथम प्रेम-आख्यानक काव्य की सृष्टि की। यदि उसके परवर्ती कवियों ने भी उसके ही मार्ग का अवलंबन किया हो तो आश्चर्य क्या?

संधि काल के साहित्य का सिंहावलोकन

संधिकाल में मुख्य रूप से दो प्रकार का साहित्य पाया जाता है। एक धार्मिक, और दूसरा लौकिक। धार्मिक साहित्य भी तीन रूपों में विभक्त है। धार्मिक साहित्य का एक रूप तो वह है, जो सिद्ध कवियों के द्वारा सृजित हुआ है, दूसरा रूप वह है, जिसका निर्माण जैन कवियों के द्वारा हुआ है, और तीसरा रूप वह है, जिसके गुंफन में नाथ संप्रदाय के कवियों ने भाग लिया है। संधिकाल का धार्मिक साहित्य अपने प्रथम रूप में प्रतिक्रियात्मक है। उसका निर्माण आदि शंकराचार्य के शैव धर्म की प्रतिद्वन्द्विता में हुआ है। इसलिए उसमें विद्रोहात्मक भावनाएँ भी पाई जाती हैं। कहीं कहीं तो उसमें इतना अधिक विद्रोह भर गया है, कि नैतिकता और सदाचार तक उसमें विलीन हो गए हैं। दूसरा रूप, जिसका निर्माण जैन कवियों के द्वारा हुआ है, प्रथम रूप के साथ ही साथ गठित हुआ है। किन्तु उसमें शालीनता, सदाचार, और नैतिकता है। उसका झुकाव किसी विशेष लक्ष्य की ओर है, और वह लक्ष्य है सत् तथा आनन्द। तीसरा रूप, जो नाथ कवियों के द्वारा गठित हुआ है, अधिक पुष्ट और मर्यादित है। यद्यपि इस तीसरे रूप का गठन प्रथम रूप के ही आधार पर हुआ है, पर तीसरे रूप में यह विशेषता है, कि उसका लक्ष्य सदाचार और नैतिकता है। संधिकाल के धार्मिक साहित्य के इन स्वरूपों में कुछ बातों में समता, और कुछ बातों में असमता है। जहाँ तक क्षेत्र और भावनाओं का प्रश्न है, तीनों में उदारता है, तीनों ही संकीर्णता से पृथक हैं, और तीनों ही अंध विश्वासों तथा रूढ़ियों में आस्था नहीं रखते। किन्तु तीनों का ही लक्ष्य पृथक-पृथक है। सिद्ध साहित्य प्रवृत्ति की ओर उन्मुख है, जैन साहित्य में प्रवृत्ति और निवृत्ति-दोनों ही भावनाओं का समावेश है, पर नाथ साहित्य में केवल निवृत्ति भावना ही विशेष रूप से पाई जाती है। लौकिक दृष्टि कोण अपने अपने ढङ्ग पर तीनों में ही विद्यमान है।

संधि काल के साहित्य निर्माताओं का केन्द्र दो स्थानों में रहा है—नालंदा,

और गुजरात। अतः उनकी भाषाओं के दो स्वरूप भी हो गए हैं। यद्यपि हम इन दोनों स्वरूपों को ही पुरानी हिन्दी ही कहेंगे; पर यह तो सच है, कि दोनों का विकास पृथक पृथक स्थानों में हुआ है, और दोनों में विभिन्नताएँ भी हैं। सिद्ध कवियों का केन्द्र नालंदा था। अतः उनकी भाषा में अर्द्ध मागधी के रूप विशेष रूप से मिलते हैं। जैन कवियों की रचनाओं का सृजन विशेष रूप से गुजरात प्रांत में हुआ है। अतः उनकी रचनाओं में नागर अपभ्रंश के रूप अधिक मिलते हैं। नाथ साहित्य का सृजन बिहार, पंजाब, ब्रजमंडल, और राजपूताने के भू भाग में हुआ है। अतः उसमें मागधी, शौरसेनी, ब्रज और खड़ी बोली इत्यादि के रूप भी मिलते हैं।

'रस' के क्षेत्र में शांत रस का ही सन्धिकाल में परिपाक हुआ है। सन्धिकाल के कवियों की मुख्य प्रवृत्ति निवृत्ति की ही ओर थी। अतः उनकी रचनाएँ मुख्य रूप से 'शांतरस' की ओर ही उन्मुख हैं। सिद्ध कवियों की रचनाओं में 'शांतरस' के साथ ही साथ शृङ्गार रस भी मिलता है। क्योंकि उनका लक्ष्य बहुत कुछ प्रवृत्ति की ओर भी था। किसी किसी सिद्ध कवि ने तो प्रवृत्ति को ही अपने काव्य का मुख्य आधार बनाया है। जहाँ प्रवृत्ति का भाव है, वहाँ शृङ्गार रस का परिपाक मुख्य रूप से हुआ है। संधिकाल के उत्तरार्ध में अमीर खुसरो, दाऊद, और बब्बर नामक ऐसे कवि हुए हैं, जिन्होंने शृङ्गार रस की ओर मुख्य रूप से ध्यान दिया है। कहीं कहीं हास्य और अद्भुत रस की भी अवतारणा मिलती है।

संधिकाल हिन्दी-कविता का प्रारंभिक काल है। अपने इस प्रारंभिक काल में हिन्दी कलात्मक दृष्टि कोण से शून्य थी। यदि हम संधिकाल की रचनाओं पर रस, भाषा, शैली, अलंकार, और छन्द की दृष्टि से विवेचन करें, तो निराश हो होना पड़ेगा; क्योंकि हिन्दी-कविता के उस शैशव काल में लोगों का ध्यान अभी 'कला' की ओर आकृष्ट ही नहीं हुआ था। अतः संधिकाल की सम्पूर्ण रचनाओं में 'भावाभिव्यंजन' ही विशेष रूप से पाया जाता है। किन्तु इसमें भी सन्देह नहीं, कि कविता के साथ साथ 'कला' भी पनप रही थी। जहाँ भाषा और रस के क्षेत्र में 'कला' पनप रही थी, वहाँ 'छन्द-जगत' में भी शनैः शनैः छंदों की कला का प्रादुर्भाव हो रहा था, जिसकी झलक हमें संधिकाल की रचनाओं में मिलती है। छन्द और शैली की दृष्टि से सन्धिकाल की रचनाएँ दो वर्गों में विभक्त की जा सकती हैं। एक वर्ग में तो वे रचनाएँ आती हैं, जो गीत शैली में लिखी गई हैं, और जिन्हें चर्यागीत कहते हैं, और दूसरे वर्ग की वे रचनाएँ हैं, जो 'दोहा' में आबद्ध की गई हैं। संधिकाल में मुख्य रूप से इन्हीं दोनों शैलियों का प्रयोग हुआ है, पर किसी किसी ने चौपाई, सार, त्रोटक और छप्पय आदि छन्दों का भी प्रयोग किया है। चौपाई का प्रयोग अधिकांश कवियों की रचनाओं में मिलता है।

वीर गाथा काल

वीर गाथा काल का समय संवत् १०५० से १३७५ तक माना जाता है। इसे आदि काल, या चरण काल भी कहते हैं। हिन्दी कविता का वह प्रारंभिक युग

वीर गाथा काल-नाम करण का कारण

था। वह युग सन्धि का युग था; अर्थात् इसमें दो भाषा, और शैलियों का संघर्ष चल रहा था। एक भाषा और एक शैली वह थी, जो अपभ्रंश में थी, और जिसका प्रयोग विद्वानों के ही द्वारा होता था, और दूसरी भाषा तथा शैली वह थी, जो देश भाषाओं के रूप में जनता में व्यवहृत हो रही थी। उधर अपभ्रन्श में विद्वानों के द्वारा रचनाएँ होती थीं, और इधर कुछ ऐसे लोग भी थे, जो देश भाषाओं में भी कविताएँ किया करते थे। यद्यपि देश भाषाओं में रची जाने वाली कविताओं का विद्वानों के समाज में आदर नहीं होता था, पर उन्हें जनता का बल प्राप्त था। अतः विद्वानों के द्वारा उपेक्षित होने पर भी उनका शनैः शनैः विकास होने लगा।

देश भाषाओं में रची जाने वाली कविताएँ दो प्रकार की थीं—शृंगार और नीति विषयक, तथा वीरता पूर्ण। इनके कवि जनता के बीच में रहने वाले कवि होते थे, जो चारण या 'भाट' कहलाते थे। इनकी पहुँच बड़े-बड़े राजदरबारों तक थी। ये राज-दरबारों से सरक्षित होते थे। ये राज-दरबारों में अपनी शृंगार, नीति, और वीरता मूलक कविताएँ अपने आश्रय दाताओं को सुनाया करते थे। इनकी शृंगार और नीति पूर्ण कविताएँ दोहों में, और वीरता पूर्ण रचनाएँ छप्पय में हुआ करती थीं। इनकी वीरता पूर्ण कविताएँ बड़ी स्फूर्तिमयी और प्राण सञ्चारिणी हुआ करती थीं। ये युग के अनुरूप अपने आश्रय दाताओं—राजाओं को उनकी वीरता, उनके पराक्रम, और उनके शौर्य की प्रशंसा में कविताएँ सुना कर उनके भीतर वीर भाव उत्पन्न किया करते थे। नृपतिगण उनकी रचनाओं को अपने पुस्तकालयों में सुरक्षित रखते थे, और उनके उत्तराधिकारियों को भी अपना आश्रय प्रदान करते थे।

लगभग तीन सौ वर्षों तक, हिन्दी के आदि काल में यह परंपरा जारी रही। इस परंपरा में 'वीर भाव' की मुख्य रूप से प्रधानता थी। यही कारण है, कि इस परंपरा के युग को 'वीर गाथा' काल कहते हैं।

साहित्य जनता की मनोवृत्तियों का प्रतिबिंब होता है। जन समाज के भीतर जिस प्रकार की चेतना और विचार भावना होती है, उसी के अनुरूप उसके साहित्य का निर्माण भी होता है। अतः वीर गाथा काल के साहित्य की गति-विधि को समझने के लिये उस युग की राजनीतिक और सामाजिक परिस्थितियों को जानना अत्यन्त आवश्यक है।

राजनीतिक और सामाजिक स्थिति

वह युग सातवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध का युग था। राजा हर्ष वर्द्धन की मृत्यु हो चुकी थी। हिन्दुओं के साम्राज्य का जो सूर्य चारों ओर ज्योतित हो रहा था, अब अस्त हो चुका था। देश के भीतर अब ऐसी कोई शक्ति शालिनी सत्ता न थी, जो संपूर्ण देश को अपनी पताका के नीचे रखती। अतः देश कई टुकड़ों में बँट गया, और विभिन्न राज्यों की स्थापना हुई। इन राज्यों में तोमर, राठौर, चौहान, चालुक्य, और चंदेल आदि मुख्य थे, जिनकी राजधानियाँ दिल्ली, कन्नौज, अजमेर, धार, और कालिन्जर इत्यादि स्थानों में थीं।

यद्यपि मुसलमानों का आगमन संवत् ६६३ में ही सिंध के तटवर्ती प्रदेशों में हुआ था, और उसके पश्चात् उनका आक्रमण भी होने लगा था, पर उस समय हिन्दू शासन सत्ता प्रबल थी। अतः मुसलमान कुछ दिनों तक सिंधु के तटवर्ती प्रदेशों से आगे न बढ़ सके। सिंधु के तटवर्ती प्रदेशों में भी, उनकी शासन स्थापित करने की कामनाएँ पूर्ण न हो सकीं। यद्यपि उनके आक्रमणों ने हिन्दू जीवन में हिलोरें उत्पन्न कर दी थीं, पर वे हिन्दू संस्कृति की दीवाल को हिला न सके थे। पर हिन्दुओं के हृदय पर उनका आतंक छा गया। दूसरी ओर हर्ष वर्द्धन की मृत्यु के पश्चात् हिन्दुओं की शक्ति छिन्न-भिन्न हो गई। धर्म और समाज के नियमों के नाम पर हिन्दुओं के भीतर ऐसी विकृतियाँ समाविष्ट हो गईं, जिनसे हिन्दू जीवन जर्जरित हो उठा। फल स्वरूप हिन्दुओं के भीतर निर्बलता सन्चरित हो उठी। 'धर्म' और समाज के नियमों को लेकर, आपस में ही विभेद की लहरें उत्पन्न हो गईं। शैव, शाक्त, और वैष्णव, जो देश के स्तम्भ थे, आपस में विवादों में फँस गए; और यह भूल बैठे, कि उनकी अज्ञानता की विस्मृति में उनके विनाश की तैयारियाँ हो रही हैं।

इसी समय हिन्दुओं का विनाश यवन आक्रमण के रूप में उत्तर-पश्चिम की ओर से दौड़ पड़ा। महमूद गजनवी ने भारतवर्ष पर सहसा आक्रमण करके हिन्दुओं के जीवन को भय ग्रस्त कर दिया। उसने मन्दिरों को लूटा, मूर्तियों को तोड़ा, और नगरों को बर्बाद किया। परन्तु फिर भी देशी राज्यों की निद्रा भंग न हुई। उधर मुसलमानों के हमले पर हमले होते जा रहे थे, और इधर देशी रजवाड़े आपस में ही एक दूसरे के शत्रु बन कर एक दूसरे के सर्वनाश की कामना में संलग्न थे। देशी रजवाड़ों की इस दूषित भावना का मुहम्मदगोरी ने लाभ उठाया; उसने भारतवर्ष पर बार बार आक्रमण करके पञ्जाब के बहुत से भू भाग हस्तगत कर लिए। दिल्ली के चौहान राजा पृथ्वीराज ने अन्तिम बार मुहम्मदगोरी को देश से बाहर निकालने का संकल्प किया,

पर इस बार अपने संकल्प में वह कृतकार्य न हुआ। पारस्परिक और मत भेदों के कारण पृथ्वीराज की पराजय हुई। पृथ्वीराज के पराजित अंगड़ों होने के साथ ही साथ हिन्दुओं की आशा ध्वस्त हो उठी। देश में चारों ओर पंजाब से लेकर बंगाल तक मुसलमानों की शासन सत्ता स्थापित हो गई। मुहम्मदगोरी ने शनैः शनैः कन्नौज इत्यादि राज्यों का भी, जिन्होंने पृथ्वीराज के विरुद्ध उसकी सहायता की थी, हस्तगत कर लिया। मुहम्मदगोरी के पश्चात् चारों ओर मुसलमानों का आतङ्क छा गया। मुसलमानों का शासन तलवार की शक्ति से हिन्दुओं के जीवन को ध्वस्त करने लगा। गुजरात के हिन्दू राज्य को भी, जो एक शक्तिशाली और संगठित राज्य था, यवन-आक्रमण का शिकार होना पड़ा। मुहम्मद गोरी के पश्चात् ही गुजरात पर भी आक्रमण होने लगा। मुहम्मद गजनवी ने पहले ही गुजरात पर आक्रमण किया था। अन्त में अलाउद्दीन खिलजी ने उसे पूर्ण रूप से ध्वस्त कर दिया। इसी प्रकार मालवा, महोबा, और ग्वालियर इत्यादि सभी हिन्दू राज्यों पर मुसलमानों की विजय-पताका फहराने लगी, और हिन्दुओं की आशा का सर्वान्त हो गया।

मुसलमानों के आक्रमण और विजय के कारण जिस प्रकार राजनीतिक क्षेत्र में परिवर्तन हुआ, उसी प्रकार सामाजिक और धार्मिक क्षेत्र में भी परिवर्तन का चक्र घूम रहा था। हिन्दू साम्राज्य का अन्त होने के साथ ही साथ बौद्ध धर्म का लोप हो गया, और उसके स्थान पर पुनः वैदिक धर्म की स्थापना हुई। हर्ष वर्द्धन के समय में ही वैदिक धर्म की विजय पताका फहराने लगी थी। पर हिन्दू साम्राज्य का अन्त और विदेशियों के आक्रमण के कारण धर्म-शक्ति संघटन में भी अस्तव्यस्तता उत्पन्न हो गई। शैव, शाक्त, और वैष्णव, जो वैदिक धर्म के मुख्य अंग थे, आपस में ही विवादों में आग्रस्त हो गए, जिससे परस्पर मनोमालिन्य पैदा हो उठा। तत्कालीन राजाओं ने, जो क्षत्रिय थे, शैव और शाक्त धर्मों को अपनाया, जिससे उनके विकास में अधिक सहायता प्राप्त हुई। समाज की बागडोर क्षत्रियों के ही हाथ में थी। समाज में वे ही सर्वाग्रणी और शक्ति सम्पन्न थे। उनमें स्वाभिमान और देशाभिमान की भावना विशेष रूप से थी। उनकी स्त्रियाँ भी वीराग्रणी और पति परायणा थीं। राजपूतों में जहाँ यह गुण था, वहाँ उनमें बुराइयाँ भी थीं। उनकी बुराइयों में सबसे बड़ी बुराई उनका वैयक्तिक मोह था। वे अपने व्यक्तिगत सुखों, और आकांक्षाओं के समक्ष राष्ट्र के हितों को महत्व नहीं देते थे; परिणाम स्वरूप उनमें आपस में संघर्ष हुआ ही करते थे, जिससे देश और समाज के सुख शांति में बार-बार बाधा उपस्थित होती थी।

क्षत्रिय राज्य सत्ता के कारण अपने को सर्वोच्च समझते थे। ब्राह्मणों का जात्याभिमान सर्वोपरि था। धर्म के क्षेत्र में ब्राह्मणों की ही सत्ता थी। समाज में रहते हुए भी ब्राह्मण अपने को समाज से पृथक समझते थे। समाज से श्रद्धा और भक्ति प्राप्त करना ही उनका कर्तव्य था। समाज के इतर वर्ग के लोगों को वे हीन समझते थे।

छुआ छूत और जाति-पाँति की भावना का प्रवाह वेग पर था। विद्या, कला, धर्म, संस्कृति और ईश्वर क्षत्रियों तथा ब्राह्मणों ही तक सीमित थे। समाज के इतर वर्ग के लोगों में हीनता, दीनता, अज्ञानता और गरीबी फैली हुई थी। जात्याभिमान और अज्ञानता के कारण धर्म और समाज के क्षेत्र में अनेक प्रकार की विकृतियाँ घुस गई थीं, जो शनैः शनैः राष्ट्र और समाज की दीवाल को जर्जर बना रही थीं।

इतिहास से पता चलता है कि यवनों के आक्रमण के समय कन्नौज, अजमेर, दिल्ली, धार, मालवा और ग्वालियर इत्यादि हिन्दुओं के बड़े बड़े राज्य थे, जो साहित्य और कला के केन्द्र थे। हिन्दी का जन्म हो चुका था, और वह इन्हीं राज्यों में पाली तथा पोसी जा रही थी।

हिन्दी का आदि साहित्य

हिन्दी के जन्म के साथ ही उत्तर-पश्चिम मार्ग से यवनों के आक्रमण प्रारंभ हुए। उत्तर पश्चिम की ओर से होने के कारण यवनों के आक्रमण प्रायः उन्हीं राज्यों पर हुए, जिनमें हिन्दी का पालन-पोषण हो रहा था। राजनीतिक अस्त व्यस्तता के कारण हिन्दी के साहित्यिक विकास में बाधा तो अवश्य उपस्थित हुई, पर जनवाणी होने के कारण उस विप्लव काल में उसका प्रचार अवश्य हुआ। चारणों और भाटों ने, युग के अनुरूप ही अपने आश्रय दाताओं के गुण गाए, और इस रूप में उनमें वीर भावना का सञ्चार किया। चारणों और भाटों का वह वीरता पूर्ण गान ही आज हिन्दी में उसके 'आदि साहित्य' के नाम से प्रसिद्ध है।

हिन्दी का आदि साहित्य जिसे चारण या वीर गाथा काल का साहित्य कहते हैं, अधिकतर उन्हीं राज्यों में सृजित हुआ, जिन पर यवनों के आक्रमण हुए थे। इस साहित्य में जिस भाषा का प्रयोग हुआ है, उन दिनों उस क्षेत्र की वही शिष्ट भाषा थी। राज्य-दरबारों में उसी भाषा का सम्मान था। राज्य-दरबारों में समादृत होने के कारण चारण और भाट प्रायः उसी भाषा में रचनाएँ किया करते थे।

डिंगल

वीर गाथा काल के साहित्य की जब हम समीक्षा करते हैं, तो हम हिन्दी को दो भागों में विभक्त पाते हैं—डिंगल, और पिंगल। डिंगल राजस्थान की उस भाषा का नाम है, जो नागर अपभ्रंश से प्रभावित है। वही वह भाषा है, जिसे उस समय साहित्यिकता का पद प्राप्त था; दूसरे शब्दों में हम डिंगल को हिन्दी की साहित्यिक भाषा कह सकते हैं। वीर गाथा काल का साहित्य इसी डिंगल भाषा में है। डिंगल भाषा की उत्पत्ति के संबंध में कई प्रकार के विचार प्रचलित हैं। टेसीटरी का मत है, कि डिंगल एक विशेष रूप है, जिसका अर्थ है, 'गड़बड़'; अर्थात् जो ऊँचे कवित्व के अनुसार नहीं है, और असंस्कृत है। इसके विपरीत कुछ लोगों का कथन है, कि पिंगल की प्रतिद्वन्दिता में ही, जो मध्य देश की भाषा थी, और जिसका नाम हिन्दी भी था, 'डिंगल' की सृष्टि की गई है। कुछ लोग डिंगल की उत्पत्ति की बात को एक अलङ्कारिक ढंग से भी कहते हैं। उनका कथन है, कि डिंगल की उत्पत्ति 'डिम' से अर्थात् डमरू की ध्वनि से हुई है। जिस प्रकार तांडव नृत्य के समय भगवान शङ्कर के डमरू ध्वनि से वीर और रौद्र भाव जाग्रत होता है,

उसी प्रकार डिंगल वह भाषा है, जो अपनी कविताओं से 'वीर' और 'रौद्र' भाव का हृदय में सञ्चार करती है। जो हो, 'डिंगल' एक प्राचीन भाषा है, और उसका महत्त्व पूर्ण स्थान है। 'पिंगल' मध्य देश की भाषा का नाम है, जो व्रज प्रदेश में बोली जाती थी।

वीर गाथा काल का साहित्य दो रूपों में मिलता है—प्रबन्ध काव्य के साहित्यिक रूप में, और वीर गीतों के रूप में। सर्व प्रथम हम उस साहित्य पर प्रकाश

प्रबन्ध काव्य डालेंगे, जो प्रबन्ध काव्य के रूप में है। वीर गाथा काल का प्रथम प्रबन्ध काव्य खुमान रासो है, जिसके रचयिता का नाम दलपति विजय है। 'खुमान रासो' में चित्तौर के द्वितीय खुम्माण, को, जिसका समय विक्रमी सं० ८७०-९०० तक माना जाता है, वीरताओं का वर्णन था। किन्तु वह प्रति अपूर्ण है। आज इसकी जो प्रति प्राप्त है, उसमें महाराणा प्रतापसिंह तक का वर्णन है। इससे पता चलता है, कि 'खुमान रासो' की मौलिकता विलुप्त हो गई है, और उसमें नवीन सामग्रियाँ जोड़ी गई है। मौलिक 'खुमान रसो' किस रूप में था—इस संबन्ध में निश्चयात्मक रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता।

वीर गाथा काल का द्वितीय प्रबन्ध काव्य पृथ्वीराज रासो है, जो चंद्र बरदाई का लिखा हुआ है। चन्द्र बरदाई का समय १२२५ के आस पास माना जाता है। यह दिल्ली के हिन्दू नृपति पृथ्वीराज का दरबारी कवि था। यह लाहौर का रहने वाला और विद्वान् तथा पन्डित भी था। 'पृथ्वीराज रासो' की रचना में प्रत्यक्षतः इसका पांडित्य देखने को मिलता है। इसके द्वारा रचित पृथ्वीराज रासो हिन्दी के आदि काल का एक सुप्रसिद्ध प्रबन्ध काव्य है। यह ढाई हजार पृष्ठों से भी अधिक का एक विशाल काय ग्रंथ है, जिसमें पृथ्वीराज के व्यक्तिगत जीवन और उसके युद्धों का वर्णन है। युद्धों के वर्णन के साथ ही साथ शृंगार को भी उसमें प्रचुरता है। 'वीर रस' के साथ 'शृंगार' की अवतरणा इस प्रबन्ध काव्य की विशेषता है। इसका मुख्य कारण कदाचित यह है, कि युद्धों में विश्राम काल में सैनिकों और वीरों के आमोद-प्रमोद के लिये शृंगार की आवश्यकता पड़ी हो। राजकुमारियों के स्वयंबर स्थलों में भी वीर के साथ ही साथ शृंगार की अवतारणा हुई है।

पृथ्वीराज रासो यद्यपि एक प्रबन्ध काव्य है, पर उसकी गणना रामायण और महाभारत जैसे प्रबन्ध काव्यों की कोटि में नहीं की जा सकती। इसका कारण यह है, कि उसमें प्रबन्ध काव्यों की सी विशदता नहीं पाई जाती। प्रबन्ध काव्यों में जिस प्रकार जीवन का बहुमुखी चित्र प्रस्तुत किया जाता है, उस प्रकार का कोई प्रयास पृथ्वीराज रासो में नहीं मिलता; इसके प्रतिकूल रासो में केवल पृथ्वीराज के व्यक्तिगत जीवन का प्रतिबिम्ब है, फिर भी साहित्य के क्षेत्र में रासो का महत्व है। उसकी वर्णन शैली और उसका विषय संपादन अपने ढंग का अपूर्व है।

रासो के रचयिता चन्द्र बरदाई और रासो के संबन्ध में कई भ्रान्तियाँ प्रचलित हैं। कहा जाता है, कि चन्द्र पृथ्वीराज का दरबारी कवि था, और उसके साथ युद्धों में

साथ भी रहता था, पर रासो की जो प्रतियाँ उपलब्ध हैं, उनका मन्थन करने से यह पता चलता है, कि यह एक कवि की कृति नहीं है। रासो में कई घटनाओं और संवतों का भी उल्लेख है। उन संवतों और घटनाओं को आधार मान कर यदि कुछ निर्णय करने का प्रयत्न किया जाता है, तो उनमें वैपरीत्य और 'वैषम्य' पाया जाता है। अतः यह नहीं कहा जा सकता, कि वर्तमान 'रासो' में कितना अंश चन्द्रबरदाई का है, और कितना उसके पश्चात् जोड़ा गया है। इस बात की पुष्टि रासो के छन्दों से भी होती है। रासो में प्राचीन काल से लेकर आधुनिक काल तक के छन्द मिलते हैं। इससे यह बात और भी निश्चित जान पड़ती है कि रासो में क्षेपक का अंश बहुत है।

वीर गाथा काल के प्रबन्ध काव्यों के रचयिताओं में भट्ट केदार, मधुकर, सारंग धर और नल्लसिंह का भी नाम विशेष रूप से लिया जा सकता है। भट्ट केदार जयचन्द्र का दरबारी कवि था। उसने जयचन्द्र प्रकाश नामक प्रबन्ध काव्य की रचना की है, जिसमें जयचन्द्र के चरित्र का गुणगान है। मधुकर ने जयमयंक जस चन्द्रिका की रचना की है, जो जयचन्द्र के ही गुण गान पर आधारित है। इसी प्रकार सारंग धर ने हमीर काव्य और नल्लसिंह ने विजय पाल रासो लिख कर प्रसिद्धि प्राप्त की है।

वीर गाथा काल में प्रबन्ध काव्यों के अतरिक्त वीर गीतों के रूप में भी रचनाएँ की गई थीं। वीर गीतों के रूप में जो प्रथम रचना मिलती है, वह बीसलदेव रासो

वीर गीत

है। बीसलदेव रासो के रचयिता का नाम नरपति नाल्ह था; जो बीसलदेव का ही समकालीन था। बीसलदेव रासो की रचना सवत १२१२ में हुई थी। यह सौ पृष्ठों का एक गीतात्मक ग्रन्थ है। यह खंडों में विभाजित है, इसके मुख्य नायक राजा बीसल देव हैं। इस में बीसलदेव के मालवा के भोजराज परमार की कन्या राजमती से विवाह और विवाह के पश्चात् किसी बात से अप्रसन्न होकर उड़ीसा चले जाने की कथा का वर्णन है। कथा का चित्रण वर्णनात्मक ढग से किया गया है। कथा की मौलिकता पर विचार करने से यह प्रगट होता है, कि उसका प्रारम्भिक अंश काल्पनिक है। क्योंकि इतिहास से प्रगट होता है, कि बीसल देव के सौ वर्ष पूर्व ही मालवा के परमार राजा भोज का स्वर्गवास हो चुका था। अतः उसकी कन्या के साथ बीसल देव के विवाह की बात कल्पित जान पड़ती है।

बीसल देव रासो पर युग की छाप भी नहीं है। न तो इसमें शौर्य का चित्रण है, और न किसी युद्ध का ही वर्णन किया गया है। एक प्रकार से इसमें शृंगारिक गीत हैं, जो बहुत ही हलके और निम्नकोटि के हैं। इसकी भाषा भी साहित्यिक न होकर राजस्थानी है।

वीर गीतों के रूप में दूसरा ग्रन्थ आल्ह खंड है। आल्ह खंड की रचना किसके द्वारा हुई है, यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। पर जन श्रुति के आधार पर लोग उसके रचयिता का नाम जगनिक बताते हैं। कुछ लोगों का कथन है, कि

आल्ह खंड चन्द्र बरदाई कृत पृथ्वीराज रासो का ही एक अंश है। पर पृथ्वीराज रासो और आल्ह खंड पर विचार करने से दोनों में अन्तर जान पड़ता है। यद्यपि पृथ्वीराज रासो में 'महोबा' खंड का जो वर्णन है, उससे 'आल्ह खंड' बहुत कुछ मिलता-जुलता है, पर दोनों में अधिक अंतर है। पृथ्वीराज रासो में दिल्ली के उत्कर्ष का चित्रण है, पर 'आल्ह खंड' में महोबे के उत्कर्ष के चित्र खींचे गए हैं। पृथ्वीराज रासो पृथ्वीराज के जीवन और उसकी वीरताओं को आधार मान कर निर्मित हुआ है, पर आल्ह खंड की रचना का आधार कन्नौज का राठौर राजा जयचंद, और महोबे का चन्देल राजा परमार है। दोनों की भाषा, और वर्णन शैली में भी अधिक अन्तर है। अतः 'आल्ह खंड' की स्वतन्त्रता में किसी प्रकार का सन्देह नहीं किया जा सकता।

'आल्ह खंड' में महोबे के दो प्रसिद्ध वीरों के चरित्र का वर्णन किया गया है। वे प्रसिद्ध वीर हैं—'आल्हा' और 'ऊदल'। दोनों ही महोबे के चन्देल राजा परमार के दरबार में रहते थे। आल्ह खंड इन्हीं के शौर्य, और वीरताओं से गुम्फित किया गया है। उसके गीत बड़े ओजस्वी, और प्राणमय हैं। उसके गीतों का उत्तर भारत में सर्वाधिक प्रचार है। बरसात के दिनों में, गाँव-गाँव में आल्ह खंड के ओजस्वी गीत गाये जाते हैं। यद्यपि इन गीतों में साहित्यिकता नहीं है, पर इस बात से अस्वीकार नहीं किया जा सकता, कि वे प्राणमय हैं, और उनमें हृदय को आंदोलित करने की क्षमता है।

'आल्ह खंड' के जो गीत इस समय मिलते हैं, उनमें कितने वास्तविक कवि द्वारा रचे गए हैं; यह ठीक-ठीक कुछ नहीं जा सकता। मौखिक होने के कारण इसमें अनेक प्रकार के दोष घुस गए हैं। इसके गीत अनेक रूपों में प्रचलित हैं। इसके गीतों में वर्णित स्थानों, और व्यक्तियों के नामों तथा युद्धों के वर्णन में ऐतिहासिक दृष्टि से अशुद्धता भी पाई जाती है।

वीर गाथा काल की समाप्ति के साथ ही जनता की बोल चाल की भाषा ने वास्तविकता का स्वरूप धारण किया था, और उसमें कुछ स्फुट रचनाएँ भी की जाने लगी थीं। जनता की बोल चाल की भाषा में रचनाएँ स्फुट रचनाएँ करने वालों में अमीर खुसरो, और विद्यापति का नाम उल्लेखनीय है। अमीर खुसरो दिल्ली का निवासी था। उसका समय संवत् १३४० के आस पास माना जाता है। वह फारसी का कवि और सुप्रसिद्ध विद्वान था। उसने जनता की बोल चाल की भाषा में दोहे, पहेलियाँ और मुकरियाँ इत्यादि लिखी हैं। यद्यपि साहित्यिक दृष्टि कोण इन रचनाओं का कुछ भी नहीं है; पर भाषा के इतिहास में खुसरो की रचनाओं का स्थायित्व है।

विद्यापति तिरहुत के निवासी थे। उनकी रचनाओं में यद्यपि मैथिल भाषा का प्रयोग हुआ है; पर उसमें कई ऐसी भाषाओं के शब्द मिलते हैं, जो हिन्दी

की उपबोलियाँ कही जाती हैं। अतः हिन्दी भाषा के इतिहास में उनकी रचनाओं का भी स्थान है।

वीर गाथा काल का संपूर्ण साहित्य वीरता के भावों से परिपूर्ण है। संपूर्ण साहित्य का मंथन करने पर उसमें एक प्रवृत्ति मिलती है—राजाओं का यशोगान।

वीर गाथा काल के साहित्य का सिंहावलोकन

अधिकांश कवियों ने अपने आश्रय दातओं की वीरता, और उनके शौर्य के चित्रण के रूप में उनका यशोगान ही किया है। यशोगान में वास्तविकता का अंश कम और कल्पना का अधिक है। उनकी प्रवृत्ति युद्धों में प्रदर्शित अपने आश्रय दाताओं के शौर्य का अतिरंजन पूर्ण चित्रण करने ही की ओर है। अतिरंजन पूर्ण चित्रण करने में वे ऐतिहासिक तथ्यों की भी उपेक्षा कर बैठे हैं। उनका पूर्ण ध्यान अतिरंजन मय चित्रण करने की ही ओर था, अतः उन्होंने संवतों, तिथियों, और घटनाओं के क्रम पर भी बहुत कम ध्यान दिया है। जहाँ कहीं तिथियों, और सम्वतों का वर्णन मिलता है, वहाँ भी कल्पना से ही अधिक काम लिया गया है।

वीर गाथा काल की मुख्य प्रवृत्ति अपने नायक के शौर्य का अतिरंजन पूर्ण चित्रण करने की ओर ही रही है, पर कहीं कहीं एक दूसरी प्रवृत्ति मिलती है; जिसे हम शृंगारिक प्रवृत्ति कह सकते हैं। यद्यपि शृङ्गारिक प्रवृत्ति के मूल में भी अपने नायक के शौर्य प्रदर्शन की ही भावना है, पर उस शौर्य प्रदर्शन में भी उनकी शृंगारिक प्रवृत्ति साफ साफ झलकती है। अतः यह कहा जा सकता है, कि वीर गाथा काल में वीर वर्णन की प्रवृत्ति के साथ ही साथ शृंगार वर्णन की भी प्रवृत्ति थी।

वीर गाथा काल की संपूर्ण रचनाएँ डिंगल भाषा में हुई हैं। उस समय डिंगल ही उन स्थानों की भाषा थी, जिन स्थानों में वीर गाथा काल के साहित्य का निर्माण हुआ है। वीर गाथा काल का अधिकांश साहित्य राजस्थान में ही निर्मित हुआ है। अतः 'डिंगल' में राजस्थानी भाषा के स्वरूपों का मिलना स्वाभाविक ही है। उन दिनों युग की माँग वीर रस की थी, और डिंगल अपनी स्वाभाविक प्रकृति के कारण वीर रस के लिए बड़ी उपयुक्त थी। अतः राजस्थान के चारणों और कवियों ने अपनी रचनाओं में डिंगल भाषा का ही प्रयोग किया। युग की भावनाओं के अनुरूप होने के कारण वीर गाथा काल में डिंगल का अधिक विकास हुआ; पर भक्ति काल आरंभ होने के साथ ही साथ उसकी गति मन्द पड़ कर निष्प्राण हो गई।

वीर गाथा काल का मुख्य रस वीर रस है। पर कहीं कहीं शृंगार रस की भी अवतारणा हुई है। शृंगार के दोनों ही रूप-संयोग और वियोग वीर गाथा काल के साहित्य में मिलते हैं। पर इनका विकास स्वतन्त्र रूप से न होकर 'वीर रस' के अन्तर्गत ही हुआ है। युद्धों के वर्णन में कहीं कहीं रौद्र और वीभत्स रस भी प्रादुर्भूत हुआ है। अधिकांश छन्द डिंगल भाषा के छन्द हैं, जिन्हें दूहा, पाधड़ी, और कवित्त इत्यादि कहते हैं।

भक्ति काल

भक्ति काल संवत् १३७५ से १७०० तक माना जाता है। जिस प्रकार बीर गाथा काल अपनी वीरता पूर्ण रचनाओं के लिए प्रसिद्ध है; उसी प्रकार भक्तिकाल अपनी भक्ति विषयक रचनाओं के लिए प्रसिद्ध है। भक्ति काल का यह नाम भी इसी लिए पड़ा है, कि इस काल में विशेष रूप से भक्ति विषयक ही रचनाएँ हुई हैं। अभी तक जिस हिन्दी में वीर रस से ओत प्रोत रचनाएँ होती थीं, उसमें सहसा भक्ति विषयक रचनाएँ किस प्रकार होने लगीं, और किस प्रकार एक नवीन युग की सृष्टि हुई, इस पर प्रकाश डालना अत्यन्त आवश्यक है।

भक्ति काल के उद्भव का कारण

बीर गाथा काल में इस बात पर प्रकाश डाला जा चुका है, कि उस समय देश पर यवनों के आक्रमण हो रहे थे। चौदहवीं शताब्दी तक देश ने यवनों के आक्रमणों का सामना किया। उसके पश्चात् देश में निर्जीवता दौड़ गई। जो देशी राजा अभी तक यवनों के आक्रमण का सामना कर रहे थे, वे या तो लड़ते लड़ते थक गए, और वे उनकी शक्ति निःशेष हो गई। देशी राजाओं में मुसलमानों से युद्ध करने की भावना समाप्त सी हो गई। देशी राजाओं में युद्ध की भावना समाप्त हो जाने के कारण अब उन्हें 'वीररस' की कविताओं की आवश्यकता भी न रही। अतः अब तक उनके दरबारों में जो चारण और भाट वीर रस की रचनाएँ किया करते थे, उनके लिए द्वार बंद सा हो गया। इस प्रकार डिंगल की 'वीररस' की कविताओं के निर्माण का एक प्रकार से अन्त सा हो गया।

इधर देशी नृपतियों में पराजय की भावना का संचार हुआ, और उधर यवनों के अत्याचार में पंख लग गए। विरोध की भावना की समाप्ति के साथ ही साथ यवन चारों ओर देश में फैल गए; और लूट-खसोट मचाने लगे। दिल्ली में मुसलमानों का शासन स्थापित हो ही चुका था। शनैः शनैः बिहार, बंगाल, कन्नौज, कालिंजर, और अजमेर इत्यादि स्थानों में भी मुसललानों का शासन स्थापित हो गया। संपूर्ण देश में एक राज स्थान ही ऐसा था, जो समय समय पर यवनों से मोर्चा लिया करता था। पर पारस्परिक फूट और स्वार्थ-परता के कारण, स्वाधीनता के यज्ञ में अधिक आहुति देने पर भी उसे सफलता के दर्शन न हो रहे थे। अतः हिन्दुओं के भीतर निराशा और दैन्य की भावना बढ़ती ही जा रही थी। उधर

यवनों का आतंक और अत्याचार ज्वार की भाँति उमड़ रहा था। हिन्दू जीवन को, जब यवनों से त्राण पाने की किसी प्रकार की सांसारिक आशा शेष न रही, तब उसका ध्यान 'ईश्वर' की ओर आकर्षित हुआ। 'निराश' और पीड़ित जनता ने अपने त्राण का किसी ओर से कोई उपाय न देख कर 'ईश्वरता' का सहारा लिया; फल स्वरूप समाज में भक्ति की भावना ने जन्म लिया, और धीरे-धीरे उसका विकास होने लगा। समाज के भक्ति भाव पूर्ण हृदय का साहित्य के उपर भी प्रतिबिम्ब पड़ा, और 'भक्ति काल' का सूत्रपात हुआ!

भक्ति काल की रचनाओं पर विचार करने के पूर्व उसकी राजनीतिक, सामाजिक, और धार्मिक स्थिति पर विचार कर लेना अत्यन्त आवश्यक है। क्योंकि भक्ति काल की रचनाएँ पूर्ण रूप से उनसे प्रभावित हैं। जहाँ तक राजनीतिक स्थिति का प्रश्न है; उसका कुछ चित्र ऊपर अंकित किया जा चुका है। फिर भी उसे और भी अधिक स्पष्ट करने के उद्देश्य से कुछ पंक्तियाँ और भी उपस्थित की जा रही हैं। मध्य देश की हिन्दू राज्य सत्ताएँ जब यवनों के अधिकार में आ गईं, तो हिन्दुओं की शक्ति छिन्न-भिन्न हो गई। धीरे-धीरे मुसलमानों का आतङ्क बढ़ने लगा। बचे खुचे हिन्दू राज्य भी यवनों के हाथों में आने लगे। अलाउद्दीन खिलजी उत्तर भारत के हिन्दू राज्यों पर अधिकार स्थापित करके दक्षिण भारत के राज्यों पर भी आक्रमण करने लगा। उसने शनैः शनैः दक्षिण भारत के देवगिरि, एलिचपुर, वारंगल, महाराष्ट्र और कर्नाटक इत्यादि राज्यों पर अधिकार स्थापित कर लिया। विजय नगर आदि कुछ हिन्दू राज्य जो बच गए थे, वे अपनी ही चिन्ता में व्यस्त थे। राजस्थान और सिंध इत्यादि प्रदेशों में हिन्दुओं की सत्ता अवशेष थी, पर आए दिन उन पर आक्रमण हो ही रहे थे, और यवनों का आतंक उन पर भी पूर्ण रूप से छा गया था। इस प्रकार राजनीतिक जगत में चारों ओर यवनों का आतंक छा गया था। यवनों में अब इस बात की दृढ़ अभिलाषा उत्पन्न हो उठी थी, कि वे भारतवर्ष पर राज्य करेंगे। अतः अब उनका ध्यान लूट-खसोट की ओर कम था। अब वे स्थान-स्थान पर बसने लगे थे, और तलवार की शक्ति से निरीह और पीड़ित जनता को झुका कर उसे अपने धर्म में दीक्षित करके अपनी संख्या बढ़ाने में संलग्न थे। यवनों की इस लिप्सा ने सारे भारत में भय का राज्य उत्पन्न कर रक्खा था। पर हिन्दुओं के समक्ष उसके प्रतिकार का कोई उपाय न था। हिन्दू पूर्ण रूप से विवश और निरुपाय थे। उनकी शक्ति क्षीण हो चुकी थी। जिनके पास कुछ शक्ति थी भी, वे यवनों से मिल कर स्वार्थ-साधन में संलग्न थे। चारों ओर निराशा और दैन्य का वातावरण छाया हुआ था। निराशा और दैन्य के इस वातावरण में लोगों का ध्यान ईश्वर की ओर गया, और लोग 'त्राहिमाम्', पुकार उठे। जनता का यह 'त्राहिमाम्' ही भक्ति काल की रचनाओं में प्रस्फुटित हुआ है।

राजनीतिक जगत की भाँति ही समाज के क्षेत्र में भी निराशा का वातावरण

छाया हुआ था। समाज पूर्ण रूप से विशृंखलित हो उठा था। लोग पारस्परिक एकता को भूल कर वैयक्तिक सुखों और आकांक्षाओं की पूर्ति में संलग्न थे। हम किस प्रकार सुखी रह सकते हैं—समाज के प्रत्येक व्यक्ति का ध्यान केवल एक इस बात की ही ओर केंद्रित रहता था। व्यक्तिगत सुखों की आकांक्षाओं के कारण लोग अपने हाथों से ही अपने समाज और राष्ट्र का गला घोंट रहे थे। अज्ञानता का ज्वार चारों ओर उमड़ रहा था। विजयी यवन मदोन्मत्त होकर विलास की तरंगों से खेल रहे थे। बचे-खुचे हिन्दू नृपति उनके चरण-चिह्नों पर चलने में ही अपनी उच्चता समझते थे। छुआ छूत का रोग भी समाज के शरीर में व्याप्त हो उठा था। यद्यपि चारों ओर से समाज को उपेक्षा और अपमान की विषैली घूँटे ही पीने को मिलती थीं, फिर भी ब्राह्मण अपने को सर्वोच्च समझ कर समाज के इतर लोगों से अपने को पृथक समझते थे। कोई किसी का रक्षक, और निरीक्षक न था। एक प्रकार से समाज के भीतर निराश्रिता, और अनाथपन का भाव फैल गया था।

धार्मिक जगत में भी मत मतांतरों का वितंडावाद जोरों से फैला हुआ था। बौद्ध धर्म 'वज्रयानियों' की विकृतियों के रूप में निःशेष हो चुका था, पर समाज के भीतर अब भी उसकी विकृतियाँ धर्म के नाम पर विद्यमान थीं। गोरख पन्थी साधुओं ने वज्रयानियों की विकृतियों को दूर करने का अवश्य प्रयत्न किया, पर उनमें विरक्ति की भावना अधिक होने के कारण वे समाज के भीतर अधिक प्रवेश न कर सके। उनकी योग शक्तियों से समाज चमत्कृत तो हुआ, पर कुछ लाभ न उठा सका, जिससे बौद्ध धर्म की विकृतियाँ ज्यों की त्यों बनी ही रह गईं। बौद्धों के विरुद्ध आदि शंकराचार्य जी ने प्रयत्न किया था। यद्यपि धार्मिक जगत में भी वितन्डावाद जोरों से फैला हुआ था, पर इसमें भी सन्देह नहीं, कि कहीं कहीं प्रकाश झलक रहा था। श्री रामानुजाचार्य इसी झलक के परिणाम थे। मानना होगा, कि महात्मा बुद्ध के पश्चात् आदि गुरु शंकराचार्य जी ने धार्मिक जगत में जो क्रांति की, उसी के परिणाम स्वरूप समाज में भक्ति की उन दो प्रचंड धाराओं को प्रवाहित करने वाले सन्त प्रगट हुए, जिन्हें हम 'निर्गुण', और 'सगुण' धाराएँ कहते हैं।

भक्ति काल का साहित्य भक्ति की भावनाओं से परिपूर्ण है। भक्ति काल के भक्ति-रस से आप्लावित साहित्य पर जब हम विचार करते हैं तो उसमें भक्ति के दो स्वरूप पाते हैं—निर्गुण, और सगुण। निर्गुण और सगुण के भी दो-दो रूप हो गये हैं। निर्गुण के दो रूप है—ज्ञान और प्रेम। हिन्दी साहित्य में इनके पन्थ पर चलने वाले कवियों को ही क्रम से ज्ञानाश्रयी, और प्रेमाश्रयी शाखा के कवि कहते हैं। इसी प्रकार 'सगुण' भक्ति के भी दो रूप हो गये हैं—श्री रामचन्द्र की भक्ति, और श्री कृष्ण की भक्ति। इन दोनों को आधार मान कर जिस काव्य की रचना हुई है, उसी को हिन्दी साहित्य में 'राम काव्य' और कृष्ण काव्य कहते हैं।

भक्तिकाल के साहित्य के प्रकार

'निर्गुण' पन्थ स्वाभाविक पन्थ है। यद्यपि यह पन्थ सब के लिए सरल, और सुबोध नहीं है, पर इसमें सब का समावेश अवश्य हो सकता है। इस पन्थ का जो इतिहास सामने है, उससे यह प्रगट होता है, कि इसका आधार मानवता और ईश्वर की अनन्तता है। यद्यपि 'निर्गुण' का इतिहास भारतीय समाज में अधिक प्राचीन है, पर हिन्दी-साहित्य में उसका प्रवेश किस प्रकार हुआ—हम यहाँ केवल इसी बात पर प्रकाश डालेंगे। 'निर्गुण' पन्थ के स्वरूप की झलक हमें सर्व प्रथम वज्रयानियों में मिलती है। यद्यपि वज्रयानियों में अनेक प्रकार की विकृतियाँ थीं, पर उनमें कुछ ऐसी भी बातें थीं, जिन्हें हम अच्छी कह सकते हैं; जैसे उनका द्वार सभी जातियों के लिए खुला हुआ था। 'नाथ पन्थी' साधुओं में यह भावना और भी अधिक विकसित हुई। यद्यपि नाथ पंथी योगियों के आराध्य देवता 'शिव' थे, पर 'शिव' की ज्ञानमय साधना 'निर्गुण वादिता' में प्रगट हो जाती है; यह बात शैव मत के सिद्धांतों से भली भाँति प्रतिपादित है। नाथ पन्थी योगियों ने 'निर्गुण वाद' का अधिक प्रचार किया। नाथ संप्रदाय के सिद्धांतों से निर्गुणवाद की ही पुष्टि होती है। इसी समय एकेश्वर वादी मुसलमानों का आगमन भारतवर्ष में हुआ, और उनकी एकेश्वर वादिता का प्रभाव भी नाथ संप्रदाय के योगियों पर पड़ा, जिससे उनके उस मत को, जो निर्गुण वाद के समान था; दूसरे शब्दों में जिसे हम निर्गुण पन्थ ही कह सकते हैं, अधिक प्रोत्साहन प्राप्त हुआ। नाथ पन्थी योगियों के अलख ने मुसलमानों की एकीश्वर वादी भावना से मिल कर एक नया ही स्वरूप धारण कर लिया। यद्यपि इस नवीन स्वरूप को हम पूर्ण रूपेण भारतीय ही मानते हैं, किन्तु इसमें सन्देह नहीं, कि उस पर मुसलमानों के एकेश्वर वाद का प्रभाव अवश्य पड़ा है। भक्ति का यह नवीन स्वरूप, जो नाथ पन्थियों के द्वारा विकसित हुआ, अपने ढंग का अनोखा था। इसमें जाति पाँति, नीच ऊँच, कर्म कांड, और अध्ययन के लिए विशेष स्थान नहीं था। यह सब के लिए सुलभ था। इसलिए हम इसे सामान्य भक्ति मार्ग भी कह सकते हैं। महाराष्ट्र के प्रसिद्ध भक्त नामदेव ने, जिनका आविर्भाव संवत् १३२८ में हुआ था, इस सामान्य भक्ति-मार्ग को और भी अधिक योग प्रदान किया। किन्तु वास्तविक रूप में आज हम जिसे निर्गुण पन्थ कहते हैं, उसका प्रवर्तन कबीरदासजी के ही द्वारा हुआ है। यद्यपि कबीरदासजी में सगुण वाद की झलक भी मिलती है, पर इसमें सन्देह नहीं किया जा सकता, कि निर्गुणवाद के सिद्धान्त सब प्रथम उन्हीं के द्वारा निश्चित हुए। उन्होंने सब प्रथम कर्म कांडों और बाह्याचारों से पृथक रह कर आंतरिक साधना पर बल दिया। यद्यपि कबीरदासजी के पूर्व नाथ पन्थी योगियों के द्वारा अंतस्साधना का प्रचार हो चुका था, किन्तु उनकी और कबीर की अन्तस्साधना में अन्तर है। उनकी साधना में जहाँ हृदय पक्ष की शून्यता पाई जाती है, वहाँ कबीरदासजी की साधना प्रेम तत्त्व पर आधारित है।

निर्गुण पन्थ कबीरदासजी के द्वारा दो वर्गों में विभक्त हो गया है—'ज्ञान वर्ग', और प्रेम वर्ग। ज्ञान को आधार मान कर जिन सन्तों ने रचनाएँ की हैं, उन्हीं को हम

ज्ञानाश्रयी शाखा के कवि कहते हैं। इसके प्रतिकूल जिनकी रचनाएँ प्रेम के तत्त्वों पर आधारित हैं, वे प्रेमाश्रयी शाखा के अन्तर्गत माने जाते हैं। ज्ञानाश्रयी शाखा को जन्म देने वाला 'ज्ञान' पूर्ण रूप से भारतीय है। साहित्य के इतिहास में यद्यपि वह चिर प्राचीन है, पर हिन्दी-साहित्य में उसकी सर्व प्रथम झलक नाथ पन्थी योगियों की वाणी में मिलती है। नामदेव के वचनों में वह पूर्ण रूप से ज्योतित है। कबीरदासजी ने उसी ज्ञान को ग्रहण करके निर्गुणवाद का प्रचार किया। यह ज्ञान शुद्ध भारतीय वेदान्त का ज्ञान है, जिसका इतिहास चिर प्राचीन है।

कबीरदासजी के पूर्व दक्षिण भारत में रामानुजाचार्य जी के रूप में सगुण साधना उत्पन्न हो चुकी थी। रामानुजाचार्य जी का समय संवत् १०७३ के आस पास माना जाता है। रामानुजाचार्य जी ने जिस सगुण वाद का प्रतिपादन किया, वह प्रेममय था। उनके प्रेम तत्त्वों से परिपूर्ण सगुण वाद की ओर शनैः शनैः जनता आकर्षित होने लगी थी। बारहवीं और तेरहवीं शताब्दी के बीच में गुजरात में माध्वाचार्यजी का आविर्भाव हुआ, जिन्होंने 'प्रेम' को ही आधार मान कर अपने द्वैत वादी संप्रदाय की सृष्टि की। यद्यपि रामानुजाचार्य और माध्वाचार्यजी के पन्थों में 'कर्म कांड', और जाति-पाँति की भी भावना थी; पर इसमें सन्देह नहीं, कि उसके मूल में प्रेम के तत्त्व भी अन्तर्निहित थे। स्वामी रामानन्द, जिनसे कबीरदास जी ने दीक्षा ग्रहण की, स्वामी रामानुजाचार्य की ही शिष्य परंपरा में थे। स्वामी रामानन्द की वाणियों, और उनके जीवन पर ध्यान देने से ज्ञात होता है, कि उनमें प्रेम के तत्त्वों की भी प्रधानता थी। इस प्रकार कबीरदास जी के पूर्व भक्ति जगत में ज्ञान और 'प्रेम' दोनों का ही प्रवाह बहता चला आ रहा था। 'ज्ञान' का प्रवाह बौद्ध साधुओं से निकल कर नाथ पन्थी योगियों से परिपुष्ट होकर बह रहा था, और प्रेम का प्रवाह सगुण पन्थी स्वामी रामानुजाचार्य, और माध्वाचार्य से निःसृत होकर 'कर्म', और 'मर्यादा' के क्षेत्र में 'कल कल' स्वरों में गुञ्जित हो रहा था। 'कबीरदास' जी इन दोनों ही प्रवाहों से आकर्षित हुए। उन्होंने नाथ पन्थी योगियों के 'निर्गुण' ज्ञान को ग्रहण करके उसका परिष्करण किया। उन्होंने सगुण वादियों के प्रेम तत्त्व को भी अपने ज्ञान में स्थान दिया। इस प्रकार नाथ पन्थी योगियों का ब्रह्म विषयक 'ज्ञान', सगुण वादियों के प्रेम से मिल कर एक नया ही 'रंग' उत्पन्न करने लगा। कबीर इस अलौकिक 'रंग' के जन्मदाता थे, जिसमें 'ज्ञान' और 'प्रेम' का घोल मिला हुआ था।

किन्तु कबीरदासजी के पश्चात् उनके ज्ञान में मिश्रित प्रेम ने एक नया ही स्वरूप धारण कर लिया। कबीर के पूर्व से ही सूफी विचार धारा, जो प्रेम मूलक है, फारस के यवन संतों के द्वारा भारतीय जीवन को विभोर कर रही थी। यद्यपि प्रेम मूलक साधना भारतीयों की अपनी साधना है, पर इसमें संदेह नहीं, कि कबीर के पश्चात् के साधकों की प्रेम मूलक साधना पर सूफी संतों का अधिक रंग है। कबीर ने 'ज्ञान'

के क्षेत्र में जिस प्रेम की सृष्टि की थी, उसका वास्तविक प्रादुर्भाव सूफी कवियों की ही रचनाओं में मिलता है। प्रणय और ज्ञान पंथी होने के कारण कबीर की रचनाओं में भी रहस्यवाद की सृष्टि हुई है, पर कबीर की रचनाओं में 'प्रेम' के तत्त्वों की अपेक्षा 'ज्ञान' के तत्वों की ही अधिक प्रधानता है। 'प्रेम' के वास्तविक तत्त्वों का विकास तो सूफी कवियों की ही रचनाओं में प्राप्त होता है। सूफी कवियों ने लौकिक प्रेम कथाओं के आधार पर अलौकिक प्रेम का चित्रण बड़े ही अनूठे और रहस्यवादी ढङ्ग से किया है। सूफी कवि यद्यपि मुसलमान थे, पर उन्होंने अपनी रचनाओं के लिए कहानियाँ और कथाएँ हिन्दुओं के घरों से ही ली हैं। उन्होंने हिन्दू देवी-देवताओं का चित्रण भी किया है। इससे सूफी कवियों के हृदय की विशालता प्रगट होती है, और साथ ही यह भी आभासित होता है, कि यद्यपि उनका धर्म विदेशी था, पर वे भारतीयता के रंग में रंगे हुए थे। सूफी कवियों ने अपने प्रेम की कहानियाँ हिन्दू इतिहासों और पुराणों से ग्रहण की हैं पर उन कहानियों में इन्होंने कल्पना का संमिश्रण भी किया है। यह कहानियां प्रेम की भावना से परिपूर्ण हैं, जिनमें प्रेम की 'पीर' का अलौकिकता के साथ विकास हुआ है। हिन्दी काव्य में 'प्रेम की पीर' को अलौकिक ढङ्ग से चित्रण करने वाले कवियों को ही प्रेमाश्रयी शाखा के कवि कहते हैं।

सगुण पन्थ के प्रवर्तक स्वामी रामानुजाचार्य जी हैं; जिनका आविर्भाव संवत् १०७३ के आस पास दक्षिण में हुआ था। सर्व प्रथम स्वामी रामानुजाचार्य ने ही भक्ति के उस स्रोत को जो नाथ पन्थी योगियों के हृदय से निकल कर ज्ञान के क्षेत्र में बह रहा था, सगुणवाद की ओर मोड़ा। उन्होंने शास्त्रीय पद्धति से सगुण भक्ति का निरूपण किया। उनकी भक्ति के केन्द्र श्रीरामचन्द्रजी थे। इस प्रकार सगुण भक्ति की राम शाखा श्रीरामानुजाचार्य जी से ही उद्भावित हुई। यद्यपि हिन्दी काव्य में श्री रामानुजाचार्य जी की राम भक्ति प्रत्यक्ष रूप से देखने को नहीं मिलती, पर यह तो मानना ही पड़ेगा, कि जिस राम भक्ति का चित्रण हिन्दी-काव्य में हुआ है, उसका बीजारोपण स्वामी रामानुजाचार्यजी के ही द्वारा हुआ है।

स्वामी रामानुजाचार्य जी के द्वारा प्रवर्तित सगुण पन्थ की ओर शनैः शनैः जनता आकर्षित होने लगी। इसका कारण यह था, कि उसमें जनता के जीवन की दुख-सुख की बातें थीं। इसके अतिरिक्त स्वामी रामानुजाचार्य जी ने जिन राम को अपनी भक्ति का केन्द्र मान कर अपने पन्थ का प्रचार किया, वे राम शक्ति और क्षमता के ऐसे अवतार थे, जो दुखों में आग्रस्त जनता का उद्धार कर सकते थे; फलतः जनता स्वामी रामानुजाचार्य जी के सगुण पन्थ की ओर आकर्षित हो उठी। जिन दिनों दक्षिण में सगुण पन्थ के रूप में राम भक्ति ने जन्म लिया, उन्हीं दिनों या उसके आस पास ही पूर्व में जयदेव और विद्यापति की वाणी के रूप में कृष्ण भक्ति गुंजित हो रही थी। इस प्रकार सगुण भक्ति की राम शाखा के साथ ही साथ कृष्ण शाखा भी पल्लवित होने लगी। उत्तर भारत में राम भक्ति के प्रवर्तक स्वामी रामानन्द

हैं, जो स्वामी रामानुजाचार्य जी की शिष्य परम्परा में थे। स्वामी रामानन्द जी ने राम को विष्णु का अवतार मान कर उत्तर भारत में उनकी भक्ति का प्रचार किया, जिसके परिणाम स्वरूप गोस्वामी तुलसीदास ऐसे सर्वश्रेष्ठ रामोपासक साधकों का आविर्भाव हुआ।

स्वामी रामानन्द जी ने राम को विष्णु का अवतार मानकर अपने संप्रदाय को संस्थापित किया। उन्होंने जिस सम्प्रदाय का प्रवर्तन किया, वह रामानन्दी संप्रदाय के नाम से विख्यात है। इस संप्रदाय में कई ऐसे कवि हुए हैं, जिन्होंने हिन्दी काव्य में रचनाएँ की हैं। गोस्वामी तुलसीदास रामानन्दी संप्रदाय के ही सन्त थे। श्री कृष्ण भक्ति का प्रचार श्री वल्लभाचार्य जी के द्वारा हुआ है। जिस प्रकार रामानन्द जी ने उत्तर भारत में राम के सर्व शक्ति सम्पन्न और कर्मशील रूप द्वारा जनता के हृदय को विमुग्ध कर लिया, उसी प्रकार वल्लभाचार्य जी ने श्री कृष्ण के प्रेम रस से जनता के हृदय को अप्लावित कर दिया। वल्लभाचार्य जी के पश्चात् इस परम्परा में एक से एक ऐसे सन्त हुए हैं, जिन्होंने अपनी कृष्ण भक्ति की सरस और प्रेम वाणियों से जनता के हृदय में अपूर्व आनन्द का रस घोल दिया। महात्मा सूरदास जी उसी परम्परा के सन्त कवियों में थे।

संक्षेप रूप में भक्ति काल का पूर्ण साहित्य दो रूपों में विभक्त है—निर्गुण और सगुण। निर्गुण के भी दो रूप हैं—ज्ञानमय और प्रेममय। ज्ञान को आधार मान कर जिन सन्तों ने रचनाएँ की हैं, उन्हें ज्ञानाश्रयी शाखा के कवि कहते हैं। इस शाखा के संत कवियों में कबीर का सर्वश्रेष्ठ स्थान है। जिन सन्त कवियों ने प्रेम की पीर को आधार मानकर रचनाएँ की हैं, उनकी गणना प्रेमाश्रयी शाखा के कवियों में की जाती हैं। मलिक मुहम्मद जायसी इस शाखा के संत कवियों में सर्व श्रेष्ठ कवि माने जाते हैं। निर्गुण की भाँति सगुण भी दो शाखाओं में विभक्त है—राम काव्य, और कृष्ण काव्य। जिन सन्त कवियों ने श्री राम की भक्ति को आधार मान कर रचनाएँ की हैं, वे राम काव्य के प्रणेता माने जाते हैं। गोस्वामी तुलसीदास जी का राम काव्य के प्रणेताओं में सर्व श्रेष्ठ स्थान है। कृष्ण भक्ति को आधार मान कर काव्य की माला पिरोने वाले कवियों की गणना कृष्ण काव्य के निर्माताओं में की जाती है। कृष्ण काव्य के निर्माताओं में सूरदास जी सर्वाग्रणी समझे जाते हैं।

ज्ञानाश्रयी शाखा के कवि

ज्ञानाश्रयी शाखा विशुद्ध ज्ञान पर आधारित है। वह ज्ञान भारतीय वेदान्त का ज्ञान है। उस ज्ञान के द्वारा उस 'ब्रह्म' को जानने, समझने, और प्राप्त करने का प्रयत्न किया गया है, जो अखिल ब्रह्माण्ड में व्याप्त है। उसे प्राप्त करने के लिए न तो अधिक बाह्याचार की आवश्यकता है, और न कर्म काण्डों की। ज्ञानाश्रयी शाखा के सन्त कवियों ने उसकी प्राप्ति के मार्ग में संपूर्ण बाह्याचारों की अवहेलना की है। उन्होंने सम्पूर्ण कर्म काण्डों को अस्वीकार करके हृदय की शुद्धता, मन की पवित्रता, और संलग्नता को ही अपना आधार माना है। उनके ब्रह्म की प्राप्ति के मार्ग में योग ही एक ऐसा साधन

है, जिसे उन्होंने स्वीकार किया है। योग में भी हठयोग का उन्होंने अधिक आश्रय ग्रहण किया है।

कबीर का नाम इस शाखा के कवियों में सर्व प्रथम आता है। कबीर का जन्म कब हुआ, इस संबन्ध में विद्वानों के विभिन्न मत हैं, फिर भी इनका जन्म संवत् १४५५ ठीक माना जाता है। कबीर के जन्म के संबन्ध में भी किंवदन्तियाँ प्रचलित हैं। कोई इन्हें ज्योति स्वरूप मानकर कमल-पत्र पर अवतीर्ण होने की बात कहते हैं, और कोई कोई लोग कहते हैं, कि उनका जन्म किसी विधवा ब्राह्मणी के गर्भ से हुआ था, जो हो इस बात को सभी लोग स्वीकार करते हैं, कि कबीर का पालन पोषण नीरू नामक जुलाहे के द्वारा हुआ था।

कबीर के हृदय में बाल्यावस्था में ही भक्ति के अंकुर अंकुरित हो उठे थे। वे बड़े भावुक और धार्मिक प्रकृति के थे। साधु सन्तों के साथ रहना, और उनके उपदेशों से लाभ उठाना ही उनका मुख्य काम था। हिन्दू धर्म के प्रति उनके हृदय में अधिक निष्ठा थी। बड़े होने पर इसी निष्ठा के परिणाम स्वरूप उन्होंने काशी में स्वामीरामा नन्दकी शिष्यता ग्रहण की थी।

कबीर के हृदय में अलौकिक ज्ञान की ज्योति थी। उनकी वाणियों और साखियों में वेदों तथा शास्त्रों का निष्कर्ष मिलता है। उनके कई पदों में यौगिक क्रियाओं का निरूपण बड़ी सुन्दरता के साथ किया गया है। उन्होंने ईश्वर, ब्रह्म और जीव पर एक प्रकांड दार्शनिक की भाँति ही विचार किया है। कबीर का यह ज्ञान स्वयंभूत था। यही कारण है, कि उसमें एक प्रकार का तथ्य और अलौकिकता दृष्टिगोचर होती है।

कबीर बहुत बड़े पर्यटक थे। वे अवसर प्राप्त होने पर प्रायः तीर्थ स्थानों की यात्रायें किया करते थे, और हिन्दू साधु तथा मुसलमान फकीरों के सतसंग का लाभ उठाया करते थे। इस सतसंग से कबीर को बहुत बड़ा लाभ हुआ। एक तो उन्हें भारत की विभिन्न प्रान्तीय भाषाओं के शब्दों का ज्ञान हुआ, और दूसरे उनके हृदय में जो प्राकृतिक ज्ञान की ज्योति थी, उसे विकसित होने का अवसर प्राप्त हुआ। कहना न होगा, कि कबीर को हिन्दू शास्त्रों और मुसलमानों के धर्म ग्रन्थों का ज्ञान साधुओं और फकीरों के सतसंग से ही प्राप्त हुआ था।

कबीर की मत्यु संवत् १५७५ में मगहर में हुई थी। मृत्यु के समय उनकी अवस्था एक सौ वर्ष से भी अधिक बताई जाती है।

कबीरदास ग्रन्थकार नहीं थे। उनके द्वारा किसी विशेष ग्रन्थ की रचना नहीं हुई है। वे पद और वाणियों की रचना करते थे, और घूम-घूम कर जनता को उपदेश दिया करते थे। कबीर की मृत्यु के पश्चात् उनके शिष्यों ने उनके पदों, शब्दों, साखियों और रमैनियों का संकलन किया, जिन्हें बीजक कहते हैं। बीजक के तीन भाग हैं—साखी, सबद, और रमैनी। बीजक के अतरिक्त भी कबीर के नाम से संग्रहीत पुस्तकें मिलती हैं, जिनमें कबीर की रचनाएँ संग्रहीत हैं। कई हस्त

लिखित पुस्तकें भी पाई गई हैं, जिनमें कबीर की रचनाएँ हैं, पर उनकी भाषा असंपत और बेजोड़ है। उनके पदों में सामंजस्य नहीं पाया जाता।

भक्ति के क्षेत्र में कबीर का अधिक महत्त्व है। उन्होंने अपनी भक्ति के द्वारा भक्ति जगत में एक नूतन और अलौकिक आदर्श की सृष्टि की है। वह नूतन होते हुए भी सर्वथा भारतीय है। उसमें प्रेम, विश्वास और ज्ञान का संमिश्रण है। यद्यपि वह निर्गुण वाद पर आधारित है, पर उसमें सगुण वाद की झलक भी मिलती है। कबीर की भक्ति को हम एक ऐसा संगम कह सकते हैं, जिसमें तत्कालीन समाज में प्रचलित स्वामी रामानन्द का भक्तिवाद, इस्लाम का एकेश्वर वाद, नाथ पन्थ का हठयोग वाद, और सूफियों का शान्त तथा प्रेम वाद सिमट कर एक हो गया है।

कबीर एकेश्वर वादी थे। उनका एकेश्वरवाद त्रिगुणातीत था। कबीर के एकेश्वर वाद और ब्रह्म में कुछ भी अन्तर नहीं है। उनका एकेश्वर वाद ब्रह्म के रूप में समस्त विश्व में परिव्याप्त है। कबीर का एकेश्वर वाद यद्यपि त्रिगुणातीत है, पर उन्होंने अपने ईश्वर प्राप्ति के लिये कुछ साधन बताए हैं; जिनमें गुरु पूजा, और हठयोग का महत्व पूर्ण स्थान है।

'कबीर' भक्ति की उच्चत अवस्था में 'रहस्यवादी' बन गए हैं, अर्थात् उन्होंने अपने 'राम' से विभिन्न प्रकार का संबंध स्थापित करके उनके साथ 'कौतुक' किया है। कहीं उन्होंने 'राम' को अपना प्रियतम मानकर उसके साथ विवाह संबंध स्थापित किया है, और कहीं यह बताया है कि उनका प्रियतम—'राम' लोगों को किस प्रकार प्राप्त हो सकता है! कहीं भक्ति के उन्माद में कबीर की 'जीवात्मा' नई नवेली दुलहिन का स्वरूप धारण करके अपने प्रियतम के संयोग का सुख लूट रही है तो कहीं वियोगिनी की भाँति हाहाकार कर रही है, तात्पर्य यह, कि 'राम' का सान्निध्य प्राप्त करने के पश्चात कबीर ने विभिन्न दृष्टि कोणों से उनके साथ अपना संबंध स्थापित किया है। अपने सम्बन्धों की अलौकिकता के लिए 'कबीर' ने विभिन्न रूपकों का आश्रय लिया है, कहीं-कहीं उनके रूपक इतने विचित्र हैं, कि सर्व साधारण की बुद्धि के परे हो जाते हैं। और लोग उन्हें कबीर की 'उल्टवासियाँ' कह कर सन्तोष कर लिया करते हैं। इन्हीं उल्टवासियों को विद्वानों ने 'कबीर के रहस्यवाद' के नाम से अभिहित किया है।

कबीर का रहस्य वाद कहीं अधिक सरल और कहीं अधिक निगूढ़ है। जहाँ कहीं उन्होंने अधिक भाव-विभोर होकर 'अपरोक्ष' से सम्बन्ध स्थापित करने का प्रयत्न किया है, और वे अधिक आत्म-विस्मृत हो गए हैं, वहाँ उनका संबंध लौकिक दृष्टि से अधिक रहस्यमय हो उठा है। कहीं कहीं तो वह इतना अधिक रहस्यमय हो उठा है, कि उस तक सहज रूप में बुद्धि का गम्य नहीं होता। कबीर ने अपने 'संबंध' को नाना रूपों में प्रगट किया है, किन्तु उन रूपों में 'स्त्री रूप' की ही अधिक प्रधानता है।

कबीर कवि नहीं थे, एक दार्शनिक सन्त थे। उनकी रचनाओं में ऐसी रचना नहीं है, जिसका संबंध संसार के बाह्य स्वरूप से हो; अथवा जिसकी रचना संसार के किसी भी बाह्य स्वरूप की उत्प्रेरणा से की गई हो। ऐसा लगता है, कि कबीर के हृदय पर जगत के बाह्य सौन्दर्य का प्रभाव बहुत कम पड़ा था। यही कारण है, कि उनकी रचनाओं में कहीं भी किसी सुन्दर सरिता, किसी विकच पुष्प, किसी हरी-भरी घाटी, किसी रात की चन्द्रिका, और किसी स्वर्णिम प्रभात का चित्रण नहीं मिलता। उन्होंने अपनी सपूर्ण रचनाएँ 'समाज सुधार', और धार्मिक दृष्टिकोण से की हैं। उनकी रचनाओं के विषय भी समाज और धर्म से ही संबंधित हैं। जैसे—जाति पाँति का भेद, ऊँच नीच का भाव, रोजा नमाज, मूर्ति पूजा, तिलक छाप, गुरु की महिमा, ईश्वर महिमा, और योग की क्रियाएँ आदि। इनमें किसी में प्रताड़ना है, किसी में उपदेश है, किसी में व्यंग्य है, और किसी में ललकार है। जहाँ कहीं वे रहस्यवादी बन गए हैं, वहाँ उन्होंने प्रेम के संयोग और वियोग का भी चित्रण किया है।

कबीर की अनुभूतियाँ ही उनकी कविता हैं। कबीर की अनुभूतियों को हम दो भागों में विभक्त कर सकते हैं। उनकी अनुभूतियों का एक भाग तो वह है, जिसे कबीर ने अपरोक्ष के प्रति अधिक प्रेमी, और वियोगी बनकर प्राप्त किया है, और दूसरे भाग की उनकी वे अनुभूतियाँ हैं, जो समाज के कल्याण और सुधार की उत्प्रेरणाओं से संबन्ध रखती हैं। अपने प्रथम प्रकार की अनुभूतियों में कबीर रहस्यवादी बन गए हैं, किन्तु दूसरी प्रकार की अनुभूतियों में वे केवल सुधारक मात्र रह गये हैं। साहित्य जगत में कबीर की सुख्याति का कारण उनकी प्रथम प्रकार की अनुभूतियाँ हैं, जिनमें रहस्यवाद पूर्णता के साथ प्रतिफलित हुआ है।

किन्तु क्या उनकी अनुभूतियों में काव्य-कला भी है? क्या एक सफल कवि की भाँति ही उन्होंने उनका प्रसाधन भी किया है? इन प्रश्नों की विवेचना करने पर यह निःसंकोच कहना पड़ता है, कि कबीर 'कवि' नहीं थे। उनकी रचनाएँ उस कंठ से निःसृत नहीं हुई हैं, जिसे कवि का कंठ कहते हैं। कबीर का कंठ कवि का न होकर सुधारक और विवेचक का कंठ है। उनकी रचनाओं में कवि की संपदा, जिसे रस, अलंकार, शैली का चमत्कार, भाषा का सौष्ठव, और छन्दों की लालिमा कहते हैं, नहीं मिलती। उनकी रचनाओं में भाव और अनुभूतियाँ हैं; पर वे नीरस और शुष्क हैं। किन्तु इसमें सन्देह नहीं, कि उन्होंने जो कुछ कहा है, हृदय से कहा है, और तन्मय होकर कहा है। कवि का कलात्मक चमत्कार न होने पर भी उनकी रचनाओं में प्राणों को विभोर कर देने की अनुपम शक्ति है। उनकी रहस्यवादी भावनाएँ और अनुभूतियाँ उच्चकोटि की हैं। उनके संयोग और वियोग के रहस्यवादी चित्रों में उनकी कला की सूक्ष्मता देखने को मिलती है, जो अपने ढंग की अपूर्व है।

कबीर की भाषा बड़ी अद्भुत है। उनकी भाषा में कई भाषाओं के शब्दों का

संमिश्रण है। उन्होंने विभिन्न भाषाओं के शब्दों की सहायता से अपने लिए एक पृथक भाषा का निर्माण किया है। कबीर की यह भाषा बड़ी सरल, और बोध गम्य है। सौष्ठव की दृष्टि से उसमें अभाव अवश्य है, पर शब्दों के 'ओज' और प्रभाव पूर्णता के कारण वह बड़ी प्रभावमयी बन गई है। उसमें प्रवाह, और ओजस्विता की मात्रा भी अधिक है।

कबीर की भाषा में विभिन्न प्रान्तीय भाषाओं के शब्दों का संमिश्रण है। जैसे—अवधी, खड़ी बोली, ब्रजभाषा, पूर्वी, हिन्दी, फारसी, अरबी, पञ्जाबी, और संस्कृत इत्यादि। कबीर एक सन्त थे, और सन्त के रूप में पर्यटक थे। उनका उद्देश्य समाज में धार्मिक भावना का प्रसार करना था। वे अपने उद्देश्य, और सिद्धान्तों के प्रचार तथा प्रसार के लिए विभिन्न स्थानों की यात्राएँ किया करते थे। उनके लिए यह आवश्यक था, कि वे अपने सिद्धान्तों के प्रचार के लिए प्रत्येक स्थान की 'बोली' में ही रचनाएँ करें, जिससे उस स्थान की जनता उनके उद्देश्यों और सिद्धान्तों को भली भाँति समझ सके। कबीरदासजी ने यही किया भी। उन्होंने विभिन्न स्थानों की यात्राएँ कीं, और वहाँ की बोलियों के शब्दों को अपनी रचनाओं में स्थान दिया। बहुत सी बोलियों के शब्द कबीर को उन सन्तों और फकीरों से भी प्राप्त हुए हैं, जिनके संपर्क में वे प्रायः रहा करते थे।

कबीर ने अपनी रुचि के अनुसार ही शब्दों का प्रयोग किया है। शब्दों के प्रयोग में उन्होंने शब्दों की शुद्धता पर अधिक ध्यान न देकर हृदगत भावों पर ही अधिक ध्यान दिया है। संस्कृत, अरबी, और फारसी के शब्दों को उन्होंने तोड़ा-मरोड़ा भी अधिक है। शब्दों के तोड़-मरोड़ में कबीर का चाहे कुछ भी दृष्टिकोण रहा हो, पर उन शब्दों का जो विकृत रूप सामने है, उससे तो यही ज्ञात होता है, कि कबीर ने उन शब्दों को तोड़ कर उन्हें सरल बनाने की चेष्टा की है। शब्दों की तोड़-मरोड़ से कबीर की भाषा की साहित्यिकता नष्ट हो गई है, पर इसमें सन्देह नहीं, कि वह इस तोड़-मरोड़ से सरल बन गई है, और सर्व साधारण के लिए अधिक उपयुक्त हो गई है।

कबीर के अतिरिक्त ज्ञानाश्रयी शाखा में और भी कई कवि हुए हैं, जिनमें धरमदास, नानकदेव, मलूकदास, दादूदयाल और सुन्दरदास इत्यादि का मुख्य स्थान है।

धरमदास कबीरदासजी के शिष्य थे। इनका जन्म संवत् १४५५ के आस पास माना जाता है। यह बाँधोगढ़ के निवासी थे, और अधिक धनाढ्य व्यक्ति थे। प्रारंभ में इनका ध्यान सगुणोपासना की ही ओर था। यह प्रायः तीर्थ यात्राएँ किया करते थे, और साधु-सन्तों का संमान हृदय खोल कर करते थे। एक बार यह मथुरा और काशी की यात्रा में गए। इसी यात्रा में इनकी कबीरदासजी से भेंट हुई। कबीरदासजी की वाणी, और उनके उपदेशों का धरमदास जी के हृदय पर अधिक

प्रभाव पड़ा; परिणाम स्वरूप वे कबीरदासजी से दीक्षा लेकर उनके शिष्य हो गए।

कबीरदासजी की मृत्यु के पश्चात् धरमदास ही उनकी गद्दी के उत्तराधिकारी हुए। उन्होंने अपनी अतुल संपत्ति लुटा दी थी। बीस वर्ष तक यह कबीरदास जी की गद्दी पर विराजमान रहे; इसके पश्चात् संवत् १६६० के आस पास इनका स्वर्गवास हो गया।

धरमदास ने कई ग्रन्थों की रचना की है। इनकी रचनाओं का साधु-संतों में अधिक सम्मान है। इनकी रचनाएँ कबीर से अधिक प्रभावित हैं। अतः कबीर की रचनाओं में इनकी अधिकांश रचनाएँ मिल गई हैं। कबीर की भाँति ही इन्होंने भी 'विरह-भाव' का अधिक चित्रण किया है। कबीर की तरह इनकी रचनाओं में शुष्कता नहीं है। इनकी रचनाएँ सरस, और सरल है। पूर्वी भाषा का प्रयोग इनकी रचनाओं में अधिक मिलता है। इनकी अन्योक्तियाँ बड़ी व्यंजक और मार्मिक हैं, जो प्रेम के रस से अभिसिक्त हैं।

इनके प्रधान ग्रन्थों में 'सुख विधान' का अधिक महत्वपूर्ण स्थान है।

गुरुनानक जिन्हें नानक देव भी कहते हैं, सिख संप्रदाय के संस्थापक हैं। सिखों में, ईश्वर के तुल्य ही उनका आदर सम्मान है। वे एक सुप्रसिद्ध महात्मा, और पहुँचे हुए साधु थे। यद्यपि कबीर की भाँति ही नानक देव की शिक्षा-दीक्षा बहुत अल्प ही हुई थी, पर उनके हृदय में ज्ञान की अलौकिक ज्योति थी।

गुरु नानक एक अलौकिक महापुरुष थे। अतः उनके सम्बन्ध में किंवदन्तियाँ भी अधिक प्रचलित हैं। कहा जाता है, कि वे महाराज जनक के अवतार थे, और उन्हें जन्म से ही अलौकिकता प्राप्त थी।

गुरु नानक देव का जन्म संवत् १५२६ में लाहौर जिलांतर्गत तलवेदी नामक गाँव में हुआ था। उनके पिता का नाम कालू, और माता का नाम तृप्ता था। उनके पिता पटवारी थे; और कुछ महाजनी तथा किसानी का भी काम करते थे। बाल्यावस्था में ही नानक के हृदय में भक्ति की ज्योति बिखर पड़ी थी। वे प्रायः मौन रहते, और साधु-संतों तथा फकीरों का सम्पर्क ढूँढ़ा करते थे। यद्यपि उनके घर के कुटुम्बी उनके इस काम से असंतुष्ट रहते थे; पर वे फिर भी साधु-संतों के साथ को छोड़ने के लिए तैयार नहीं होते थे। उनका मन घर के काम-काजों में बिलकुल नहीं लगता था। कभी कभी वे घर का रुपया पैसा भी साधु-संतों के बीच में खर्च कर दिया करते थे। उनके इस स्वभाव से खीझ कर उनके पिता ने उन्हें नौकरी करने के लिए जालंधर भेज दिया। इसी बीच में उनका विवाह भी हो गया और समय पाकर दो पुत्र भी उत्पन्न हुए, जिनके नाम श्रीचन्द्र, और लखमीदास थे।

गुरुनानक देव नौकरी करते हुए भी अपना समय ईश्वरोपासना में ही व्यतीत करते थे। वे दिन में तो सच्चाई के साथ अपने लौकिक कर्त्तव्य का पालन करते थे; और रात में गीत बनाकर गाया करते थे। एक बार जब वे बेन नदी में स्नान कर रहे

थे, उन्हें आत्मज्ञान उत्पन्न हुआ, और उन्होंने ज्योति के रूप में ईश्वर का साक्षात्कार भी किया। वे नौकरी छोड़ कर पर्यटन करने लगे। उन्होंने चारों ओर अपने सिद्धान्तों का प्रचार किया। अन्त में संवत् १५९५ में, करतारपुर में उनका महा प्रस्थान हुआ।

गुरुनानक ने साखियों और पदों की रचना की है। उनके पद और साखियाँ 'ग्रंथ साहब' में संगृहीत हैं। इनके अधिकांश पदों और साखियों की भाषा पञ्जाबी है। कुछ में हिन्दी का भी प्रयोग हुआ है,।कुछ पदों की भाषा बड़ी सीधी सादी, और सरल है।

मलूकदास जी का जन्म सम्वत् १६३१ में इलाहाबाद जिलांतर्गत 'कड़ा' नामक स्थान में एक खत्री वंश में हुआ था; इनके पिता का नाम सुन्दरदास था। बाल्यावस्था में ही मलूकदास के हृदय में भक्ति के अंकुर उत्पन्न हो उठे थे। यह अधिक उदार और दयालु थे। उनकी उदारता और दयालुता के सम्बन्ध में अनेक किंवदंतियाँ प्रचलित हैं। १०२ वर्ष की अवस्था में, सम्वत् १७३९ में इनका स्वर्गवास हो गया।

मलूकदास जी के द्वारा रचित दो ग्रंथ मिलते हैं—'ज्ञान बोध', और रामाअवतार लीला। 'ज्ञान बोध' में ज्ञान भक्ति और वैराग्य का चित्रण है। 'रामावतार लीला' में श्री रामचंद्र जी की कथा का वर्णन किया गया है। दोनों ही ग्रन्थ कविता में ही हैं, जिनमें सरस और सुन्दर शैली का प्रवाह पाया जाता है। इनकी रचनाएँ हिन्दू और मुसलमान दोनों में ही समादृत थीं। यह अपना उपदेश दोनों ही जातियों में दिया करते थे। इसलिए उनकी भाषा में अरबी-फारसी के शब्दों का अधिक प्रयोग हुआ है। इनकी रचना शब्दों के नाम से प्रसिद्ध है। इन्होंने कवित्तों की भी रचना की है, जिनमें व्यवस्थित और सुन्दर पद विन्यास पाए जाते हैं। इनकी कुछ रचनाएँ खड़ी बोली में भी हैं, जो बड़ी सरल हैं।

दादूदयाल का जन्म संवत १६५८ में गुजरात के अहमदाबाद नामक स्थान में हुआ था। इनकी जाति के संबन्ध में दो-तीन प्रकार के मत पाए जाते हैं। कुछ लोगों के मतानुसार यह गुजराती ब्राह्मण थे; और कुछ लोग इन्हें धुनियाँ मानते हैं। कुछ लोगों का कथन है, कि दादू जाति के मोची थे, और मोट बनाया करते थे; जो हो 'दादू' एक पहुँचे हुए सन्त थे, और संत समाज में उनका अधिक सम्मान था। 'दादू' ने अपने जीवन में कई स्थानों की यात्राएँ की थीं।

'दादू' कबीर पन्थ के अनुनायी अवश्य थे, पर उन्होंने उनसे पृथक अपना पंथ चलाया है। उनका चलाया हुआ पंथ 'दादू पन्थ' के नाम से प्रसिद्ध है। इस पन्थ के अनुयायी 'ईश्वर' को निरन्जन के रूप में मानते हैं। वाह्याचारों में उनकी आस्था नहीं है। 'तिलक, कंठी' 'माला' का व्यवहार नहीं करते।'दादू पन्थियों में दादू की बानी अधिक प्रसिद्ध है, जो कबीर की साखियों से मिलती-जुलती है। इनकी बानियाँ दोहों

और गीत-पदों में हैं। इन्होंने अपनी बानियों की रचना गुजराती, राजस्थानी, और पञ्जाबी में की है।

सुन्दरदास दादू के शिष्य थे। इनका जन्म संवत् १६५३ में जयपुर की पहली राजधानी दौसा नामक नगर में हुआ था। कहा जाता है, कि यह छः वर्ष की अवस्था से ही 'दादू' के साथ रहते थे, और अधिक सुन्दर थे। अधिक सुन्दर होने के कारण दादू इन्हें सुन्दरदास कहते थे। दादू की मृत्यु के पश्चात् इन्होंने काशी जाकर विद्याध्ययन किया, और पांडित्य प्राप्त किया। विद्वान होने के साथ ही साथ यह उच्चकोटि के महात्मा भी थे। संवत १६४६ में सांगनेर में इनका स्वर्गवास हो गया।

सुन्दरदास बहुत बड़े विद्वान थे। हिन्दी, पञ्जाबी, गुजराती, मारवाड़ी, संस्कृत, और फारसी इत्यादि भाषाओं पर इनका समान रूप से अधिकार था। इन्होंने कई ग्रन्थों की रचना की है, जिनमें ज्ञान समुद्र और सुन्दर विलास अधिक प्रसिद्ध हैं। यह उच्चकोटि के विद्वान थे। इसलिए इनकी रचनाओं में विद्वत्ता साफ-साफ झलकती है। इनकी रचनाएँ काव्य शास्त्र के गुणों से अलंकृत हैं। इन्होंने अपने काव्य में कई सुन्दर छन्दों का भी उपयोग किया है, जिनमें इन्दव, मनहरण, हंसाल, और दुर्मिल इत्यादि छन्द अधिक प्रवाह पूर्ण हैं। 'रसों' और अलंकारों की योजना भी इनकी रचनाओं में सुन्दरता के साथ हुई है। 'शृंगार रस' के ये बड़े विरोधी थे। इन्होंने जी खोल कर 'शृंगार रस' और 'नारी' के 'वासनामय' रूप की निन्दा की है। 'हास्य रस' इन्हें प्रिय था। 'वेदान्त' और अद्वैतवाद के निगूढ़ चित्रण को हास्य रस के पुट से इन्होंने सरस बना दिया है।

ज्ञानाश्रयी शाखा के कवियों की रचनाओं पर दृष्टि डालने से ज्ञात होता है, कि उन्होंने एक ही प्रकार के काव्यों की रचना की है। उनके काव्यों का संबंध लोक से न होकर, अलौकिक जीवन से है। इन्होंने अपने काव्यों में अधिकतर ऐसी ही बातों का चित्रण किया है, जिनका संबंध सन्तों के जीवन से ही है। अतः हम यदि उनके काव्यों को 'सन्त काव्य' कहें तो कोई अत्युक्ति न होगी। 'सन्त काव्य' के रचयिता कवियों ने मुख्य रूप से 'ईश्वर' के निर्गुण रूप का ही विवेचन किया है। उन्होंने एक ओर तो ईश्वर के निर्गुण स्वरूप का गान किया है, और दूसरी ओर व्यक्ति और समाज की बुराइयों को दूर करने के लिए उन्हें चेतावनी दी है; संक्षिप्त रूप में हम उनके विषयों को तीन भागों में विभक्त कर सकते हैं—निर्गुण भक्ति को सुदृढ़ करने वाले विषय जैसे—नाम स्मरण, अनहद शब्द, विश्वास, सुरत, भक्ति, सतसङ्ग, साँच, शील, क्षमा, संतोष, उदारता, विवेक, आरती, विरह और पतिव्रता प्रेम, इत्यादि, व्यक्ति के मानसिक विकार संबंधी विषय, जैसेः - कुसङ्ग, काम, क्रोध, लोभ, मोह, कपट, तृष्णा, मन, माया, कनक और कामिनी, निद्रा, निन्दा, तीर्थव्रत, दुर्जन, और भेष इत्यादि; और समाज से सुधार संबंधी विषय। जैसे—भेद भाव, ऊँच नीच, छुआ छूत, मांसाहार, मादक वस्तुओं का सेवन, असमता, चेतावनी इत्यादि।

ज्ञानाश्रयी शाखा के साहित्य का सिंहावलोकन

सन्त काव्य के सभी कवियों ने मुख्य रूप से इन्हीं को अपनी रचनाओं का आधार बनाया है। उनका एक मात्र लक्ष्य निर्गुण भक्ति है। उन्होंने अपनी रचनाओं के लिए ऐसे ही विषयों को चुना है, जिनसे इनकी भक्ति को बल प्राप्त हो सकता है।

सन्त काव्य के प्रणेताओं का ध्यान मुख्य रूप से निर्गुण भक्ति की ही ओर था। उन्होंने केवल भक्ति रस में ही डूब कर रचनाएँ की हैं। उनका ध्यान काव्य-सौष्ठव की ओर बिलकुल न था। यही कारण है, कि उनकी रचनाओं में काव्य कल्पना के तत्त्वों का विकास बहुत अल्प ही हो सका है। उनका ध्यान जितना भावों के प्रस्फुटन की ओर रहा है, उतना काव्य और भाषा सौंदर्य की ओर नहीं। उनकी रचनाओं की भाषा बहुत ही साधारण और अपरिष्कृत-सी है। जहाँ तक हो सका है, उन्होंने अपनी रचनाओं में सरल और व्यावहारिक भाषा का ही प्रयोग किया है। इसका कारण यह है, कि उन्होंने अपनी रचनाएँ सर्व साधारण के लिए लिखी हैं। उन्होंने अपनी रचनाओं की रचना विभिन्न स्थानों में की है। इसलिए उनकी रचनाओं में विभिन्न भाषाओं के भी शब्द पाए जाते हैं।

सन्त काव्य के प्रणेताओं ने अधिकतर गेय पदों की ही रचनाएँ की हैं। कदाचित् इसका कारण यही जान पड़ता है, कि गेय पद सरलता पूर्वक कंठस्थ हो जाते हैं; और उनमें एक प्रकार का आकर्षण भी रहता है। सिद्धांतों के प्रचार और प्रसार की दृष्टि से ही सन्त काव्य के सभी कवियों ने गेय-पदों में रचनाएँ की हैं। गेय-पदों के बाद जो छन्द सन्त कवियों में अधिक प्रचलित रहा है, वह दोहा है। छन्द के नाम पर 'दोहा' ही वह छन्द है, जिसका सब प्रथम हिन्दी काव्य में दर्शन होता है। अधिकांश कवियों ने 'दोहा' में रचनाएँ की हैं। किसी-किसी ने चौपाई, मनहरण, और 'झूलना' इत्यादि छन्दों का भी प्रयोग किया है।

सन्त काव्य के सभी कवियों ने निर्गुण भक्ति को ही लक्ष्य मान कर रचनाएँ की हैं। उनकी रचनाओं के सभी विषय भी इस प्रकार के हैं, जिनसे निर्गुण भक्ति सुदृढ़ और समर्थित होती है। उनकी सभी रचनाएँ भक्ति रस से आप्लावित हैं। अतः उनकी रचनाओं में 'शान्त' रस का ही मुख्य रूप से आविर्भाव हुआ है। किसी-किसी की रचना में जहाँ रहस्यवाद के रूप में 'प्रियतम' 'प्रियतमा', 'स्वामी', और 'दुलहिन' के भावों का विकास हुआ है, वहाँ 'शृङ्गार' रस की भी अवतारणा देखने को मिलती है। 'शृङ्गार' रस के दो रूप होते हैं—'संयोग' और वियोग। 'सन्त काव्य' में 'वियोग' को ही सर्वोच्च स्थान दिया गया है। जहाँ कहीं वियोग का चित्रण हुआ है, मनोहर और स्वाभाविक रूप में हुआ है। कहीं-कहीं वीभत्स, और अद्भुत रस की भी संयोजना दृष्टिगोचर होती है।

प्रेमाश्रयी शाखा के कवि

निर्गुण भक्ति की दूसरी शाखा, जिसे प्रेमाश्रयी शाखा कहते हैं, प्रेम के तत्त्वों पर आधारित है। इस शाखा के कवियों को कुछ लोग 'प्रेम मार्गी' और कुछ लोग 'प्रेम काव्य' के प्रणेता भी कहते हैं। निर्गुण-भक्ति का यह दूसरा प्रवाह, जिसमें प्रेम का रस घुला हुआ

है, वैष्णवों और सूफियों की प्रेम प्रवृत्ति से मिल कर उत्पन्न हुआ है। कहना न होगा, कि प्रेम-भक्ति भारतवर्ष की अपनी संपदा है। मुसलमानों के आगमन के पूर्व भी साधु-समाज में इसका विकास देखने को मिलता है। जिन दिनों यवनों का आक्रमण हो रहा था, उन दिनों भी वैष्णवों की प्रेम-भक्ति के रूप में इसका विकास देखने को मिलता है। उन दिनों भी, जब कि यवन हाथ में तलवार लेकर निरीह जनता को अपने अत्याचारों की आग में झोंक रहे थे, अनेकों ऐसे साधु सन्त थे, जो अत्याचारी यवनों के प्रति भी अपने हृदय में दुर्भाव नहीं उत्पन्न होने देते थे; इसके प्रतिकूल वे अत्याचारी यवनों को भी अपने हृदय का प्रेम ही प्रदान करते थे। उधर यवन शासकों में भी दो प्रकार के लोग थे। एक प्रकार के लोग तो वे थे, जो अत्याचार की वेदिका पर बैठ कर निरीह जनता की बलि देना ही अपना धर्म समझते थे, और दूसरे प्रकार के लोग वे थे, जिनके हृदय में प्रेम के तत्त्व थे। ऐसे लोग उस सूफी विचार धारा से प्रेरित थे, जिसकी नींव प्रेम पर तत्वों के ही पड़ी हुई है। कई सूफी सन्तों का आगमन भी भारत में हो चुका था, जो यवनों में सूफी मत का प्रचार कर रहे थे। हिन्दू सन्तों की सहिष्णुता, और सूफी सन्तों के प्रेम ने ही यवन शासकों के हृदय में परिवर्तन की लहरें उत्पन्न कीं, और वे हिन्दुओं के साथ मिल-जुल कर रहने की इच्छा प्रगट करने लगे।

हिन्दी काव्य में निर्गुणवाद का यह दूसरा प्रवाह, जिसे प्रेम-प्रवाह कहते हैं, हिन्दू सन्तों की सहिष्णुता, और सूफी सन्तों के प्रेम से ही उत्पन्न हुआ है। हिन्दी काव्य में सर्व प्रथम इसका परिचय चारण काल में मिलता है। उस समय अलाउद्दीन खिलजी का शासन था। 'अलाउद्दीन खिलजी' का शासन एकांगी के लिए प्रसिद्ध है। उसके शासन काल में हिन्दुओं पर कई ऐसे कर लगे थे, जिनका समर्थन कोई भी मानवीय कानून नहीं कर सकता। एक ओर तो अलाउद्दीन के अत्याचार का चक्र चल रहा था, दूसरी ओर उसी के शासन की छाया के नीचे मुल्ला 'दाऊद' ने 'चन्दायत' की रचना करके हिन्दुओं को यह विश्वास दिलाया, कि सभी यवन अलाउद्दीन की भाँति नहीं हैं।

'चन्दायत' प्रथम काव्य है, जिसमें प्रेम की भावना का विकास हुआ है। यद्यपि 'चन्दायत' की रचना के बहुत पश्चात् प्रेम-काव्यों की रचना का काल आया है; पर इसमें सन्देह नहीं किया जा सकता, कि प्रेम कथात्मक काव्य का उद्भव सर्व प्रथम 'मुल्ला दाऊद' के ही द्वारा हुआ है। यद्यपि जायसी प्रेम काव्य के रचयिताओं में सर्व श्रेष्ठ माने जाते हैं, पर उनके पूर्व कई ऐसे मुसलमान रचनाकार हो चुके हैं, जिन्होंने कथात्मक प्रेम-काव्यों की सृष्टि की है। उनमें कुतुबुन और मंझन इत्यादि का नाम उल्लेखनीय है।

कुतुबन शेख बुरहान के शिष्य थे, जो चिश्ती वंश के थे। यह जौनपुर के राजा हुसेनशाह के आश्रित थे। इसका समय संवत् १५५० के आस-पास माना जाता है। इन्होंने 'मृगावती' नामक एक कथात्मक काव्य की रचना की है, जिसमें प्रेम के तत्त्वों

का सुन्दरता के साथ विकास हुआ है। 'मृगावती' लौकिक प्रेम पर आधारित है, जिसके पात्र चन्द्रगिरि के राजा का पुत्र, और कञ्चनपुर के राजा की राज कन्या हैं। प्रेम कथा यद्यपि लौकिक है, पर उसमें अलौकिकता के पर्याप्त संकेत प्राप्त होते हैं। काव्य की दृष्टि से 'मृगावती' का स्थान निम्नकोटि का है, पर उसमें प्रेम की रहस्यात्मक भावनाओं का विकास अवश्य हुआ है, जो ईश्वरता के चित्र को स्पष्ट करती है।

इसकी भाषा अवधी, और छन्द दोहे तथा चौपाइयाँ हैं।

मंझन कब और कहाँ उत्पन्न हुए थे—इस संबंध में अभी तक कुछ भी ज्ञात नहीं हो सका है। इनकी लिखी हुई केवल एक रचना मिलती है, जिसका नाम 'मधुमालती' है। 'मधुमालती' भी कथात्मक प्रेम काव्य है, जिसके पात्र कनेसर के राजा का पुत्र मनोहर, और महारस की राजकुमारी मधुमालती है। दोनों के ही पारस्परिक प्रेम को लेकर 'मधु मालती' की रचना हुई है। 'मृगावती' की अपेक्षा 'मधु मालती' में कल्पनाओं की सरसता, और भावों की विह्वलता अधिक है। यद्यपि कवि ने कल्पना का अधिक आश्रय ग्रहण किया है, पर उसकी कल्पनाओं में वास्तविकता है, जो हृदय को स्पर्श करती है। 'माधु मालती' के प्रति राजकुमार का विरह हृदय में अनुपम भावों की सृष्टि करता है। विरह की दशाओं का चित्रण इस प्रकार किया गया है, जिससे ईश्वरता के चित्र को सुस्पष्ट होने में सहायता मिलती है।

मलिक मुहम्मद जायसी प्रेम काव्य के रचयिताओं में सर्वश्रेष्ठ माने जाते हैं। जायसी का जन्म १६३६ हिजरी, अर्थात् १५२८ ई० में रायबरेली जिले के जायस नामक ग्राम में हुआ था। जायस में पैदा होने ही के कारण लोग उन्हें 'जायसी' कहते हैं।

जायसी कुरूप और एक आँख के काने थे। उन्हें कान से भी कम सुनाई देता था। लोगों का कथन है, कि जायसी बाल्यावस्था में शीतला या अर्द्धांग रोग से पीड़ित हुए थे, जिससे उनका शरीर विकृत हो गया था; और वे एकनेत्र तथा श्रवण से रहित हो गए थे। जायसी ने स्वयं अपने रूप का वर्णन निम्नांकित पंक्तियों में किया है:—

'मुहम्मद बाई दिसि तजा, एक सरवन एक आँखि।'

जायसी के माता-पिता का उनकी बाल्यावस्था में स्वर्गवास हो चुका था। अतः यह निश्चय पूर्वक नहीं कहा जा सकता, कि उनकी शिक्षा कहाँ और किस प्रकार हुई, किन्तु उन्हें हिन्दू धर्म के दार्शनिक सिद्धांतों का अधिक ज्ञान प्राप्त था। वे प्रारंभ से ही ईश्वर भक्त, और साधु प्रकृति के थे। कहते हैं, कि जायसी का विवाह हुआ था, और उनके पुत्र भी थे। किन्तु वे मकान के नीचे दब कर मर गए, जिससे जायसी के हृदय को अधिक आघात लगा, और वे विरक्त होकर फकीर के रूप में इधर-उधर पर्यटन करने लगे। जायसी अपने समय के उच्चकोटि के फकीर थे। चारों ओर उनका अधिक मान था। अमेठी के राजा, रामसिंह की उन पर अधिक आस्था थी।

जीवन के अन्तिम दिनों में जायसी अमेठी से कुछ दूर एक वन में रहा करते थे। वहीं उनकी मृत्यु हुई।

जायसी इक्कीस ग्रन्थों के रचयिता माने जाते हैं। पर इस समय उनकी तीन ही कृतियाँ उपलब्ध हैं—पद्मावत, अखरावट, और आखिरी कलाम। 'पद्मावत' जायसी की सर्व श्रेष्ठ रचना है। मुसलमानों के भक्त घरानों में इसका अधिक सम्मान है। जायसी के लेखानुसार उन्होंने इसकी रचना ९४७ हिजरी में की थी। इसमें अरबी-फारसी की मसनवी शैली का प्रयोग किया गया है। किन्तु रसों इत्यादि के वर्णन में भारतीय काव्य-परंपरा का ही अनुसरण किया गया है।

यह कथात्मक काव्य है, पर फिर भी हम उसे प्रबन्ध काव्य नहीं कह सकते। क्योंकि यह सर्ग-बद्ध नहीं है। जायसी ने इसकी कथा भारतीय इतिहास से ली है, जिसके पात्र चित्तौर के राणा रतन सेन, और सिंहल द्वीप की राज कन्या पद्मावती है। दोनों के ही प्रेम को लेकर पद्मावत का सृजन किया गया है। 'पद्मावत' में जिस प्रेम का चित्रण हुआ है, वह विशुद्ध भारतीय प्रेम है। किन्तु उस पर फारस की प्रेम-कहानियों का भी प्रभाव है।

जायसी ने 'पद्मावत' की प्रेम कथा में नवीनता और अलौकिकता का संमिश्रण किया है। उनके प्रेम के शृंगार में शारीरिक पक्ष गौण, और मानसिक प्रधान है। उन्होंने 'चुंबन, आलिंगन इत्यादि का बहुत कम वर्णन किया है। इसके विपरीत मन की वेदना, और हर्ष का बार-बार उल्लेख मिलता है। इतना ही नहीं, उन्होंने अपनी प्रेम पद्धति में भारतीय और फारस-दोनों के ही आदर्शों का संमिश्रण किया है। उनकी प्रेम पद्धति में जहाँ फारस के इश्क के दास्तान वाली मसनवियों के प्रेम स्वरूप की प्रधानता है, वहाँ उसमें भारत के लोक-व्यवहार संलग्न स्वरूप की भी झलक है। जायसी की प्रेम कथा एकांतिक और गूढ़ होते हुए भी जीवन के विभिन्न अंगों पर प्रकाश डालती है, और पारिवारिक तथा सामाजिक चित्रों को भी हमारे सामने उपस्थित करती है। उसमें भावात्मक, और व्यवहारात्मक-दोनों ही शैलियों का समावेश है।

जायसी की प्रेम कथा यद्यपि पूर्ण जीवन की कथा नहीं है, किन्तु फिर भी उसमें ऐसे स्थल हैं, जो जीवन के विभिन्न अंगों पर प्रकाश डालते हैं। जायसी का प्रेम एक होकर भी कई रूपों व्यक्त में हुआ है। जैसेः—माता का प्रेम, युद्ध से प्रेम, स्त्री से प्रेम, और पति का प्रेम इत्यादि। उनके प्रेम में दाम्पत्य जीवन की तो परमावधि है। पति और पत्नी का आदर्श प्रेम 'पद्मावत' के लौकिक पक्ष में अधिक प्रबल रूप में विकसित हुआ है।

जायसी का लौकिक प्रेम अलौकिक के प्रति है। उन्होंने किसी 'अपरोक्ष सत्ता' को ही लक्ष्य मान कर अपने प्रेम का प्रदर्शन किया है। अतः उनकी रचनाओं में रहस्यवादी भावनाओं का विकास हुआ है। हिन्दी काव्य में सर्व प्रथम कबीर की रचनाओं में 'रहस्यवाद' का स्वरूप देखने को मिलता है। कबीर में भावुकता का अभाव था। इसलिए उनका रहस्यवाद एक रूपक सा ज्ञात होता है, जो 'वेदांत'

और हठयोग पर आधारित है। इसके प्रतिकूल जायसी की रचनाओं में रहस्यवाद का विकास सरस और वास्तविक रूप में हुआ है। इसका कारण यह है, कि जायसी उस सूफी मत के अनुयायी थे, जिसमें रहस्य-भावना पूर्ण रूप से विद्यमान थी।

जायसी का रहस्यवाद दो रूपों में प्रतिबिम्बित हुआ है। उनकी रहस्य भावना का एक रूप तो वह है, जहाँ उन्होंने परमात्मा को प्रियतम के रूप में देखकर उसकी अखन्ड छवि, और माधुर्य का संसार में अनुभव किया है, और दूसरा रूप वह है, जहाँ उन्होंने पुरुष के समागम के लिये प्रकृति की उत्कण्ठा या उसकी विरह-विफलता का अनुभव किया है। इस दूसरे प्रकार की रहस्य भावना का उनमें अधिक विकास पाया जाता है। उनके 'पद्मावत' में यही रहस्य-भावना अपनी विशेषता के साथ विद्यमान है। उन्होंने अपनी पूर्व परम्परा के साथ प्रकृति और उसके व्यापारों का बड़ा मर्म स्पर्शी दृश्य-संकेत उपस्थित किया है। वे प्रकृति के व्यापारों और उसके क्रिया-कलापों में किसी अपूर्व दीप्ति का दर्शन करते हैं।

जायसी के सभी पात्र 'लौकिक' हैं। पर इन्होंने इन्हीं पात्रों के द्वारा 'अलौकिकता' की सृष्टि की है। उनके पात्रों में जो सौन्दर्य है, वह उस अपरोक्ष सत्ता का सौन्दर्य है, जो 'अक्षय' और 'अमर' है। जायसी प्रकृति के कण-कण में उसी अक्षय सौन्दर्य का दर्शन करते हैं। वे उसे प्रकृति के नाना रूपों, और उसके क्रिया-कलापों में देखते हैं। उनके भीतर जो विरह है, वह उसी के लिए है, और उनके भीतर मिलन का जो आनन्द है, वह उसी के मिलन का आनंद है। जायसी का प्रत्येक अक्षर 'प्रतीक' है। प्रत्येक वर्ण एक संकेत चित्र उपस्थित करता है। उनके पद्मावत की प्रेम और विरह की कथा प्रकृति तथा पुरुष के प्रेम की कथा है, जो बड़ी कुशलता के साथ चित्रित की गई है।

जायसी कुशल कलाकार थे। भक्ति-युग में उन्होंने प्रेम की जो धारा प्रवाहित की, उसी के कारण उनका नाम हिन्दी-जगत में अत्यधिक प्रसिद्ध है। जायसी की काव्य कला के दो स्वरूप हैं—एक बाह्य, और दूसरा आंतरिक। बाह्य रूप में भाषा, छंद, रस, और अलंकार इत्यादि आते हैं। काव्य का आंतरिक स्वरूप कवि की अनुभूतियों, भावों, और कल्पनाओं से बनता है। जायसी में काव्य के बाह्य, और आंतरिक-दोनों ही स्वरूप की विशेषताएँ विद्यमान हैं। भाषा, छन्द, रस, और अलंकारों की दृष्टि से भी जायसी की रचना अलंकृत है, पर उतनी नहीं, जितनी, कि आंतरिक स्वरूप के कारण। जायसी के काव्य का आंतरिक पक्ष अधिक प्रबल है। बाह्य पक्ष ने उसका शृङ्गार अवश्य किया है, पर उसका सौंदर्य आंतरिक पक्ष के सौंदर्य के समक्ष अधिक-गौण सा हो गया है।

जायसी प्रेम-प्रधान कवि हैं। प्रेम ही उनकी काव्य-कला का आधार है। प्रेम के स्वरूपों का चित्रण करने में ही उन्होंने अपनी संपूर्ण प्रतिभा का उपयोग किया है। उनकी प्रेम की अनुभूतियाँ बड़ी उज्वल हैं। उनकी अनुभूतियों में मानव हृदय क व्यापकता और सरसता है। उन्होंने प्रेम को उसके भीतर पैठ कर देखा है।

उनके शब्दों में, उनकी भाषा में प्रेम बोलता है। उनकी प्रेम की पीड़ा बड़ी गम्भीर पीड़ा है। वह ऐसी पीड़ा नहीं है, जो मनुष्य को वासना की ओर अग्रसर करती है, वरन् ऐसी पीड़ा है, जो मनुष्य को ऊपर उठाती है, और उसके हृदय में पवित्र भावनाओं का संचार करती है। उसमें कर्त्तव्य है, त्याग है, कष्ट सहिष्णुता है, पुरुषार्थ है, तन्मयता है, और तीव्रता है। उसे देख कर, उसकी कथाओं को सुन कर, मनुष्य ही नहीं; पक्षी तक आँसू बहाते हैं। सबसे अधिक विशेष बात तो यह है, कि उनके प्रेम की पीर, लौकिक न होकर अलौकिक है। वह परोक्ष के रूप में एक अपरोक्ष सत्ता, और सौंदर्य को हमारे सामने बड़ी कुशलता के साथ उपस्थित करती है।

जायसी की अनुभूतियाँ बड़ी प्रखर हैं। वे बड़े भावुक थे, उन्होंने अपनी भावुकता के साँचे में अपनी अनुभूतियों को खरादा कर अधिक दिव्य बना दिया है। उन्होंने दृश्यों का चित्रण बड़ी सफलता के साथ किया है। प्रकृति के विविध रूपों के चित्रण से उनका पदमावत भरा पड़ा है। नदियों, पहाड़ों, वनों, और पर्वतों का चित्रण उन्होंने बड़ी सफलता के साथ किया है। प्रकृति का सम्बन्ध भी उन्होंने मानव-हृदय से जोड़ा है। बारहों महीनों में प्रकृति का कैसा प्रभाव मानव हृदय के ऊपर पड़ता है, और उसके प्रभाव से मानव-हृदय के भीतर किस किस प्रकार के भाव उठते हैं—इसकी पूर्ण झलक उनके बारह मासों के चित्रण में मिलती है। उन्होंने प्रकृति के साथ मानव हृदय का प्रशंसनीय रागात्मक सम्बन्ध स्थापित किया है।

जायसी की भाषा बड़ी सरस और मधुर है। वह ठेठ अवधी है। उसमें अवधी के दोनों रूपों-पूर्वी अवधी और पश्चिमी अवधी का प्रयोग हुआ है। पर जायसी पूर्वी अवधी से अधिक प्रभावित जान पड़ते हैं। क्योंकि उनकी रचनाओं में पूर्वी अवधी ही के शब्द अधिक मिलते हैं। उन्होंने पूर्वी अवधी की क्रियाओं, और उसकी विभक्तियों का भी अधिक प्रयोग किया है। उन्होंने ऐसे भी शब्दों का प्रयोग किया है, जो अधिक प्रचलित नहीं थे। अप्रचलित शब्दों के प्रयोग के कारण उनकी भाषा में शिथिलता उत्पन्न हो गई है, और उसकी संबद्धता नष्ट हो गई है।

पूर्वी अवधी के साथ ही साथ जायसी ने पश्चिमी अवधी के लिंग वचनों, और उसके शब्दों का भी प्रयोग किया है। जायसी की यह दोनों ही प्रकार की भाषाएँ बोल चाल की, और बहुत सीधी सादी हैं। उनकी भाषाओं में सामासिक पदों का प्रयोग भी बहुत कम मिलता है। उनकी भाषा में दो से अधिक पदों के समास नहीं हैं। समासों में अधिकतर तत्पुरुष समास ही का प्रयोग उनकी भाषा में मिलता है। उन्होंने समासों का प्रयोग संस्कृत की शैली से न करके फारसी की शैली से किया है। उनकी भाषा में माधुर्य और सरसता है।

जायसी की शैली अपनी शैली है। वह दो शैलियों से प्रभावित है। कुछ तो उस पर सूफी कवियों का प्रभाव पड़ा है, और कुछ भारत के प्राचीन कवियों का, पर वह सर्वथा मौलिक है, और उस पर जायसी के व्यक्तित्व की छाप है। वह बड़ी सरस, मधुर, और हृदय ग्राहिणी है। दोहा चौपाई जायसी के छन्द हैं। सूक्तियों

और उक्तियों का भी जायसी ने अपनी शैली में प्रयोग किया है। सूक्तियों के प्रयोग के कारण जायसी की शैली में अधिक सरसता आ गई है।

जायसी के पूर्व कबीर ने निर्गुण पन्थ का प्रचार किया था। इसलिए यह स्वाभाविक है, कि जायसी के ऊपर कबीर का प्रभाव पड़े। जायसी और कबीर दोनों में कई बातों में साम्य और वैषम्य है। जायसी और कबीर दोनों ही मुसलमान हैं। दोनों ही के द्वारा हिन्दी काव्य का सुन्दर शृंगार हुआ है। पर काव्य कला की दृष्टि से दोनों की रचनाओं में अधिक अंतर है। कबीर में काव्य कला की अपेक्षा सुधार की भावना अधिक है। जायसी में 'सुधार' और उपदेश की भावना का पूर्णतः अभाव है। कबीर कवि की अपेक्षा सुधारक, और दार्शनिक हैं। उनकी रचनाओं में कोमल अनुभूतियों और सरस कल्पनाओं का अभाव है। भाषा और छन्दों का लालित्य भी उनकी रचनाओं में नहीं है। 'रस' और 'अलंकारों' की व्यवस्थित योजनायें कबीर की रचनाओं में कहीं दिखाई नहीं पड़तीं। इसमें संदेह नहीं, कि कबीर की रचनाओं में ऊँचे सिद्धान्तों का प्रतिपादन हुआ है, पर उस प्रतिपादन में किसी कवि की वाणी नहीं, प्रत्युत किसी सुधारवादी दार्शनिक की वाणी का उपयोग हुआ है। उसमें नीरसता और रूक्षता है। वह सहस्रों-लाखों मनुष्यों के हृदय की बात हो करके भी उनके हृदयों को स्पर्श नहीं कर सकी। क्योंकि वह अटपटी है। इसके प्रतिकूल जायसी कवि हैं। जायसी कवि के अतिरिक्त और कुछ हैं ही नहीं। जायसी की रचनाओं में काव्य-कला का अपूर्व विकास हुआ है। भाषा, भाव, छन्द, अलंकार, और रस प्रत्येक दृष्टि से जायसी खरे कवि सिद्ध होते हैं।

कबीर ने घृणा का चित्रण किया है। उनकी व्यापकता में फटकार और कटुता है। उन्होंने समाज के उन व्यक्तियों की खुल कर निन्दा की है, जिनका मन उनके 'मतों' के विपरीत था। उधर जायसी में प्रेम ही प्रेम है। जायसी अपने विरोधियों का भी सम्मान करते हैं। पहुँचे हुए फकीर होने पर भी जायसी के मन में अहंकार नहीं था। वे अपने मतों और सिद्धान्तों का प्रचार करने के लिए किसी विशेष संप्रदाय की भी स्थापना नहीं करते। वे प्रेम पूर्वक सबसे मिलते हैं, सबकी बात सुनते हैं, और सब की अच्छाइयों को ग्रहण करते हैं। वे बाह्य जगत की अपेक्षा अंतर्जगत में प्रवेश करते हैं, और सब को एक ही ब्रह्म की 'सत्ता' मानते हैं। जायसी के कथन का ढंग अतीव मधुर है। यद्यपि उनकी रचनाओं में दार्शनिकता है, और वे सब की सब आत्म तत्व से भरी हुई हैं, पर उन्होंने उसे इस ढङ्ग से सामने उपस्थित किया है, कि उसमें अपूर्व माधुर्य आ गया है। उन्होंने 'ब्रह्मवाद' की सत्ता को स्थापित करके मानव को मानव के अधिक निकट ला दिया है। मानवों के बीच में जो रागात्मक सम्बन्ध है, जायसी ने उसी के चित्रण में अपनी प्रतिभा का उपयोग किया है, और इस रूप में उन्होंने वह काम कर दिखाया है, जिसका कबीर स्वप्न देखा करते थे।

कबीर ज्ञानी थे, उपदेशक थे, और एक-मत के प्रवर्तक थे। हिन्दुओं के धर्म-ग्रन्थों का भी उन पर अधिक प्रभाव पड़ा था। पर जायसी की भाँति उनमें प्रेम की

भावना नहीं थी। कबीर निर्गुणवाद का डिंडोरा पीटते ही रह गए, पर हिन्दुओं और मुसलमानों के हृदयों को वे विमोहित न कर सके। इधर जायसी के 'प्रेम' ने सबको विमोहित कर लिया है। हिन्दू और मुसलमान दोनों ही जायसी की रचनाओं में एकाकार से हो गए हैं। जायसी सूफी कवि थे। प्रेम ही उनके काव्य का आधार था। हिन्दुओं के दर्शन से वे भी अधिक प्रभावित थे, पर इनमें कुछ विदेशीपन भी है, जो कबीर में बिलकुल नहीं है। कबीर जहाँ विशुद्ध भारतीय है, वहाँ जायसी में सूफी मसनवी शैली और उसके विचार भी पाए जाते हैं।

उस्मान गाजीपुर के निवासी थे। उनके पिता का नाम शेख हुसेन था। उन्होंने १६१३ ई० में 'चित्रावली' की रचना की, जो एक कथात्मक प्रेम काव्य है। 'चित्रावली' की रचना जायसी के ही पद-चिह्नों पर हुई है।

उस्मान के पश्चात् और कई सूफी कवियों ने जायसी का ही पदानुसरण करके प्रेम काव्यों की रचना की है, जिनमें शेखनबी, कासिमशाह, और नूरमुहम्मद का नाम उल्लेखनीय है।

निर्गुण पन्थ के प्रेमाश्रयी कवियों की रचनाओं का मन्थन करने पर यह ज्ञात होता है, कि उनकी रचनाओं का एक मात्र आधार प्रेम है। सभी कवियों ने प्रेम का ही चित्रण किया है। अपने प्रेम को परिस्फुटित करने के लिए उन्होंने लौकिक प्रेम कथाएँ चुनी हैं। वे प्रेम की कथाएँ साधारण न होकर ऐतिहासिक हैं।

प्रेमाश्रयी शाखा के साहित्य का सिंहावलोकन

इन प्रेम की कथाओं को चुनने में उन्होंने सबसे अधिक विशेषता यह प्रदर्शित की है, कि यद्यपि वे मुसलमान थे, पर उन्होंने सारी प्रेम कथाएँ हिंदू इतिहास से ग्रहण की हैं। इससे उनके प्रेम की विशुद्धता और व्यापकता प्रगट होती है। हो सकता है, कि उस यवनकाल में जो असहिष्णुता और धर्मांधता का युग था, उन्होंने हिन्दुओं के इतिहास से प्रेम कथाएँ ग्रहण करके हिन्दुओं और मुसलमानों के पारस्परिक संघर्ष को मिटाने का प्रयास किया हो, पर उनके काव्यों में कहीं भी उपदेश का भाव दृष्टिगोचर नहीं होता। इसलिए उनके प्रेम को विशुद्ध प्रेम ही कहना संगत होगा। उन्होंने हिंदू इतिहास से अपनी रचनाओं के लिए कथानक ग्रहण करके अपनी विशाल हृदयता और धार्मिक उदारता का परिचय दिया है। इतना ही नहीं, उन्होंने हिन्दू देवी देवताओं का भी वर्णन किया है, और उनकी 'अलौकिकता' की ओर भी संकेत किया है। यद्यपि उनके प्रेम चित्रों में सूफी सिद्धांतों का ही मुख्य रूप से प्रतिपादन किया गया है, पर उस पर भारतीय वेदान्त की छाप भी है। सूफी कवियों का पूर्ण लक्ष्य अपरोक्ष सत्ता की ओर है। उन्होंने अपने सम्पूर्ण 'लौकिक' साधनों का उपयोग अपरोक्ष सत्ता के ही लिए किया है। उनकी प्रेम कथाएँ लौकिकता के अञ्चल में अलौकिकता की ही सृष्टि करती हैं। अपनी प्रेम कथाओं में उन्होंने ऐसे रूपकों, चिन्हों, और प्रतीकों का वर्णन किया है, जिससे उनकी प्रेम कथाएँ रहस्यात्मक बन गई हैं, और अलौकिकता के चित्र अंकित करती हैं।

प्रेम काव्य के सभी कवियों को यदि हम भाववादी कवि कहें तो अत्युक्ति न होगी। उन्होंने अपनी रचनाओं में मस्तिष्क के तत्वों की अपेक्षा हृदय के तत्वों से ही अधिक काम लिया है। यही कारण है, कि उनकी रचनाओं में सरसता और मधुरता की प्रचुरता है। रचनाओं का विषय 'प्रेम' होने के कारण उनके काव्यों में शृंगार रस की ही अधिक संयोजना हुई है। शृंगार रस के दो पक्ष होते हैं—संयोग और वियोग। सूफी कवियों का प्रेम काव्य रहस्यात्मक है, इसलिए उसमें शृंगार के वियोग पक्ष की अधिक अभिव्यंजना हुई है। शृंगार के अतिरिक्त अन्य-तत्र वीभत्स और करुण इत्यादि रसों की भी अवतरणा हुई है, किन्तु इनकी अवतरणा से जितनी कथा की मनोरंजकता में अभिवृद्धि होती है, उतनी 'रस' की व्यंजना नहीं होती। अतः इनका अस्तित्व होने पर भी नहीं के ही बराबर है।

प्रेम काव्य के सभी कवियों की एक ही शैली है। यद्यपि उनकी शैली में न्यूनाधिक विकास के तत्त्व विद्यमान हैं, पर उनका मार्ग एक ही है। उन्होंने अपनी रचनाओं के लिए दो ही छन्दों को चुना है—'दोहा' और 'चौपाई'। प्रेम काव्य के सभी कवियों ने 'दोहा' और चौपाई में ही रचनाएँ की हैं। उनकी वर्णनात्मक शैली 'दोहा' और 'चौपाई' ही के साँचे में ढल कर अधिक आकर्षक और हृदय ग्राहिणी बन गई है। 'दोहा' और 'चौपाई' की प्रकृति पर ध्यान देकर ही उन्होंने भाषा का चुनाव किया है। उनकी भाषा अवधी है, जिसके साथ 'दोहा' और 'चौपाई' का संयोग बड़ी स्वाभाविकता के साथ स्थापित हुआ है। उनकी अवधी बड़ी सरल और सरस है, उसमें अधिकतर व्यवहारिक शब्दों को ही स्थान दिया गया है। सामासिक पदावालियों का भी उसमें अभाव है।

निर्गुण शाखा के कवियों के पश्चात् अब हम उन कवियों, और उनकी रचनाओं पर प्रकाश डालेंगे, जिन्हें सगुण शाखा के कवि कहते हैं, सगुण शाखा दो शाखाओं में

राम भक्ति शाखा

विभक्त है—राम भक्ति शाखा और कृष्ण भक्ति शाखा। राम भक्ति शाखा, वह है, जिसके कवियों ने श्री रामचन्द्र की भक्ति को मुख्य आधार मान कर रचनाएँ की हैं। राम भक्ति शाखा श्री रामचन्द्रजी की भक्ति पर अवलम्बित है। श्री रामचन्द्रजी की भक्ति के प्रवर्तक स्वामी रामानन्दजी माने जाते हैं। मध्यकाल में सर्व प्रथम स्वामी रामानन्द ने ही राम भक्ति का घोष किया था। स्वामी रामानन्द यद्यपि स्वामी रामानुजाचार्य के शिष्य थे, पर भक्ति के सिद्धान्तों को लेकर उनका उनके अनुयायियों से अनैक्य हो गया, जिससे वह दक्षिण से उत्तर भारत में चले आए, और नवीन ढंग से राम भक्ति का प्रचार करने लगे। उन्होंने राम भक्ति के प्रचार के लिए एक नवीन सम्प्रदाय की स्थापना की, जिसे रामानन्दी सम्प्रदाय कहते हैं। रामानन्दी सम्प्रदाय के आराध्य श्री रामचन्द्र हैं, जो विष्णु के अवतार और पारब्रह्म परमात्मा हैं। वे नाम, रूप, और गुण से संयुक्त होने पर भी नाम रूप और गुण से परे हैं। उनका विशाल रूप है—विशाल कार्य क्षेत्र है, जिसमें

सम्पूर्ण ब्रह्मांड समाविष्ट है। स्वामी रामानन्द ने अपने इस सम्प्रदाय की स्थापना करके भक्ति की विशालता का सन्देश दिया है, और उन्होंने उन वैष्णवों से पृथक अपना एक स्वतंत्र आदर्श स्थापित किया, जो अभी तक ईश्वर और ईश्वर की भक्ति को जाति पाँति तथा ऊँच नीच के संकीर्ण घेरे में बंद करके रखते चले आ रहे थे।

स्वामी रामानंद जी के द्वारा प्रवर्तित भक्ति पद्धति का जनता में अधिक प्रचार हुआ। कहना न होगा, कि कबीर, रैदास, पीपा और मलूक इत्यादि निर्गुणवादी संत जो राम भक्ति की ओर आकर्षित हुए, उसका एक मात्र कारण, स्वामी रामानंद की राम भक्ति के संबंध में वह व्याख्या थी, जिसमें उन्होंने उसे सगुण और निर्गुण से परे बताकर सर्वोच्च घोषित किया था। स्वामी रामानन्दजी के पश्चात् कबीर पीपा और मलूकदास इत्यादि सन्तों ने राम भक्ति के प्रचार में योग दिया। यद्यपि निर्गुणवादी सन्त स्वामी रामानन्द के सम्प्रदाय से पृथक थे, पर इसमें संदेह नहीं, कि उन्होंने उसी राम की भक्ति के प्रचार में योग दिया, जिसे स्वामी रामानन्द अपने आराध्य के रूप में सगुण और निर्गुण से परे घोषित कर चुके थे। स्वामी रामानन्द की शिष्य परम्परा में राम भक्ति के प्रचार में जिनसे अधिक सहायता प्राप्त हुई, वह हैं गोस्वामी तुलसीदास। यद्यपि गोस्वामी तुलसीदासजी के पूर्व स्वामी रामानन्दजी की शिष्य परम्परा में और भी कई ऐसे सन्त हो चुके हैं, जिन्होंने राम भक्ति के प्रसार में योग दिया है, पर तुलसीदासजी ने तो अपनी प्रतिभा—अपनी शक्ति, अपनी कुशलता और अपनी भक्ति की समन्वयकारिणी शक्ति से अमरता का एक युग स्थापित कर दिया। गोस्वामी तुलसीदासजी ने रामचरितमानस की रचना करके जन-जन के हृदय में राम भक्ति की अनुपम धारा बहा दी। उसी का यह परिणाम है, कि आज समाज के जन-जन का हृदय राम भक्ति के रस से आप्लावित है।

राम भक्ति शाखा के कवि

राम भक्ति शाखा के कवियों में गोस्वामी तुलसीदासजी का सर्व श्रेष्ठ स्थान है। गोस्वामी तुलसीदास जी का जन्म संवत् १५८९ के आस पास राजापुर में हुआ था। बाल्यावस्था में उन्हें अनेक कठिनाइयाँ उठानी पड़ी थीं। उनका पालन-पोषण गुरु नरहरिदासजी के द्वारा हुआ था। नरहरिदासजी से ही इन्होंने सर्व प्रथम श्री रामचन्द्रजी की कथा भी सुनी थी। वहाँ से यह फिर काशी चले गए। काशी में कई वर्षों तक रह कर इन्होंने वेदों और शास्त्रों का अध्ययन किया। इसके पश्चात् राजापुर लौट आए। वहाँ 'रत्नावली' के साथ इनका पाणिग्रहण हुआ। कई वर्षों के पश्चात् इन्हें विरक्ति उत्पन्न हो गई, और यह घर से निकल गए। इन्होंने राम भक्ति में तन्मय होकर काशी, अयोध्या, और चित्रकूट आदि स्थानों की यात्राएँ की। संवत् १६८० में, काशी में अस्सी घाट पर इनका स्वर्गवास हो गया।

गोस्वामीजी श्री रामचन्द्रजी के अनन्य भक्त थे। इन्होंने श्री रामचन्द्रजी की भक्ति में तन्मय होकर कई ग्रन्थों की रचना की है। इनका सुप्रसिद्ध काव्य ग्रन्थ श्री

रामचरितमानस है, जिसमें श्री रामचन्द्रजी के जीवन-वृत्त को काव्य के सूत्र में गूँथा गया है। श्री रामचरितमानस के अतिरिक्त इन्होंने और कई काव्य-ग्रन्थों की रचना की हैं, जिनके नाम इस प्रकार हैं:—विनय पत्रिका, दोहावली, कवितावली, गीतावली, रामाज्ञा प्रश्न, वैराग्य संदीपनी, पार्वती मङ्गल, रामलला नहछू, बरवै रामायण, कृष्ण गीतावली, और जानकी मङ्गल।

भक्ति के क्षेत्र में गोस्वामी तुलसीदास श्री रामचन्द्र जी के अनन्य भक्त थे। तुलसीदासजी की भक्ति की वास्तविकता को ठीक-ठीक समझने के लिए उनके पूर्व के भक्ति-इतिहास पर दृष्टि डालना अनिवार्य है। तुलसीदासजी के पूर्व रामानन्द, और वल्लभाचार्यजी का जन्म हो चुका था। उनके प्रयत्नों से भक्ति-रस जनता में प्रवाहित हो रहा था। भक्ति-रस की यह धारा भगवान की विचार-लहरों से परिपूर्ण थी। एक ओर भक्ति-रस की यह सगुण धारा प्रवाहित हो रही थी, और दूसरी ओर निर्गुणवाद की धारा बह रही थी, जो विदेशी विचारों से प्रभावित थी। निर्गुण वाद की यह धारा जायसी, कबीर, और कुतुबुन इत्यादि मुसलमान कवियों की वाणी से बहुत ही प्रोत्साहित हुई। किन्तु भारतीय परंपरा के विरुद्ध होने के कारण भारतीय समाज पर उसका अधिक प्रभाव न पड़ा, और वह कुछ दूर अग्रसर हो करके ही मरुस्थल की धारा की भाँति सूख गई।

प्रथम वर्ग की सगुण वादी धारा भारतीय परंपरा के अनुसार थी। उसमें वेद और शास्त्रों की मर्यादा, और उसके आचार-विचारों के तत्त्व थे। उसका स्वरूप लोकरंजक और लोक-धर्म रक्षक था। उसमें दुख और निराशा के लिए स्थान नहीं था। इसके विपरीत उसमें अधः पतितों को ऊँचे उठाने की भावना थी। अतः यह धारा बड़े वेग से भारतीय समाज में प्रवाहित हुई, और उसने समाज के हृदय को अपने अमृतोपमजल से आप्लावित कर दिया। सूर, और तुलसीदास इसी सगुण धारा के भक्त थे।

गोस्वामी तुलसीदास के 'राम' पारब्रह्म परमात्मा के अवतार थे। वे सगुण भी थे, और निर्गुण भी थे। गोस्वामीजी ने सगुण में ही निर्गुण की कल्पना की थी। वे सगुण और निर्गुण में किसी प्रकार का भेद नहीं मानते थे। यही कारण है, कि उन्होंने अपनी भक्ति में भक्ति के इन दोनों ही स्वरूपों को स्थान दिया है। उनकी भक्ति की सबसे बड़ी विशेषता यह है, कि वह लोकरंजक, और लोक धर्म-रक्षक है। वह व्यक्ति की ओर न जाकर सदैव समाज और लोक की ओर उन्मुख रहती है। उसमें शील है, सौंदर्य है, शक्ति हैं, और कर्म है। उसका लक्ष्य लोक कल्याण है। वह लोक कल्याण के लिए, धर्म और सत्य की रक्षा के लिए युद्ध की प्रेरणा उत्पन्न करती है। वह जन-जन से विश्व की ओर बढ़ती है, और संपूर्ण विश्व में एक ही 'राम' का अनुभव करती है। वह कहीं भी मर्यादा का परित्याग नहीं करती। मर्यादा की रक्षा के लिए ही वह वर्णाश्रम धर्म को मानती है। वर्णाश्रम को मानते हुए भी वह उपासना के क्षेत्र में जाति-पाँति को व्यर्थ समझती है। उसके निकट

सब में समता है। उसे सब के कल्याण की चिंता है। वह न तो मोक्ष के लिए विकल है, और न उसमें निर्वाण की कामना है। उसकी कामना केवल लोक-कल्याण में ही निहित

गोस्वामीजी की भक्ति लोक कल्याण की ही भावना पर आधारित है। उन्होंने उपासना के क्षेत्र में ज्ञान और भक्ति दोनों का समन्वय किया है। उन्होंने ज्ञान मार्ग का कहीं खण्डन नहीं किया, पर भक्ति मार्ग पर ही अधिक बल दिया है। भक्ति मार्ग में उन्हें दास्यभाव अधिक रुचिकर है। जहाँ कहीं भक्ति का प्रसंग आया है, उन्होंने दास्य-भाव की भक्ति को ही सर्वश्रेष्ठ प्रमाणित किया है। इसी प्रकार उन्होंने निर्गुणवाद का भी कहीं खण्डन नहीं किया है। पर भक्ति के प्रसंग में वे 'राम' के सगुण रूप पर ही अधिक बल देते हैं। उनकी भक्ति में दास्य भाव की प्रधानता है। इसलिए वह भगवान के ऐश्वर्य का बार बार स्मरण करती है। गोस्वामी जी अपने राम के तीन रूपों पर निछावर हैं। वे तीन रूप हैं—क्षमावान रूप, शरणागत वत्सल रूप, और करुणायतन रूप। तुलसीदासजी की भक्ति भगवान के इन्हीं तीनों रूपों का बार बार स्मरण और अभिनन्दन करती है।

तुलसीदासजी की भक्ति में शील, सौंदर्य, और शक्ति का पूर्ण विकास हुआ है; दूसरे शब्दों में तुलसी की भक्ति के ये तीन सोपान हैं। तुलसीदास जी की भक्ति इन्हीं तीनों सोपानों पर होती हुई सर्वोच्चता की ओर अग्रसर होती है। उसकी दृष्टि में श्री रामचन्द्र जी सौंदर्य के आगार, शील के सागर, और शक्ति के केन्द्र हैं। वह श्री रामचन्द्र जी के सौंदर्य में लोकपालन की शक्ति का अनुभव करती है। इसी प्रकार वह उनके शील में लोकरंजन, तथा उनकी शक्ति में उद्भव और लय की अखंड शाकत का आभास पाती है।

दार्शनिकता गोस्वामी जी की भक्ति में समाविष्ट है। वे कवि, संत, और धार्मिक होने के साथ ही साथ दार्शनिक भी थे। उन्होंने ब्रह्म, जीव, माया की स्थिति, प्रकृति, संसार की सत्यता, मोक्ष, और मोक्ष के साधन इत्यादि विषयों पर अपने महत्व पूर्ण विचार प्रगट किए हैं।

गोस्वामी जी जीव और ब्रह्म में एक रूपता मानते हैं। उनका कथन है, कि जीव और ब्रह्म में कोई अन्तर नहीं है। वे जीव को भी ईश्वर की तरह अजन्मा, निर्विकार, और नित्य मानते हैं। उनकी दृष्टि में जीवों की संख्या अनेक है, जो माया से सदैव आक्रांत रहते हैं। जीव माया के बंधनों से तभी मुक्ति पाता है, जब उस पर 'राम' की कृपा होती है। तुलसीदासजी के विचारानुसार जीव माया के कारण ब्रह्म से पृथक हो जाता है, और तब उसकी सत्ता पृथक बन जाती है। जीव और ब्रह्म की इस विभिन्नता का कारण केवल माया होती है। ब्रह्म और जीव के भेद का कारण 'अहंकार' भी होता है। अहंकार का नाश भगवान की भक्ति से ही संभव है। तुलसीदास जी की दृष्टि में माया अविद्या और असत्य है। वे माया के दो रूप मानते हैं—विद्या, और अविद्या। उनकी दृष्टि में विद्या माया नानारूपात्मक जगत की सृष्टि करती है।

जगत के समस्त गुण-दोष इसी के वशीभूत हैं। अविद्या माया बड़ी दुखदायिनी होती है।

तुलसीदास जी संसार की सृष्टि प्रकृति और उसके तत्वों से मानते हैं। वे संसार को सत्य भी मानते हैं, और असत्य भी मानते हैं, या सत्यासत्य दोनों मानते हैं। उनकी दृष्टि में अखिल विश्व ब्रह्म का ही एक विस्तृत स्वरूप है। जीव की दृष्टि में यह सारा विश्व अलौकिक और अनिर्वचनीय है। मोक्ष के सम्बन्ध में तुलसीदासजी का मत है, कि मोक्ष के तीन रूप हैं—सायुज्य, सारूप्य, और सालोक्य। गोस्वामी जी की सगुणात्मक दृष्टि में 'सालोक्य' मुक्ति बहुत ही उच्च है। गोस्वामी जी मुक्ति के दो साधन भी मानते हैं—ज्ञान और भक्ति॥ गोस्वामी जी यद्यपि भक्ति को ही प्रधानता देते हैं, पर उन्होंने अपने रामचरितमानस में ज्ञान और भक्ति दोनों का समन्वय विचित्र ढङ्ग से किया है।

लोकनायकत्व और समन्वयवाद गोस्वामीजी के जीवन के मुख्य तत्त्व हैं। उनका व्यक्तित्व अधिक महान है। उनके व्यक्तित्व में कई प्रकार की महानताएँ हैं। वे लोक नायक के रूप में महान हैं, समन्वयवादी के रूप में महान् हैं, धार्मिक के रूप में महान हैं, कवि के रूप में महान हैं, और निर्माता के रूप में महान हैं। वे महानताओं की समष्टि हैं।

तुलसीदासजी लोकनायक हैं। उन्होंने भारतीय समाज का परिचय प्राप्त करने में रञ्च मात्र भी भूल नहीं की। उन्होंने उसके रोग को भली भाँति पहचान कर उसकी समुचित चिकित्सा की। वह सामाजिक रोगों से जर्जरित हो उठा था। नैराश्य ने उसके जीवन में घर बना लिया था। वह अपने राजनैतिक, आर्थिक, नैतिक, सामाजिक और धार्मिक उत्थान की आशाएँ पूर्ण रूप से छोड़ चुका था। तुलसीदास जी ने उसकी ऐसी उचित चिकित्सा की, कि उसकी रगों में पुनः संजीवनी शक्ति का संचार हो उठा। वह आशा की भावनाओं से उदीप्त होकर पुनः उठ पड़ा, और जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में सवेग दौड़ने लगा। उसकी उस दौड़ का ही परिणाम आज की सफलता है। समाज की आज की सफलता में गोस्वामी जी का बहुत बड़ा हाथ है। यदि गोस्वामी तुलसीदासजी ने अकबर के शासन काल में समाज की चिकित्सा न की होती, समाज को रामचरित की औषधि न पिलाई होती तो क्या आज का समाज इस प्रकार अपने वैभवों पर मुसकरा सकता। आज के समाज के निर्माता गोस्वामी तुलसीदासजी ही हैं; इसलिए हम उन्हें लोकनायक कहते हैं।

गोस्वामी जी का लोकनायकत्व उनकी समन्वयवादी प्रकृति से और भी अधिक चमत्कृत हो उठा है। एक सुप्रसिद्ध विद्वान के कथनानुसार भारतीय समाज का नायक वही हो सकता है, जिसमें समन्वय करने की मुख्य भावना हो। क्योंकि भारतीय समाज में अनेक प्रकार की संस्कृतियाँ, साधनाएँ, जातियाँ, आचार निष्ठा और विचार पद्धतियाँ प्रचलित हैं, जो परस्पर एक दूसरे की विरोधिनी हैं। इन परस्पर विरोधी परिस्थितियों का ज्ञान प्राप्त करके उनका समन्वय किए बिना कोई भारतीय

समाज का लोकनायक नहीं हो सकता। भगवान कृष्ण लोकनायक हैं, और इसलिए लोकनायक हैं, कि उनकी गीता में समन्वयवाद की विराट चेष्टा है। बुद्धदेव भी लोकनायक हैं, क्योंकि उनमें भी समन्वय की भावना है। गोस्वामी तुलसीदासजी भी आदि से लेकर अंत तक समन्वयवादी हैं। उनका रामचरितमानस समन्वयवाद की ही विराट चेष्टा है। उन्होंने अपने रामचरितमानस में विभिन्न परिस्थितियों का समन्वय किया है। उन्होंने लोक के साथ शास्त्र का, गार्हस्थ्य के साथ वैराग्य का, निर्गुण के साथ सगुण का, भक्ति के साथ ज्ञान का, कथा के साथ तत्त्व ज्ञान का, ब्राह्मण के साथ चंडाल का और पंडित के साथ अपंडित का संबंध स्थापित किया है। उनके इस संबंध स्थापन में त्याग, प्रेम और कल्याण की भावना है।

गोस्वामी तुलसीदासजी अनन्य धार्मिक थे। उनके धर्म का क्षेत्र अधिक विस्तृत है। उनके धर्म के क्षेत्र में संपूर्ण विश्व निवास करता है। वे विश्व के संपूर्ण मानवों के हृदय में राम की शुभ ज्योति का दर्शन करते हैं। पर फिर भी वे हिन्दू हैं, और सनातन धर्म पर आस्था रखते हैं। वे सनातन धर्म को इसलिए उच्च नहीं मानते, कि वह उनके जन्म का धर्म है, वरन् वे इसलिए उसे सर्वोत्तम मानते हैं, कि उसमें विश्व बन्धुत्व की भावना है। वे अपने सनातन धर्म के विस्तृत क्षेत्र में वैष्णव, शैव, शाक्त, बौद्ध और जैन सबको देखते हैं। उनके सनातन धर्म से कोई पृथक नहीं है। उनके राम उनके सनातन धर्म के प्रतिष्ठाता हैं। वे निर्गुण भी हैं, और सगुण भी हैं। वे ही ब्रह्मा हैं, वे ही विष्णु हैं, और वे ही शिव हैं। वैष्णवों शैवों, और शाक्तों में वही विद्यमान हैं। अपनी इस सर्व व्यापक धर्म प्रवृत्ति की प्रेरणा से ही उन्होंने भगवान शिव की भूरि भूरि-प्रशंसा की है, और विनय पत्रिका में शक्ति का भी अभिनन्दन किया है। इस प्रकार गोस्वामी जी ने सनातन धर्म के विस्तृत क्षेत्र में अनेक मत मतांतरों और समाज में प्रचलित विभिन्न संप्रदायों को सम्मिलित करके समाज की असमता को दूर करने का प्रशंसनीय प्रयत्न किया है, और उसे लोक कल्याण का स्वरूप प्रदान किया है।

महाकवि के रूप में तुलसीदासजी की महानता प्रशंसनीय है। वे भक्त हैं, साधक हैं। उनकी भक्ति और उनकी साधना उच्चिकोटि की है। उनकी आंतरिक भक्ति और उनकी साधना ही कविता के रूप में छलछला उठी है। उनकी भक्ति जैसी दृढ़ है, उनकी साधना जैसी परमोज्वल है, वैसी ही उनकी कविता भी सर्वगुण संम्पन्न और उत्कृष्ट है। जिस प्रकार उनकी भक्ति और उनकी साधना में लोक कल्याण का भाव निहित है, उसी प्रकार उनका काव्य भी लोक कल्याण के लिए है। उन्होंने स्वांतः सुखाय रचना की है। उनके स्वांतः सुखाय और पर हिताय में कोई अन्तर नहीं है। उनका स्वांतः सुखाय ही दूसरे शब्दों में पर हिताय और लोक हिताय है। उन्होंने अपने काव्य में जिन राम के गुणों का चित्रण किया है, वे स्वयं लोक कल्याण की प्रतिमूर्ति हैं।

गोस्वामी तुलसीदास जी की कविता में बुद्धि और हृदय का सामंजस्य है। पर

जिस तरह कबीर की कविता में बुद्धिवाद का अधिक विकास हुआ है, उस तरह का बुद्धि विकास गोस्वामी जी की कविता में नहीं है। उनकी कविता में बुद्धि की अपेक्षा हृदय की प्रचुरता है। उन्होंने बुद्धिवाद का पल्ला वहीं तक पकड़ा है, जहाँ तक उन्हें उससे अपनी भक्ति को पुष्ट करने का बल प्राप्त हो सकता है। उनका हृदय वाद अधिक विस्तृत है। उसमें व्यष्टि की भावना न होकर समष्टि की कामना है। उसमें जो वेदना है, जो सहानुभूति है, वह समष्टि के लिए है। उनके बुद्धिवाद में संकीर्णता नहीं है। जहाँ वे ज्ञान के क्षेत्र में स्थित हैं, वहाँ भी उनका स्वरूप अधिक विशद और आदर्शमय है। उनका ज्ञानवाद भी उनके हृदय वाद की ही भाँति लोक-कल्याण की ओर उन्मुख है।

चारित्रिक दृष्टि से भी गोस्वामीजी महान् हैं। उन्होंने समाज के भीतर महान् चरित्र की स्थापना की है। उनके रामचरितमानस का प्रत्येक चरित्र महान् है। किसी में त्याग की महानता है, तो किसी में सत्य की। किसी में कर्त्तव्य की महानता है, किसी में प्रेम, और विश्वास की। किसी में साहस और शक्ति की महानता है तो किसी में पुरुषार्थ और लोक-कल्याण की; तात्पर्य यह, कि उनका एक चरित्र भी ऐसा नहीं है, जिसमें कोई न कोई महानता न हो। उनके 'राम' तो महान् चरित्र के भंडार हैं। गोस्वामी तुलसीदासजी ने अपने राम के महान् चरित्रों के द्वारा ही समाज को अनेक कल्याणकारी दिशाओं की ओर चलने के लिए प्रेरणा दी है। उन्होंने समाज के भीतर राम-नाम का प्रचार किया, और उसमें निःस्वार्थ कर्म की भावना उत्पन्न की। इसके साथ ही साथ उन्होंने समाज को कर्त्तव्य-पालन की ओर उन्मुख किया। कर्त्तव्य पालन के मार्ग में, उन्होंने समाज को धैर्य के साथ अनेकानेक विपत्तियों से युद्ध करना भी सिखाया। उन्होंने धर्म, सत्य, और न्याय के लिए समाज के भीतर त्याग, और बलिदान की परमोज्वल भावना भी उत्पन्न की।

गोस्वामी तुलसीदासजी हिन्दी के महाकवि हैं। उन्होंने काव्य के क्षेत्र में अमर कीर्ति प्राप्त की है। अन्यान्य कवियों की भाँति उनके भी काव्य के दो स्वरूप हैं—बाह्य और आन्तरिक। काव्य के बाह्य स्वरूप में भाषा, छन्द, और अलंकार इत्यादि आते हैं। काव्य का आंतरिक स्वरूप वह भाव है, जिसे काव्य की आत्मा कहते हैं। गोस्वामी तुलसीदासजी के काव्य का बाह्य और आंतरिक-दोनों ही स्वरूप अधिक प्रबल है। काव्य के दोनों ही स्वरूपों का सौष्ठव उनकी रचनाओं में पूर्ण मात्रा में पाया जाता है।

गोस्वामीजी भक्त कवि हैं। उनकी कविता का आधार भक्ति की विह्वलता है। उनकी कविता, और उनकी भक्ति-विह्वलता में कोई अन्तर नहीं है। उनकी कविताओं के शब्द-शब्द में उनकी वह आत्मा विराजमान है, जो राम की भक्ति में राममय हो गई है। उनकी रचनाओं में जो तन्मयता है, जो संलग्नता है; वह इसी का परिणाम है। उन्होंने राम-भक्ति के सरोवर में डूब करके ही अपने काव्यों की रचना की है। जिस प्रकार उनकी भक्ति पवित्र है, जिस प्रकार उनके राम का चरित्र पतित पावन है, उसी

प्रकार उनकी कविता भी पतित पावनी और लोक कल्याण कारिणी है। उनकी कविताओं का उद्देश्य केवल लोक-कल्याण ही है। उन्होंने अपने सुख के लिए, अपनी आत्मा की संतुष्टि के लिए काव्य-रचना नहीं की है। उनका ध्यान समाज की ओर है, लोक की ओर है। इसीलिए हम उन्हें समाज और लोक का प्रतिनिधि कवि कहते हैं।

तुलसीदासजी के भावों में बड़ी मनोरमता और पवित्रता है। उन्होंने जहाँ जिस भाव का चित्रण किया है, बड़ी अपूर्वता के साथ किया है। भक्त होने के कारण उनमें अधिक तन्मयता है। अपनी तन्मयता से ही वे मानव-हृदय के भीतर पैठ सके हैं, और भीतर से मुक्ता निकाल कर बाहर रखने में समर्थ हो सके हैं। मानव-हृदय के समस्त भावों पर उनका एकाधिपत्य है। वे प्रेम से भी पूर्ण परिचित हैं, और कठोरता से भी। वे अनुराग को भी जानते हैं, और वैराग्य को भी। संयोग से भी उनकी निकटता है, और वैराग्य से भी; तात्पर्य यह है, कि वे मानव हृदय से पूर्ण रूप से परिचित हैं। उनकी भावानुभूति बड़ी प्रबल, और क्षमताशालिनी है। भावों का चित्र अंकित करने में वे अधिक कुशल हैं। उन्होंने जहाँ जिस भाव का चित्रण किया है, वहाँ उसका एक रूप-सा खड़ा कर दिया है। उनके भाव-रूपों में न कहीं अल्पता की उदासीनता है, और न कहीं अतिरेकता की अनर्गलता। उनके भावों का व्यापार बड़ा ही संयत और मर्यादा पूर्ण है। उनके भावों को प्रगट करने वाले शब्द बड़े निपुण हैं। उनके शब्द बोलते से जान पड़ते हैं।

गोस्वामीजी का मानव हृदय पर पूर्ण अधिपत्य है। उन्होंने मानव हृदय के संपूर्ण भावों का अभिव्यंजन किया है। उनके शब्द किसी विशेष रस पर आधारित नहीं हैं। मानव हृदय में जितने प्रकार के 'रसों' का उद्रेक हो सकता है, उनकी रचनाओं में वे सभी रस पूर्ण मात्रा में प्राप्त होते हैं। आचार्यों ने काव्य के अंतर्गत नौ रसों की कल्पना की है—शृंगार, अद्भुत, भयानक, बीभत्स, रौद्र, हास्य, वीर, वात्सल्य, और करुण। गोस्वामी तुलसीदासजी का रामचरित मानस रसों का भंडार है। इन समस्त रसों के संचारी और स्थायी भावों का भी उनकी रचनाओं में पूर्ण विकास हुआ है। उन्होंने जिस रस की जहाँ धारा बहाई है, वहाँ उसका एक रूप-सा खड़ा कर दिया है।

गोस्वामी तुलसीदासजी ने प्रबन्ध और मुक्तक-दोनों ही प्रकार के काव्यों की रचना की है। उनका प्रबन्ध काव्य रामचरितमानस अधिक प्रसिद्ध है। भावों और रसों की दृष्टि से रामचरित मानस जितना अपूर्व है, उतना ही वह कथा की दृष्टि से भी अधिक मनोरम है। रामचरितमानस में कथा का विकास पूर्णता के साथ हुआ है। आदि से लेकर अंत तक कथा का प्रवाह अक्षुण्ण है। उसका वेग कहीं भी शिथिल होता हुआ दृष्टिगोचर नहीं होता। उन्होंने अपनी मूल कथा के बीच-बीच में बहुत सी घटनाओं, और उपकथाओं का भी सन्निवेश किया है। यह सन्निवेशन इतनी स्वाभाविकता और कुशलता के साथ किया गया है, कि वे सबकी सब घटनाएँ और

उपकथाएँ मूल कथा का ही एक अंग बन गई हैं। मूल कथा में घटनाओं और उपकथाओं का सन्निवेशन करते हुए गोस्वामी जी मूल कथा को नहीं भूलते। उनकी दृष्टि में मूल कथा की प्रधानता और उसका महत्व सर्वत्र प्रमुख रूप में ही बना रहता है। उन्होंने मूल कथा के उत्कर्ष को बढ़ाने के लिए ही उसमें घटनाओं और उपकथाओं का सन्निवेशन किया है। वे सहसा किसी घटना का संबंध अपनी मूल कथा के साथ नहीं स्थापित कर देते। उन्हें जब ऐसा करना होता है, तब वे बड़ी निपुणता के साथ अपनी मूल कथा के उत्तर और पूर्व भाग के तारतम्य को स्थापित करते हैं, और बीच में उस घटना को इस प्रकार स्थापित कर देते हैं, कि वह मूल कथा का एक अंग बन जाती है, और कथा के सौन्दर्य को बढ़ाने में अधिक सहायक सिद्ध होती है।

गोस्वामी तुलसीदासजी का प्रबन्ध काव्य सभी गुणों से संयुक्त है। कथा, संवाद, चरित्र चित्रण प्रत्येक दृष्टि से वह अनुपम है। जिस प्रकार उसमें कथा का अटूट प्रवाह है, उसी प्रकार उसमें संवाद, और कथोपकथन की स्वाभाविकता भी है। उनके सभी संवादों में नाटकीय कला का प्रचुर विकास हुआ है। उनके संपूर्ण कथोपकथन और संवाद समय और परिस्थिति के ही अनुरूप हैं। उनके सभी चरित्र आदर्श जगत के हैं, जो बड़ी कुशलता, और मार्मिकता के साथ आपस में बात चीत करते हैं। संयम, और मर्यादा उनके चरित्रों का लक्ष्य है। चरित्रों के चित्रण में उन्होंने बड़ी पटुता प्रदर्शित की है। उनका कोई भी चरित्र अपनी स्वाभाविक सीमा का उलंघन नहीं करता। उन्होंने केवल आदर्श ही चरित्र नहीं उपस्थित किए हैं, वरन् ऐसे भी चरित्र उपस्थित किये हैं, जो निम्नकोटि के बहुत ही साधारण हैं; पर इन साधारण कोटि के चरित्रों के उपस्थित करने में भी उनका उद्देश्य महान् है; अतः उनमें भी महानता आ गई है।

गोस्वामीजी वर्णन में भी अधिक कुशल हैं। उन्होंने अपने रामचरितमानस में अनेक स्थितियों, अनेक मानवी वृत्तियों, और अनेक मानव स्वरूपों का वर्णन किया है। वे प्रकृति और मानव-दोनों के ही मार्मिक पारखी हैं। जिस प्रकार प्रकृति के विविध स्वरूपों को उन्होंने देखा है, उसी प्रकार मानव के विविध स्वरूपों का भी उन्हें ज्ञान है। रामचरितमानस में, विभिन्न स्थलों में उन्होंने प्रकृति का जो मनोहर चित्रण किया है, उससे उनकी मर्मज्ञता प्रगट होती है। वे प्रकृति के बाह्य स्वरूपों को ही देख कर शांत नहीं हो जाते। वे उसके भीतर भी प्रवेश करते हैं, और उसमें उस सौन्दर्य का दर्शन करते हैं, जो अक्षय है, अलौकिक है। वे प्रकृति को मानव जीवन से पृथक नहीं समझते। प्रकृति और मानव-जीवन की एकाकारिता का उन्होंने पूर्ण रूप से अनुभव किया है। वे मानव जीवन और उसकी परिस्थितियों के भी पूर्ण पारखी हैं। मानव के मन की संपूर्ण वृत्तियों का उन्होंने रामचरितमानस में चित्रण किया है। उनकी रचनाएँ मानव की संपूर्ण वृत्तियों का ही एक चित्र हैं। यही

कारण है, कि हम गोस्वामी तुलसीदासजी को मानव जगत का प्रतिनिधि कवि कहते हैं।

गोस्वामीजी के काव्य का बाह्य स्वरूप भी अधिक व्यापक, और आकर्षक है। उन्होंने अपनी रचनाओं में विविध छन्दों का प्रयोग किया है। चौपाई और दोहे में उन्हें सबसे अधिक सफलता प्राप्त हुई है। उनके रामचरितमानस में चौपाई और दोहे ही सबसे अधिक संख्या में मिलते हैं। चौपाई और दोहे के अतिरिक्त उन्होंने सोरठा, वंशस्थ, शार्दूल विक्रीड़ित, मालिनी, और भुजङ्ग प्रयात इत्यादि छन्दों का भी प्रयोग किया है। उन्होंने ऐसे छन्दों का भी अधिक प्रयोग किया है, जो गीतात्मक हैं। 'गीतावली' और 'विनय पत्रिका' के उनके गीत बहुत ही प्रिय हैं। अलङ्कारों की योजना भी उनकी रचनाओं में सुचारुता के साथ हुई है। रामचरितमानस में प्रायः सभी प्रकार के अलंकारों के उदाहरण मिलते हैं। 'बरवै रामायण' की रचना केवल अलंकारों के ही लिए हुई है। उनकी उपमाएँ और रूपक भी अद्वितीय हैं। सांगोपांग रूपक का चित्र उन्होंने बड़ी मार्मिकता के साथ अंकित किया है।

गोस्वामी तुलसीदासजी भाषा के पंडित थे। उन्होंने अपनी रचनाओं में दो प्रकार की भाषा का प्रयोग किया है—एक अवधी, और दूसरी ब्रज। पर इन भाषाओं की शुद्धता और उसके लालित्य की ओर उनका ध्यान कम जान पड़ता है। भाषा सौष्ठव की अपेक्षा उनका ध्यान भाव-विकास की ओर अधिक है। यही कारण है, कि उन्होंने भाषा के परिमार्जन, और उसकी सुन्दरता में अपना अधिक समय नहीं लगाया। जहाँ जो उपयुक्त शब्द प्राप्त हो सके हैं, उन्होंने उन्हें ले लिया है। शब्दों के निर्वाचन और सङ्गठन में उन्होंने केवल इसी बात का ध्यान रक्खा है, कि उनके गृहीत शब्द उनके भावों को प्रगट करने में अधिक सहायक सिद्ध हो सकें। उन्होंने यद्यपि संस्कृत के तत्सम शब्दों का अधिक प्रयोग किया है, पर उनकी भाषा कई भाषाओं को स्पर्श करती है। उन्होंने कई भाषाओं से कहावतें और मुहाविरे लेकर उनका अपनी भाषा में उचित और उपयुक्त प्रयोग किया है।

उनक रामचरितमानस की भाषा पश्चिमी अवधी है। जानकी मङ्गल और पार्वती मङ्गल में पूर्वी अवधी का प्रयोग हुआ है। गीतावली, दोहावली, कवितावली, श्रीकृष्ण गीतावली, और विनय पत्रिका की भाषा ब्रजभाषा है। रामचरितमानस के प्रत्येक कांड के आरंभ में गोस्वामीजी ने संस्कृत के श्लोक भी लिखे हैं। उन्होंने अपनी अवधी में संस्कृत के तत्सम शब्दों का प्रयोग अधिक संख्या में किया है। संस्कृत के तत्सम शब्दों की प्रचुरता के कारण उनकी अवधी जायसी की अवधी से अधिक सरस और कोमल है। संस्कृत के तत्सम शब्दों के अतिरिक्त उनकी भाषा में भोजपुरी, गुजराती, बंगाली और मराठी इत्यादि प्रान्तीय भाषाओं के शब्द भी मिलते हैं। उन्होंने कहीं कहीं खड़ी बोली की क्रियाओं का भी प्रयोग किया है। संस्कृत की विभक्तियाँ, सर्वनाम और क्रिया विशेषण उनकी भाषा में मिलते हैं। उन्होंने अनेक नई

क्रियाओं का भी निर्माण किया है। जैसे:—उपदेसेउड, रग्गे और आदरिये इत्यादि। इन क्रियाओं के कारण उनकी भाषा अत्यधिक अभिव्यञ्जक हो गई है। उन्होंने अपनी भाषा को संस्कृत का स्वरूप देने के लिए संयुक्ताक्षरों, और अनुस्वारों का भी अधिक प्रयोग किया है। सैकड़ों रूढ़िवादी प्रयोग भी उनकी भाषा में मिलते हैं। अरबी और फारसी के भी शब्दों का प्रयोग उनकी भाषा में मिलता है।

गोस्वामी तुलसीदासजी अपने युग के प्रतिनिधि कवि हैं। उनका भाव और भाषा पर पूर्ण अधिकार है। यद्यपि उनकी भाषा अवधी है, पर उन्होंने अपने युग में प्रचलित सभी भाषाओं से उपयुक्त शब्द लिए हैं। उन्होंने उन समय के सभी छन्दों में रचनाएँ की हैं, जो उनसे पूर्व हिन्दी-काव्य जगत में प्रचलित थे। उन्होंने अपने काव्यों में उन समस्त शैलियों का भी प्रयोग किया है, जो उनसे पूर्व हिन्दी-काव्य जगत में प्रचलित थीं। उन्होंने अपने युग की सम्पूर्ण शैलियों में रचना करके यह सिद्ध कर दिया है, कि उनमें काव्य-रचना की अपूर्व शक्ति है। उन्होंने चन्द की छप्पय, कबीर की दोहा, सूर की पद और गीत, जायसी की दोहा और चौपाई, रीतिकारों की कवित्त और सवैया, रहीम की बरवै, और ग्रामीणों की सोहर इत्यादि शैलियों में रचना करके अपनी अपूर्व काव्य प्रतिभा का परिचय दिया है। उनकी सभी शैलियाँ अत्यधिक स्वाभाविक, और भावाभिव्यञ्जना से परिपूर्ण हैं।

केशवदास राम शाखा के द्वितीय कवि हैं। उनका जन्म संवत् १६१२ के लगभग ओड़छा नगर में हुआ था। उनके पिता का नाम पं० काशीनाथ था, जो सनाढ्य ब्राह्मण थे। केशव बहुत बड़े विद्वान थे। विद्वत्ता उनकी पैतृक सम्पत्ति थी। उनके पूर्व उनके कुल में कई प्रसिद्ध विद्वान हो चुके थे। केशव स्वयं भी संस्कृत के प्रगाढ़ विद्वान थे। केशव पहले हिन्दी में कविता करना नहीं चाहते थे; क्योंकि वे संस्कृत के विद्वान थे, और हिन्दी को हेय समझते थे, पर हिन्दी की लोक प्रियता के कारण उन्हें विवशतः हिन्दी के ही क्षेत्र में आना पड़ा। वे एक तपोनिष्ठ विद्वान ब्राह्मण थे। श्री रामचन्द्रजी के प्रति उनके हृदय में अनन्य भक्ति थी।

संवत् १६७६ में केशव का परलोकवास हो गया।

केशव ने कई ग्रन्थों की रचना की हैं, जिनमें रामचन्द्रिका, रसिक प्रिया, कवि प्रिया, विज्ञान गीता, जहाँगीर जस चंद्रिका, वीर सिंहदेव चरित, और रतनबावनी अधिक प्रसिद्ध हैं। उनके ग्रन्थों में रामचन्द्रिका का सर्व श्रेष्ठ स्थान है। यही वह काव्य ग्रन्थ है, जिसके कारण केशव को हिन्दी-काव्य जगत में सुख्याति प्राप्त हुई है। इसमें श्री रामचरितमानस की भाँति श्री रामचन्द्रजी की कथा का विस्तार पूर्वक वर्णन है। पर श्री रामचरितमानस के 'राम' और केशव के 'राम' में अधिक अंतर है। श्री रामचरितमानस के राम सर्व व्यापक भगवान हैं, और केशव के 'राम' एक नर हैं, जो सर्व गुण संपन्न हैं। इसीलिए 'रामचन्द्रिका' की गणना नर-काव्य में की जाती है।

केशव रीति काव्य के आचार्य कहे जाते हैं। कुछ लोगों का कथन है, कि केशव रीति काव्य के प्रवर्तक भी हैं। किन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं, कि केशव के पूर्व किसी ने रीति-शास्त्र पर लिखने का प्रयास नहीं किया था। केशव के पूर्व कई ऐसे रचनाकार हो चुके हैं, जिन्होंने साहित्य शास्त्र के अंगों पर प्रकाश डाला है। शिव-सिंह सेंगर के कथनानुसार ७०० विक्रमाब्द में पुष्य नामक कवि हो चुका था, जिसने अलङ्कार शास्त्र विषयक एक ग्रन्थ की रचना की थी। गोप कवि ने भी अलंकार के दो छोटे-छोटे ग्रन्थ लिखे थे। अकबर के राजत्व काल में दो और पुस्तकों की रचना हुई थी, जिनका नाम 'शृंगार सागर', और 'हित तरंगिनी' है। 'हित तरंगिनी' में रसों का निरूपण किया गया है। 'शृंगार सागर' में शृंगार रस का वर्णन है। अकबर के ही समय में 'रहीम' ने बरवै छन्दों में नायिका भेद लिखा था। स्वयं केशव के बड़े भाई बलभद्र ने 'नख शिख' और दूषण विचार पर एक ग्रन्थ की रचना की थी। पर साहित्यिक दृष्टि से इन ग्रन्थों का कोई मूल्य नहीं था। ये सभी ग्रन्थ साहित्य शास्त्र संबंधी क्षीण प्रयास मात्र थे। इस दिशा में सर्व प्रथम युगांतर कारी प्रयत्न केशव ने ही किया। केशव ही सर्व प्रथम उस धारा को मोड़ने में समर्थ सिद्ध हुए, जो अभी तक भक्ति के नाम से साहित्य के अन्तर्गत छलछला रही थी। इसलिए हम केशव को ही रीति प्रवाह का प्रवर्तक, और प्रथम आचार्य मानते हैं।

केशव हिन्दी साहित्य के प्रथम आचार्य माने जाते हैं। उनकी रचनाओं में कवित्व कम, और आचार्यत्व अधिक है। उन्होंने साहित्य-शास्त्र पर ग्रन्थों की रचना तो की ही, साथ ही काव्य को चमत्कारवाद की ओर भी मोड़ा। उनकी रामचंद्रिका चमत्कारों से भरी पड़ी है। उन्होंने अपनी रामचंद्रिका में बहुत से अलंकारों का प्रयोग किया है। संस्कृत के अलंकारों का भी प्रयोग उन्होंने रामचंद्रिका में किया है। वाण, माघ, भवभूति, और कालिदास इत्यादि संस्कृत के महाकवियों की कल्पनाओं को रामचंद्रिका में स्थान देकर उन्होंने अपनी संस्कृत विज्ञता का परिचय दिया है। अपने हृदयगत भावों का वर्णन करने के लिए उन्होंने पिंगल शास्त्र के सभी छन्द समाप्त कर डाले हैं। ऐसा कोई छन्द नहीं, जिसका उदाहरण उनकी रामचंद्रिका में न मिलता हो। अलंकारों और छन्दों के चक्कर में पड़ कर उन्होंने स्पष्टतः कवित्व की उपेक्षा की है। उनकी दृष्टि सर्वत्र भाव की ओर से उदासीन दिखाई पड़ती है। इसके विपरीत वे सर्वत्र काव्य में अलंकारों, छन्दों, और शब्दों के द्वारा चमत्कार उत्पन्न करते हुए दृष्टिगोचर होते हैं। उन्हें इस बात की चिन्ता बिलकुल नहीं है, कि कोई उनके मर्म वेधी स्थलों को पढ़ कर अपना हृदय पकड़ ले; पर उन्हें इस बात की पूर्ण चिन्ता है, कि उसके हृदय पर उनके गंभीर पांडित्य का अवश्य प्रभाव पड़े। पांडित्य का प्रभाव प्रगट करने के लिए उन्होंने अपने काव्य में कठिन से कठिन शब्दों का प्रयोग किया है। कठिन अप्रचलित शब्दों और दुरूह अलंकारों की भरमार के कारण उनका काव्य अधिक दुरूह बन

गया है। इतना दुरूह बन गया है, कि उसके कारण लोग उन्हें कठिन काव्य का प्रेत कहते हैं।

केशव की काव्य कला पर उनके आचार्यत्व की पूर्ण छाप है। वे सर्व प्रथम आचार्य हैं, और कवि उसके पश्चात्। उनकी रचनाओं में काव्य का चमत्कार अधिक है, और कवि की कला का अभाव। उनमें प्रतिभा है, वाक् वैदग्धता है, और प्रकांड पांडित्य है। पर उनमें भावानुभूति नहीं है। जहाँ वे भावों के क्षेत्र में उतरे हैं, वहाँ वे असफल सिद्ध हुए हैं। क्योंकि वहाँ भी उन्होंने अपने पांडित्य के प्रदर्शन में ही अपनी प्रतिभा का उपयोग किया है। वे सर्वत्र मस्तिष्क का ही अनुसरण करते हुए दृष्टिगोचर होते हैं। उन्होंने हृदय की ओर कहीं झाँका तक नहीं है। यही कारण है, कि उनकी रचनाओं में शुष्कता और नीरसता है। उनकी कल्पनाओं और व्यंजनाओं में सर्वत्र उनकी हृदय-हीनता विद्यमान है।

केशव की रचनाओं में केवल चमत्कार ही चमत्कार है। रचनाओं में चमत्कार उत्पन्न करने के लिए उन्होंने बहुत से ऐसे अलंकारों का आश्रय लिया है, जिनका प्रचलन हिन्दी में नहीं था। संस्कृत के कई बड़े-बड़े कवियों के अलंकारिक वाक्यों को उन्होंने ज्यों का त्यों अपनी रचनाओं में रख लिया है। उनका ध्यान अलंकारों और छन्दों तक ही सीमित है। उनकी रचनाएँ मानव जीवन को बिलकुल स्पर्श नहीं करतीं। जीवन की परिस्थितियों, और समस्याओं से उनकी रचनाओं का कोई संबंध नहीं है। मानव हृदय की वृत्तियों से वे बिलकुल अपरिचित हैं। प्रकृति से भी उन्हें कोई प्रेम नहीं है। प्रकृति में उन्हें कोई सौन्दर्य दिखाई नहीं देता। वर्षा उनके सामने काली का स्वरूप प्रगट करती है, और उदीयमान अरुणिमामय सूर्य कापालिक का शोणित भरे खप्पर का स्वरूप उपस्थित करता है। हाँ, उनकी रचनाओं में वस्तु-वर्णनों की अधिकता है। उन्होंने अनेक वस्तुओं का वर्णन किया है, जिनमें नदियाँ और समुद्र भी हैं। उनमें वाक् पटुता विशेष रूप से है, उनके कथोपकथनों में उनकी वाक् पटुता दर्शनीय है।

'रामचंद्रिका' केशव की सर्वोत्कृष्ट रचना है। यद्यपि उसमें श्री रामचंद्रजी की कथा का विस्तार पूर्वक वर्णन है, पर उसके अध्ययन से ऐसा ज्ञात होता है, मानों वह लक्षणों के उदाहरण के लिए रचे गए पद्यों का क्रमानुक्रम संग्रह मात्र हो। छन्दों की दृष्टि से उसे पिंगल का ही ग्रन्थ कहना चाहिए। अक्षरों के अनुसार छन्दों का क्रम देख कर ऐसा लगता है, कि पहले रामचंद्रिका को केशव छन्दों का ही ग्रन्थ बना रहे थे। तत्पश्चात् विषय की संभावनाओं, और सगुण भक्ति के प्रवाह में योग देने की इच्छा से उनका विचार परिवर्तित हो उठा, और उन्होंने रामचंद्रिका को वह स्वरूप प्रदान किया, जो आज हमारे समुख है।

केशव की रामचंद्रिका को जो कुछ भी ख्याति प्राप्त हुई है, श्री रामचंद्रजी की कथा के ही कारण हुई है। काव्य की दृष्टि से बहुत कम लोग केशव की रामचंद्रिका का अध्ययन करते हैं। इसका प्रधान कारण यह है, कि उसमें हृदय स्पर्शिता नहीं है।

उसमें रागात्मक तत्वों का इतना अभाव है, कि किसी का मन उसके पठन-पाठन में नहीं लगता। केशव की निरीक्षण शक्ति बहुत ही परिमित है। मानव जीवन के बाह्य स्वरूप की ओर कहीं कहीं उनकी दृष्टि गई है, पर प्रकृति में अन्तर्हित जीवन से वे पूर्णतः अपरिचित हैं। जहाँ कहीं जीवन की भिन्न-भिन्न दशाओं की ओर उनकी दृष्टि गई है, उनमें भावुकता उत्पन्न हो गई है। पर उनकी यह भावुकता भी अपूर्ण है। मर्म स्पर्शी घटनाओं का चित्रण करने में उन्होंने बड़ी भूलें की हैं।

केशव भी श्री रामचन्द्रजी के भक्त थे, पर उनकी भक्ति और गोस्वामीजी की भक्ति में अधिक अन्तर है। गोस्वामीजी की भक्ति में जहाँ तन्मयता और विभोरता है, वहाँ केशव की भक्ति में उच्छृंखलता है। केशव की रचनाओं से ऐसा प्रतीत होता है, कि उनमें भक्ति की विभोरता नहीं थी। क्योंकि वे अपनी रामचन्द्रिका में कहीं भी भक्ति में विभोर और तन्मय नहीं दिखाई देते। उन्होंने राम का चरित्र वर्णन करते हुए कहीं भी ऐसी स्थिति नहीं उत्पन्न की है, जो रोमांचकारी हो। उनका चरित्र वर्णन बहुत ही साधारण है। वे राम की मर्यादा की भी रक्षा नहीं कर सके हैं। चरित्र के मर्म स्थलों को पहचानने में उन्होंने भूलें की हैं। वर्णनों के समानुपात पर उनका ध्यान ही नहीं जा सका है। परिणाम स्वरूप कहीं तो वर्णन इतने बड़े बड़े हो गए हैं, कि मन में ऊब उत्पन्न होने लगती है, और कहीं इतने छोटे हैं, कि उनका भाव-सौंदर्य ही नष्ट हो गया है। केशव का भाव-सौंदर्य की ओर बिलकुल ध्यान ही नहीं था। वे चमत्कारवादी कवि थे। चमत्कार की दिशा में उन्हें पूर्ण सफलता प्राप्त हुई है।

भाषा के क्षेत्र में केशव ब्रजभाषा के पुजारी हैं। पर केशव की ब्रजभाषा, और अन्यान्य कवियों की ब्रजभाषा में अधिक अन्तर है। अन्यान्य कवियों की ब्रजभाषा में जहाँ सरसता और माधुर्य है, वहाँ केशव की ब्रजभाषा में कर्कशता और गंभीरता है। इसका कारण यह है, कि केशव को ब्रजभाषा पर बुन्देल खंडी का प्रभाव है। उन्होंने अपनी ब्रजभाषा में बुन्देलखंडी के शब्दों और उसकी कहावतें का प्रयोग किया है। क्रिया के काल तथा संज्ञा सर्वनाम के रूपों में बुन्देलखंडी पन है। उन्होंने संस्कृत के तत्सम, और तद्भव शब्दों का भी अपनी भाषा में प्रयोग किया है। ऐसे शब्दों को भी उन्होंने अपनी भाषा में स्थान दिया है, जो अप्रचलित थे। उनकी भाषा में विदेशी शब्द भी आये हैं। उन्होंने शब्दों को तोड़ा-मरोड़ा भी अधिक है। संस्कृत पदावलियाँ उनकी भाषा में अधिक पाई जाती हैं। शब्दों के जाल के कारण उनकी भाषा अत्यधिक दुरूह बन गई है। इसीलिए लोग उन्हें कठिन काव्य का प्रेत कहते हैं।

केशव के शब्दों का चुनाव और उनकी स्थापना में उपयुक्तता का अभाव है। उनके शब्द विलष्ट होने के साथ साथ भाव-व्यंजकता से भी शून्य हैं। उनका स्थापन भी उचित ढंग से नहीं हुआ है। शब्दों का उचित संस्थापन न होने के कारण उनकी

भाषा में प्रवाह नहीं है, और वह अधिक शिथिल हो गई है। नायिका भेद के वर्णनों में उनकी भाषा कुछ कुछ प्रसाद-युक्त है, पर अन्य स्थलों में वह प्रसाद गुण से रहित है। व्याकरण की त्रुटियाँ भी उनकी भाषा में पाई जाती हैं।

शैली के क्षेत्र में केशव अपनी शैली के अकेले कवि हैं। उन्होंने अपने पूर्व की शैलियों में किसी का भी अनुगमन नहीं किया है। उन्होंने अपने लिए नवीन शैली आविष्कृत की है। वह शैली है, संस्कृत काव्य की शैली। यद्यपि यह शैली भारतीय काव्य के लिए प्राचीन थी, पर हिन्दी में उसका प्रयोग केवल केशव ने ही किया है। इसलिए वह हिन्दी के लिए सर्वथा नवीन है। केशव ने केवल संस्कृत काव्य-शैली को ही नहीं अपनाया, वरन् उन्होंने संस्कृत के छन्दों का भी अपने काव्य में उपयोग किया है। संस्कृत छन्दों के अतिरिक्त उन्होंने कवित्त, सवैया, और दोहा इत्यादि छन्दों में भी रचनाएँ की हैं।

केशव की शैली में उनका कथोपकथन बड़ा ही रोचक, और स्वाभाविक है। केशव के काव्य में इतने संवाद हैं, कि हम उन्हें संवादात्मक शैली का निर्माता कह सकते हैं। केशव को संवादों में अभूत पूर्व सफलता प्राप्त हुई है। इसका कारण यह है, कि केशव राज्य-सभा में रहते थे। उनमें वाक्-पटुता थी और वे राज-सभा के दाँव-पेंचों से पूर्ण परिचित थे। उनके संवादों पर उनके अनुभव, और ज्ञान की छाप है।

राम भक्ति शाखा में कुछ और कवियों ने योग दिया है, पर उनकी रचनाएँ अधिक महत्व पूर्ण नहीं हैं। राम भक्ति शाखा के कवियों की रचनाओं का जब हम

राम भक्ति शाखा के साहित्य का सिंहावलोकन

मन्थन करते हैं, तब उसमें राम भक्ति के रूप में लौकिकता के प्रति कर्त्तव्य कर्म की ही उद्भावना पाते हैं। इसका श्रेय गोस्वामी तुलसीदास को ही है; क्योंकि उन्होंने ही अकबर के उस शासन काल में, जब भारतीय राजनीति और संस्कृति का गगन तमसाच्छन्न हो उठा था, राम भक्ति के रूप में कर्त्तव्य के पर्दे का उद्घाटन किया। यद्यपि उनकी भक्ति में दास्य और दैन्य भाव की प्रचुरता है; पर उन्होंने राम चरित्र को जनता के समक्ष उपस्थित करके अप्रत्यक्ष रूप से उसे कर्त्तव्य-कर्म की ही प्रेरणा प्रदान की है। गोस्वामीजी का युग अकबर का युग था। अकबर का शासन काल इतिहास में अन्यान्य मुसलमानों की अपेक्षा अधिक सहिष्णुता का काल कहा जाता है। अकबर के चरित्र में कहीं भी ऐसी बात नहीं आती, जिससे यह प्रगट होता हो, कि वह हिन्दू धर्म का विरोधी था; इसके विपरीत उसके चरित्र में कई स्थलों पर ऐसी बातें आती हैं, जिनसे उसका हिन्दू धर्म के प्रति प्रेम टपकता है। अतः यह कहा जा सकता है, कि गोस्वामीजी की राम-भक्ति के विकास के लिए राजनीतिक वातावरण अधिक उपयुक्त था। एक ओर तो अकबर की सहिष्णुता उनकी भक्ति को प्रोत्साहन दे रही थी, और दूसरी ओर जनता की भावना से भी उसे उचित आदर सत्कार प्राप्त हुआ। इसका कारण यह है, कि गोस्वामी तुलसीदासजी

के पूर्व स्वामी रामानन्द जनता के मध्य में एक ऐसी पृष्ठिभूमि बना चुके थे, जो गोस्वामी तुलसीदासजी की भक्ति के लिए बड़ी अनुकूल थी। स्वामी रामानंद स्वयं रामोपासक थे। उन्होंने राम भक्ति का सन्देश जनता को बड़ी प्रभाव पूर्णता के साथ दिया था। उनका संदेश जनता के हृदय में गूँज रहा था, और जनता दिनों दिन राम भक्ति की ओर आकर्षित हो रही थी। इसी समय गोस्वामी तुलसीदासजी का आविर्भाव हुआ। गोस्वामी तुलसीदासजी की भक्ति के विकास के लिए पहले से ही पृष्ठि-भूमि तैयार थी। अतः गोस्वामी तुलसीदासजी की भक्ति में पङ्ख लग गए, और परिणाम स्वरूप राम भक्ति का प्रवाह प्रबलता से बह चला। गोस्वामी तुलसीदासजी के रामचरितमानस से राम भक्ति के प्रवाह को फैलने में सबसे अधिक सहायता प्राप्त हुई। श्री रामचरित्रमानस ने राम भक्ति को भारत के घर-घर में पहुँचा दिया। आज भी मानस के द्वारा ही राम-भक्ति के प्रचार और प्रसार में सर्वाधिक सहायता प्राप्त हो रही है।

जिन दिनों राम भक्ति स्वामी रामानन्द से प्रोत्साहन पाकर पल्लवित और पुष्पित हो रही थी, उन्हीं दिनों कृष्ण भक्ति के शाखा में भी नए-नए पत्ते और फूल लग रहे थे। कृष्ण भक्ति को प्रोत्साहन प्रदान करने वाले स्वामी वल्लभाचार्य थे। जिस प्रकार स्वामी रामानन्द ने गोस्वामी तुलसीदास की राम-भक्ति के लिए पृष्ठि भूमि तैयार की थी, उसी प्रकार वल्लभाचार्यजी ने कृष्ण भक्ति की एक ऐसी पृष्ठि भूमि तैयार की थी, जो सूरदासजी की कृष्ण-भक्ति के लिए बड़ी अनुकूल थी। इस प्रकार राम भक्ति, और कृष्ण भक्ति का प्रवाह साथ ही साथ चलता हुआ दृष्टिगोचर होता है। यद्यपि राम और कृष्ण दोनों ही विष्णु के अवतार माने जाते हैं, पर दोनों की भक्ति प्रणाली में अधिक अंतर है। राम काव्य के प्रणेताओं ने राम की भक्ति दैन्य और दास्य भाव से की है, पर कृष्ण की भक्ति में 'सख्य' और प्रेम भाव को प्रधानता है। 'राम' और कृष्ण दोनों ही काव्यों की भाषा भी पृथक-पृथकहै। राम काव्य की भाषा 'अवधी' और कृष्ण काव्य की भाषा व्रज है। दोनों के दृष्टिकोण में भी अधिक अन्तर है। राम काव्य में जीवन पूर्ण रूप से प्रतिबिम्बित दिखाई देता है, पर कृष्ण काव्य में वह एकांगी है। दोनों का अपना पृथक-पृथक क्षेत्र, और अपनी पृथक पृथक विशेषताएँ हैं। यद्यपि दोनों ही एक 'मूल' की दो शाखाएँ हैं, पर दोनों की प्रणालियों और परम्पराओं में अधिक अन्तर है।

राम काव्य का आधार श्री रामचन्द्रजी का चरित्र है। गोस्वामी तुलसीदासजी राम भक्ति-शाखा के प्रतिनिधि कवि हैं। गोस्वामी तुलसीदासजी के पूर्व राम कथा का विकास 'वाल्मीकि रामायण' और 'अध्यात्म' रामायण में हो चुका था। 'राम कथा' इनके अतिरिक्त भी और कई ग्रन्थों में पाई जाती है; पर 'राम कथा' के लिए यही दोनों ग्रन्थ ऐसे हैं, जो प्रतिनिधि कहे जा सकते हैं। गोस्वामी तुलसीदास ने अपनी राम कथा का गुंफन इन्हीं दोनों ग्रन्थों के आधार पर किया है। उनकी राम कथा 'वाल्मीकि रामायण' की अपेक्षा 'अध्यात्म रामायण' पर अधिक अवलम्बित है। तुलसीदासजी

की राम कथा सर्वांग और संपूर्ण है। उन्होंने कथा का संयोजन बड़ी विधि के साथ किया है। उनकी राम कथा जीवन के विभिन्न क्षेत्रों से होती हुई पूर्णता की ओर गमन करती है। उन्होंने अपनी 'राम कथा' में तत्कालीन धार्मिक सिद्धान्तों का समावेश किया है। उनकी 'राम कथा' में दर्शन के सिद्धान्त भी पाए जाते हैं। लौकिक कर्मों से भी उनकी 'राम कथा सुसज्जित है। इस प्रकार उनकी राम कथा में जीवन अपने सम्पूर्ण दृष्टिकोणों के साथ प्रतिफलित हुआ है। यही कारण है, कि उनकी राम कथा जीवन का एक चित्र बन गई है।

गोस्वामी तुलसीदासजी ने अपने काव्यों का निर्माण इसी राम कथा के आधार पर किया है। गोस्वामीजी के पश्चात् के राम भक्ति शाखा के कवियों ने गोस्वामी जी का ही अनुसरण किया है। यद्यपि उनके काव्यों में गोस्वामीजी की 'राम कथा' अपनी पूर्णता के साथ अभिव्यक्त नहीं हो सकी है, पर इसमें सन्देह नहीं, कि गोस्वामीजी के परवर्ती कवियों ने रामचरित्र के लिए गोस्वामीजी को ही अपना प्रदर्शक माना है। राम काव्य के सभी कवियों ने जिस प्रकार 'राम चरित्र' को आधार मान कर अपने काव्यों की रचना की है, उसी प्रकार उनके काव्यों के छन्द भी प्रायः एक से हैं। गोस्वामी तुलसीदासजी ने यद्यपि छप्पर, सोरठा, सवैया, घनाक्षरी, गीत, गीतिका पद, और श्लोक इत्यादि छन्दों में रचनाएँ की हैं, पर उनका मुख्य छन्द 'दोहा' और चौपाई ही है। उनके श्री रामचरितमानस की रचना दोहा, चौपाई, और सोरठा में हुई है। तुलसीदासजी के परिवर्ती कवियों ने अधिकतर इन्हीं छन्दों को अपनाया है। राम भक्ति शाखा के कवियों में केशव ही एक ऐसे कवि हैं, जिन्होंने छन्द के क्षेत्र में गोस्वामी तुलसीदासजी का अनुगमन नहीं किया है। केशव ने अपनी राम चन्द्रिका के निर्माण में इतने अधिक छन्दों का प्रयोग किया है, कि उनकी राम चन्द्रिका पिंगल का एक ग्रन्थ बन गई है। अलंकारों की दृष्टि से भी केशव का मार्ग तुलसीदासजी के मार्ग से पृथक है। छन्दों की भाँति ही केशव ने अपनी रामचन्द्रिका में अलंकारों की भी राशि लगा दी है।

राम भक्ति शाखा के सभी कवियों ने दो भाषाओं में रचनाएँ की हैं—'अवधी' और ब्रज। गोस्वामी तुलसीदासजी ने भी, जो इस शाखा के प्रतिनिधि कवि हैं, 'अवधी' और ब्रज में ही अपनी रचनाओं का शृंगार किया है। गोस्वामीजी की 'अवधी' बड़ी सुन्दर, गठित, और 'संयत' है। 'ब्रज' की अपेक्षा गोस्वामी तुलसीदासजी को 'अवधी' में अधिक सफलता प्राप्त हुई है। गोस्वामीजी की अवधी में भोजपुरी, गुजराती, बंगाली, और मराठी इत्यादि भाषाओं के भी शब्द मिलते हैं। गोस्वामी तुलसीदासजी के परवर्ती कवियों ने, भाषा के क्षेत्र में भी गोस्वामीजी का ही अनुगमन किया है। केशव ने ब्रजभाषा में रचना की है। उन्होंने रामचरित्र का वर्णन ब्रजभाषा में करके गोस्वामी तुलसीदासजी की काव्य-परम्परा को मानने से जैसे अस्वीकार-सा कर दिया है। उनकी ब्रजभाषा पर स्पष्टतः बुन्देलखंडी का प्रभाव है।

'राम काव्य' 'दास्य' और दैन्य भक्ति पर आधारित है। राम भक्ति शाखा के

सभी कवियों ने भक्ति के दास्य भाव पर ही अधिक बल दिया है। गोस्वामी तुलसीदास जी तो दास्य और दैन्य भक्ति के प्रतिमूर्ति हैं। 'दैन्य' और दास्य भाव के अनुरूप ही 'राम काव्य' में शांत रस की सृष्टि हुई है। गोस्वामी तुलसीदासजी के रामचरितमानस में यद्यपि सभी रसों की अवतारणा हुई है, पर 'शांत रस' उसमें विशेष रूप से प्रतिफलित हुआ है। गोस्वामी तुलसीदास के परवर्ती कवियों की रचनाओं में भी सर्वत्र 'शांत' ही रस प्राप्त होता है। 'शान्त रस' के साथ ही साथ कहीं कहीं शृंगार रस की भी प्रधानता मिलती है। पर वह शृंगार, वह शृंगार नहीं है, जो रीतिकाल की रचनाओं में पाया जाता है। इस शृंगार में भी शांतता, और परमोज्वलता है।

कृष्ण भक्ति शाखा के प्रवर्तक स्वामी वल्लभाचार्यजी हैं। यद्यपि कृष्ण-भक्ति राम भक्ति के साथ ही साथ अंकुरित हुई, पर उसे वास्तविक प्रचार और प्रसार का रूप

कृष्ण भक्ति और उसका उद्भव

स्वामी वल्लभाचार्य जी के ही द्वारा प्राप्त हुआ है। स्वामी वल्लभाचार्य जी का जन्म संवत् १५३५, और मृत्यु संवत् १५८७ में हुई थी। भक्ति के इतिहास से पता चलता है, कि स्वामी वल्लभाचार्य जी के बहुत पूर्व से कृष्ण भक्ति जनता के हृदय में विद्यमान थी। जयदेव और विद्यापति इत्यादि कवियों ने कृष्ण भक्ति से प्रेरित होकर साहित्य की सर्जना भी की थी। पर अभी तक कृष्ण भक्ति के लिए कोई निश्चित पन्थ नहीं बन सका था। सर्व प्रथम स्वामी वल्लभाचार्य जी ने ही इस दिशा में प्रशंसनीय कार्य किया। स्वामी वल्लभाचार्य जी के पूर्व राम भक्ति का अधिक प्रचार हो चुका था। स्वामी रामानन्द ने जनता के बीच में उपस्थित होकर, जनता के हृदय को विष्णु के प्रतिरूप 'राम' की भक्ति के रस से अभिषिक्त कर दिया था। गोस्वामी तुलसीदासजी ने राम भक्ति के 'रस' को और भी अधिक प्रगाढ़ता का रूप दिया। उन्होंने श्री रामचरितमानस की रचना करके, जनता के हृदय पर राम-भक्ति की अमर छाप सी डाल दी। इन्ही दिनों स्वामी वल्लभाचार्य जी का आविर्भाव हुआ। उन्होंने श्री कृष्ण को अपनी भक्ति का आधार मानकर एक नवीन भक्ति पन्थ का प्रचार किया जो वल्लभ सम्प्रदाय के नाम से प्रसिद्ध हुआ। वल्लभाचार्य जी के कृष्ण, रामानन्दजी के राम की भाँति ही परब्रह्म परमात्मा हैं। वे संपूर्ण गुणों से परिपूर्ण हैं। उनकी लीलाएँ नित्य हैं। वे व्यापी वैकुण्ठ में निवास करते हैं, और अनेक प्रकार की क्रीड़ाएँ करते हैं। श्री कृष्ण का व्यापी वैकुण्ठ विष्णु लोक से ऊपर है, जिसमें यमुना, वृन्दावन, और कुञ्ज निकुंज की नित्य रूप में स्थिति है। स्वामी वल्लभाचार्य जी ने ऐसे श्री कृष्ण की प्राप्ति के लिए प्रेम-साधना को ही मुख्य साधन घोषित किया है। उन्होंने जीव को श्री कृष्ण रूपी ब्रह्म की प्राप्ति के लिए प्रेम पूर्ण भक्ति का ही उपदेश दिया है।

स्वामी रामानन्द की भाँति ही वल्लभाचार्यजी ने भी अपने मत के प्रचार के लिए अनेक स्थानों की यात्राएँ कीं। अपने सिद्धांतों के प्रचार के लिए उन्होंने उपदेश भी

दिए, और ग्रन्थों की रचना भी की। उन्होंने अपने मत का प्रचार करते हुए, राम-भक्ति का तो विरोध नहीं किया, पर उन्होंने शंकराचार्यजी के निर्गुण ब्रह्म का खंडन अवश्य किया; साथ ही उन्होंने कृष्ण भक्ति पर बल देते हुए 'शिव भक्ति' को पदच्युत करने का भी प्रयत्न किया। स्वामी रामानन्द, और स्वामी वल्लभाचार्य जी के प्रयत्नों से राम और श्री कृष्ण की भक्ति का प्रचार तो हुआ, पर उसके साथ ही शिव भक्ति की ओर से लोगों में उदासीनता छा गई। स्वामी रामानन्द, और स्वामी वल्लभाचार्यजी के पश्चात् जिस साहित्य का सृजन हुआ है; उसमें शिव को राम और 'कृष्ण' के भक्त के रूप में ही महत्व दिया गया है, इसका परिणाम यह हुआ है, कि शिव और शक्ति की भक्ति के प्रति लोगों में उदासीनता उत्पन्न हो गई, जिसके परिणाम स्वरूप समाज से शुद्ध ज्ञान, शुद्ध प्रेम, शुद्ध भक्ति, और शक्ति का ह्रास होने लगा। लोगों में मधुर भाव की उपासना की अभिवृद्धि हो गई, और लोग भक्ति के मार्ग पर एक प्रकार से भटक से गए। इसमें संदेह नहीं, कि स्वामी रामानन्द और स्वामी वल्लभाचार्य जी ने भक्ति के शुद्ध रूप को ही सामने उपस्थित किया था। पर इसमें भी सन्देह नहीं, कि उनके पश्चात् उनके अनुयायियों में मधुर उपासना ने मोह उत्पन्न कर दिया, जिसके परिणाम स्वरूप समाज में भाँति-भाँति की विकृतियाँ उत्पन्न हो गईं, और आज भी होती ही जा रही हैं।

स्वामी रामानन्दजी के पश्चात् जिस प्रकार राम-भक्ति को गोस्वामी तुलसीदास जी से अधिक बल प्राप्त हुआ, उसी प्रकार स्वामी वल्लभाचार्यजी के पश्चात् सूरदास जी ने कृष्ण भक्ति के प्रचार में अधिक योग दिया। यद्यपि सूरदासजी ने गोस्वामी तुलसीदासजी की भाँति किसी प्रबन्ध काव्य की रचना नहीं की, पर कृष्ण-भक्ति के प्रचार में उनके सूर सागर द्वारा वही कार्य संपन्न हुआ है, जो राम-भक्ति के प्रचार में गोस्वामी तुलसीदासजी के श्री रामचरितमानस के द्वारा हुआ है। यद्यपि रूप, कलेवर, और सिद्धान्त-प्रतिपादन में दोनों ग्रन्थों में अधिक विभिन्नता है, पर अपने अपने क्षेत्र में प्रचार के मार्ग पर दोनों ही समान गति से चलते हुए दृष्टिगोचर होते हैं। यद्यपि श्री रामचरितमानस 'सूरसागर' की अपेक्षा जनता में अधिक लोक प्रिय है; पर कृष्ण भक्तों में उसका उतना ही आदर है, जितना राम भक्तों में श्री रामचरित मानस का। यही कारण है, कि सूरदास और उनके सूरसागर का कृष्ण-भक्ति साहित्य में अधिक आदर स्थान पूर्ण है। सूरदासजी के अतिरिक्त नन्ददास, कृष्णदास, परमानन्ददास, कुंभनदास, चतुर्भुजदास और छीत स्वामी आदि और भी ऐसे लोग हुए हैं, जिन्होंने अपनी भक्ति पूर्ण रचनाओं के द्वारा कृष्ण साहित्य को उन्नतशील बनाने का प्रयत्न किया है।

कृष्ण काव्य का समुचित विकास यद्यपि स्वामी वल्लभाचार्यजी के पश्चात् ही मुख्य रूप से हुआ है, पर उसका आभास जयदेव की वाणी में ही दृष्टिगोचर होता है।

कृष्ण भक्ति शाखा के कवि

अतः कृष्ण काव्य का प्रारम्भ जयदेव से ही मानना न्याय संगत होगा। जयदेव के सम्बन्ध में प्रामाणिक

रूप में अधिक बातें ज्ञात नहीं हो सकी हैं। उनका आविर्भाव कब हुआ, तथा उनके जीवन का क्रम-विकास क्या था—इस संबंध में अभी बहुत सी बातें अस्पष्ट हैं। प्रियादास की टीका में जयदेव का उल्लेख और उनका संक्षिप्त परिचय भी मिलता है। जयदेव के संबंध में अब तक जितने सूत्र प्राप्त हो सके हैं, उनके आधार पर केवल इतनी बात कही जा सकती है, कि उनका जन्म बंगाल के किंदुबिल्व नामक स्थान में हुआ था, और उनके पिता का नाम भोजदेव था। भोजदेव राजा लक्ष्मण सेन के दरबारी थे। राजा लक्ष्मण सेन का समय ११७० ई० के आस पास माना जाता है। जयदेवकृत गीत गोविन्द की रचना राजा लक्ष्मण सेन के ही राजत्व काल में हुई थी। इससे यह जान पड़ता है, कि जयदेव का आविर्भाव राजा लक्ष्मण सेन के ही राजत्व काल में हुआ होगा। जयदेव की सर्वोत्कृष्ट रचना गीत गोविन्द है। 'गीत गोविन्द' में राधाकृष्ण की मधुर लीलाओं और उनके पारस्परिक प्रेम का चित्रण सरस स्वरावली में किया गया है। उसकी प्रत्येक पंक्ति में, उसकी पंक्ति के शब्द शब्द में सरस अनुभूति, और प्राणों की रागिनी छिपी हुई। 'राधा' का प्रेम पूर्ण व्यक्तित्व 'गीत गोविन्द' के प्रत्येक पद में अपना वैभव बिखेरता हुआ दृष्टिगोचर होता है। साहित्य जगत में यही पहली कृति है, जो राधा के अनुपम प्रेम-पूर्ण चित्र को हमारे समुख उपस्थित करती है। जयदेव के इस कृति की प्रशंसा सभी विद्वानों ने मुक्त कंठ से की है। यद्यपि इसकी भाषा संस्कृत है, पर हिन्दी में जिस कृष्ण काव्य का गुंफन हुआ है, वह जयदेव के 'गीत गोविन्द' से अधिक प्रभावित जान पड़ता है। साधारण कवियों की तो कोई बात ही नहीं, सूरदास ऐसे महान् कवि भी गीत गोविन्द' के प्रभाव से नहीं बच सके हैं।

विद्यापति मिथिला के निवासी थे। उनके पिता का नाम गणपति ठाकुर था, जो अधिक विद्वान थे। उनके पिता महाराज गणेश्वर के राज दरबारी थे। विद्यापति के समय के संबंध में अभी तक ठीक ठीक निर्णय नहीं हो पाया है। डाक्टर उमेश मिश्र ने विद्यापति के समय के सम्बन्ध में महत्व पूर्ण अनुसन्धान किये हैं। उनके अनुसन्धान के अनुसार विद्यापति की अवस्था २५२ लं० सं० में १०-११ वर्ष की थी, और वे ३५६ लं० सं० तक जीवित रहे हैं। इस प्रकार यह कहा जा सकता है, कि उन्होंने सौ वर्ष से भी अधिक की आयु पाई थी।

विद्यापति ने संस्कृत में अपने काव्य की रचना की है; पर कुछ वर्षों तक बंगाली उन्हें बँगला का कवि मानते रहे हैं। पर डाक्टर ग्रियर्सन द्वारा जो अनुसन्धान हुआ है, उससे यह निश्चित रूप से सिद्ध हो गया है, कि विद्यापति का बँगला से संबंध नहीं था। यद्यपि उनकी भाषा पर बँगला की छाप है, पर वे शुद्ध रूप में संस्कृत के ही कवि हैं। उन्होंने संस्कृत की सरस और मधुर स्वरावली में अपने काव्य का गुंफन किया है। उनका संपूर्ण काव्य गीतात्मक है। उनके गीत अन्तर्जगत के गीत हैं। उनके गीतों में उनके हृदय की भक्ति-विह्वलता और भाव प्रवणता स्पष्ट रूप से दिखाई पड़ती है। उनके सम्पूर्ण गीत भावोन्माद के चित्र हैं।

उन्होंने हृदय के उन्माद के साँचे में ही ढाल कर अपने गीतों की रचना की है।

उनके गीत राधाकृष्ण के प्रेम के गीत हैं। यद्यपि उनका राधाकृष्ण सम्बन्धी प्रेम भक्ति पर ही आधारित है, पर वह लौकिकता की ओर अधिक उन्मुख है। उन्होंने प्रेम के उन्माद में डूब कर राधाकृष्ण का जो चित्र अंकित किया है, उसमें वासना का रंग अधिक दिखाई देता है। उनके चित्रण में कृष्ण एक उस नायक की भाँति दृष्टिगोचर होते हैं, जो यौवन के उन्माद में संयम, और मर्यादाओं की शृंखला को भी तोड़ने में रञ्च मात्र संकोच नहीं करता। राधिका का चित्रण भी एक उसनायिका के ही सदृश है, जो यौवन के उन्माद में उन्मत्त बन कर मर्यादा की दीवालों को लाँघ जाती है। इस प्रकार विद्यापति के प्रेम में वासना का ही वैभव अधिक देखने को मिलता है। वास्तव में बात तो यह है, कि वे प्रेम और आनन्द में इस प्रकार खो गए हैं, कि उनका ध्यान ही इस ओर नहीं जा सका है। प्रेम, आनन्द और सौन्दर्य के चित्रण के लिए कल्पनाओं की खोज में ही वे अधिक व्यस्त दिखाई देते हैं।

विद्यापति का रस शृंगार रस है। आदि से लेकर अन्त तक वे शृंगार रस में डूबे हुए हैं। उन्होंने राधा कृष्ण के प्रेम का चित्रण शृंगार रस की दृष्टि से किया है। उन्होंने राधा कृष्ण के प्रेम के चित्रण में नखशिख, अभिसार, और नायक-नायिका के कार्य व्यापार को भी अधिक महत्व दिया है। भाव, विभाव, आलंबन, और उद्दीपन इत्यादि के चित्र भी उनकी पदावलियों में मिलते हैं। लौकिक शृंगार की प्रधानता होने ही के कारण उनका राधाकृष्ण संबंधी प्रेम वासना की ही गोद में पलकर परिपुष्ट हुआ है।

सूरदास का स्थान कृष्ण काव्य के रचयिताओं में सर्वोपरि है। सूरदासजी का जन्म सं० १५३५ के आस पास, मथुरा आगरा की सड़क पर स्थित रुनकता नामक गाँव में होना माना जाता है। इनके पिता का नाम रामदास था, जो सारस्वत ब्राह्मण थे। सूरदासजी का पालन-पोषण किस प्रकार हुआ, और उन्होंने किससे शिक्षा प्राप्त की—इस सम्बन्ध में कुछ भी पता नहीं चलता। अनुसन्धान से केवल इतना ही ज्ञात हो सका है, कि वह आगरे के गऊघाट पर रहते थे, और अपने सुललित पदों को तान पूरे के तारों पर उतार कर अपना जीवन व्यतीत किया करते थे। गऊघाट पर ही उनकी वल्लभाचार्यजी से भेंट हुई। स्वामी वल्लभाचार्यजी उनके सुललित पदों को सुनकर अधिक प्रभावित हुए। उन्होंने सूरदासजी को अपने वल्लभ संप्रदाय में दीक्षित कर लिया, और उन्हें यह संमति दी, कि वे श्रीमद्भागवत् की कथा को गेय पदों के रूप में परिवर्तित करें। सूरदासजी का सूरसागर उन्हीं की सलाह का परिणाम है।

सम्वत् १६२० के लगभग पारसोली नामक गाँव में सूरदास जी का स्वर्गवास हो गया।

सूरदासजी के तीन ग्रन्थ अधिक प्रसिद्ध हैं—सूरसागर, सूर सारावली, और साहित्य लहरी। ब्याह लो, नल दमयन्ती, और नागलीला इत्यादि भी इनके ग्रन्थ बताये जाते हैं, किन्तु यह न तो कहीं उपलब्ध हैं, और न इनके सम्बन्ध में कोई प्रमाण ही प्राप्त होता है। अतः विद्वानों ने सर्व सम्मति से इनके तीन ही ग्रन्थ माने हैं।

सूरदास श्री कृष्ण के अनन्य भक्त थे। वे ही उनके आराध्य देव थे, पर उन्होंने अपने सूरसागर के दशम् स्कन्ध तक की कथा में जब अवतारों का वर्णन किया है, तो रामावतार की कथा का वर्णन अन्यान्य अवतारों की अपेक्षा अधिक विस्तार के साथ किया है। ऐसा प्रतीत होता है, कि सूरदासजी ने अन्यान्य अवतारों को श्री कृष्ण की ही ज्योति का अंश मानकर उनका वर्णन किया है। यह भी हो सकता है, कि उन्होंने श्री राम इत्यादि अवतारों का वर्णन करके अपने हृदय की उदारता और विशदता प्रगट की हो; वस्तुतः वे श्री कृष्ण के ही भक्त थे। श्री कृष्ण की भक्ति में ही उनके हृदय की स्वाभाविकता और तल्लीनता प्रगट भी हुई है।

अब यह देखना है कि सूरदासजी की भक्ति का स्वरूप क्या है? भक्ति नौ प्रकार की होती है—श्रवण, कीर्तन, चरण सेवन, अर्चन, वंदन, दास्य, सख्य, और आत्म-निवेदन। भक्ति के इन प्रकारों को सामने रखकर जब हम सूरदास जी की भक्ति के स्वरूप को समझने की चेष्टा करते हैं, तो ऐसा ज्ञात होता है, कि उनकी भक्ति में भक्ति के सभी प्रकारों ने सिमिट कर विनय, प्रेम, और सख्य का रूप धारण कर लिया है। यों तो सूरदासजी के ऐसे भी अनेक पद हैं, जिनमें पृथक-पृथक भक्ति के अंगों का विकास हुआ है, और कहीं-कहीं सभी अंग एक साथ ही झलक उठे हैं, पर उनमें 'विनय', और 'सख्य' भाव की ही अधिक प्रधानता पाई जाती है। सूरदास जी की भक्ति इन दो स्वरूपों में जितनी विकसित हुई है, उतनी और किसी भी स्वरूप में नहीं।

विनय भक्ति के पद सूरसागर के दशम् स्कंध में संगृहीत हैं। यह पद उस समय के बनाए जान पड़ते हैं, जब सूरदासजी गऊघाट में निवास करते थे। इनके विनय पूर्ण पदों में अनुकूल होने का संकल्प, भगवान की इच्छा के प्रतिकूल कुछ न कहने की दृढ़ता, भगवान को भक्तिदाता और भक्त वत्सल मानने का भाव, समर्पण और दीन-भाव विशेष रूप से पाया जाता है। सूरदासजी पुष्टि मार्गी थे। उन पर वैष्णवों की पूर्ण छाप थी। अतः उनके विनय पदों में तत्कालीन वैष्णव सम्प्रदाय के विनय संबन्धी सिद्धांतों का पूरा-पूरा परिचय मिल जाता है, जो प्रमुख रूप से इस प्रकार हैं—दीनता, मानमर्षता, भयदर्शन, भर्त्सना, आश्वासन, मनोराज्य, और विचरण।

सूरदासजी की भक्ति में पहले दास्य और दैन्य भाव की प्रधानता थी। पर जब वे स्वामी वल्लभाचार्य जी के शिष्य हुए, तब उनकी भक्ति का स्वरूप सख्य भाव के रूप में परिवर्तित हो उठा। इसका कारण यह था, कि वल्लभाचार्यजी को दास्यभाव

प्रिय नहीं था। उनकी भक्ति पद्धति में लीला-कीर्तन के द्वारा ही आराध्य देव का सान्निध्य प्राप्त किया जाता था। भक्ति का सख्य स्वरूप ही ईश्वर प्राप्ति का मुख्य साधन माना जाता था। अतः सूरदासजी ने भक्ति के इसी स्वरूप को ग्रहण किया। उनकी संपूर्ण रचनाएँ सख्य भाव से ओत प्रोत हैं।

सूरदासजी की सख्य-भक्ति दो रूपों में विकसित हुई है। एक रूप तो वह है, जहाँ गोप, ग्वालों, और कृष्ण का प्रसंग आया है, और दूसरा रूप वह है, जहाँ राधा-कृष्ण का प्रसंग आया है। गोप, ग्वालों, और कृष्ण के प्रसंग में सूरदासजी की सख्य भक्ति में अधिक स्वाभाविकता और श्रेष्ठता है। भक्ति के इस स्वरूप में सूरदासजी अपने आराध्यदेव में समाविष्ट हो गए हैं। वे अपने और बालकृष्ण में अंतर नहीं मानते। प्रत्येक लीला क्षेत्र में वे उनके साथ ही साथ रहते हैं। राधाकृष्ण के प्रसंग में सूरदासजी की सख्य भक्ति का और भी अधिक विकास हुआ है। यहाँ सूरदासजी बाल-कृष्ण के सहचर नहीं हैं, बल्कि उन कृष्ण के तरुण-सखा हैं, जिनके अंग-अंग में तरुणाई फूट रही है; और जो प्रेम व्यापार में अधिक कुशल हैं। सूर अपने इस प्रेमाभिनय कुशल मित्र के सखा हैं। ऐसे सखा हैं, जो प्रेमाभिनय में भी उसके साथ साथ रहते हैं। उनकी प्रत्येक प्रेम लीला जैसे उनकी आँखों के ही सामने हुई हो, और उन्होंने उसे प्रत्यक्ष रूप में देखकर उसका चित्रण किया हो। सूरदासजी अपने मित्र के औचित्य, और अनौचित्य पर ध्यान नहीं देते। वे अपने सखा के अनौचित्य को भी शुद्ध प्रणय व्यापार ही मानते और उसमें विभोर हो जाते हैं।

चरित्र की दृष्टि से सूरदासजी ने अपने सूरसागर में आदि से लेकर अन्त तक श्री कृष्ण के ही चरित्र का चित्रण किया है। उनके चरित्र चित्रण के सम्बन्ध में और भी कई चरित्र हमारे संमुख आते हैं। पर सबसे प्रमुख चरित्र श्री कृष्ण का ही है। सर्व प्रथम उनकी बाल-लीला का दर्शन होता है। श्री कृष्ण की बाल लीला यद्यपि बहुत साधारण है, पर सूरदासजी ने उसमें अलौकिकता की सृष्टि की है, और यह प्रगट किया है, कि उनमें दैवी शक्ति है। उनके बाल-चरित्र में उन्होंने शौर्य की व्यञ्जना की है। बाल लीला के पश्चात् श्री कृष्ण की वह लीला प्रारम्भ होती है, जिसे हम उनकी तरुणावस्था की लीला कह सकते हैं। अपनी इस लीला में श्री कृष्ण नायक के रूप में हमारे सम्मुख उपस्थित होते हैं। नायक के रूप में श्री कृष्ण का चरित्र अत्यधिक पूर्ण है। वे बड़े चपल, और निपुण हैं। रास क्रीड़ा और जल क्रीड़ा इत्यादि में उनकी दक्षता प्रगट होती है। वे महान् और आराध्य हैं। प्रेम, श्रद्धा, विश्वास, और आस्था की वे प्रतिमूर्ति हैं।

कृष्ण की भाँति ही राधा का चरित्र भी सूरसागर में अद्वितीय है। श्री कृष्ण के चरित्र के साथ ही साथ राधा का भी चरित्र मिलता है। वास्तव में बात तो यह है, कि राधा का चरित्र श्री कृष्ण के ही चरित्र का एक अंग है। राधा के चरित्र के बिना श्री कृष्ण का चरित्र अधूरा और विकलांग सा दृष्टिगोचर होगा। सूरदास जी ने राधा को सहचरी, और पत्नी के रूप में चित्रित किया है। पहले वह प्रेमिका

के रूप में अवश्य उपस्थित होती है, पर इसके पश्चात् वह श्री कृष्ण के साथ अपनी गाँठ जोड़ लेती है, और उनकी जीवन सहचरी बन जाती है। राधा का प्रेम आदर्श है, महान् है। वह कृष्ण को ही अपना सर्वस्व समझती है, और उनके लिए अपने अस्तित्व का भी परित्याग कर देती है। उसका प्रेम ऐहिक नहीं, वासना जन्य नहीं, पारलौकिक है। गोप श्री कृष्ण के सखा हैं। उनमें जो प्रौढ़ हैं, वे वात्सल्य भाव से श्री कृष्ण की लीला में भाग लेते हैं, और जो युवावस्था के हैं, वे सखा रूप में सामने उपस्थित होते हैं। उनकी श्री कृष्ण में अपार श्रद्धा है। गोपों की भाँति ऊधो भी श्री कृष्ण के सखा हैं, किन्तु वे श्री कृष्ण के भक्त नहीं, प्रकांड ज्ञानी हैं। निर्गुण वाद में उनका अधिक प्रेम है। श्री कृष्ण के प्रति गोपियों के अनन्य प्रेम को देख कर अन्त में वे भी सगुण सत्ता को स्वीकार कर लेते हैं। गोपियों का चरित्र अधिक महत्व पूर्ण है। प्रणयी और श्रद्धेय श्री कृष्ण के चरित्र की महानता गोपियों के ही प्रेम, और त्याग से प्रगट होती है। सूरसागर में गोपियों के प्रेम, और उनके त्याग का चित्र विशालता के आधार पर ही तैयार किया गया है। यशोदा वात्सल्य की प्रति मूर्ति हैं। उनका मातृत्व आदर्श है। सरलता और सहृदयता उनमें प्रचुर रूप से निवास करती है। बालगोपाल के प्रति उनके हृदय का उमड़ना, ललकना, और तरंगित होना देखते ही बनता है।

सूरदासजी की प्रेम-साधना अद्वितीय है। सपूर्ण सूरसागर प्रेम की साधना से ओत प्रोत है। भक्ति काल में सूरदासजी के समान प्रेम की उत्कट साधना करने वाला अन्य कोई कवि उत्पन्न नहीं हुआ। सूरदासजी स्वयं प्रेम के अवतार थे। उनकी अन्तरात्मा में प्रेम है, वाणी में प्रेम है, और उनके शब्द शब्द में प्रेम है। उन्होंने प्रेम की ही आराधना की है, और उसकी साधना में अपने सम्पूर्ण जीवन को उत्सर्ग कर दिया है। उन्होंने प्रेम को भली प्रकार देखा है, और उसके स्वरूपों से उनका प्रगाढ़ परिचय है। उनकी प्रेमानुभूतियाँ बड़ी सरस, सुकुमार, और स्वाभाविक हैं। वे हृदय के अन्तस्तल से निकलती हैं। उनमें तन्मयता और हृदय की गंभीरता है। उनकी प्रेमानुभूतियों में आत्मा को तन्मय कर देने की शक्ति है। संयोग और वियोग—दोनों की भाव-लहरियाँ उनकी प्रेमानुभूतियों में मिलती हैं।

सूरदासजी की प्रेमानुभूतियाँ विभिन्न क्षेत्रों की हैं। उन्होंने अपने प्रेम का व्यापार जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में किया है। उन्होंने वात्सल्यमयी जननी के रूप में शिशु को प्रेम किया है, शिशु बन कर प्रेम से छलकते हुए माता के हृदय को देखा है, तरुण प्रेमी बन कर प्रेमिकाओं को छकाया है, सहचर बन कर मित्रता का आनन्द उठाया है, वियोगिनी बन कर वियोग की पीड़ा में क्रन्दन किया है, और निर्मम प्रेमी बन कर वियोगिनियों के तड़पते हुए हृदय को देखा है। प्रेम का ऐसा कोई रूप और चित्र नहीं, जहाँ सूरदासजी न पहुँचे हों, और जहाँ पहुँच कर उन्होंने उसकी आराधना न की हो। यही कारण है, कि सूरदासजी सूक्ष्म से सूक्ष्म प्रेम के

चित्रों को अंकित करने में अत्यधिक सफल हुए हैं। गोपियों के द्वन्दात्मक प्रेम-चित्रों को अंकित करने में तो वे सबसे अधिक आगे निकल गए हैं।

सूरदासजी के काव्य-सौन्दर्य के दो पक्ष हैं—कला पक्ष, और काव्य पक्ष। पहले हम सूरदासजी के काव्य के कला पक्ष पर ही विचार करेंगे। कला पक्ष से हमारा तात्पर्य उन अनुभूत भावों से है, जो किसी भी कवि की रचना में प्राण के समान संचरित होते हैं। सूरदासजी की अनुभूतियाँ बड़ी सरस, स्वाभाविक, सुकुमार, और वास्तविकता के सन्निकट हैं। वे अपने विषय के अधिक निकट थे। उन्होंने उन विषयों को अधिक निकट से देखा था, जिन्हें आधार मान कर उन्होंने अपनी रचनाओं का शृङ्गार किया है। उनकी कला के वास्तविक रूप को समझने के लिए हमें सूरसागर के दशम् स्कंध के उन विषयों पर दृष्टिपात करना चाहिए, जिनसे उनकी कला का शृङ्गार हुआ है। उन विषयों को हम तीन वर्गों में विभाजित कर सकते हैं—बाल लीला, राधाकृष्ण और गोपी कृष्ण लीला, भ्रमर गीत। दशम् स्कंध सूरदासजी के बाल-चित्रण से अधिक महत्व पूर्ण बन गया है। इस स्कंध में सूरदासजी ने वात्सल्य रस का ऐसा अनुपम स्रोत बहाया है, कि देखते ही बनता है। वात्सल्य रस पर सूरदासजी का पूर्ण आधिपत्य है। उनके द्वारा वात्सल्य रस के ऐसे अनुपम चित्र अंकित हुए हैं, जो अन्यत्र देखने को नहीं मिलते। सूरदासजी बाल-कृष्ण के लिए स्वयं यशोदा बने हुए दृष्टिगोचर होते हैं। इधर यशोदा के रूप में सूरदास मातृ हृदय का वैभव प्रगट करते हैं, और उधर बाल कृष्ण के रूप में बाल क्रीड़ा भी करते हैं। सूरदासजी के इन दोनों ही रूपों में बड़ी स्वाभाविकता, और मनोहरता है। इन दोनों ही स्वरूपों में सूरदासजी ने कितने ही चित्र अंकित किए हैं! उनके चित्रों को चार भागों में विभाजित किया जा सकता है—रूप सौंदर्य के चित्र, संस्कारों तथा समारोहों के चित्र, अन्तर्भावों के चित्र, और चेष्टाओं तथा क्रीड़ाओं के चित्र।

सूरदासजी ने रूप सौन्दर्य का चित्रण दो रूपों में किया है—एक लौकिक रूप में, और दूसरा अलौकिक रूप में। अलौकिक रूप-चित्रों में उन घटनाओं का सन्निवेश है, जो श्री कृष्ण के अलौकिक बाल-चित्रों से सम्बन्ध रखते हैं, और जिनसे यह प्रगट होता है, कि श्री कृष्ण परब्रह्म परमात्मा हैं। यद्यपि ये चित्र मानवी सौन्दर्य से परे के चित्र हैं, किन्तु उनमें भी मानव हृदय के लिए एक आकर्षण है। उनकी यही सबसे बड़ी विशेषता है, कि मानव-हृदय से सुदूर होने पर भी उसके सन्निकट जान पड़ते हैं। सूरदासजी के लौकिक रूप-चित्रों का तो कहना ही क्या है? वे तो सूरदासजी के कवि-जीवन की विभूति हैं। वे इतने सजीव और इतने प्राणमय हैं, कि हृदय पर अपनी छवि उतार देते हैं। सूरदासजी ने विविध समारोहों, और उत्सवों का भी चित्रण किया है। जैसे:—छठ्ठी उत्सव, अन्न प्राशन लीला, वर्ष गाँठ लीला, कनछेदन लीला, और पाँयनि चलनि उत्सव इत्यादि। इन चित्रों में भी दो प्रकार की झाँकियाँ मिलती हैं—एक लौकिक, और दूसरी आध्यात्मिक। दोनों ही

झाँकियाँ अपूर्व, और अलौकिक हैं। दोनों ही झाँकियों में अपने-अपने भावों की सहज प्रचुरता है, जो मन को विमुग्ध कर लेती है।

श्री कृष्ण की वय के साथ ही साथ सूर की रचनाओं ने भी वय की सीढ़ियाँ पार की हैं। जिस प्रकार श्री कृष्ण बाल्यावस्था से किशोरावस्था में पहुँचे हैं, उसी प्रकार सूरदासजी ने बाल-चित्रण के पश्चात् उस जीवन का चित्रण किया है, जिसे हम प्रेम का जीवन कहते हैं। प्रेम के चित्रण में श्री कृष्ण के साथ ही साथ राधा और गोपियों का जीवन भी परिवर्तित हो जाता है। वहाँ श्री कृष्ण एक रसिया नायक के रूप में दृष्टिगोचर होते हैं, और राधा तथा गोपिकायें नायिकाओं के रूप में। राधा प्रेम की साकार प्रतिमा है। वह श्री कृष्ण के प्रति अनन्य प्रेम करती हैं; पर श्री कृष्ण केवल राधा के ही प्रति अनुरक्त न होकर सभी गोपिकाओं से प्रेम करते हैं। उनके लिए राधा और अन्य गोपिकाएँ एक ही समान हैं। इस प्रकार सूरदासजी ने प्रेम के विशाल स्वरूप की पूजा बड़ी तन्मयता के साथ की है। उनके प्रेम में सर्वत्र अलौकिकता और आध्यात्मिकता है।

सूरदासजी का काव्य पक्ष भी अधिक प्रबल है। काव्य पक्ष से हमारा तात्पर्य काव्य के बाह्यांगों से है, जिन्हें रस, अलंकार, चित्रमयता, सौन्दर्यांकन, भाषा, और छन्द कहते हैं। सूरदासजी की रचनाओं में यों तो सभी रसों का पुट है, पर शांत रस अपनी विशेषता के साथ उपलब्ध होता है। जहाँ शांत रस है, वहीं सूरदासजी की वास्तविकता भी प्रगट हुई है। उनके ब्रज महिमा सम्बन्धी और विनय-पदों में शांत रस का ही प्रादुर्भाव हुआ है। सूरदासजी की वे रचनाएँ, जिनमें श्री कृष्ण की बाल-लीलाओं का चित्रण है, वात्सल्य रस से ओत प्रोत हैं। वात्सल्य रस दो वर्गों में विभक्त है—एक वर्ग तो वह है, जिसमें श्री कृष्ण यशोदा के साथ ही रहते हैं, और दूसरा वह, जिसमें यसोदा, नन्द, और श्री कृष्ण के विरह की कथा है।

सूरसागर में वात्सल्य रस के पश्चात् शृङ्गार रस का ही स्थान है। बाल-लीला के प्रसंगों को छोड़ कर दशम् स्कन्ध शृङ्गार रस से ओत प्रोत है। शृंगार रस के भी दो स्वरूप हैं—एक संयोग, और दूसरा वियोग। दोनों ही स्वरूपों में श्री कृष्ण और राधा तथा गोपिकाओं के प्रेम-प्रसंग की प्रधानता है। सूरदासजी ने संयोग और वियोग दोनों ही अवस्थाओं का मार्मिक चित्रण किया है। उनके चित्रण में शिष्टता, और मर्यादा है। उनके 'सूरसागर' में अद्भुत रस की भी अवतारणा बड़ी कुशलता के साथ हुई है। असुर वध, गोवर्द्धन धारण, काली दमन, और इन्द्र गर्व दमन इत्यादि कथाओं में अद्भुत रस अद्भुत ढंग से प्रवाहित हुआ है। यत्र तत्र भयानक और करुण रस भी सूरसागर में मिलता है।

सूरदासजी ने अपने काव्य में चमत्कार उत्पन्न करने के लिए अलंकारों का भी प्रयोग किया है। शब्दालंकारों में यमक, अनुप्रास, और वीप्सा का प्रयोग उनकी रचनाओं में अधिक मिलता है। यमक का प्रयोग उन्होंने दृष्टिकूट सम्बन्धी पदों में किया है। शब्दालंकारों की अपेक्षा अर्थालंकार उनकी रचनाओं में बार-बार आते

हैं। अर्थालंकारों में उपमा, रूपक, अतिशयोक्ति, उत्प्रेक्षा, व्यतिरेक, और प्रतीप उन्हें अधिक प्रिय हैं। सूरदासजी की कल्पनाओं में चित्रमयता अधिक है। इसलिए उपमा का प्रयोग उन्होंने बहुत अधिक किया है। उपमा के दृष्टांत उनकी रचनाओं में उच्चकोटि के प्राप्त होते हैं। 'रूपक' पर भी सूरदासजी की अधिक आस्था है। 'रूपक' में भी सांग रूपक उनकी रचनाओं में अधिक मिलता है। सांग रूपक के चित्र उनकी रचनाओं में बड़ी मनोहरता के साथ मिलते हैं। 'उत्प्रेक्षा' से तो संपूर्ण 'सूरसागर' भरा हुआ है। 'उपमा' के पश्चात् यही अलंकार है, जिसका सूरदासजी ने सर्वाधिक प्रयोग किया है।

सूरदासजी की भाषा विशुद्ध ब्रज है। सूरदासजी ब्रजभाषा के सर्व प्रथम और सर्व श्रेष्ठ कवि हैं। सर्व प्रथम उन्हीं के द्वारा ब्रजभाषा का सुन्दर, और सुव्यवस्थित रूप सामने उपस्थित हुआ। उनकी भाषा में स्वाभाविकता, और व्यावहारिकता की छटा है। वह चलती हुई है, और बोल चाल की भाषा से अपना महत्व पूर्ण संबंध रखती है। सूरदासजी ने अपनी प्रतिभा शक्ति से उसे परिमार्जित करके साहित्यिकता का स्वरूप प्रदान किया है। वह संयत, गठी हुई, और प्रभाव पूर्ण है। माधुर्य और प्रसाद उसका गुण है। उसमें अर्थ और भाव व्यञ्जना की अपूर्व शक्ति है। संस्कृत के तत्सम, और ब्रजभाषा के ठेठ शब्दों से उसका शृंगार हुआ है। कहीं कहीं अवधी, फारसी, पंजाबी, गुजराती, और बुन्देलखंडी के शब्द भी उसमें प्राप्त होते हैं, किन्तु इन शब्दों के प्रयोग से उसकी प्रवाहशीलता में कोई बाधा उपस्थित नहीं होती। फारसी इत्यादि भाषाओं के शब्द तद्भव रूप में भी प्रयुक्त हुए हैं। कहीं कहीं शब्द तोड़े मरोड़े भी गए हैं, पर शब्दों के तोड़ने-मोड़ने से भी सौंदर्य में न्यूनता नहीं आने पाई है। लोकोक्तियों और मुहाविरों का प्रयोग भी सूरदासजी ने बड़ी निपुणता के साथ किया है।

सूरदासजी की शैली गीति-काव्यों की शैली है। उनके पदों का गीति-माधुर्य ही उनकी शैली की सबसे बड़ी विशेषता है। वे इस शैली के प्रथम, और अन्तिम आचार्य हैं। प्रथम इसलिए, कि सर्व प्रथम उन्होंने ही इस शैली के परिष्कृत, और परमोज्वल स्वरूप को सामने उपस्थित किया; यद्यपि सूरदासजी के बहुत पूर्व लोक गीतों के रूप में यह शैली जन-समाज में प्रचलित थी, और साहित्य में भी नाथ संप्रदाय के योगियों, तथा जयदेव और विद्यापति इत्यादि कवियों के द्वारा इस शैली को स्थान प्राप्त हो चुका था, पर हिन्दी-काव्य साहित्य में इसके परिमार्जित स्वरूप को उपस्थित करने का श्रेय सूरदासजी को ही है। सूरदासजी की यह शैली उनके आचार्यत्व को प्रगट करती है। उनकी यह अपनी शैली है। कहीं कहीं वह विद्यापति और जयदेव की शैली से अवश्य प्रभावित जान पड़ती है, पर उसकी सबसे बड़ी विशेषता यही है, कि उसमें सूरदासजी की मौलिकता है। उसके शब्द, उसकी भाव धारा, और उसका विन्यास सब कुछ सूरदासजी का अपना है। उसकी सजीवता, उसकी गम्भीरता, उसकी चित्र मयता, और उसकी स्वाभाविकता दर्शनीय है।

कृष्ण काव्य की माला को पिरोने में अष्ट छाप के कवियों ने अधिक योग दिया है। स्वामी वल्लभाचार्यजी की मृत्यु के पश्चात्, उनके पुत्र श्री विट्ठलनाथजी ने आठ कवियों को लेकर अष्ट छाप की रचना की थी। उन आठों कवियों के नाम इस प्रकार हैं—सूरदास, नन्ददास, कृष्णदास, परमानन्ददास, कुंभनदास, चतुर्भुजदास, छीत स्वामी और गोविन्द स्वामी।

नन्ददास का जन्म संवत् १५५० के आस पास एटा जिले के रामपुर नामक गाँव में हुआ था। इनके पिता का नाम जीवाराम था। कहा जाता है, कि पहले इनके हृदय में राम भक्ति का उद्रेक हुआ था, पर कुछ दिनों के पश्चात् इनका भाव बदल गया, और यह श्री कृष्ण के अनन्य भक्त बन गए। इन्होंने विट्ठलनाथजी से दीक्षा ग्रहण की थी। इनका जीवन पुष्टि मार्ग के सिद्धान्तों के ढाँचे में ढला हुआ था। इन्होंने अपनी रचनाओं में पुष्टि मार्ग के ही सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है। १६४० इनकी मृत्यु का सम्वत् माना जाता है।

नन्ददासजी ने कई ग्रन्थों की रचना की है, जिनमें कुछ तो अप्राप्य हैं। इनके प्राप्त ग्रन्थों के नाम इस प्रकार हैं—रस मंजरी, अनेकार्थ मंजरी, रूप मंजरी, मान मंजरी, विरह मंजरी, श्याम सतसई, रास पञ्चाध्यायी, रुक्मिणी मङ्गल, भँवर गीत, सिद्धान्त पञ्चाध्यायी, सुदामा चरित और दशम् स्कन्ध भाषा।

नन्ददासजी की भक्ति दो-तीन रूपों में आविर्भूत हुई है। पहले वे श्री रामचन्द्रजी के अनन्य भक्त थे। श्री रामचन्द्रजी के भक्त के रूप में उन्होंने प्रारम्भिक पदों में श्री रामचन्द्र और हनुमान की भक्ति विषयक भावनाएँ प्रगट की हैं। उनके इन पदों में स्पष्ट रूप से दैन्य का विकास हुआ है। अतः यह निःसंकोच रूप से कहा जा सकता है, कि पहले उनकी भक्ति दास्य भाव की ओर उन्मुख थी। किन्तु पुष्टि मार्ग में दीक्षित होने के पश्चात् उनकी भक्ति का स्वरूप बदल गया। उस समय की उनकी रचनाओं की समीक्षा करने से उनके भक्ति के तीन रूप प्राप्त होते हैं—वात्सल्य, सख्य, और मधुर। उनकी भक्ति का वात्सल्य रूप शिथिल है। उसमें प्राण और गति की न्यूनता है। ऐसा प्रतीत होता है, कि सूरदासजी की रचनाओं को देख करके ही नन्ददासजी ने अपनी वात्सल्य सम्बन्धी रचनाएँ की हैं। उनका मधुर भाव अधिक सुन्दर, परिष्कृत, और प्राणमय है। वास्तव में भक्ति का मधुर स्वरूप ही उन्हें अधिक प्रिय था। रसिकता और मधुरता उनमें अधिक थी। रसिकता और मधुरता के ही क्षेत्र में बैठकर उन्होंने अपने आराध्य देव की अर्चना की है। वात्सल्य की भाँति ही उनकी सख्य भावना में भी स्फूर्ति नहीं है।

काव्य के क्षेत्र में नन्ददासजी का महत्व पूर्ण स्थान है। वे प्रकृत कवि थे। उनके हृदय में प्रकृत रूप से काव्य और संगीत कला विराजमान थी। उनका आविर्भाव भक्तिकाल के उस युग में हुआ था, जिसके नायक गोस्वामी तुलसीदास, और सूरदास जी थे। एक ओर सूरदासजी की कृष्ण-भावनाएँ बिखरी हुई थीं, और दूसरी ओर तुलसीदासजी की रचनाओं की जाह्नवी लोगों के हृदय को आप्लावित कर रही थी।

चारों ओर संगीत और काव्य कला का वातावरण था। नन्ददासजी की प्रतिभा के विकास के लिए उपयुक्त वातावरण पहले से ही विद्यमान था। अतः उसे अंकुरित और पल्लवित होने में विलंब न लगा। उसने थोड़े ही दिनों में अपनी सुगन्ध से सबको आकर्षित कर लिया, और थोड़े ही दिनों में अपना एक विशेष स्थान बना लिया।

नन्ददासजी के ग्रन्थों में कितने काव्यात्मक तत्त्व हैं, और काव्य रचना में कितनी सफलता प्राप्त हुई है—इसका ज्ञान प्राप्त करने के लिए हमें उनके काव्य ग्रन्थों की समीक्षा करनी पड़ेगी। उनके काव्य ग्रन्थों में दो ग्रन्थ ऐसे हैं, जिन्हें अधिक सुख्याति प्राप्त है। एक है रास पञ्चाध्यायी, और दूसरा है भँवर गीत। रास पञ्चाध्यायी उनका सर्वोत्कृष्ट काव्य ग्रन्थ है। इसकी रचना श्री मद्भागवत की एक कथा के आधार पर हुई है। कथात्मक दृष्टि से रास पञ्चाध्यायी सैद्धान्तिक और भावना प्रधान काव्य है। इसमें कथा के तत्त्वों का उतना विकास नहीं हुआ है, जितना भावना के तत्त्वों का। कथा के विकास की ओर नन्ददासजी का ध्यान ही नहीं था। अतः कथा के तत्त्व दब गए हैं, और सिद्धान्त तथा भावनाएँ ऊपर आ गई हैं। नन्ददासजी के सम्पूर्ण कथात्मक काव्य ग्रन्थों में कथा का क्षीण, और दुर्बल स्वरूप ही देखने को मिलता है। यद्यपि नन्ददासजी को कथात्मक काव्य लिखने का एक व्यसन था, पर उनके काव्य ग्रन्थों में कथा का विकास नहीं हुआ है। वे कथाकार ये भी नहीं, वे एक अन्यतम कवि थे। शृंगार रस पञ्चाध्यायी का प्रमुख रस है। शृंगार की अभिव्यंजना उसमें अद्भुत ढंग से हुई है। शृंगार के दोनों तत्व अर्थात संयोग और वियोग उसमें सुन्दरता के साथ प्रतिफलित हुए हैं। नन्ददासजी का संयोग, और वियोग लौकिक न होकर अलौकिक है। उसमें एक ओर लौकिकता की मधुरता का आनन्द मिलता है, और दूसरी ओर ब्रह्मानन्द का स्रोत फूटता हुआ दृष्टिगोचर होता है। लौकिकता में अलौकिकता की सृष्टि नन्ददासजी ने बड़ी कुशलता के साथ की है। इस सृष्टि में कहीं भी उनके काव्य में नीरसता नहीं आने पाई है। उनके काव्य की सबसे बड़ी विशेषता यही है, कि वह दार्शनिक होते हुए भी अधिक कोमल, सुन्दर, सरस और मधुर है।

भँवर गीत की कथा श्री मद्भागवत से ही ली गई है, पर इसमें वह माधुर्य नहीं है, जो रास पञ्चाध्यायी में है। यद्यपि यह भी कथात्मक काव्य है, किन्तु इसमें भी कथा का रंचमात्र भी विकास नहीं हुआ है। भँवर गीत की कथा अपने जिस माधुर्य के लिए प्रसिद्ध है, उसका भी इसमें अभाव है। इसका एक मात्र कारण यह है, कि अपने इस ग्रन्थ में नन्ददासजी अपेक्षाकृत अधिक तार्किक बन गए हैं। वे इस काव्य ग्रन्थ में हृदय को पूर्ण रूप से भूल कर मस्तिष्क के साथ चलते हुए दृष्टिगोचर होते हैं। काव्य के प्रारम्भ में ही तर्क-वितर्क प्रारम्भ हो जाता है, और वह अन्त तक चलता रहता है। किस प्रकार सगुण की निर्गुण पर विजय स्थापित हो—यही चिन्ता

भँवर गीत में आदि से अन्त तक दिखाई देती है; परिणाम स्वरूप उसमें हृदय का अंश कम और मस्तिष्क का अंश अधिक है।

भाषा के क्षेत्र में नन्ददासजी सूरदासजी से आगे बढ़े हुए हैं। नन्ददासजी की भाषा बड़ी मधुर, और व्यंजक है। उनकी कोमल कांत पदावली चित्त को विमुग्ध कर लेती है। ब्रजभाषा के ठेठ शब्दों ने उचित लोकोक्तियों और मुहावरों के साथ मिलकर अपूर्व सौन्दर्य उत्पन्न कर दिया है। शब्दों का चयन और उनका स्थापन बड़ी कुशलता और मार्मिकता के साथ हुआ है। उनकी भाषा में प्रत्येक शब्द नगीने की भाँति जड़े और बिठाए हुए दृष्टिगोचर होते हैं। नन्ददास जी की भाषा के सम्बन्ध में लोगों की यह कथनोक्ति सत्य ही है—"और सब गढ़िया नन्ददास जड़िया।" नन्ददासजी सचमुच भाषा के जड़िया थे। उन्होंने सचमुच एक जड़िया की भाँति ही अपनी भाषा की अँगूठी में शब्दों के नगीने जड़े हैं। उनकी भाषा में कहीं भी शिथिलता दृष्टिगोचर नहीं होती। प्रवाह सर्वत्र एक सा ही दृष्टिगोचर होता है। नन्ददासजी की शैली भी बड़ी आकर्षक, और प्रसाद गुण सम्पन्न है। वे अपनी शैली के एक ही कवि हैं। उनकी शैली के दो रूप किए जा सकते हैं—अलंकारिक और अनालंकारिक। उनकी अलंकारिक शैली चमत्कार पूर्ण है। उन्होंने अपनी इस शैली को उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक, और अनुप्रास इत्यादि अलंकारों के द्वारा चमत्कारिक बनाने का प्रयत्न किया है। यह शैली बड़ी सरस और प्रभाव पूर्ण है। दूसरी शैली साधारण कोटि की है, जो उनके कथात्मक वर्णनों में मिलती है।

कृष्णदास शूद्रवंशोद्भव थे, पर श्री कृष्ण के अनन्य भक्त थे। इनका समय संवत् १६०० के आस पास माना जाता है। नन्ददास और सूरदासजी की भाँति इन्होंने भी श्री कृष्ण की भक्ति में तन्मय होकर गीत-पदों की रचना की है। इनके गीत-पदों में काव्य तत्त्व की अपेक्षा भक्ति के तत्त्व अधिक हैं। इनकी दो पुस्तकें अधिक प्रसिद्ध हैं—भ्रमर गीत और प्रेम तत्त्व निरूपण।

परमानन्ददास का जन्म संवत् १६०७ के आस पास माना जाता है। स्वामी वल्लभाचार्य जी के शिष्यों में इनका प्रमुख स्थान था। इनकी दो पुस्तकें प्रसिद्ध हैं—ध्रुव चरित्र और दानलीला। इनकी रचनाएँ बड़ी सरस और मधुर हैं। इनकी रचनाओं में हृदय की तन्मयता विशेष रूप से पाई जाती है। गेय-पदों के रूप में इन्होंने जो चित्र अंकित किए हैं, उनमें स्वाभाविक रूप से इनके हृदय का भक्ति संगीत गुंजित होता हुआ सुनाई पड़ता है।

कुंभनदासजी विरक्त प्रकृति के कवि थे। यह सांसारिक मान सम्मान और कीर्ति कलाप से अपने को दूर रखते थे। इनके द्वारा किसी विशेष ग्रन्थ की रचना नहीं हुई है। इनके केवल स्फुट पद मिलते हैं, जिनमें भक्ति का विकास देखने को प्राप्त होता है। इनकी भक्ति में निवृत्ति भावना की पर्याप्त झलक देखने के मिलती है।

चतुर्भुजदास कुंभनदास के पुत्र थे। श्री कृष्ण की लीलाओं के प्रति इनके हृदय

में विशेष अनुराग था। इन्होंने अपने ग्रन्थों में मुख्य रूप से श्री कृष्ण की लीलाओं का वर्णन किया है। इनके तीन ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं, जिनके नाम इस प्रकार हैं—द्वादश-यश, भक्ति प्रताप, और हितजू को मंगल। इनके अतिरिक्त इनके स्फुट शब्द भी मिलते हैं, जिनमें इनकी भक्ति और प्रेम के स्वाभाविक चित्र हैं।

छीत स्वामी का कविता काल संवत् १६१४ के आस पास माना जाता है। यह ब्रजभूमि के अनन्य प्रेमी थे। इनके भक्ति-पद बड़े सरस और मधुर हैं। इन्होंने केवल स्फुट पदों में ही रचना की है। अष्टछाप के कवियों में इनकी रचनाओं का महत्वपूर्ण स्थान है।

गोविंद स्वामी का भी कविता काल संवत १६१२ के ही आस पास माना जाता है। इनकी सभी रचनाएँ स्फुट पदों के रूप में पाई जाती हैं। यह विट्ठलनाथजी के शिष्य थे, और गोवर्द्धन पर्वत पर निवास करते थे।

कृष्ण भक्ति शाखा के कवियों में कुछ और भी ऐसे कवि हैं, जिनका नाम बड़े आदर के साथ लिया जाता है। इन कवियों में मीरा का स्थान सर्वश्रेष्ठ है। रसखान, रहीम, और नरोत्तमदास इत्यादि ने भी कृष्ण काव्य की माला में अपने हृदय के भाव-रत्न पिरोये हैं।

मीराबाई का जन्म १५६० वि० के लगभग जोधपुर राज्यान्तर्गत कुड़की नामक गाँव में हुआ था। उनके पिता का नाम रत्नसिंह और दादा का नाम राव दूदाजी था। बाल्यावस्था में ही उनके हृदय में भक्ति अंकुरित हो उठी थी। वे ज्यों ज्यों वय की सीढ़ियाँ पार करने लगीं, उनकी भक्ति भी विकसित होने लगी। सम्वत् १५७३ में उनका विवाह चित्तौर के राणा सांगा के ज्येष्ठ पुत्र भोजराजजी के साथ हुआ। विवाह होने के साथ ही साथ उनकी भक्ति और भी अधिक शक्तिमती हो उठी। इन्हीं दिनों उनके पति और ससुर का स्वर्गवास हो गया। इन घटनाओं का उनके हृदय पर अधिक प्रभाव पड़ा, और अब ये अपना संपूर्ण समय भक्ति-भावना में ही व्यतीत करने लगीं। इनके भक्ति मार्ग में अनेक बाधाएँ उपस्थित की गईं, पर यह विचलित न हुईं। इनकी भक्ति और इनका प्रेम अविचल था। यह चित्तौर छोड़ कर वृन्दावन चली गईं, और फिर वहाँ से द्वारिका जा पहुँचीं। कहते हैं, कि द्वारिका में यह रणछोड़ जी की मूर्ति में अपने पद का गान करते-करते समाविष्ट हो गईं।

मीराबाई ने स्वतन्त्र रूप से किसी विशेष ग्रन्थ की रचना नहीं की है। उनके द्वारा रचे हुए बहुत से स्फुट पद मिलते हैं, जिनमें उनकी प्रेम संबंधी उत्कट अनुभूतियाँ हैं। मीराजी के स्फुट पद गुजराती और राजस्थानी भाषा में भी अधिक संख्या में मिलते हैं। साधु सन्तों और भक्तों की मंडली में भी इनके बहुत से पद गाए जाते हैं। इनके बहुत से ऐसे पद हैं, जिनमें साम्य नहीं है। यही कारण है, कि मीराजी के पदों के जो संग्रह निकले हैं, उनके पदों में सादृश्य नहीं पाया जाता।

मीरा की काव्य कला को समझने के लिए मीरा के युग पर दृष्टिपात करना होगा। मीरा के पूर्व कुछ ऐसे सन्त कवियों का आविर्भाव हो चुका था, जो अपनी वाणी की सुधा से हिन्दी के तरु-पल्लवों को अभिषिक्त कर चुके थे। उन सन्त कवियों की वाणियों की समीक्षा करने से यह पता चलता है, कि मीराजी के पूर्व हिन्दी काव्य में ज्ञान, भक्ति, और प्रेम की धारा प्रवाहित हो रही थी। मीराजी का आविर्भाव जब हुआ, तब उन्होंने अपने को एक ऐसे क्षेत्र में पाया, जिसके चारों ओर भक्ति, ज्ञान, और प्रेम की धारा प्रवाहित हो रही थी। मीराजी के हृदय को भी इस धारा ने परिप्लुत कर दिया। अतः कहना ही पड़ेगा, कि मीराजी की रचनाओं में भक्ति, प्रेम, और ज्ञान की ज्योति है।

अन्यान्य कवियों की भाँति ही मीराजी के काव्य की समीक्षा भी दो दृष्टिकोणों को सामने रख कर करनी चाहिए। वे दृष्टिकोण है, बाह्य और आंतरिक। पहले हम आंतरिक दृष्टिकोण को ही लेंगे। आंतरिक दृष्टिकोण से मेरा तात्पर्य मीरा की अनुभूतियों से है। मीराजी की अनुभूतियाँ बड़ी स्वाभाविक, और तीव्र गामिनी हैं। उनमें तन्मयता और विभोरता है। वे हृदय को स्पर्श करने में बड़ी पटु हैं। उसमें अलौकिकता, और भाव-स्थापन की कुशलता है। उनकी प्रेम, और विरह सम्बन्धी अनुभूतियाँ बड़ी उत्कृष्ट हैं। उन्होंने अपने प्रेम के नायक श्री कृष्ण को बड़े ही निकट से देखा है। श्री कृष्ण के प्रति उनके हृदय में जो विरह वेदना है, वह सच्ची वेदना है। मीरा अपनी वेदना के चित्रों को अंकित करने में अपने को मिटा देती हैं। उनके प्रेम और वियोग सम्बन्धी चित्रों में उनके हृदय की विभोरता, और तन्मयता पाई जाती है।

बाह्य दृष्टिकोण में अलंकार, रस, और छन्द इत्यादि आते हैं। मीराजी के पदों में अलंकारों की अपेक्षा रस की उद्भावना विशेष रूप से हुई है। उनका ध्यान चमत्कारिता की ओर न होकर 'हृदय की पीर' की ही ओर विशेष रूप से रहा है। यही कारण है, कि उनकी रचनाओं में 'अलङ्कारों' के वैचित्र्य का अभाव है। फिर भी रूपक के दृष्टांत उनकी रचनाओं में अधिक मिलते हैं। रूपक के अतिरिक्त उपमा, उत्प्रेक्षा, उदाहरण, विभावना, अर्थांतर न्यास, वीप्सा, और अनुप्रास इत्यादि अलंकारों का विधान उनकी रचनाओं में हुआ है। रसों में शृंगार ही मीरा का प्रधान रस है। शृंगार रस के दोनों ही रूप—संयोग, और वियोग उनकी रचनाओं में मिलते हैं। उनके शृंगार के आलम्बन श्री कृष्ण हैं। उनका शृंगार बड़ा ही संयमित, और मर्यादा पूर्ण है।

मीराजी कवियित्री न होकर अनन्य आराधिका थीं। उनका आराधिका का रूप प्रथम, और कवियित्री का उसके पश्चात् का है। यही कारण है, कि उनके पदों में एक कवि की रचनाओं की भाँति न तो अलंकारों की छटा है, और न रसों का प्रवाह। मीराजी का ध्यान अलंकारों और रसों की ओर न होकर आंतरिक भावनाओं की ही ओर विशेष रूप से था। यही कारण है, कि उनकी रचनाओं में आंतरिक अनु-

भूतियों का ही अधिक प्रस्फुटन हुआ है। अलंकारों और रसों के सौष्ठव की भाँति छन्दों की योजना का भी मीराजी के पदों में अभाव है। उनके पदों में जो छन्द विधान है, उसकी योजना पिंगल के नियमों के अनुसार नहीं है। मीराजी के सभी पद गेय हैं। उन्होंने अपने पदों को स्वर, ताल, और लय में बाँध कर उन्हें गीतों के रूप में परिवर्तित करने का प्रयत्न किया है। पदों को स्वर, ताल, और लय में बाँधने के कारण उनमें मात्राओं का न्यूनाधिक्य अधिक मिलता है। पर फिर भी उनकी संगीतात्मकता में किसी प्रकार का अवरोध नहीं उपस्थित होता।

मीराजी की भाषा अधिक सरल और सुबोध है। छन्द और अलंकार की भाँति ही सौष्ठव की दृष्टि से मीराजी की भाषा में भी प्रगल्भता का अभाव है। उन्होंने सीधी सादी भाषा में ही अपनी अनुभूतियों को सँजोया है, पर उनकी सीधी सादी भाषा बड़ी मर्म स्पर्शिनी, और प्रभाव पूर्ण है। वह हृदय को पकड़ती है, और उस पर अपनी छाप बड़ी पटुता के साथ डालती है। उनके शब्दों में सजीवता और कुशलता है। मीराजी की भाषा का स्वरूप एक-सा नहीं है। उनके बहुत से पदों में राजस्थानी भाषा का स्वरूप है, जिस पर डिंगल का प्रभाव है। उनके कुछ ऐसे भी पद हैं, जिनमें ब्रजभाषा का प्रयोग हुआ है। कुछ पदों में गुजराती, पूर्वी, पञ्जाबी, और फारसी इत्यादि भाषाओं के शब्दों का सम्मिश्रण है। खड़ी बोली की विभक्तियों का प्रयोग भी उनके छन्दों में मिलता है। मीराजी की शैली गीति काव्य की शैली है।

हित हरिवंश पर माध्व और निम्बार्क मतों का प्रभाव था। उन्होंने एक विशेष सम्प्रदाय का सृजन किया है, जिसका नाम है राधा वल्लभी सम्प्रदाय। राधा वल्लभी सम्प्रदाय में 'राधा' की उपासना को प्रमुखता प्रदान की जाती है। 'हित हरिवंश' ने 'राधा' को सर्व शक्तिशालिनी सत्ता मान कर उसके चरणों में अपनी भावांजलि समर्पित की है। इन्होंने राधा की ही भक्ति में दो काव्य ग्रन्थों की रचना की है—'राधा सुधानिधि', और 'हित चौरासी'। राधा सुधानिधि के पद बड़े सरस, और मधुर हैं। इनके अतिरिक्त उनके स्फुट पद भी मिलते हैं, जो उनकी राधा-भक्ति से ओत प्रोत हैं।

रसखान का जन्म दिल्ली के पठान वंश में हुआ था। यह श्री कृष्ण के अनन्य भक्त थे। श्री कृष्ण के प्रति इनके हृदय में प्रेम का सागर लहराया करता था। श्री कृष्ण की भक्ति और उनके प्रेम में इन्होंने अत्यधिक सरस, और मधुर रचनाएँ की हैं। इनकी रचनाओं का विषय श्री कृष्ण का सौन्दर्य, और ब्रज भूमि की मधुरिमा है। श्री कृष्ण के सौन्दर्य, और ब्रज की मधुरिमा के भावों से पूर्ण इनकी रचनाएँ मन को विमुग्ध कर लेती हैं।

रहीम भी मुसलमान थे। श्री कृष्ण की भक्ति में उन्होंने जो दोहे लिखे हैं, उनका हिन्दी काव्य-साहित्य में महत्व पूर्ण स्थान है।

नरोत्तमदास का भी आविर्भाव भक्ति काल में ही हुआ था। वे सीतापुर

जिलांतर्गत 'बाड़ी' के निवासी थे। उन्होंने श्री कृष्ण भक्ति में 'मुदामा चारित' की रचना करके हिन्दी काव्य-साहित्य में अपने को अमर बना लिया है।

कृष्ण भक्ति शाखा के साहित्य का सिंहावलोकन

कृष्ण काव्य श्री कृष्ण भक्ति पर आधारित है। 'राम भक्ति' और श्री कृष्ण-भक्ति के विकास का जो इतिहास हमारे सामने है, उससे यह ज्ञात होता है, कि दोनों का प्रवाह एक साथ ही निःसृत हुआ था, और दोनों के परिणाम स्वरूप एक साथ ही हिन्दी काव्य-जगत में 'राम काव्य' और 'कृष्ण काव्य' की धारा फूट पड़ी थी, पर राम भक्ति के परिणाम स्वरूप 'राम काव्य धारा' का वेग गोस्वामी तुलसीदासजी के पश्चात् ही शिथिल-सा हो गया। गोस्वामी तुलसीदासजी के पश्चात् राम भक्ति शाखा के जो कवि हुए हैं, उनमें 'गति' का अभाव है। दूसरी ओर कृष्ण भक्ति के परिणाम स्वरूप हिन्दी में जो काव्य-धारा प्रवाहित हुई, वह सूरदास जी के पश्चात् आगे भी अक्षुण्ण बनी रही। इसका एक मात्र कारण कृष्ण भक्ति का वह माधुर्य और प्रेम था, जिसके ऊपर कृष्ण काव्य की नींव पड़ी थी।

कृष्ण काव्य का युग मुगल शासकों का युग था। विप्लव की आँधी अब समाप्त हो चुकी थी। अब उसके स्थान पर यवन शासकों के दरबारों से सरसता और मधुरता की संगीत-ध्वनि उठने लगी थी। मुगल सम्राट राग रंग में डूबकर प्रेम और मधुरता की हाट में ही अपने जीवन के क्षण बिता रहे थे। हिन्दू राज-दरबारों में भी अब प्रेम अपनी सरसता के साथ नृत्य कर रहा था। अतः राम काव्य का प्रवाह, जो कर्म शीलता की कर्कश चट्टानों पर उछलता हुआ बह रहा था, युग की शिलाओं के नीचे दब गया। उधर कृष्ण काव्य का जो प्रवाह सरसता और मधुरता के गीत सुना रहा था, युग के अनुरूप होने के कारण उसके आँगन में छलछला कर बह उठा। पर कृष्ण काव्य की वास्तविकता युग के गर्भ में समाविष्ट होने से न बची। युग का झुकाव शृंगार की ओर था। वह बड़ी तीव्र गति से अपने अशान्त मन को लेकर शृंगार-सागर की ओर दौड़ा जा रहा था। 'जहाँगीर' और 'शाहजहाँ' के मधुर तथा सरस जीवन से युग को और भी अधिक प्रोत्साहन प्राप्त हुआ। चारों ओर रंग-रलियाँ होने लगीं। ऐसे समय में कृष्ण काव्य का वह माधुर्य, जिसके मूल में भक्ति-भावना थी, कैसे सुरक्षित रह सकती थी। युग ने कृष्ण काव्य के माधुर्य और प्रेम को तो ग्रहण किया, पर उस भक्ति-भावना को छोड़ दिया, जो उसके मूल में समाहित थी। युग ने कृष्ण काव्य के मूल में, भक्ति भावना के स्थान पर अपनी इच्छाओं के अनुरूप वासना जन्य प्रेम का स्थापन किया; परिणाम स्वरूप कृष्ण काव्य के नायक राधाकृष्ण अध्यात्मिक पुरुष न रह कर एक निम्नश्रेणी के नायक और नायिका बन गए। इस प्रकार कृष्ण काव्य एक दूसरे रूप में परिवर्तित हो गया, जिसे हम वासना मूलक काव्य कह सकते हैं। यही वासना मूलक कृष्ण काव्य आगे चल कर रीति काव्य के रूप में उद्भवित हुआ है।

कृष्ण काव्य अपने आदि में पूर्ण रूप से आध्यात्मिक था, किन्तु ज्यों ज्यों उसमें माधुर्य भाव का समावेश किया जाने लगा; त्यों-त्यों उसके स्वरूप में परिवर्तन होने लगा।

सूर के श्री कृष्ण जब तक बाल रूप में थे, तब तक कृष्ण काव्य के भीतर विशुद्ध प्रेम और अध्यात्मिकता का प्रवाह चलता रहा, पर जब उन्होंने एक तरुण नायक के रूप में दाम्पत्य जीवन में प्रवेश किया, तब लोग साधारण नायक के रूप में ही उनका चित्रण करने लगे। जिस प्रकार कृष्ण काव्य के भाव में परिवर्तन हुआ है, उसी प्रकार उसके भाषा के जीवन में भी परिवर्तन की लहरें उठती हुई दिखाई देती हैं। कृष्ण काव्य की भाषा ब्रज है। पर सूर की ब्रजभाषा और उनके परवर्ती कवियों की ब्रजभाषा में अधिक अंतर है। कृष्ण काव्य की ब्रजभाषा उनके भावों के अनुरूप ही स्वाभाविकता और विशुद्धता की ओर उन्मुख है, पर जिस प्रकार आगे चलकर 'कृष्ण काव्य' अपने मूल पथ से विचलित हो गया है, उसी प्रकार सूरदासजी के पश्चात् ब्रजभाषा का स्वरूप भी परिवर्तित हो गया है। सूरदासजी के पश्चात् जो ब्रजभाषा मिलती है, उसका झुकाव कृत्रिमता और चमत्कार की ओर अधिक है। सूरदासजी के पश्चात् कुछ दिनों तक तो ब्रजभाषा अपनी स्वाभाविकता को अक्षुण्ण रख सकी है, पर उसके पश्चात् जब कृष्ण काव्य आध्यात्मिकता के मार्ग से विरत होकर वासना जन्य प्रेम की उपासना करने लगा, तब ब्रजभाषा की स्वाभाविकता और विशुद्धता डूब गई; और उसका एक मात्र लक्ष्य चमत्कारिकता बन गई। शृंगार काल में तो वह पूर्ण रूप से चमत्कारिक ही है। ब्रजभाषा का वह स्वरूप कलात्मक दृष्टि से विमोहक अवश्य है; पर उसमें वह विशदता नहीं है, जो भाषा में होनी चाहिए। मधुर भाव के उपासक कवियों ने भाषा को कलात्मक बना कर जहाँ अपनी कलात्मक प्रतिभा को प्रदर्शित करने का यश अर्जित किया है, वहाँ उन्होंने भाषा की शक्ति को सीमित करके उसके विकास के मार्ग में अवरोध उपस्थित किया है। ब्रजभाषा के पतन का एक मात्र कारण उसके कवियों की वह भावना है, जो चमत्कारिकता को ही लक्ष्य मानकर काव्य पथ पर चलने में गौरव अनुभव करती थी।

रीति काल

संवत् १७०० से १९०० तक रीति काल माना जाता है। जिस प्रकार वीर और भक्ति काल का नाम उसकी प्रवृत्ति, और भावनाओं के आधार पर पड़ा है, उसी प्रकार रीति काल का नामकरण भी उसकी प्रवृत्ति के ही आधार पर किया गया है। जिस प्रकार वीर गाथा काल में जनता की प्रवृत्ति मुख्य रूप से वीर भाव-पूजा की ओर रही है, और जिस प्रकार भक्ति काल जनता की भक्ति-विषयक भावों से ओत प्रोत था, उसी प्रकार रीति काल में जनता की प्रवृत्ति मुख्य रूप से शृंगार की ओर उन्मुख थी। जनता की प्रवृत्ति मुख्य रूप से शृंगार की ओर उन्मुख होने के कारण लगभग दो सौ वर्षों तक हिन्दी काव्य में जिस साहित्य की रचना हुई है; वह शृंगारिक भावों से ओत प्रोत है। दो सौ वर्षों के लम्बे समय तक, हिन्दी काव्य-जगत के आँगन में मुख्य रूप से शृंगार रस की ही धारा प्रवाहित होती हुई दिखाई पड़ती है। यही कारण है, कि दो सौ वर्षों के इस लम्बे समय को रीति काल के नाम से अभिहित किया गया है।

रीतिकाल और उसका नाम

मुसलमानों के जिस आक्रमण की आँधी को लेकर वीर गाथा काल की सृष्टि हुई थी, वह अब बहुत कुछ शान्त हो चुकी थी। भक्ति काल के आदि और मध्य में अत्र-तत्र उसके झँकोरे उठते रहे हैं, पर भक्ति काल के अन्त में वे झँकोरे भी बन्द हो गए, और भारत का राजनीतिक वातावरण बदला हुआ दृष्टिगोचर होने लगा। यवन-सम्राटों के हृदय में अभी तक जो विद्वेषाग्नि जल रही थी, वह अब शान्त हो चुकी थी। वे अब इस देश को अपना देश मान कर, शान्ति पूर्वक उस पर शासन करने लिए दृढ़ संकल्प थे। हिन्दू जनता के साथ अब उनका मेल-मिलाप भी बढ़ता जा रहा था। हिन्दू जनता भी, अब उनके शासन की छाया में विवशता पूर्वक शान्ति की साँसें लेने लगी थी; परिणामतः चारों ओर शान्ति थी। तलवारें अब म्यान में जा चुकी थीं; और लोगों का ध्यान साहित्य, कला, और संगीत की ओर आकर्षित हो रहा था। शासकों और सम्राटों के भवनों से अब उन्मादक संगीत-लहरियाँ उठ रही थीं। मुगल दरबारों, और राजदरबारों में भी अब साहित्य, संगीत, और कला की ही चर्चा हुआ करती थी। जीवन का झुकाव अब सरसता की ही ओर था। जनता में भी अब सरस और मृदुल भावों

रीतिकाल का युग

की बाढ़ आ रही थी। जहाँगीर और शाहजहाँ ने अपने प्रेम और मधुर जीवन को जनता के सामने उपस्थित करके उसे सरसता की ओर बढ़ने के लिए और भी अधिक प्रोत्साहित किया। जनता अपने सम्राटों और शासकों की देखा देखी सरस जीवन की लहरियों में डूब कर खो उठी।

पर औरंगजेब ने सरसता की थपकियों से सुप्त जनता को पुनः एक ठोकर दी। उसने अपने कटु, असहिष्णु व्यवहारों से पुनः हिन्दू जनता के हृदय में विक्षोभ की लहरें उत्पन्न कर दीं। विद्रोह की शान्त आँधी पुनः महाराष्ट्र के आँगन से उठ खड़ी हुई, और उसने एक बार पुनः भारतीय राजनीतिक जगत को विकम्पित कर दिया। सम्राटों, और शासकों की आँखों में जो नशा छाया हुआ था, उड़ गया, और पुनः चारों ओर आतंक उत्पन्न हो गया। महाराज शिवाजी इस आँधी के प्रणेता थे। उन्होंने अदम्य साहस और पौरुष से मुगल शासन की दीवाल को हिला दिया, और मरहठा राज्य स्थापित किया। महाराज शिवाजी के पश्चात् भी जीवन और जागृति की यह आँधी बहुत दिनों तक चलती रही। इसी आँधी का यह परिणाम था, कि मुगल शासन का दीप शीघ्र ही बुझ गया, और मुसलमानों के जीवन में भी हिन्दुओं के जीवन की भाँति ही अँधेरा छा गया।

रीतिकाल की प्रवृत्तियाँ

रीति काल के युग पर दृष्टि डालने से ज्ञात होता है, कि उसके भीतर दो प्रकार की प्रवृत्तियाँ थीं। एक प्रवृत्ति तो वह थी, जो शान्ति के कारण उत्पन्न हुई थी, और दूसरी प्रवृत्ति वह थी, जो औरंगजेब के कटु और असहिष्णु व्यवहारों के कारण पैदा हुई थी। शान्ति से उत्पन्न प्रवृत्ति के प्रणेताओं में अकबर, जहाँगीर, और शाहजहाँ इत्यादि सम्राटों का नाम लिया जा सकता है। इसी प्रवृत्ति को हम शृंगारिक प्रवृत्ति कहते हैं। रीति काल का निर्माण इसी प्रवृत्ति के आधार पर हुआ है। इस प्रवृत्ति का प्रवाह इतना वेगवान था, कि उसने सम्राटों के भवनों, और दरबारों से लेकर जनता के हृदय को आप्लावित कर दिया था। इस प्रवृत्ति के परिणाम स्वरूप जिन कवियों का उद्भव हुआ, उन्हीं को हम रीतिकाल के शृंगारिक कवि कहते हैं। यह शृंगारिक कवि राज-दरबारों में रहते थे, और अपने आश्रय दाताओं की विलास भावनाओं, और वासनाओं को उद्दीप्त करने के लिए शृंगारिक काव्यों की रचना किया करते थे। इन कवियों ने नायक नायिकाओं के हाव भावों, और नख-शिख के चित्रण में ही अपनी प्रतिभा का उपयोग किया है।

रीति काल की दूसरी प्रवृत्ति औरंगजेब के कटु और असहिष्णु व्यवहारों से उत्पन्न हुई थी। इस प्रवृत्ति के प्रणेताओं में महाराणा प्रतापसिंह, और शिवाजी का नाम लिया जा सकता है। इसी प्रवृत्ति को हम रीति काल की वीरता पूर्ण प्रवृत्ति कहते हैं। इसके परिणाम स्वरूप जो कवि उत्पन्न हुए, वे राज-दरबारों में रहते हुए भी पद ललित जनता के जीवन का राग गाते थे। वे ऐसे ही राज दरबारों में रहते थे, जो जनता के दुख-सुखों से परिचित थे, और जो राष्ट्र की वास्तविक वेदना को

समझ कर उसके उद्धार के लिये प्रयत्नशील थे। इन कवियों ने अपनी रचनाओं में जनता के दुख-सुखों का गान करके अपने राष्ट्र की आकांक्षाओं का ही गान गाया है।

इस प्रकार रीतिकाल में दो प्रवृत्तियाँ पाई जाती हैं। एक शृंगारिक, और दूसरी वीरता पूर्ण। शृंगारिक प्रवृत्ति के प्रतिनिधि कवि देव, बिहारी और मतिराम इत्यादि हैं। वीरता पूर्ण प्रवृत्ति के प्रतिनिधि भूषण हैं।

रीतिकाल में बहुत से कवि हो गए हैं। वहाँ सभी कवियों, और उनकी रचनाओं का विवेचन करना अधिक कठिन है। अतः केवल उन्हीं कवियों पर प्रकाश डालने की चेष्टा की जायगी, जिनकी रचनाओं से रीतिकाल के निर्माण में, और उसके विकास में अधिक सहायता प्राप्त हुई है। केशव का वर्णन राम भक्ति शाखा के कवियों में हो चुका है। केशव रीतिकाल के प्रवर्तक कहे जाते हैं। अतः रीतिकाल की दृष्टि से भी केशव पर प्रकाश डालना उचित होगा। केशव ने आठ ग्रन्थों की रचना की है, जिनके नाम इस प्रकार हैं—कवि प्रिया, रसिक प्रिया, रामचन्द्रिका, वीर सिंहदेव चरित, विज्ञान गीता, रतनबावनी, जहाँगीर जस-चन्द्रिका, और नखशिख। केशव के इन ग्रन्थों पर विचार करने से विदित होता है, कि केशव की मुख्य प्रवृत्ति शृंगार की ही ओर थी। केशव ही वह प्रथम कवि हैं, जिन्होंने सबसे पहले पहल रीति-ग्रन्थों की रचना की। यही कारण है, कि केशव रीति-काव्य के आचार्य कहे जाते हैं। कुछ लोगों का कथन है, कि केशव रीति काव्य के प्रवर्तक भी हैं। यह बात सच है, कि केशव के पूर्व कई ऐसे लेखक हो चुके हैं, जिन्होंने रीति शास्त्र के अंगों पर प्रकाश डाला है। शिवसिंह सेंगर के कथनानुसार ७०० विक्रमाब्द में पुष्प नामक कवि हो चुका था, जिसने अलंकार शास्त्र विषयक ग्रन्थ की रचना की थी। गोप कवि ने भी अलंकार के दो छोटे-छोटे ग्रन्थ लिखे थे। अकबर के राजत्व काल में भी दो और पुस्तकों की रचना हुई थी, जिनका नाम शृंगार सागर, और हित तरंगिनी है। हित तरंगिनी में रसों का निरूपण किया गया है, और शृंगार सागर में शृंगार रस का वर्णन है। अकबर के समय में ही 'रहीम' ने बरवै छन्दों में नायिका भेद लिखा था। स्वयं केशव के बड़े भाई बलभद्र ने 'नखशिख' और 'दूषण विचार' पर एक ग्रन्थ की रचना की थी, पर साहित्यिक दृष्टि से इन ग्रन्थों का मूल्य न था। यह सभी ग्रन्थ रीति शास्त्र संबन्धी केवल क्षीण प्रयास मात्र थे। इस दिशा में सर्व प्रथम युगान्तरकारी प्रयत्न केशव ने ही किया। केशव ही सर्व प्रथम उस धारा को मोड़ने में समर्थ सिद्ध हुए, जो भक्ति के नाम से काव्य-जगत में छलछला रही थी। यही कारण है, कि हम केशव को रीति का प्रवर्तक और प्रथम आचार्य मानते हैं।

रीति काल के कवि

केशव का दो स्वरूप है—एक कवि का, और दूसरा आचार्य का। कवि की अपेक्षा आचार्य के रूप में ही केशव अधिक सफलता के साथ सामने उपस्थित हुए हैं। उनकी रचनाओं में कवित्व कम और आचार्यत्व अधिक है। हिन्दी काव्य साहित्य के वे ही

प्रथम आचार्य माने जाते हैं। सर्व प्रथम उन्होंने ही साहित्यिक दृष्टि से साहित्य शास्त्र पर विवेचना की है। इतना ही नहीं, वरन् सर्व प्रथम उन्होंने ही काव्य को चमत्कारवाद की ओर मोड़ा है। उन्होंने साहित्य, और रीति शास्त्र पर केवल ग्रन्थ ही नहीं लिखे, वरन् अपने काव्य में उसे पूर्ण रूप से स्थान भी दिया है। उनकी रामचन्द्रिका अलंकार से भरी हुई है। उसमें एक से एक कठिन अलंकार हैं। संस्कृत के अलंकारों का भी उन्होंने रामचंद्रिका में प्रयोग किया है। बाण, भाव, भवभूति, और कालिदास इत्यादि संस्कृत के महाकवियों की कल्पनाओं को रामचन्द्रिका में स्थान देकर उन्होंने अपनी संस्कृत विज्ञता का परिचय दिया है। अपने हृदयगत भावों का वर्णन करने के लिए उन्होंने विपुल शास्त्र के सभी छन्द समाप्त कर डाले हैं। कवि प्रिया काव्य विषयक ग्रन्थ है, जिसमें काव्य के विविध अंगों का वर्णन हुआ है। 'रसिक प्रिया' शृंगार का ग्रन्थ है। नखशिख में नखशिख का वर्णन है। जहाँगीर जसचंद्रिका में जहाँगीर के कीर्ति-कलापों का वर्णन किया गया है। 'रतन बावनी' और 'विज्ञान-गीता' साधारण कोटि की रचनाएँ हैं। केशव के काव्य ग्रन्थों में रामचन्द्रिका ही एक ऐसा ग्रन्थ है, जो अधिक महत्व पूर्ण है। इसी काव्य ग्रन्थ के कारण हिन्दी काव्य जगत में केशव की प्रसिद्धि है।

रीतिकाल के कवियों में दो बातें विशेष रूप से पाई जाती हैं। एक तो यह, कि काव्य-जगत में उनका ध्यान मुख्य रूप से शृंगार की ओर केन्द्रित रहा है, और दूसरी यह कि उनमें कवि पद प्राप्त करने के साथ ही साथ आचार्यत्व प्राप्त करने की लिप्सा थी। रीतिकाल के बड़े से बड़े कवि ने अपने कवि पद को तब तक सार्थक नहीं माना है, जब तक उसने आचार्य की भी पदवी नहीं प्राप्त कर ली है। आचार्य की पदवी प्राप्त करने के लिए ही रीति काल के सभी बड़े बड़े कवियों ने लक्षण ग्रन्थों की रचना की है। रीति काल में प्रबंध काव्यों की रचना न होने का यही कारण था, कि रीतिकाल के कवियों का ध्यान आचार्यत्व की ही ओर केन्द्रित था। कई कवियों ने आचार्यत्व के सिंहासन के लिए अपने कवि पद का भी परित्याग कर दिया है। हिन्दी काव्य में यह परम्परा केशव से ही प्राप्त होती है। यद्यपि केशव में भक्ति का तत्त्व भी है, पर उनमें शृंगार और आचार्यत्व के लिए लिप्सा भी है। केशव एक ऐसे क्षेत्र में खड़े दिखाई देते हैं, जहाँ भक्ति का प्रवाह विलीन सा हो रहा है, और उसके स्थान पर एक नया स्रोत फूट रहा है, जिसे रीति का स्रोत कहते हैं। रीति काल की सभी भावनाएँ केशव से फूटे हुए रीति स्रोत में विद्यमान हैं। यही कारण है कि केशव को रीति काल का प्रवर्तक माना जाता है।

रहीम का पूरा नाम अब्दुर्रहीम खानखाना था। इनका जन्म संवत् १६११ में एक वैभव पूर्ण मुस्लिम कुटुम्ब में हुआ था। इनके पिता का नाम बैरमखाँ था। यह अकबर के दरबार के नवरत्नों में से थे। अरबी, फारसी, संस्कृत, और हिन्दी इत्यादि भाषाओं पर इनका आधिपत्य था। अकबर इनका अधिक सम्मान करता था। कहा

जाता है, कि इनके जीवन का अंतिम भाग बड़ी कठिनाइयों से व्यतीत हुआ। संवत् १६७४ में इनका स्वर्गवास हो गया।

रहीम के प्राप्त ग्रन्थों के नाम इस प्रकार हैं—बाकआत बाबरी का फारसी अनुवाद, दीवाने फारसी, खेटकौतुकजातकम, बरवैनायिकाभेद, मदनाष्टक, रासपञ्चाध्यायी, शृंगार सोरठ और रहीम सतसई। बाकआतबाबरी तुर्कीभाषा का ग्रन्थ है। रहीम ने उसका फारसी में अनुवाद किया है। दीवान फारसी में रहीम की फारसी की रचनाएँ संगृहीत हैं। खेटकौतुक जातकम ज्योतिष संबंधी ग्रन्थ है, जिसमें संस्कृत और फारसी के शब्दों का संमिश्रण है। बरवैनायिका भेद में नायिकाओं के भेद और उनके उदाहरण दिए गए हैं। 'मदनाष्टक' एक काव्य है, जिसकी रचना खड़ी बोली में हुई है। रास पञ्चाध्यायी और शृंगार सोरठ का अभी तक पता नहीं चल सका है। 'रहीम सतसई' में रहीम के स्फुट दोहे संगृहीत हैं।

रहीम एक अनुभव पूर्ण कलाकार थे। उनके हृदय में दयालुता और उदारता का अंश अधिक था। वैभव की गोद में जन्म लेने पर भी उन्होंने मानव जीवन को उदारता, और सहानुभूति की ही दृष्टि से देखा था। उनके जीवन की घटनाओं और किंवदन्तियों से ज्ञात होता है, कि वे अपने और पराये में बहुत कम अंतर समझते थे। वे संपूर्ण मानव को एकही सूत्र में गुँथा-हुआ सा अनुभव करते थे। उनकी रचनाओं का मुख्य रूप से यही विषय भी है। उन्होंने अधिकतर रचनाएँ उन्हीं विषयों पर की हैं, जिनकी दीवार उदारता, प्रेम, और सौजन्य की नींव पर खड़ी होती है। उनकी रचनाओं के प्रमुख विषय भक्ति, ज्ञान, वैराग्य, धर्म, नीति, सतसंग, और प्रेम इत्यादि हैं। शृंगार और हास परिहास भी इनकी रचनाओं का विषय है, पर इन्हें सबसे अधिक सफलता उन्हीं विषयों के चित्रण में प्राप्त हुई है, जिनका प्रकृत रूप से इनके हृदय से अधिक घनिष्ठ सम्बन्ध था।

काव्य कला के क्षेत्र में रहीम कुशल कलाकार थे। उन्होंने मानव जीवन के अंतर में बैठकर उसकी वास्तविकताओं का अध्ययन किया था। उन्होंने मानव जीवन का मन्थन करके यह निष्कर्ष निकाला था, कि उसका विकास पार्थिवकता को लक्ष्य मान कर चलने में नहीं, वरन् भक्ति, ज्ञान, वैराग्य, और प्रेम से ही होगा। परिणाम स्वरूप उन्होंने अपनी कविता का शृंगार इन्हीं विषयों से किया है। रहीम के दोहे जो इन्हीं विषयों को लेकर लिखे गए हैं, बड़े मार्मिक हैं। रहीम ने अपने वर्ण्य विषयों में घुसकर उन्हें देखने की चेष्टा की है। उन्होंने अपने विषयों का हृदयंगम बड़ी तन्मयता के साथ किया है। जहाँ भी कहीं उन्होंने जिस विषय का चित्र खींचा है, बड़ी अपूर्वता के साथ खींचा है। उनकी अभिव्यक्ति में तीव्रता और कुशलता है। थोड़े ही शब्दों में बहुत कुछ ढाल देने की उनकी कवि प्रकृति बहुत अधिक प्रशंसनीय थी।

रहीम के भक्ति, प्रेम और नीति संबन्धी दोहे अधिक प्रसिद्ध हैं। उनके भक्ति और प्रेम संबन्धी दोहों के आधार ब्रजचन्द हैं। उन्होंने ब्रजचन्द के ही प्रेम, और भक्ति

में उल्लसित होकर अपने भक्ति संबन्धी दोहों की रचना की है। उनके भक्ति सम्बन्धी दोहों में हृदय की तन्मयता, और विह्वलता है। रहीम ने नीति सम्बन्धी दोहे भी लिखे हैं। उनके नीति सम्बन्धी दोहों में उनके प्रगाढ़ अनुभव के चित्र हैं। उनका एक-एक दोहा जीवन का चित्र सामने प्रस्तुत करता है। उन्होंने इन दोहों में जीवन से सम्बन्ध रखने वाली नयी तुली और संयत बातें कही हैं। इन दोहों से यह पता लगता है, कि उन्होंने जीवन और जगत की स्थितियों का अध्ययन गम्भीरता के साथ किया था। रहीम ने शृंगारिक कविताएँ भी की हैं। उनकी शृंगारिक कविताएँ उनके 'बरवै नायिका भेद' में विशिष्ट रूप से मिलती हैं। 'बरवै नायिका भेद' में विभिन्न नायिकाओं के सुन्दर और प्रभाव पूर्ण उदाहरण दिए गए हैं।

रहीम प्रत्यक्ष जीवन के कवि थे। अतः उनकी सम्पूर्ण रचनाएँ प्रत्यक्ष जीवन से ही सम्बन्ध रखती हैं। यद्यपि उनकी दृष्टि सूक्ष्म थी, और उन्होंने अपनी तीव्र दृष्टि से सूक्ष्म से सूक्ष्म विषयों का भेदन किया है, पर वे मानव हृदय के उस अंतर्द्वन्द से दूर ही रहे हैं, जो लौकिक स्थितियों और दशाओं के परिणाम स्वरूप हृदय में उठा करता है। यही कारण है, कि रहीम की कविताओं में जीवन-दशाओं से जनित अंतर्द्वन्द का अभाव है। कल्पना की उड़ान भी रहीम की रचनाओं में बहुत कम मिलती है।

रहीम की रचनाओं की भाषा का अध्ययन करने से पता चलता है, कि रहीम का अवधी और ब्रज पर पूर्ण आधिपत्य था। यह दोनों ही भाषाएँ उस समय काव्य-जगत में प्रचलित थीं। रहीम ने इन दोनों ही भाषाओं का प्रयोग बड़ी सुन्दरता, और निर्भीकता के साथ किया है। उन्होंने अपनी भाषा में ठेठ शब्दों का प्रयोग करके उसे अधिक सरस और मधुर बना दिया है। रहीम की ब्रजभाषा बड़ी सरस और मधुर है। उसमें शब्दों का प्रयोग भावों के ही अनुसार हुआ है। उनके दोहों में उनकी ब्रजभाषा का अत्यधिक सरस और मधुर स्वरूप देखने को मिलता है। उनकी अवधी भाषा 'बरवै नायिका भेद' में विकसित हुई है। रहीम की शैली भी बड़ी सरल, सुन्दर, और सुबोध है। उन्होंने अपने चुटीले शब्दों में अपने भावों की अभिव्यक्ति बड़ी कुशलता के साथ की है।

चिन्तामणि त्रिपाठी कानपुर जिलांतर्गत तिकवाँपुर के निवासी थे। इनके पिता का नाम रत्नाकर त्रिपाठी था, और यह चार भाई थे, जिनके नाम यह थे—चिन्तामणि, भूषण, मतिराम, और जटाशंकर। चारों ही काव्य की रचना में अधिक कुशल थे। चिन्तामणि का जन्म संवत १६६६ के लगभग हुआ था। उन्होंने कई ग्रन्थों की रचना की है, जिनके नाम इस प्रकार हैं—काव्य विवेक, कविकुल कल्पतरु, काव्य प्रकाश, रामायण, और छन्द विचार।

चिन्तामणि के ग्रन्थ के विषय काव्य शास्त्र विषयक हैं। इन्होंने अपने ग्रन्थों मे काव्य के अंगों पर सुन्दरता के साथ प्रकाश डाला है। इनकी विवेचना पर इनके पांडित्य की गहरी छाप है। इन्होंने शृंगार और भक्ति विषयक रचनाएँ की हैं,

जो चमत्कारवादिता की ओर उन्मुख हैं। भाषा इनकी ललित और अनुप्रासमय है। ब्रजभाषा का विशुद्ध स्वरूप इनकी रचनाओं में देखने को मिलता है।

महाराज जसवंतसिंह मारवाड़ के नृपति थे। उनका जन्म संवत् १६८३ के आस पास हुआ था। संवत् १६६५ में वे सिंहासनारूढ़ हुए थे। हिन्दी काव्य और साहित्य के प्रति उनके हृदय में अत्यधिक अनुराग था। कवियों और विद्वानों का उनकी राजसभा में अधिक समादर होता था। वे स्वयं भी अच्छे साहित्य मर्मज्ञ और प्रतिभा सम्पन्न विद्वान थे। उनके राज्य में कला और साहित्य की अच्छी उन्नति हुई थी।

उनके द्वारा कई ग्रन्थों की रचना हुई है, जिनके नाम इस प्रकार हैं—भाषा भूषण, अपरोक्ष सिद्धान्त, अनुभव प्रकाश, आनन्द विलास, सिद्धांत बोध, सिद्धांतसार, और प्रबन्ध चन्द्रोदय नाटक।

उनके ग्रन्थों में 'भाषा भूषण' का महत्व पूर्ण स्थान है। यह अलङ्कार विषयक ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ ने उन्हें 'आचार्य' के पद पर प्रतिष्ठित किया है। महाराज जसवंतसिंह आचार्य के रूप में ही हिन्दी काव्य-जगत में अधिक प्रसिद्ध हैं। उनका 'भाषा भूषण' आज भी अलंकार शास्त्र का एक महत्व पूर्ण ग्रन्थ माना जाता है। उसकी रचना पर स्पष्टतः संस्कृत के 'चन्द्रालोक' नामक ग्रन्थ की छाया है।

बिहारी लाल का जन्म संवत् १६६० वि० में ग्वालियर राज्य के अन्तर्गत बसुआ गोविन्दपुर नामक गाँव में हुआ था। उनके पिता का नाम केशोराय था। बिहारी की बाल्यावस्था ओड़छा में व्यतीत हुई। उसके पश्चात् वे ब्रज में जाकर रहने लगे। मथुरा में उनका विवाह हुआ। विवाहोपरांत वे मथुरा में ही जाकर रहने लगे। कुछ लोगों का कथन है, कि बिहारी के गुरु बाबा नरहरिदासजी थे। नरहरिदासजी से बिहारी ने साहित्य शास्त्र का अध्ययन किया था। नागरीदासजी के भी बिहारी बहुत बड़े भक्त थे। कहते हैं, कि नागरीदासजी की कृपा से ही बिहारी जहाँगीर के निकट पहुँचे थे।

बिहारी मथुरा में कई वर्षों तक रहे; इसके पश्चात् वे जोधपुर चले गए। जोधपुर के राजा महाराज जसवंतसिंह ने बिहारी का बड़ा आदर सम्मान किया। कहते हैं, कि बिहारी ने जसवंतसिंहजी के आदर-सम्मान से प्रसन्न होकर उनके नाम पर एक पुस्तक लिखी, जिसका नाम भाषा भूषण है। पर बिहारी का मन जोधपुर में न लगा। वे जयपुर जा पहुँचे। जिस समय बिहारी जयपुर पहुँचे थे, वहाँ की स्थिति अधिक निराशाजनक थी। राजा अपने राज्य कार्यों से विरक्त होकर अपनी नव विवाहिता रानी के प्रेम में ही अपना सम्पूर्ण समय व्यतीत करता था। राज्य में चारों ओर चिन्ता छाई हुई थी। बिहारी ने राजा के मोह-स्वप्न को भंग करने के लिए निम्नांकित दोहा लिख कर उसके पास भेजा:—

नहिं पराग नहिं मधुर मधु,
नहिं विकास यहि काल।
अली कली ही ते बँध्यो,
आगे कौन हवाल॥

राजा जयसिंह के हृदय पर इस दोहे का अत्यधिक प्रभाव पड़ा, और वे पुनः अपने राज कार्यों में भाग लेने लगे। महाराज जयसिंह ने बिहारी का अधिक आदर सत्कार किया, और उन्हें उसी प्रकार के दोहे लिखने के लिए प्रोत्साहन प्रदान किया। बिहारी ने दोहे लिखने प्रारंभ कर दिए। प्रत्येक 'दोहे' पर बिहारी को एक स्वर्ण-मुद्रा महाराज की ओर से पुरस्कार स्वरूप दी जाती थी। बिहारी ने जयपुर में ही रह कर सात सौ दोहों की रचना की। इन्हीं सात-सौ दोहों का संग्रह 'बिहारी सतसई' के नाम से प्रसिद्ध है। इन्हीं दिनों बिहारी की स्त्री का स्वर्गवास हो गया; जिससे उनका हृदय अधिक दुखाक्रान्त हो उठा। वे जयपुर से वृन्दावन में जाकर रहने लगे। वृन्दावन में ही बिहारी का स्वर्गवास हो गया।

बिहारी ने किसी स्वतन्त्र ग्रन्थ की रचना नहीं की है। उनका ग्रन्थ जो सबसे अधिक प्रसिद्ध है, बिहारी सतसई है। बिहारी सतसई ७१९ स्फुट दोहों का संग्रह है। सभी दोहे स्वतन्त्र हैं, और भिन्न-भिन्न भावों के द्योतक हैं। अनुसन्धान से पता चला है, कि इन दोहों की रचना में बिहारी को आठ वर्ष का समय लगा था। बिहारी के सभी दोहे स्फुट हैं। पहले उनका कोई क्रम नहीं था। इन सम्पूर्ण दोहों को सर्व प्रथम क्रम बद्ध किसने किया—इस सम्बन्ध में विद्वानों में परस्पर मत भेद है। किसी किसी का कथन है, कि सर्व प्रथम इन दोहों को आजमशाह ने क्रमबद्ध कराया था, जो औरंगजेब का पुत्र था। कोई कोई विद्वान इस बात का खण्डन भी करते हैं। जो हो, सतसई मुक्तक काव्य है। इसका हिन्दी काव्य-जगत में अधिक आदर पूर्ण स्थान है। यद्यपि बिहारी ने किसी ग्रन्थ की रचना नहीं की, पर उनकी 'सतसई' के सात सौ दोहों ने ही उन्हें सदा के लिए 'अमर' कर दिया है। 'सतसई' अपनी विशेषताओं के ही कारण हिन्दी काव्य-जगत में यश की पात्रिणी बन सकी है। ऐसा कोई काव्य प्रेमी नहीं, जो सतसई की ओर एक बार आकर्षित न हुआ हो। उसके दोहों में जो सरसता, सुकुमारता, और भाव व्यञ्जकता है, वह अन्यत्र कहीं नहीं मिलती। बिहारी ने अपने दोहों के एक-एक शब्द में भावों का सागर सा उँडेल दिया है। उनके दोहों की अर्थ-गम्भीरता पर निम्नांकित दोहा बड़ी गम्भीरता के साथ प्रकाश डालता है:—

सतसैया के दोहरे, ज्यों नावक के तीर।
देखत को छोटे लगें, घाव करें गम्भीर॥

हिन्दी काव्य-क्षेत्र में बिहारी का प्रमुख स्थान है। बिहारी की रचनाओं में जो सरसता, सुकुमारता है; वह अन्यत्र बहुत कम मिलती है। बिहारी अपनी सरसता,

सुकुमारता, और भाव-व्यञ्जकता के लिए ही अधिक प्रसिद्ध हैं। बिहारी ने यद्यपि मुक्तक काव्य की ही रचना की है, पर उन्होंने उसमें भावों का गम्भीर सागर सा बहा दिया है। बिहारी की कविता का एक-एक शब्द कुछ कहता, और बोलता प्रतीत होता है। बिहारी की कविता के शब्द अँगूठी के नगीने की भाँति ही जड़े हुए हैं। बिहारी शब्द स्थापन में बड़े निपुण थे। उन्हें व्यञ्जना और लक्षणा का पूर्ण ज्ञान प्राप्त था।

बिहारी की कविता का मूल विषय शृंगार है। उन्होंने भक्ति, दर्शन, रीति, और इतिहास सम्बन्धी दोहे भी लिखे हैं। किन्तु इन दोहों की संख्या बहुत ही अल्प है। उनकी सतसई में आदि से लेकर अन्त तक शृंगार ही शृंगार है। शृंगार के लिए ही बिहारी अत्यधिक प्रसिद्ध भी हैं। उनका जैसा शृंगारी कवि आज तक हिन्दी काव्य जगत में कोई उत्पन्न नहीं हुआ। विश्व की उन्नत भाषाओं में भी बिहारी का जैसा शृंगार बहुत कम पाया जाता है। उन्होंने शृंगार का सर्वांग पूर्ण चित्रण किया है। उनके चित्रण में नायक-नायिकाओं के स्वाभाविक स्वरूप का अत्यन्त विकास हुआ है। उनका सम्पूर्ण शृंगार चित्रण सौन्दर्य, दीप्ति, कान्ति नख-सिख, हाव-भाव, अनुभाव, और केलि-विलास को ही आधार मान कर किया गया है। अनुभावों की व्यञ्जना उनकी रचना में अधिक परिमाण में मिलती है। प्रीति उत्पन्न करने वाली आँखों का वर्णन उन्होंने बड़ी स्वाभाविकता के साथ किया है। ऐसा ज्ञात होता है, मानों बिहारी आँखों की भाषा और भाव के विशेषज्ञ थे।

बिहारी प्रेम-राज्य के अद्भुत खिलाड़ी थे। प्रेम की बाह्य और अन्तर्दशाओं से वे पूर्ण परिचित थे। उन्होंने प्रेम का चित्रण बड़ी स्वाभाविकता के साथ किया है। उनके चित्रण में बड़ी तन्मयता और अनन्यता है। उनका प्रेम सर्वांग पूर्ण है। उसमें संयोग भी है, वियोग भी है। संयोग और वियोग की अवस्थाओं में नायक तथा नायिकाओं के मन में उठने वाली प्रवृत्तियों पर उनका आधिपत्य है। संयोग और वियोग सम्बन्धी उनकी अनुभूतियाँ तथा कल्पनाएँ बड़ी अनूठी हैं। उनका प्रकृति चित्रण भी अधिक मनोरम है। उनके प्रकृति चित्रण में प्रकृति आलम्बन और उद्दीपन-दोनों ही रूपों में दृष्टिगोचर होती है। उन्होंने प्रकृति चित्रण को अनुप्रास, शब्द-योजना, और नाद सौन्दर्य से पुष्ट किया है।

भाव पक्ष की भाँति ही बिहारी में कला-पक्ष भी अधिक प्रबल है। भाव और कला, दोनों पर बिहारी का पूर्ण आधिपत्य है। उनमें अपूर्व पाण्डित्य है, ज्ञान की विशदता है, वाक् वैदग्धता है, और अनुभव शीलता है। उनका एक-एक दोहा ज्ञान के चमत्कार से भरा हुआ है। वाणी का विलास उनके शब्द-शब्द में है। वे शब्दों के अपूर्व पारखी हैं। सच्चे कलाकार की भाँति ही वे प्रत्येक शब्द के वास्तविक स्वरूप को समझते हैं, और उसका उचित स्थापन करते हैं। उनका प्रत्येक शब्द अपने स्थान पर अपनी बात कहता हुआ प्रतीत होता है। उनके शब्दों में व्यंजना,

और लक्षणा का अपूर्व सम्मिलन है। बिहारी कम शब्दों में अधिक बात कहने में खूब निपुण हैं। उन्होंने अपने छोटे से छन्द में बड़ी बड़ी कथाएँ बड़े कौशल से भर दी हैं।

बिहारी का काव्य मुक्तक है। मुक्तक उस पद को कहते हैं, जिसका अगले-पिछले पदों से सम्बन्ध न हो और जो अकेला ही अपने विषय को प्रगट करने में समर्थ हो। मुक्तक में काव्य-रचना करना साधारण बात नहीं है, क्योंकि उसमें 'गागर में सागर' भरना होता है। यही कारण है, कि बहुत कम कवियों का ध्यान मुक्तक की ओर जाता है, पर बिहारी ने अपनी अद्भुत प्रतिभा शक्ति से मुक्तक में अपूर्व चमत्कार उत्पन्न कर दिया है। उनकी रचनाओं में मुक्तक के कई भेद भी मिलते हैं, जो अपने आप में पूर्ण हैं। उनका मुक्तक अपनी सभी विशेषताओं से परिपूर्ण है। उसमें शब्दों की अपूर्व मैत्री है। बिहारी ने समास-पद्धति का व्यापक रूप से आश्रय ग्रहण किया है, किन्तु व्यञ्जना सर्वत्र प्रधान है। भावों को प्रगट करने में उनकी तीव्रता और कुशलता देखते ही बनती है। उनके कार्य-व्यापार बड़े विस्तृत और जाग्रत चेष्टाओं से परिपूर्ण हैं। बिहारी ने अपने कार्य-व्यापार को अलंकारों के द्वारा अलंकृत करने में कुछ कोर कसर नहीं रक्खी है। कहीं कहीं वे शब्दानुप्रास के मोह में पड़ कर अधिक चमत्कारवादी हो गए हैं। उपमा, मुद्रा, और यमक इत्यादि अलंकारों के प्रयोग में बिहारी को अधिक सफलता प्राप्त हुई है।

बिहारी की भाषा ब्रज है, पर उसमें बुन्देल खण्डी, अरबी, फारसी, और पूर्वी तथा खड़ी बोली के भी शब्द मिलते हैं। बिहारी ने शब्दों के प्रयोग में बड़ी कुशलता और व्यापकता से काम लिया है। उन्होंने जिन शब्दों का प्रयोग किया है, वे उनकी भाषा का अधिक गौरव प्रकट करते हैं। अर्थों की व्यंजकता में उनके शब्द अपूर्व हैं। उनकी भाषा के सभी शब्द व्यवस्थित और संयमित हैं। उनकी भाषा में शब्दों का स्थापन बड़ी सुचारुता, और दृढ़ता के साथ हुआ है। उनमें घनिष्ठ सम्बन्ध, और मैत्री है। शब्दों की मैत्री, और घनिष्ठता के कारण बिहारी की भाषा अधिक सुगठित, सरस, और प्रवाहमयी बन गई है। उसमें ओजस्विता और चमत्कारिता भी अधिक है। उसका सबसे बड़ा गुण उसकी संगठन शक्ति है। संगठित शब्दों ने उसमें अपूर्व शक्ति का संचार कर दिया है। सभी विद्वानों ने मुक्त कंठ से बिहारी की भाषा की संगठन शक्ति का प्रशंसा की है।

मतिराम का जन्म संवत् १६७४ के लगभग कानपुर जिलांतर्गत तिकवाँपुर नामक गाँव में हुआ था। इनके सम्बन्ध में यह प्रसिद्ध है, कि यह भूषण और चिन्तामणि के भाई थे। बूँदी के महाराज भावसिंह के दरबार में यह बहुत दिनों तक रहे। इनके सम्बन्ध में यह कहा जाता है, कि यह बहुत दिनों तक जीवित रहे हैं।

मतिराम के ग्रन्थों के नाम इस प्रकार हैं—रसराज, ललित ललाम, छन्दसार,

साहित्यसार, लक्षण शृंगार, अलंकार पञ्चाशिका, और मतिराम सतसई। किन्तु जिन ग्रन्थों से इन्हें अधिक सुख्याति प्राप्त हुई है, वह 'ललित ललाम', और 'रसराज' हैं। 'ललित ललाम' अलंकार विषयक ग्रन्थ है। इसकी रचना संवत् १७१६ और संवत् १७४५ के बीच में किसी समय हुई थी। 'रसराज' शृंगार संबंधी ग्रन्थ है। इसकी रचना सं० १६७८ के आस पास जहाँगीर की आज्ञा से आगरे में हुई थी। इसमें नायक नायिकाओं के भेद तथा तत्सम्बन्धी अनुभव इत्यादि का चित्रण है।

रीति काल के कवियों में मतिराम का महत्व पूर्ण स्थान है। कवि और आचार्य-दोनों ही पदों पर समान रूप से इन्हें गौरव प्राप्त है। इनकी रचनाओं में भावों, और अनुभूतियों की वास्तविक छटा है। इनकी अनुभूतियाँ वास्तविकता को स्पर्श करती हैं। भाव, भाषा, कल्पना, और शब्द-प्रत्येक क्षेत्र में इनकी रचना वास्तविकता और स्वाभाविकता के ही अञ्चल को पकड़ कर चलती है। जिस प्रकार इनकी अनुभूतियों में वास्तविकता है, उसी प्रकार इनकी भाषा और इनके शब्द भी कृत्रिमता से दूर वास्तविकता के आँगन में ही अपनी कला-कुशलता प्रगट करते हैं। इनके शब्दों में भाव व्यंजकता और स्वच्छता है। सरस और मधुर शब्दों की पंक्ति इनकी भाषा में सुन्दरता के साथ देखने को मिलती है।

रीति काल के कवियों में मतिराम ही एक ऐसे हैं, जो चमत्कारवादिता के मोह से विमुक्त दिखाई पड़ते हैं। उनकी रचनाओं में कहीं भी, चमत्कार को उत्पन्न करने वाला वह प्रयास नहीं दृष्टिगोचर होता, जिसके कारण रीति काल के अधिकांश कवि भावों के पथ से हट कर चमत्कारवादिता के जाल में आग्रस्त हैं। इसके प्रतिकूल मतिराम सर्वत्र भाव-विभूति की ही चिन्ता में व्यस्त दिखाई पड़ते हैं। यही कारण है, कि मतिराम की रचनाओं में भावों, और अनुभूतियों के चित्रों का व्यापार पाया जाता है।

पर इसका यह तात्पर्य नहीं है, कि मतिराम की रचनाओं में काव्य कला का अभिसार नहीं हुआ है। मतिराम की रचनाओं में जहाँ भावों का व्यापार है, वहाँ कला की दृष्टि से भी इनकी रचनाएँ खरी उतरती हैं। कलात्मकता इनकी भावमय रचनाओं के पीछे-पीछे चलती है। यह कहीं भी कलात्मकता के मोह में पड़े हुए नहीं दिखाई देते; इसके विपरीत कलात्मकता स्वयं इनकी रचनाओं के मोह में पड़ी हुई दिखाई देती है। इन्होंने 'ललित ललाम', और 'रसराज' की रचना करके यह सिद्ध कर दिया है, कि आचार्यत्व के क्षेत्र में भी यह किसी से पीछे नहीं हैं। इनका 'ललित ललाम' अलंकार-शास्त्र का एक ही ग्रन्थ है। उसमें अलंकारों के जितने सरस और स्पष्ट दृष्टांत मिलते हैं, उतने और कहीं नहीं मिलते। 'ललित ललाम' और 'रसराज' पर कई विद्वानों ने टीकाएँ भी लिखी हैं, जिससे इन ग्रन्थों की गुण-संपन्नता सहज में ही सिद्ध हो जाती है। 'ललित ललाम' और 'रसराज' में भाषा का सरस प्रवाह देखते ही बनता है। रीति काल के कवियों में पद्माकर को छोड़ कर

किसी ने मतिराम के समान सरस, प्रवाहमयी, और मधुर भाषा का गठन नहीं किया है। यही कारण है, कि रीति काल के काव्य-क्षेत्र में मतिराम भाव और भाषा-दोनों के ही चिर धनी कहे जाते हैं।

भूषण का जन्म संवत् १६७० के लगभग कानपुर जिला के तिकवाँपुर नामक ग्राम में हुआ था। यह चिन्तामणि और मतिराम के भाई थे। यह चित्रकूट के सोलंकी राजा रुद्र, महाराज शिवाजी, और महाराज छत्रशाल के राज्य-दरबारों में रहे। 'भूषण' की उपाधि इन्हें चित्रकूट के सोलंकी राजा रुद्र ने प्रदान की थी। महाराज शिवाजी, और छत्रशाल के दरबार में भूषण का अधिक सम्मान हुआ था। भूषण ने अपनी संपूर्ण रचनाएँ महाराज शिवाजी और छत्रशाल की वीरता पूर्ण जीवन कथाओं और उनके आदर्श चरित्रों को आधार मान कर की हैं। सं० १७७२ में भूषण का स्वर्गवास माना जाता है।

भूषण के लिखे हुए छः ग्रन्थ कहे जाते हैं—शिवराज भूषण, शिवाबावनी, छत्रशाल दशक, भूषण हजारा, भूषण उल्लास, और दूषण उल्लास। किन्तु इनमें शिवराज भूषण, शिवा बावनी, और छत्रशाल दशक अधिक प्रसिद्ध हैं। शिवराज भूषण अलंकार सम्बन्धी ग्रन्थ है। इसमें महाराज शिवाजी की प्रशंसा के छन्द हैं, जो अलंकारों के दृष्टांत स्वरूप रचे गए हैं। 'शिवा बावनी' स्फुट पद्यों का संग्रह है। इसमें कुल बावन छन्द हैं। 'छत्रशाल' में दस छन्द हैं, जो महाराज छत्रशाल की वीरता के सर्वोत्तम दृष्टांत हैं। शेष ग्रन्थ अभी तक अप्राप्य हैं; इसलिए उनके सम्बन्ध में प्रामाणिक ढंग से कुछ विशेष नहीं कहा जा सकता।

भूषण अपने युग के प्रतिनिधि कवि हैं। उनकी रचनाओं में राष्ट्र की आत्मा है, संस्कृति का गौरव है। गोस्वामी तुलसीदासजी के पश्चात् भूषण ही एक ऐसे कवि हुए हैं, जो राष्ट्र के स्वरूप को पहचानने में समर्थ हो सके हैं। उन्होंने राष्ट्र का ही गान गाया है। उन्होंने भारतीय संस्कृति की अर्चना में ही अपनी वाणी का वैभव समाप्त कर दिया है। यद्यपि उनकी रचनाओं पर रीति काल की छाप है, यद्यपि रीति काल के कवियों की भाँति वे भी दरबारी कवि थे, पर उनकी रचनाओं में वह शृंगार नहीं है, जो देश को वासना की ओर घसीटता था। उन्होंने चाटुकारिता के वशीभूत होकर कभी उन राजाओं का यशोगान नहीं किया, जो विलासिता को ही अपने जीवन का धर्म माने हुए थे। इसके विपरीत उन्होंने उस रीति काल में भी, जब सारा कवि समुदाय अपने कवि-कर्म को भूल कर चाटुकारिता में लीन था, कवि कर्म के वास्तविक स्वरूप को समझा, और अर्थ को महत्व न देकर वीरता पूर्वक अपने कर्त्तव्य का पालन किया। कवि समाज और राष्ट्र का प्रतिनिधि होता है—इस वाक्य को भूषण ने चरितार्थ किया। राष्ट्र की सिसकती हुई आत्मा को देख कर उनके हृदय में विप्लव की आँधी उत्पन्न हो उठी। वे विद्रोह और विप्लव का गान गाने लगे। उनकी सम्पूर्ण रचनाएँ विद्रोह और विप्लव की भावनाओं से परिपूर्ण हैं।

उस समय दो चित्र थे—एक औरंगजेब का, और दूसरा महाराज शिवाजी का। औरंगजेब भारत की प्राचीन संस्कृति, और धर्म पर कुठाराघात करके उसे सर्वदा के लिए सर्वनाश के सागर में डुबो देना चाहता था, और उधर महाराज शिवाजी भारत की संस्कृति, धर्म, और उसकी राष्ट्रीयता की रक्षा के लिए अपना मस्तक हथेली पर लेकर घूम रहे थे। दोनों ही विभिन्न पथ-केन्द्र पर खड़े होकर अपना-अपना ताना-बाना बुन रहे थे। भूषण ने दोनों ही की ओर देखा, और अपने कर्त्तव्य की वास्तविकता को समझ कर महाराज शिवाजी के वीरता पूर्ण चरित्रों से अपनी रचनाओं का शृंगार करना प्रारम्भ कर दिया। उनकी संपूर्ण रचनाएँ महाराज शिवाजी की वीरता, और उनके गुणों से ओत प्रोत हैं। उन्होंने कुछ ऐसे भी छन्द लिखे हैं, जिनमें बुन्देल केसरी महाराज छत्रशाल की वीरता, और उनके गुणों का वर्णन है। महाराज शिवाजी और छत्रशाल की वीरता तथा उनके गुणों के गान के बहाने भूषण ने भारतीय राष्ट्र, और भारतीय संस्कृति का गान किया है। क्योंकि यह दोनों ही उस समय भारतीय राष्ट्र के नायक थे। शिवाजी का नायकत्व सारे राष्ट्र में परिव्याप्त था। उनका व्यक्तित्व महान् था। भूषण ने संस्कृति के विरोधियों से युद्ध करने का उपदेश नहीं दिया है; वरन् उन्होंने धर्म और संस्कृति की रक्षा के लिए युद्ध करने वाले महाराज शिवाजी की वीरता और उनके गुणों का गान किया है। इस रूप में कहा जा सकता है, कि उन्होंने देश की रगों में धर्म और संस्कृति की रक्षा के लिए जागृति की लहर उत्पन्न की है। कहीं कहीं भूषण ने अपने नायक के चित्रण में अतिशयोक्ति से भी काम लिया है, पर उनकी उस अतिशयोक्ति में भी एक प्रकार की स्वाभाविकता है।

भूषण की सम्पूर्ण रचनाएँ वीर रस से पूर्ण हैं। वीर रस को उद्दीप्त करने वाले सम्पूर्ण तत्त्व उनकी रचनाओं में विद्यमान हैं। कहीं-कहीं उनकी रचनाओं में रौद्र और वीभत्स रस का भी संचार हो उठा है। उनकी रचनाओं को पढ़ तथा सुनकर रगों में विद्युत का संचार हो उठता है। उनकी रचनाओं में संजीवनी शक्ति फूँकने की ऐसी सफल शक्ति है, कि कायर से भी कायर मनुष्य के हृदय में वीरता का प्रवाह उमड़ उठता है। भूषण की रचनाओं में सबसे बड़ी विशेषता यह है, कि वह राष्ट्र के कल्याण के लिए है। उनमें एक विशेष व्यक्ति की वीरता और उसके गुणों का गान अवश्य किया गया है, पर उस गान का प्रभाव संपूर्ण राष्ट्र के हृदय पर पड़ता है। सारा राष्ट्र उनकी रचनाओं से चेतना ग्रहण करता है, और उसकी रग-रग में आलोक उत्पन्न होता है। भूषण की रचनाओं का महत्व उसकी राष्ट्रीय भावना है। यही राष्ट्रीय भावना भूषण की रचनाओं का गौरव है।

काव्य की दृष्टि से भी भूषण की रचनाएँ अधिक महत्वपूर्ण हैं। उनकी रचनाओं में काव्य के दोनों ही स्वरूपों का प्रस्फुटन हुआ है। काव्य का आंतरिक स्वरूप, जिसे हम भावानुभूति कहते हैं, भूषण की रचनाओं में परमोज्वलता के साथ प्रगट हुआ है। अलंकारों और रसों का सन्निवेश भी उनकी रचनाओं में पर्याप्त रूप से मिलता है।

उनके शब्दों में बड़ी व्यञ्जकता और ओजस्विता है। भूषण की मौलिकता भी अत्यधिक प्रशंसनीय है। वे अपने युग से सर्वथा भिन्न हैं। उन्होंने अपने युग में प्रचलित साहित्यिक परम्पराओं से सर्वथा भिन्न एक नवीन प्रणाली का आविष्कार किया है। उनकी काव्य-पद्धति उनकी अपनी काव्य पद्धति है। अलंकारों और रसों की योजना में भी उन्होंने एक नवीन पद्धति का अवलंब लिया है। प्राचीनता की छाप उनकी रचनाओं पर अवश्य है, पर उन्होंने उसमें बड़ी कुशलता के साथ नवीनता का मिश्रण किया है। प्राचीनता और नवीनता के गुणों से संयुक्त उनकी रचनाएँ हृदय पर अपने अनुरूप ही प्रभाव डालती हैं। प्रभावोत्पादकता भूषण की रचनाओं का प्रधान गुण है।

भूषण सर्वथा मौलिक हैं। उन्होंने रीति कालीन परम्पराओं से पृथक एक नवीन भावधारा बहाई है। उनकी कविताओं में न तो शृंगार है, और न नायिकाओं का चित्रण। उन्होंने कविता कामिनी का, एक नवीन रूप में शृंगार किया है। उनका किया हुआ शृंगार रीति काल में अद्भुत सा ज्ञात होता है, और साथ ही उससे उनकी अखंड काव्य शक्ति का भी परिचय मिलता है। इनकी अखंड काव्य शक्ति को देख करके ही उन्हें महाकवि की उपाधि से विभूषित किया गया है। यद्यपि उनके द्वारा किसी महाकाव्य की रचना नहीं हुई है, पर काव्य के प्रवाह मार्ग को परिवर्तित करने की उनमें अपूर्व क्षमता थी। उन्होंने हिन्दी काव्य जगत में प्रवाहित शृंगार धारा को बीच में ही रोक कर वीरता के रूप में परिवर्तित कर दिया। यह उनकी अद्भुत काव्य शक्ति का महान साहस था। ऐसा युगान्तरकारी साहस बहुत कम कवियों में हुआ करता है।

जहाँ तक काव्य के आंतरिक स्वरूप का प्रश्न है, भूषण सर्वथा मौलिक हैं। पर काव्य के बाह्य स्वरूप में वे रीति काल के प्रभाव को नहीं रोक सके हैं। रीतिकाल के कवियों की भाँति उनमें भी काव्य की शक्ति के साथ ही साथ कला का चमत्कार है। रीतिकाल के कवियों के समान ही वे भी कवि के साथ ही साथ आचार्य भी हैं। उनका कवि रूप रीति काल के कवियों से पृथक है, पर उनके आचार्य का रूप वैसा ही है, जैसा रीतिकाल की कवियों का है। रीतिकाल के परम्पराओं की अनुसार भूषण ने भी रीति ग्रन्थ की रचना की है। उनका सुप्रसिद्ध रीति ग्रन्थ 'शिवराज भूषण' है। 'शिवराज भूषण' में अलंकारों के लक्षण लिखे गए हैं, जिन पर संस्कृत के रीति ग्रन्थों की छाप है। भूषण ने अलंकारों के क्रम संख्या और लक्षणों में अपनी मौलिकता प्रदर्शित की है। उनका ध्यान अलंकारों की ओर विशेष न होकर अपने नायक के चरित्र-चित्रण की ही ओर है। यही कारण है, कि हम शिवराज भूषण को लक्षण ग्रन्थों की कोटि में नहीं रखते। इसकी सबसे बड़ी विशेषता यह है, कि इसके द्वारा महाराज शिवाजी के चरित्रों और गुणों पर भी प्रकाश पड़ता है। यह भूषण की ही काव्य-शक्ति का चमत्कार है, कि उन्होंने अपनी रचना से दो दो काम लिए हैं। एक ओर तो उनकी रचना अलंकारों के लक्षण का

काम करती है, और दूसरी ओर वह भावमयी बन कर चरित्रांकन भी करती है। अतः हम कह सकते हैं, कि भूषण की रचनाओं में काव्य और कला का अपूर्व संयोग हुआ है।

रीति काल के कवियों की भाँति भूषण केवल चमत्कारवादी ही नहीं हैं, उनमें आचार्यत्व भी है; पर उनका मुख्य ध्यान इस ओर न था। यही कारण है, कि भूषण मतिराम, देव और बिहारी की भाँति अलंकारों के क्षेत्र में अधिक दौड़ नहीं लगा सके हैं। उनका अलंकारों का क्षेत्र अधिक सीमित है। कई ऐसे भी अलंकार हैं, जिनका उन्होंने अधूरा और संदिग्धात्मक लक्षण लिखा है। उनके लिखे हुए लक्षणों में कई अशुद्ध और दोष पूर्ण भी हैं। पर उनकी योजना का यह दोष उनके काव्य प्रवाह में छिप सा गया है। उनकी रचनाओं में वीर रस का ऐसा अखण्ड स्रोत प्रवाहित है, कि उसने अलंकारों की योजना को अपने भीतर छिपा लिया है। भूषण ने अपनी रचनाओं में शब्दालंकार और अर्थालंकार दोनों की ही योजना की है। उनकी योजना बड़ी स्वाभाविक और क्षमताशालिनी है। वह शब्द-शब्द में अपूर्व चमत्कार उत्पन्न करती है, और पाठक के हृदय को दृढ़ता से पकड़ कर बाँध लेती है। उत्प्रेक्षा, रूपक, यमक व्यति रेक, व्याज स्तुति इत्यादि अलंकारों के दृष्टांत उनकी रचनाओं में अधिक मिलते हैं।

भूषण वीर रस के कवि हैं। उनकी संपूर्ण रचनाओं में वीर रस अखण्ड रूप से प्रवाहित है। सर्वांङ्ग पूर्ण वीर रस का जैसा प्रादुर्भाव भूषण की रचनाओं में हुआ है, वैसा अन्यत्र बहुत कम मिलता है। भूषण के काव्यनायक महाराज शिवाजी स्वयं वीरता की प्रति मूर्ति थे। उनके चरित्र का प्रत्येक भाग अदम्य वीरता और ओजस्विता से भरा हुआ है। उनकी जीवन कथा में वे तत्त्व प्रचुर मात्रा में विद्यमान हैं, जो वीर रस को उद्दीत करने में अधिक सहायक होते हैं। भूषण की रचना को उन सभी तत्त्वों से बल प्राप्त हुआ है। महाराज शिवाजी के चरित्रांकन से उनकी रचनाओं में अपने आप वीर रस उद्दीत हो उठा है, जो बड़ा स्वाभाविक और आकर्षक है। भूषण वीर रस के हिन्दी में अकेले कवि हैं। भूषण के पश्चात् कई कवियों ने अपनी रचनाओं को वीर रस में डुबोया, पर भूषण के पश्चात् किसी को भी वीर रस में भूषण के समान सफलता प्राप्त नहीं हुई। इसका मुख्य कारण यही है, कि भूषण के चरित्र नायक महाराज शिवाजी की भाँति और किसी में 'वीर रस' को उद्दीत करने वाले उपकरण न थे। भूषण ने 'वीर रस' का बड़ा विशद चित्र अंकित किया है। उन्होंने अपने चरित्रनायक महाराज शिवाजी में केवल युद्धों में ही वीरता नहीं देखी है, वरन् उन्होंने उनकी उस प्रशंसनीय शूरता का भी दर्शन किया है, जो उन्होंने दया, दान, और धर्म इत्यादि क्षेत्रों में प्रदर्शित की है। यही कारण है, कि भूषण का वीर रस सर्वांङ्ग पूर्ण है। भूषण ने वीररस के साथ ही साथ रौद्र और भयानक आदि रसों की भी योजना की है। भयानक रस का भी परिपाक उनकी रचनाओं में सुन्दर ढंग से हुआ है। रौद्र रस के उत्कृष्ट दृष्टांत भी उनकी रचनाओं में मिलते हैं। शृंगार रस के भी

उनके कई छन्द मिलते हैं, पर उनमें वह स्वाभाविकता नहीं है, जो उनके वीर रस में है।

भूषण की भाषा ब्रज है। पर भूषण के हाथों में वह सुकुमारता नहीं थी, जो ब्रजभाषा के लिए अपेक्षित हुआ करती है। अतः भूषण के हाथों में आकर उसने अपने चिर परिचित स्वरूप को बदल दिया है। भूषण के हाथों में आने पर हमें उसके एक नवीन स्वरूप का दर्शन होता है, जिसमें ओज है, और उद्दण्डता है। अभी तक हम उसमें प्रेम, विरह, और संयोग के कोमल चित्र देखते चले आ रहे हैं, पर भूषण की ओजस्विनी ब्रजभाषा में हम युद्ध की भयंकरता देखते हैं, तलवारों की झंकार सुनते हैं, और तोपों की गर्जना सुनने के साथ ही साथ युद्ध की विभीषिकाओं के दर्शन करते हैं। भूषण की ब्रजभाषा का यह स्वरूप रीति काल में अपना विशेष महत्त्व रखता है।

भूषण की ब्रजभाषा में वह माधुर्य नहीं है, जो रीतिकाल के अन्यान्य कवियों की ब्रजभाषा में है। इसका कारण यह है, कि भूषण ने अपनी ब्रजभाषा में कई विदेशी भाषाओं के शब्दों को स्थान दिया है। जहाँ उन्होंने मुगल दरबार का चित्र खींचा है, अथवा किसी यवन पात्र का चरित्रांकन किया है, वहाँ उनकी भाषा में अरबी और फारसी के शब्द पाये जाते हैं। जैसे—पादशाही, तसवीह, गुसलखाना, हजार और नवरंग इत्यादि। उन्होंने अरबी और फारसी के शब्द ही नहीं प्रयुक्त किए हैं, वरन् हिन्दी व्याकरण के अनुसार अरबी और फारसी के क्रिया पदों से भी काम लिया है। शब्दों को प्रयुक्त करने में भूषण बहुत ही स्वतन्त्रता से काम लेते हुए दृष्टिगोचर होते हैं। उन्होंने अपनी इच्छा के अनुसार ही शब्दों के स्वरूप को स्थिर किया है। उन्होंने शब्दों के स्वरूप को विकृत करने में कोई कोर कसर उठा नहीं रक्खी है। उनकी भाषा में संस्कृत, प्राकृत बुन्देलखण्डी, राजस्थानी, अवधी, और मराठी भाषाओं के भी शब्द हैं। उन्होंने अपभ्रंश शब्दों का भी प्रयोग किया है। अधिकांश शब्द अपने तद्भव और ठेठ रूप में ही प्रयुक्त हैं। यही कारण है, कि कहीं-कहीं उनकी रचना क्लिष्ट हो गई है। भाषा में ओजस्विता उत्पन्न करने के लिए उन्होंने मुहाविरों और लोकोक्तियों का भी प्रयोग किया है।

देव का पूरा नाम देव दत्त था। इनका जन्म संवत् १७३० में हुआ था। इनके जन्म स्थान और माता पिता के संबंध में विद्वानों में परस्पर मतभेद है। इनकी शिक्षा-दीक्षा के संबंध में भी अभी तक कुछ विशेष रूप से ज्ञात नहीं हो सका है। इनके सम्बन्ध में केवल इतना ही ज्ञात होता है, कि सोलह वर्ष की अवस्था में ही उनमें काव्यांकुर फूट उठा था, और उनकी प्रतिभा का पूर्ण विकास हो चला था। क्योंकि सोलह वर्ष की अवस्था में उन्होंने 'भाव विलास' की रचना की थी। कहा जाता है, कि अष्टयाम और 'भाव विलास' की रचना करके वे औरंगजेब के तृतीय पुत्र आजमशाह की राजसभा में गए, जो अत्यधिक साहित्यानुरागी था। आजमशाह उनकी रचनाओं को सुनकर अधिक प्रसन्न हुआ था। कुछ वर्षों के पश्चात् जब

आजमशाह की मृत्यु हो गई, तब देव का दिल्ली से संबन्ध विछेद हो गया। इसके पश्चात् उन्होंने दादरीपति राजा सीताराम के भतीजे भवानीदत्त वैश्य का आश्रय ग्रहण किया। भवानीदत्त के आश्रय में रहकर उन्होंने 'भवानी विलास' नामक ग्रन्थ की रचना की, किन्तु यहाँ भी देव अधिक दिनों तक न रह सके। इसके पश्चात् वे फफूँद के कुशलसिंह के आश्रय में गए। कुशलसिंह के नाम पर भी उन्होंने 'कुशल विलास' नामक ग्रन्थ की रचना की। इसके पश्चात् उन्होंने राजा द्वैतसिंह का आश्रय ग्रहण किया, और 'प्रेम चन्द्रिका' की रचना की। संवत् १७८३ के सन्निकट देव का परिचय गुणज्ञ राजा भोगीलाल से हुआ। भोगीलाल ने देव का समुचित आदर-सत्कार किया। भोगीलाल के आदर-सत्कार से संतुष्ट होकर देव ने 'रस विलास' की रचना की, और उसे भोगीलाल को ही समर्पित किया, पर देव भोगीलाल के आश्रय में भी न रह सके। भोगीलाल के आश्रय से पृथक होकर देव ने 'शब्द रसायन' की रचना की। अन्त में देव ने पिहानी के शासक 'अकबरअली खाँ' के आश्रय को ग्रहण किया, और अब तक की अपनी सम्पूर्ण रचनाएँ 'सुख सागर तरंग' में संग्रहीत करके उसे समर्पित कर दी। इसके पश्चात् फिर देव को आश्रय दाता की खोज नहीं करनी पड़ी। ऐसा प्रतीत होता है, कि इसके पश्चात् ही उनकी मृत्यु हो गई होगी; क्योंकि अकबरअली खाँ को पुस्तक समर्पित करने के समय उनकी अवस्था नब्बे वर्ष के लगभग थी।

देव ने बहुत से ग्रन्थों की रचना की है। कोई उनके ग्रन्थों की संख्या ५२ बताता है, और कोई ७२। देव के जिन ग्रन्थों का अब तक पता लग सका है, उनके नाम इस प्रकार हैं:—भाव विलास, अष्टयाम, भवानी विलास, सुजान विनोद, प्रेम तरंग, राग रत्नाकर, कुशल विलास, देव चरित्र, प्रेम चन्द्रिका, जाति विलास, रस विलास, काव्य रसायन या शब्द रसायन, सुख सागर तरंग, वृक्ष विलास, पावस विलास, ब्रह्म दर्शन पचीसी, तत्व दर्शन पचीसी, आत्म दर्शन पचीसी, जग दर्शन पचीसी, रसानन्द लहरी, प्रेम दीपिका, सुमिल विनोद, राधिका विलास, नीति शतक, और नखशिख प्रेम दर्शन।

रीति कालीन कवियों में देव का प्रमुख स्थान है। मिश्र बन्धुओं ने देव को रीति काल के कवियों में सर्व श्रेष्ठ बताया है। रीति काल के कवियों में ही नहीं, मिश्र बन्धुओं की दृष्टि में देव तुलसी और सूर से भी बड़े हैं, पर यह मिश्र बन्धुओं का अपना मत है। मिश्र बन्धुओं के विपरीत भी हिन्दी काव्य के आचार्यों के मत हैं, जो देव को संकीर्णतावादी और वासनावादी बताते हैं। जो हो, यह तो निश्चित है, कि देव का रीति काल के कवियों में प्रमुख स्थान है। आचार्यत्व और काव्यत्व-दोनों ही दृष्टियों से देव रीति काल में खरे प्रमाणित होते हैं।

देव की कविताओं के दो वर्ग हैं। उनकी कविताओं का एक वर्ग तो वह है, जिसमें शृंगार रस की धारा प्रवाहित होती है, और दूसरा वर्ग वह है, जिसमें वैराग्य के तत्वों का चिन्तन किया गया है। प्रमुख रूप से देव शृंगार भावना के कवि हैं।

अतः हम सर्व प्रथम उनकी शृंगारिक रचनाओं पर प्रकाश डालेंगे। देव की सम्पूर्ण रचनाओं में शृंगार रस का परमोज्वल स्वरूप पाया जाता है। शृंगार का जैसा विशद चित्रण देव की रचनाओं में पाया जाता है, वैसा अन्यत्र बहुत कम मिलता है। यद्यपि बिहारी ने शृंगार रस का वर्णन किया है, पर बिहारी के शृंगार वर्णन में वह विशदता नहीं है, जो देव के शृंगार वर्णन में है। देव ने शृंगार वर्णन में मौलिकता से काम लिया है। उन्होंने रीति काल की परम्परा और संस्कृत आचार्यों के मत से पृथक स्वतन्त्र रूप से शृंगार रस का वर्णन किया है। उन्होंने बड़ी निर्भीकता के साथ संस्कृत के आचार्यों के मत के विरुद्ध उग्रता, आलस्य मरण, और जुगुप्सा इत्यादि सञ्चारियों को भी शृंगार के सञ्चारियों के अन्तर्गत माना है, और उनका स्वाभाविकता पूर्वक चित्रण किया है।

देव की शृंगारमयी अनुभूति बड़ी दृढ़ और प्रबल है। उसमें सजीवता है, सार्थकता है। उनकी अनुभूति जब उनकी वाणी से निकलती है, तब ऐसा प्रतीत होता है, मानों वह रस में सनी हुई है। देव अपने इस हृदयगत रस—शृंगार रस को सर्व श्रेष्ठ प्रमाणित करते हैं। उनकी दृष्टि में शृंगार रस जीवन की पूर्णता है, मुक्ति का फल है। वे शृंगार रस के अभाव में मुक्ति को अत्यधिक तुच्छ बताते हैं। उनकी दृष्टि में शृंगार सर्वोपरि है। वे शृंगार के मूल—प्रेम के अनन्य आराधक हैं। प्रेम भी कैसा, जो वासना विहीन हो—कामुकता से रहित हो। उनका प्रेम ऊँचा प्रेम है, महान् प्रेम है। वे प्रेम विहीन शृंगार रस को महत्व नहीं देते। उनका प्रेम स्वयं शृंगार है, स्वयं अपने पन में पूर्ण है। प्रेम की-पवित्र प्रेम की उन्होंने सदा मुक्त कंठ से प्रशंसा की है। स्वकीया का प्रेम उनकी दृष्टि में सर्वोपरि है; इसके विपरीत उन्होंने सामान्या और परकीया के प्रेम को प्रेम की संज्ञा ही नहीं दी है।

रीति काल के कवियों की भाँति देव ने नखशिख शोभा, कान्ति और हाव-भाव का भी विशद रूप में वर्णन किया है। प्रेम और शृंगार की भाँति ही उन्होंने नारी के रूप और उसके सौन्दर्य तत्वों का भी चित्रण किया है। शृंगार और प्रेम के चित्रण की ही भाँति देव की दृष्टि सौन्दर्य-चित्रण में भी बहुत ऊँचाई से देखती है। देव के इस चित्रण में भी आत्मतत्व की ही प्रधानता है। उन्होंने जहाँ नखशिख और भावों का वर्णन किया है, वहाँ उनका लक्ष्य उस जड़ सौन्दर्य की ओर नहीं है, जो मनुष्य के मन में विकार उत्पन्न करके उसे जड़ बना देता है। इसके विपरीत उनका लक्ष्य उस सौन्दर्य की ओर है, जो चेतन है, क्रियाशील है, और मनुष्य को आत्म तत्व का बोध कराता है। देव ने संयोग और वियोग के भी मार्मिक चित्र अंकित किए हैं।

देव प्रेम के अनन्य पुजारी थे। उनका परिश्रांत प्रेम ही वैराग्य के रूप में परिणत हो गया है। उनके वैराग्य में स्वाभाविकता नहीं है। ऐसा प्रतीत होता है, मानों उन्हें परिस्थितियों की ठोकर लगी है, अथवा उनकी तीव्र उपभोग की आकांक्षा

अधिक निराश हो उठी है। उनकी यह निराशा उनके व्यक्तिगत जीवन से भी संबन्ध रखती है, और उनकी सामाजिकता से भी। वे जहाँ अपने जीवन से निराश हैं, वहाँ उनका सामाजिक जीवन भी अधिक दयनीय है। वैयक्तिक और सामाजिक निराशा ने उन्हें वैराग्य और आत्म चिंतन की ओर प्रेरित किया है। यह प्रेरणा उनकी इतनी बढ़ गई है, कि उन्हें संसार के सम्पूर्ण विषय-भोगों से विरक्ति हो उठी है। वे कहते हैं:—

"ऐसो जो हौं जानतो, कि जै है तू विषय के संग,
ए रे मन मेरे हाथ पाँव तेरे तोर तो।"

यद्यपि देव को निराशा से तत्त्व चिंतन की प्रेरणा मिली है, पर उनके उस तत्त्व चिंतन में अधिक गम्भीरता है। उन्होंने अपनी रचनाओं में तत्त्व चिंतन की सभी परिस्थितियों और उसके सभी रूपों पर सुचारुता के साथ प्रकाश डाला है।

देव महाकवि थे, और उसके साथ ही साथ आचार्य भी थे। यद्यपि आचार्य के रूप की अपेक्षा देव का कवि रूप अधिक परमोज्वल है, पर आचार्य के रूप में भी वे किसी से घट कर नहीं हैं। उनका पांडित्य अपार था। उन्होंने हिन्दी, और संस्कृत के कवियों का अध्ययन बड़ी विशदता के साथ किया था। उनका संस्कृत अध्ययन प्रगाढ़ था। यद्यपि उन्होंने अपने आचार्यत्व के लिए बहुत सा साधन संस्कृत के कवियों से ग्रहण किया है, पर उन सम्पूर्ण साधनों पर उन्होंने अपनी मौलिकता की ऐसी छाप लगा दी है, कि कोई उन पर अनुकरण या अनुसरण का आरोप नहीं लगा सकता। उन्होंने जो सामग्री संस्कृत के आचार्यों से ली है, उसे बिलकुल अपनी बना ली है। कई स्थानों पर देव ने संस्कृत आचार्यों से भिन्न-बिलकुल पृथक अपना मत स्थिर किया है। जैसे संस्कृत के आचार्यों ने शब्द की तीन शक्तियाँ—अभिधा, लक्षणा, और व्यंजना निश्चित की हैं, पर देव ने इनके अतिरिक्त एक चौथी शक्ति का भी उल्लेख किया है, और उसको उन्होंने 'तात्पर्य वृत्ति' के नाम से अभिहित किया है; इसी प्रकार 'रसों' और नायिका भेदों के सम्बन्ध में भी देव ने संस्कृत आचार्यों से अपना पृथक मत निश्चित किया है। इससे यह ज्ञात होता है, कि देव में मौलिक सूझ थी, और वे प्रत्येक विषय का विवेचन अपनी दृष्टि से करते थे।

रीतिकाल के कवियों में आचार्य की दृष्टि से देव का प्रमुख स्थान है। देव ने रीति सम्बन्धी दो ग्रन्थ लिखे हैं—भाव विलास, और शब्द रसायन। भाव विलास में रस के आन्तरिक अंगों का विवेचन किया गया है। यद्यपि उसमें केवल श्रृंगार को ही स्थान दिया गया है, पर इस अकेले रस की व्याख्या के ही कारण देव के आचार्यत्व की सिद्धि हो जाती है। यदि देव कोई और रीति ग्रन्थ न लिखते तो केवल भाव विलास के ही कारण आचार्यत्व की पदवी से विभूषित किए जा सकते थे। उनका शब्द रसायन रीति का सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थ है। शब्द रसायन में उन्होंने शब्दों

की शक्ति के साथ ही साथ गुण, रीति, और छन्दों का भी विवेचन किया है। इसके अतिरिक्त उन्होंने काव्य सम्बन्धी बहुत सी बातों पर भी स्थान स्थान पर प्रकाश डाला है। जैसे—काव्य की आत्मा, काव्य का शरीर, शब्द का प्रयोजन, और काव्य की महिमा इत्यादि। शब्द रसायन में अलंकारों का निरूपण भी है। सुखसागर तरंग, सुजान विनोद, भाव विलास, और रस विलास में उन्होंने नायिका भेदों का भी वर्णन किया है।

रस, अलंकार, छन्द, शैली, भाषा प्रत्येक दृष्टि से देव आचार्य हैं। उन्होंने काव्य के इन सम्पूर्ण अंगों पर विशदता पूर्वक प्रकाश डाला है। उन्होंने प्रत्येक क्षेत्र में एक नवीन मार्ग का निर्माण किया है। मार्ग का निर्माण करने में उन्होंने अतीत के आचार्यों से सहायताएँ अवश्य ली हैं, पर वे सहायताएँ ऐसी हैं, जिन्हें प्राप्त करने में देव को अधिक कष्ट उठाने पड़े हैं।

देव रीति काल के सर्व श्रेष्ठ कवि कहे जाते हैं। उनके आविर्भाव के पूर्व ब्रजभाषा पूर्ण गौरव को प्राप्त हो चुकी थी। सूर, केशव, बिहारी, और मतिराम ने ब्रजभाषा के शृंगार में अपनी सम्पूर्ण शक्ति लगाई थी। उसका माधुर्य, उसका सौष्ठव उसकी व्यञ्जना शक्ति पूर्णरूप से प्रतिफलित हो चुकी थी। देव को एक ऐसी ब्रज-भाषा मिली, जो काव्य के लिए प्रत्येक प्रकार के गुणों से अलंकृत थी। देव ने इस गुणालंकृत भाषा को अपनी प्रतिभा और काव्य शक्ति से और भी अधिक महत्व पूर्ण बना दिया। देव के हाथों में आकर यह भाषा और भी अधिक परमोज्वल हो गई। रीति काल के समस्त कवियों में देव की ब्रज भाषा बहुत ही सुगठित, और व्यवस्था पूर्ण है। उनकी ब्रजभाषा में भाषा के सभी उन्नत और परिमार्जित तत्व मिलते हैं। देव की ब्रजभाषा का रूप बड़ा ही विशद है। उन्होंने अपनी ब्रजभाषा में संस्कृत, अपभ्रंश, फारसी, और उत्तर भारत की अन्यान्य बोलियों के शब्दों का प्रयोग बड़ी स्वतन्त्रता के साथ किया है। देव का शब्द-भंडार भी विस्तृत है। संस्कृत के प्रकांड विद्वान होने के कारण उन्होंने संस्कृत के शब्दों का प्रयोग बहुलता के साथ किया है, पर इस प्रयोग में उनका उद्देश्य पांडित्य और चमत्कार प्रदर्शन नहीं है। उन्होंने संस्कृत के तत्सम शब्दों का प्रयोग केवल भाषा की श्री वृद्धि के ही लिए किया है।

व्याकरण की दृष्टि से देव की भाषा में त्रुटियाँ हैं। ऐसा ज्ञात होता है, मानों देव का ध्यान भाषा की शुद्धता की ओर नहीं था। उनकी दृष्टि भावों पर ही अधिक अनुरक्त थी। भावों के प्रेम में फंस कर उन्होंने स्थान-स्थान पर व्याकरण के नियमों का उल्लङ्घन किया है। उनके इस नियमोल्लङ्घन का कारण उनकी तुक, अनुप्रास और यमक के प्रति हार्दिक निष्ठा भी है। तुक और अनुप्रास की इस निष्ठा ने उनकी रचनाओं में, कई स्थानों में लिंग और कारक सम्बन्धी दोष उत्पन्न कर दिए हैं, जिससे उनके वाक्यों में अधिक शैथिल्य आ गया है। किन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं, कि उनकी सारी भाषा दोष पूर्ण है। जहाँ कहीं उन्होंने सावधानी और

सतर्कता से काम लिया है, वहाँ उनकी भाषा इस दोष से बच गई है, और उसमें पूर्ण शुद्धता है। यत्र तत्र व्याकरण की दृष्टि से सदोष होने पर भी देव की भाषा में बड़ी सुष्ठता है। देव का ध्यान व्याकरण के नियमों की ओर अवश्य नहीं था, किन्तु पद योजनाओं पर उनकी शक्ति केन्द्रित थी। पद-योजनाओं के निर्माण में उन्होंने अधिक साधना की है। उनकी पद योजनाएँ बड़ी अलकृत, और साज-सज्जा पूर्ण हैं। ब्रजभाषा की प्रकृति की अनुसार उनके छोटे-छोटे अपूर्व, अनुक्रमित और सन्तुलित पद बड़े मनोहर ज्ञात होते हैं। उन्होंने अपूर्व कलात्मक ढंग से अपने पदों का गुंफन किया है। वीप्सा, अनुप्रास, और पदावृत्ति के विभिन्न प्रयोगों द्वारा उन्होंने अपनी भाषा को अधिक प्राणमय बना दिया है। उनकी भाषा के शब्दों में अधिक व्यञ्जना है। उनकी भाषा का प्रत्येक शब्द मुखरित सा दृष्टिगोचर होता है। अनुप्रासों के द्वारा उन्होंने अपनी भाषा के शब्दों में अर्थ ध्वनन की शक्ति जागृत करने का विशेष कौशल प्रदर्शित किया है। भाषा के गुण को प्रगट करने तथा उसमें स्वाभाविकता उत्पन्न करने के लिए देव ने अपनी भाषा में मुहाविरों और कहावतों का भी प्रयोग किया है। देव की भाषा में इतनी लोकोक्तियाँ हैं, कि उतनी रीति काल के किसी भी कवि की कविता में नहीं पाई जातीं। देव ने लोकोक्तियों और मुहाविरों का प्रयोग बड़े कौशल के साथ किया है। उनकी प्रयोग-कुशलता के कारण लोकोक्तियाँ उनके वाक्यों में स्वतन्त्र न होकर उन्हीं का एक स्वाभाविक अंग बन गई हैं, जिसके परिणाम स्वरूप उनकी भाषा में और भी अधिक सौष्ठव आ गया है।

श्रीपति कालपी के निवासी और कान्यकुब्ज ब्राह्मण थे। उन्होंने कई ग्रन्थों की रचना की है, जिनके नाम इस प्रकार हैं—कवि कल्प द्रुम, काव्य सरोज, सरोज कलिका, रस सागर, अलंकार गंगा, अनुप्रास विनोद, और विक्रम विलास। इन्होंने अपने काव्य ग्रन्थों में काव्य के अंगों का विवेचन करके अपने आचार्यत्व को प्रमाणित करने का प्रयत्न किया है। इनका आचार्यत्व इनके कवि जीवन की अपेक्षा श्रेष्ठ है।

भिखारीदास प्रतापगढ़ जिलांतर्गत ट्योंगा गाँव के निवासी श्रीवास्तव कायस्थ थे। इनके ग्रन्थों के नाम इस प्रकार हैं—रस सारांश, छन्दोर्णव पिंगल, काव्य निर्णय, शृंगार निर्णय, नाम प्रकाश, विष्णु प्राण भाषा, छन्द प्रकाश, शतरंज शतिका, और अमर प्रकाश। इनके ग्रन्थों में इनके काव्य निर्णय का अधिक महत्व पूर्ण स्थान है। इन्होंने काव्य निर्णय में रीति और काव्य के अंगों का विवेचन बड़ी विशदता और सुन्दरता के साथ किया है। काव्य के क्षेत्र में यह सफल कवि कहे जा सकते हैं। रीति काल के कवियों की भाँति यह चमत्कार के पीछे दौड़ न लगा कर भावों और अनुभूतियों के चित्रण की ओर ही उन्मुख रहे हैं। यद्यपि इनके भाव वही हैं, जो इनके पूर्व वर्ती कवियों के हैं, पर इन्होंने अपने उन भावों के चित्रण में बड़ी कुशलता प्रदर्शित की है।

दूलह कालिदास त्रिवेदी के प्रपौत्र थे। इनके पिता का नाम उदयनाथ 'कवीन्द्र' था, जो रीति काल के एक अच्छे कवि थे। इनका कविता काल संवत् १८०० से लेकर, संवत् १८२५ के आस पास माना जाता है। इन्होंने एक ही ग्रन्थ की रचना की है, जिसका नाम है, 'कविकुल कंठा भरण'। यह अलंकार संबंधी ग्रन्थ है। इसमें सवैया, और कवित्त ऐसे बड़े छन्दों में अलंकारों के लक्षण, और उनके दृष्टांत एक ही पद्य में दिए गए हैं।

चेनी प्रवीन लखनऊ के निवासी थे। इनका जन्म वाजपेयी घराने में हुआ था। इनके द्वारा निर्मित तीन ग्रन्थ मिलते हैं—नव रस तरंग, शृंगार भूषण, और नाना राव प्रकाश। 'नव रस तरंग' नायिका भेद और रस भेद सम्बन्धी ग्रन्थ है। 'शृंगार भूषण' इनकी रचनाओं का संग्रह है, जिसमें इनकी शृंगारिक कविताएँ संगृहीत हैं। 'नानाराव प्रकाश' अलंकार सम्बन्धी ग्रन्थ है, जो केशव की 'कवि प्रिया' की शैली पर लिखा गया है।

पद्माकर के पिता का नाम मोहनलाल भट्ट था, जो एक तैलङ्ग ब्राह्मण थे। पद्माकर का जन्म संवत् १८१० बाँदा में हुआ था। इनके पिता मोहनलाल स्वयं कवि थे। कवि होने के साथ ही साथ वे तांत्रिक भी थे। पद्माकर ने अपने पिता से ही काव्य की शिक्षा प्राप्त की। मन्त्र-सिद्धि की प्रेरणा भी उन्हें अपने पिता के ही द्वारा प्राप्त हुई। कहते हैं, कि पद्माकर ने अपने पिता द्वारा निर्देशित मार्ग पर चल कर मन्त्र-सिद्धि भी की थी।

रीति काल की परम्परा के अनुसार पद्माकर को भी आश्रयदाताओं की खोज थी। सर्व प्रथम पद्माकर सागर के तत्कालीन राजा रघुनाथराव अप्पा साहब के आश्रय में रहे। एक बार उन्होंने अप्पा साहब की प्रशंसा करते हुए उनकी सम्पत्ति की तुलना कुबेर की सम्पत्ति से की। इस पर उन्होंने प्रसन्न होकर एक लाख मुद्रा पुरस्कार दिया। कुछ लोगों का कथन है, कि जिस कवित्त में उनका अप्पा साहब के प्रति यह भाव अङ्कित है, वह कवित्त अब भी उनके वंशजों में 'लाखिया' के नाम से प्रसिद्ध है।

किन्तु कुछ दिनों के पश्चात् पद्माकर की अप्पा साहब से अनबन हो गई, और वे बाँदा चले गए। बाँदा में अर्जुनसिंह ने उनसे अपनी तलवार की सिद्धि कराई और उन्हें अपना कुल गुरु बनाया। इसके पश्चात् पद्माकर दतिया दरबार में गए, और फिर वहाँ से सितारे चले गए। सितारे में महाराज रघुनाथ राव राघोबा ने उनकी रचनाओं पर प्रसन्न होकर उन्हें दस गाँव, एक हाथी, और एक लाख रुपया पुरस्कार स्वरूप प्रदान किया। वहाँ से पद्माकर सागर चले गए। कुछ दिनों तक सागर में रहने के पश्चात् जयपुर नरेश महाराज प्रतापसिंह के दरबार में चले गये। जयपुर से पद्माकर उदयपुर, और ग्वालियर के राज दरबारों में गये। अन्त में चरखारी के राज दरबार में गए। किन्तु चरखारी में पद्माकर का सम्मान न हुआ, जिससे उन्हें अधिक आत्म ग्लानि हुई; और अपने घर चले गए। कहते हैं, कि इन दिनों

पद्माकर का शरीर कुष्ठ रोग से पीड़ित हो गया था। पद्माकर कुछ दिनों तक घर पर रह कर कानपुर चले गए। वहाँ उन्होंने अपने रोग की शान्ति के लिए 'गंगा लहरी' की रचना की। उनका रोग तो जाता रहा, पर उनका स्वास्थ्य, जो क्षीण हो गया था, पुनः ठीक न हो सका। परिणाम स्वरूप सम्वत् १८६० में पद्माकर का स्वर्गवास हो गया।

पद्माकर के ग्रन्थों के नाम इस प्रकार हैं—जगद्विनोद, पद्माभरण, प्रबोध पचासा, गंगा लहरी, हिम्मत बिरुदावली, और भाषा हितोपदेश। 'जगत विनोद' की रचना जगतसिंह की प्रशंसा में की गई है। पद्मा भरण रीति ग्रन्थ है, जिसमें रसों और अलंकारों का निरूपण किया है। 'प्रबोध पचासा', और 'गंगा लहरी' में भक्ति-भाव का विकास हुआ है। 'हिम्मत बिरुदावली' में हिम्मतसिंह के गुणों की प्रशंसा है। भाषा हितोपदेश संस्कृत के हितोपदेश का गद्य-पद्यात्मक भवानुवाद है।

रीति काल के कवियों का ध्यान प्रबन्ध काव्य की ओर नहीं था। केशव को छोड़ कर रीति काल के संपूर्ण कवियों ने मुक्तक काव्यों की ही रचना की है। इसका एक मात्र कारण यही हो सकता है, कि रीति काल के कवि प्रायः राजाओं के आश्रित रहा करते थे, और उन राजाओं का ध्यान, कवियों की प्रतिभा का चमत्कार देखने की ओर न होकर केवल अपना गुणगान सुनने तक ही सीमित होता था। अतः रीति काल के कवियों को स्वतन्त्र रूप से अपनी प्रतिभा का चमत्कार दिखाने का बहुत कम अवसर मिलता था। जिन कवियों ने राजाओं और सामन्तों के गुण गान से पृथक हट कर थोड़ी बहुत भी अपनी स्वतन्त्र प्रकृति का परिचय दिया है, उन्हें अपने जीवन में बड़ी-बड़ी विपत्तियों का सामना करना पड़ा है। रीति काल की परंपरा के अनुसार पद्माकर ने भी मुक्तक काव्य में रचनाएँ की हैं, और उन्हें भी अपने आश्रय दाताओं की बिरुदावली का गुण गान करना पड़ा है। पद्माकर के जीवन वृत्तों से ज्ञात होता है, कि उन्हें एक नहीं, कई राज-दरबारों की शरण लेनी पड़ी थी। कई राजाओं के आश्रय में रहने के कारण पद्माकर की काव्य-रचना भी स्फुट है। इन्होंने किसी प्रबन्ध या खंड काव्य की रचना न करके प्रायः मुक्तक ही लिखे हैं। उन्होंने अपनी रचनाओं में अपने आश्रय दाताओं के गुणों का गान किया है। उनका गान वर्णनात्मक है। उसमें बुद्धि का उपयोग अधिक, और हृदय का उपयोग बहुत कम है। रीति काल की परंपरा के अनुसार पद्माकर की रचना भी अपने बाह्य स्वरूप तक ही सीमित है।

पद्माकर ने शृंगार और वीर-दोनों ही रसों में कविताएँ लिखी हैं। शृंगार की अपेक्षा उनमें वीर रस अधिक है। भक्ति पर भी उनकी रचनाएँ हैं, जो हृदय को स्पर्श करती हैं। उनकी भक्ति पूर्ण रचनाओं में हृदय के तत्त्वों का विकास हुआ है। उनमें अनुभूति है, हृदय की तन्मयता है। 'गंगा लहरी' में पद्माकर हृदय की पयोधि में डूबे हुए जान पड़ते हैं। उनकी गंगा लहरी के एक-एक छन्द हृदय के

छन्द हैं। 'प्रबोध पचासा' में भी उनकी आत्मिक भक्ति का विकास देखने को मिलता है। 'गंगा लहरी' में तो उनकी भक्ति उमड़ सी उठी है, और उसने गंगा की तरंगों में मिल कर अपने आपको पूर्ण कर लिया है। 'शृंगार' और वीर रस में भी पद्माकर को अधिक सफलता प्राप्त हुई है। उनका वीर रस वर्णनात्मक है। कहीं कहीं 'वीर रस' को व्यञ्जित करने के लिए उन्होंने अधिक अतिशयोक्ति से भी काम लिया है। जहाँ कहीं उन्होंने अधिक अतिशयोक्ति से काम लिया है, वहाँ उनकी रचनाओं में अस्वाभाविकता आ गई है। 'वीर रस' की तरह पद्माकर का शृंगार भी वर्णनात्मक है। पद्माकर अपने शृंगार में नारी के बाह्य सौन्दर्य' तक ही रह गए हैं। नारी में बाह्य सौन्दर्य के अतिरिक्त और भी कुछ होता है, इसकी ओर पद्माकर का बिलकुल ध्यान तक नहीं है। पद्माकर के शृंगार में कहीं-कहीं अधिक अश्लीलता भी आ गई है, जिसके कारण उनकी वे रचनाएँ अधिक निम्नकोटि की लगती हैं।

रीति काल की परंपरा के अनुसार पद्माकर कवि के साथ ही साथ आचार्य भी हैं। पद्माकर ने आचार्य की भाँति ही एक रीति ग्रन्थ भी लिखा है, जिसका नाम पद्माभरण है। यद्यपि पद्माकर का ध्यान आचार्यत्व की ओर विशेष रूप से नहीं है, पर उनमें आचार्यत्व भी है, और इसका प्रमाण है, कि उन्होंने 'पद्माभरण' का निर्माण किया है, जिसमें 'रसों' और 'अलंकारों' का निरूपण हुआ है। अभी तक रीति ग्रन्थों के निर्माण के लिए दो ग्रन्थ आधार थे—एक तो जयदेव कृत चन्द्रालोक, और दूसरा भैरिसाल का भाषाभरण। 'भाषा भरण' की रचना कुबलयानन्द के आधार पर की गई है। पर पद्माकर ने अपने रीति ग्रन्थ में अपनी स्वतन्त्रता, और मौलिकता से ही अधिक काम लिया है। उन्होंने अलंकारों और रसों के निरूपण में न तो 'चन्द्रालोक' का मार्ग ग्रहण किया है, और न 'भाषा भरण' का ही अनुगमन किया है।

'पद्माकर' की भाषा शुद्ध ब्रज है। उसमें रमणीयता है, स्वाभाविकता है। शब्दों का चयन बड़ी सूक्ष्मदर्शिता के साथ हुआ है। प्रत्येक शब्द भाव के अनुरूप है, और एक चित्र अङ्कित करता हुआ ज्ञात होता है। शब्दों में परस्परिक मित्रता है, जिसके कारण पद्माकर की भाषा अधिक सुगठित और जीवित जान पड़ती है। पद्माकर ने अपनी भाषा में अनुप्रासिक शब्दों का अधिक प्रयोग किया है, जिससे उनकी भाषा में प्रवाह की अभंगता है।

ग्वाल कवि मथुरा के निवासी थे। इनके पिता का नाम सेवाराम था। इनके द्वारा कई ग्रन्थ रचे गए हैं, जिनके नाम इस प्रकार हैं—यमुना लहरी, रसिकानन्द, रस रंग, कृष्ण जू को नखशिख, दूषण दर्पण, हमीर हठ, गोपी पचीसी, राधा माधव मिलन, और भक्त भावना। इनके ग्रन्थों में यमुना लहरी, और 'रसिकानन्द' का विशिष्ट स्थान है। 'यमुना लहरी' में यमुना की विशेषताओं के चित्रण के साथ

ही साथ रसों और ऋतुओं पर भी प्रकाश डाला गया है। 'रसिकानन्द' अलंकार विषयक कृति है।

रीति काल के शृंगार में जिन प्रमुख कवियों ने भाग लिया है, उनके ऊपर उक्त पंक्तियों में प्रकाश डाला जा चुका है। यही वह प्रमुख कवि हैं. जिन्होंने रीति काल के निर्माण में योग दिया है। इनके अतिरिक्त रीति काल में और भी कवि हुए हैं, जिनके नाम इस प्रकार हैं—बेनी, मंडन, कुलपति मिश्र, सुखदेव मिश्र, रामनेवाज, श्रीधर, सुरति मिश्र, कवींद्र, कृष्ण, रसिक, भूपति, तोषनिधि, सोमनाथ, कुमारमणि, शंभुनाथ, शिव सहायदास, रूप साहि, ऋषिनाथ, बैरीसाल, दत्त रतन कवि, नाथ, मनीराम, चन्दन, देवकी नन्दन, महाराज रामसिंह, भान, यशोदा नन्दन, करन, गुरुदीन, ब्रह्मदत्त, प्रताप साहि, और रसिक गोविन्द इत्यादि। पर इन कवियों ने प्रायः उन्हीं मार्गों का अनुसरण किया हैं, जिनकी लकीर केशव, बिहारी, और देव इत्यादि कवियों के द्वारा बनी थी।

रीतिकाल के प्रतिनिधि कवियों का चित्र ऊपर अङ्कित किया जा चुका है, पर इन कवियों के अतिरिक्त रीतिकाल में और भी कई ऐसे कवि हुए हैं, जिनकी रचनाएँ रीति काल में होने पर भी रीति काल की परम्परा में नहीं आतीं। इन कवियों के साहित्य का अध्ययन करने से पता चलता है, कि उनका कोई निश्चित स्वरूप नहीं है। उन्होंने जब जो आवश्यक समझा, अथवा उनके हृदय में जब जिस प्रकार की अनुभूति का सञ्चार हुआ, उन्होंने तब उसी प्रकार की रचना की। इसलिए हम इन कवियों के साहित्य को स्फुट साहित्य के नाम से अभिहित करेंगे। रीति काल के सम्पूर्ण स्फुट साहित्य को कई भागों में विभाजित किया जा सकता है। जैसे—कथात्मक प्रबन्ध, वर्णनात्मक प्रबन्ध, नीति या भक्ति ज्ञान सम्बन्धी रचनाएँ, और शृंगार रस की स्फुट रचनाएँ। रीति काल के स्फुट साहित्य में कई कथात्मक प्रबन्ध काव्य मिलते हैं। कथात्मक प्रबन्ध काव्य लिखने की परिपाटी वीर गाथा काल से चली आ रही है। वीर गाथा काल और भक्ति काल की भाँति ही रीति काल के कुछ कवियों ने भी इस परिपाटी का पालन किया है। इन कवियों में सबलसिंह, छत्रसिंह, गुरु गोविन्दसिंह, लाल कवि, और मधुसूदनदास इत्यादि का नाम विशेष रूप से लिया जा सकता है। इन कवियों के द्वारा जिन कथात्मक प्रबन्ध काव्यों की रचना हुई है, उनमें कुछ काव्य कला की दृष्टि से सर्वोत्तम तो हैं, पर उनमें भी प्रबन्धात्मकता का समुचित ढग से विकास नहीं हो पाया है। अतः यह कहने में किसी प्रकार का सङ्कोच नहीं किया जा सकता, कि वे कथात्मक प्रबन्ध काव्य होते हुए भी प्रबन्ध काव्य की कसौटी पर खरे नहीं उतरते। अतः यदि यह कहा जाय तो कोई अत्युक्ति न होगी, कि रीति काल कथात्मक प्रबन्ध काव्यों की दृष्टि से अधिक कंगाल है। जो कुछ प्रयास किया गया है, इसमें पूर्ण रूप से सफलता नहीं प्राप्त हो सकी है। इसका कारण केवल यही है, कि रीति काल

रीति काल का स्फुट साहित्य

की प्रवृत्ति प्रबन्ध काव्यों की रचना के विपरीत थी। अतः जो लोग इस मार्ग पर चले हैं, उन्हें भी सफलता से वञ्चित ही होना पड़ा है।

रीति काल के स्फुट साहित्य में ऐसी भी रचनाएँ मिलती हैं, जिन्हें हम वर्णनात्मक प्रबन्ध कह सकते हैं। जैसे—दान लीला, मानलीला, और होली तथा झूला वर्णन इत्यादि। ऐसी रचनाओं में कथात्मक वर्णनों की प्रधानता है। वर्णनों के विषय भिन्न भिन्न हैं। जैसे—बरात का वर्णन, घोड़े की जातियों का वर्णन, विविध वस्तुओं का वर्णन इत्यादि। वर्णनों में विषय के अनुरूप ही 'रसों' की अवतारणा हुई है। कहीं कहीं शृंगार दृष्टिगोचर होता है, तो कहीं कहीं वीर, और शांत भी देखने को मिलता है।

स्फुट साहित्य के प्रणेताओं में कुछ ऐसे भी कवि हुए हैं, जिन्होंने नीति विषयक रचनाएँ की हैं। उन कवियों में वृन्द, गिरिधर, घाघ, और वैताल इत्यादि का नाम लिया जा सकता है। इनकी रचनाएँ सरस, मधुर और अनुभूतिमय हैं। इन्होंने अपनी रचनाओं में नीति संबंधी बातों पर कुशलता के साथ प्रकाश डाला है। इनकी रचनाएँ व्यावहारिक हैं, और जीवन के लिए अधिक उपयोगी हैं। पर कवित्व और कला की दृष्टि से इनकी रचनाएँ महत्व पूर्ण नहीं कहीं जा सकतीं। अतः काव्य के क्षेत्र में यह केवल एक सूक्तिकार की ही सीमा के भीतर रह जाते हैं।

स्फुट साहित्य के प्रणेताओं में एक वर्ग ऐसे कवियों का भी है, जिन्होंने ज्ञान और भक्ति सम्बन्धी रचनाएँ की हैं। इस कोटि के कवियों का ध्यान 'कवित्व और कला' की ओर बहुत कम दिखाई पड़ता है। उनकी रचनाओं में अलंकारों के प्रयोग अवश्य हुए हैं, पर उनका उद्देश्य काव्य के पक्ष में नहीं, वरन् प्रभाव के पक्ष में है। उन्होंने अलंकारों के द्वारा अपनी ब्रह्म और वैराग्य विषयक बातों को प्रभाव पूर्ण बनाने का प्रयत्न किया है। 'रस', 'भाषा', और शैली के क्षेत्र में भी उनका ध्यान केवल इसी ओर जान पड़ता है। उन्होंने अपना ध्यान जितना अपनी ब्रह्म और वैराग्य विषयक बातों के चित्रण में केन्द्रित किया है, उतना उनका ध्यान काव्य और कला की ओर नहीं दिखाई पड़ता; परिणाम स्वरूप उनकी रचनाएँ केवल 'पद्य मात्र' रह गई हैं। इस कोटि के कवियों में दीनदयाल गिरि का नाम विशेष रूप से लिया जा सकता है। जिन कवियों ने भक्ति और प्रेम विषयक रचनाएँ की हैं, उनकी शैली प्रायः वही है, जो भक्ति काल के कवियों की थी। 'शृंगार रस' की कविता करने वाले कवियों ने अधिकतर शृंगार रस की ही स्फुट रचनाएँ की हैं। रीति काल की परम्परा की भाँति इन शृंगारी कवियों ने न तो रीति ग्रन्थों की रचना की, और न उन्होंने अलंकारों, रसों, और नायक-नायिकाओं के भेदों के दृष्टांत स्वरूप पद्य ही बनाए। इसके विपरीत उन्होंने शृंगारिक विषयों पर ही स्फुट रचनाएँ की हैं। उनकी रचनाएँ चमत्कार की ओर उन्मुख न होकर भावों, और अनुभूतियों की ओर ही दृष्टिपात करती हैं। भाषा और शैली उनकी वही है,

जो रीति काल के प्रतिनिधि कवियों की है। इन कवियों में घनानन्द का स्थान सर्व श्रेष्ठ है।

रीति काल में स्फुट साहित्य की रचना करने वाले कई कवि हुए हैं। उनमें से कुछ का यहाँ उल्लेख किया जा रहा है। इस उल्लेख में रचना की प्रगल्भता, और मौलिकता पर ध्यान रक्खा गया है। साथ ही उनके द्वारा रचे हुए ग्रन्थों की श्रेष्ठता को भी दृष्टि में रक्खा गया है।

स्फुट काव्य साहित्य के कवि

सबलसिंह चौहान इटावा के रहने वाले थे। उनके द्वारा चार ग्रन्थों की रचना हुई है—(१) महाभरत की कथा दोहा और चौपाई में, (२) ऋतु संहार का भाषानुवाद, (३) रूप विलास, और (४) पिंगल। इनका महाभारत बहुत बड़ा ग्रन्थ है। इस 'महाभारत' के ही कारण इन्हे प्रसिद्धि प्राप्त हुई है। यद्यपि उसमें कवित्व की छटा का अभाव है, पर उसका कथात्मक दृष्टिकोण महत्वपूर्ण है। भाषा सीधी सादी और बहुत सरल है।

वृन्द जोधपुरांतर्गत मेड़ता के निवासी थे। इनके तीन ग्रन्थ प्राप्त हैं—वृन्द सतसई, शृंगार शिक्षा, और भाव पञ्चाशिका। वृन्द सतसई में सात सौ दोहे संगृहीत हैं, जो नीति विषयक हैं। इनके नीति विषयक दोहे हिन्दी काव्य जगत में अधिक प्रसिद्ध हैं। 'शृंगार शिक्षा' और 'भाव पञ्चाशिका' रस निरूपण सम्बन्धी पुस्तकें हैं।

आलम जाति के ब्राह्मण थे, पर शेख नामक एक रँगरेजिन के प्रेम में आसक्त हो जाने के कारण मुसलमान हो गए थे। इनके किसी ग्रन्थ का पता नहीं लगता। इन्होंने प्रेम विषयक स्फुट रचनाएँ की हैं। इनकी रचनाओं में प्रेम की पीर का बड़ी सुन्दरता के साथ विकास हुआ है। इनकी प्रेम और शृंगार रस की अनुभूतियाँ बड़ी उन्मादमयी, और हृदय को हिला देने वाली हैं। इनकी रचनाओं में हृदय के तत्व प्रचुर परिमाण में पाये जाते हैं।

गुरुगोविन्दसिंह सिक्खों के दसवें और अंतिम गुरु थे। इनका जन्म संवत् १७२३ में हुआ था। इन्होंने भारतीय संस्कृति की रक्षा, में अपने आपको उत्सर्ग कर दिया। आजीवन भारतीय संस्कृति की रक्षा और शास्त्र ज्ञान का प्रचार ही इनके जीवन का व्रत था। इन्होंने कई अच्छे और साहित्यिक ग्रन्थों की भी रचना की है, जिनके नाम इस प्रकार हैं —सुनीत प्रकाश, चंडीचरित्र, प्रेम सुमार्ग, सर्वलोह प्रकाश, और बुद्धि-सागर। इन्होंने प्रायः साहित्यिक ब्रजभाषा में ही रचनाएँ की हैं। इनकी रचनाएँ अधिक ओजस्विनी और प्राण दायिनी हैं। संवत् १७६५ इनके महाप्रस्थान का समय है।

लाल कवि का पूरा नाम गोरेलाल था। ये बुन्देल खंड के मऊ नामक स्थान के निवासी थे। इनके दो ग्रन्थ मिलते हैं—छत्र प्रकाश, और विष्णु विलास। इनका 'छत्र प्रकाश' नामक काव्य ग्रन्थ अधिक महत्व पूर्ण है। यद्यपि यह अधूरा ही है, पर उस अधूरे भाग से ही उसके महत्व का भली भाँति आभास मिल जाता है।

इसमें इन्होंने अपने आश्रयदाता महाराज छत्रसाल की जीवन गाथा पर महत्व पूर्ण प्रकाश डाला है। इनका यह ग्रन्थ काव्य और इतिहास—दोनों ही क्षेत्रों में अपनी सफलता का चित्र उपस्थित करता है। जहाँ इसके द्वारा इतिहास के क्षेत्र में महाराज छत्रसाल के जीवन और उनके युग संबन्धी बहुत सी बातों पर प्रकाश पड़ता है, वहाँ काव्य के क्षेत्र में इसकी सरलता और स्वभाविकता प्रशंसनीय है। इसके कथानकत्व में प्रबन्ध का कौशल और वर्णन तथा चित्रांकन में ओजस्विता है।

घन आनन्द जाति के कायस्थ थे। इनका जन्म संवत् १७४६ के लगभग हुआ था। संवत् १७६६ में जब दिल्ली में नादिरशाही हत्याकांड हुआ था, तब उसी में इनकी मृत्यु हुई थी। यह दिल्ली के बादशाह मुहम्मदशाह के मीर मुन्शी थे। कहा जाता है, कि मुहम्मदशाह की एक वेश्या के प्रति, जिसका नाम सुजान था, इनका अधिक आकर्षण था। उसके प्रणय को प्राप्त न कर सकने के कारण इनके हृदय में निराशा का झंझावत उठा, और इन्होंने वैराग्य ले लिया। इनका वैराग्य का जीवन वृन्दावन में व्यतीत हुआ। इन्होंने कई ग्रन्थों की रचना की है, जिनके नाम इस प्रकार हैं—सुजान सागर, विरह लीला, कोक सार, कृपा कांड, और रस केलि बल्ली। इनकी प्रणय सम्बन्धी अनुभूतियाँ बड़ी तीव्र और मर्म स्पर्शिनी हैं। यद्यपि इनकी अनुभूतियों का स्रोत लौकिक प्रेम से ही निःसृत हुआ है, पर उसमें अलौकिकता का आनन्द प्राप्त होता है। प्रेम का उज्वल और आनन्दमय स्वरूप इनकी रचनाओं में सुचारुता के साथ उपस्थित हो सका है। इन्होंने प्रेमानुभूति के गहरे सागर में डूबकर जिन रत्नों को बाहर निकाला है, वे मनोरम होने के साथ ही साथ अधिक मूल्यवान भी हैं। प्रेमानुभूतियों के चित्रण में इनकी 'वचन वक्रता', चमत्कार पूर्ण विरोधाभास, और नाद व्यञ्जना दर्शनीय है।

रसनिधि का नाम पृथ्वीसिंह था। इनके एक ग्रन्थ का पता चलता है, जिसका नाम 'रत्न हजारा' है। यह दोहों का ग्रन्थ है, और शृंगार ही इसका रस है। इसके दोहों की रचना बिहारी के दोहों की शैली पर हुई है। बिहारी के दोहों की भाँति इनमें भी वैदग्ध्य और शृंगारिक उक्तियाँ पाई जाती हैं। 'रसनिधि' के नाम के अनुरूप ही उनकी रचनाओं में 'रस' का आविर्भाव हुआ है। इनकी रचनाओं में जो रस है, वह हृदय के भीतर सरसता का स्रोत बन कर फूटता है, और मन को तन्मय कर देता है।

महाराज विश्वनाथसिंह रीवाँ के सुप्रसिद्ध काव्य रसिक और भक्त नरेश रघुराज सिंहजी के पिता थे। इन्होंने लगभग बत्तीस ग्रन्थों की रचना की है, जिनके नाम इस प्रकार हैं—अष्टयाम आह्निक, आनन्द रघुनन्दन नाटक, उत्तम काव्य प्रकाश, गीता रघुनन्दन शतिका, रामायण, गीता रघुनन्दन प्रामाणिक, सर्व संग्रह, कबीर बीजक की टीका, विनय पत्रिका की टीका, रामचद्र की सवारी, भजन, पदार्थ, धनुर्विद्या, आनन्द रामायण, पर धर्म निर्णय, शांति शतक, वेदांत पञ्चक शतिका, गीतावली पूर्वार्द्ध, ध्रुवाष्टक, उत्तम नीति चन्द्रिका, अबोध नीति, पाखंड खंडिनी, आदि मंगल,

बसन्त चौतीसी, चौरासी रमैनी, ककहरा, शब्द, विश्व भोजन प्रसाद, ध्यान मंजरी, विश्वनाथ प्रकाश, परम तत्त्व, और संगीत रघुनन्दन। यह रामोपासक थे। इनकी अधिकांश रचनाओं में राम के सगुण स्वरूप की ही चर्चा की गई है। इनकी रचनाएँ या तो वर्णनमय हैं, या उपदेश की ओर उन्मुख हैं। हिन्दी काव्य जगत में यह प्रथम रचनाकार हैं, जिन्होंने नाटकों की रचना की है।

नागरीदास नाम के कई कवि हिन्दी में हो चुके हैं। पर यहाँ हम जिनका उल्लेख कर रहे हैं, वह कृष्ण गढ़ नरेश महाराज सावंतसिंहजी हैं। इनका जन्म संवत् १७५६ में हुआ था, और यह सांसारिकता से मुँह मोड़ कर वृंदावन जा बसे थे। वृंदावन के प्रति इनके हृदय में अधिक आकर्षण था। इन्होंने प्रायः ७३ पुस्तकों की रचना की हैं, जिनमें कुछ के नाम इस प्रकार हैं—जुगल रस माधुरी, गोधन आगमन, गोपी बैन विलास, भक्ति मंगदीपिका, निकुंज विलास, गोविन्द परचई, और बन जन प्रशंसा, इत्यादि। इनकी रचनाएँ कृष्ण भक्ति पर आधारित हैं। इनकी रचनाओं में कृष्ण भक्ति सम्बन्धी वही भाव हैं, जो इनके पूर्ववर्ती कवियों की रचनाओं में मिलता है। कहीं-कहीं ये नवीनता की ओर भी अग्रसर हुए हैं। इनकी शैली नवीन और फारसी काव्य के सूफियाना ढंग की है। इन्होंने कवित्त, सवैया, रोला, और अरिल्ल इत्यादि छन्दों में रचनाएँ की हैं।

जोधराज गौड़ ब्राह्मण थे। इनके पिता का नाम बालकृष्ण था। इनका एक ग्रन्थ मिलता है, जिसका नाम 'हम्मीर रासो' है। इसमें महाराजा पृथ्वीराज के वंशज हम्मीर देव की वीरता पूर्ण जीवन गाथाओं का चित्रण है। रीति काल का यह ग्रन्थ वीर गाथा काल के चित्र को उपस्थित करता है। वीर गाथा काल की छप्पय शैली में इसकी रचना भी हुई है। वीर गाथा काल की रचनाओं की भाँति ही इसमें ओजस्विता भी पाई जाती है। भाषा क्षेत्र में भी कहीं-कहीं 'चन्द' इत्यादि कवियों की भाषा का अनुकरण करने का प्रयत्न किया गया है।

गिरिधर कविराज का जन्म संवत् १७७० के आस पास हुआ था। इनके जीवन वृत्तांत पर अभी तक कुछ भी प्रकाश नहीं पड़ सका है। हिन्दी काव्य जगत में इनकी नीति सम्बन्धी कुंडलियाँ अधिक प्रसिद्ध हैं। इनकी कुंडलियों में जीवन की व्यावहारिकता के स्पष्ट और सुन्दर चित्र सरल भाषा में पाए जाते हैं। इनकी कुंडलियों की व्यावहारिकता को देख कर ज्ञात होता है, कि यह जीवन व्यवहार शास्त्र के पन्डित थे।

सूदन मथुरा के चौबे थे। यह भरतपुर के अधीश्वर सूरजमल के दरबार में रहते थे। इन्होंने सूरजमल के वीरता पूर्ण चरित्र के आधार पर 'सुजान चरित्र' नामक वीर काव्य की रचना की है। इनके काव्य में यद्यपि शब्दों का आडम्बर है, पर फिर भी उसमें ओज है।

बोधा बाँदा जिलांतर्गत राजापुर के निवासी थे। इनका जन्म १८०४ में हुआ था। इन्होंने दो ग्रन्थों की रचना की है जिनके नाम इस प्रकार हैं—विरह वारीश, और

इश्कनामा। 'विरह बारीश में वियोग' की कथा का चित्रण है। 'इश्कनामा' में प्रेमानुभूतियों के छन्द हैं, जो शृंगार रस से ओत प्रोत हैं।

ठाकुर का जन्म संवत् १८२३ वि० में हुआ था। यह कई राजाओं के दरबार में रहे। बिजावर के राजा ने इनका अधिक सम्मान किया था। इन्होंने अधिकतर स्फुट छन्द ही रचे हैं। इनकी रचनाओं में भाव, और शब्दों का सामन्जस्य बड़ी सुन्दरता के साथ हुआ है। लोकोक्तियों के प्रयोग के द्वारा इन्होंने अपनी रचनाओं को प्रभावपूर्ण बनाने का श्रेयस्कर प्रयत्न किया है।

चन्द्रशेखर का जन्म संवत् १८५५ में जिला फतेहपुर में हुआ था। इन्होंने कई ग्रन्थों की रचना की है, जिनके नाम यह हैं—हमीर हठ, विवेक विलास, रसिक विनोद, माधवी बसन्त, गृह पच्चाशिका, नखशिख, हरिभक्ति विलास, वृन्दावन शतक, और ताजक ज्योतिष। यह वीर और शृंगार रस के कवि हैं। पर शृंगार की अपेक्षा इन्हें वीर रस में अधिक सफलता प्राप्त हुई है। इनका हम्मीर हठ वीर रस का सजीव दृष्टांत है। भाव और भाषा दोनों ही दृष्टिकोणों से हम्मीर हठ में वीर रस सुन्दरता के साथ प्रतिफलित हुआ है। यही इनकी कीर्ति का कारण भी है।

दीन दयालगिरि का जन्म संवत् १८५६ में काशी में हुआ था। हिन्दी काव्य-जगत में इनकी अन्योक्तियाँ अधिक प्रसिद्ध हैं। इन्होंने अपनी अन्योक्तियों में जीवन से सम्बन्ध रखने वाले आदर्शों की बड़ी मार्मिकता के साथ व्याख्या की है। इनकी रचनाएँ चमत्कार की अपेक्षा अधिकतर भावों का ही सम्पर्क ढूँढती हैं। पर भाव-जगत में इनका एक ही लक्ष्य है—वैराग्य और आदर्शमूलक नीतियों का चित्रण करना। इन्होंने कई ग्रंथों की रचना की है, जिनके नाम यह हैं अन्योक्ति कल्पद्रुम, अनुराग बाग, वैराग्य दिनेश, विश्वनाथ नौरत्न, और दृष्टांत तरंगिणी।

रीति काल का साहित्य अपने नाम का ही उद्बोधक है। 'रीतिकाल' में प्रायः ऐसे ही विषयों पर रचनाएँ लिखी गई हैं, जो शृंगार रस को उद्दीप्त करने में सहा-

रीति काल के साहित्य का सिंहावलोकन

यक हो सकते थे। रीति काल के सम्पूर्ण शृंगारिक साहित्य को हम दो वर्गों में विभाजित कर सकते हैं—एक वर्ग में तो वह साहित्य आता है, जिसे हम रीति काल का वास्तविक साहित्य कह सकते हैं, और दूसरे वर्ग में वे रचनाएँ आती हैं, जिनकी गणना स्फुट या मुक्तक साहित्य में की जाती है। रीति काल के वास्तविक साहित्य में दो प्रकार की कृतियाँ भी पाई जाती हैं। एक प्रकार की कृतियाँ वे हैं, जिनकी रचना नायक नायिकाओं के भेदों, और नखशिख पर की गई है, और दूसरी प्रकार की कृतियाँ वे हैं, जिनकी रचना आचार्यत्व को प्रमाणित करने के लिए की गई है। इन दोनों ही प्रकार की कृतियों में शृंगारिक वर्णनों की प्रधानता है। अधिकांश रचनाओं के विषय नायक, नायिका, नखशिख, हाव भाव, और कटाक्ष इत्यादि हैं। रीति काल का सम्पूर्ण साहित्य इन्हीं विषयों को लेकर निर्मित हुआ है। रीति काल के सम्पूर्ण कवियों की दृष्टि नायक-नायिकाओं तक ही सीमित रही है। उन्होंने नायक

नायिकाओं के भेदों, उनके कटाक्षों, और हाव-भावों को देखने तथा समझने में ही अपनी काव्य प्रतिभा की उपयोगिता सिद्ध की है। साधारण मनुष्य की तो कोई बात ही ही नहीं, स्वयं राधाकृष्ण को भी रीति काल में साधारण नायक नायिका के रूप में चित्रित किया गया है। रीति काल के कवियों का ध्यान एक मात्र वासनात्मक सौंदर्य की ही ओर था। उनकी यह लिप्सा इतनी बढ़ी हुई है, कि वे राधाकृष्ण में भी वासनात्मक सौंदर्य का दर्शन करते हैं, और इसी दृष्टिकोण से उनका चरित्रांकन भी करते हैं। यह कहने में कोई सङ्कोच नहीं, कि रीति काल के कवियों का जो लक्ष्य रहा है, उससे मानव, समाज, और देश के कल्याण का कोई सबंध नहीं है; पर उसके साथ ही साथ यह भी कहा ही जा सकता है, कि काव्य के एक मुख्य रस-श्रृंगार, और उसके अंगों की पूर्ति रीति काल के कवियों द्वारा प्रशसनीय ढङ्ग से हुई है।

दूसरे वर्ग का साहित्य, जिसे मुक्तक या स्फुट साहित्य कहते हैं, अपने नाम के ही अनुरूप है। इस साहित्य के अंतर्गत जो रचनाएँ आती हैं, उनके कवियों का कोई लक्ष्य, और क्रम नहीं है। रीति कालीन परंपरा में होते हुए भी उन्होंने विभिन्न विषयों पर कविताएँ की हैं। उनकी प्रवृत्ति 'चमत्कारवाद' की ओर न होकर भाव-जगत की ओर अधिक दिखाई पड़ती है। रीति काल के वास्तविक कवियों की भाँति इन कवियों ने आचार्यत्व को प्रमाणित करने का भी प्रयत्न नहीं किया है। इन कवियों के द्वारा श्रृंगार और वीर-दोनों ही रसों में रचनाएँ हुई हैं। किसी किसी ने कथात्मक काव्य ग्रन्थों की भी रचना की है।

'रीति काल' रीति का युग है। रीति संबंधी रचनाओं की अधिकता के कारण ही इसका यह नाम पड़ा है। 'रीति काल' का संपूर्ण साहित्य 'श्रृंगार' रस से ओत-प्रोत है। अतः यदि यह कहा जाय, कि रीति काल का मुख्य रस 'श्रृंगार रस' है, तो उचित ही होगा। 'श्रृंगार रस' के अतिरिक्त हास्य, वीर, रौद्र, और वीभत्स इत्यादि रसों की भी अवतारणा रीति काल में हुई है। भूषण की रचनाओं में वीर, और रौद्र की व्यंजना स्वाभाविकता के साथ हुई है। किसी-किसी की रचनाओं में हास्य और वीभत्स रस का भी संचरण देखने को मिलता है। रीति काल के सभी कवियों की एक ही भाषा, और एक ही शैली है। रीति काल में प्रारम्भ से लेकर अंत तक ब्रजभाषा का ही राज्य दिखाई देता है। यद्यपि ब्रजभाषा के भिन्न-भिन्न स्वरूप मिलते हैं, पर भाषा अपने मूल में एक ही है—और वह है ब्रजभाषा। रीति काल में ब्रजभाषा अपने विकास की अंतिम सीढ़ियों पर दिखाई देती है। पर इसी काल में वह चमत्कारवादिनी बन कर पतन की ओर भी झुकती हुई जान पड़ती है। रीति काल के अंतिम चरण में तो ब्रजभाषा का पतन स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होने लगता है। भाषा की भाँति रीति काल के कवियों की शैली भी एक ही है। सभी कवियों ने कवित्त, सवैया, और दोहों में रचनाएँ की हैं। किसी-किसी ने छप्पय और कुंडलिया इत्यादि छन्दों का भी प्रयोग किया है।

रीति काल के कवियों की दृष्टि मुख्य रूप से चमत्कारवाद की ओर ही रही है। रीतिकाल के प्रायः सभी कवियों ने अपनी रचनाओं में चमत्कार उत्पन्न करने, और अपने आचार्यत्व को प्रमाणित करने का प्रयत्न किया है। अतः रीति काल की रचनाओं में 'रीति' और काव्य के अंगों का विवेचन अधिक मिलता है। चमत्कार की ओर दृष्टि अधिक होने के कारण रीति काल के संपूर्ण कवि अलंकारिकता की ओर अधिक प्रवृत्त दिखाई देते हैं। रीति काल की अधिकांश रचनाएँ अलंकारिता की दृष्टि से की गई हैं। किसी-किसी की रचना तो अलकारों का दृष्टांत-मात्र है। यों तो रीति काल में सैकड़ों अलंकारों के दृष्टांत मिलते हैं, पर उनमें उपमा, श्लेष, अपह्नुति, प्रतीप, और रूपक इत्यादि अलंकारों के दृष्टांत सर्वाधिक मिलते हैं। प्रायः सभी कवियों ने अपनी रचनाओं में, इन अलंकारों के द्वारा अलंकारिकता उत्पन्न करने का प्रयत्न किया है।

आधुनिक काल—पद्य

आधुनिक काल संवत् १९०० से प्रारम्भ होता है। जिस प्रकार वीर गाथा काल में युग की विशेषताएँ समाविष्ट हैं, जिस पर भक्ति काल की रचनाओं पर युग की छाप है, और जिस प्रकार रीति काल अपने युग का प्रतिबिम्ब है, उसी प्रकार आधुनिक काल का निर्माण और उसका विकास भी युग की भावनाओं के ही आधार पर हुआ है। आधुनिक काल की रचनाओं और उनके कवियों पर विचार करने के पूर्व हमें उस युग की एक झलक देख लेनी चाहिए, जिसके कारण आधुनिक काल की सृष्टि हुई है। साहित्य के इतिहास में आधुनिक काल सम्वत् १९०० से प्रारंभ होता है। आधुनिक काल के पूर्व रीति काल था। रीति काल में, देश में मुगलों का शासन था। मुगलों की विलासिता की छाया में, संपूर्ण देश अपने अस्तित्व को भूल कर वासना के पंक में लोट रहा था। वासना की आँधी शनैः शनैः देश को जर्जर बना रही थी। स्वयं मुगल शासन की दीवालें भी वासना की आँधी से हिलती जा रही थीं। मुगल शासन के दिनों में ही अँगरेजों ने वणिक के रूप में भारत में प्रवेश किया। पहले तो अँगरेजों का कार्य-क्षेत्र वाणिज्य तक ही सीमित था; पर मुगल शासकों की निर्बलता, और विलास निद्रा से उन्होंने अनुचित लाभ उठाया; परिणाम स्वरूप अँगरेज व्यापारी शासन के कार्यों में हस्तक्षेप करने लगे। कुछ दिनों के पश्चात् उन्होंने अपनी सेनाएँ भी बना लीं; और फिर स्पष्ट रूप से वे राजनीतिक रंग मञ्च पर आ गए। धीरे-धीरे उन्होंने देश के भू-भागों पर अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया। इधर ज्यों-ज्यों मुगल शासन कमजोर होने लगा, त्यों-त्यों अँगरेज अपने पैरों को सुदृढ़ करने लगे। एक दिन वह आया, जब मुगल शासन की दीवार ध्वस्त हो गई; और देश में चारों ओर कंपनी का शासन स्थापित हो गया।

पर देश के भीतर मुसलमानों के शासन के दिनों में ही स्वाधीनता प्राप्त करने, या अपने देश को अपने हाथ में रखने की भावना उत्पन्न हो चुकी थी। महाराणा प्रताप, और महाराज शिवाजी इसके प्रतीक थे। इधर मुगलों के शासन के पश्चात् जब कंपनी का राज्य स्थापित हुआ, तो देश की रगों में पुनः जागृति की आँधी दौड़ पड़ी, और परिणाम स्वरूप सन् १८५७ में विद्रोह की आग धधक उठी। देश में एक कोने से लेकर दूसरे कोने तक प्रलय की ज्वाला जल पड़ी। पर युग देश की भावना

के विपरीत था। अतः समुद्र के भीतर से निकला हुआ ज्वार पुनः समुद्र में समाविष्ट हो गया। चारों ओर विवशता की शान्ति छा गई। संपूर्ण भारतवर्ष सं० १९१५ में अँगरेजी शासन में मिला लिया गया। कंपिनी के राज्य का अन्त हुआ, और उसके स्थान पर कम्पनी के स्वत्वाधिकारी अँगरेज भारतवर्ष पर शासन करने लगे। अँगरेजों के शासन काल में देश के कोने-कोने में अँगरेजी शिक्षा का प्रचार हुआ। अँगरेजी शिक्षा के प्रचार के लिए बड़ी-बड़ी युनिवर्सिटियाँ खोली गईं। अँगरेजी साहित्य का पठन पाठन तीव्र गति से होने लगा। अँगरेजी के माध्यम से पश्चिमी देशों का वह साहित्य भी सामने आया, जिन देशों ने अपने मानवी अधिकारों के लिए शासकों से संघर्ष किया था। इधर अँगरेज शासक देश की बागडोर अपने हाथ में लेकर देश के जीवन के साथ खेल करने लगे। देश की राष्ट्रीयता और सामाजिकता को नष्ट करने के लिए, कूट नीतिज्ञता के साथ नए नए कानून बनने लगे। शोषण और पार्थक्य नीति के चित्र घृणित और भयावह रूप में सामने आने लगे। फलतः देश की रगों में पुनः चेतना दौड़ उठी। इस बार देश ने अँगरेजों के विरुद्ध तलवार नहीं उठाई; बल्कि इसके विपरीत प्रसुप्त जनता के जीवन को उद्बुद्ध करने के लिए प्रयत्न किया जाने लगा। प्रेसों की स्थापना हुई, और समाचार पत्र प्रकाशित किए जाने लगे। समाचार पत्रों के प्रकाशन से देश के भीतर नई भावना और नई ज्योति की लहर दौड़ पड़ी। इन्हीं दिनों देश के भीतर कुछ ऐसे मनीषियों का जन्म हुआ, जिन्होंने देश को नये जीवन-पथ पर चलने की क्षमता प्रदान की। इन मनीषियों में राजाराम मोहनराय, रामकृष्ण परमहंस, स्वामी दयानन्द, स्वामी रामतीर्थ, और स्वामी विवेकानन्द का नाम मुख्य रूप से लिया जा सकता है। इन महापुरुषों ने यद्यपि राजनीतिक रंग मञ्च पर पदार्पण नहीं किया, पर इन्होंने राजनीतिक रंग मंच की आधार शिला—सामाजिकता को सुदृढ़ बनाने में अपनी संपूर्ण शक्तियाँ लगा दी थीं। कहना न होगा, कि इनके प्रयत्नों से विशृंखलित भारतीय समाज एक सूत्र में ग्रथित हुआ, और उसके भीतर जीवन और जागृति की लहर दौड़ पड़ी। इन्हीं दिनों राष्ट्रीय महासभा का जन्म भी हुआ। कुछ दिनों के पश्चात् महात्मा गाँधी राजनीतिक रंग मञ्च पर आए। महात्मा गाँधी ने एक नवीन पर्व का उद्घाटन किया। उन्होंने 'स्वराज्य' शब्द का प्रयोग करके भारतीयों के भीतर एक नवीन चेतना का श्री गणेश किया। भारत में चारों ओर अधिकारों का स्वर ऊँचा होने लगा। इन्हीं दिनों सन् १९१४ में महायुद्ध की आँधी दौड़ पड़ी। अँगरेज इस महायुद्ध में बुरी तरह आग्रस्त थे। इन्होंने भारतवर्ष से बड़े बड़े वायदे करके दुर्दिनों में उसकी शक्तियों का उपयोग किया। पर युद्ध में विजयी होने पर अँगरेज अपने वायदों को भूल गए; परिणाम स्वरूप देश में विद्रोह की लहर फैल गई। राष्ट्रीय महासभा में स्वाधीनता का प्रस्ताव पास हुआ, और देश गाँधीजी के नेतृत्व में स्वाधीनता प्राप्त करने के लिए कटिबद्ध-सा हो गया। अँगरेजों ने देश की राष्ट्रीय भावना को कुचलने का इर तरह से प्रयत्न किया, पर ज्यों-ज्यों

अँगरेजों ने अत्याचार और अन्याय का आश्रय लिया, त्यों-त्यों देश के भीतर जीवन और जागृति की अधिकाधिक लहर दौड़ने लगी। गाँधीजी के असहयोग और सत्याग्रह ने देश के कोने-कोने में स्वाधीनता का मन्त्र जगा दिया। कितने ही लोग पकड़ कर कारागार में बन्द किए गए, कितने ही लोगों को कड़ी कड़ी यातनाएँ दी गईं, और कितने ही लोग लाठियों तथा गोलियों के शिकार भी हुए; पर देश निरन्तर स्वाधीनता के पथ पर आगे बढ़ता ही गया। १९४२ ई० में गाँधीजी के नेतृत्व में एक नया आंदोलन प्रारम्भ हुआ—'भारत छोड़ो'। अँगरेजों ने इस आंदोलन को दबाने का भरसक प्रयत्न किया, पर वे भाँति भाँति के अत्याचार करने पर भी आंदोलन को दबा न सके। इन्हीं दिनों पुनः युद्ध आरम्भ हुआ। सन् १९४२ के आंदोलन के पूर्व ही विश्व में युद्ध की आँधी दौड़ पड़ी थी। अँगरेज इस युद्ध में बुरी तरह आग्रस्त थे। युद्ध में अँगरेज विजयी अवश्य हुए, पर एक प्रकार से उनकी रीढ़ टूट चुकी थी। अब उनमें शक्ति नहीं थी, कि वे भारत को अपने हाथों में रख सकें; परिणाम स्वरूप १९४७ में अँगरेजों ने भारतवर्ष पर से अपनी शासन सत्ता हटा ली, और देश पूर्ण स्वाधीन हुआ।

सामाजिक स्थिति— एक चित्र

आधुनिक काल और उसके पूर्व की राजनीतिक स्थिति का एक चित्र ऊपर अंकित किया जा चुका है। इस चित्र से यह साफ-साफ प्रगट होता है, कि मुगलों के शासन के पश्चात् देश में एक ऐसे युग का प्रारम्भ हुआ, जिसे हम जनता और जीवन का युग कह सकते हैं। यद्यपि मुगलों के शासन के पश्चात् देश अँगरेजों की पराधीनता की बेड़ियों में आग्रस्त हो उठा, पर यह तो मानना ही पड़ेगा, कि अँगरेजी शासन में देश के भीतर शिक्षा का प्रचार हुआ, और शिक्षा का प्रचार होने के कारण देश और समाज में नई चेतनाएँ फैलीं। जिस प्रकार राजनीतिक जीवन में हिलोरें उत्पन्न हुईं, उसी प्रकार जीवन में भी नई चेतनाओं का उदय हुआ। नई चेतनाओं के ही परिणाम स्वरूप समाज के भीतर राममोहनराय, स्वामी विवेकानन्द, और स्वामी दयानन्दजी ऐसे नर-रत्नों का जन्म हुआ। राजा राम मोहनराय ने समाज के भीतर फैली हुई अज्ञानता को दूर करने का अथक प्रयत्न किया। स्वामी दयानन्द ने वैदिक धर्म की स्थापना करके, समाज के भीतर से जातीयता के 'अहम्' को दूर करने का प्रयत्न किया; इस प्रकार उन्होंने समाज की विशृंखलित शक्ति को एकत्र किया, और उसमें नवीन शक्ति का संचार किया। स्वामी विवेकानन्द के द्वारा समाज में नवीन ज्ञान का उदय हुआ, जो बन्धु भावना पर आधारित था। ईसाइयों, और मुसलमानों के धार्मिक प्रचार के कारण भी भारतीय समाज के भीतर विक्षोभ की लहर फैली, और प्रतिक्रिया के रूप में समाज के भीतर ऐसी शक्तियाँ उत्पन्न हुईं, जिनसे विक्षुब्ध समाज को अग्रसर होने में सहायता ही प्राप्त हुई। महात्मा गान्धी ने समाज को नये जीवन के साँचे में ढाल दिया। एक ओर उन्होंने जहाँ समाज के भीतर राजनीतिक चेतना जाग्रत की, वहाँ दूसरी ओर उसमें सत् प्रवृत्तियाँ भी उत्पन्न कीं। उन्होंने हिन्दू मुसलिम ऐक्यता की

बात को समाज के सामने उपस्थित करके राष्ट्र को सुदृढ़, और बलवान बनाने का भी प्रयत्न किया। यदि समाज इस बात को स्वीकार कर लेता, तो कदाचित् भारत का विभाजन न होता, और विभाजन के पश्चात् वे दानवी लीलाएँ भी न होतीं, जिनके कारण हिन्दू और मुसलमान-दोनों ही संस्कृतियों के वक्षः स्थल पर काले धब्बे पड़ गए हैं।

रीति काल के अन्तिम चरण में जो राजनीतिक और सामाजिक परिवर्तन हुए, तथा उसके पश्चात् परिवर्तन के जो झँकोरे बराबर उठते गए, उसका प्रभाव पूर्ण रूप से हिन्दी कविता पर पड़ा। रीति काल का जो प्रवाह केशवदास की रचनाओं से निःसृत हुआ था, और जिसे देव, बिहारी, और मतिराम इत्यादि कवियों ने अपनी प्रतिभा शक्ति से वेगवान बनाया था, वह युग के सामाजिक और राजनीतिक झँझावातों में विलीन हो गया। मुगल शासन के पश्चात् जब देश के भीतर नवीन जीवन, और चेतना के झँकोरे पैदा हुए, तो रीति काल की वह कविता, जो गरम साँसों से झुलस जाती थी, युग की प्रचंड गति के साथ न चल सकी। इसका एक मात्र कारण यह है, कि वह जीवन की शक्तियों से रहित थी। शृंगार और विलास की गोद में उसका जन्म हुआ था, तथा शृंगार और विलास ने ही उसका पालन-पोषण किया था। उसका जीवन नायक नायिकाओं की रंग-रलियों, नखशिख वर्णनों, और हाव-भाव तथा कटाक्षों में ही व्यतीत हुआ था। उसने भूल करके भी कभी देश और समाज की ओर दृष्टिपात न किया था। उसने कभी इसकी कल्पना भी न की थी, कि जीवन की इकाई मानव हृदय को अनन्त आकांक्षाओं से ही पूर्ण होती है; परिणामतः जब परिवर्तन की आँधियाँ उठीं, तो वह उन आँधियों के साथ चलने में असमर्थ हो गई। रीति काल की शृंगारमयी रचना की इस असमर्थता, और युग की नवीन चेतनाओं ने मिलकर हिन्दी कविता को एक नया स्वरूप दिया, और उसके भीतर नवीन भावों की झलक दिखाई पड़ी। सर्व प्रथम भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की कविता में वह झलक देखने को मिलती है। अतः भारतेन्दु हरिश्चन्द्रजी से ही आधुनिक काल का प्रारम्भ मानना चाहिए। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र हिन्दी कविता के एक ऐसे क्षेत्र में खड़े दिखाई पड़ते हैं, जहाँ रीति काल की शृंगारमयी धारा का सर्वथा लोप हो जाता है, और उसके स्थान पर नई धारा फूटती है, जिसमें राष्ट्रीय और सामाजिक भावनाओं की ज्योति है। रीति काल की शृंगारमयी धारा का अंत, और भारतेन्दु हरिश्चन्द्रजी की रचनाओं में नवीन भावों के उदय का एक मात्र कारण राजनीतिक, और सामाजिक रंग मञ्च के वे झँकोरे ही हैं, जिन्होंने देश और समाज के जीवन को उलट पुलट दिया था। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के आविर्भाव के बहुत पहले ही अँगरेजों का शासन भारतवर्ष में स्थापित हो चुका था, और अँगरेजी शिक्षा का प्रचार भी तीव्र गति से होने लगा था। एक ओर अँगरेजी शिक्षा का प्रचार तीव्रता पर था, और दूसरी ओर अँगरेज शासकों द्वारा रचे गए वे कानून, जिनमें शोषण की भावना थी, देश के जीवन में पीड़ा की

आधुनिक कविता का उदय

लहरें उत्पन्न कर रहे थे। देश शनैः शनैः एक ऐसी वेदना का अनुभव करने लगा था, जिसे हम राष्ट्रीय वेदना कह सकते हैं। यह राष्ट्रीय वेदना सर्व प्रथम भारतेन्दु जी की रचनाओं में ही व्यक्त हुई है। यह बात सत्य है, कि राजनीतिक रंग मञ्च पर इसका अनुभव बहुत पहले ही हो चुका था, पर भाव जगत में इसकी सर्व प्रथम स्थापना भारतेन्दुजी के ही द्वारा हुई है। यही कारण है, कि भारतेन्दुजी आधुनिक कविता के प्रवर्तक कहे जाते हैं।

आधुनिक कविता के साथ ही खड़ी बोली का इतिहास भी संबद्ध है। क्योंकि आधुनिक कविता की रचना खड़ी बोली में ही हुई है। जिस प्रकार भारतेन्दु बाबू ने

खड़ी बोली का विकास

भाव-जगत में नवीन भावों की स्थापना की, उसी प्रकार भाषा के क्षेत्र में भी उन्होंने उस भाषा को प्रगति दी, जिसे खड़ी बोली कहते हैं। यद्यपि उन्होंने स्वयं जो कविताएँ कीं, उनमें उन्होंने ब्रजभाषा को ही स्थान दिया है, पर गद्य के क्षेत्र में खड़ी बोली का प्रयोग करके एक प्रकार से उन्होंने ब्रजभाषा की उन्नति के मार्ग को अवरुद्ध कर दिया। ब्रजभाषा अब युग के साथ चल भी नहीं सकती थी। क्योंकि अब जो युग सामने था, उसे गद्य की आवश्यकता थी। राजनीतिक गुत्थियाँ दिनों दिन सामने आती ही जा रही थीं। विज्ञान का प्रभाव भी जीवन पर पड़ चुका था। अँगरेजी साहित्य, और समाचार पत्रों ने भी युग की गद्य की भूख को अधिक बढ़ा दिया था; दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है, कि जीवन अपने विविध क्षेत्रों में अधिक सक्रिय और कार्य-रत हो उठा था। भाँति भाँति के भाव उठ रहे थे, अनुभूतियों के चित्र सामने आ रहे थे। ब्रजभाषा में शक्ति नहीं थी, कि वह गद्य के रूप में इन विविध भावों, और अनुभूतियों को ग्रहण कर सकती। उसका वैज्ञानिक गठन कुछ इस प्रकार का है, कि उसमें गद्य रचना सफलता पूर्वक नहीं की जा सकती। यही कारण है कि जहाँ उसमें पद्य इतना अधिक लिखा गया है, वहाँ गद्य गणना के लिए भी नहीं है। 'ब्रजभाषा' की इस अनुपयुक्तता को दृष्टि में रख करके ही भारतेन्दु बाबू ने गद्य के लिए उस खड़ी बोली को चुना, जिसका जन्म बहुत पहले हो चुका था, और जिसमें गद्य तथा पद्य की रचना भी हो चुकी थी। भारतेन्दु बाबू भाषा विज्ञान के अच्छे पारखी थे। उन्होंने जिस खड़ी बोली को अपने गद्य में स्थान दिया, वह कुछ ही दिनों में 'पद्य' की भाषा बन गई। आज खड़ी बोली ही गद्य और पद्य-दोनों ही क्षेत्रों की मुख्य भाषा है। आज गद्य और पद्य के क्षेत्र में उसकी जो सर्व व्यापी उन्नति हो रही है, उसे देख कर यह कहना ही पड़ता है, कि भारतेन्दु बाबू खड़ी बोली की इस अतुल शक्ति को उसी समय भाँप गए थे, जब उन्होंने उसकी उँगली पकड़ी थी।

खड़ी बोली अपने अस्तित्व में भारतेन्दु बाबू के बहुत पहले ही आ चुकी थी। खड़ी बोली का मुख्य क्षेत्र मेरठ है। साहित्य में प्रवेश करने के पूर्व वह मेरठ, और उसके समीपवर्ती स्थानों में बोली जाती थी। एक भाषा के रूप में उसका कोई स्थान न था। वह एक बोली मात्र थी, और उसका क्षेत्र बहुत ही सीमित था।

किन्तु जब दिल्ली में यवनों का राज्य स्थापित हुआ, तो सबसे पहले खड़ी बोली अपने क्षेत्र से बाहर निकली। उसने सर्व प्रथम जिस स्थान पर अपना आधिपत्य स्थापित किया, वह दिल्ली थी। खड़ी बोली ने दिल्ली में पहुँच कर शीघ्र ही यवन शासकों के हृदय पर अपना आधिपत्य जमा लिया। अरब और फारस से जो यवन सैनिक दिल्ली में आए थे, उन्हें इस देश के निवासियों से बातचीत करने में कठिनाई होती थी। अतः उन्होंने अपनी सुविधा के लिए अरबी, फारसी, और खड़ी बोली की सहायता से जिसे हिन्दवी भी कहते थे, एक नई भाषा को जन्म दिया। इस नई भाषा में अरबी, फारसी, और हिंदवी शब्द मिश्रित हैं। आज की उर्दू भाषा वही मिश्रित भाषा है, जिसका हिन्दी खड़ी बोली से जन्म हुआ है। पहले यह बाजारों, और सैनिकों के बीच में बोली जाती थी। धीरे-धीरे उसने एक सुव्यवस्थित भाषा का स्वरूप धारण कर लिया। इसी प्रकार खड़ी बोली ने एक दूसरा स्वरूप भी धारण किया। यह स्वरूप उस पहले स्वरूप से भिन्न था। उसमें जहाँ अरबी और फारसी के शब्द मिले हुए थे, इसने संस्कृत के तत्सम शब्दों के योग से अपने स्वरूप का निर्माण किया। खड़ी बोली का यह दूसरा स्वरूप हिन्दी के नाम से प्रसिद्ध है। कालांतर में राजनीतिक कारणों से खड़ी बोली ने एक तीसरा स्वरूप धारण किया, जिसे 'हिन्दुस्तानी' कहते हैं। इस प्रकार आज खड़ी बोली के तीन रूप पाये जाते हैं—हिन्दी, उर्दू, और हिन्दुस्तानी। हिन्दी और उर्दू में साहित्य का सृजन अपनी प्रगति पर है। 'हिन्दुस्तानी' केवल नाम के लिए है। न उसका कोई स्वरूप निश्चित है, और न आज तक उसमें साहित्य का ही निर्माण हो सका है।

यों तो खड़ी बोली अपने क्षेत्र में जन्म से ही अस्तित्व में थी, पर साहित्य क्षेत्र में सर्व प्रथम अकबर के राजत्व काल में उसका प्रयोग मिलता है। अकबर के शासन काल में 'गंग' नामक कवि हो चुका है। 'गंग' ने 'चंद छंद बरनन की महिमा' की रचना की थी। 'खड़ी बोली' का यह पहला गद्य है, जो प्राप्त होता है। इसके पश्चात् दूसरी रचना 'गोरा बादल की कथा' मिलती है, जो 'जटमल' की लिखी हुई है, और सन् १६८० में लिखी गई थी। इसके पश्चात् मुन्शी सदासुख ने 'सुखसागर', इन्शा अल्ला खाँ ने रानी केतकी की कहानी, लल्लूलालजी ने 'प्रेम सागर, और सदल मिश्र ने नासिकेतोपाख्यान की रचना की। इस प्रकार खड़ी बोली के गद्य का प्रवाह भारतेन्दु बाबू तक पहुँचा। भारतेंदु बाबू ने बड़ी मार्मिकता के साथ खड़ी बोली के प्रवाह का निरीक्षण किया, और उसके भीतर छिपी हुई अखंड शक्ति को देख कर उन्होंने उसे वेगवान बनाया। उन्होंने खड़ी बोली को ग्रहण करके उसके स्वरूप को निश्चित किया। उसे व्यवस्थाओं, और विधियों से सुसज्जित करके सुगठित रूप में जनता के सामने उपस्थित किया। साथ ही उसमें विविध प्रकार की रचनाएँ करके उसकी अखंड शक्ति की घोषणा की।

आधुनिक काल की कविता की भाषा खड़ी बोली है। 'खड़ी बोली' में आज

जिस पद्य-साहित्य की रचना हो रही है, उसके विस्तृत क्षेत्र में हिन्दी काव्य कई स्वरूपों में प्रगट हुआ, और हो रहा है। अतः हिन्दी कविता के आधुनिक इतिहास पर बड़ी मार्मिकता से दृष्टि डालना होगा। पं० रामचन्द्र शुक्ल ने अपने इतिहास में आधुनिक हिन्दी कविता के विकास क्रम को सुविधा की दृष्टि से तीन भागों में विभक्त किया है—प्रथम उत्थान, द्वितीय उत्थान, और तृतीय उत्थान। आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल द्वारा किया हुआ यह विभाजन अधिक सुविधाजनक और वैज्ञानिक प्रतीत होता है। इसलिए हम भी यहाँ इसी विभाजन क्रम के आधार पर ही आधुनिक हिन्दी कविता पर प्रकाश डालने की चेष्टा करेंगे। आचार्य शुक्लजी के मतानुसार ही प्रथम उत्थान सम्वत् १९२५ से प्रारम्भ होकर सम्वत् १९५० तक चलता है। इस प्रथम उत्थान के पद्य-साहित्य का जिन कवियों के द्वारा निर्माण हुआ है, उनमें भारतेंदु हरिश्चन्द्र, प्रताप नारायण मिश्र, अंबिकादत्त व्यास, राधाकृष्णदत्त, और बद्री नारायण चौधरी इत्यादि का नाम मुख्य है। द्वितीय उत्थान संवत् १९५० से प्रारंभ होता है, और संवत् १९७५ तक चलता है। द्वितीय उत्थान के कविता-साहित्य का अभिसार करने वालों में पं० श्रीधर पाठक, पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी, पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय, श्री मैथिलीशरण गुप्त, पं० रामचरित उपाध्याय, और पं० लोचन प्रसाद पाण्डेय इत्यादि का नाम मुख्य है। इस द्वितीय उत्थान में कुछ ऐसे भी कवि हुए हैं, जिन्होंने द्वितीय उत्थान की परम्परा और उसके प्रभाव से पृथक रह कर रचनाएँ की हैं। इन कवियों में रावदेवीप्रसाद पूर्ण, नाथूराम शङ्कर शर्मा, गयाप्रसाद शुक्ल 'सनेही', सत्यनारायण कविरत्न, लाला भगवानदीन, और पं० रामनरेश त्रिपाठी इत्यादि का नाम उल्लेखनीय है। तृतीय उत्थान संवत् १९७५ से प्रारम्भ होता है। इस तृतीय उत्थान में हिन्दी पद्य साहित्य की बहुमुखी उन्नति हुई है। श्री जयशंकर प्रसाद, निराला, पन्त, और श्रीमती महादेवी वर्मा इत्यादि यशस्वी कवियों ने मिल कर इस तीसरे उत्थान के पद्य-साहित्य को उन्नति की ओर अग्रसर किया है। इस तृतीय उत्थान में ही हिन्दी काव्य जगत में कई 'वादों' की सृष्टि हुई है, जिनमें छायावाद, रहस्यवाद, प्रगतिवाद, और प्रयोगवाद इत्यादि मुख्य हैं।

आधुनिक कविता के तीन वर्ग

आधुनिक कविता के प्रथम उत्थान के पद्य-साहित्य पर प्रकाश डालने के पूर्व रीति काल की मिटती हुई परम्परा-लकीर पर भी दृष्टि डाल लेना समाचीन ही होगा। क्योंकि इतिहास की क्रम-शृङ्खला को बनाये रखने के लिए यह आवश्यक सा प्रतीत होता है। पहले यह कहा जा चुका है, कि नई चेतनाओं के उदय, और खड़ी बोली के विकास के कारण रीति कालीन कविता का एक प्रकार से सर्वांत-सा हो गया। पर इसमें सन्देह नहीं, कि खड़ी बोली का जन्म, और उसका विकास होने के पश्चात् भी कुछ दिनों तक रीति कालीन शैली का दीपक टिमटिमाता रहा। एक ओर जहाँ शनैः

आधुनिक कविता— प्रथम उत्थान

शनैः खड़ी बोली जन्म लेकर विकास-क्षेत्र की ओर अग्रसर हो रही थी, वहाँ कुछ ऐसे भी कवि, और रचनाकार थे, जो रीति काल की मृत प्राय शैली की रगों में जीवन सञ्चरित करने का असफल प्रयास सा कर रहे थे। इन कवियों में महाराज रघुराज-सिंह, ललित किशोरी, राजा लक्ष्मणसिंह, और लछूराम इत्यादि का नाम मुख्य है। इन कवियों ने रीति कालीन शैली पर विविध प्रकार की रचनाएं की हैं। इन रचनाओं को चार वर्गों में विभक्त किया जा सकता है—भक्ति संबंधी, ऐतिहासिक, शृङ्गारिक, और वीरता पूर्ण। इनकी शैली वही है, जो रीति काल के कवियों की थी। प्रायः सभी कवियों ने कवित्त, सवैया, और दोहों में ही रचनाएँ की हैं। इसी काल में कुछ ऐसे भी कवि हुए हैं, जिन्होंने समस्या पूर्तियों की रचना में ही अपनी प्रतिभा का उपयोग किया है।

इन कवियों का समय प्रायः पच्चीस-तीस वर्षों तक रहा है। इनके पश्चात् ही हिंदी कविता का वह काल प्रारम्भ हो जाता है, जिसे हम प्रथम उत्थान कहते हैं। प्रथम उत्थान में जिस पद्य साहित्य का निर्माण हुआ है, उसकी समीक्षा हम दो दृष्टियों से करेंगे—विषय की दृष्टि से, और विधान की दृष्टि से। प्रथम उत्थान की कविताओं के विषय देश, और समाज से संबन्ध रखने वाले हैं। उनके विषयों में अधिकतर ऐसे ही विषय हैं, जो देश, लोक, समाज से संबन्ध रखने वाले हैं। इन रचनाओं में जहाँ देश, और समाज, लोक और मातृ भाषा के प्रति प्रेम प्रदर्शित किया गया है, वहाँ अन्यान्य और अत्याचार के प्रति घृणा का भाव भी है। इन रचनाओं में ऐसे वीर चरित्रों को भी स्थान दिया गया है, जिन्होंने लोक का कल्याण करने के साथ ही साथ अत्याचारियों, और अन्यायियों का दमन किया है। इन रचनाओं में ऐसे लोगों और विषयों पर व्यंग्य और कटाक्ष भी किया गया है, जो कल्याण, और समाज निर्माण में बाधक सिद्ध होते हैं। जैसे खुशामदी रईस, नए फैशन के गुलाम, नाम के भूखे देश भक्त, और पुरानी लकीर के फकीर इत्यादि। इस प्रकार प्रथम उत्थान की रचनाओं के विषय ऐसे हैं, जिनमें नई भावना, और नई ज्योति है। इन विषयों पर जो रचनाएँ की गई हैं, यद्यपि उनमें गम्भीरता नहीं है, पर उनसे हिंदी कविता के बदलते हुए युग पर भली भाँति प्रकाश पड़ता है। काव्य कला की दृष्टि से भले ही इन रचनाओं का महत्व न हो, पर उनका सबसे बड़ा महत्व यह है, कि उनके द्वारा हिन्दी कविता के नवीन युग के पर्दे का उद्-घाटन होता है। काव्य कला की दृष्टि से महत्व पूर्ण न होने पर भी वह रचनाएँ अपने युग परिवर्तन कारी तत्त्वों के कारण हिन्दी काव्य जगत के इतिहास में सदा स्वर्ण शलाकाओं से लिखी जायँगी।

इस प्रथम उत्थान में जहाँ कविता के विषय में परिवतन हुआ, वहाँ विधान की शैली भी बदली। रीति काल की कविता का अध्ययन करने से पता चलता है, कि रीति काल के कवियों ने प्रायः एक ही शैली में कविता की है। रीति काल के सभी कवियों ने प्रायः मुक्तक काव्यों की रचना की है। किसी-किसी ने प्रबन्ध काव्य

भी लिखे हैं। रीति काल के पूर्व वीर गाथा, और भक्ति काल में भी प्रबन्ध काव्यों की मुख्य रूप से रचना हुई है। इस प्रकार यह कहा जा सकता है, कि आधुनिक काल के प्रथम उत्थान के पूर्व हिन्दी कविता मुक्तक, और प्रबन्ध काव्यों के रूप में लिखी जाती थी। इनके विषय या तो पौराणिक होते थे, या या ऐतिहासिक, और या प्रेम आख्यान। कुछ ऐसे भी प्रबन्ध काव्य हैं, जिनकी रचना लीला कथाओं के आधार पर की गई है। जैसे—दान लीला, चीर हरण लीला इत्यादि। किन्तु आधुनिक काल के इस प्रथम उत्थान में जब पट परिवर्तन हुआ, और उसके परिणाम स्वरूप कविता में नए नए विषय आए, तब कविता की विधान शैली में भी उलट फेर हुआ। पहले जहाँ ऐतिहासिक, पौराणिक, और प्रेम आख्यानों को लेकर प्रबंध काव्यों की रचना होती थी, वहाँ अब छोटे छोटे साधारण विषयों, और निबन्धों को लेकर प्रबन्ध काव्य और काव्य रचे जाने लगे। यह विषय प्रायः सामाजिक, और जीवन संबंधी होते थे। जैसे—बुढ़ापा, जगत सचाई सार, विधि की बिडंबना, गोरक्षा, माता का स्नेह, सपूत और कुपूत इत्यादि। यद्यपि इन काव्यों और प्रबन्धों में प्रबन्धात्मकता का पूर्ण रूपेण अभाव था, पर यही क्या कम है, कि उनके द्वारा एक नवीन विधान का श्रीगणेश हुआ। आज वही 'विधान' हिन्दी काव्य जगत में पल्लवित और पुष्पित होकर चारों ओर फैल रहा है।

प्रथम उत्थान के कवि

प्रथम उत्थान के कवियों में सर्व प्रथम भारतेन्दु हरिश्चन्द्रजी का नाम आता है। भारतेन्दु हरिश्चन्द्रजी एक युग पुरुष थे। उन्होंने एक नवीन युग का निर्माण किया है। उनके पूर्व हिन्दी काव्य शृंगार और मनोरञ्जन का काव्य था। वह जीवन से दूर, राजा-महाराजाओं के विलासी जीवन तक ही सीमित था, दूसरे शब्दों में वह उनकी काम वासनाओं को उत्तेजित करने का एक साधन मात्र था। उसका क्षेत्र सीमित और उसकी गति में स्पन्दन का अभाव था। भारतेन्दु हरिश्चन्द्रजी ने प्रगट होकर उसमें परिवर्तन उपस्थित किया। उन्होंने सकीर्णता की जंजीरों से आबद्ध कविता-कामिनी को मुक्त करके उसे स्वतन्त्रता का अमृत-रस पिलाया। उनके प्रयत्नों से वह मानव हृदय के सन्निकट पहुँची, और मुक्त राग गाने में समर्थ हो सकी।

काव्य की वीणा में नवचेतना का राग गाने वाले सर्व प्रथम भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ही हैं। उन्होंने शैली, और भाषा में भी परिवर्तन करके हिन्दी काव्य-प्रवाह को नई दिशा की ओर मोड़ दिया। हिन्दी की कविता, जो अभी तक शृंगारिक भावनाओं में ही उलझी हुई थी, भारतेन्दुजी के प्रयत्नों से मानव-हृदय के साथ विहार करने लगी। वह नायक-नायिकाओं के वासनोद्दीपक प्रेम जाल से मुक्त होकर मानव हृदय में उठने वाले दुख, सुख, हर्ष, और विषाद की हिलोरों से खेलने लगी। भारतेन्दुजी ने उसका रूप ही बदल दिया। उन्होंने उसका रूप बदल कर उसमें नए प्राण की स्थापना की।

लोक भावनाओं का उदय सर्व प्रथम भारतेन्दुजी की ही रचनाओं में मिलता

है। सर्व प्रथम उन्होंने ही हिन्दी कविता का परिचय सर्व साधारण के दुखों, और सुखों से कराया। इतना ही नहीं, सर्व प्रथम उन्हीं की रचनाओं में राष्ट्र की विकल आत्मा झंकृत हुई है। जिसे राष्ट्र पीड़ा, और दासता की वेदना कहते हैं, सर्व प्रथम उन्हीं की रचनाओं में उसका दर्शन होता है। अपनी 'भारत दुर्दशा', और 'भारत वीणा' इत्यादि रचनाओं में गुलामी की वेदना का चित्रण करके उन्होंने प्रसुप्त राष्ट्र को जगाने का प्रशंसनीय प्रयत्न किया है; साथ ही कवियों और रचनाकारों के समक्ष एक नूतन आदर्श भी उपस्थित किया है।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के समय से ही हिन्दी का कवि वास्तविक कवि के रूप में दृष्टिगोचर होता है। इसके पूर्व वह राजाओं की कृपा का भिखारी था, और उसकी कला अपने आश्रयदाताओं का मनोरंजन करने में अपनी सार्थकता समझती थी; दूसरे शब्दों में उसका लक्ष्य केवल चापलूसी और चाटुकारिता थी। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र जी ने हिन्दी के कवि के इस मोह जाल को दूर किया, और उसके लिए उसके वास्तविक मार्ग का निर्देश किया। उन्होंने उसके समक्ष उसका आदर्श, और उसका कर्त्तव्य उपस्थित किया। उन्होंने उसके भीतर एक नया आलोक, और एक नई चेतना भी उत्पन्न की। उन्होंने सदियों से प्रचलित उस प्रथा पर कुठाराघात किया, जिसके द्वारा कवि राजाओं के दरबार में रहता था, और उसका गुणानुवाद करके अपना पेट पालता था। उन्होंने दरबारों को भंग करके गोष्ठियों को जन्म दिया। उन्हीं के प्रयत्नों के परिणाम स्वरूप आज साहित्यिक गोष्ठियाँ विकसित रूप में देखने को मिलती हैं।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्रजी की काव्य-सम्पदा अतुल है। वे एक असाधारण व्यक्ति, और असाधारण कवि थे। उनके महान् व्यक्तित्व में कई प्रकार की विचार धाराएँ समाविष्ट थीं। उनका व्यक्तित्व एक ऐसा केन्द्र था, जिसमें विभिन्न प्रकार की विचार धाराएँ आकर समाहित हो गई थीं। उसी का यह परिणाम है, कि उन्होंने कई रूपों में काव्य की अर्चना की है। उनकी काव्य प्रतिभा इतनी प्रखर, और उद्भट थी, कि उसके द्वारा प्रसूत रचनाएँ दूर-सुदूर क्षेत्रों तक बिखरी हुई हैं। उन्होंने भक्ति के क्षेत्र में अपनी काव्य-प्रतिभा का चमत्कार प्रदर्शित किया है, और वैराग्य के क्षेत्र में भी। उन्होंने शृंगार और प्रेम के क्षेत्र में भी अपनी कला को सँवारा है, और प्रकृति के क्षेत्र में भी। उन्होंने देश प्रेम के क्षेत्र में भी अपनी काव्य-वीणा झंकृत की है, और लौकिक भावनाओं के क्षेत्र में भी; तात्पर्य यह, कि उनकी काव्य कला की कई धाराएँ हैं। उनकी काव्य-धाराओं को हम यहाँ चार वर्गों में विभक्त करके उन पर प्रकाश डालने की चेष्टा करेंगे—(१) भक्ति और वैराग्य सम्बन्धी, (२) प्रकृति सम्बन्धी, (३) शृंगार सम्बन्धी, और (४) नवीन विचार सम्बन्धी।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्रजी का संबंध वल्लभ संप्रदाय से था। वे पुष्टि मार्गी थे। पुष्टि मार्ग की दृष्टि से ही उन्होंने "राधाकृष्ण" का चित्रण किया है, और उसकी मान्यताओं तथा विशिष्टताओं को संमुख रख करके ही उनकी झाँकी उतारी है। उनकी

भक्ति सम्बन्धी रचनाएँ दो प्रकार की हैं। एक तो वे हैं, जिनमें पुष्टि मार्ग के सिद्धान्तों का प्रतिपादन हुआ है, और दूसरी वे हैं, जो सांप्रदायिक संकीर्णता के घेरे से निकल कर मानव-हृदय को भक्ति के अमृत से सींचती हैं। उनकी दूसरी प्रकार की भक्ति रचनाएँ बड़ी मधुर और सरस हैं। उनमें हृदय की तल्लीनता और अंतर का प्रेम है। अष्ट छाप के कवियों के पश्चात् भक्ति-काव्य में उनकी जैसी मधुरता और सरसता कोई उत्पन्न नहीं कर सका है। उनका भक्ति काव्य गीति काव्य है। उन्होंने भक्ति, विनय, दैन्य, होली, वसन्त, फाग, वर्षा, और वेणु इत्यादि विषयों को आधार मान कर अपनी भक्ति की माला पिरोई है।

भारतेन्दुजी की दूसरे वर्ग की रचनाएँ प्रकृति से संबंध रखती हैं। भारतेन्दुजी नगर के निवासी थे। नगर का जीवन ही उन्हें अधिक प्रिय था। यद्यपि उन्होंने प्रकृति के चित्रों का अंकन किया है, पर इस अंकन में उन्हें अधिक सफलता प्राप्त नहीं हुई है। उनके प्रकृति-चित्रण के भीतर मानव प्रकृति उमड़ उठी है। वास्तव में वे मानव-प्रकृति के ही चित्रकार थे। उनके गंगा, और यमुना के वर्णन में प्रकृति की छटाओं का न्यून, किन्तु मानव-प्रकृति का अधिक विकास हुआ है।

उनकी तीसरे वर्ग की वे रचनाएँ हैं, जिनका संबंध शृंगार से है। उन्होंने अपने शृंगार के क्षेत्र में विरह और मिलन का चित्रण कुशलता के साथ किया है। उनका वियोग चित्रण बड़ा ही सजीव, और आकर्षक है। उसमें हृदय को हिला देने वाली तड़प, और प्राणों को कँपा देने वाला कंपन है। विरह की गोद में खेलता हुआ उनका प्रेम बड़ा मधुर और व्यञ्जक है। उन्होंने अपने प्रेम, विरह, और संयोग के प्रेम के चित्रण में प्रशंसनीय तन्मयता प्रदर्शित की है। उनका प्रेम और विरह अधिक शिष्ट तथा संयत है। सरस, मधुर, और प्रभाव पूर्ण होने पर भी उसमें रीति कालीन कवियों की सी अश्लीलता नहीं है।

उनकी चतुर्थ वर्ग की रचनाओं में समाज सुधार और देश प्रेम की झलक है। सर्व प्रथम उन्होंने ही लोगों के समुख उस राष्ट्रीय वेदना को उपस्थित किया, जो दासता की वेदना कही जाती है। कविता के क्षेत्र में सर्व प्रथम उन्होंने ही उस पीड़ा का लोगों को अनुभव कराया, जो राष्ट्र की आत्मा के भीतर विद्यमान थी। उनकी 'भारत दुर्दशा' इस सम्बन्ध की हिन्दी में प्रथम रचना है। समाज-सुधार विषयक रचनाएँ भी उन्होंने की हैं। उनकी इस प्रकार की रचनाएँ साधारण कोटि की हैं, पर उनमें लोक-कल्याण की भावना है, और यही उनकी विशेषता है।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्रजी के पूर्व भाषा का कोई निश्चित स्वरूप न था। पद्य की भाषा व्रज थी, पर गद्य की भाषा का कोई स्वरूप सामने न आ सका था। उनके पूर्व गद्य के क्षेत्र में तीन प्रकार की भाषाएँ प्रचलित थीं। एक प्रकार की भाषा वह थी, जिसमें लल्लूलालजी और सदल मिश्र की रचनाएँ थीं। यह भाषा बहुत ही शिथिल और प्रभाव हीन थी; दूसरी भाषा राजा शिवप्रसाद सितारे हिन्द की थी,

जिसकी लिपि तो देवनागरी थी, किन्तु उस पर उर्दू का अधिक पुट था। उन दिनों इसका अधिक प्रभाव था। सरकारी कार्यालयों से लेकर, शिक्षित समाज तक में इसका बोलबाला था। तीसरी भाषा राजा लक्ष्मणसिंहजी की थी, जिसमें संस्कृत के तत्सम शब्दों की अधिकता थी। भारतेन्दुजी ने इन तीनों भाषाओं में से किसी को ग्रहण न किया। इसका कारण यह था, कि उनके उद्देश्य की पूर्ति के लिए इन तीनों में से कोई उपयुक्त नहीं थी। उनका उद्देश्य था प्रचार। वे हिन्दी और उसकी कार्य-क्षमता का संदेश सबको सुनाना चाहते थे। अतः उनके लिए एक ऐसी भाषा की आवश्यकता थी, जो सर्व साधारण के लिए सरल और बोधगम्य हो सकती थी। उसमें न तो संस्कृत के तत्सम शब्दों की अधिकता हो, और न उर्दू शैली के आँचल में अरबी-फारसी के शब्दों का बाहुल्य। उन्होंने गद्य के क्षेत्र में अपने लिए एक ऐसी ही भाषा का निर्माण किया। उनकी इस भाषा को हम खड़ी बोली कह सकते हैं। वह राजा शिवप्रसाद सितारे हिन्द, और राजालक्ष्मणसिंह के बीच की भाषा है। उसमें न तो संस्कृत के तत्सम शब्दों की अधिकता है, और न उर्दू शैली में अरबी फारसी के शब्दों का बाहुल्य। वह दोनों के मध्य की एक मिली-जुली भाषा है, पर हम उसे आज की हिन्दुस्तानी नहीं कह सकते। यद्यपि उसमें आवश्यकतानुसार विदेशी शब्दों का प्रयोग हुआ है, पर वह शुद्ध हिन्दी है। उन्होंने विदेशी शब्दों का प्रयोग हिन्दी व्याकरण, और उसके सिद्धान्तों के अंतर्गत ही किया है।

भारतेन्दुजी की काव्य की भाषा व्रज और खड़ी बोली है। इन्होंने हिन्दी गद्य के लिए जिस खड़ी बोली का निर्माण बड़े साहस के साथ किया, उसका प्रयोग इन्होंने काव्य के क्षेत्र में भी किया है। यद्यपि उनके पूर्व से ही काव्य के क्षेत्र में खड़ी बोली पदार्पण कर चुकी थी, परन्तु उसे गौरव और प्रतिष्ठा दिलाने का श्रेय भारतेन्दुजी को ही है। सर्व प्रथम उन्हीं की रचनाओं में खड़ी बोली का वह स्वरूप झलक सका, जिसे हम उसका साहित्यिक स्वरूप कह सकते हैं। यद्यपि उनकी खड़ी बोली शुद्ध खड़ी बोली नहीं है, पर उसमें उसकी भावी उन्नति के बीज प्रचुर मात्रा में विद्यमान हैं। भारतेन्दुजी का व्रजभाषा बड़ी सरस और मधुर है। उसका शब्द चयन अधिक सुन्दर और प्रवाह पूर्ण है। उन्होंने अपनी व्रजभाषा में अधिकतर कोमल और सरस शब्दों का ही प्रयोग किया है। लोकोक्तियों और मुहाविरों का प्रयोग भी उनकी भाषा में मिलता है। संस्कृत सूक्तियों और उक्तियों का भी प्रयोग उन्होंने अपनी भाषा में किया है, जिससे उनकी भाषा अधिक अर्थमयी और गम्भीर बन गई है।

पं० प्रतापनारायण मिश्र भारतेन्दु बाबू के पंथानुयायी थे। उन्होंने अपनी रचना का मार्ग उन्हीं के सिद्धान्तों के आधार पर बनाया है। पर वे रचना के क्षेत्र में भारतेन्दु बाबू से आगे बढ़ते हुए दीखते हैं। भारतेन्दु बाबू ने कोई ऐसी रचना नहीं की, जो किसी निबंध या कथा पर आधारित हो। प्रतापनारायण मिश्र ने स्फुट रचनाएँ तो की हीं, पद्यात्मक निबंधों की ओर भी ध्यान दिया। उन्होंने ऐसी

भी रचनाएँ कीं, जिन्हें हम इतिवृत्तात्मक भी कह सकते हैं। यद्यपि उनकी रचनाओं में 'व्यंग्य' और 'हास्य रस' का ही विकास हुआ है, और वे छिछले मैदान में ही अपने भावों का व्यापार लगाती हैं, पर इसमें संदेह नहीं, कि विषय और नवीन भाव की दृष्टि से वे भारतेन्दुजी की रचनाओं से आगे बढ़ी हैं। उनकी रचनाओं के विषय हैं, देश की दशा, बुढ़ापा, गोरक्षा, शिक्षा और फैशन इत्यादि। उन्होंने 'हर गंगा', 'तृप्यन्ताम्' और 'बुढ़ापा' इत्यादि ऐसी रचनाएँ की हैं, जिनमें विनोद, और हास्य तथा मनोरंजन की अच्छी झलक दिखाई देती है।

बद्रीनारायण चौधरी की रचनाओं में राजनीतिक और सामाजिक परिस्थितियों के चित्र हैं। समाज की अपेक्षा उनकी रचनाएँ राजनीतिक स्थितियों से अधिक प्रभावित जान पड़ती हैं। उन्होंने नाटकों की भी रचना की है, जिनमें देश की दशा, और राजनीतिक स्थितियों के चित्र हैं। 'भारत सौभाग्य' इसका दृष्टांत है।

ठाकुर जगमोहनसिंह का मार्ग भारतेन्दु परम्परा से पृथक दृष्टिगोचर होता है। उन्होंने भारतेन्दु काल में जन्म ले करके भी उन विधियों का अनुसरण नहीं किया, जिनका निर्माण भारतेन्दु बाबू कर चुके थे। उन्होंने नवीन विषयों की ओर आकर्षित न हो कर प्राचीन भारतीय संस्कृत कवियों के प्रकृति-चित्रों को हिन्दी काव्य में उपस्थित करने का प्रयत्न किया। उनके इस प्रयत्न में तन्मयता और अनुराग का अंश भी अधिक है।

पं० अंबिका दत्त व्यास ने भी नए विषयों पर स्फुट रचनाएँ की हैं, पर उनकी रचनाएँ साधारण कोटि की हैं।

हिंदी कविता और खड़ी बोली

काव्य क्षेत्र में शुद्ध और परिष्कृत रूप में सर्व प्रथम खड़ी बोली का विकास भारतेन्दु बाबू की ही रचनाओं में मिलता है। वे गद्य के क्षेत्र में ही खड़ी बोली को स्थान देकर शांत नहीं रह गए, उन्होंने कविता के क्षेत्र में भी खड़ी बोली का प्रयोग किया। भारतेन्दु बाबू के सहयोगियों ने जिनमें पं० प्रतापनारायण मिश्र, प्रेमघन, और अंबिकादत्त व्यास का नाम मुख्य था, खड़ी बोली की उन्नति में योग दिया। भारतेन्दु बाबू की मृत्यु के पश्चात् कविता के क्षेत्र में एक बार पुनः भाषा को लेकर द्वंद उत्पन्न हुआ। गद्य के क्षेत्र में खड़ी बोली अपना पक्ष पसार रही थी, पर पद्य के क्षेत्र में अभी तक लोगों के मन में ब्रजभाषा का मोह बना हुआ था। ब्रजभाषा की सरसता, और मधुरता रह रह कर कुछ लोगों को विवश कर देती थी, जिससे वे कभी कभी ब्रजभाषा का अंचल पकड़ लिया करते थे। पर खड़ी बोली का फूटा हुआ स्रोत अब रुकने वाला नहीं था। उसमें वेग था, उसमें गति थी, और उसमें युग की भावनाएँ बोल रही थीं। अतः खड़ी बोली के प्रवाह को रोक लेना अब असम्भव सा हो गया था। फिर भी कुछ ऐसे कवि थे, जो मोह वश उसके प्रवाह को रोकने के लिए कभी-कभी

अपने चरण आगे बढ़ा ही दिया करते थे। कविता के क्षेत्र में खड़ी बोली का यह प्रवाह कहाँ से निःसृत हुआ—यहाँ इस पर भी प्रकाश डाल देना ठीक ही होगा। जिस प्रकार गद्य के क्षेत्र में खड़ी बोली अकबर के शासन काल से ही अपना ताना-बाना बुन रही है, उसी प्रकार पद्य के क्षेत्र में भी उसके अस्तित्व का अंकुर चिर दिनों से दिखाई दे रहा है। भक्ति काल में 'कबीर', और नाम देव की रचनाओं में स्पष्ट रूप से खड़ी बोली की झलक मिलती है। कबीर और नाम देव के अतिरिक्त और भी कई ऐसे संत हैं, जिनकी रचनाओं में खड़ी बोली दृष्टिगोचर होती है। भक्ति काल के पूर्व भी खड़ी बोली का अस्तित्व किसी-किसी कवि की रचनाओं में देखने को मिलता है। भक्ति काल में साधुओं की भाषा में तो खड़ी बोली बार-बार आँखों के सामने आती है। रीति काल में भी, यद्यपि साहित्यिक और शिष्ट भाषा के रूप में ब्रजभाषा की ही पूजा हुई है, पर इतके साहित्य की रचनाओं में खड़ी बोली की झलक दिखाई पड़ती है। रीति काल के उत्तरार्द्ध में इंशा अल्ला खाँ ने उर्दू छन्दों में रचनाएँ की हैं। इन रचनाओं में स्पष्ट रूप से 'खड़ी बोली' का स्वरूप मिलता है। इन्हीं दिनों नागरीदास, और उसके पश्चात् के कृष्ण भक्तों ने भी उर्दू गजलों में ऐसी रचनाएँ की हैं, जिनमें खड़ी बोली का स्रोत अपने आप फूट पड़ा है। 'नजीर अकबराबादी', 'ललित किशोरी' और 'ललित माधुरी' की रचनाओं में भी खड़ी बोली के रूप देखने को मिलते हैं। इसके पश्चात् लावनीबाजों ने तो 'खड़ी बोली' का ढिंढोरा सा पीट दिया। लावनीबाजों की भाषा खड़ी बोली और छन्द उर्दू के हुआ करते थे। लावनीबाजों में तूफनगिरि, रिसालगिरि, देवीसिंह, और काशी सिंह का नाम अधिक प्रसिद्ध हैं। इनकी रचनाओं का विषय ब्रह्म ज्ञान और उद्देश्य उसका जनता में प्रचार करना था। उनकी रचनाओं में साहित्यिकता का पूर्ण रूप से अभाव है, पर इसमें सन्देह नहीं, कि उनकी रचनाओं से खड़ी बोली को प्रगति प्राप्त हुई है। 'खड़ी बोली' को साहित्यिक पद पर प्रतिष्ठित करने वाले श्रीधर पाठक हैं। सर्व प्रथम पाठकजी ने ही खड़ी बोली के क्षेत्र में सुव्यवस्थित भाषा और साहित्यिकता की दृष्टि से कविता की रचना की। श्रीधर पाठक की रचनाओं ने खड़ी बोली के काव्य प्रवाह को इस प्रकार आगे बढ़ाया, कि सन्देह और संशय की सीमा से वह बाहर निकल कर सन्तरण करने लगा। इसके पश्चात् खड़ी बोली के आन्दोलन को मुजफ्फरपुर के बाबू अयोध्या प्रसाद खत्री, और चम्पारन के पण्डित चन्द्रशेखर मिश्र से अधिक बल प्राप्त हुआ। इन दोनों ही सज्जनों ने स्वयं भी खड़ी बोली में रचनाएँ कीं, और दूसरों को खड़ी बोली में रचना करने के लिए प्रोत्साहित किया। परिणाम यह हुआ, कि खड़ी बोली की रचना को लेकर जो विवाद आरंभ हुआ था, वह एक प्रकार शांत सा हो गया, और खड़ी बोली के कविता प्रवाह ने एक व्यवस्थित मार्ग पकड़ लिया।

प्रथम उत्थान में जिस खड़ी बोली की कविता ने विकास की ओर अपना चरण बढ़ाया था, द्वितीय उत्थान में उसका पूर्ण रूप से विकास हुआ। द्वितीय उत्थान को

हिन्दी कविता द्वितीय उत्थान

हम हिन्दी कविता का विकास काल मानते हैं। हिन्दी कविता जिस प्रकार प्रथम उत्थान में गति प्राप्त करके आगे बढ़ी, और जिस प्रकार उसने द्वितीय उत्थान में पूर्ण साहित्यिकता का स्वरूप धारण कर लिया, उससे उसकी शक्ति शीलता का पता चलता है। इस द्वितीय उत्थान को हम तीन कक्षाओं में विभक्त कर सकते हैं—प्रथम कक्षा में पाठकजी की कविताएँ आती हैं, दूसरी कक्षा में द्विवेदीजी की कविताएँ आती हैं, और तीसरी कक्षा में वे रचनाएँ आती हैं, जिनका निर्माण गुप्तजी की लेखनी द्वारा हुआ है। मानना होगा, कि सर्व प्रथम पाठकजी की रचनाओं में ही विद्रोह की घोषणा मिलती है। यद्यपि भारतेन्दु बाबू की रचनाओं में नवीन भावों का जन्म हो चुका था, और खड़ी बोली नए जीवन में प्रवेश करके आगे चरण बढ़ा चुकी थी, पर फिर भी रीति काल की वह शैली और वह काव्य धारा, जो नियमों में अग्रस्त होने के कारण रूढ़ि बन चुकी थी, किसी न किसी प्रकार आगे खिसकती ही जा रही थी। भारतेन्दु और उनके सहयोगियों ने इस काव्य शैली से, जो रीति काल में पण्डितों की शैली थी, अपना पिंड छुड़ाने का अधिक प्रयत्न किया। उस शैली के प्रति विद्रोह खड़ा करके उन्होंने अपने साहस और अपनी शक्ति का भी परिचय दिया है, पर वे उसकी गति को रोक नहीं सके। उसकी गति विधि को रोकने के लिए पाठक जी ने लोक गीतों का आश्रय लिया। उन्होंने लोक में प्रचलित लावनी या ख्याल के ढंग पर 'एकांत वासी योगी' की रचना करके प्राचीन काव्य शैली के प्रति पूर्ण रूप से विद्रोह खड़ा कर दिया। यह एक ऐसा विद्रोह था, जिसमें लोक की शक्ति अंतर्निहित थी। लोक शक्ति के अंचल में पलकर जब खड़ी बोली की कविता आगे बढ़ी तो उसमें अखंड शक्ति थी। द्विवेदी जी ने खड़ी बोली की कविता की अखंड शक्ति का स्वागत किया। उनका स्वागत गान मराठी और संस्कृत वर्ण वृत्तों के आधार पर हुआ। अब तक हिन्दी काव्य में जिन छन्दों का प्रचलन हो रहा था, द्विवेदी जी ने उनके विपरीत संस्कृत के छन्दों की चलन निकाली। संस्कृत के छन्दों के साथ ही साथ उन्होंने नवीन भावों के गुंफन में संस्कृत पदावलियों का भी समावेश किया। उनके द्वारा सम्पादित 'सरस्वती' में इस प्रकार खड़ी बोली की रचनाएँ प्रकाशित होने लगीं। इन्हीं दिनों पाठकजी का 'श्रांत पथिक' और 'ऊजड़ ग्राम' भी प्रकाशित हुआ। 'ऊजड़ ग्राम' की रचना उन्होंने ब्रजभाषा में ही की थी। 'श्रांत पथिक', और उनकी 'खड़ी बोली' की स्फुट रचनाओं से हिन्दी खड़ी बोली की कविता को और भी अधिक बल प्राप्त हुआ। सबसे अधिक बल हिन्दी कविता को द्विवेदीजी की रचनाओं और उनके द्वारा सम्पादित सरस्वती से प्राप्त हुआ। द्विवेदीजी के प्रयत्नों से हिन्दी कविता ने वास्तविकता का स्वरूप धारण कर लिया। थोड़े ही दिनों में वह भाव, अनुभूति, भाषा, और शैली—प्रत्येक क्षेत्र में नवीन और व्यवस्थित रूप धारण करके आगे बढ़ने लगी। मुक्तक और काव्य-दोनों ही क्षेत्रों में उसकी प्रगति होने लगी। विविध भावों और विषयों को लेकर जहाँ उसमें स्फुटपदों की रचना की जाने लगी, वहाँ उसमें

ऐतिहासिक और पौराणिक वृत्तों के आधार पर काव्य रचना करने की प्रवृत्ति भी पैदा हो उठी। इस प्रकार द्विवेदीजी के प्रयत्नों से हिन्दी कविता में उन्नति के पंख लग गए, और वह स्वतन्त्र रूप से मुक्त गगन में विहार करने लगी।

द्विवेदीजी ने जिस हिन्दी कविता के पौदे को लगाया था, उसका पूर्ण विकास गुप्त जी की रचनाओं में देखने को मिलता है; दूसरे शब्दों में यह भी कहा जा सकता है कि द्विवेदीजी ने जो साधना की थी, उसका फल गुप्तजी की रचनाओं में प्राप्त होता है। द्विवेदीजी का संपूर्ण प्रयास और उनकी साधना गुप्तजी में केन्द्रित हो उठी है। गुप्तजी की रचनाओं का व्यापार विस्तृत है। भारतेन्दु काल से लेकर द्विवेदी काल तक जो साधना हुई है—जो प्रयास किया गया है, गुप्तजी उसके पूंजीभूत जान पड़ते हैं। उनके द्वारा खंड काव्य भी लिखे गए हैं, और महाकाव्य की भी उन्होंने रचना की है। उन्होंने स्फुट कविताएँ भी की हैं, और मुक्तक का अभिसार भी उनकी रचनाओं में हुआ है। उनकी शैली भी विभिन्न प्रकार की है। उनके विषय भी बहु प्रकार के हैं। उनकी कल्पना समाज और राष्ट्र के मैदान से अपने लिए तत्वों को ग्रहण तो करती ही है, जीवन के भीतर भी उसका प्रवेश होता है। राष्ट्र और समाज की ही भाँति ही वह जीवन की समीक्षा भी करती है, और हृदय में प्रवेश करके उसके अंतर्द्वंदों के साथ भी खेलती है। इस प्रकार हम कह सकते हैं, कि द्विवेदीजी ने जिस कार्य का समारम्भ किया था, गुप्तजी ने उसे पूर्ण ही नहीं किया; वरन् वे उससे आगे भी बढ़े हैं। द्विवेदीजी की वर्णनात्मक शैली पर विजय प्राप्त करके उनकी प्रतिभा अन्तर्मुखी हो उठी है। बाह्य जगत के नाना प्रकार के दृश्यों का रस लेकर वह अन्तर्जगत में भी अपना अभिनय करती हुई दृष्टिगोचर होती है। हो सकता है, कि उसे विश्व कवि रवीन्द्रनाथ टैगोर की गीतांजलि से, जिसकी रचना अन्तर्जगत के विषयों के ही आधार पर हुई है, प्रेरणा मिली हो। पर यह तो निश्चित है, कि गुप्तजी की रचनाओं में ही उस हृदय और भावबाद की सूचना मिलती है, जिसका विकास आगे चलकर रहस्यवाद के नाम से हुआ है। इस प्रकार गुप्तजी की रचनाओं में जहाँ द्विवेदी काल की पूर्णता पाई जाती है, वहाँ उसमें एक नए युग की सूचना भी मिलती है। यदि इसी बात को इस प्रकार कहा जाय, तो कोई अत्युक्ति न होगी, कि गुप्तजी एक ऐसी सीमा पर स्थित हैं, जहाँ द्वितीय उत्थान का अन्त, और तृतीय उत्थान का प्रारम्भ होता है।

द्वितीय उत्थान के कवि

द्वितीय उत्थान का उद्घाटन पं० महावीरप्रसाद द्विवेदीजी के द्वारा हुआ है। द्विवेदीजी ने ही सर्व प्रथम हिन्दी खड़ी बोली की रचना को वह स्वरूप प्रदान किया, जिसे हम साहित्यिक और सुव्यवस्थित स्वरूप कह सकते हैं। द्विवेदीजी की रचनाएँ दो प्रकार की हैं—मौलिक और अनूदित। उनकी मौलिक रचनाएँ स्फुट विषयों पर हैं, जो मराठी की कविता से प्रभावित हैं। उनमें संस्कृत के वर्ण वृत्तों का प्रयोग किया गया है। इस प्रकार संस्कृत के वर्ण वृत्तों का प्रयोग सर्व प्रथम द्विवेदीजी की ही रचनाओं में मिलता है।

उन्होंने केवल संस्कृत वर्ण वृत्तों का ही प्रयोग नहीं किया, वरन् संस्कृत पदावली को भी रचना में स्थान दिया। यद्यपि मराठी से प्रभावित होने के कारण उनकी रचनाओं में कर्कशता अधिक थी, पर उनके द्वारा कविता-जगत में दो महत्व पूर्ण कार्यों का समारम्भ हुआ—(१) कविता संस्कृत वर्ण वृत्तों में बँधी अर्थात् छन्दों की प्रणाली का आविष्कार हुआ; और (२) खड़ी बोली की रचना में संस्कृत पदावली को स्थान मिला। द्विवेदीजी ने सरस्वती में स्वयं अपनी विभिन्न विषयों की रचनाएँ प्रकाशित कीं, और दूसरे कवियों को भी उन्होंने इस प्रकार की रचना करने के लिए प्रोत्साहित किया। द्विवेदीजी की दूसरी प्रकार की रचनाएँ उनकी अनूदित रचनाएँ हैं। उन्होंने 'कुमार सम्भव' आदि ग्रन्थों का अनुवाद करके हिन्दी में प्रकाशित किया। अनुवाद की शैली और विधि वही है, जो उनके द्वारा आविष्कृत हुई है। इस प्रकार उन्होंने अपनी मौलिक और अनूदित रचनाओं के द्वारा हिन्दी खड़ी बोली की कविता की रगों में नए जीवन, और प्राण का सञ्चार किया। उनके द्वारा जीवन और प्राण पाकर खड़ी बोली की कविता, कहना न होगा, कि उन्नति के क्षेत्र की ओर तीव्रतर गति से दौड़ पड़ी।

द्विवेदीजी की रचनाओं में कवित्व का विकास नहीं पाया जाता। इसका एक मात्र कारण यह है, कि द्विवेदीजी का जितना अधिक ध्यान स्वरूप गठन, और प्रचार की ओर था, उतना ध्यान उनका कवित्व और कला की ओर नहीं था। उन्होंने जिन रचनाओं का निर्माण किया है, उनमें उनका उद्देश्य हिन्दी खड़ी बोली के कविता के स्वरूप को उपस्थित करना था। अतः उनका सम्पूर्ण ध्यान इसी दिशा की ओर केन्द्रित है। 'भाषा परिमाजन' उनका मुख्य लक्ष्य था। वे कवि नहीं थे, खड़ी बोली कविता के आचार्य थे। उन्होंने आचार्य की भाँति ही खड़ी बोली की कविता का अभिसार किया है। भाषा, छन्द, भाव, और शैली प्रत्येक क्षेत्र में उन्होंने आचार्यत्व के सिंहासन पर बैठ करके ही खड़ी बोली की कविता का निर्माण किया है।

पं० श्रीधर पाठक का आविर्भाव उस समय हुआ था, जब खड़ी बोली अपने पैरों पर खड़ी हो रही थी। भारतेन्दु हरिश्चन्द्रजी ने जिस खड़ी बोली की नींव डाली थी, उसका प्रथम विकसित स्वरूप पाठकजी की ही रचनाओं में देखने को मिलता है। भारतेन्दुजी की रचनाओं पर ब्रजभाषा और रीति काल की जो छाप रह गई थी, वह पाठकजी की रचनाओं पर नहीं दिखाई पड़ती। पाठकजी की रचनाएँ शुद्ध खड़ी बोली की रचनाएँ हैं। उनका नया विषय है, नवीन भाव है। उन्होंने युग और समय के अनुसार ही विषयों का निर्वाचन किया है। पाठकजी की अधिकांश रचनाएँ पत्रों में ही प्रकाशित हुई थीं। पुस्तकों के रूप में वे उसके पश्चात् सामने आई हैं। उनकी रचनाएँ दो प्रकार की हैं—मौलिक, और अनुवादित। मौलिक रचनाओं में आराध्य, शोकांजलि, श्री गोखले प्रशस्ति, श्री गोखले गुणाष्टक, काश्मीर सुषमा, देहरादून वन वनाष्टक, बाल भूगोल, धन विनय, गोपिका गीत, गुनवंत

हेमन्त, भारत गीत, और 'तिलिस्मानी मुँदरी' का मुख्य स्थान है। 'एकांत वासीयोगी' 'श्रांत पथिक', और 'ऊजड़ ग्राम' उनकी अनूदित रचनाएँ हैं। कालिदास के ऋतु-संहार का भी अनुवाद उन्होंने ब्रजभाषा में किया है।

पाठकजी का आविर्भाव भारतेन्दु हरिश्चन्द्रजी के पश्चात् हुआ था। भारतेन्दु हरिश्चन्द्रजी यद्यपि खड़ी बोली की नींव डाल गए थे, पर अब भी कविता के क्षेत्र में ब्रजभाषा का ही अखंड राज्य था। ब्रजभाषा की सम्पदा इतनी विस्तृत थी, कि अब भी लोग इसकी ओर से मुँह मोड़ने के लिए तैयार न होते थे। दूसरी ओर उर्दू की रचनाओं की बाढ़ सी आ रही थी। राज्याधिकारियों की ओर से उर्दू की रचनाओं को प्रोत्साहन भी दिया जा रहा था। खड़ी बोली के लिए जो अभी अपनी शैशवावस्था में थी, कहीं कोई आश्रय न था। पंडित महावीरप्रसाद द्विवेदीजी ने निराश्रिता खड़ी बोली को अपने लौह सरीखे दृढ़ व्यक्तित्व की छाया में आश्रय प्रदान किया। वह उनकी छाया में पल्लवित और पुष्पित होने लगी। पं० श्रीधर पाठक ने उसमें योग प्रदान किया, और अपनी रचनाओं के द्वारा उसकी सत्ता स्थापित की।

पं० श्रीधर पाठक पहले ब्रजभाषा के कवि थे। उनकी ब्रजभाषा की कविताएँ बड़ी ललित, और भाव पूर्ण हैं। उनकी ब्रजभाषा की रचनाओं में भी स्वतन्त्र प्रकृति का परिचय मिलता है। उनकी खड़ी बोली में भी कहीं-कहीं ब्रजभाषा के शब्द मिलते हैं। इसका मुख्य कारण केवल यह है, कि उनका ब्रजभाषा से जन्मजात परिचय था। द्विवेदीजी के द्वारा खड़ी बोली के प्रचार होने पर, पाठकजी ने खड़ी बोली के क्षेत्र में प्रवेश किया। उनकी खड़ी बोली की रचनाएँ दो प्रकार की हैं—मौलिक, और अनूदित। उनकी मौलिक रचनाएँ अधिकांश वर्णनात्मक हैं। उनके जीवन में गहन तत्त्वों का अभाव है। उनके द्वारा केवल खड़ी बोली की शक्ति, और उसकी व्यंजकता का आभास मिलता है। उनकी अनूदित रचनाओं में 'एकांतवासी योगी', 'ऊजड़ ग्राम' और 'श्रांत पथिक' का महत्व पूर्ण स्थान है। ये रचनाएँ यद्यपि अनूदित हैं, पर उनमें मौलिक की सी छटा विद्यमान है। इनकी रचना करके पाठकजी ने खड़ी बोली की रचना-शक्ति को सिद्ध कर दिया है। उन्होंने उनके द्वारा यह घोषित किया है, कि खड़ी बोली एक ऐसी भाषा है, जिसमें सभी प्रकार के भावों और अनुभूतियों का चित्रण किया जा सकता है। पाठकजी ने मुक्तक कविताएँ भी लिखी हैं, जिनमें राष्ट्रीय भावनाओं का चित्रण हुआ है। उनकी कुछ मुक्तक रचनाओं में नवीन भावों की झलक मिलती है। उनका प्रकृति चित्रण विशेष प्रभावोत्पादक है। प्रकृति चित्रण में उन्होंने आलंबन और उद्दीपन—दोनों ही रूपों को ग्रहण किया है। उनके दोनों ही चित्र बड़े सुरम्य और मर्म स्पर्शी हैं।

पाठकजी ने काव्य प्रतिभा अवश्य पाई थी, और वे भावुक भी अधिक थे, पर उनमें उन विशेषताओं का अभाव है, जो एक कवि को ऊँचा उठाती हैं। उनकी रचनाओं का अध्ययन करने से ज्ञात होता है, कि उनकी काव्य दृष्टि बहुत ही सीमित थी। उनका प्रवेश मानव हृदय में नहीं के बराबर था। वे जीवन की बाहरी सतह पर ही

परिभ्रमण करते रहे हैं। जीवन की बाहरी सतह पर भी उनका परिचय सीमित वस्तुओं से ही है। सम्भव है, इसका कारण यह हो, कि उनका आविर्भाव उस समय हुआ था, जब खड़ी बोली, और ब्रजभाषा के संघर्ष के कारण किसी भी क्षेत्र में उन्हें अपनी काव्य-प्रतिभा दिखाने का अवसर न प्राप्त हो सका। ब्रजभाषा के क्षेत्र में उनकी रचनाएँ प्रारम्भिक काल की हैं। उनमें किसी कवि के शैशव की झलक मात्र है। खड़ी बोली के क्षेत्र में जब उन्होंने पदार्पण किया, तब उसके प्रचार का युग था। अतः उनकी रचनाएँ भी प्रचार तक ही सीमित रह गईं। उनकी रचनाओं से केवल खड़ी बोली की व्यंजकता सिद्ध होती है। कल्पना और कला की दृष्टि से उनके महत्व में अधिक अल्पता है।

पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' हिन्दी काव्य जगत की शोभा थे। उन्होंने 'प्रिय प्रवास' और 'वैदेही बनवास' लिख कर अपने को सदा के लिए अमर बना लिया। उनकी रचनाओं का, उनकी भाषा का, और उनकी शैली का हिन्दी काव्य-जगत में एक विशिष्ट स्थान है। उनकी रचनाएँ युग के प्रभाव से प्रभावित हैं। युग की विचार धारा के साथ ही साथ उनकी रचनाओं में भी परिवर्तन उपस्थित हुआ है। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र का युग समस्या पूर्तियों का युग था। प्रायः कविगण समस्या पूर्तियों के द्वारा ही वाणी की आराधना किया करते थे। हरिऔधजी का प्रारम्भिक काल भारतेन्दु युग में ही व्यतीत हुआ है। अतः उनकी प्रारम्भिक रचनाएँ केवल समस्या पूर्तियाँ ही हैं, जो ब्रजभाषा, और खड़ी बोली दोनों में ही हैं। किन्तु जब द्विवेदी युग का विकास हुआ, और इस विकास रूप के में भाषा का संस्कार तथा परिमार्जन हुआ, तब युग के अनुसार ही हरिऔधजी ने खड़ी बोली के क्षेत्र में प्रवेश किया। खड़ी बोली के क्षेत्र में प्रवेश करके उन्होंने भाषा को तन्मयता पूर्वक सँवारा, और उसे दृढ़ शक्ति प्रदान की। इन्हीं दिनों उन्होंने प्रियप्रवास की रचना की। प्रियप्रवास हिन्दी खड़ी बोली का प्रबन्धात्मक काव्य है। इस महाकाव्य की रचना करके उन्होंने खड़ी बोली की शक्ति की उद्घोषणा की। द्विवेदी युग के पश्चात् हिन्दी में एक नए युग की सृष्टि हुई है, जिसकी देन प्रसाद पन्त, निराला इत्यादि कवि हैं। इस युग में नई भावनाओं, और अनुभूतियों का शृंगार हुआ है। 'हरिऔधजी' पर भी इस नवीन युग का अखड रूप से प्रभाव पड़ा है। उनके जीवन की अन्तिम काल की रचनाएँ नवीन युग की भावनाओं से पूर्ण रूप से प्रभावित हैं।

'हरिऔधजी' हिन्दी काव्य-जगत के सम्राट कहे जाते थे। उनकी कविताओं का काव्य-जगत में विशिष्ट स्थान है। उन्होंने 'प्रियप्रवास', और वैदेही वनवास—दो महाकाव्यों की रचना की है। इसके अतिरिक्त उन्होंने कई स्फुट ग्रन्थों की रचना की है। उनकी सम्पूर्ण रचनाओं में उनकी प्रभावशालिनी कवि प्रतिभा झलकती है। 'हरिऔधजी' की काव्य प्रतिभा का विकास शनैः शनैः हुआ है। इसलिए उनकी रचनाओं में स्थिरता, और गम्भीरता है। उनकी प्रारम्भिक रचनाएँ दोहों के रूप में हैं। इन रचनाओं को हम उनके शैशव काल की रचनाएँ कह सकते हैं। ये रचनाएँ

यद्यपि साधारण कोटि की हैं, पर उनमें उनके भावी उन्नति-पूर्ण जीवन की झलक पर्याप्त रूप से विद्यमान है। 'दोहों' के क्षेत्र से जब वे निकले, तो 'कवित्त' और 'सवैयों' के क्षेत्र में प्रविष्ट हुए। कवित्त और सवैयों में उनकी जो रचनाएँ हैं, वे अधिकांश समस्या पूर्तियों के रूप में हैं। उनकी समस्या पूर्तियों में उनके भावी कवि जीवन की महत्वाकांक्षा पूर्ण रूप से दृष्टिगोचर होती है।

द्विवेदी काल का स्वर्ण प्रकाश जब हिन्दी के काव्य क्षेत्र में फैला, और खड़ी बोली अपनी उमंगों के साथ अँगड़ाइयाँ लेने लगी, तब 'हरिऔधजी' ने खड़ी बोली के क्षेत्र में प्रवेश किया। खड़ी बोली के क्षेत्र में प्रवेश करके उन्होंने 'प्रियप्रवास', और 'वैदेही बनवास' की रचना की। 'प्रियप्रवास', और 'वैदेही बनवास'—दोनों ही महाकाव्य हैं। दोनों की रचना प्राचीन कथा के आधार पर की गई है, और दोनों ही संस्कृति मूलक हैं। पर महाकाव्य की दृष्टि से 'प्रियप्रवास में उन्हें जितनी सफलता प्राप्त हुई है, उतनी वैदेही बनवास में नहीं। प्रियप्रवास उनकी कृतियों में श्रेष्ठ महाकाव्य है। इस महाकाव्य की रचना उन्होंने संस्कृत वर्ण वृत्तों में अतुकांत शैली में की है। यह हिन्दी काव्य-जगत में अपने ढंग का एक ही प्रबंध काव्य है। इसके मुख्य नायक श्री कृष्ण, और मुख्य नायिका राधिका हैं, जो समाज सेवा, स्वार्थ त्याग, विश्व प्रेम, परोपकार देश सेवा, और उदारता की समष्टि हैं। इस महाकाव्य में 'हरिऔधजी' की लोक संग्रह भावना का सुन्दर स्वरूप देखने को मिलता है।

'हरिऔधजी' की काव्य प्रतिभा बड़ी सक्षम और प्रभाव पूर्ण थी। उन्होंने जहाँ 'प्रियप्रवास', और 'वैदेही बनवास' ऐसे महाकाव्यों की रचना की है, वहाँ उन्होंने 'चुभते चौपदे', और 'चोखे चौपदे' भी लिखे हैं। 'प्रियप्रवास' और 'चौपदों' की भाषा में अधिक अंतर है। प्रियप्रवास की भाषा जहाँ संस्कृत मूलक है, वहाँ चौपदों की रचना बोल चाल की भाषा में हुई है। चौपदों में, बीच-बीच में मुहावरों का प्रयोग बड़ी सुन्दरता के साथ हुआ है। मुहावरों का प्रयोग करने में हरिऔधजी ने अधिक कुशलता प्रदर्शित की है। मुहावरों के प्रयोग के ही कारण 'चौपदे' अधिक चुटीले, और प्रभाव पूर्ण बन गए हैं। उनमें मधुरता और सरसता के साथ ही साथ तीखा व्यंग भी है। हरिऔधजी ने द्विवेदी युग में ब्रजभाषा में रचना करके मानों इस बात की घोषणा की है, कि उनके हृदय का कवि युग की मान्यताओं को स्वीकार करता हुआ भी उससे बँधा हुआ नहीं है। द्विवेदी काल की, उनकी ब्रजभाषा की रचना रस कलश है। इसकी भाषा ही ब्रजभाषा नहीं है, वरन् इसमें रीति काल की शैली का भी परिपालन किया गया है। यह स्वय रीति ग्रन्थ है। इसमें उन्होंने रीति शैली पर आधुनिकता की दृष्टि से नए प्रकार के नायकों, और नायिकाओं की उद्भावना की है।

हरिऔधजी का भाषा पर पूर्ण अधिकार था। भाषा क्षेत्र में वे कहीं भी भाषा की शक्ति का अनुगमन करते हुए दृष्टिगोचर नहीं होते हैं। उन्होंने बड़ी स्वतन्त्रता,

और निर्भीकता के साथ भाषा को अपनी भावनाओं के पीछे चलने के लिए बाध्य किया है। उनकी भाषा उनकी अनुभूतियों, और भावनाओं का ही अनुगमन करती हुई दृष्टिगोचर होती है। वे जब जहाँ चाहते हैं, भाषा के स्वरूप को परिवर्तित कर देते हैं। केवल उसके स्वरूप में ही परिवर्तन नहीं करते, वरन् अपनी भावनाओं की माँग के अनुसार उसकी गति में भी तीव्रता और मन्दता उत्पन्न कर देते हैं। जिस प्रकार 'हरिऔधजी' की रचनाएँ कई प्रकार की हैं, उसी प्रकार उनकी भाषा भी कई प्रकार की है। मुख्य रूप से उनकी भाषा की चार कोटियाँ की जा सकती हैं—ब्रज-भाषा, उर्दू शैली से प्रभावित भाषा, तत्सम शब्द प्रधान भाषा, और सरल भाषा। उनकी प्रारम्भिक रचनाएँ ब्रजभाषा में हैं। 'रस कलश' भी ब्रजभाषा में ही लिखा गया है। 'हरिऔधजी' की ब्रजभाषा में वह मधुरता, और सरसता नहीं है, जो रीति काल के कवियों की ब्रजभाषा में पाई जाती है। उनकी ब्रजभाषा नियमों में कठोरता पूर्वक जकड़ी हुई कराहती-सी दिखाई पड़ती है। खड़ी बोली का भी उस पर रंग है। उसमें संस्कृत के तत्सम शब्दों का प्रयोग बड़ी स्वतन्त्रता के साथ किया गया है। उसकी गति में स्वच्छन्दता न होने से प्रवाह की न्यूनता है। चौपदों में उनकी भाषा उर्दू शैली से प्रभावित है। 'पुष्पोपहार' और 'काव्योपवन' में भी उसी भाषा का प्रयोग हुआ है। यह भाषा बड़ी सरल, और मुहाविरेदार है। 'प्रिय प्रवास' और 'वैदेही वनवास' में तत्सम शब्द प्रधान भाषा प्रयुक्त हुई है। इसमें शब्दों का आधिक्य होने से वह बोझिल सी हो गई है, पर मधुर और प्रवाह पूर्ण है। इसकी गत्यात्मकता प्रशंसनीय है। अपने शेष ग्रन्थों में 'हरिऔधजी' ने सरल हिन्दी का ही प्रयोग किया है। इनकी सरल हिन्दी बड़ी व्यञ्जक, और आकर्षक है।

श्री मैथिलीशरण गुप्तजी की काव्य-रचना पर दृष्टि डालने के पूर्व हमें उनके पूर्व के युग पर दृष्टिपात करना होगा। उनके पूर्व के युग पर दृष्टिपात करके ही हम इस बात की समीक्षा कर सकते हैं, कि उनमें मौलिकता की प्रचुरता है। गुप्तजी के पूर्व भारतेन्दु हरिश्चन्द्रजी का युग था। भारतेन्दु हरिश्चन्द्रजी के द्वारा हिन्दी खड़ी बोली कविता की नींव पड़ चुकी थी। भारतेन्दु हरिश्चन्द्रजी के पश्चात् पं० बाल कृष्ण भट्ट, पं० प्रतापनारायण मिश्र, और बद्री नारायण 'प्रेमघन' ने उस नींव को सुदृढ़ बनाने का प्रयत्न भी किया था। इस प्रयत्न के परिणाम स्वरूप केवल स्फुट रचनाओं का आविर्भाव हुआ था। भारतेन्दुजी के पश्चात् जब द्विवेदी युग का उदय हुआ, तब श्रीधर पाठक ने अपनी मुक्तक रचनाओं के द्वारा उसका शृंगार किया। स्वयं द्विवेदीजी ने भी 'कुमार संभव सार' का खड़ी बोली में अनुवाद करके उसके भण्डार की अभिवृद्धि की। 'हरिऔधजी' भी अपनी रचनाओं के द्वारा खड़ी बोला का अभिसार करने में निरत थे। गुप्तजी के आविर्भाव के पूर्व खड़ी बोली काव्य-शैली की न तो कोई निश्चित् शैली थी, और न उसका कोई सुदृढ़ स्वरूप ही सामने था। मुक्तक और स्फुट रचनाओं को छोड़ कर 'खण्ड काव्य', और 'महाकाव्य' के नाम पर उसके क्षेत्र में स्तब्धता थी। गुप्तजी के पथ का प्रदर्शन करने के लिए

उनके सामने कोई ऐसी रचना न थी, जिसे सामने रख कर वे अपने मार्ग का निर्माण कर सकते। इसमें सन्देह नहीं, कि द्विवेदीजी से उन्हें अधिक सहायताएँ प्राप्त हुईं, और वे उन्हीं के नेतृत्व की छाया में उन्नति के पथ पर अग्रसर हुए, पर उन्नति और विकास के इस मार्ग पर उन्हें केवल अपनी ही काव्य प्रतिभा और शक्ति से संपूर्ण कार्य करना पड़ा। उन्हें अपने लिए स्वयं ही शैली का निर्माण करना पड़ा, और भाषा भी निश्चित करनी पड़ी। भाव, अनुभूति, और छन्द के क्षेत्र में भी उनकी मौलिक शक्ति ही उनकी सहायिका है। उन्होंने द्विवेदीजी के नेतृत्व की छाया में रह कर, उनके सिद्धान्तों, और आदर्शों के प्रसार के लिए प्रशंसनीय क्रान्ति की है। भाव, भाषा, छन्द और शैली-प्रत्येक क्षेत्र में उन्होंने नवीन युग की स्थापना की है। 'पञ्चवटी' उनका हिन्दी का प्रथम खंड काव्य, है। यद्यपि इसके पूर्व भी कुछ खंड काव्यों की रचना हो चुकी थी, पर काव्य और कला की दृष्टि से उनका कुछ भी महत्व न था। खण्ड काव्य ही नहीं, महाकाव्य के क्षेत्र में भी उन्होंने पथ-निर्देश किया है।

हिन्दी के वर्तमान कवियों में गुप्तजी का सर्वश्रेष्ठ स्थान है। गुप्तजी एक ऐसे महा कवि हैं, जिनमें कई प्रकार की विचार धाराएँ केन्द्रित दिखाई देती हैं। आज उनकी जो रचनाएँ हमारे सामने हैं, वे इतनी और इतने प्रकार की हैं, कि उनको एकत्र करके उनकी समीक्षा करना सरल नहीं है। फिर भी हम उनकी रचनाओं के युग को दो रूपों में विभक्त करते हैं—उनकी रचनाओं का एक युग तो वह है, जिसमें उन्होंने अपनी प्रारंभिक रचनाएँ की हैं। इस युग को हम प्रारम्भिक युग कह सकते हैं। उनका दूसरा युग उनकी रचनाओं के विकास और प्रौढ़ता का युग है। इसी युग में उन्होंने अपने प्रारम्भिक काल के पश्चात् की रचनाएँ की हैं, और इसी युग में उन्होंने वे रचनाएँ भी की हैं, जिनके द्वारा उन्हें अमर कीर्ति प्राप्त हुई है। गुप्तजी की काव्य रचना का युग १९१०-१२ से प्रारम्भ होता है। सर्व प्रथम उनकी रचनाएँ 'सरस्वती' में प्रकाशित हुआ करती थीं। यह उनकी प्रारंभिक रचनाएँ थीं। उनकी प्रारंभिक रचनाओं की झलक हमें 'रंग में भंग', 'जयद्रथ वध', 'भारत भारती', 'पञ्चवटी', 'शकुन्तला', 'चंद्रदास', और 'तिलोत्तमा' इत्यादि खंड काव्यों में देखने को मिलती है। यह सम्पूर्ण रचनाएँ उनके प्राभिक युग की रचनाएँ हैं। इनमें उनकी काव्य-प्रतिभा की वह गति दृष्टिगोचर होती है, जो विकास की ओर अग्रसर हो रही है। 'रंग में भग' एक ऐतिहासिक खंड काव्य है। इसमें राजपूत वीर 'हाड़ा' के चरित्र का चित्रण प्रभाव पूर्ण ढंग से किया गया है। 'जयद्रथ वध' वर्णन प्रधान खंड काव्य है। 'वीर रस' की 'अवतारणा' इसमें मार्मिकता के साथ की गई है। 'करुण-रस' इसकी पंक्तियों से निकल कर हृदय को डुबो देता है। ओजस्विता इसकी प्रशंसनीय है। 'भारत भारती' में नव-जागरण का सन्देश है। यद्यपि साहित्य और काव्य कला की दृष्टि से इस ग्रन्थ का विशेष महत्व नहीं है, पर राष्ट्रीयता के क्षेत्र में इसके द्वारा अधिक उन्नति हुई है। 'पञ्चवटी'

'चन्द्रहास', और 'शकुन्तला' की रचना पौराणिक कथाओं के आधार पर की गई है।

गुप्तजी की काव्य-रचना का द्वितीय युग, जिसे हम उनके विकास का युग कह सकते हैं, अधिक महत्व पूर्ण है। इसी युग में गुप्तजी की काव्य प्रतिभा ने उन कृतियों का निर्माण किया है, जिसके कारण उन्हें अमर कीर्ति प्राप्त हुई है। उनके इस युग के भी दो वर्ग हैं—वर्णनात्मक, और भावनात्मक। वर्णनात्मक वर्ग में गुप्तजी ने अपने काव्य-जीवन में मानव हृदय के भीतर प्रवेश करने का प्रयत्न किया है, पर उसमें वर्णन की ही प्रधानता अधिक है। इस वर्ग की रचनाओं में 'पञ्चवटी', 'त्रिपथगा', शक्ति, 'गुरुकुल', और 'विकट भट' का मुख्य स्थान है। 'पञ्चवटी' रामकथा संबंधी खण्ड काव्य है। 'त्रिपथगा' की रचना 'महाभारत' की कथा के आधार पर की गई है।'शक्ति' की कथा 'देवी भागवत' से ली गई है। 'गुरुकुल' में सिक्ख गुरुओं की कथा का चित्रण है। 'विकट भट' ऐतिहासिक काव्य-ग्रन्थ है। काव्य और कला की दृष्टि से इन रचनाओं में कवि के महाकवि स्वरूप की प्राथमिकता का विकास हुआ है। इन रचनाओं में वर्णन की प्रधानता है। इन रचनाओं में कवि ने पौराणिक और ऐतिहासिक गाथाओं को, अपनी रचनाओं का आधार मानकर उनके द्वारा हृदय के भीतर घुसने की चेष्टा की है, पर इस चेष्टा में उनका ध्यान कथात्मक सौन्दर्य' की ओर अधिक है। अतः इन रचनाओं में कथात्मक सौन्दर्य की ही अवतारणा अधिक हुई है। भाव, कल्पना, और अनुभूति की दृष्टि से इन रचनाओं में अभाव दृष्टिगोचर होता है।

गुप्तजी अपनी रचनाओं के इस अभाव को अपने विकास युग के दूसरे वर्ग में पूर्ण करते हैं, उनके दूसरे वर्ग की रचनाओं में 'साकेत', 'यशोधरा' 'सिद्धराज', 'नहुष', द्वापर' और 'कुणाल गीत' इत्यादि महत्व पूर्ण हैं। गुप्तजी की ये रचनाएँ हृदय के अन्तर्द्वन्द्वों से परिपूर्ण हैं। इनमें वर्णन की न्यूनता और भावों की अधिकता है। गुप्तजी की यही वह रचनाएँ हैं, जिनसे उनके महाकवि-पद की प्रतिस्थापना हुई है। 'साकेत' उनकी सर्वोत्कृष्ट रचना है। यह एक महाकाव्य है, जिसकी रचना राम-कथा के आधार पर की गई है। इसकी सबसे बड़ी विशेषता यह है, कि इसमें कवि ने रामकथा को एक नवीन रूप में सामने उपस्थित किया है। 'साकेत' में राम अवतारी पुरुष होते हुए भी अवतार नहीं हैं। कवि ने साधारण मानव की भाँति ही उन्हें कौटुम्बिक जीवन के बीच में देखा है। राम के साथ ही अन्यान्य पात्रों के चरित्र-विश्लेषण में भी लौकिक दृष्टि की प्रधानता होने के कारण उनमें मानव हृदय के द्वन्द्वों, और संघर्षों का ही चित्रण देखने को मिलता है। 'यशोधरा' कथा काव्य है, जिसमें करुण रस का अच्छा संचार हुआ है। 'यशोधरा' में कवि की कोमल कल्पनाएँ स्थान-स्थान पर मूर्तिमान हो उठी हैं। नारी जीवन का चित्रण कई स्थलों पर मार्मिकता के साथ हुआ है। 'सिद्धराज' ऐतिहासिक खंड काव्य है। इसमें कथा प्रवाह और चित्रांकन की विशेषताएँ हैं। 'नहुष' की कथा पौराणिक है। कथा के

साथ ही हृदय के द्वन्दों का चित्रण इसमें कुशलता के साथ हुआ है। 'द्वापर' में कलात्मकता', और शैली की नूतनता है। 'कुणाल गीत' 'करुण रस' से ओत प्रोत है।

गुप्तजी विभिन्न क्षेत्रों के कवि हैं। उनकी काव्य-कल्पना का क्षेत्र अधिक विस्तृत, और व्यापक है। उन्होंने कई रूपों में अपने भावों, और अनुभूतियों को सँजोया है। उनके प्रत्येक भाव-संयोजन की पृथक-पृथक शैली है। उनकी संपूर्ण शैलियों को हम चार रूपों में विभक्त कर सकते हैं—प्रबन्धात्मक शैली, गीति नाट्य शैली, गीति काव्यात्मक शैली, और उपदेशात्मक शैली। प्रबन्धात्मक शैली दो प्रकार की है। उसका एक रूप वह है, जिसमें उनके खंड काव्यों की रचना हुई है, और दूसरे रूप में उनके महाकाव्य आते हैं। उनकी यह दोनों ही शैलियाँ अधिक आकर्षक, और प्रवाह पूर्ण हैं। उनमें स्वाभाविकता, और मनोवैज्ञानिकता का पूर्ण विकास देखने को मिलता है। गीति नाट्य शैली में नाटकीय कला का अनुसरण किया गया है। 'तिलोत्तमा', 'चंद्रहास', 'यशोधरा', 'सिद्धराज', और 'नहुष' इत्यादि में इसी शैली का विकास हुआ है। गीति काव्यात्मक शैली में उनके गीत हैं, जो प्राचीन ढङ्ग पर लिखे गए हैं। 'झङ्कार' की रचना इसी शैली में हुई है। उनकी यह शैली बड़ी सरस, स्वाभाविक, और अलंकृत है। 'गुरुकुल', 'भारत भारती', 'रंग में भंग', और 'जयद्रथवध' इत्यादि की शैली उपदेशात्मक है। यह बड़ी ओजस्विनी, और प्रभावमयी है। उत्तेजक और मर्म स्पर्शी शब्दों का इसमें अच्छी बहार देखने को मिलती है। गुप्तजी की सभी शैलियाँ बड़ी सरल, संयत, और प्रभावोत्पादक हैं। उनकी शैलियाँ भावों की ओर विशेष रूप से उन्मुख हैं। वे भावों का उन्मेष करती हुई चलती हैं। चमत्कारवादिता, और आडम्बर उसमें नहीं के बराबर है। शैली की भाँति गुप्तजी की भाषा भी अधिक सरल, और स्वाभाविक है। गुप्तजी की भाषा खड़ी बोली है, जो अधिक परिमार्जित, और शुद्ध है। भाषा पर गुप्तजी का आधिपत्य है। वे बड़ी सावधानी के साथ शब्दों का प्रयोग करते हैं। प्रत्येक शब्द पर उनका अनुशासन दिखाई पड़ता है। भाषा की एकरूपता उनकी रचनाओं में सर्वत्र दिखाई पड़ती है। उनकी प्रारंभिक रचनाओं में अवश्य भाषा कुछ पृथक प्रकार की दिखाई पड़ती है, पर विकास काल की रचनाओं में सर्वत्र उसका एक ही स्वरूप मिलता है। गुप्तजी की भाषा संस्कृत का अनुसरण करती है। संस्कृत के तत्सम शब्दों का प्रयोग उनकी भाषा में अधिक मिलता है। कहीं कहीं उन्होंने अप्रचलित और अव्यावहारिक शब्दों का भी प्रयोग किया है। जहाँ ऐसे शब्द प्रयुक्त हुए हैं, उनकी भाषा का प्रवाह मन्द पड़ गया है, और उसके माधुर्य में कमी आ गई है। कहीं कहीं ऐसे भी शब्द मिलते हैं, जो अधिक दुर्बल और घिसे हुए हैं। प्रान्तीय शब्दों को भी उन्होंने अपनी भाषा में स्थान दिया है।

पं० रामचरित उपाध्याय की रचनाएँ दो वर्गों में विभक्त हैं—मुक्तक, और प्रबन्ध काव्य। उनकी मुक्तक रचनाएँ उपदेशात्मक हैं, जिनमें अधिकतर

संस्कृत के नीति-सूत्रों का भावानुवाद है। इन कविताओं में भाव के अंश की अल्पता, और उपदेश की प्रचुरता है। जहाँ कहीं इनकी कल्पना उपदेश के क्षेत्र से पृथक होकर स्वतन्त्र रूप से कवि-कर्म की ओर बढ़ी है, वहाँ भी इनकी रचनाओं में भावोद्रेक नहीं हो सका है। ऐसे स्थलों पर शब्दों में अलङ्कारिकता का चमत्कार उत्पन्न हो गया है, और अलंकारिकता का चमत्कार उत्पन्न हो जाने के कारण वहाँ अर्थ-वैचित्र्य विशेष रूप से लक्षित होता है। उपाध्यायजी की द्वितीय वर्ग की रचना उनका प्रबन्ध काव्य है। उन्होंने एक ही प्रबन्ध काव्य की रचना की है, जिसका नाम है, 'रामचरित चिन्तामणि'। यद्यपि इसकी कथा पुरानी ही है, पर इसमें सरस कल्पना की सुन्दर शैली देखने को मिलती है। इसमें कई स्थलों पर ऐसे संवादात्मक चित्र हैं, जो हृदय को बरबस पकड़ लेते हैं। इसी प्रबन्ध काव्य के कारण उपाध्यायजी को हिन्दी-काव्य जगत में प्रसिद्धि भी प्राप्त हुई है।

श्री लोचन प्रसाद पांडेय में प्रचुर रूप में भावुकता का अंश था। उनकी काव्य-कला का अधिक विकास नहीं हो सका। उनकी जो रचनाएँ मिलती हैं, उनके दो वर्ग हैं—स्फुट, और कथात्मक। उनकी स्फुट रचनाएँ 'सरस्वती' में बराबर प्रकाशित हुआ करती थीं। कथात्मक रचनाओं में उनकी चित्तौड़ के भीमसिंह की काव्यात्मक कथा है, जिनकी रचना नन्ददास की रास पञ्चाध्यायी की शैली पर की गई है। 'भृगी-दुःख मोचन' उनकी सर्वश्रेष्ठ कृति है, जिसमें उनके भावुक हृदय की कवि-कल्पना का सुन्दरता के साथ विकास हुआ है।

द्वितीय उत्थान के अन्यान्य कवि

द्वितीय उत्थान के कवियों की दो श्रेणियाँ हैं। एक श्रेणी में तो वे कवि आते हैं, जिन्होंने द्विवेदीजी के पद-चिह्नों पर चल कर काव्य रचना की है। ऐसे कवियों में श्रीधर पाठक, अयोध्यासिंह उपाध्याय, श्री मैथिलीशरण गुप्त, पं० रामचरित उपाध्याय, और पं० लोचन प्रसाद पांडेय इत्यादि का नाम मुख्य है। द्वितीय श्रेणी में, उन कवियों का नाम आता है, उन्होंने द्विवेदी काल के द्वितीय उत्थान में आविर्भूत होने पर भी उसकी परंपरा और मान्यताओं से अपने को स्वतन्त्र रख कर रचनाएँ की हैं। इन कवियों का अपना कोई निश्चित पन्थ नहीं है। उन्होंने देश और काल से प्रभावित होकर विभिन्न विषयों पर नई, और पुरानी शैलियों में रचनाएँ की हैं। इन कवियों की रचना का विषय स्वदेश प्रेम, स्वजातीय गौरव, त्याग, उदारता, और साहस इत्यादि है। इनमें कुछ कवियों ने ऐतिहासिक, पौराणिक, और काल्पनिक कथाओं के आधार पर कथात्मक काव्यों की भी रचना की है। इस श्रेणी के कवियों में कुछ ऐसे भी कवि पाये जाते हैं, जिन्होंने ब्रजभाषा में भी रचनाएँ की हैं। यहाँ इस श्रेणी के प्रतिनिधि कवियों, और उनकी रचनाओं पर प्रकाश डाला जा रहा है—

रायदेवीप्रसाद 'पूर्ण' की रचनाएँ दो प्रकार की हैं—ब्रजभाषा की, और 'खड़ी बोली' की। विषय की दृष्टि से उनकी दोनों ही प्रकार की रचनाओं में नवीनता है। उनकी जो रचनाएँ 'ब्रजभाषा' में हैं, उनके विषयों में युग की अनुरूपता है।

उन्होंने 'देश भक्ति', और 'राज भक्ति' इत्यादि विषयों पर ही ब्रजभाषा में रचनाएँ की हैं। 'खड़ी बोली' की रचनाएँ दो प्रकार की हैं—'इति वृत्तात्मक', और स्फुट। उनकी इतिवृत्तात्मक रचनाएँ स्वदेशी, और 'देशोद्धार' आदि विषयों पर हैं। स्फुट रचनाएँ विभिन्न विषयों पर हैं, जैसे 'वसन्त वियोग', 'नए सन् का स्वागत', वसन्त वियोग, और अमलतास इत्यादि। 'पूर्णजी' की कविताएँ प्रकृति के चित्रों पर भी प्रतिबिम्ब डालती हैं। 'वसन्त वियोग', और 'अमलतास' में पूर्णजी प्रकृति के भीतर घुस कर उसके चित्र आँकते हुए दृष्टिगोचर होते हैं।

पं० नाथूराम शङ्कर शर्मा की रचनाएँ दो प्रकार की हैं—मुक्तक, और प्रबंधात्मक। उनकी मुक्तक रचनाओं में वे छन्द आते हैं, जिनकी रचना उन्होंने विभिन्न सामाजिक विषयों पर की है। इन रचनाओं में कुछ ऐसी रचनाएँ हैं, जिनकी भाषा ब्रज है। ये उनकी प्रारंभिक रचनाएँ हैं, जो अधिकांश समस्या पूर्तियों के रूप में हैं। ब्रजभाषा की उनकी समस्या पूर्तियों के विषय 'वियोग', और प्रेम इत्यादि हैं। खड़ी बोली की स्फुट रचनाएँ सामाजिक विषयों को आधार मान कर की गई हैं। इन रचनाओं में व्यंग्य और कटाक्ष का कहीं कहीं अच्छा समावेश हुआ है। उन्होंने प्रबन्ध काव्य भी लिखा है, जिसका नाम गर्भ रंडा रहस्य है। इसमें विधवाओं की दयनीय अवस्था के चित्रण के साथ ही साथ देवालयों में होने वाले अनाचारों का भी वर्णन किया गया है।

पं० गयाप्रसाद शुक्ल 'सनेही' राष्ट्रवादी कवि हैं। काव्य जगत में उनके दो उपनाम हैं—'सनेही', और 'त्रिशूल'। नाम के ही अनुरूप उनकी दो प्रकार की रचनाएँ भी हैं। 'सनेही' के नाम से उन्होंने जो रचनाएँ की हैं, उनमें 'प्रेम' इत्यादि भावों का विकास हुआ है। ये रचनाएँ 'भाव जगत' की ओर उन्मुख हैं। 'त्रिशूल' के नाम से उन्होंने राष्ट्रीय रचनाएँ की हैं, जिनमें साहस, और वीरता पूर्ण चित्र मिलते हैं।

पं० रामनरेशत्रिपाठी द्विवेदी युग के प्रमुख कवि हैं। उनमें मौलिकता है, विशिष्टता है। उनके पूर्व कविता का आधार पौराणिक विषय, ऐतिहासिक वृत्त, और प्रसिद्ध व्यक्तियों का जीवन था। त्रिपाठीजी के पूर्ववर्ती सभी कवियों ने इन्हीं विषयों को आधार मान कर अपनी रचना का शृंगार किया है। किन्तु त्रिपाठीजी ने उनसे पृथक अपने लिए नवीन विषयों की खोज की है। त्रिपाठीजी की रचनाएँ स्वदेश प्रेम व्यक्तिगत कर्त्तव्य, और प्रकृति-सुषमा पर आधारित हैं। उनकी रचनाओं के पात्र काल्पनिक हैं, जो युग की आकांक्षाओं के साँचे में ढले हुए हैं। उनके पात्रों का चरित्र आदर्श है। उनमें स्वदेश सेवा के लिए त्याग, और मर मिटने की भावना है।

त्रिपाठीजी की रचनाएँ दो प्रकार की हैं—इतिवृत्तात्मक, और मुक्तक। उनकी

इतिवृत्तात्मक रचनाओं में स्वप्न, मिलन, और पथिक की गणना की जाती है। स्वप्न, मिलन, और पथिक तीनों ही खंड काव्य हैं। खंड काव्य के क्षेत्र में त्रिपाठीजी सर्वथा मौलिक हैं। उन्होंने उन परम्पराओं से, जो अब तक खंड काव्य के लिए प्रचलित थीं, पृथक रह कर ही अपने खंड काव्यों का निर्माण किया है। उनके सभी खंड काव्यों के पात्र काल्पनिक हैं। उन्होंने अपने काल्पनिक पात्रों के द्वारा युग की आकांक्षाओं की सृष्टि की है। उनके पात्र युग को ही सामने उपस्थित करते हैं। उनके पात्रों का एक ध्येय है—एक लक्ष्य है, और वह है स्वदेश प्रेम तथा देश सेवा। स्वदेश प्रेम और देश-सेवा के ही गीत उनके पात्र गाते हैं। स्वदेश प्रेम और देश सेवा के लिए उनके पात्रों में 'त्याग', और 'उत्सर्ग' की भावनाएँ भी हैं। इस प्रकार त्रिपाठीजी के खंड काव्यों में राष्ट्रीयता केन्द्रित हो उठी है। उन्होंने उनमें राष्ट्रीयता को ही परिपुष्ट करने का प्रयत्न किया है। उनकी राष्ट्रीयता 'गाँधी वाद' से प्रभावित है। वे अपनी राष्ट्रीयता के क्षेत्र में गाँधीजी के ही आदर्शों की स्थापना करते हैं। उनकी दूसरी प्रकार की रचनाएँ मुक्तक रचनाएँ हैं, जो 'मानसी' में संगृहीत हैं। उनकी मुक्तक रचनाओं में नवीन, और प्राचीन दोनों ही पद्धतियों का समावेश है। उन्होंने नीति सम्बन्धी रचनाएँ भी की हैं, और सूक्तियों का भी निर्माण किया है। सामाजिक विषयों पर भी उन्होंने मुक्तक रचनाएँ लिखी हैं, जिनमें 'हास्य रस' की अवतारणा हुई है। ऐसी भी उनकी रचनाएँ हैं, जो समवेदनामूलक हैं। समवेदना मूलक रचनाओं में भावों की विभोरता, और आत्मा की तल्लीनता है। इस कोटि की रचनाओं में अब तब त्रिपाठीजी ने 'छायावादी' शैली को ग्रहण किया है।

त्रिपाठीजी ने गद्य, और पद्य—दोनों ही क्षेत्रों में सुकीर्ति प्राप्त की है। उन्होंने नाटकों, उपन्यासों, और कहानियों की भी रचना की है। आलोचनात्मक ग्रन्थ भी उनके द्वारा लिखे गए हैं। उनमें गम्भीर, और सरल दोनों ही प्रकार के साहित्य-सृजन की शक्ति है। उन्होंने जहाँ आलोचनात्मक ग्रन्थ लिखे हैं, वहाँ बाल-साहित्य की रचना भी उनके द्वारा हुई है। त्रिपाठीजी भाषा के आचार्य हैं। वर्तमान लेखकों में वे सर्वाधिक भाषा पर ध्यान देते हैं। उनकी भाषा शुद्ध, और परिमार्जित है। वे अपनी भाषा में व्याकरण के नियमों पर पूर्ण रूप से ध्यान देते हैं। उनकी वाक्य रचना व्याकरण के नियमों से अनुशासित रहती है।

स्वर्गीय लाला भगवानदीन की रचनाएँ दो प्रकार की हैं—व्रजभाषा की, और खड़ी बोली की। उनकी व्रजभाषा की रचनाएँ उनके प्रारंभिक जीवन की रचनाएँ हैं, जिन पर प्राचीन शैली की छाप है। उनकी खड़ी बोली की रचनाओं में उनका 'वीर पञ्च रत्न' अधिक प्रसिद्ध है। इसमें वीरता पूर्ण भावों के ऐसे मर्म स्पर्शी चित्र मिलते हैं, जो रगों में स्फूर्ति का संचार कर देते हैं। शैली इसकी उर्दू मिश्रित है, जो अधिक प्रवाहमयी है। इनकी कृतियों में ऐसी रचनाएँ अधिक हैं, जो इनके ज्ञान को प्रगट करती हैं। काव्य के तत्त्व की अपेक्षा इनमें ज्ञान के तत्त्व अधिक

मिलते हैं। इन्होंने कई काव्य ग्रन्थों की टीकाएँ की हैं, और प्राचीन शैली पर काव्य के अंगों पर प्रकाश भी डाला है।

पं० रूपनारायण पांडेय दो रूपों में प्रसिद्ध हैं—अनुवादक के रूप में, और कवि के रूप में। उन्होंने बँगला और अँगरेजी के कई ग्रन्थों का हिन्दी में अनुवाद किया है। कविता के क्षेत्र में इनकी काव्य-प्रतिभा का पूर्ण रूप से विकास नहीं हो सका है। इनकी जो कविताएँ सामने हैं, उनसे उनके हृदय की 'सरसता', और 'भावुकता' की झलक मिलती है। इनकी कविताओं का संग्रह 'पराग' नाम से प्रकाशित हुआ है।

स्वर्गीय पं० सत्यनारायण 'कविरत्न' ब्रजभाषा के पुजारी थे। द्विवेदी काल के इस द्वितीय उत्थान में उन्होंने ब्रजभाषा की सरस धारा प्रवाहित करके एक बार पुनः उसकी स्मृति काव्य-प्रेमियों के हृदय के भीतर जागृत कर दी है। उनकी ब्रज-भाषा बड़ी सरस, सुन्दर, और प्रवाहमयी है। वह अपनी परंपराओं से मुक्त एक स्वतन्त्र मार्ग का अवलम्बन करती हुई दृष्टिगोचर होती है। उसका झुकाव बोल चाल, और व्यावहारिकता की ओर अधिक है। उसमें ऐसे रूपों और शब्दों का प्रयोग किया गया है, जिनका प्रयोग अभी तक ब्रजभाषा में नहीं हुआ था। जिस प्रकार कविरत्न की भाषा नवीन और स्वतन्त्र है, उसी प्रकार उनके विषय भी नवीन, और स्वतन्त्र हैं। 'कविरत्नजी' ने अपनी ब्रजभाषा में जिन विषयों का कविता के रूप में 'गुंफन' किया है, वे या तो भक्ति संबंधी हैं, और या सामयिक हैं। दोनों ही प्रकार के विषयों का चित्रण उन्होंने स्वाभाविकता, सरसता, और तल्लीनता के साथ किया है। 'प्रेमकली' और 'भ्रमर दूत' इनकी सर्वोत्कृष्ट रचनाएँ हैं। उन्होंने 'उत्तर रामचरित' और 'मालती माधव' का अनुवाद भी किया है, जिनमें उनकी काव्य-कल्पना के सरस और मधुर चित्र सर्वत्रों के रूप में मिलते हैं।

हिन्दी कविता का तीसरा चरण, जिसे तृतीय उत्थान कहते हैं, संवत् १९७५ से प्रारम्भ होता है। इस तृतीय उत्थान में हिन्दी कविता प्रत्येक दृष्टि से सुगठित, सुव्यवस्थित हुई है। आज हिन्दी कविता के आँगन में जो स्वर्णिम रश्मियाँ दौड़ रही हैं, इस तृतीय उत्थान की ही स्वर्ण रश्मियाँ हैं। तृतीय उत्थान से ही हिन्दी कविता उस क्षेत्र की ओर अग्रसर हुई है, जिसे हम विश्व काव्य का क्षेत्र कह सकते हैं; दूसरे शब्दों में तृतीय उत्थान में ही हिन्दी कविता वस्तु वर्णनों, और पिंगल के कठिन नियमों के जाल से निकल कर भाव जगत की ओर मुक्त गति से अग्रसर हुई है। इस तृतीय उत्थान में हिन्दी कविता की गति विश्वव्यक्ति की ओर उन्मुख है। वह देश, और काल की सीमा के बन्धनों को तोड़ कर, मानव हृदय के द्वन्द्वों और अन्तर्जगत के चित्रों के साथ अभिनय करती हुई दृष्टिगोचर होती है। द्वितीय उत्थान में जहाँ वह बाह्य जगत के दृश्यों में उलझी हुई थी, और जहाँ उसकी दृष्टि केवल वर्णन की ओर थी; वहाँ तीसरे उत्थान में वह मानव हृदय में प्रवेश करके जीवन की गुत्थियों को सुल-झाने में तन्मय है, और उसकी दृष्टि अन्तर्भेदिनी हो गई है। भाव, भाषा, शैली,

छन्द-प्रत्येक दृष्टि से हिन्दी कविता तृतीय उत्थान में विश्व काव्यत्व की ओर बढ़ती हुई जान पड़ती है। प्रत्येक क्षेत्र में उसके उठते हुए चरण में स्वतन्त्रता, और मुक्तता है। कोई कह नहीं सकता, कि इसकी स्वतन्त्रता, और मुक्तता में गंभीरता नहीं है; क्योंकि उसके मुक्त, और स्वतन्त्र चरणों के उठने से, हिन्दी काव्य जगत में खंड काव्यों, प्रबन्ध काव्यों के रूप में जो चिह्न बने हैं, या बन रहे हैं, उनमें स्थायित्व है—अमरता है। अतः मानना ही पड़ेगा, कि हिन्दी कविता का मुक्त और अबाध चरण जिस दिशा की ओर उठ रहा है, वह उसकी उन्नति, और महा-मंगल की ही दिशा है।

हिन्दी-कविता के तृतीय उत्थान के चित्र पर प्रकाश डालने के पूर्व एक बार पुनः द्वितीय उत्थान, अर्थात् द्विवेदी काल की रचनाओं पर दृष्टि डाल लेना चाहिए। इससे एक ओर तो द्विवेदी काल की कविता की प्रवृत्ति समझ में आ जायगी, और दूसरी ओर वे कारण भी स्पष्ट हो जायँगे, जिनके परिणाम स्वरूप तृतीय उत्थान की विश्व काव्य की ओर उन्मुख होने वाली कविता का जन्म हुआ है। द्वितीय उत्थान की हिन्दी कविता एक सीमा में आबद्ध थी। प्रायः सभी कवियों की दृष्टि, द्वितीय उत्थान में, वस्तुओं और विषयों के बाह्य वर्णन की ओर ही रही है। अन्तर्भेदिनी दृष्टि का अभाव द्वितीय उत्थान के सभी कवियों में पाया जाता है। यद्यपि द्विवेदी काल में खंड काव्यों और प्रबन्ध काव्यों की भी रचना हुई है, पर उन खंड काव्यों और प्रबन्ध काव्यों में वर्णन की ही प्रचुरता है। उनके इतिवृत्त ऐतिहासिक, और पौरा-णिक हैं, जिनमें या तो उपदेश की भावना है, और या 'आदर्श' के विकास की आकांक्षा। मुक्तक, खंड काव्य और प्रबन्ध काव्य—प्रत्येक क्षेत्र में द्विवेदी काल की कविता भाषण, और उपदेश की ही ओर उन्मुख है। इस रूप में यह कहा जा सकता है, कि वह एक सीमा में आबद्ध थी। इस युग की कविताओं में भावना, और अनु-भूति का अभाव है। मानव जीवन और हृदय के अन्तर्द्वन्दों से इस युग की कविता अपरिचित है। भावनाओं, अनुभूतियों, और अन्तर्जगत के चित्रों से अनभिज्ञ होने के कारण शैली के क्षेत्र में भी इस युग की कविता का परिष्कार नहीं हो सका है। द्विवेदीजी द्वारा आविष्कृत शैली ही इस युग की रचनाओं में बार-बार दृष्टिगोचर होती है। सभी कवियों के कथन, और भाषण का एक ही ढंग है। ऐसा ज्ञात होता है, मानों किसी के पास अपनी सूझ-बूझ नहीं है, और यदि है भी तो वह उससे काम लेना नहीं चाहता। सभी कवि आँखें बन्द करके एक ही मार्ग पर चलते हुए दृष्टिगोचर होते हैं। भाषा की दृष्टि से भी द्विवेदी काल के कवियों में मौलिकता नहीं दिखाई पड़ती है। द्विवेदीजी ने जिस भाषा के पन्थ का आविष्कार किया था, उनके पश्चात् के सभी कवियों ने उसी भाषा का प्रयोग अपनी रचनाओं में किया है। द्विवेदी काल के दो ऐसे कवि हैं, जिन्हें हम उस काल का प्रतिनिधि कवि कह सकते हैं—पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय, और श्री मैथिलीशरण गुप्त। पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय की भाषा संस्कृत पदावलियों से युक्त है। उसमें शब्दों की प्रधानता है।

उसे देख कर ऐसा ज्ञात होता है, मानों उसका ध्यान संस्कृत के सरस शब्दों का भंडार भरने की ही ओर विशेष रूप से हो। श्री मैथिलीशरण गुप्त भाषा के क्षेत्र में अवश्य अग्रसर दिखाई पड़ते हैं। 'साकेत' में उनकी भाषा ऐसी है, जो भावोन्मुख जान पड़ती है। उनके शेष काव्य-ग्रन्थों में द्विवेदी काल की ही भाषा का विकास हुआ है। द्विवेदी काल की कवि मान्यताएँ भी पुरानी ही हैं। अतः कल्पना के क्षेत्र में भी द्विवेदी काल के कवि प्राचीनता की सीमा से बाहर नहीं निकल सके हैं। द्विवेदी काल के कवियों ने छन्दों के नियमों का पालन मुख्य रूप से किया है। उनकी रचनाएँ छन्दों की सीमा के भीतर घिरी हुई हैं। छन्द या तो संस्कृत के हैं, या पुराने हिन्दी काव्य के। छन्दों के नियमों के परिपालन से कविता के प्रवाह में 'व्यवस्था', और 'क्रमता' अवश्य दिखाई पड़ती है, पर इसमें सन्देह नहीं, कि भाव की दृष्टि से उसका विकास नहीं हो सका है। अधिकांश कवि छन्दों के नियमों की पूर्ति, और 'तुकों' के अनुसन्धान की चिन्ता में ही व्यस्त जान पड़ते हैं।

द्वितीय उत्थान हिन्दी कविता की दूसरी सीढ़ी है। इस सीढ़ी पर बैठ कर हिन्दी कवि ने जो रचना की है, उसमें भावना की कमी, और भाषण की प्रधानता है। किन्तु साथ ही इस बात का भी पता चलता है, कि उसकी दृष्टि में तीव्रता है। यद्यपि उसकी दृष्टि बाह्य जगत के दृश्यों में ही उलझी हुई है, पर उसमें 'असंतोष' भी है। द्वितीय उत्थान के अन्तिम चरण में कविता की आराधना करने वाले गुप्त जी की रचनाओं में स्पष्टतः यह असंतोष जाग्रत हो उठा है। गुप्तजी की रचनाओं में ही उस युग की सूचना विद्यमान है, जिसे हम हिन्दी कविता का तृतीय उत्थान कहते हैं। हिन्दी कविता के तृतीय उत्थान के बहुत पूर्व ही अँगरेजी और बँगला इत्यादि साहित्य से हिन्दी का विशेष सानिद्ध्य हो चुका था। विश्व-साहित्य की कई दूसरी भाषाओं की निधियाँ भी हिन्दी के कवियों के संमुख आ चुकी थीं। इसमें सन्देह नहीं, कि तृतीय उत्थान की कविता अँगरेजी और बँगला की कविता से प्रभावित हुई, पर उसमें जो परिवर्तन हुआ, उसका मुख्य कारण तो वह प्रवाह है, जो द्विवेदी काल में नियमों, और मान्यताओं की शिलाओं से अवरुद्ध कर दिया गया था। तृतीय उत्थान के आदि काल में ही हिन्दी कविता का वह अवरुद्ध प्रवाह अपने मार्ग के शिला खंडों को हटाता हुआ पूर्ण वेग से प्रवाहित हो चला है। उसकी गति निराली है। द्विवेदी काल में जहाँ वह बाह्य जगत के दृश्यों में उलझा हुआ था, वहाँ अब उसकी गति अन्तर्जगत की ओर उन्मुख है। अब वह पूर्ण गति से अन्तर्जगत की ओर दौड़ रहा है। अब उसके मार्ग में भावनाओं, और अनुभूतियों के ही चिह्न बन रहे हैं। अब उसकी तरंगों में जीवन, और मानव हृदय के द्वन्द उल्लसित हो रहे हैं। अब वह प्रकृति के दृश्यों में भी जीवन की खोज कर रहा है, और जीवन में भी प्रकृति की तलाश कर रहा है। अब उसे प्रकृति में—जीवन में एक ऐसे सौन्दर्य की खोज है, जो नित्य नूतन है, शाश्वत है; दूसरे शब्दों में तृतीय धारा की कविता की दृष्टि पूर्ण रूप से बदली हुई है। उसकी दृष्टि में पार्थिव

सौन्दर्य का कोई मूल्य नहीं है—वह अब पार्थिक दृश्यों में भी शाश्वत सौन्दर्य की खोज करती है। अब वह पूर्ण रूप से अनुभूति मय है। उसकी अनुभूति को ग्रहण करने में जब प्राचीन परम्पराओं, और मान्यताओं ने असमर्थता प्रगट की, तब उसने बिना किसी सङ्कोच के पुरानी परम्पराओं, और मान्यताओं के किले को तोड़ दिया। उसने अपनी भावनाओं, और अनुभूतियों के अनुरूप ही भाषा, शैली, कल्पना, और शब्द विधानों का निर्माण किया। भावनाओं के अनुरूप ही उसकी भाषा अब लाक्षणिकता, और सांकेतिकता की ओर अग्रसर हुई। अब वह अपनी भाषा के शब्द-विधान में 'वक्रता' और 'रहस्यात्मकता' से काम लेती है। शब्दों के प्रयोग में अब वह शाब्दिक अर्थ पर नहीं जाती, वरन् उस ध्वनि पर जाती है; जो शब्द के भीतर छिपी रहती है। भाषा की भाँति ही उसकी शैली भी लाक्षणिक और सांकेतिक है। कल्पनाएँ भी उसकी अब नवीन हैं, जिनमें लाक्षणिकता और वक्रता का समावेश है। भावों और अनुभूतियों के चित्रण में उसने नई नई उपमाओं और उत्प्रेक्षाओं से भी काम लेना प्रारम्भ कर दिया है। छन्दों के जगत में तो उसने आमूल परिवर्तन कर दिया है। अब उसकी दृष्टि छन्दों के नियमों की पूर्ति, और 'तुकों' पर नहीं है। अब वह पूर्ण रूप से अनुभूति, और भावमय है। उसकी प्रबल अनुभूति और भाव-धारा ने छन्दों की शृंखला को तोड़ कर चूर चूर कर दिया है। अब वह छन्दों की शृंखला से उन्मुक्त—स्वतन्त्र गति से कल्पना जगत में विचरण करती है। पहले उसकी गति में अबाधता और उच्छृंखलता अवश्य थी, पर अब वह संगीतात्मकता के अधिक निकट है। इधर कुछ वर्षों से उसमें प्रगीतों की अधिक सृष्टि हुई है। इससे दो बातों का पता चलता है। एक तो यह, कि हिन्दी-कविता भावनाओं, और अनुभूति की ओर अधिक अग्रसर हो रही है, और दूसरी यह, कि वह 'संगीतमय' हो रही है। यह दोनों ही संकेत हिन्दी-कविता की उन्नति, और मंगल के लक्षण हैं।

तृतीय उत्थान की हिन्दी-कविता कई सिद्धान्तों के घेरे में पल रही है। यद्यपि 'वादों' के घेरे में पड़ने के कारण 'कविता' के महत्व को नष्ट हो जाने की आशंका है, पर यदि हिन्दी-कविता में प्रचलित सभी 'वादों' को मिलाकर समष्टि रूप से हिन्दी कविता की समीक्षा की जाय तो बिना किसी संकोच के यह कहना पड़ेगा, कि आज की हिन्दी कविता में जीवन पूर्ण रूप से प्रतिफलित हो रहा है; क्योंकि आज की हिन्दी-कविता जिन 'वादों', और 'सिद्धान्तों' के परिणाम स्वरूप जन्म धारण कर रही हैं, उन 'वादों' और 'सिद्धांतों' का आज के जीवन से अधिक घनिष्ठ सम्बन्ध है। अतः तृतीय उत्थान की हिन्दी कविता को समझने के लिए इन 'वादों' और 'सिद्धान्तों' पर भी प्रकाश डालना उचित होगा। क्योंकि तृतीय उत्थान की सम्पूर्ण रचनाएँ इन्हीं 'वादों', और 'सिद्धान्तों' के परिणाम स्वरूप अस्तित्व में आई, और आ रही हैं।

आज की हिन्दी कविता कई प्रकार के वादों, और सिद्धांतों से उत्प्रेरित है। तृतीय उत्थान के प्रारम्भ से ही इन 'वादों' ने हिन्दी कविता को प्रभावित करना

हिन्दी कविता में वाद अभिव्यंजनवाद

प्रारम्भ कर दिया है। यहाँ उन मुख्य 'वादों' पर प्रकाश डालने का प्रयत्न किया जायगा, जिनसे आज की हिन्दी-कविता अधिक उत्प्रेरित और प्रभावित हो रही है। उन वादों के नाम इस प्रकार हैं—अभिव्यञ्जनवाद, उपयोगितावाद, व्यक्ति वैचित्र्यवाद, यथार्थवाद, आदर्शवाद, समाजवाद, गाँधीवाद, रहस्यवाद, छायावाद, प्रगतिवाद, और प्रयोगवाद। सर्व प्रथम हम अभिव्यञ्जनवाद को लेते हैं। 'अभिव्यंजनावाद' एक विदेशी सिद्धांत है। इस सिद्धान्त का जन्मदाता इटली का दार्शनिक विद्वान क्रौंचे है। क्रौंचे ने अपने इस सिद्धान्त के अनुसार 'कल्पना' को ही प्रधानता प्रदान की है। क्रौंचे का कथन है, कि 'व्यंजना' का मूल कारण कवि की कल्पना है, जो उसके काव्य के भीतर विद्यमान रहती है। उसका मत है, कि कवि के द्वारा जो वस्तु बाहर प्रकाश में आती है, वह कवि की कल्पना ही है। क्रौंचे वस्तु को प्रधानता नहीं देता; वह प्रधानता प्रदान करता है, कवि की कल्पना को उसकी दृष्टि में कवि की कल्पना कला एक आंतरिक शक्ति है, जो सौंदर्य के रूप में प्रगट होती है। सौंदर्य 'सौंदर्य' है; इसलिए क्रौंचे कला के वर्गीकरण में भी विश्वास नहीं करता। उसकी धारणा है, कि कला छोटी बड़ी नहीं हो सकती। 'कला' तो 'कला' है। उसमें छोटे-बड़े का भेद कैसा! वह 'कला' को एक असीमता के क्षेत्र में देखता है। वह चाहता है, कि कवि की उस कला को, जो असीमता के क्षेत्र में निवास करती है, पाठक भी उसे असीमता के क्षेत्र में देखे। जिस प्रकार वह 'कला' में छोटाई-बड़ाई का अनुभव नहीं करता, उसी प्रकार वह पाठक को भी इस 'भेद' से पृथक करके उसे एक समभूमि पर खड़ा करना चाहता है। वह चाहता है, कि कलाकार की भाँति पाठक का हृदय भी परिष्कृत हो। इस प्रकार वह 'कलाकार', और पाठक—दोनों को 'परिष्कृत' भूमि पर स्थित करके दोनों की प्रतिभा का कुशलता से संयोग स्थापित करना चाहता है। क्रौंचे का एक मात्र उद्देश्य है, सौन्दर्य की अभिव्यक्ति। वह अपने 'सौंदर्य' को 'सौंदर्य' के ही रूप में रखना चाहता है। उसके 'सौन्दर्य' में नीति, और 'हित' के लिए कोई स्थान ही नहीं है। 'क्रौंचे' का अभिव्यंजनवाद 'कुंतक' के 'वक्रोक्तिवाद' से कुछ कुछ मिलता है। जिस प्रकार 'कुंतक' अपने 'वक्रोक्तिवाद' में वक्रोक्तियों के द्वारा सौन्दर्याभिव्यक्ति करता है, उसी प्रकार क्रौंचे के 'अभिव्यंजनवाद' में भी सौन्दर्य की अभिव्यक्ति वक्रोक्तियों के ही द्वारा होती है। पर दोनों की सौंदर्यानुभूति में अन्तर है। क्रौंचे की सौंदर्यानुभूति केवल सौंदर्य के पक्ष में है; पर कुंतक की सौंदर्यानुभूति में सौंदर्य के साथ ही साथ 'हित' भी विराजमान है। इस प्रकार दोनों की अभिव्यक्ति का एक ही ढंग होने पर भी दोनों की अपनी पृथक-पृथक दिशाएँ बन गई हैं। हिन्दी कविता में क्रौंचे का 'अभिव्यंजनवाद' किसी किसी की रचना में पूर्ण रूप से प्रतिफलित हुआ है। 'प्रसादजी' की रचनाओं में अभिव्यंजनवाद की अच्छी झलक देखने को मिलती है। श्रीमती महादेवी वर्मा,

'निराला' और 'पन्त' की रचनाओं में भी अभिव्यञ्जनवाद की झलक मिलती है।

'उपयोगितावाद' का क्षेत्र अधिक असीमित है। 'उपयोगितावाद' जब अपनी उच्चता में रहता है, तो संपूर्ण कलाओं का उसकी सीमा के भीतर समावेश हो जाता

उपयोगितावाद

है। क्योंकि जो 'कलाएँ' हैं, वे 'जीवन' के लिए हैं, और जब 'जीवन' के लिए हैं, तब उनका उपयोग किसी न किसी उद्देश्य की पूर्ति करता है। किन्तु आज कल के 'उपयोगितावादी' उपयोगितावाद का व्यापार जिस धरातल पर करते हैं, वह आवश्यकताओं की पूर्ति, और 'लाभ' के तत्वों से बना हुआ है। वे अपने 'उपयोगितावाद' में वस्तु को महत्व उसके उपयोग की मात्रा पर ही देते हैं। उनकी दृष्टि वस्तु के सौन्दर्य पर नहीं, वस्तु के उपयोग पर ही केन्द्रित रहती है। वे सौंदर्य का अनुभव वस्तु की उपयोगिता में ही करते हैं। उनकी दृष्टि में वही वस्तु सुन्दर है, जो उपयोगी है। 'सत्य' का भी दर्शन वे उपयोगिता में ही करते हैं। इस प्रकार उनकी दृष्टि विशुद्ध रूप से 'लाभ', और आवश्यकताओं की पूर्ति पर ही केन्द्रित रहती है। क्रौंचे के 'कलावाद' और उपयोगिता में अधिक अन्तर है। क्रौंचे के 'कलावाद' में जहाँ 'कला' मुख्य है, वहाँ उपयोगितावाद में 'लाभ कारिता' को महत्व प्रदान किया जाता है। पर अन्तर होते हुए भी क्रौंचे के 'कलावाद' और 'उपयोगितावाद' में समन्वय किया जा सकता है। 'भारतीय साहित्य' में इस प्रकार का समन्वय भली भाँति देखने को मिलता है। यदि सूक्ष्म दृष्टि से विचार किया जाय तो जीवन में स्थल-स्थल पर दोनों के समन्वय के चित्र दिखाई पड़ेंगे। मेरी समझ में दोनों 'वादों' के समन्वय से ही जीवन के सुन्दर चित्रों का निर्माण भी हो सकेगा।

हिन्दी में कई ऐसे प्रगतिशील कलाकार हैं, जो अपने को विशुद्ध उपयोगितावादी कहते हैं। इन कलाकारों में भगवतीचरण वर्मा, इलाचन्द्रजोशी, और अज्ञेय इत्यादि का मुख्य स्थान है।

'व्यक्ति वैचित्र्यवाद' का संबन्ध कवि के व्यक्तिगत जीवन से होता है। यद्यपि कवि समष्टि का प्रतिनिधि होता है, यद्यपि वह वादों और सिद्धांतों के रूप में समष्टि

व्यक्ति वैचित्र्यवाद

के भावों के ही चित्र अंकित करता है, पर उसके अंकन में उसका अपना व्यक्तित्व होता है। यों तो प्रत्येक कवि के रचना-व्यापार में उसका व्यक्तित्व अन्तर्निहित रहता है, पर कोई कोई भावुकवादी कलाकार ऐसे होते हैं, जो अपने हृदय के दर्पण में ही जीवन, प्रकृति और विश्व को देखते हैं। उनके हृदय की अनुभूतियाँ और भावनाएँ, जो उनके जीवन से ही संबन्ध रखती हैं, इतनी प्रबल और वेगमयी होती हैं, कि अपनी गति में संपूर्ण संसार को समेट लेती हैं। उनकी वेदना, उनका विरह, उनका प्रेम, और उनका संयोग इतना ऊँचा होता है कि उसमें विश्व की वेदना, विश्व का प्रेम, और विश्व का विरह समाविष्ट हो जाता है। इस प्रकार के कलाकार प्रायः दार्शनिक और अद्वैतवादी हुआ करते हैं। साधारण

पाठकों की दृष्टि में, उनके व्यक्तिवाद में भले ही लघुता दिखाई पड़ती हो; पर इसमें संदेह नहीं, कि उनके व्यक्तिवाद के द्वारा जिस समष्टिवाद की सृष्टि होती है, उसका काव्य जगत में अधिक महत्त्वपूर्ण स्थान होता है। आज की हिन्दी कविता में व्यक्ति वैचित्र्यवाद के दृष्टांत प्रचुरता से पाये जाते हैं, पर उन सब में श्रीमती महादेवी वर्मा जी की रचनाएँ अग्रणी हैं। व्यक्ति वैचित्र्यवाद अपनी जिन विशेषताओं के कारण काव्य में समादृत है, उसकी वे विशेषताएँ श्रीमती महादेवीजी की रचनाओं में वास्तविक रूप में प्रतिफलित हुई हैं।

यथार्थवाद

यथार्थवाद को तथ्यवाद भी कहते हैं। यथार्थवाद 'तथ्य' पर आधारित है। देखने और कहने में यथार्थवाद अधिक सरल है, पर वास्तव में यह अधिक गूढ़ और गहन है। यथार्थ और तथ्य क्या है—इसकी परख क्या सभी लोगों को सहज में हो सकती है? क्या सबके पास ऐसी प्रतिभा है, जो तथ्य और यथार्थ का स्पर्श कर सके। तथ्य और यथार्थ का बोध एक समान नहीं हो सकता। किसी वस्तु या विषय में तथ्य और यथार्थ का बोध लोगों को अपने अपने दृष्टिकोण के अनुसार ही होता है। लोग अपने अपने दृष्टिकोण के अनुसार तथ्य और यथार्थ की परिभाषा भी निश्चित करते हैं। यही कारण है, कि यथार्थवाद की परिभाषा के क्षेत्र में लोग आज तक एक मत नहीं हो सके। यथार्थवाद की लोगों की अपनी अपनी विभिन्न परिभाषाएँ, और उसके संबन्ध में लोगों का अपना अपना विभिन्न दृष्टिकोण है। भारतीय आचार्यों के अनुसार यथार्थ और तथ्य की संज्ञा उसी को दी जाती है, जो अपने आप से ही प्रमाणित और सिद्ध होता है। उसके सम्बन्ध में यह नहीं कहा जा सकता कि वह आदर्श से पृथक होता है और उसके संबन्ध में यह भी नहीं कहा जा सकता, कि उसमें हितम् और कल्याण की भावना नहीं होती। पर आज कल हमारे सम्मुख जो यथार्थवाद है, उसकी भित्ति एक दूसरे ही पृष्ठभूमि पर तैयार की जा रही है। आजकल के यथार्थवाद की कोई रूप रेखा नहीं है। इसका एक मात्र कारण यही है, कि वर्तमान काल में अधिकांश लोग जो अपने को यथार्थवादी कहते हैं, यथार्थ के तथ्य को ग्रहण करने में प्रायः असमर्थ होते हैं। आज कल लोग यथार्थवाद का दर्शन भौतिकता के पंक, और नरक की ज्वाला में ही करते हैं। आज कल के यथार्थवादियों की दृष्टि केवल अभाव की ही ओर जाती है। वे वस्तु, विषय, और व्यक्ति में केवल उन्हीं तत्त्वों को ढूँढ़ते हैं, जो उसकी दुर्बलता के रूप में उसके भीतर समाविष्ट रहते हैं।

यथार्थवादी रचनाएँ भाँति-भाँति की मानवी दुर्बलताओं की ही पृष्ठभूमि पर खड़ी की जाती हैं। मानवी दुर्बलताओं के वे चित्र व्यक्ति, समाज, और जीवन के लिए हितकर होंगे या नहीं—इस ओर यथार्थवादी कलाकार की दृष्टि नहीं जाती। उसकी दृष्टि केवल अभावों, विकृतियों, और दोषों के चित्रण ही की ओर रहती है। वह साधारण मनुष्यों में तो अभाव की खोज करता ही है, उन आदर्श पुरुषों में भी वह अभाव ही खोजता है, जो समाज, राष्ट्र, और जीवन के स्तम्भ कहे जाते हैं।

जैसे—राम, और कृष्ण इत्यादि। हिन्दी कविता-जगत में इस प्रकार की यथार्थवादी रचनाओं की कमी नहीं है। आज के अधिकांश युवक कवि अपने को यथार्थवादी और तथ्यवादी कहते हैं। श्री भगवतीचरण वर्मा, श्री अज्ञेय इत्यादि इस प्रकार के कवियों का प्रतिनिधित्व करते हैं।

आज का युग वैज्ञानिक, और राजनैतिक युग है। आज का मानव जो कुछ भी सोचता है, और जो कुछ भी करता है, राजनीतिक दृष्टि से ही करता है। आज के

आदर्शवाद

मानव की दृष्टि पूर्ण रूप से भौतिक विषयों पर केन्द्रित है। आज रोटी, वस्त्र, अधिकार, अर्थ, और भूमि ही उसके जीवन के मुख्य विषय हैं। किस प्रकार अधिक से अधिक ऐहिक सुख प्राप्त हो सकता है; किस प्रकार अधिक से अधिक ऐहिक कामनाओं की पूर्ति हो सकती है—आज का मानव दिन रात इसी चिन्ता में व्यस्त रहता है। इसके आगे जीवन का कुछ ध्येय है—उसका कुछ लक्ष्य है, आज का मनुष्य इस बात पर विचार भी नहीं करता। अधिकार, वस्त्र, और अर्थों की झंकार के श्रवण में व्यस्त रहने वाला मनुष्य 'आदर्शवाद' की आज बात भी नहीं करता। पर आदर्शवाद वास्तव में क्या बुरी वस्तु है? आदर्शवाद की अच्छाइयों और बुराइयों पर विचार करने के पूर्व आदर्शवाद क्या है—इसको समझ लेना चाहिए। सृष्टि में मानव जीवन का एक ध्येय है—प्रत्येक क्षेत्र में पूर्णता को प्राप्त करना। क्योंकि पूर्णता को प्राप्त करने से ही मनुष्य को वास्तविक आनन्द की प्राप्ति हो सकती है। वास्तविक आनन्द की प्राप्ति के लिए यह आवश्यक है, कि मनुष्य का एक ध्येय हो—एक लक्ष्य हो। अनुभवों से यह बात सिद्ध है, कि वह ध्येय और लक्ष्य नीति, सदाचार, सत्य, अहिंसा, समता, सौहार्द और अध्यात्म इत्यादि हैं। मेरी समझ में जो काव्य और साहित्य उक्त साधनों और उपकरणों से युक्त होकर मनुष्य को पूर्णानन्द की ओर ले जाता है, वही आदर्शवादी काव्य या साहित्य है; दूसरे शब्दों में आदर्शवादी काव्य वह है, जिसमें नीति, सदाचार, प्रेम, सौन्दर्य, समता, और अध्यात्म इत्यादि की प्रधानता रहती है। यह एक ऐसे तत्त्व हैं, जो स्वयं अपने आप में पूर्ण हैं। इसलिए यह किसी भी जीवन, समाज और राष्ट्र के सच्चे आदर्श हैं। जिस काव्य में इनका संघटन उचित रूप में होता है, इसमें सन्देह नहीं, कि वह काव्य मंगल और कल्याण का द्योतक होता है। सूर और गोस्वामी तुलसीदासजी के काव्य इसी प्रकार के काव्य हैं। आज के कवियों में श्री मैथलीशरण गुप्त और कुछ अंशों में श्री हरिऔधजी भी इस क्षेत्र के यशस्वी कवि हैं।

'आदर्शवाद' अपनी उच्चता, और व्यापकता के कारण ही समादृत है। यह तभी जीवन, समाज, और राष्ट्र के लिए कल्याणकारी सिद्ध हो सकता है, जब यह अपने वास्तविक रूप में प्रगट होता है। पर इसका मार्ग अधिक दुरूह है। अनेक कलाकार इसके पन्थ पर गिर जाते हैं, और जब गिर जाते हैं, तो उनके मुख से निकली हुई आदर्शवाद की बातें समाज, और जीवन के लिए कल्याणकारी नहीं हो सकतीं। कभी-कभी कलाकारों के मन की विकृतियों के कारण भी आदर्शवाद अभिशाप

बन जाता है। कभी-कभी जीवन और समाज की विषमताओं के कारण भी 'आदर्शवाद' का विपरीत प्रभाव पड़ता है। आज का युग ऐसा ही युग है। आज जीवन और समाज विकारों तथा विषमताओं से आक्रान्त है। आज विषमताओं का जाल इस प्रकार फैल गया है, कि उसके भीतर आदर्श खो सा गया है। आदर्श क्या है—उसका शुद्ध और वास्तविक रूप क्या है—इस सम्बन्ध में आज भ्रान्तियाँ सी फैल गई हैं। विज्ञान, और राजनीति ने आज मनुष्य के ज्ञान पर आवरण सा डाल दिया है। इसलिए पहले तो वह 'आदर्शवाद' की ओर उन्मुख होता ही नहीं; और यदि होता भी है, तो उसका आदर्श उसके स्वार्थ, और उसकी व्यक्तिगत आकांक्षाओं की ही ओर देखता है। परिणामतः आज आदर्श-आदर्श नहीं रह गया है। यही कारण है, कि आज आदर्श निरादृत भी है। हिन्दी काव्य में आज उसकी उपेक्षा है। जहाँ तुलसी और सूर के स्वरों में उसकी कीर्ति का गान गूँज रहा है, वहाँ आज के भौतिक, और अधिकारवादी कवियों की कला में उसकी ओर से पूर्ण उपेक्षा है। पर इस उपेक्षा के युग में भी वह जहाँ कहीं अपने वास्तविक और शुद्ध रूप में है, समादृत है।

समाजवाद और समष्टिवाद

आज की हिन्दी कविता में कुछ ऐसे लोग हैं, जो राजनीति के प्रमुख सिद्धांतों को आधार मानकर कविता करते हैं। आजकल जिन राजनीतिक सिद्धांतों की हिन्दी कविता में अधिक चर्चा है, उनके नाम हैं—समाजवाद, और समष्टिवाद। इन्हीं को हम 'सोशलिज्म', और कम्युनिज्म भी कहते हैं। राजनीति के ये दोनों ही सिद्धांत भौतिकवाद की ही पृष्ठभूमि पर बने हैं; दूसरे रूप में इन दोनों ही सिद्धांतों को हम मनुष्य की एक प्रतिक्रिया मानते हैं, जो आदर्श और अध्यात्म के मार्ग पर चलते समय, भटक जाने के कारण मनुष्य में बुराइयाँ पैदा हो जाने के कारण हुई है। यद्यपि इस प्रतिक्रिया से मनुष्य का कल्याण न हो सकेगा, पर इसमें सन्देह नहीं, कि इसके द्वारा मनुष्य को सँभल जाने की चेतावनी मिलती है। समाजवाद और समष्टिवाद दोनों ही एक स्रोत की दो धाराएँ हैं। समाजवाद के क्षेत्र में मनुष्य भौतिकता की पृष्ठभूमि पर स्थित रह कर भी संस्कृत, नीति और धर्म की ओर देखता है। इस रूप में हम यह कह सकते हैं, कि समाजवाद एक वह सीढ़ी है, जिस पर बैठकर मनुष्य उन विकृतियों से युद्ध करता है, जो आदर्श और अध्यात्म के मार्ग पर चलते समय उसमें उत्पन्न हो गई हैं, पर उसके स्वर, और गति में मृदुता है, शांति है, सहनशीलता है, और संयम है। वह विकृतियों को समझ कर उनके प्रति युद्ध तो करता है, पर आदर्श और अध्यात्म के विरुद्ध घोषणा नहीं करता। वह मनुष्य को समझा बुझाकर शांति पूर्वक उसे सही मार्ग पर लाना चाहता है, पर समष्टिवादी के स्वरों में विद्रोह होता है। वह विकृतियों से युद्ध करने के लिए भाँति भाँति की विकृतियों का आश्रय ग्रहण करता है। वह भूले और भटके हुए मानव की प्रवृत्तियों के विरुद्ध घोषणा न करके आदर्श और अध्यात्म के ही विरुद्ध घोषणा करता है। नीति, सदाचार, आचार विचार, धर्म और ईश्वरता आदि उसके लिए हेय हैं। वह अधिकार, रोटी, और

अर्थ को ही महत्व देता है, और इसके लिए हिंसा का बीज भी बोता है। 'समाजवाद', और 'समष्टिवाद' की यह विचार धाराएँ आज की हिन्दी कविता में स्पष्ट रूप से दिखाई पड़ती हैं। आज के अधिकांश युवक कवियों की रचनाओं में इन्हीं 'वादों' की प्रेरणा मिलती है। आज हम जिन्हें 'प्रगतिवादी' कवि कहते हैं, उनमें कितने ही ऐसे लोग हैं, जो 'कविता' के लिए 'कविता' नहीं करते, वरन् वे कविता करते हैं अपने प्रिय राजनीतिक सिद्धान्त का प्रचार करने के लिए। परिणामतः हिन्दी कविता ऐसे विकारों से भरती जा रही है, जो मनुष्य को हिंसा, घृणा, द्वेष, और बैर के धरातल पर लाकर खड़ा कर देते हैं।

आज की हिन्दी कविता पर गाँधीवाद का स्पष्ट प्रभाव है। हमारा आज का जीवन गाँधीवाद से ओत प्रोत है। जीवन का प्रतिबिंब काव्य, और साहित्य पर पड़ता

गाँधीवाद

है। अतः यह स्वाभाविक ही है, कि हिन्दी कविता गाँधीवाद से प्रभावित हो। गाँधीवाद से हमारा तात्पर्य गाँधीजी के उन विचारों से है, जो मूल सिद्धान्त के रूप में हमारे सामने प्रगट हुए हैं। गाँधीजी के विचार जीवन, समाज, और राष्ट्र के लिए इतने व्यापक, इतने ऊँचे और इतने कल्याणकारी हैं, कि उनकी गणना 'सिद्धान्त' और 'वाद' की सीमा के भीतर की जाने लगी है। गाँधीवाद गाँधी जी के जिन विचारों की समष्टि है, उनमें अध्यात्मवाद, और भौतिकवाद दोनों का ही उचित रूप में समन्वय है; दूसरे रूप में वह व्यक्ति को एक ऐसे धरातल पर ले जाना चाहता है, जहाँ वह प्रत्येक दृष्टि से योग्य मनुष्य के रूप में प्रमाणित हो सके। 'गाँधीवाद' जहाँ व्यक्ति के लौकिक अधिकारों पर बल देता है, वहाँ वह 'सत्य' और 'अहिंसा' की भी बात करता है। जहाँ वह व्यक्ति की आर्थिक, सामाजिक, और शैक्षिक उन्नति की आकांक्षा रखता है, वहाँ वह अध्यात्म की भी घोषणा करता है। 'गाँधीवाद' की सबसे अधिक प्रभाव पूर्ण बात यह है, कि वह किसी भी सांसारिक समस्या का निदान 'सत्य' और 'अहिंसा' की दृष्टि से करता है। इस प्रकार यह मानना होगा, कि आज के राजनीतिक सिद्धान्तों में 'गाँधीवाद' का अत्यधिक महत्व पूर्ण स्थान है।

हिन्दी कविता और साहित्य पर 'गाँधीवाद' का प्रतिबिम्ब पूर्ण रूप से पड़ा, और पड़ रहा है। वर्तमान कवियों में श्री मैथिलीशरण गुप्त, श्री बालकृष्ण नवीन, और श्री सोहनलाल द्विवेदी इत्यादि को 'गाँधीवाद' ने अधिक प्रभावित किया है। श्री मैथिलीशरण गुप्त 'गाँधीवाद' के प्रतिनिधि कवि माने जाते हैं।

आज की हिन्दी कविता में 'रहस्यवाद' की अधिक चर्चा है, चर्चा ही नहीं, बल्कि रहस्यवादी भावनाएँ द्रुतगति से उसमें प्रस्फुटित हो रही हैं। अतः रहस्यवाद क्या

रहस्यवाद

है—इस पर भी प्रकाश डालना उचित होगा। यह जगत, जो हमारे संमुख दृश्यमान है, एक रहस्यमय है। इस जगत का सबसे अधिक और सबसे बड़ा रहस्य वह है, जो संसार के भीतर समाविष्ट होकर प्रतिपल उसे सञ्चा-

लित किया करता है। उसी को हम एक अलौकिक 'शक्ति', और एक अपरोक्ष सत्ता मानते हैं। इस स्थूल जगत में जो कुछ है, वह उसी अपरोक्ष 'सत्ता', या शक्ति की झलक मात्र है। कवि की दृष्टि और कल्पना जब स्थूल जगत के दृश्यों से ऊब जाती है; अथवा जब उसकी सौन्दर्य की प्यास स्थूल जगत के दृश्यों से शांत नहीं होती, तो वह समाकुल हो उठती है, और पार्थिवता को भेद कर सूक्ष्म जगत की ओर अग्रसर होती है। सूक्ष्म जगत में प्रविष्ट होने पर वह सूक्ष्म जगत के ही दृश्यों का चिन्तन करती है, उसे उन्हीं की अनुभूति होती है, और वह उन्हीं का चित्रांकन भी करती है। उसे इस पार्थिव जगत के सम्पूर्ण स्थूल दृश्यों में भी उसी 'सूक्ष्म', और 'अपरोक्ष' शक्ति का आभास होता है। जिन कवियों की कल्पना और दृष्टि में यह आभास होता है, उन्हीं को हम 'रहस्यवादी' कवि कहते हैं; दूसरे शब्दों में वे संपूर्ण कवि रहस्यवादी हैं, जो उस रहस्य का अनुभव करते हैं, जो इस स्थूल जगत में 'सूक्ष्म' के रूप में समाविष्ट है, और जिसकी सर्व शक्तिशालिनी सत्ता से ही जगत का सञ्चालन हो रहा है।

'रहस्यवाद' मन की एक सर्वोच्च स्थिति का नाम है। जिस प्रकार 'गाँधीवाद', 'समाजवाद', और 'समष्टवाद' इत्यादि राजनीतिक सिद्धान्त हैं, उस प्रकार का कोई 'वाद' या 'सिद्धांत' रहस्यवाद नहीं हो सकता। क्योंकि 'रहस्यवाद' का उपयोग सामान्य जीवन में नहीं किया जा सकता। 'सामान्य जीवन' के लिए रहस्यवाद है भी नहीं। इस स्थिति में मनुष्य सर्व प्रथम उस 'सत्ता' या 'शक्ति' का अनुभव करता है, जो इस सृष्टि में विराजमान है। इस अनुभव के सोपान पर मनुष्य का साथी उसका 'ज्ञान', और उसकी अनुभव-शक्ति होती है। अनुभव के पश्चात् वह अपनी 'प्रकृति', और 'प्रवृत्ति' के अनुरूप नाना प्रकारों से उसके साथ' अपना सम्बन्ध जोड़ने के लिए समाकुल हो उठता है। 'ज्ञानी' ज्ञान का आश्रय लेता है, और भक्त अपनी भक्ति का। दार्शनिक अपने विचारों की सूक्ष्मता को 'पैमाना' बनाता है, और कवि अपनी कल्पना तथा अनुभूति का आंचल पकड़ता है। इस प्रकार जिसके पास जो संपत्ति होती है, वह उसी को लेकर उस 'सूक्ष्म' की ओर दौड़ पड़ता है। पर यह निर्विवाद है, कि इस प्रकार का 'अनुभव' न तो सामान्य लोगों को होता है, और न सामान्य जन इस प्रकार की दौड़ ही लगा सकते हैं। इस प्रकार की सत्ता का 'आभास' थोड़े से ही ऊँचे लोगों को हुआ करता है। हिन्दी कविता के इतिहास में ऐसे लोगों की संख्या अधिक है, जिन्हें इस प्रकार की सत्ता का आभास हुआ है, और जिन्होंने उस आभास को भाषा, और शब्दों में भी गूँथा है। ऐसे लोगों को ही हम 'भक्ति काल' के रहस्यवादी सन्त कवि कहते हैं। भक्ति काल के सन्त कवियों में अनेक ऐसे कवि हो गए हैं, जिन्होंने उस स ा का अनुभव किया है, और अपनी कल्पनाओं के द्वारा उसे भाषा तथा शब्दों के सूत्र में गूँथा है। 'कबीर' और जायसी इत्यादि इसके दृष्टांत हैं।

कवि जब रहस्यवाद के क्षेत्र में उतरता है, तब अधिक भाव, और अनुभूतिमय

हो उठता है। रहस्यवाद के क्षेत्र में कवि का सहचर उसकी एक मात्र अनुभूति ही होती है। कवि अपनी अनुभूति ही के द्वारा उस 'अपरोक्ष सत्ता' से अपना सम्बन्ध स्थापित करता है। उसके सम्बन्ध-स्थापन में प्रेम, विरह, संयोग, और आनन्द इत्यादि भावों की प्रधानता होती है। कवि अपने इन भावों को भाँति-भाँति के संबंधों को आधार मान कर प्रगट करता है। कभी वह उसे अपना प्रियतम मानता है, तो कभी अपना सखा। कभी उसे प्रियतमा मान कर स्वयं प्रेमी के रूप में अपने भावों को प्रगट करता है, तो कभी स्वयं नारी के रूप में अपने हृदय के भावों को विखेरता है। कभी-कभी वह प्रकृति में भी उसकी ज्योति को देख कर उस पर मुग्ध हो उठता है। इस प्रकार कवि रहस्यवाद के क्षेत्र में अपने भावों को विविध रूपों में प्रगट करता है। वह भाषा और शब्द आदि जिन साधनों के द्वारा अपने भावों को प्रगट करता है, उनमें भी रहस्यात्मकता होती है। उसके शब्दों में लाक्षणिकता और व्यंजकता अधिक होती है। वह शब्दों के स्थापन में शब्दों के अर्थों पर न जाकर शब्दों की ध्वनि, और उनमें छिपी हुई शक्ति पर ही अधिक ध्यान देता है।

रहस्यवाद की अनुभूति दो रूपों में होती है—अपरिमित रूप में, और सीमित रूप में। अपरिमित रूप में जब रहस्यवाद की अनुभूति होती है, तब सम्पूर्ण विश्व एक ही सत्ता—ब्रह्म के अंतर्गत समाविष्ट जान पड़ता है, और संपूर्ण जगत के कार्य व्यापार इत्यादि उसके प्रतिबिम्ब मात्र दिखाई पड़ते हैं। रहस्यवाद का सीमित रूप हृदय के भीतर ही आभासित होता है। इसका सम्बन्ध मनुष्य की व्यक्तिगत सत्ता से होता है। सीमित रहस्यवाद में व्यक्ति का ध्यान विश्व और ब्रह्मांड की ओर न जाकर अपने ही तक सीमित रहता है। वह हृदय में आभासित सत्ता—ब्रह्म से नाना रूपों से अपना सम्बन्ध स्थापित करता है, और उसे प्राप्त करने के लिए उत्कंठित होता है। प्राचीन हिन्दी कविता में, जिसे हम सन्त कवियों की कविता कहते हैं, रहस्यवाद का अपरिमित स्वरूप पाया जाता है। किन्तु आज कल हिन्दी कविता में जिस रहस्यवाद की अभिव्यक्ति हो रही है, उसे हम रहस्यवाद का दूसरा ही रूप कहेंगे। किसी-किसी रहस्यवादी कवि में, आज भी, ब्रह्म की विराट सत्ता देखने को मिल जाती है। हिन्दी कविता का आज का रहस्यवाद पश्चिमी भावों से प्रभावित है। यही कारण है, कि उसमें अनुभूति के साथ ही साथ चिन्तन का भी योग है।

हिन्दी कविता में जिस रहस्यवाद की अभिव्यक्ति हुई है, उसके चार भाग किए जा सकते हैं—(१) प्रेम-सौन्दर्य संबंधी रहस्यवाद, (२) धर्म और उपासना सम्बन्धी रहस्यवाद, (३) दार्शनिक रहस्यवाद, और (४) प्राकृतिक रहस्यवाद। प्रेम और सौन्दर्य सम्बन्धी रहस्यवाद वह है, जिसमें प्रेम और सौंदर्य सम्बन्धी भावों की प्रधानता होती है। इसके अंतर्गत कवि अपने हृदय में अपरोक्ष सत्ता की शक्ति, और उसके सौंदर्य का अनुभव करता है। फिर प्रेमी, और प्रेमिका के रूप में उससे मिलने के लिए

उत्कंठित हो उठता है। इस प्रकार के रहस्यवाद में प्रेम, विरह, और संयोग इत्यादि की प्रधानता होती है। 'विरह' का भाव इस प्रकार के रहस्यवाद में प्रमुख रूप से पाया जाता है। हिन्दी में जायसी की कविताओं में प्रेम और सौन्दर्य संबंधी रहस्यवाद का विकास सुन्दरता के साथ हुआ है। धर्म उपासना सम्बन्धी रहस्यवाद का आविर्भाव धार्मिक आस्थाओं के कारण होता है। इसके अन्तर्गत भक्ति का उद्रेक होता है। कवि प्रेम और भक्ति में इतना तल्लीन हो जाता है, कि उसे अपने आराध्यदेव के अतिरिक्त इस विश्व में कहीं कुछ दिखाई नहीं पड़ता। वह भक्ति और प्रेम में डूब कर अपने आराध्यदेव के चरणों पर अपना सब कुछ अर्पित कर देता है। मीरा और दादू इत्यादि सन्त कवियों की कविताओं में इसी रहस्यवाद की अभिव्यक्ति हुई है। दार्शनिक कवि अपनी कल्पनाओं के द्वारा 'अपरोक्ष सत्ता' को जानने और समझने का प्रयत्न करता है। वह उसके संबंध में विभिन्न रूपों में सोचता, और विचार करता है। 'प्रसादजी' की कविताओं में दार्शनिक रहस्यवाद का विकास सुन्दरता के साथ हुआ है। प्राकृतिक रहस्यवाद में प्रकृति सम्बन्धी भावों की प्रधानता होती है। इसके क्षेत्र में कवि प्रकृति के विभिन्न रूपों, और अंगों में अपरोक्ष सत्ता का दर्शन करता है; परिणाम स्वरूप वह उसकी गोद में ही बैठ कर अपरोक्ष सत्ता के साथ भाँति-भाँति की क्रीड़ाएँ करता है। हिन्दी में पन्त और प्रसादजी की रचनाओं में प्राकृतिक 'रहस्यवाद' का आविर्भाव हुआ है।

'छायावाद' हिन्दी की आज की कविता का मुख्य विषय है। कई युवक कवि हैं, जो अपने को 'छायावादी' कहते हैं। छायावाद क्या है—इस सम्बन्ध में आज तक

छायावाद

कोई निर्णय नहीं हो सका है। साहित्य के आचार्यों, और मनीषियों ने भी छायावाद के सम्बन्ध में अपने पृथक-पृथक मत प्रगट किए हैं। मेरी समझ में 'छायावाद', और 'रहस्यवाद' में कोई अंतर नहीं है। 'छायावाद' रहस्यवाद के विरोधी उन कविताओं को कहते हैं, जो लिखी तो 'रहस्यवाद' की दृष्टि से जाती हैं, पर 'रहस्य' को स्पष्ट न करने के कारण अटपटी हो जाती हैं। 'रहस्यवाद' को स्पष्ट करना या उसके मार्ग पर चलना प्रत्येक के वश की बात नहीं। भक्ति काल में हिन्दी के कई सन्त कवियों ने उन सन्त कवियों के मार्ग पर चलने का असफल प्रयत्न किया है, जो रहस्यवादी थे। उनकी रहस्यवादी रचनाओं को देखकर के ही उन्होंने भी रहस्यवाद के मार्ग पर चलने का प्रयत्न किया। पर अनुभूति में निर्बलता होने के कारण उनकी रचनाओं में 'रहस्य' का उद्घाटन पूर्ण रूप से नहीं हो सका है। उनकी रचनाएँ रहस्य की एक धुँधली-छाया सी ग्रहण करती दिखलाई देती हैं; परिणाम स्वरूप भाव की दृष्टि से अटपटी-सी हो गई हैं। बँगला में भी एक बार इस कोटि की रचनाओं की बाढ़ सी आ गई थी। बँगला के ब्रह्म समाज के सम्पूर्ण कवियों ने अपनी रचनाओं में 'रहस्य' को प्रगट करने का इसी प्रकार का असफल प्रयत्न किया है। हिन्दी की 'छायावाद' की वर्तमान कविता अँगरेजी से प्रभावित है। बँगला और अँगरेजी की जिन कविताओं को 'रहस्यवादी' रचनाएँ कहते हैं, हिन्दी में छायावाद के जन्म को

उनसे प्रेरणा प्राप्त हुई है। 'छायावाद' के जन्म का एक दूसरा, और सबसे बड़ा कारण विद्रोह की भावना भी है। द्विवेदी काल में हिन्दी कविता भाव, भाषा, शैली, छन्द और कल्पना—प्रत्येक क्षेत्र में एक सीमा के भीतर बन्द कर दी गई थी। रीति काल की जिन जंजीरों को तोड़कर वह बाहर निकल पाई थी, वे जंजीरें किसी न किसी रूप में द्विवेदी काल में पुनः उसके पैरों में पड़ रही थीं, परिणाम स्वरूप उसके भीतर विद्रोह की सृष्टि हुई। उधर विद्रोह की सृष्टि हुई, और इधर बँगला और अँगरेजी की कविताओं ने उसके ऊपर एक नया प्रकाश डाला। परिणाम स्वरूप भाव, भाषा, शैली, और कल्पना प्रत्येक क्षेत्र में नई भावनाएँ जाग उठीं। लोग नवीन ढङ्ग से कविता की उपासना करने लगे। यद्यपि उनकी इस उपासना के मूल में 'रहस्यवाद' की ही भावना थी, पर मार्ग निश्चित न होने, और अनुभूतियों की निर्बलताओं के कारण उनकी रचनाओं में अस्पष्टता आ गई, और लोगों ने उन्हें व्यंग के रूप में 'छायावाद' के नाम से अभिहित करना प्रारम्भ कर दिया, पर यह प्रवाह रुका नहीं। जिनकी अनुभूतियों में निर्बलता थी, वे अपने स्थान पर ही रह गए। पर जो इसके मार्ग को ठीक-ठीक समझ कर चले थे, और जिनकी अनुभूतियों में बल था, वे बराबर इस नवीन मार्ग पर चलते रहे, और आज भी चल रहे हैं। ऐसे कलाकारों में 'प्रसाद', 'पन्त', 'निराला' और महादेवी वर्मा का नाम प्रमुख है। श्रीमती महादेवी वर्मा ने इस दिशा में अधिक गतिशीलता और साहसिकता प्रगट की है।

हम आज जिन रचनाओं को छायावाद का नाम देते हैं, उनमें अधिकांश में निराशा की भावना है। दुःख और निराशा ही उनका मुख्य विषय है। यद्यपि कहीं-कहीं 'निराशा', और दुःख की यह भावना सङ्कीर्ण घेरे में आ गई है, पर जिन्हें हम प्रतिनिधि कवि कहते हैं, उनकी रचनाओं में दुःख, और निराशा का शृंगार विशालता और व्यापकता की ही पृष्ठभूमि पर किया गया है। 'निराशा' और दुःख के सम्बन्ध में अलौकिक दृष्टिकोण होने के कारण निराशा ने 'आशा' और दुःख ने 'आनन्द' का रूप धारण कर लिया है। कवियों ने 'निराशा' और दुःख के भावों को सँजोने के लिए जिन कल्पनाओं का आश्रय लिया है, वे उन्माद, और उमंगों के रथ पर आरूढ़ सी दिखाई देती हैं। वे भावों के रस में डूब कर जिन चित्रों को हमारे सामने प्रस्तुत कर सकी हैं, उनके भीतर कहीं भी वह 'दुःख' और निराशा नहीं दृष्टिगोचर होती, जिससे मन काँप उठता है, वरन् उनके भीतर दिखाई पड़ता है, वह आनन्द और वह सौन्दर्य, जो मन को तरंगित करने के साथ ही साथ प्राणों को भी विभोर कर देता है।

प्रगतिवाद

'प्रगतिवाद' के मूल में 'प्रगति' शब्द समाहित है; जिसका अर्थ होता है—आगे बढ़ना, विकसित होना। यदि हम प्रगतिवाद को इस अर्थ में लें, तो यह मानना पड़ेगा, कि प्रगतिवाद कोई नया वाद नहीं है, वरन् यह तो कविता का अपना एक चिरपरिचित गुण-सा है। यदि हम 'प्रगति' शब्द के अर्थ को

को सामने रख कर कविता के इतिहास की समीक्षा करें, तो यह देखेंगे, कि उसमें निरन्तर प्रगति हुई है। हिन्दी कविता के जन्म की कहानी पर दृष्टि डालिए। किस प्रकार भाँटों और चारणों के स्वर में उसका जन्म हुआ, किस प्रकार वह तलवारों की झङ्कार से खेली, और फिर किस प्रकार हाथ में भक्ति की माला लेकर विराग का राग गाने लगी। किस प्रकार उसका संन्यास व्रत टूटा, और फिर किस प्रकार वह भौतिकता के पङ्क में फँस कर शृंगार सागर में डुबकियाँ लगाने लगी। किस प्रकार वासना के कारण उसका शरीर जर्जर हो गया, और फिर किस प्रकार संजीवनी शक्ति से उसने नया जीवन प्राप्त किया। नवीन जीवन प्राप्त करके किस प्रकार वह गति शील हुई, और फिर किस प्रकार वह रहस्यवाद और छायावाद के मार्ग पर आगे बढ़ी। यह हिन्दी कविता की प्रगति ही तो है। इस अर्थ में हिन्दी कविता सदा प्रगतिशील रही है, और आज भी है; पर आज 'प्रगति शीलता' का अर्थ अपने मूल मार्ग से पृथक हट गया है। आज 'प्रगति' भी अपने व्यापक रूप में न प्रगट होकर एक संकीर्ण घेरे में बँध गई है। आज वह केवल एक 'वाद' मात्र है। आज उन एक विशेष प्रकार की रचनाओं को ही 'प्रगतिवादी' रचनाएँ कहते हैं, जिनमें किसान, गरीब, और मजदूर के चित्रण की ओट में 'भारतीय जीवन', भारतीय परंपरा, भारतीय रीति नीति, धर्म, आचार विचार, और ईश्वर तक के प्रति विद्रोह की भावना होती है। यह रचनाएँ एक विशेष वर्ग का प्रतिनिधित्व करती हैं। इनका उद्देश्य एक मात्र राजनीतिक प्रचार है। काव्य, कला, भाषा, और शैली किसी भी दृष्टि से इन रचनाओं में वह सौन्दर्य नहीं होता, जिसके कारण यह कहा जा सके, कि काव्य-जगत में यह स्थायित्व पा सकेंगी। मेरा अपना यह निश्चित मत है, कि भारतीय जीवन और काव्य में इन रचनाओं का कोई भी स्थान न हो सकेगा। इन रचनाओं का कवि आज चाहे कितना ही बड़ा क्यों न माना जाता हो, पर उसकी रचनाएँ कुछ ही दिनों में उस कली की भाँति मुरझा जायँगी, जो तुषार के झोंकों में पड़ जाती है।

'प्रगतिवाद' दो वर्गों में विभक्त है—एक वर्ग में प्रगतिवाद की वे रचनाएँ हैं, जिनका निर्माण केवल राजनीतिक उद्देश्यों की पूर्ति के लिए हुआ, और हो रहा है। इन रचनाओं की भित्ति विध्वंस की पृष्ठभूमि पर तैयार की गई है। इनकी विशेषता यही है, कि इनमें विध्वंस की भावना है। इनमें जहाँ कुप्रवृत्तियों के लिए विद्रोह है, वहाँ सत्प्रवृत्तियों के लिए आदर की भावना नहीं है। भारतीय परम्परा के प्रति विद्रोह उत्पन्न करना ही इस कोटि की रचनाओं का उद्देश्य है। द्वितीय वर्ग की प्रगतिवाद की रचनाओं में विद्रोह और विध्वंस के साथ ही साथ सृष्टि और निर्माण की भावना भी है। उनके विद्रोह और विध्वंस का ध्येय है—मंगल की सृष्टि, और लोक-कल्याण का निर्माण। इस कोटि की रचनाओं में स्थायित्व, और सौंदर्य भी है। भाव, भाषा, और शैली के दृष्टिकोण से भी इस कोटि की रचनाओं का अधिक मूल्य है।

हिन्दी कविता में अब और एक नए 'वाद' का जन्म हुआ है। इस वाद को लोग 'प्रयोगवाद' कहते हैं। 'प्रयोगवाद' क्या है, इसकी निश्चित प्रणाली क्या है—

प्रयोगवाद

इस सम्बन्ध में लोगों के भिन्न-भिन्न मत हैं। जो लोग अपने को प्रयोगवादी कहते हैं, प्रयोगवाद के सम्बन्ध में उनमें भी मतैक्यता नहीं है। इसका एक मात्र कारण यही है, कि 'प्रयोगवाद' अभी अपनी अनिश्चित, और अनिर्णित स्थिति पर है। 'प्रयोगवाद' की जो रचनाएँ इस समय सामने प्रस्तुत हैं, उनका मन्थन करने पर पता चलता है, कि प्रयोगवाद विशुद्ध रूप से बुद्धि पर आधारित है। 'बुद्धि' पर विशुद्ध रूप से आधारित होने के कारण प्रयोगवादी रचनाओं में हृदय के तत्त्वों का पूर्ण रूप से अभाव है। भाव, भाषा, शैली, और कल्पना की दृष्टि से इन रचनाओं में किसी प्रकार की विशेषता नहीं दिखाई पड़ती। ऐसा ज्ञात है, कि यह रचनाएँ उन रचनाओं का एक नग्न रूप हैं, जिन्हें हम आज की भाषा में प्रगतिवादी रचनाएँ कहते हैं। 'अज्ञेय' इत्यादि प्रयोगवाद के प्रतिनिधि कवि कहे जाते हैं।

हिन्दी कविता में प्रचलित 'वादों' की विवेचना करने के पश्चात् हम 'तृतीय' उत्थान के कवियों, और उनकी कविताओं पर विचार करेंगे। सुविधा के लिए हम

तृतीय उत्थान के कवियों का वर्गीकरण

तृतीय उत्थान के कवियों को पाँच वर्गों में विभक्त कर रहे हैं—(१) नवीन भाववादी कवि, (२) ब्रजभाषा के कवि, (३) खड़ी बोली के नए कवि, (४) रहस्यवादी और छायावादी कवि, और (५) विभिन्न भावधारा के कवि। नवीन भाववादी कवियों से हमारा तात्पर्य द्विवेदी काल के उन कवियों से है, जिनमें पहले पहल नवीन भावों की झलक दिखाई पड़ी है। जैसे—मुकुटधर पांडेय इत्यादि। 'ब्रजभाषा के कवि' वर्ग में हम उन कवियों को स्थान देंगे, जिन्होंने तृतीय उत्थान के खड़ी बोली के युग में भी अपनी रचनाओं का शृंगार ब्रजभाषा में किया है। खड़ी बोली के नए कवि से तात्पर्य हमारा उन कवियों से है, जो हैं तो द्विवेदी युग की देन, किन्तु नवीन भावों से प्रभावित हैं। जैसे—ठा० गोपालशरणसिंह, और अनूप शर्मा इत्यादि। 'रहस्यवादी', और छायावादी कवि वर्ग में हम उन कवियों की आलोचना करेंगे, जिन्होंने 'रहस्यवाद' और छायावाद सम्बन्धी रचनाओं की सृष्टि की है। जैसे—प्रसाद और पन्त इत्यादि। विभिन्न भावधारा के कवि वर्ग में हम उन कवियों पर प्रकाश डालेंगे, जो आदर्शवाद, गाँधीवाद, अभिव्यंजनवाद, यथार्थवाद, प्रगतिवाद, और प्रयोगवाद इत्यादि से प्रभावित हैं।

नवीन भाववादी कवि

तृतीय उत्थान के नवीन भाववादी कवियों में जिन कवियों का नाम प्रतिनिधि स्वरूप लिया जा सकता है, उनके नाम इस प्रकार हैं—श्री मैथिलीशरण गुप्त, श्री मुकुटधर पांडेय, श्री बद्रीनाथ भट्ट, और श्री पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी। श्री मैथिलीशरण गुप्त की रचनाओं पर द्वितीय उत्थान में प्रकाश डाला जा चुका है। तृतीय उत्थान की हिन्दी कविता

जिस नए आलोक से आलोकित है, सर्व प्रथम उसका प्रकाश गुप्तजी की ही रचनाओं में झलकता हुआ दृष्टिगोचर होता है। 'छायावाद' के जन्म के पूर्व ही गुप्त जी ने कई ऐसी रचनाएँ की थीं, जिनमें नवीन भावों की झलक मिलती है। जैसे—'स्वयं आगत' और 'पुष्पांजलि' इत्यादि। इन रचनाओं में जिन भावों का उन्मेष हुआ है, उन्हें देख कर बिना किसी संशय के यह कहना पड़ेगा, कि द्वितीय उत्थान की अन्तिम सीमा पर तृतीय उत्थान की नवीन हिन्दी कविता का उद्घाटन समारोह गुप्तजी के ही द्वारा सपन्न हुआ है।

श्री मुकुटधर पांडेय की काव्य-वल्लरी का यद्यपि अधिक विस्तार नहीं हो पाया, और वे असमय में ही काल के शिकार हो गए, पर उनकी जो रचनाएँ सामने हैं, उनमें कोमल भावनाओं का सुचारु रूप से विकास हुआ है। उनकी रचनाओं में स्पष्टतः नए युग की सूचना मिलती है। भाव, भाषा, और शैली प्रत्येक दृष्टि से उनकी रचनाओं में नवीनता की ही ज्योति मिलती है।

स्वर्गीय पं० बदरीनाथ भट्ट नवीनता के पोषक थे। उनके गीतों में नवीन भावों की पुष्टि हुई है।

श्रीपदुमलाल पुन्नालाल बख्शी ने भी गीतों की रचना की है। उनके गीति सुकुमार भावों से उल्लसित हैं।

गुप्तजी और श्री मुकुटधर पान्डेय इत्यादि कवियों ने हिन्दी कविता में जो नवीन धारा बहाई, उसने आगे चल कर 'छायावाद' का रूप धारण कर लिया। यह नहीं कहा जा सकता, कि 'छायावाद' के प्रवर्तक गुप्तजी और मुकुटधर पांडेय इत्यादि हैं, पर यह अवश्य कहा जा सकता है, कि इनके द्वारा नवीन भावों का उद्घाटन हुआ है। इनके पश्चात् तो हिन्दी कविता में नवीन भावों की एक अलौकिक ज्योति सी जाग्रत हो उठी। 'प्रसादजी' की रचनाओं ने सम्पूर्ण हिन्दी कविता-जगत को एक नए आलोक से भर दिया, जो पन्त, और निरालाजी की रचनाओं से और भी अधिक प्रकाशमय, और परमोज्वल हो गया।

पर इस नए भाव-युग में ब्रजभाषा की अखंडता जारी रही। एक ओर नवीन भावनाएँ अपना पंख फैलाती रहीं, और दूसरी ओर ब्रजभाषा की रचनाएँ भी होती रहीं। ब्रजभाषा की रचना करने वालों में स्वर्गीय जगन्नाथदास रत्नाकर, पं० रामचन्द्र शुक्ल, श्री वियोगी हरि, श्री दुलारेलाल भार्गव, श्री रामनाथ ज्योतिषी, श्री गयाप्रसाद शुक्ल सनेही, श्री केसरीसिंह बारहट, श्री राय कृष्णदास, और श्री उमाशंकर का नाम उल्लेखनीय है। इन कवियों में स्वर्गीय 'रत्नाकरजी' ही एक ऐसे कवि हैं, जिन्होंने खड़ी बोली के युग में, महाकवि के रूप में ब्रजभाषा की अर्चना की है। अतः हम यहाँ उनकी काव्य कला पर प्रकाश डालेंगे। शेष कवियों ने मुक्तक, और प्रबंध के मार्ग पर चल कर, ब्रजभाषा की अर्चना में उसी शैली का अनुगमन किया है, जो रत्नाकरजी की रचनाओं में पाई जाती है।

ब्रजभाषा के कवि

स्वर्गीय जगन्नाथदास रत्नाकर का युग खड़ी बोली का युग था, पर उनकी रचनाओं में खड़ी बोली की एक भी विशिष्टता दृष्टिगोचर नहीं होती। उन्होंने खड़ी बोली की विशिष्टताओं से पृथक रहकर ही अपनी काव्य कल्पना का शृंगार किया है। उनकी काव्य कल्पना के शृंगार का आधार रीति काल की विशिष्टताएँ हैं। उन्होंने अपनी क्षमताशालिनी प्रतिभा द्वारा खड़ी बोली की विशिष्टताओं को अस्वीकार करके, उसके क्षेत्र में रीति काल की विशिष्टताओं को स्थापित करने का प्रयत्न किया है। उनकी सम्पूर्ण रचनाएँ रीति काल की ही शैली का अनुगमन करती हैं। उनकी रचना के विषय भी रीति काल के कवियों की भाँति पौराणिक ही हैं। अलंकारों और रसों की योजना में भी उन्होंने रीति पद्धति का ही अनुसरण किया है, पर भाव और अनुभूतियों के चित्रण के क्षेत्र में उन्होंने रीति काल की शैली से पृथक मार्ग अपनाया है। रीतिकाल की रचनाएँ जहाँ चमत्कारविधानी हैं, वहाँ रत्नाकरजी की रचनाओं में अनुभूतियों की प्रधानता दिखाई देती है। रीति काल के कवियों की रचनाएँ जीवन के बाह्य-जगत के ही चारों ओर मँडरा कर रह जाती हैं, पर 'रत्नाकरजी' की रचनाएँ जीवन के अंतर्जगत को स्पर्श करती हैं। रत्नाकरजी का लक्ष्य पूर्ण रूप से अंतर्जगत की ही ओर दृष्टिगोचर होता है। उन्होंने अलंकारों और रसों की योजना भी अपने इसी लक्ष्य को सामने रखकर की है।

रत्नाकरजी की रचनाएँ दो वर्गों में विभक्त हैं—मुक्तक के रूप में, और प्रबन्ध काव्य के रूप में। मुक्तक काव्य की रचना में रत्नाकरजी का विशिष्ट स्थान है। उसमें उनकी कलात्मकता की अच्छी झलक देखने को मिलती है। एक कलाकार की भाँति ही, उन्होंने अपने मुक्तक पदों में भावों की सृष्टि की है। उनके मुक्तक पदों में सुकुमार सूक्तियों की प्रधानता है। सुकुमार सूक्तियों की प्रधानता होने के कारण उनमें सरसता, और मधुरता की प्रचुरता है। 'रत्नाकरजी' के प्रबन्ध काव्यों में 'हरिश्चन्द्र', 'गंगावतरण' और ऊद्धव शतक का विशिष्ट स्थान है। हरिश्चन्द्र की कथा सत्यवादी हरिश्चन्द्र की कथा है। यह कथा स्वयं ही करुण रस से ओत प्रोत है। रत्नाकरजी की काव्य प्रतिभा ने उसे और भी अधिक सकरुण बना दिया है। हरिश्चन्द्र में करुण रस का परिपाक बड़ी मनोहरता के साथ हुआ है। गंगावतरण में महाराज भगीरथ की तपस्या द्वारा गंगावतरण की कथा है। कथा यद्यपि पुरानी है, पर वह रत्नाकर जी की काव्य कल्पना के साँचे में नवीन सी ज्ञात होती है। गंगावतरण में रत्नाकरजी का प्रकृति चित्रण सजीव सा हो उठा है। उनकी वर्णन शैली और भाषा के धारा प्रवाह ने कथा के सूत्र में विविध भावों का गुंफन करके उसे अधिक आकर्षक बना दिया है। ऊद्धव शतक रत्नाकरजी का सर्वोत्कृष्ट प्रबन्ध काव्य है। उसकी रचना उद्धव और गोपियों की संवाद कथा को लेकर हुई है। यही वह प्रबन्ध काव्य है, जिसमें रत्नाकरजी अन्तर्जगत के भावाभिनयों का अंकन करते हुए दृष्टिगोचर होते हैं। अपने इस प्रबन्ध काव्य में रत्नाकरजी भाव-चित्रों के एक

कुशल चितेरे की भाँति दिखाई देते हैं। इस प्रबन्ध काव्य में उनकी काव्य प्रतिभा की कुशलता ने साकार रूप धारण कर लिया है, और उसने आदि से लेकर अंत तक अपने कवि के महाकवि रूप को सार्थक सिद्ध किया है।

रत्नाकरजी भाव-जगत के कवि हैं। उनकी कल्पना भाव-जगत में ही अपने व्यापारों की हाट लगाती है। उनकी भावों की हाट आकर्षक, और विविध रंगी है। उसमें मानव हृदय के वे सभी मनोविकार प्राप्त होते हैं, जिनसे उसका गठन होता है। उसमें क्रोध भी मिलता है, और वैर भी दिखाई देता है। उसमें घृणा भी है, और प्रसन्नता भी है। उसमें हर्ष भी है, और शोक भी है। उसमें उत्साह भी है, और शिथिलता भी है। रत्नाकरजी की काव्य-कल्पना ने एक चतुर शिल्पी की भाँति ही सबका चित्र खींचा है। उनके चित्रांकन में स्वाभाविकता, और मनोहारिता है। उन्होंने सम्पूर्ण मनोविकारों को भली भाँति देखा, समझा, और पहिचाना है। वे मानवी हृदय के कुशल चित्रकार हैं। भावों के अन्तर्द्वन्दों से उनकी घनिष्ट मैत्री है। उनकी दृष्टि में तीव्रता और कुशलता है। गोपियों और ऊद्धव सम्वाद में उन्होंने अपनी मनोवैज्ञानिकता का भी परिचय दिया है।

वियोगीहरि ने ब्रजभाषा में वीर सतसई की रचना की है। यह 'वीर रस' प्रधान है।

श्री दुलारेलाल जी ने दुलारे दोहावली लिखकर कीर्ति प्राप्ति की। श्री राम नाथ ज्योतिषी ने 'राम चन्द्रोदय' काव्य की रचना की है। श्री रायकृष्णदासजी का ब्रजरज, और श्री उमाशङ्कर वाजपेयी की ब्रज भारती ब्रजभाषा की श्रेष्ठ रचनाएँ हैं।

भारतेन्दुजी के समय में ही ब्रजभाषा पर खड़ी बोली का आधिपत्य हो चुका था। प्रथम और द्वितीय उत्थान में खड़ी बोली ने कविता के क्षेत्र में अपना पूर्ण स्थान बना लिया था। पर अभी तक उसमें जो रचनाएँ हुईं, उनमें इतिवृत्तात्मक वर्णनों की प्रधानता थी। प्रथम और द्वितीय उत्थान में कवियों की दृष्टि बाह्य-जगत के दृश्यों में ही उलझी हुई थी। उनकी अभिव्यक्तियाँ भी बाहरी सतह पर ही अपना व्यापार करती हुई दृष्टिगोचर होती हैं। ऐसा ज्ञात होता है, कि प्रथम और द्वितीय उत्थान में कवियों का ध्यान मुख्य रूप से केवल इसी बात पर केन्द्रित था, कि चाहे जिस प्रकार हो, खड़ी बोली अपने पैरों पर खड़ी हो जाय। इसमें सन्देह नहीं, कि प्रथम और द्वितीय उत्थान में, खड़ी बोली की कील अधिक गहराई तक गई, और उसमें दृढ़ता उत्पन्न हुई। तृतीय उत्थान में खड़ी बोली की कविता ने भाव, भाषा, और शैली की दृष्टि से एक नवीन युग में प्रवेश किया है। यहाँ हम खड़ी बोली के जिन नए कवियों की चर्चा करेंगे, उनके द्वारा खड़ी बोली की कविता में एक नये युग का समारम्भ हुआ है। प्रथम और द्वितीय उत्थान के खड़ी बोली के कवियों की दृष्टि जहाँ केवल

खड़ी बोली के नवीन कवि

'खड़ी बोली' को सशक्त और दृढ़ बनाने की ओर थी, वहाँ तृतीय उत्थान के खड़ी बोली के इन कवियों ने उसे 'भाव', और कल्पना से सजाने का काम किया है। इन कवियों ने खड़ी बोली की कविता के प्रवाह को भावों, और अनुभूतियों की ओर मोड़ा है। इन्होंने अनेक प्रकार के भावों और अनुभूतियों से खड़ी बोली की कविता का शृंगार किया है। इन्होंने मानव हृदय और जीवन के अन्तराल में बैठ कर भावों और अनुभूतियों के रत्न निकालने का प्रयत्न किया है। इनकी दृष्टि वर्णन की ओर नहीं, किन्तु भावाभिव्यंजन की ओर है। इनकी भाषा और शैली में भी अभिव्यंजन की प्रवृत्ति है। इन कवियों में ठाकुर गोपालशरणसिंह, और अनूप शर्मा इत्यादि का प्रमुख स्थान है।

ठाकुर गोपालशरणसिंह जी सरल हृदय के भावुक कवि हैं। उनका आविर्भाव द्विवेदी काल के उस युग में हुआ है, जिसका अभिसार श्री मैथिलीशरणजी की रचनाओं से हुआ है, और जिसमें नई भावनाओं, और अनुभूतियों ने जन्म धारण किया है। छायावाद और रहस्यवाद की भावनाओं ने भी उसे आन्दोलित किया है। यह तो नहीं कहा जा सकता, कि गोपालशरणसिंहजी नए युग की नई अभिव्यक्तियों से पूर्ण रूप से प्रभावित हैं; पर यह भी नहीं कहा जा सकता, कि उनकी रचनाएँ छायावाद और रहस्यवाद के रंग से अछूती हैं। युग का ही यह प्रभाव है, कि उनकी रचनाओं पर छायावाद का कुछ-कुछ रंग चढ़ा हुआ है, पर उन्होंने अपने को उससे बचाने का प्रयत्न भी किया है। उनकी रचनाओं में द्विवेदी युग की विशिष्टताएँ प्रमुख रूप से विद्यमान हैं। उन्होंने अपनी रचनाओं के द्वारा द्विवेदीजी के काव्य-सम्बन्धी आदर्शों की ही रक्षा की है। उन्होंने भाषा, भाव, और शैली के क्षेत्र में काव्य-गत नियमों का पालन किया है, और उन्हीं के भीतर रह कर अपनी भावनाओं को रचना के रूप में मूर्त स्वरूप प्रदान किया है।

ठाकुर गोपालशरणसिंहजी के जीवन पर विचार करने से ज्ञात होता है, कि उनका जीवन भक्ति, प्रेम और सहानुभूति के तत्त्वों से गठित है। प्रकृति प्रेम भी उनके जीवन में समाविष्ट है। उनके जीवन के तत्त्वों ने ही उन्हें काव्य रचना की प्रेरणा प्रदान की है। उनकी रचनाओं में उनके जीवन के तत्त्व स्पष्टतः परिलक्षित होते हैं। उनकी प्रारंभिक कविताओं में भक्ति-भावना का सुन्दरता के साथ विकास हुआ है। प्रेम और सौन्दर्य के चित्र भी उसमें मिलते हैं। प्रारंभिक रचनाओं के क्षेत्र से निकलकर जब उन्होंने जीवन के क्षेत्र में प्रवेश किया, तब वे अधिक भावमय हो उठे हैं। इस क्षेत्र में उन्होंने भावों के समुद्र में अच्छी डुबकियाँ लगाई हैं। उन्होंने भावों के सागर में डुबकियाँ लगाकर, चुन-चुन कर उन्हीं रत्नों को बाहर निकाला है, जिनका संबंध मानव हृदय से है, और जो मानव हृदय को अधिक प्रिय हैं। उनके भाव रत्नों में बड़ी सुकुमारता, सरसता, और तल्लीनता है।

ठाकुर साहब की अनुभूति बड़ी ही सकरुण और समवेदना मूलक है। वह समाज और राष्ट्र के भीतर प्रवेश करके बड़ी उदारता से उन पर सहानुभूति की वर्षा करती है, जो दलित हैं—ठुकराए गए हैं। उनकी अनुभूति मानवता का प्रतिनिधित्व करती है, वह सहानुभूति का वेश धारण करके सर्वत्र मानवता को ही ढूँढ़ती है—प्रेम, भक्ति, ईश्वर सौन्दर्य, समाज, और राष्ट्र प्रत्येक क्षेत्र में मानवता के साथ ही अभिनय करती है। उनके सम्पूर्ण चित्र सहानुभूति मूलक हैं। सहानुभूति मूलक होने के कारण उनके सम्पूर्ण चित्रों में सरसता, और हृदय की सलग्नता है। प्रकृति के चित्र भी उनकी रचनाओं में मिलते हैं। प्रकृति के चित्रों का अंकन करने में भी उन्होंने कुशलता प्रदर्शित की है। वे सहानुभूति के साथ ही प्रकृति के आँगन में भी घुसते हैं, और प्रकृति के सौन्दर्य पर मुग्ध होते हैं। उनकी मुग्धता में हृदय की विह्वलता और तन्मयता है। ग्राम के मनोरम दृश्यों की झाँकियाँ भी उनकी रचनाओं में विद्यमान हैं।

अनूप शर्मा की रचनाएँ दो वर्गों में विभक्त हैं—ब्रजभाषा में, और खड़ी बोली में। इनकी प्रारम्भिक रचनाएँ ब्रजभाषा में हैं। 'खड़ी बोली' में इन्होंने खण्ड काव्य, और महाकाव्य की रचना की है। 'खड़ी बोली' का इनका खण्ड काव्य 'कुणाल', और महाकाव्य 'सिद्धार्थ' अधिक प्रसिद्ध हैं। इनकी रचनाओं में ज्ञान, और अनुभूतियों का सुन्दरता के साथ सामंजस्य हुआ है। इन्होंने हृदय और मस्तिष्क के तत्वों को एक ही कल्पना के सूत्र में पिरो कर अपनी उद्भट काव्य-प्रतिभा का परिचय दिया है। भाषा और शैली भी इनकी अधिक सरस, सरल, और प्रवाहमयी है।

श्री जगदम्बाप्रसाद हितैषी ने ब्रजभाषा के कवित्त और सवैयों की सरसता और मधुरता खड़ी बोली में उत्पन्न की है। इन्होंने विभिन्न विषयों पर कवित्त, और सवैयों की रचना खड़ी बोली में की है। 'कल्लोलिनी' और 'नवोदिता' के नाम से इनकी रचनाओं के दो संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं।

श्री श्यामनारायण पांडेय वीर रस के अन्यतम कवि हैं। इनकी काव्य-कला की पृष्ठभूमि राष्ट्रीयता है। इनकी राष्ट्रीयता अतीत की ओर देखती है। वे राष्ट्रीयता का निर्माण अतीत के गौरव-पूर्ण चित्रों से ही करने के पक्षपाती हैं। उनका अतीत का वह गौरव पूर्ण जीवन, जिसमें हिन्दू या भारतीय संस्कृति का दिव्यतम प्रकाश है, अधिक प्रिय है। इन्होंने अतीत के महासिन्धु में डुबकियाँ लगाकर उन रत्नों को बाहर निकाला है, जिनकी ज्योति से भारतीय संस्कृति, और जीवन का लोक आलोकित है। उन्हीं रत्नों की जीवन-गाथाएँ उनकी रचनाओं का आधार हैं। इन्होंने उन गाथाओं को, जिनमें वीरता, राष्ट्र प्रेम, बलिदान, त्याग, साहस, और स्फूर्ति है, काव्य की वीणा पर कल्पना के राग में गाया है। इनका राग स्तुत्य है, प्रशंसनीय है। केवल इस विचार से नहीं, कि इनका राग देश की

राष्ट्रीयता, और सांस्कृतिकता के विकास में सहायक है, वरन् इस विचार से भी, कि उसमें एक वास्तविक कवि की कला की झंकार है।

पांडेयजी की रचनाएँ दो प्रकार की हैं—महाकाव्य के रूप में, और खंड काव्य के रूप में। 'हल्दी घाटी' और 'जौहर' उनका महाकाव्य है। हल्दी घाटी की कथा भारतीय इतिहास के राजपूत काल की वह अमर कथा है, जो महाराणा प्रताप की वीरता, उनके देश प्रेम, त्याग, और बलिदान की भावनाओं से ओत प्रोत है। कथा सुन्दर, और ओजस्विनी है। राजपूत काल की कथाओं में इसका अन्यतम स्थान है। पांडेयजी ने अपने महाकाव्य के लिए इस कथा को चुनकर अपनी सत्प्रवृत्ति का परिचय दिया है। उनकी काव्य-कला कथा के निर्वाचन में बड़ी कुशल है। वह अपनी रुचि, और दृष्टिकोण के अनुसार ही कथा का निर्वाचन करती है। केवल निर्वाचन ही नहीं करती, उसका विकास भी कुशलता के साथ ही करती है। हल्दी घाटी में कथा का विकास बड़े कौशल के साथ हुआ है। कवि ने स्थान-स्थान पर उसमें कल्पना का भी पुट दिया है, जिससे कथा की रोचकता और भी अधिक बढ़ गई है। हल्दी-घाटी वीर भावनाओं से उद्दीप्त है। इसमें स्थान-स्थान पर वीर रस का ऐसा वेग गामी झरना झरता हुआ दृष्टिगोचर होता है, जो कवि के स्वाभाविक हृदय से निकलता है। खड़ी बोली में यह अपने ढंग का एक ही महाकाव्य है। इसमें 'उत्साह', और 'वीरता' की अनेक अंतर्दशाओं का चित्रण बड़ी कुशलता के साथ हुआ है। पांडेयजी का दूसरा महाकाव्य 'जौहर' है। 'जौहर' की कथा भी भारतीय इतिहास के राजपूत काल की कथा है। यह कथा उस पद्मिनी के जीवन की कथा है, जो अपने सतीत्व की रक्षा के लिए कई सहस्र राजपूत स्त्रियों के साथ अग्नि में जलकर सती हो गई थी। इस कथा के चुनाव में भी पांडेयजी की काव्य कला ने अपनी अन्तर्प्रवृत्ति का परिचय दिया है। कथा त्याग, प्रेम, उत्साह, और वीरता के भावों से उद्दीप्त है। बीच बीच में इसमें भी कल्पना का पुट है। इसका रस करुण रस है। कवि ने इस कथा को करुण रस से अभिसिंचित करके उसकी वास्तविकता को और भी अधिक प्रभाव शाली बना दिया है। कथा को काव्य का रूप देने में, कवि की प्रतिभा की प्रगल्भता साफ-साफ दिखाई देती है। आदि से लेकर अंत तक काव्य के तत्त्व आविर्भूत होकर हृदय को विमुग्ध करते रहते हैं। 'तुमुल' पांडेयजी का खंड काव्य है। पहले इसका नाम 'त्रेता के दो वीर' था। त्रेता के दो वीर का विकसित रूप ही 'तुमुल' है। तुमुल की कथा त्रेता युग की कथा है। इसमें 'राम रावण' के युद्ध में लक्ष्मण, और मेघनाद के युद्ध के वीरता पूर्ण चित्र हैं। यद्यपि यह पांडेयजी की प्रारम्भिक रचना है, पर कथा और काव्य की दृष्टि से इसका भी गौरव कुछ कम नहीं है।

पांडेयजी वीर, और करुण रस के कवि हैं। उनकी काव्य कला इतिवृत्तात्मक वर्णनों में ही अपना महत्व आँकती है। वह इतिवृत्तात्मक वर्णनों के भीतर ही भावों की सृष्टि करती है। भावों की सृष्टि करने में वह बड़ी कुशल है। उसकी सृष्टि बड़ी चुटीली, और मार्मिक होती है। उत्साह, और वीरता के क्षेत्र में वह विद्युत की

भाँति चमकती है। सरलता, और स्वाभाविकता का वह कहीं परित्याग नहीं करती। उसकी सृष्टि वीर भावों से उद्दीप्त होने के साथ ही साथ अधिक सरल, सुन्दर, और आकर्षक है। इतिवृत्तात्मक वर्णनों की सीमा के भीतर पांडेयजी की काव्य-कला ने विविध प्रकार के भावों का चित्रण किया है। कहीं वह हृदय के द्वन्द्वों के साथ खेलती है, और कहीं सुकुमार चित्रों का अंकन करती है। कहीं प्रेम और शृंगार का अभिनय करती है, तो कहीं करुणा का चित्रांकन करने में अपने को भूल जाती है। कहीं त्याग और उत्सर्ग के दीपक जलाती है, तो कहीं वीरता और उत्साह के फूलों के साथ खेलती है। कहीं सन्ध्या का राग गाती है, तो कहीं प्रभात की प्रभाती में विभोर हो जाती है। इस प्रकार पांडेयजी की काव्य-कला ने विविध भावों की सृष्टि की है। उनकी प्रत्येक सृष्टि में उनके हृदय की तन्मयता, और विभोरता है।

पुरोहित प्रतापनारायण ने 'नलनरेश' नामक महाकाव्य की रचना की है। इसकी शैली द्विवेदीजी के प्रारम्भिक काल की शैली है। इसकी कथा के अंतर्गत अत्र-तत्र प्राचीन रूढ़ियों के चिह्न भी मिलते हैं। कथा, काव्य, भाव, भाषा, और शैली की दृष्टि से यह महाकाव्य से पिछड़ा हुआ प्रतीत होता है। पुरोहितजी की स्फुट कविताओं के दो संग्रह भी प्रकाशित हो चुके हैं, जिनका नाम 'नव निकुंज' और 'मन के मोती' है।

तुलसीराम 'दिनेश' ने 'पुरुषोत्तम श्री कृष्ण' की रचना की है। यद्यपि इसकी रचना का आधार श्री कृष्ण के चरित्र का विविध अंग है, पर इसमें आधुनिक समस्याओं की झलक भी मिलती है।

श्री सियारामशरण की काव्य प्रतिभा का क्षेत्र अधिक विस्तृत है। उन्होंने जीवन के विस्तृत क्षेत्र में विविध भावों से अपनी रचनाओं का शृंगार किया है। उनकी रचनाओं में स्फूर्ति है, जीवन है, चेतना है। समाज, राष्ट्र, और मानव जीवन जिस किसी भी क्षेत्र से उन्होंने अपनी रचनाओं के लिए विषय चुना है, उसमें नवीन चेतना, और स्फूर्ति का संचार कर दिया है। उनकी रचनाओं के विषय स्वयं भी चेतना और स्फूर्ति मूलक हैं। उन्होंने राष्ट्रीयता और सामाजिकता के क्षेत्र में ऐसे विषयों को अपनाया है, जो भावों का स्फुरण करते हैं। श्री सियारामशरण एक ऐसे कवि हैं, जो कल्पनाओं से दूर वास्तविकता के साथ ही काव्य के रंग मंच पर अभिनय करते हैं। उनका कवि जीवन बड़ा ही सरल और आडम्बर से शून्य है। उसमें न तो विविध रंगी कल्पनाओं की क्रांति है, और न कृत्रिम कला की कलात्मकता। वह सरल है, और दिव्य है। उसका आधार वास्तविकता और सत्य है। उसकी दृष्टि आदि से लेकर अन्त तक वस्तविकता की ही ओर निहित रहती है। वास्तविकता और सत्य के रहस्यों को खोलना ही उसका लक्ष्य है।

श्री सियारामशरण की रचनाएँ दो रूपों में विभक्त हैं—मुक्तक के रूप में, और प्रबन्ध काव्य के रूप में। उनकी मुक्तक रचनाएँ विषाद, पाथेय, और दैनिकी

इत्यादि में संगृहीत हैं। विषाद की रचनाएँ गद्य गीतात्मक हैं। उन पर रवीन्द्रनाथ टैगोर की रचनाओं की स्पष्टतः छाप है। यह कविताएँ उनकी प्रारंभिक कविताएँ हैं। यह सच है, कि काव्य कला और कल्पना की दृष्टि से विषाद की कविताओं का अधिक महत्व नहीं है, पर उनमें कवि के भावी जीवन की झलक अवश्य विद्यमान है। कला और कल्पना का चमत्कार न होते हुए भी उनमें जीवन की सरलता और निश्छलता है। पाथेय में कवि का स्वरूप बदला हुआ दृष्टिगोचर होता है। 'विषाद' का कवि जीवन के बाह्य स्वरूप पर ही मुग्ध था, पर पाथेय में उसकी दृष्टि अन्तर्मुखी हो उठी है। यद्यपि पाथेय में भी बाह्य के मोह से वह विमुख नहीं हुआ है, पर उसकी दृष्टि में गम्भीरता, तीव्रता, और संलग्नता है।पाथेय में उनकी रचनाएँ अन्तर्जगत में विहार करती हैं। पाथेय का कवि अद्वैतवादी भी है। ईश्वर, सृष्टि, सत्ता, प्रकृति, और मानव जीवन का चित्रण उसने अद्वैतवाद को ही लक्ष्य मान कर किया है। पर उसके चित्रण में विचारों का चिंतन नहीं, भावों की प्रधानता है। पाथेय का दार्शनिक कवि दैनिकी में जीवन से त्रस्त है। वह जगत में युद्ध की भयंकरता को देख कर उससे समाकुल हो उठा है, और स्पष्ट शब्दों में उसकी हिंसात्मक प्रवृत्ति की निन्दा करता है। दैनिकी के कवि में पाथेय के कवि की भाँति सत्यता नहीं है। पाथेय का कवि जहाँ विशुद्ध रूप से दार्शनिक था, वहाँ दैनिकी का कवि मोह जाल में आश्वस्त दिखाई देता है। कभी तो वह जीवन के अतल में प्रवेश करके सत्य की राह ढूँढता है, और कभी गाँधीवाद से प्रभावित होकर संकीर्ण सीमा के ही भीतर रह जाता है।

श्री सियारामशरणजी ने मुक्तक की भाँति प्रबंध काव्य भी लिखे हैं। उनके प्रबन्ध काव्य खंड काव्य के रूप में हैं, जो ऐतिहासिक, पौराणिक, और काल्पनिक कथाओं के आधार पर लिखे गए हैं। मौर्य विजय ऐतिहासिक खंड काव्य है। इसकी कथा सिकंदर सिल्यूकस, और चन्द्रगुप्त मौर्य की प्राचीन कथा है, पर कवि की लेखनी में पहुँच कर उसने नवीन स्वरूप धारण कर लिया है। कथा का विकास खंड काव्य में उचित रूप से हुआ है। जिस लक्ष्य और आदर्श को लेकर कवि ने अपने इस खंड काव्य की रचना की है, उसमें उसे सफलता प्राप्त हुई है। वह अपने इस खंड काव्य में भारत के अतीत गौरव को, जो उसका लक्ष्य है, चित्रित करने में समर्थ हो सका है। 'अनाथ' की कथा काल्पनिक है, जो करुणात्मक और संवेदनामूलक है। साधारणजन के दुःख पूर्ण चित्रों से कथा को कवि ने बड़ी मार्मिकता के साथ सँजोया है। 'आत्मोत्सर्ग' में स्वर्गीय गणेशशंकर के बलिदान की कहानी है। 'बापू' में महात्मा गाँधी के आदर्शों का राग गाया गया है। 'मृण्मयी' कलात्मक रचना है।

श्री सियारामशरण का काव्य क्षेत्र कई भावनाओं की समष्टि का काव्य-क्षेत्र है; दूसरे शब्दों में उनका काव्य-क्षेत्र एक ऐसा केन्द्र बिन्दु है, जिससे कई धाराएँ निकल कर प्रवाहित होती हैं। वे व्यक्ति भावनावादी भी हैं, और समष्टिवादी भी। उनकी रचनाएँ सामाजिकता, और राष्ट्रीयता के क्षेत्र में व्यक्ति स्वातन्त्र्य का राग गाती हैं,

और आदर्श की ओर भी उन्मुख हैं। उनमें यथार्थवाद और उपयोगितावाद की आकांक्षाएँ भी हैं, और गाँधीवाद की नैतिक कामनाएँ भी। उनकी कल्पना भौतिकता के आँचल में भी खेलती है, और दार्शनिकता के भाव-जगत में भी विचरण करती है। इस प्रकार उनका काव्य-जीवन कई प्रकार की भावनाओं की एक समष्टि है, किन्तु प्रत्येक क्षेत्र में वह सरल, और निश्छल है। उसमें कहीं भी वह आडम्बर नहीं है, जो वास्तविकता और सत्य पर आवरण का काम देता है।

श्री माखनलाल चतुर्वेदी सुप्रसिद्ध कवि, वक्ता, और सुलेखक हैं। उनके जीवन का अधिकांश समय साहित्य की साधना में ही व्यतीत हुआ है। वे अब भी साहित्य की आराधना में ही संलग्न हैं, पर ग्रन्थ निर्माण की ओर अब तक उन्होंने ध्यान नहीं दिया है। यह भी हो सकता है, कि ग्रन्थ निर्माण का उन्हें अवसर ही न प्राप्त हुआ हो, इसलिए उनका कोई स्वतन्त्र ग्रन्थ नहीं है। अब तक उनकी जो रचनाएँ प्रकाशित हो चुकी हैं, उनके नाम इस प्रकार हैं—शिशुपाल वध, हिमकिरीटिनी, हिम तरंगिनी, कृष्णार्जुन युद्ध, साहित्य देवता, बनवासी, और कला का अनुवाद। 'शिशुपाल वध' संस्कृत के माघ का अनुवाद है। 'हिमकिरीटिनी', और 'हिम तरंगिनी' उनकी कविताओं का संग्रह है। 'कृष्णार्जुन युद्ध' नाटक, और साहित्य देवता गद्य काव्य सम्बन्धी कृति है। 'बनवासी' और 'कला के अनुवाद' में उनकी कहानियाँ संगृहीत हैं।

चतुर्वेदीजी की काव्य-कल्पना ने कई क्षेत्रों में अपनी महत्ता का प्रदर्शन किया है। उनके हृदय में जो कवि है, वह अधिक भावुक और संवेदनशील है। उसकी कल्पना का पटल इतना सहानुभूतिमय है, कि उस पर अपने आप ही अभावों के दयनीय चित्र अंकित हो जाते हैं। उनके हृदय-स्थित कवि की संवेदनशीलता ने ही उनकी रचनाओं को विविध भावों के साँचे में ढाल दिया है। उनकी रचनाएँ कई प्रकार की हैं। उनमें राष्ट्रीय भावनाओं का विकास हुआ है, तथा जागरण का संदेश भी है। उनमें प्रेम की कोमल, और सरस अनुभूतियाँ हैं, और क्रांति की चिनगारियाँ भी हैं। उनमें आध्यात्मिक भावनाएँ हैं, और लौकिक कामनाएँ भी हैं। इस प्रकार उनकी काव्य-कल्पना एक केन्द्र-बिन्दु सी है, जिसमें कई प्रकार की भाव-धाराएँ आकर समाहित हुई हैं।

चतुर्वेदीजी की जो रचनाएँ हमारे समुख हैं, उन्हें हम समीक्षा की दृष्टि से तीन वर्गों में विभाजित कर सकते हैं—राष्ट्रीय भावों से सम्बन्ध रखने वाली, प्रेम की कोमल अनुभूतियों से सम्बन्ध रखने वाली, और आध्यात्मिक भावों से सम्बन्ध रखने वाली। प्रथम वर्ग में उनकी राष्ट्रीय रचनाएँ हैं। उनकी राष्ट्रीय रचनाएँ दो प्रकार की हैं। एक में सृजन की कामना है, और दूसरे में विध्वंस की भावना। दोनों ही प्रकार की रचनाओं में त्याग, और उत्सर्ग का भाव है। यद्यपि ये रचनाएँ उनकी प्रारंभ काल की रचनाएँ हैं, पर उनमें ओजस्विनी काव्य-कल्पना, और प्रशंसनीय चमत्कार देखने को मिलता है। उनकी दूसरी प्रकार की रचनाएँ प्रेम

की भावनाओं से उल्लसित हैं। राष्ट्रीयता के क्षेत्र से निकलकर जब चतुर्वेदीजी प्रेम के क्षेत्र में प्रवेश करते हैं, तब उनका हृदय विचित्र कौशल के साथ प्रेम के साँचे में ढल जाता है। प्रेमी कवि के रूप में वे हृदय के अन्तस्तल में प्रवेश कर सके हैं, और मधुर तथा सरस भावों की धारा बहाने में समर्थ हो सके हैं। उन्होंने जिस प्रेम की रागिनी गाई है, वह एक नवीन प्रकार का प्रेम है। उसका स्वरूप समय के अनुकूल है, और उसकी आकांक्षाएँ युग की भावनाओं के साँचे में ढली हुई हैं। उनका प्रेम एक ऐसा प्रेम है, जिसमें सौंदर्य है, टीस है, वेदना है, और सहानुभूति है। वे जिस प्रेम की आराधना करते हैं, वह सर्वत्र दिखाई देता है। वे उसे फूल में ही नहीं पाते, काँटों में भी पाते हैं; दूसरे शब्दों में उनके प्रेम का क्षेत्र अधिक विस्तृत और व्यापक है। उन्होंने अपने प्रेम का शृंगार कोमल कल्पनाओं, और सरस अनुभूतियों से किया है। शृंगार करने में उन्होंने जो शैली ग्रहण की है, वह अपने ढंग की अद्वितीय है। उनके प्रेम के स्वरूप को गढ़ने वाला उनका प्रत्येक शब्द अधिक कुशल, और अपनी कला में अधिक निष्णात सा ज्ञात होता है।

चतुर्वेदीजी की तीसरे वर्ग की रचनाएँ वे हैं, जिनमें आध्यात्मिक भावों का विकास हुआ है। यद्यपि उनका मुख्य क्षेत्र राष्ट्रीयता और प्रेम ही है, पर कभी-कभी उनकी लेखनी से ऐसी रचनाएँ भी निकल पड़ती हैं, जिनमें आध्यात्मिकता का आभास मिलता है। प्रेमात्मक रचनाओं की भाँति ही आध्यात्मिक रचनाओं में भी कोमल कल्पनाओं के द्वारा रहस्यवादी भावों का विकास हुआ है। आध्यात्मिक रचनाओं में उनकी प्रवृत्ति रहस्यवाद की ओर नहीं है। इसलिए हम यह कह सकते हैं, कि उनकी रचनाओं में रहस्यवादी की जो झलक आई है, उसका कारण उनकी भाव-प्रवणता, और प्रेमात्मकता है। जहाँ कहीं वे भावानुभूतियों में अधिक डूब गए हैं, और जहाँ उन्होंने प्रेम के अंचल को अधिक भावुकता के साथ फैलाया है, वहाँ उनकी रचनाओं में 'रहस्यवाद' झलक उठा है। उनके 'रहस्यवाद' का न तो कोई निश्चित स्वरूप है, और न उसका कोई निश्चित ध्येय ही जान पड़ता है। यही कारण है, कि अत्र-तत्र उसमें अस्पष्टता, और रूक्षता भी उत्पन्न हो गई है।

रहस्यवाद और छायावाद के कवि

खड़ी बोली के कवियों के द्वारा नए भावों की अभिव्यक्ति हिन्दी-कविता-जगत में स्वर्गीय जयशंकर प्रसाद से पूर्व ही होने लगी थी। यह तो नहीं कहा जा सकता, कि उन कवियों की रचनाओं में उस छायावाद का सुव्यवस्थित स्वरूप पाया जाता है, जिसके प्रवर्तक 'प्रसाद' जी कहे जाते हैं; पर उन कवियों की रचनाओं से इस बात की सूचना तो मिलती ही है, कि हिन्दी काव्य-जगत में नए युग का आगमन हो रहा है। सर्व प्रथम उस नवीन युग का आभास, जिसे हम छायावादी युग कहते हैं, प्रसादजी की रचनाओं से मिलता है। 'प्रसादजी' की नवीन प्रकार की रचनाएँ जब नवीन भाषा, और शैली में सुसज्जित होकर सामने उपस्थित हुईं, तब वे लोगों को विचित्र-सी ज्ञात हुईं। किसी ने

उन रचनाओं को स्वच्छन्दतावादी काव्य के भीतर माना, तो किसी ने उनको रोमांटिक काव्य के अन्तर्गत रक्खा। किसी ने उन्हें 'रहस्यवाद' के विशेषण से विभूषित किया तो किसी ने 'छायावाद' की उपाधि दी। इस प्रकार 'प्रसादजी' की रचनाओं के संबंध में कुछ दिनों तक तर्क-वितर्क चलता रहा। अन्त में प्रसादजी की रचनाओं ने छायावाद, और 'रहस्यवाद' के क्षेत्र में अपना आधिपत्य जमा लिया, और वे 'छायावादी' रचनाओं के नाम से पुकारी जाने लगीं। 'प्रसादजी' के साथ ही साथ 'निराला', पन्त, और श्रीमती महादेवी वर्मा इत्यादि ने भी इसी दिशा में अपने चरण बढ़ाए; परिणाम स्वरूप हिन्दी काव्य के अन्तर्गत 'छायावाद' का प्रवाह अखंड रूप से प्रवाहित हो चला, और कुछ ही दिनों में उसने हिन्दी-काव्य के भीतर अपना प्रमुख स्थान बना लिया।

छायावादी कवियों की रचनाओं पर प्रकाश डालने के पूर्व 'छायवाद' के स्वरूप का विवेचन कर लेना ठीक होगा। हिन्दी में 'छायावाद' और 'रहस्यवाद' का जन्म किस प्रकार हुआ—इस संबंध में लोगों के भिन्न-भिन्न मत हैं। किसी-किसी का मत है, कि हिन्दी में 'छायावाद' और रहस्यवाद का जन्म अँगरेजी के प्रभाव के कारण हुआ है, और कोई कोई उसके जन्म का कारण स्वर्गीय रवीन्द्रनाथ टैगोर की रचनाएँ बताते हैं। मेरा अपना यह मत है, कि हिन्दी में रहस्यवाद और छायावाद का जन्म कविता की उसी प्रकृति के कारण हुआ है, जिसके कारण बंगाली और अँगरेजी में उसका जन्म हुआ था। प्रथम और द्वितीय उत्थान में हिन्दी की जो कविता बाह्य जगत के दृश्यों से ही अपना व्यापार करती रही है, वही तृतीय उत्थान में शनैः शनैः सूक्ष्मवादिनी बन गई है। प्रथम और द्वितीय उत्थान में वह उन सीढ़ियों पर थी, जिसे हम वर्णनात्मक और इतिवृत्तात्मक सीढ़ियाँ कह सकते हैं। तृतीय उत्थान में वही हिन्दी कविता विकसित होकर भावबादिनी हो गई है। तृतीय उत्थान की नवीन हिन्दी कविता, जिसे हम छायावादी कहते हैं, भाव और अनुभूतिमय है। उसकी संपूर्ण व्यापार सूक्ष्म भावानुभूति पर ही अवलम्बित है। उसके विषय भी इस प्रकार के हैं, जिनसे भावों की अभिव्यंजना होती है। उसके विषयों में मार्मिकता, और तीव्रता रहती है। वह अन्तर्जगत से निकलती है, और अन्तर्जगत के विविध भावों से ही अपना अभिसार करती है। वह सत्य को भी स्पर्श करती है, और विशुद्ध कल्पनाओं के धरातल पर भी अभिनय करती है। जहाँ वह विशुद्ध काल्पनिक होती है, वहाँ भी उसके भीतर एक सत्य अन्तर्निहित रहता है। वह जिस भाषा और शैली के भीतर अपना व्यापार करती है, उसमें लाक्षणिकता और सांकेतिकता की प्रचुरता होती है। उसकी भाषा के शब्द-शब्द में, पद-पद में एक अनूठी वक्रोक्ति और एक अनूठी कांति छिपी रहती है। शब्दों की वक्रोक्ति और कान्ति के ऊपर ही उसके अर्थों का व्यापार चलता है।

हिन्दी कविता में 'छायावाद' दो रूपों में पाया जाता है। उसका एक रूप तो वह है, जहाँ कवि की भाषा और उसके शब्दों की कांति में विराट और अप्रत्यक्ष

सत्ता का दर्शन होता है; दूसरे शब्दों में जहाँ कवि की भावानुभूति का आधार अप्रत्यक्ष अलौकिक शक्ति और विराट सत्ता होती है। इस प्रकार के छायावाद को ही हम रहस्यवाद कहते हैं। श्रीमती महादेवी वर्मा की रचनाओं में इसी प्रकार का 'छायावाद' मिलता है। प्राचीन सन्त कवियों की रचनाओं में भी इसी प्रकार के छायावाद का आभास मिलता है। दूसरे प्रकार का छायावाद वह है, जहाँ कवि ने प्रस्तुतों के स्थान पर अप्रस्तुत प्रतीकों से काम लिया है; दूसरे शब्दों में जहाँ उसने आध्यात्मिक विषयों के अतिरिक्त और सभी प्रकार के विषयों की अभिव्यंजना में भी 'प्रतीकों' को ग्रहण किया है। 'प्रसाद', और 'पन्त' की रचनाओं में इस दूसरे प्रकार के छायावाद का विकास हुआ है।

स्वर्गीय जयशङ्कर प्रसाद महाकवि थे। उन्होंने काव्य के क्षेत्र में महाकवि की भाँति ही अपनी काव्य कल्पना का विस्तार किया है। उनकी काव्य-कृतियों में प्रेम पथिक, महाराणा का महत्व, करुणालय, चित्राधार, कानन कुसुम, आँसू, झरना, लहर, और कामायनी का महत्वपूर्ण स्थान है। आँसू, और कामायनी उनकी सर्वश्रेष्ठ कृतियाँ हैं। कामायनी उनका महाकाव्य है। 'कामायनी' की रचना करके उन्होंने अपने को सदा के लिए अमर बना लिया है। प्रेम पथिक एक खंड काव्य है, जिसकी रचना एक लघु कथा के आधार पर हुई है। इसकी शैली अनुकांत है। अनुकांत शैली में प्रेम के करुण चित्र इसमें कुशलता के साथ अंकित किए गए हैं। करुणालय में एक पौराणिक कथा है, जो विश्वामित्र, और हरिश्चन्द्र से सम्बन्ध रखती है। 'महाराणा का महत्व' शुद्ध ऐतिहासिक है। इसमें मौलिकता की छूटा, और कल्पना का विस्तार देखने को मिलता है। 'चित्राधार' में प्रारंभिक काल की रचनाएँ संगृहीत हैं। इसमें ऐसी भी रचनाएँ हैं, जो ब्रजभाषा में लिखी गई हैं। 'कानन कुसुम' भी प्रारंभिक काल की ही रचनाओं का संग्रह है। 'झरना' प्रेम के संयोग, और वियोग के चित्रों से परिपूर्ण है। 'आँसू' प्रसादजी की कलात्मक कृति है। इसमें कोमल भावनाओं, और अनुभूतियों का चित्रण बड़ी कुशलता के साथ किया गया है। इसमें लौकिक प्रेम की अभिव्यंजना आध्यात्मिक क्षेत्र में सफलता पूर्वक की गई है। 'लहर' में प्रसादजी की मुक्तक रचनाएँ संगृहीत हैं, जिनका आधार प्रेम, सौंदर्य, यौवन, वियोग, मिलन, प्राकृतिक सुषमा, और आध्यात्मिक चिन्तन है। कामायनी प्रसादजी की सर्वश्रेष्ठ कृति है। यह महाकाव्य है, जिसकी रचना का आधार मनु की कथा है। मनु की कथा यद्यपि पौराणिक है, पर प्रसादजी ने उसे बड़ी कुशलता के साथ सँजोया है। कथा की दृष्टि से कामायनी अप्रतिम तो है ही, उसमें काव्य, और कला का पक्ष भी अधिक प्रबल है।

प्रसादजी का कवि-कर्म अधिक विस्तृत है। उन्होंने काव्य के क्षेत्र में अपनी कला का प्रदर्शन कई रूपों में किया है। उनकी काव्य-कृतियों, और उनकी कला के मर्म को ठीक-ठीक समझने के लिए हम उनके कवि-जीवन को तीन भागों में विभक्त करते हैं—प्रथम चरण में प्रसाद, व्यक्तिवादी प्रसाद, और आध्यात्मिक प्रसाद। पहले

हम प्रसादजी के उस काव्य जीवन पर विचार करेंगे, जिसे हम उनके जीवन का प्रथम चरण कहते हैं। अपने कवि जीवन के प्रथम चरण में प्रसादजी भारतेन्दु, और द्विवेदी युग के चौराहे पर खड़े दिखाई देते हैं। उन्होंने इस चौरास्ते पर खड़े होकर ब्रज-भाषा, और खड़ी बोली—दोनों में ही रचनाएँ की हैं। पर प्रसादजी की ब्रजभाषा वह ब्रजभाषा नहीं, जो रीतिकाल में थी। प्रसादजी की ब्रजभाषा में नवीन विषयों, और भावों की अवतारणा हुई है। यद्यपि इस दिशा में उन्हें अधिक सफलता नहीं प्राप्त हो सकी है, पर उन्होंने नवीनता का परिचय अवश्य दिया है। प्रथम चरण में प्रसादजी ने खड़ी बोली में जो रचनाएँ की हैं, उनमें भी उनके जीवन का परिचय मात्र ही है। प्रथम चरण की उनकी कविताओं की केवल इतनी ही विशेषता है, कि उनसे उनके भावी जीवन की झलक मिलती है।

अपने जीवन के प्रथम चरण से निकल कर प्रसादजी जब व्यक्तिवादी के रूप में प्रगट होते हैं, तब उनके काव्य-जीवन का स्वरूप अधिक परिवर्तित दृष्टिगोचर होता है। प्रथम चरण के क्षेत्र से निकल कर जब प्रसादजी 'व्यक्तिवादी' के क्षेत्र में आए, तब द्विवेदी युग की सत्ता व्याप्त हो रही थी। द्विवेदीजी द्वारा प्रवर्तित वह युग, जिसमें प्रसादजी का आविर्भाव हुआ था, काव्य की दृष्टि से अधिक महत्व का न था। कविता का निर्माण हो रहा था, पर उसमें केवल वर्णनों की प्रधानता थी। द्विवेदी युग के काव्य-क्षेत्र में, प्रथम बार प्रसादजी ने ही दुख-सुख का राग गाया। उनका दुख सुख वैयक्तिक दुख-सुख था। उन्होंने इस रूप में जीवन को काव्य में स्थान दिया, और अनुभूतियों का चित्रण किया। उन्होंने स्वानुभूत अनुभूतियों की अभिव्यक्ति में नई भाषा, नई शैली, और नई अभिव्यञ्जनाओं से काम लिया। उनकी नवीन अभिव्यञ्जनाओं, और कल्पनाओं को देख कर रूढ़िवादियों ने उनका विरोध किया, पर वे विरोध के कङ्कड़-पत्थरों को पीसते हुए बराबर अग्रसर होते ही गए। व्यक्तिवादी के रूप में प्रसादजी ने जीवन को काव्य में स्थान दिया है। उन्होंने जीवन को नवीन दृष्टि से देखा है। जीवन का घटना चक्र उनके व्यक्तित्व में समाविष्ट-सा हो गया है, और वे एक कलाविद् की भाँति ही उसका चित्रण करते हुए दिखाई देते हैं। उन्होंने व्यक्तिवाद के क्षेत्र में रह कर केवल दुख-सुख का ही अनुभव नहीं किया है, वरन् प्रेम और सौंदर्य से भी घनिष्ठता प्राप्त की है। प्रेम और सौंदर्य के चित्रण में वे विशुद्ध भाववादी हैं। उन्होंने भाव की दृष्टि से ही प्रेम और सौंदर्य को देखा है। उनके प्रेम और सौन्दर्य में वासना की कुरूपता नहीं, हृदय की निर्मलता है। प्रसाद जी ने व्यक्तिवाद के क्षेत्र में नई अनुभूतियों के साथ ही साथ नई कल्पनाओं की भी सृष्टि की। उन्होंने अपनी नवीन अनुभूतियों के लिए नवीन व्यंजनाएँ ढूँढ़ी। नए-नए वाक्य, विन्यास और नए-नए शब्दों का भी उन्होंने प्रयोग किया। उन्होंने अपनी शैली में नाटकीयता, और लाक्षणिकता को स्थान दिया, और उसके द्वारा अपनी शैली को रहस्यात्मक बनाया। छन्दों और भाषा के क्षेत्र में भी उन्होंने परिवर्तन किया; इस प्रकार उन्होंने इस क्षेत्र में प्राचीन काव्य-शरीर को बदलने के साथ ही

साथ उसकी आत्मा में भी परिवर्तन कर दिया। भाव, भाषा, और शैली के क्षेत्र में अब तक जो परंपराएँ प्रचलित थीं, प्रसादजी ने उनकी शृंखला तोड़ दी, और एक नवीन काव्य-परिपाटी चलाई।

व्यक्तिवादी प्रसाद से आध्यात्मिक प्रसाद का स्थान कहीं अधिक ऊँचा है। अध्यात्म के क्षेत्र में प्रसादजी की काव्य कला का प्रौढ़ स्वरूप प्रगट हुआ है। प्रसाद जी भाव-जगत के कवि हैं। उनकी कल्पना भावों, और अनुभूतियों से ही खेल करती है। वे प्रेम, सौन्दर्य, और विरह के सागर में डूब कर अनमोल भाव-रत्न निकालने में समर्थ हो सके हैं। यद्यपि कहीं-कहीं उन्होंने प्रेम, और सौंदर्य के बाह्य रूप का ही चित्रण किया है, पर उनकी रचनाओं में मुख्य रूप से प्रेम, और सौंदर्य के आंतरिक रूप की ही पूजा अधिक पाई जाती है। उनकी रचनाओं में प्रेम, सौन्दर्य, और विरह के आंतरिक स्वरूपों का मार्मिक चित्रण हुआ है। आध्यात्मिक प्रसाद की काव्य दृष्टि बड़ी तीव्र, और रहस्यमयी है। वे अपनी दृष्टि की तीव्रता से मानव-हृदय के अतल में भी प्रवेश करते हैं, और उसकी दुर्बलताओं को देख कर उसका अङ्कन करते हैं। मानव हृदय के द्वन्दों, और झंझावातों पर उनका अधिकार है। मन के भीतर उठने वाले द्वन्दों, और उद्वेगों का चिन्तन वे बड़ी सूक्ष्मता के साथ करते हैं। उनके 'आँसू', और 'कामायनी' में अन्तर्द्वंदों के प्रशसनीय चित्र मिलते हैं। 'झरना' और 'लहर' में उनके 'प्रेम', और सौंदर्य के भाव चित्रों में वास्तविकता सजीव हो उठी है। अध्यात्मवाद के क्षेत्र में प्रसादजी छायावादी और रहस्यवादी के रूप में प्रगट हुए हैं। उनकी रहस्यवादी रचनाएँ रवीन्द्रनाथ टैगोर की गीतांजलि से प्रभावित हैं, पर उनमें प्रसादजी की मौलिकता सुरक्षित है। छायावाद और रह स्यवाद के क्षेत्र में प्रसादजी पहले कवि हैं, जिन्होंने हिन्दी-काव्य जगत में इस प्रकार की रचनाओं की अवतारणा की। यही कारण है, कि लोग प्रसादजी को ही रहस्यवाद और छायावाद का प्रवर्तक भी मानते हैं। रहस्यवाद के क्षेत्र में प्रसादजी अद्वैतवादी हैं। इन्होंने अद्वैतवादी की दृष्टि से प्रकृति के तत्त्वों में मानव जीवन के प्रतिबिंब को देखा है, और एक कवि के रूप में उसका चित्रण किया है। केवल प्रकृति के तत्त्वों में ही नहीं, लौकिक प्रेम, और सौन्दर्य में भी उन्होंने अक्षय सौन्दर्य का अनुभव किया है। उनके प्रकृति और मानवी सौन्दर्य में स्थूलता के लिए स्थान नहीं है। उन्होंने सर्वत्र एक तत्त्व दर्शी की भाँति ही प्रेम और सौन्दर्य का अनुभव किया है, और एक कुशल काव्य शिल्पी के रूप में उसके चित्र अंकित किए हैं।

पं० सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' युगांतरकारी कवि हैं। इन्होंने अपनी रचनाओं के द्वारा हिन्दी कविता-जगत में एक नवीन युग की स्थापना की है। उनकी रचनाओं की अपनी एक विशिष्टता है। उनकी रचनाओं की पृष्ठभूमि एक निराली पृष्ठभूमि है। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र से लेकर द्विवेदीजी तक पृष्ठभूमि के निर्माण में जो भी विधियाँ काम में लाई गई हैं; दूसरे शब्दों में काव्य की पृष्ठभूमि के रूप में जिन

विषयों और वस्तुओं का प्रयोग किया गया है, निरालाजी के काव्य की पृष्ठभूमि उनसे सर्वथा पृथक है। उन्होंने भारतेन्दु हरिश्चन्द्र से लेकर द्विवेदी काल तक की संपूर्ण विधियों, और परम्पराओं को तोड़ करके ही अपने काव्य की पृष्ठभूमि निर्मित की है। काव्य की पृष्ठभूमि का निर्माण करने में ही उन्होंने परम्पराओं पर आघात नहीं किया है, वरन् भाव, भाषा, कल्पना, शैली, और छन्द—प्रत्येक क्षेत्र में उन्होंने प्रचलित प्रणालियों का परित्याग करके नवीनता को ग्रहण किया है। नवीनता को ग्रहण करने में वे पूर्ण रूप से स्वतन्त्र हैं। न तो कोई उनका आधार है, और न वे किसी का अनुगमन ही करते हैं। बँगला की रचनाओं की छाप उन पर अवश्य है, पर इसमें रंच मात्र भी सन्देह नहीं, कि उन्होंने स्वयं ही अपने पथ का निर्माण किया है। हिन्दी काव्य के लिए उनका पथ नवीन पथ था। अतः उनके इस प्रयास का अधिक विरोध भी हुआ। बड़े बड़े समालोचकों, और विद्वानों तक ने उनके प्रयास की तीव्र आलोचना की। पर आलोचना के तीव्र झंझावातों में वे बराबर आगे ही बढ़ते गए हैं, और आज अपनी उद्भट काव्य प्रतिभा की शक्ति से उन्होंने हिन्दी-काव्य-जगत में अपना सुदृढ़ स्थान बना लिया है।

निरालाजी की रचनाओं की पृष्ठभूमि विभिन्न विषयों पर आधारित है, पर उनकी सभी रचनाओं में ओजस्विता के तत्त्व समान रूप से मिलते हैं। वे अपनी पदावलियों का निर्माण ऐसे शब्दों की सहायता से करते हैं, जिनके भीतर एक प्रकार की विशेष शक्ति सी अंतर्निहित रहती है। उनके शब्द, और उनकी पदावलियाँ दृढ़ता पूर्वक अपने स्थान पर स्थित दृष्टिगोचर होती हैं। उनके शब्दों में घनिष्ठता, और पदावलियों में क्रमबद्धता होती है। शब्दों की घनिष्ठता, और पदावलियों की क्रम बद्धता के कारण उनकी रचनाओं में सर्वत्र प्रवाह पाया जाता है। एक अखंडित झरने की भाँति ही उनकी रचनाओं का स्वर सुनाई पड़ता है। 'निरालाजी' की रचनाओं में हृदय, और मस्तिष्क के तत्त्वों का समन्वय बड़ी कुशलता के साथ हुआ है। बुद्धि और भावना के तत्त्व उनकी रचनाओं में घुल-मिल कर एक हो गए हैं। 'निरालाजी' दार्शनिक हैं, पर इसके साथ ही साथ कवि भी हैं। उनके काव्य का तत्त्व इतना शक्तिशाली है, कि दार्शनिक तत्व उसके भीतर अधिक सरस और मधुर हो गए हैं। निरालाजी की रचनाओं की यह सबसे बड़ी विशेषता है। कहीं कहीं दार्शनिक तत्त्वों के संमिश्रण के कारण उनकी भावनाएँ जटिल अवश्य हो गई हैं, पर ऐसे स्थानों में भी उन्होंने दार्शनिक तत्वों को अपने में घुला लेने वाले अपने महत्व पूर्ण गुण का परित्याग नहीं किया है।

निरालाजी ने अपनी रचनाओं में सर्वत्र 'अभिधा' पर ही अधिक बल दिया है। इस प्रकार से अभिधा शैली के ही कवि हैं। ऐसी बात नहीं, कि वे ध्वनि मूलक काव्य की श्रेष्ठता को नहीं मानते, पर उन्होंने अपनी रचनाओं में सर्वत्र अभिधा शैली से ही काम लिया है। अभिधा शैली की मुख्यता के कारण कहीं कहीं उनकी रचनाएँ बुद्धि के लिए अगम्य बन गई हैं। उन्होंने ऐसी भी रचनाएँ की हैं,

जो सांकेतिक हैं। उनके गीतों में सांकेतिकता के अच्छे चित्र मिलते हैं। 'निराला' जी की रचनाओं का शरीर विरोधी तत्वों से सुगठित हुआ है। उसमें कोमलता और कठोरता का समन्वय बड़ी सुन्दरता के साथ हुआ है। उनके काव्य-शरीर में जो आत्मा निवास करती है, वह उदात्त भावों से परिपूर्ण है। उसमें लय और सृजन-दोनों की ही शक्ति है। वह अट्टहास करती है, और करुणा के चित्र भी उपस्थित करती है। उसकी सिसकियों, और उसकी आह में क्रान्ति है—विप्लव है।

श्रीमती महादेवी वर्मा आधुनिक कविता जगत में अपना महत्व पूर्ण स्थान रखती हैं। उनकी काव्य कला एक विशिष्ट प्रकार की काव्य कला है। वह एक ऐसी काव्य कला है, जो संपूर्ण पूर्ववर्ती कवियों से पृथक दृष्टिगोचर होती है। उसका आधार दुःख, और वेदना है। उसने दुःख और वेदना से ही अपने व्यापार की रचना की है, पर उसका दुःख, और उसकी वेदना लौकिक दुःख और वेदना नहीं है। उसका दुःख पार्थिव जगत की किसी वस्तु के लिए नहीं है, और न उसकी पार्थिव जगत की किसी वस्तु में आसक्ति ही है। वह उस पार्थिव जगत में, जो दुख रूप है, जो नश्वर है, एक अपूर्व सौन्दर्य सत्ता को खोजती है। उस अपूर्व सौंदर्य सत्ता का कोई रूप नहीं, कोई स्वरूप नहीं। श्रीमती महादेवी वर्मा की काव्य कला उसी को अपना प्रियतम मानकर उसके विरह का राग गाती है। उनकी संपूर्ण रचनाएँ विरह की रागिनी हैं, जो दुःख और वेदना की वीणा पर बजती हुई सुनाई देती हैं। श्रीमती वर्मा का दुःख एक ऐसा दुःख है, जिसकी सत्ता असीमित है। वे जीवन को दुःख की ही अभिव्यक्ति मानती हैं। उनका विश्वास है, कि दुःख से आत्मा को परमोज्वलता का स्वरूप मिलता है, और वही उसे अनन्त सत्ता के सन्निकट पहुँचाने वाला एक मात्र साधन है। यही कारण है, कि उनकी अनुभूतियों में, उनके भावों में दुःख और वेदना का रस छाया हुआ है। उनका दुःख अनन्त सौन्दर्य-सत्ता के विरह का दुःख है, उसके वियोग की वेदना है। अनन्त सौन्दर्य सत्ता के रूप में उनका जो प्रियतम है—उनके सन्निकट वह विराग का राग गा करके ही पहुँचना चाहती हैं। उन्हें उसके सन्निकट पहुँचना ही इष्ट है—प्रिय है। उसी के लिए उनकी आकुलता है—उसी के लिए उनकी तड़प है। उनकी आकुलता, और उनकी तड़प वैसी ही है, जैसी मीरा के हृदय में थी। मीरा के पास कल्पनाओं का बल न था। उनकी अनुभूतियों में तीव्रता तो थी, पर उन अनुभूतियों की अभिव्यक्ति के लिए उनके पास उचित साधनों का अभाव था। इधर श्रीमती वर्माजी के पास कल्पना की अतुल शक्ति है, रहस्यात्मक अनुभूति का ज्ञान है, संवेदनशील प्रतिभा है, गम्भीर अध्ययन है, और भाषा की कलात्मकता है; अतः उनकी रचनाओं में मनोरम आकर्षण उत्पन्न हो गया है।

श्रीमती महादेवी वर्मा ने अपनी रचनाओं में रहस्यात्मक अनुभूतियों के ही चित्र खींचे हैं। उन्होंने सर्वत्र प्रतीकों, और लाक्षणिक व्यंजनाओं के द्वारा रहस्यात्मक

भावों की सृष्टि की है। उनकी सृष्टि में कहीं अज्ञेय सौंदर्य के प्रति तन्मयता है, और कहीं रूप का हास विलास। कहीं वियोग का दुःख है, तो कहीं विरह की करुणा। कहीं उसमें मिलन के लिए उत्कंठा है, तो कहीं प्रेम का आह्वान। कहीं आशा है, कहीं निराशा। इस प्रकार उनकी भाव सृष्टि कई रूप-चित्रों से पूर्ण है। उनकी भाव-सृष्टि के सभी रूप चित्र सांकेतिक हैं। श्रीमती वर्मा ने अपने रहस्यवाद की सृष्टि दो क्षेत्रों में स्थित होकर की है—प्रकृति के क्षेत्र में, और जीवन के क्षेत्र में। अपनी प्रारम्भिक रचनाओं में वे प्रकृति के क्षेत्र में ही दृष्टिगोचर होती हैं। प्रारम्भ में प्रकृति ही उनका माध्यम थी। वे जिस प्रियतम के सौंदर्य के पर मुग्ध हैं, और जिसका वियोग दुःख बन कर उनके हृदय में समाविष्ट है, उसकी झलक उन्हें पहले प्रकृति के तत्वों में ही मिली है। प्रारम्भिक रचनाओं में उन्होंने जीवन और प्रकृति का सामंजस्य स्थापित किया , और उसी की पृष्ठभूमि पर रहस्यात्मकता की सृष्टि की है।

पर प्रकृति के तत्त्व उन्हें अधिक दिनों तक विरमाए न रह सके हैं। जब उनकी रहस्यवादी दृष्टि में तीव्रता बढ़ी, और उनकी अनुभूतियाँ सूक्ष्मता के जाल बुनने लगीं तो वे उस अनन्त सौंदर्य—सत्ता का अनुभव जीवन के ही तत्वों में करने लगीं, और प्रकृति के क्षेत्र को छोड़कर जीवन के क्षेत्र में आ गईं। जीवन के तत्त्वों को लक्ष्य मानकर उन्होंने जिन रहस्यात्मक चित्रों की सृष्टि की है, वे अपूर्व हैं। इन चित्रों में पहले के भाव—चित्रों की अपेक्षा अधिक तन्मयता, और अधिक विभोरता है। श्रीमती वर्माजी के भाव गीत प्राणों के गीत हैं। उनमें कल्पनाओं का अभिसार है, और अनुभूतियों की हृदयहारिणी छटा। कला बड़ी उदारता के साथ उनमें अपने रस बिन्दुओं की वर्षा करती है। मधुरता, सरसता, और तन्मयता से लदे हुए उनके गीत हृदय में भावों का रस घोलते हैं। उनके गीतों की यही सबसे बड़ी विशेषता है, कि वे कला और कल्पना की सजीव प्रतिमा हैं। उनके द्वारा हृदय में सौंदर्य का स्पन्दन होता है, छवि का चित्र बनता है, और भावों के रस बिन्दुओं की वर्षा होती है।

श्री सुमित्रानन्दन पन्त की काव्य-कला आज जिस स्थान पर स्थित है, वहाँ वह कई सोपानों पर चढ़ने उतरने के पश्चात् पहुँच सकी है। उनकी काव्य कला अब तक कई रूप धारण कर चुकी है। उनकी काव्य कला के सम्पूर्ण रूपों में एक नई चेतना और एक नई भावना विद्यमान है। उन्होंने अपने प्रत्येक क्षेत्र में अपनी कला का अभिसार नए ढंग से किया है। उनके अभिसार में हृदय की सुकुमार अनुभूति और कोमल कल्पनाओं की प्रधानता है। पन्तजी की काव्य कला पहले प्रकृति के आँगन में विहार करती थी। उनकी प्रारम्भिक रचनाओं में प्रकृति के ही सौंदर्य का चित्रण है। उन्हें काव्य रचना की प्रेरणा प्रकृति से ही प्राप्त हुई है। उन्होंने स्वयं इस संबंध में एक स्थान पर लिखा है—'कविता करने की प्रेरणा मुझे सबसे पहले प्रकृति निरीक्षण से मिली है, जिसका श्रेय मेरी जन्मभूमि कूर्मांचल प्रदेश को है। कवि

जीवन से पहले भी, मुझे याद है, मैं घंटों एकांत में बैठा प्राकृतिक दृश्यों को एक टक देखता था, और कोई अज्ञात आकर्षण मेरे भीतर एक अव्यक्त सौंदर्य का जाल बुन कर मेरी चेतना को तन्मय कर देता था।' पंतजी की प्रारम्भिक रचनाओं में उन्हीं के शब्दों में—उनकी प्रकृति की चेतना पूर्ण तन्मयता है। पंतजी के प्रकृति चित्रण में उनके विषय संध्या, नदी, झरना, पुष्प, बादल, बिजली, तारे, प्रातः काल, और चन्द्रमा इत्यादि हैं। पंतजी ने बड़ी मार्मिकता के साथ प्रकृति के सौंदर्य का चित्र खींचा है। उनके चित्रांकन में वर्णन की प्रधानता नहीं; वरन् भावों की प्रधानता है। उनके प्रकृति चित्रण में प्रकृति के नैसर्गिक वैभवों का अभाव, और कला के अभिसार की अधिकता है। उन्होंने कला के हाथों से ही अपने प्राकृतिक चित्रों को सजाया है।

पन्तजी की प्रारम्भिक रचनाएँ बँगला और अँगरेजी की कविताओं से प्रभावित हैं। बँगला के अमर कवि स्वर्गीय रवीद्रनाथ टैगोर और अँगरेजी के कीट्स, शेली और वर्डसवर्थ इत्यादि कई कवियों की कला ने उन्हें छेंक रक्खा है। उनकी प्रारम्भिक रचनाओं पर स्पष्टतः इन कवियों शैली की और उनके भावों की छाप है। उनकी प्रकृति-सौंदर्य विषयक रचनाएँ अँगरेजी के कवियों की रचनाओं से ही ही अनुप्राणित जान पड़ती हैं, पर इसका यह तात्पर्य नहीं, कि वे भावानुवाद हैं। पन्तजी मौलिक कवि हैं। उनकी रचनाओं पर अँगरेजी, और बँगला की छाप अवश्य है, किन्तु उनकी रचनाओं के भीतर जो कुछ है, वह सब कुछ उन्हीं का है। पन्तजी कोमल कल्पना के कवि हैं। उनकी प्रारम्भिक रचनाओं में कल्पना की प्रचुरता है। उनके प्रकृति-सौंदर्य के चित्रों में कल्पना साकार हो उठी है। उनकी कल्पनाओं में गति और तीव्रता है। उनकी कल्पनाएँ इतनी शीघ्रता के साथ परिवर्तित होती हैं, कि विषय का अस्तित्व ही लुप्त हो जाता है। उनकी कल्पनाओं में जहाँ अतिरेकता है, वहाँ उनमें कोमलता का अंश भी अधिक है। पन्तजी ने प्रकृति की उपासना कई रूपों में भी की है। कहीं उन्होंने प्रकृति का वर्णन मातृ रूप में किया है, और कहीं बालिका के रूप में। उनके प्रकृति के संपूर्ण रूपों में अतींद्रिय कोमलता और रहस्यात्मकता विराजमान है।

पन्तजी की काव्य कल्पना को प्रकृति के सौंदर्य-चित्रों से जब संतोष प्राप्त न हुआ तब उसने मानवी लोक में प्रविष्ट होकर सौंदर्य चित्रों की खोज की। मानवी लोक में उतर कर उन्होंने नारी-सौंदर्य के चित्र भी अंकित किए हैं। उनकी नारी शक्ति और ज्योति की प्रतिमूर्ति है। नारी को शक्ति और ज्योतिष्मती मान करके ही उन्होंने उसके सौंदर्य का चित्रण किया है। उनके नारी सौंदर्य चित्रण में अतींद्रिय प्रेम की प्रधानता है। किन्तु उसमें वासना की गंध नहीं है। उनका नारी सौंदर्य चित्रण वासना से दूर—स्वर्ग की परमोज्वलता के चित्र उपस्थित करता है। पन्तजी की काव्य-कला का दूसरा स्वरूप 'गुंजन' से प्रारम्भ होता है। पन्तजी की काव्य-कला अपने दूसरे स्वरूप में अध्यात्मवाद की ओर प्रवृत्त है। प्रथम स्वरूप में उनकी काव्य-कला कल्पनाओं के लोक में विचरण करती थी, पर दूसरे स्वरूप में वह कल्पनाओं के

लोक से भूमि पर उतर आई है, और मानव जीवन के दुःख-सुख के चित्र अंकित करती है। दुःख सुख की भावनाओं से भरा हुआ जगत उसे अद्भुत-सा लगता है। वह जगत की स्थिति पर विचार करती है, उसकी नश्वरता के संबंध में सोचती है, पर कातर और भयभीत नहीं होती। दृढ़ आस्तिकता उसके साथ है। विश्वास और श्रद्धा के साथ वह नश्वरता के दुःख में भी आगे बढ़ती है, और मंगल के गीत गाती है।

आध्यात्मिक रचनाओं में पंतजी दो रूपों में आविर्भूत हुए हैं—विचारक के रूप में और कवि के रूप में। विचारक के रूप में विचार, और कवि के रूप में भावनाएँ सामने उपस्थित हुई हैं। उनकी आध्यात्मिक रचनाओं में भावों और विचारों का संगम बड़ी सुन्दरता के साथ हुआ है। इन रचनाओं की सबसे बड़ी विशेषता यही है, कि उनमें विचारों और भावनाओं का सामंजस्य स्थापित करने का प्रयत्न किया गया है; पर उनमें विचारों के तत्त्वों की जितनी प्रधानता है, उतनी काव्य के तत्त्वों की नहीं। इसका कारण यह है, कि इन कविताओं में पन्तजी ने जिन तत्त्वों को अपनी रचनाओं का आधार बनाया है, उनकी अनुभूति उनके हृदय की अपनी अनुभूति नहीं है। वे उनकी विचारजनक अनुभूतियाँ हैं। यही कारण है, कि उनकी इन रचनाओं में हृदय की विभोरता का अभाव है। पन्तजी की काव्य-कला का तीसरा स्वरूप वह है, जिसमें वह सिद्धांतवादिनी बन गई है। अपने तीसरे स्वरूप में उनकी काव्य कला कभी तो मार्क्सवाद को ग्रहण करती है, और कभी अरविन्दवाद को। कभी उपचेतनवाद के गीत गाती है, और कभी मानववाद के। इस तीसरे स्वरूप में पन्तजी की काव्य कला पूर्ण रूप से विचारों के क्षेत्र में परिभ्रमण करती है। इस क्षेत्र में रहकर उन्होंने जो रचनाएँ की हैं, उनमें विचारों और चिन्तन की प्रचुरता है। उनकी इस प्रकार की रचनाएँ युगांत, ज्योत्स्ना, ग्राम्या, युगवाणी, स्वर्ण-धूलि, और स्वर्ण किरण इत्यादि में संगृहीत हैं। इन रचनाओं में पन्तजी की काव्य-कला का वह स्वरूप, जो उसकी अपनी विशेषता है, लुप्त-सा हो गया है।

विभिन्न भाव-धारा के कवि

छायावाद और रहस्यवाद के इन प्रमुख कवियों के अतिरिक्त और भी कई ऐसे कवि हैं, जो इस मार्ग पर चल रहे हैं। जैसे—श्री रामकुमार वर्मा, श्री मोहन लाल महतो वियोगी, और श्री भगवतीचरण वर्मा इत्यादि। तृतीय उत्थान में छायावाद और रहस्यवाद के अतिरिक्त और भी कई वाद प्रचलित हैं। जैसे—प्रगतिवाद, प्रयोगवाद, गाँधीवाद, आदर्शवाद, और व्यक्ति वैचित्र्यवाद इत्यादि। इन वादों को आधार मान कर सैकड़ों युवक कवि इस समय काव्य रचना में संलग्न हैं। यद्यपि यहाँ यह सम्भव नहीं है, कि सबकी रचनाओं की समीक्षा की जा सके, फिर भी प्रमुख और प्रतिनिधि कवियों की रचनाओं पर प्रकाश डालने की चेष्टा की जा रही है।

श्रीमती सुभद्राकुमारी चौहन का आधुनिक काल की कवियित्रियों में महत्व-

पूर्ण स्थान है। कवियित्रियों में सुभद्राजी ही सर्व प्रथम कवियित्री हैं, जिन्होंने नारी हृदय का राग गाया है। इतना ही नहीं, उन्होंने नारी जगत में कविता के प्रति प्रेम, और अभिरुचि भी उत्पन्न की हैं। उनके पूर्व हिन्दीकाव्य-जगत में स्त्री कवियों की संख्या बहुत कम थी। उनकी रचनाओं ने स्त्री कवियों के मार्ग का निर्देश किया है, और उन्हें प्रेरणा देकर प्रोत्साहित किया है। सुभद्राकुमारी ने कवि हृदय पाया था, उनका हृदय सहानुभूतिमय और संवेदनशील था। अतः उनकी रचनाएँ भी ऐसी भीत्ति पर खड़ी हैं, जो अधिक सहानुभूतिमय और संवेदनशील है। दीनों और उपेक्षितों की करुणा से उन्होंने अपनी रचनाओं का शृंगार किया है। युग की आकांक्षा, और नारी हृदय का उल्लास तथा मातृत्व की सहृदयता पर भी उनकी रचनाएँ अवलंबित हैं।

विषय की दृष्टि से उनकी रचनाओं के तीन रूप हैं—देश भक्ति प्रधान रचनाएँ, मातृत्व प्रधान रचनाएँ और प्रेम प्रधान रचनाएँ। सुभद्राजी देश की अनन्य सेविका थीं। उनकी रग-रग में राष्ट्र का प्रेम समाविष्ट था। राष्ट्र की सेवा की वेदिका पर उन्होंने अपनी आकांक्षाओं को समर्पित कर दिया था। उनका यह समर्पण उनकी राष्ट्रीय रचनाओं में फूट पड़ा है। उनकी राष्ट्रीय रचनाएँ प्राणों को स्पर्श करती हैं, और उनके भीतर जीवन का संचार करती हैं। उनकी राष्ट्रीय रचनाएँ दो प्रकार की हैं—कीर्ति गान से सम्बंध रखने वाली, और जागरण उत्पन्न करने वाली। कीर्तिगान से सम्बन्ध रखने वाली रचनाओं में उन्होंने राष्ट्र की—स्वदेश की अभिवंदना की है। उनकी अभिवंदना के गीत प्राणों के गीत हैं—हृदय के राग हैं। उनमें अंतस्तल के भाव श्रद्धा और भक्ति के रूप में बिखर पड़े हैं। जागरण उत्पन्न करने वाली रचनाओं में उन्होंने ऐसे भाव संजोये हैं, जो राष्ट्र की मोह निद्रा को भंग करते हैं, और उसकी रगों में जीवन तथा जागृति का संचार करते हैं। उनकी इस प्रकार की रचनाओं में अधिक ओज, और स्फूर्ति है। उनकी 'झाँसी की रानी' की कविता इसी वर्ग की कविता है। उनकी इस रचना का प्रत्येक शब्द ओज और स्फूर्ति के साँचे में ढला हुआ है।

सुभद्राजी की रचनाओं का दूसरा रूप वह है, जिसमें उनके मातृ हृदय की भावनाएँ प्रस्फुटित हुई हैं। नारी होने के कारण मातृ-हृदय की उनसे घनिष्ठता है। वे उस वात्सल्य से भली भाँति परिचित हैं, जिससे माता का हृदय आप्लावित रहता है। उनकी इस कोटि की कविताएँ बड़ी सरस, मधुर, और स्वाभाविक हैं, स्वाभाविकता और भावुकता उनकी विशेषताएँ हैं। स्वाभाविकता का सुन्दर ढंग से विकास होने के कारण मातृ-प्रेम उनकी रचनाओं में साकार और सजीव हो उठा है। सुभद्राजी की रचनाओं के तृतीय रूप में प्रणय की प्रधानता है। उनका प्रणय दाम्पत्य जीवन का प्रणय है। उसमें संयम और पवित्रता है। उन्होंने दाम्पत्य जीवन के क्षेत्र में प्रेम की आदर्शात्मक अनुभूति संचित की है। जीवन की छोटी-छोटी घटनाओं में भी सौन्दर्य की झलक देखी है, और उसे प्रेम की सुधा से अभिसिंचित कर

दिया है। उनका प्रेम अधिक मधुर, और भाव पूर्ण है। उसमें त्याग और कर्त्तव्य के लिए सन्देश भी है।

श्री बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' क्रान्तिकारी कवि हैं। उनकी काव्य कल्पना में क्रान्ति की भावना है। उन्होंने अपनी रचनाओं के लिए दो प्रकार के विषयों का चुनाव किया है—राष्ट्रीय, और प्रेम मूलक। राष्ट्रीयता के क्षेत्र में उन्होंने जो रचनाएँ उपस्थित की हैं, उनमें एक नया जीवन और एक नया सन्देश मिलता है। राष्ट्रीयता के क्षेत्र में उन्होंने दीनों, असहायों, और दलितों के लिए सहानुभूति का कोष खोलते हुए सामाजिक बन्धनों, रूढ़ियों, और विधियों पर वज्र हाथों से प्रहार किया है। उनकी वाणी में हुंकार, और जीवन की गर्जना है। उनकी दूसरी प्रकार की रचनाओं में, जिन्हें हम प्रेम मूलक कह सकते हैं, एक तड़प है। उनका प्रेम एक ऐसा प्रेम है, जो किसी भी प्रकार की मान्यता को स्वीकार नहीं करता। उन्होंने सामाजिक मान्यताओं, और विधियों की परिधि से पृथक रह करके ही प्रेम की पूजा की है। उनकी दोनों ही प्रकार की रचनाओं में हृदय के तत्वों की प्रधानता है। हृदय के तत्वों की प्रधानता होने ही के कारण उनकी रचनाओं में सरसता और सुकुमारता के अंश भी अधिक हैं।

डा० रामकुमार वर्मा हिन्दी-काव्य के उच्चकोटि के कलाकार हैं। उनकी कला में अजस्र शक्ति है। वह काव्य, और नाटक के क्षेत्र में बड़ी जागरूकता के साथ विहार करती है। उसकी गति में नवीनता है। नवीन और आनन्ददायक चित्रों की सृष्टि करने में वह अधिक कुशल है। उसकी सृष्टि एक ऐसी कला की सृष्टि है, जो भावों के अतल सिन्धु में डूबती है, और अपने प्रत्येक चित्र पर करुण मानवता तथा उदारता के रंग डाल देती है। वर्माजी की काव्य कला के हमें दो रूप प्राप्त होते हैं। उनकी काव्य कला का एक रूप तो वह है, जिसमें उन्होंने ऐतिहासिक वृत्तों को लेकर अपनी भावनाओं का शृंगार किया है। उनकी काव्य कला का दूसरा रूप वह है, जिसमें वे दार्शनिकता की पृष्ठभूमि पर खड़े होकर रहस्यात्मक ढंग से अपने भावों को काव्य की माला में गूँथते हैं। उनकी प्रथम प्रकार की कला भी दो रूपों में विभक्त है—एक में कल्पना की प्रधानता है, और दूसरे में अनुभूति की। 'रूपराशि' 'शुजा', और 'नूरजहाँ' इत्यादि में ऐतिहासिक वृत्त हैं, पर वे संपूर्ण कल्पनामय हैं। इन रचनाओं की कल्पनाओं में कल्पना ने वृत्तों की वास्तविकता को अपने आवरण से ढँक लिया है। 'निशीथ' अनुभूति मूलक है। इसमें लौकिक मिलन, और वियोग की एक कहानी को आधार मान कर कवि ने प्रेम, वेदना, निराशा, और करुणा के चित्र अंकित किए हैं।

वर्माजी को काव्य-क्षेत्र में जो पुनीत ख्याति प्राप्त हुई है, उसका कारण उनकी काव्य कला का वह दूसरा स्वरूप है, जिसमें रहस्यवाद की प्रधानता है। उनकी इस प्रकार की सम्पूर्ण रचनाएँ मुक्तक हैं, और अभिशाप, अंजलि, रूपराशि, चन्द्रकिरण, और आकाश गंगा इत्यादि में संगृहीत हैं। अपनी इन रचनाओं में वर्माजी

पूर्ण रूप से भावमय अनुभूति के क्षेत्र में परिभ्रमण करते हैं। उनकी भावपूर्ण अनुभूतियाँ एक ऐसे कवि की अनुभूतियाँ हैं, जो सृष्टि की नश्वरता में वास्तविक सत्य और सौंदर्य का खोज में तन्मय हैं। वर्माजी की भाव पूर्ण अनुभूति मूलक रचनाएँ भी दो प्रकार की हैं। एक प्रकार की रचनाएँ वे हैं, जिनमें प्रकृति के सौंदर्य के साथ ही साथ ससार की नश्वरता का चित्रण हुआ है, और दूसरी प्रकार की रचनाएँ वे हैं, जिनमें रहस्यवाद की भावना का पूर्ण रूप से चित्रण हुआ है। यह रचनाएँ एक आनन्द पूर्ण रहस्य की सृष्टि करती हैं, और एक ऐसे लोक की ओर ले जाती हैं, जो अकल्पित और अलौकिक है। वर्माजी की काव्य-कला दोनों ही क्षेत्रों में सफलता पूर्वक अपने व्यापार की अभिवृद्धि कर सकी है। उनके दुःख, सुख, निराशा, नाश, और वेदना के चित्र बड़े करुणात्मक हैं। उनका रहस्यवाद कबीर के रहस्यवाद से प्रभावित है। रहस्यवाद के क्षेत्र में कबीर की रहस्यवादी रचनाओं का उन पर अधिक प्रभाव पड़ा है। वे अपनी रहस्यवादी रचनाओं में सृष्टि की नश्वरता, और उसके दुःख पूर्ण झंझावातों से आकुल होकर एक अप्रत्यक्ष सत्ता में समाविष्ट हो जाने की कामना करते हैं। वे उसके अमिट और अक्षय सौन्दर्य का चित्र चित्रित करते हैं, और उसके विरह का राग भी गाते हैं। उनके सौंदर्याकन, और विरह के राग में हृदय की तल्लीनता तथा आत्म समर्पण का भाव है। उनके विरह के गीत भावों, और अनुभूतियों से लसे हुए हैं। उन्होंने अपने भाव-गीतों में अप्रत्यक्ष सत्ता की ओर निर्देश करने के लिए जिन संकेतों से काम लिया है, वे अधिक ध्वनि मूलक हैं। उनके सकेत उनकी भाव दिशा का ठीक-ठीक संकेत करते हैं, और उनकी अनुभूतियों के वास्तविक चित्र उपस्थित करते हैं।

श्री रामधारीसिंह 'दिनकर' हिन्दी काव्य-जगत के एक परमोज्वल नक्षत्र हैं। अपनी कृतियों के रूप में उन्होंने हिन्दी साहित्य को अब तक जो कुछ प्रदान किया है, उसमें मुग्धकर प्रकाश है। भविष्य में उनसे और भी अधिक प्रकाश मिलने की आशा है। वे एक ऐसे कलाकार हैं, जिनसे हिन्दी काव्य-जगत को अधिक आशाएँ हैं। 'दिनकरजी' की काव्य-कल्पना एक ऐसी काव्य-कल्पना है, जो युग का संदेश लेकर चलती है। 'दिनकरजी' की काव्य-कला को 'प्रसाद', और गुप्तजी की रचनाओं से अधिक प्रोत्साहन, और प्रेरणा प्राप्त हुई है। उनकी प्रारम्भिक रचनाओं में यह प्रोत्साहन और प्रेरणा स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होती है। उन्होंने स्वयं इसे स्वीकार भी किया है। किन्तु उनकी प्रौढ़ रचनाओं में उनकी अपनी दिशा है, और उनका अपना मार्ग है।

दिनकरजी की काव्य कल्पना दो श्रेणियों में विभक्त की जा सकती है। प्रारम्भिक रचनाओं में उनकी काव्य कल्पना स्वछन्दवादिनी है, और प्रौढ़ रचनाओं में तथ्यवादिनी। उनकी स्वछन्दवादिनी कला वह कला है, जो छायावाद के क्षेत्र में ही अपने व्यापार की रचना करती है। इस कला में छायावाद की सम्पूर्ण विशेषताएँ भी समाविष्ट हैं। यह उनकी वही कला है, जो प्रसाद और गुप्तजी की कला से प्रभावित है।

'रेणुका' और 'द्वन्द्व गीत' में संगृहीत दिनकरजी की रचनाओं में छायावाद की ही झलक मिलती है। दिनकरजी की काव्य-कला के छायावाद के क्षेत्र में दो रूप हैं। एक रूप तो वह है, जिसमें सौन्दर्य का चित्रण हुआ है, और दूसरा रूप वह है, जिसमें राष्ट्रीय भावनाओं की प्रधानता है। सौंदर्य चित्रण की शैली में कहीं उनकी कवि कल्पना प्रकृति के ऐश्वर्य का गान करती है, तो कहीं जीवन के सौंदर्य पर रीझती है। प्रकृति सौंदर्य के चित्रों में यद्यपि दिनकरजी की काव्य कल्पना छायावादी पृष्ठभूमि पर ही अवस्थित है, पर उसमें कल्पनाओं का मोह जाल नहीं है। उसने बहुत ही सरल ढंग से अपने व्यापार की रचना की है। उसकी पृष्ठभूमि छायावादी होते हुए भी छायावाद की परम्पराओं से पृथक होकर के ही उसने अपनी सृष्टि की है। कहीं-कहीं तो वह कल्पनाओं के आवरण को फेंक कर पूर्ण रूप से सरलता और स्वाभाविकता के धरातल पर आ गई है।

प्रकृति के सौंदर्य-चित्रों की भाँति दिनकरजी के राष्ट्रीय भावनाओं के चित्र भी बड़े मर्म स्पर्शी हैं। इन चित्रों में भी कल्पनाओं की प्रचुरता है। कल्पनाओं के ही द्वारा उन्होंने अतीत के गौरव को स्पष्ट किया है, और वर्तमान की हीनावस्था को लक्ष्य करके जागरण का राग गाया है। दिनकरजी की राष्ट्रीय रचनाओं का अपना एक विशिष्ट स्थान है। उसमें ओजस्वी और स्फूर्ति संचारणी कल्पनाओं के द्वारा देश के अतीत को प्रस्तुत करके उसे स्वर्णिम भविष्य की ओर अग्रसर होने की सलाह दी गई है। दिनकर जी को जिन रचनाओं से अधिक ख्याति प्राप्त हुई है, वे रचनाएँ उनके काव्य कला के दूसरे स्वरूप में आती हैं। इन रचनाओं की पृष्ठभूमि तथ्यवाद है। इन रचनाओं का कवि अपनी पूर्ववर्ती रचनाओं की भाँति कल्पना के इन्द्रजाल में न फँसकर, जीवन के धरातल पर उतर आया है। अपनी इन रचनाओं में वह मानव हृदय के अधिक संनिकट है। उसने मानव जीवन को अपने हृदय में ही देखा है। उसके हृदय में संवेदनशीलता है, सहानुभूति है, उदारता है। वह मानव जीवन के दुखों, दलित मानवता के चित्रों और सिसकती हुई करुण ध्वनियों को सुन कर तड़प उठा है, और उनकी पीड़ा तथा कराह को अपनी हृदय वीणा के तारों में भर कर गाने लगता है। उसके गीत में तन्मयता है—हृदय की विभोरता है। उसके हृदय से निकला हुआ स्वर सचमुच दीनों और पाड़ितों का ही स्वर ज्ञात होता है।

दिनकरजी की काव्य कला तथ्यवाद की पृष्ठभूमि पर अवस्थित होकर केवल पीड़ाओं के राग ही नहीं गाती, उनकी स्थिति पर चिन्तन भी करती है, और दयनीयता को दूर करने के लिए उपाय भी खोजती है। पर इस चिन्तन में वह मस्तिष्क का आश्रय नहीं ग्रहण करती, और न किसी राजनीतिकवाद से ही प्रभवित होती है। उसके चिन्तन में हृदय के तत्त्वों की प्रधानता है। वह सहानुभूति और मानवता के वायु मण्डल में ही रहकर समाधान खोजती है, और प्रत्येक समस्या को हल करने का प्रयास करती है। 'कुरुक्षेत्र' दिनकरजी की सर्वश्रेष्ठ रचना है। उनकी काव्य कला का वास्तविक स्वरूप कुरुक्षेत्र में ही देखने को मिलता है। उनकी

काव्य कला इस रचना में एक प्रौढ़ कवि की काव्य कला है। इस रचना में उनकी कला दार्शनिकता की पृष्ठभूमि पर स्थित होकर जीवन का निदान खोजने में व्यस्त है।

श्री गुरुभक्तसिंह 'भक्त' प्रकृतिवादी कवि हैं। उनकी काव्य कला प्रकृति के आँगन में खेलती है, और उसके मनोहर दृश्यों से अपने व्यापार की रचना करती है। 'नूरजहाँ' इनका सुप्रसिद्ध प्रबन्ध काव्य है। नूरजहाँ में इनकी काव्य कला ने मानव हृदय के द्वन्दों के चित्रण में अच्छी सफलता प्राप्त की है। नूरजहाँ में प्रकृति के सौंदर्य-चित्रों के साथ ही साथ मानव हृदय के द्वन्दों के भी मार्मिक चित्र मिलते हैं।

श्री हरवंशराय 'बच्चन' 'हालावादी' कवि हैं। हिन्दी कविता में 'हाला' और प्याला का प्रचलन इन्हीं की रचनाओं से हुआ है। इनका हाला प्याला दार्शनिक भावों की ओर संकेत करता है। इनकी रचनाओं की पृष्ठभूमि दार्शनिकता है, जिस पर उमर खैयाम की रचनाओं का रंग है। इन्होंने अपनी रचनाओं में, जीवन और संसार की नश्वरता के चित्रों में ही 'आनन्द', और उल्लास खोजने का प्रयास किया है। आनन्द और उल्लास की खोज में ये बिना किसी संकोच के परम्पराओं, विधियों और मान्यताओं पर प्रहार करते हैं। यही कारण है, कि कहीं-कहीं इनकी रचनाएँ अधिक स्वच्छन्दतावादिनी बन गई हैं।

श्री सच्चिदानन्द हीरानन्द वात्सायन प्रयोगवादी कवि हैं। इन्होंने प्रसाद पंत, निराला और महादेवी वर्मा की काव्य शैली से पृथक अपनी काव्य शैली के लिए मार्ग अनुसंधान किया है। इनकी काव्य शैली पूर्ण रूप से भौतिकता में लिप्त है। वह केवल जीवन, और जीवन के अभावों की ही ओर देखती है। अभाव भी कैसे—सांसारिक और पार्थिव। यद्यपि उनके अभावालोकन में समष्टि की भावना है, पर वह तो सत्य है, कि उनकी दृष्टि अभावों और विकृतियों पर ही डोलती है। उसमें सहानुभूति और मृदुता भी है, पर कभी कभी वह नग्न होकर मर्मकर भी बन जाती है। जीवन में तो वह अभावों और विकृतियों पर अपनी दृष्टि केन्द्रित रखती ही है, प्रकृति के आँगन में भी उसे चिन्ता, निराशा, पीड़ा और दुःख के ही दर्शन होते हैं। भावों की भाँति ही भाषा और शैली में भी उनकी नग्नता है।

श्री भगवतीचरण वर्मा स्वच्छन्दतावादी हैं। उनकी काव्य कल्पना स्वच्छन्द रूप से काव्य क्षेत्र में परिभ्रमण करती है। वे रहस्यवादी भी हैं, और प्रगति तथा प्रयोग वादी भी। उनकी रचनाओं में विराट और अप्रत्यक्ष सत्ता के प्रति भी मोह मिलता है, और उस जीवन के प्रति भी आसक्ति दिखाई पड़ती है, जिसे हम पार्थिव जीवन कहते हैं। इस प्रकार उनकी काव्य कला को हम कई प्रवृत्तियों का संगम कह सकते हैं। कई प्रवृत्तियों को लेकर चलने ही के कारण इनकी काव्य कला ने मधुर, तिक्त, प्रेम, क्रांति, विद्रोह, शांति, करुणा, प्रगति, और समता आदि भावों को लेकर अपने व्यापार

की रचना की है। उनकी प्रारम्भिक रचनाएँ छायावाद की ओर उन्मुख हैं। प्रौढ़ काल की रचनाओं में सुख ;दुःख, प्रेम-घृणा, हर्ष द्वेष, अतीत वर्तमान, और समता विषमता-इत्यादि से सम्बन्ध रखने वाले भाव-चित्र मिलते हैं। उनके सभी चित्रों में हृदय की तन्मयता, और प्राणों को विभोर कर देने की अमिट शक्ति है।

विभिन्न भाव-धारा के और भी कई कवि हैं, जिनमें इलाचंद्र जोशी, श्री रामेश्वर शुक्ल अञ्चल, श्री शिवमङ्गलसिंह सुमन, श्री नरेन्द्र शर्मा, श्री उदयशङ्कर भट्ट, आरसी प्रसादसिंह, प्रो० मनोरंजन, बालकृष्ण राव, हरि कृष्ण प्रेमी, विनय कुमार, प्रभाकर माचवे, केदारनाथ अग्रवाल, गांगेय राघव, हंसकुमार तिवारी, श्रीमती सुमित्रा कुमारी सिनहा, श्रीमती विद्यावती कोकिल, नैपाली और श्रीमती तारादेवी पाण्डेय इत्यादि का नाम मुख्य है। इनके अतिरिक्त और भी सैकड़ों युवक कवि हैं, जो विभिन्न रूपों में काव्य की अर्चना कर रहे हैं। किसी की अर्चना छायावाद के मन्दिर में हो रही है, तो किसी की रहस्यवाद के मन्दिर में। कोई प्रगतिवाद की वीणा पर अपने स्वरों को साध रहा है, तो कोई प्रयोगवाद के उपवन से भाँति-भाँति के फूल लाकर कविता-देवी के चरणों पर चढ़ा रहा है; इस प्रकार हिन्दी की आधुनिक कविता विभिन्न भावों से उल्लसित होकर उन्नति की दिशा की ओर अग्रसर हो रही है।

आधुनिक काल—गद्य

हिन्दी साहित्य के आधुनिक काल की सबसे बड़ी विशेषता उसके गद्य का विकास है। पिछले तीन कालों में केवल काव्य की ही रचना हुई है। आधुनिक काल में गद्य की नींव पड़ी, और थोड़े ही दिनों में उसने पद्य के ऊपर अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया। आधुनिक काल में गद्य की नींव क्यों पड़ी—इस पर भी यहाँ विचार कर लेना आवश्यक है। हिन्दी साहित्य के इतिहास में आधुनिक काल के पूर्व से ही उसका सम्पर्क एक ऐसे साहित्य के साथ स्थापित हुआ है, जो विश्व के साहित्य में अपना प्रमुख स्थान रखता है। वह साहित्य अँगरेजी का साहित्य है। अंगरेज जब भारतवर्ष में आए तो उनकी भाषा, और उनके साहित्य ने भी हमारे देश में प्रवेश किया। अँगरेजी में गद्य का विकास बहुत पहले से हो चुका है। अतः यदि अँगरेजी के गद्य ने हिन्दी के गद्य पर प्रभाव डाला हो तो कोई आश्चर्य की बात नहीं। इसी बात को हम इन शब्दों में भी कह सकते हैं, कि अँगरेजी के गद्य को देख कर यदि हिन्दी में भी गद्य की प्रवृत्ति उत्पन्न हुई हो तो कोई आश्चर्य की बात नहीं। यह सच है, कि हिन्दी में गद्य का जन्म रीति काल में ही हो चुका था, पर जिसे हम 'गद्य' कह सकते हैं, उसका जन्म आधुनिक काल में ही हुआ है। अँगरेजों के आगमन के साथ ही साथ वैज्ञानिकता का प्रवेश भी भारतवर्ष में हुआ है। यह तो मानना ही पड़ेगा, कि आधुनिक विज्ञान का जन्म पश्चिम में ही हुआ है। आज भारतवर्ष में जो कुछ विज्ञान की झलक देखने को मिलती है, वह पश्चिम की ही देन है। हिन्दी गद्य के जन्म, और विकास पर विज्ञान का भी अधिक प्रभाव है। राजनीतिक और सामाजिक आंदोलनों ने भी हिन्दी गद्य के जन्म और उसके विकास पर अपना प्रभाव डाला है। ईसाई मत का प्रचार करने के उद्देश्य से, अँगरेजों की मिश्नरियों ने भी हिन्दी-गद्य के जन्म और उसके विकास पर अपना प्रभाव डाला है। इस प्रकार युग के परिवर्तन के कारण कई प्रकार की ऐसी आवश्कताएँ एकत्र हो गईं, जिनकी पूर्ति के लिए गद्य की आवश्यकता पड़ी; क्योंकि उन आवश्यकताओं की पूर्ति पद्य से नहीं हो सकती थी। अतः परिणाम स्वरूप गद्य की नींव पड़ी। युग को गद्य की भूख थी ही। गद्य की नींव पड़ने के साथ ही युग ने उसे अपने हाथों में उठा लिया; और चारों ओर उसकी सर्व व्यापी उन्नति होने लगी।

हिन्दी गद्य के जन्म का कारण

हिन्दी गद्य के जन्म के साथ ही साथ खड़ी बोली का इतिहास भी लगा हुआ है। क्योंकि हिन्दी गद्य का जन्म खड़ी बोली में ही हुआ है, और खड़ी बोली में ही उसकी सर्व व्यापी उन्नति हो रही है। खड़ी बोली क्या है—इस पर प्रकाश डाला जा चुका है, फिर भी उसकी कहानी की एक झलक यहाँ दी जा रही है। खड़ी बोली पहले एक बोली मात्र थी, और इसका प्रचार मेरठ तथा उसके आस पास था। यह केवल अपने क्षेत्र में ही बोली जाती थी। अपने क्षेत्र से बाहर, इसका प्रचार बहुत कम था। किन्तु जब मुसलमानों का आगमन भारतवर्ष में हुआ, और उन्होंने दिल्ली पर अपना आधिपत्य जमाया, तब उन्होंने बातचीत के लिए उस भाषा को ही अपनाया, जो इस प्रदेश के आस पास बोली जाती थी। इस प्रकार खड़ी बोली मुसलमान अधिकारियों के बीच में घुस गई। मुसलमान अधिकारियों में अनेक ऐसे लोग थे, जो केवल अरबी और फारसी जानते थे। उन्हें दिल्ली तथा दिल्ली के आस पास रहने वाले मनुष्यों के साथ बात चीत करने में कठिनाई होती थी। दिल्ली और उसके आस पास के मनुष्य भी उनकी भाषा को नहीं समझ पाते थे। किन्तु अब दोनों के ही लिए यह आवश्यक हो गया था, कि वे एक दूसरे की बातचीत को समझ सकें। अतः इसके लिए प्रयत्न किया जाने लगा। इस प्रयत्न के परिणाम स्वरूप अरबी फारसी के शब्द खड़ी बोली में, और खड़ी बोली के शब्द अरबी फारसी में आने लगे। इस प्रकार खड़ी बोली की एक पृथक शाखा, जिसमें अरबी और फारसी के शब्दों की अधिकता थी, तैयार होने लगी। पहले इसका प्रचार मुसलमानों की उर्दू (छावनी) में था, और यह केवल बाजारू बोली थी। पर धीरे-धीरे इसका प्रचार बढ़ने लगा। पहले तो यह बहुत ही अशुद्ध और विकृत रूप में थी, पर शनैः शनैः यह सुसंस्कृत होती गई। मुसलमान अधिकारियों ने इसे अधिक प्रोत्साहन दिया। पहले इसकी लिपि देवनागरी ही थी, पर कालांतर में इसकी लिपि बदल दी गई। लिपि ही नहीं बदली गई, वरन् इस पर अरबी और फारसी के व्याकरण का रंग भी चढ़ाया गया। यह नई भाषा उर्दू है, जिसका जन्म खड़ी बोली से अरबी और फारसी के संयोग से हुआ है। मुसलमानों के शासन काल में उर्दू अधिक फली-फूली। राज्य की ओर से उसे अधिक प्रोत्साहन प्राप्त हुआ। समस्त राजकीय कार्यों में उसका उपयोग होता था। अँगरेजों के शासन काल में भी, राज्याधिकारियों से उर्दू आदर पाती रही। उर्दू में साहित्य की भी रचना हुई। उसमें एक से एक अच्छे लेखक और कलाकार भी उत्पन्न हुए।

खड़ी बोली

जिस प्रकार खड़ी बोली से, अरबी फारसी के संयोग के कारण उर्दू का जन्म हुआ, उसी प्रकार खड़ी बोली से, संस्कृत के तत्सम शब्दों के योग से एक दूसरी भाषा ने भी उन्हीं दिनों जन्म लिया। उस भाषा में जहाँ अरबी और फारसी के शब्दों की प्रधानता थी, वहाँ इस भाषा में संस्कृत के तत्सम शब्दों की प्रधानता थी। यह भाषा विदेशी मुसलमानों के द्वारा पाली जा रही थी, और उसमें अरब तथा फारस की संस्कृतियाँ जन्म ले रही थीं, और यह भाषा भारतीय जनता के बीच में पल रही थी;

दूसरे शब्दों में यह उनके हाथों में पल रही थी, जिनके मन में भारतीय राष्ट्र और संस्कृति का गौरव था। उसकी लिपि विदेशी-अरबी थी, और इसकी देवनागरी—अपने देश की थी। यही हमारी हिन्दी भाषा है। मुसलमानों और अँगरेजों के शासन काल में हिन्दी की पूर्ण रूप से उपेक्षा हुई। उपेक्षा ही नहीं हुई. वरन् उसे दबाने का भी प्रयत्न किया गया। किन्तु हिन्दी दब न सकी। इसका एक मात्र कारण यह था, कि वह जनता के जीवन के साथ-साथ चल रही थी। ज्यों ज्यों भारतीय जनता विपत्तियों के झँकोरों, और विघ्न-बाधाओं की आँधियों पर विजय प्राप्त करती हुई उन्नति की ओर अग्रसर हो रही थी, त्यों त्यों हिन्दी भी आगे बढ़ती जा रही थी। आज जनता के साथ ही साथ हिन्दी भी स्वर्ण सिंहासन पर विराजमान है, और चारों ओर उसकी विजय का डङ्का बज रहा है।

इस प्रकार खड़ी बोली के दो रूप हुए—उर्दू और हिन्दी। इधर राजनीतिक कारणों से खड़ी बोली ने एक और तीसरा रूप धारण किया है—हिन्दुस्तानी। हिन्दुस्तानी की लिपि तो देवनागरी ही है, पर इसका स्वरूप उर्दू और हिन्दी के संयोग से बना है। कुछ राजनीतिज्ञों ने इसके प्रचार के लिए अधिक प्रयत्न किया, किन्तु यह आगे न बढ़ सकी। इसका कारण केवल यही है, कि इसके साथ वास्तविक जनता की शक्ति नहीं है। हिन्दी ने अपनी प्रगति से इसे आगे बढ़ने से रोक दिया, और यह ज्यों की त्यों अपने जन्मदाताओं के हृदय-प्रदेश में पड़ी है। इसका कोई निश्चित स्वरूप भी नहीं है, और न इसका कोई व्याकरण ही है।

खड़ी बोली के गद्य की प्राचीन कहानी

यों तो हिन्दी गद्य का जन्म और उसका वास्तविक विकास आधुनिक काल में ही हुआ है, पर उसके जन्म के एक प्राचीन कहानी भी है। इस कहानी से यह बात प्रगट होती है, कि हिन्दी में गद्य का अंकुर बहुत पहले से फूट चुका था। हिन्दी-साहित्य के इतिहास से पता लगता है, कि अकबर के शासन काल में, 'गंग' भाट नामक एक कवि था। उसने 'चन्द छन्द बरनन की महिमा' नामक गद्य की रचना खड़ी बोली में की थी। हिन्दी खड़ी बोली का यही सर्व प्रथम गद्य है। इसके पूर्व इतिहास में, खड़ी बोली के किसी गद्य का पता नहीं लगता। सवत् १६८० में जटमल ने 'गोरा बादल री बात' राजस्थानी पद्यों में लिखा, जिसका अनुवाद सम्वत् १८८१ में गद्य में हुआ। इसके पश्चात् मुन्शी सदासुख ने भागवत का अनुवाद 'सुख सागर' के नाम से किया। फिर इन्शा अल्ला खाँ ने रानी केतकी की कहानी लिखी, जो उर्दू के ढंग पर है। इन्शा अल्ला खाँ के पश्चात् लल्लूलालजी ने प्रेमसागर और सदल मिश्र ने नासिकेतोपाख्यान की रचना की।

इन लेखकों के द्वारा हिन्दी गद्य के लिए जो प्रयत्न हुआ है, उसे हम केवल हिन्दी गद्य के जन्म की तैयारी मात्र कह सकते हैं। इन लेखकों में चार ऐसे लेखक हैं, जिनकी रचनाओं पर विचार किया जा सकता है—सदासुख, सदल मिश्र, लल्लू लाल, तथा इन्शा अल्ला खाँ। सर्व प्रथम सदासुख को ही हम इस बात का श्रेय देंगे,

कि उन्होंने हिन्दी गद्य में ग्रन्थ की रचना की। इनके गद्य के भाषा भी कुछ अधिक परिष्कृत, और निखरी हुई है। इनके पश्चात् सदल मिश्रजी के नासिकेतोपाख्यान का स्थान है। सदलमिश्र की भाषा में भी उन्नति के बीज दृष्टिगोचर होते हैं। लल्लू लालजी के 'प्रेम सागर' में गद्य के भिन्न-भिन्न रूप मिलते हैं। उनके गद्य पर ब्रजभाषा की क्रियाओं की छाप है। इन्शा अल्ला खाँ की भाषा सरल, और शुद्ध अवश्य है, पर वह उर्दू के ढंग की है। इन लेखकों में सदासुख और सदलमिश्र ही ऐसे लेखक हैं, जिनके प्रयत्न की प्रशंसा की जा सकती है। फोर्टविलियम कालेज के अधिकारियों, और डाक्टर गिलक्रिस्ट के प्रयत्नों से भी हिन्दी गद्य के प्रचार में अधिक सहायता प्राप्त हुई है। धर्म प्रचारक इसाई मिश्नरियों ने भी हिन्दी-गद्य के प्रचार में अधिक योग दिया है। यद्यपि उन दिनों उर्दू का बोल बाला था, पर इसाई मिश्नरियाँ इस बात को भली भाँति जानती थीं, कि उर्दू के साथ जन वर्ग नहीं है, अतः उन्होंने हिन्दी को ही अपने प्रचार का माध्यम बनाया। उन्होंने बाइबिल का अनुवाद हिन्दी में ही प्रकाशित कराया। उन्होंने अपनी बाइबिल में जिस भाषा का प्रयोग किया है, वह उर्दू से सर्वथा दूर है। उन्होंने अपनी भाषा को ब्रजभाषा की क्रियाओं, और विभियों से भी दूर रखने का प्रयत्न किया है। इस प्रकार उन्होंने सम्पूर्ण विघ्नों और अवरोधों को रोक कर खड़ी बोली के प्रचार और प्रसार में प्रशंसनीय योग दिया।

गद्य की प्रारम्भिक प्रगति

खड़ी बोली का गद्य जैसे-जैसे धीरे-धीरे बढ़ने लगा। ज्यों ज्यों शिक्षा का प्रचार होने लगा, त्यों-त्यों खड़ी बोली का गद्य भी बढ़ने लगा। हिन्दी खड़ी बोली के गद्य के प्रसार को देख कर उर्दू के पक्ष-पातियों के मन में एक काँटा सा चुभ गया। उन्होंने जब देखा, कि हिन्दी शनैः शनैः सरकारी स्कूलों में भी प्रवेश कर रही है, तब उन्होंने उर्दू की सहायता के लिए अँगरेजों के द्वार खटखटाए। अँगरेजों ने उनकी पुकार पर बड़ी सहानुभूति के साथ ध्यान दिया; पर वे विवश थे। उर्दू की अपेक्षा हिन्दी अधिक सरल, और वैज्ञानिक थी; परिणाम स्वरूप उर्दू के पक्ष-पातियों, और हिन्दी के विरोधियों की कोई चाल न चली। हिन्दी बराबर उन्नति के क्षेत्र की ओर बढ़ती ही गई। हिन्दी-गद्य की उन्नति में राजाशिवप्रसाद ने, जो उन दिनों स्कूलों के इन्सपेक्टर थे, अधिक योग दिया। उनके उद्योगों से हिन्दी को सरकारी स्कूलों में स्थान मिल गया। उन्होंने हिन्दी-गद्य में रचनाएँ की और दूसरों को भी हिन्दी-गद्य में रचना करने के लिए प्रोत्साहित किया। यद्यपि उनकी भाषा उर्दू मिश्रित है, पर उससे हिन्दी-गद्य के प्रसार में अधिक सहायता मिली है। उन्होंने कई पुस्तकों की रचना की है, जिनमें बालबोध, विद्यांकुर, मानव धर्मसार, इतिहास तिमिर नाशक, और राजाभोज का सपना इत्यादि अधिक प्रसिद्ध हैं। इन्हीं के समय के आस पास ही राजालक्ष्मणसिंह हुए, जिन्होंने हिन्दी गद्य की नींव को सुदृढ़ किया। राजालक्ष्मणसिंह आगरे के निवासी थे, और डिप्टी कलक्टर थे। उन्होंने कालिदास की 'शकुंतला',

और रघुवंश का अनुवाद हिन्दी गद्य में किया। उनके द्वारा अनुवादित शकुन्तला का चारों ओर—सर्वत्र आदर हुआ। विलायत के सुप्रसिद्ध हिन्दी प्रेमी विनकाट के प्रयत्नों से शकुन्तला का प्रकाशन इगलैंड में हुआ, और उसे इण्डियन सिविल सर्विस की परीक्षा की पाठ्य पुस्तकों में स्थान दिया गया।

इस प्रकार गद्य अंकुरित और विकसित होकर बराबर बढ़ता ही गया। प्रेसों की स्थापना, और समाचार पत्रों के प्रकाशनों ने उसकी उन्नति में पङ्ख लगा दिए। भारतेन्दु हरिश्चन्द्रजी के हाथों में जब हिन्दी का यह गद्य पड़ा, तब उसमें उन्होंने संजीवनी शक्ति सी सञ्चरित कर दी। उन्होंने उसके स्वरूप को निश्चित किया, उसे सवाँरा, और उसे सर्व प्रकार से दृढ़ बनाया। उनके हाथों में पड़ कर हिन्दी गद्य व्यवस्थित और परिष्कृत होकर प्रगति की मंगलमयी दिशा की ओर अग्रसर हो चला।

भारतेन्दु युग का गद्य

हिन्दी गद्य के रंग मच पर भारतेन्दुजी के आते ही हिन्दी गद्य की चतुर्मुखी उन्नति प्रारम्भ हो गई। भारतेन्दुजी के पूर्व हिन्दी-गद्य का जन्म हो चुका था, पर अभी उसे वह स्वरूप नहीं प्राप्त हुआ था, जिसे हम साहित्यिक स्वरूप कहते हैं। सर्व प्रथम भारतेन्दुजी ने ही हिन्दी गद्य को साहित्यिक स्वरूप प्रदान किया। उन्होंने खड़ी बोली के गद्य में साहित्य के विभिन्न अंगों की रचना करके उसमें छिपी हुई शक्ति की घोषणा की। उन्होंने बँगला के नाटकों का हिन्दी में अनुवाद किया, और स्वयं मौलिक नाटक लिखे उन्होंने छोटे-छोटे भाव पूर्ण निबन्ध भी लिखे। उपन्यास और कहानी पर भी उन्होंने प्रकाश डाला। उन्होंने कविता के प्रवाह को भी परिवर्तित किया, और उसमें नए भावों की सृष्टि की। उन्होंने 'हरिश्चन्द्र मैगजीन' और 'हरिश्चन्द्र पत्रिका' इत्यादि पत्रों का प्रकाशन, और संपादन भी किया। इस प्रकार भारतेन्दुजी के प्रयत्नों से हिन्दी गद्य की, प्रत्येक क्षेत्र में उन्नति होने लगी। भारतेन्दुजी के समकालीन लेखकों ने, भारतेन्दुजी के इस कार्य में महत्व पूर्ण योग प्रदान किया। भारतेन्दुजी के समकालीन जिन लेखकों की रचनाओं से हिन्दी-गद्य की उन्नति में अधिक सहायता प्राप्त हुई है, उनमें पं० बालकृष्ण भट्ट, श्री निवासदास, श्री राधाकृष्ण, पंडित भीमसेन, पं० अम्बिकादत्त व्यास, पं० प्रतापनारायण मिश्र, और श्री बालमुकुंद गुप्त इत्यादि का नाम उल्लेखनीय है। पं० बालकृष्ण भट्ट ने विभिन्न विषयों पर गम्भीर निबन्धों की रचना की। उनके अधिकतर निबन्ध भावात्मक हैं। उन्होंने कुछ व्यंग्यात्मक निबंध भी लिखे हैं। उन्होंने 'हिन्दी प्रदीप' नामक एक पत्र भी निकाला था, जिसके द्वारा हिन्दी साहित्य की प्रशंसनीय सेवा हुई थी। श्री निवास और श्री राधाकृष्णदास ने नाटकों की रचना की थी। पंडित भीमसेन शर्मा ने आर्य समाज के सिद्धांतों के प्रचार के लिए प्रचारात्मक साहित्य की रचना की। पं० अम्बिकादत्त व्यास ने मौलिक निबन्ध लिखे, जो विभिन्न विषयों पर थे। बालमुकुन्द गुप्त ने भारत मित्र और बंगवासी इत्यादि पत्रों का सम्पादन किया, तथा विभिन्न विषयों पर निबन्धों की रचना की।

इस प्रकार भारतेन्दु युग में हिन्दी-गद्य की बहुमुखी उन्नति हुई। विभिन्न विषयों पर इस युग में निबन्ध तो लिखे ही गए, पुस्तकों की रचना भी की गई। शैली और भाषा की दृष्टि से भी इस युग में हिन्दी गद्य का विकास हुआ। शैली के क्षेत्र में प्रायः सभी लेखकों ने परिचयात्मक, और भावात्मक शैली का ही आश्रय ग्रहण किया है। भाषा के क्षेत्र में सब ने भारतेन्दु की ही पद्धति का अवलम्बन किया है। भारतेन्दु ने अपनी भाषा का गठन यद्यपि संस्कृत के तत्सम शब्दों से किया है, पर उसमें आवश्यकतानुसार अरबी और फारसी के भी शब्द मिलते हैं। भारतेन्दुजी के परवर्ती लेखकों ने, अपनी रचनाओं में इसी भाषा का प्रयोग किया है।

भारतेन्दुजी के पश्चात् उनके सहयोगियों ने हिन्दी-गद्य के प्रसार में प्रशंसनीय योग दिया। भारतेन्दुजी के सहयोगियों द्वारा पालित और पोषित होकर हिन्दी-गद्य साहित्य के सभी क्षेत्रों में प्रगति के साथ उन्नति करने लगा। इसमें काव्य, उपन्यास, नाटक और कहानियाँ इत्यादि की रचना होने लगी। पर अभी तक भाषा और शैली को कोई निश्चित स्वरूप प्राप्त न था। भारतेन्दु और उनके सहयोगियों की भाषा, और शैली में कई त्रुटियाँ थीं, जो ज्यों की त्यों चली आ रही थीं। इन लेखकों की शैली में मनोवैज्ञानिकता का अभाव था। उनकी भाषा में शब्दों का स्थापन, और संगठन उचित रूप में न हो पाया था, जिससे शैली और भाषा में प्रवाह की कमी थी। शैली में उन गुणों का अभाव था, जिनसे विषय को हृदयंगम करने में अधिक सरलता होती है। भाषा व्याकरण सम्मत नहीं थी। विरामों पर ध्यान नहीं दिया जाता था; तात्पर्य यह कि भाषा और शैली के लिए कोई निश्चित नियम न था। जितने लेखक थे, सबकी पृथक्-पृथक् पद्धति थी। इस प्रकार खड़ी बोली के गद्य और उसकी भाषा तथा शैली का अभी तक कोई निश्चित स्वरूप नहीं था।

पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी, और हिन्दी गद्य

खड़ी बोली के गद्य के इस बहुत बड़े अभाव को पं० महावीरप्रसादजी द्विवेदी ने दूर किया। पंडित महावीर प्रसाद द्विवेदी 'सरस्वत' के सम्पादक थे। उन्होंने 'सरस्वती' के द्वारा हिन्दी गद्य के प्रचार, प्रसार, और रूप निर्द्धारण में प्रशंसनीय योग प्रदान किया। उन्होंने खड़ी बोली के गद्य की भाषा की त्रुटियों को दूर किया, और भाषा तथा शैली के स्वरूप का गठन किया। उन्होंने भाषा और शैली को मनोवैज्ञानिकता के साँचे में ढाला, और उसे भावों की ओर उन्मुख किया। उन्होंने भाषा में शब्दों के स्थापन और संगठन पर अधिक ध्यान दिया। भाषा के स्वरूप को व्याकरण के अनुसार ही निश्चित किया, और विरामों, तथा भाव-उत्पादक अन्वान्य चिह्नों को भी भाषा में उचित स्थान दिया। इस प्रकार उन्होंने खड़ी बोली के गद्य की भाषा और उसकी शैली को हर एक प्रकार से सुव्यवस्थित, और सुदृढ़ बनाया। उन्होंने एक ओर भाषा और शैली के निर्माण के लिए प्रयत्न किया, दूसरी ओर उन्होंने स्वयं विभिन्न विषयों पर निबंध लिखे। उन्होंने साहित्य, कला, इतिहास, पुरातत्त्व, और अर्थ

शास्त्र इत्यादि विषयों पर निबंध लिख कर खड़ी बोली के गद्य की भाषा की शक्ति को उद्‌घोषित किया, और साथ ही लोगों के संमुख भाषा और शैली के आदर्श भी उपस्थित किये। द्विवेदीजी के प्रयत्नों का परिणाम यह हुआ, कि हिन्दी गद्य का प्रवाह जोरों से उमड़ उठा। उसमें विभिन्न शैलियों के स्रोत फूट उठे, और साहित्य, राजनीति, अर्थ शास्त्र, पुरातत्त्व, कला, समाज नीति, नागरिक शास्त्र इत्यादि विषयों को लेकर रचनाएँ होने लगीं।

पं० महावीरप्रसाद द्विवेदीजी की भाँति ही हिन्दी गद्य के प्रचार और प्रसार में नागरी प्रचारिणी सभा से भी अधिक योग प्राप्त हुआ है। नागरी प्रचारिणी सभा और स्वर्गीय श्यामसुन्दरदास

नागरी प्रचारिणी सभा की स्थापना कुछ साहित्यिकों के द्वारा सम्वत् १९२०. में हुई थी। उन साहित्यिकों में स्वर्गीय बाबू श्यामसुन्दरदासजी का प्रमुख स्थान था। हिन्दी गद्य के प्रचार और प्रसार में नागरी प्रचारिणी सभा की सेवाएँ स्तुत्य और प्रशंसनीय हैं। सभा की ओर से विभिन्न विषयों पर ग्रन्थों का निर्माण कराया गया, और प्राचीन साहित्य की खोज करके उस पर उचित रूप से प्रकाश डाला गया। एक पत्रिका का प्रकाशन भी प्रारम्भ हुआ, जिसके द्वारा हिन्दी गद्य की वैज्ञानिकता और उसकी मौलिकता का प्रचार किया गया। शब्दों की अभिवृद्धि के लिए हिन्दी शब्द-सागर ऐसे बृहत् कोष का प्रकाशन हुआ। विज्ञान संबंधी शब्दों की रचना पर ध्यान दिया गया, और वैज्ञानिक कोष का निर्माण हुआ। विज्ञान और भौतिक शास्त्र ऐसे विषयों पर भी ग्रन्थों का निर्माण कराया गया। इस प्रकार नागरी प्रचारिणी सभा ने हिन्दी-गद्य के क्षेत्र में एक ऐसा कदम उठाया, जिससे गद्य के क्षेत्र में उन्नति और विकास के पौदे लहलहा उठे।

नागरी प्रचारिणी सभा की सेवाओं के साथ स्वर्गीय बाबू श्यामसुन्दरदासजी का नाम जुटा हुआ है। नागरी प्रचारिणी के द्वारा जो गौरव पूर्ण सेवाएँ हुई हैं, उनमें स्वर्गीय बाबू श्यामसुन्दरदासजी का विशेष हाथ है। नागरी प्रचारिणी सभा के संपूर्ण काम उन्हीं की प्रेरणा के परिणाम हैं। एक ओर तो उन्होंने नागरी प्रचारिणी सभा के द्वारा हिंदी गद्य के प्रचार में योग दिया, और दूसरी ओर उन्होंने स्वयं साहित्य, समालोचना, और कला पर महत्व पूर्ण ग्रन्थों की रचना की। स्वर्गीय श्यामसुन्दर दासजी हिन्दी के प्रथम गद्य लेखक हैं, जिन्होंने साहित्य और समालोचना ऐसे महत्त्वपूर्ण विषयों पर उच्चकोटि के ग्रन्थ लिखे। उनके पूर्व हिन्दी गद्य में ऐसे ग्रन्थों का अभाव था, जिन्हें विश्वविद्यालयों की उच्च कक्षाओं की पाठ्य पुस्तकों में रक्खा जा सकता। स्वर्गीय श्यामसुन्दरदासजी ने साहित्यालोचन, हिंदी भाषा और साहित्य, तथा भाषा विज्ञान इत्यादि ग्रन्थों की रचना करके एक बहुत बड़े अभाव की पूर्ति तो की ही, साथ ही लोगों के मन में साहित्य, कला, और समालोचना के प्रति प्रवृत्ति भी उत्पन्न की। समालोचना और तुलनात्मक आलोचना की प्रवृत्ति स्वर्गीय श्यामसुन्दरदासजी ने ही उत्पन्न की है। सर्व प्रथम उन्होंने ही हिन्दी-गद्य में

'तुलनात्मक' आलोचना की पद्धति का आविष्कार किया। उनका 'साहित्यालोचन' इस विषय का एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है।

पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी, और डा० श्याम सुन्दरदासजी के प्रयत्नों ने हिन्दी-गद्य को उन्नति के शिखर पर पहुँचा दिया। इन दोनों ही मनीषियों ने हिंदी गद्य के भीतर ऐसी ओजस्विनी शक्ति का सञ्चार किया, कि चारों ओर उसके विस्मय जनक फल दृष्टिगोचर होने लगे। भाषा दिनों दिन मनोवैज्ञानिकता की ओर बढ़ने लगी, और शैली अन्तर्मुखी होने लगी। कविता, कहानी, उपन्यास, नाटक और समालोचना के क्षेत्र में युगान्तर-सा उपस्थित हो गया। नई नई भावनाएँ, नई नई अभिव्यक्तियाँ प्रगट होने लगीं। हिन्दी गद्य और पद्य का आधुनिक इतिहास इन्हीं नई नई भावनाओं, और अभिव्यक्तियों का एक पुंज सा है।

हिन्दी गद्य आज प्रत्येक क्षेत्र में उन्नति कर रहा है। उसकी प्रत्येक क्षेत्र में जो उन्नति हुई है, उस पर प्रकाश डालना यद्यपि सुगम नहीं है, पर फिर भी हम

समालोचना यहाँ उसकी प्रत्येक क्षेत्री उन्नति के चित्र को सूक्ष्म रूप से स्पष्ट करने का प्रयत्न करेंगे। सर्व प्रथम हम साहित्य के उस अंग पर विचार करेंगे, जिसे हम समालोचना कहते हैं। हिन्दी गद्य में समालोचना की नींव भारतेन्दु हरिश्चंद्रजी के समय में ही पड़ चुकी थी, पर जिसे वास्तविक समालोचना कहते हैं, उसका प्रारंभ पं० महावीरप्रसाद द्विवेदीजी के द्वारा ही हुआ है। सर्व प्रथम पं० महावीरप्रसादजी द्विवेदी ने ही 'सरस्वती' में समालोचनात्मक निबंध लिखे। उन्होंने सामयिक पत्र पत्रिकाओं, और पुस्तकों की समीक्षा के लिए 'सरस्वती' में समालोचना का एक स्तम्भ भी खोला। इसके अतिरिक्त उन्होंने सरस्वती में ही आलोचनात्मक लेख भी प्रकाशित करने प्रारम्भ कर दिये। द्विवेदीजी के समालोचना संबंधी इन प्रयत्नों से खड़ी बोली के गद्य की भाषा बहुत कुछ संयत, व्यवस्थित और सुदृढ़ हो गई। द्विवेदीजी के पूर्व भाषा और शैली में जो त्रुटियाँ थीं, द्विवेदीजी की समालोचनाओं से बहुत कुछ दूर हो गई।

द्विवेदीजी ने हिन्दी गद्य में समालोचना की जो प्रणाली निकाली, उसे मिश्रबन्धुओं, पं० पद्मसिंह शर्मा, डा० श्यामसुन्दरदास, पं० रामचन्द्र शुक्ल, श्री पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी, श्री गुलाबराय, डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी, प्रो० सदगुरु शरण अवस्थी, श्री परशुराम चतुर्वेदी, नन्ददुलारे वाजपेयी, और रामरतन भटनागर इत्यादि ने अपनी रचनाओं से स्थायित्व प्रदान किया। मिश्र बन्धुओं ने हिन्दी साहित्य के इतिहास की रचना की। उन्होंने हिन्दी के नौ प्राचीन कवियों को लेकर हिन्दी नवरत्न का निर्माण किया। मिश्र बन्धुओं ने जिन कवियों को नवरत्न के रूप में अपने ग्रन्थ में स्थान दिया है, उनके संबन्ध में मतभेद हो सकता है, पर इस बात में किसी को भी मतभेद नहीं हो सकता, कि मिश्रबन्धुओं के द्वारा जिस समालोचनात्मक साहित्य की सृष्टि हुई है, वह अपने ढंग का अद्वितीय है। उसका मूल्य इसलिए और भी अधिक बढ़ जाता है, कि उसकी रचना

उस समय हुई थी, जिसे हम हिन्दी की समालोचना का प्रारम्भिक काल कह सकते हैं। समालोचना के उस प्रारम्भिक काल में हिन्दी नवरत्न की रचना करके मिश्र बन्धुओं ने समालोचना के गम्भीर तत्त्वों पर प्रकाश डाला है। उनकी समालोचना की शैली में गहन विवेचना, और मनोवैज्ञानिक तत्त्वों का भी विकास पाया जाता है।

पं० पद्मसिंह शर्मा ने तुलानात्मक आलोचना पद्धति का आविष्कार किया। उन्होंने बिहारी सतसई की भूमिका लिखकर हिन्दी समालोचना के रंगमंच पर एक नवीन पटल का उद्घाटन किया। उनकी समालोचना की शैली व्यंग्य पूर्ण होने के कारण हलकी है। पर वह अधिक चुटीली, और तीव्र है। पं० कृष्णबिहारी मिश्र ने तुलानात्मक आलोचना की पद्धति को और भी आगे बढ़ाया। उन्होंने हिन्दी के रीतिकाल के कवियों को लेकर तुलानात्मक निबंध लिखे, और ग्रन्थ की भी रचना की। उनकी शैली अधिक गम्भीर और विद्वत्ता पूर्ण है। शैली की भाँति उनकी भाषा भी अधिक गम्भीर है, पर उसमें वह ओज नहीं है, जो पं० पद्मसिंह की भाषा और शैली में है। पं० पद्मसिंह की समालोचनात्मक भाषा और शैली हलकी अवश्य है, पर उसके द्वारा समालोचना की एक नवीन पद्धति का आविष्कार हुआ है, जो अब तक चलती जा रही है।

हिन्दी समालोचना जगत में युगांतर उपस्थित करने का श्रेय डा० श्यामसुन्दर दास, और पं० रामचंद्र शुक्ल को है। अभी तक हिन्दी में जो समालोचना पद्धति थी, उसे हम एक सीमा के भीतर देखते हैं। उसमें मनोवैज्ञानिकता और विवेचन शक्ति का भी अभाव था। सर्व प्रथम डा० श्यामसुन्दरदासजी ने हिन्दी में ऐसी समालोचनात्मक कृतियाँ उपस्थित कीं, जो समालोचना की विशाल पृष्ठभूमि पर तैयार की गई थीं। उन्होंने हिन्दी में समालोचना के एक नवीन अध्याय का प्रारम्भ किया। उन्होंने अँगरेजी ढंग की मनोवैज्ञानिक, और विवेचनात्मक समालोचना पद्धति का आविष्कार किया। उन्होंने स्वयं भी आलोचनात्मक ग्रन्थ लिखकर आलोचना के आदर्श को उपस्थित किया। पं० रामचन्द्र शुक्ल ने आलोचना की शुष्कता में साहित्यिकता का संचार किया। डा० श्यामसुन्दरदास ने आलोचना की जिस विश्लेषणात्मक और विवेचनात्म शैली का आविष्कार किया था, पं० रामचन्द्र शुक्लजी ने उसे और भी अधिक सुदृढ़ बनाया। उन्होंने डा० श्यामसुन्दरदासजी की नीरस और शुष्क शैली को कला के रस से अभिसिंचित किया। उन्होंने तुलसी, सूर, और जायसी इत्यादि कवियों पर विश्लेषणात्मक निबंधों की रचना की, जिनमें कला और विवेचना का अच्छा सयोग हुआ है। शुक्लजी की भाषा और शैली अधिक गम्भीर होने के साथ ही साथ सरस और हृदय ग्राहिणी भी है। शुक्लजी की शैली विषय को अधिक सुन्दरता, और सरलता के साथ सामने उपस्थित करती है। शैली और भाषा की मनोवैज्ञानिकता के ही कारण शुक्लजी की समालोचनात्मक

कृतियों का विद्यालयों के विद्यार्थियों में अधिक आदर है। उनका हिन्दी साहित्य का इतिहास आज भी ऊँची कक्षा के विद्यार्थियों में अधिक पढ़ा जाता है।

श्री पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी के द्वारा तुलनात्मक आलोचना पद्धति को अधिक प्रगति प्राप्त हुई है। उन्होंने समालोचना सम्बन्धी कृतियाँ तो बहुत अल्प ही उपस्थित की हैं, पर समालोचना और साहित्य के विभिन्न अंगों पर प्रकाश डाल कर उन्होंने समालोचना के क्षेत्र को विस्तृत बनाने का प्रशंसनीय कार्य किया है। उन्होंने समालोचना, साहित्य, और कला के सम्बन्ध में ऊँचे विचार प्रस्तुत किए हैं। उनके विचारों में उनके ज्ञान, और अध्ययन की गंभीरता साफ-साफ झलकती है। श्री गुलाबराय ने समालोचना की शैली में 'तार्किकता' का समावेश किया है। उन्होंने साहित्य, कला, और समालोचना के सम्बन्ध में तर्क पूर्ण विचार प्रगट किए हैं। उनके विचारों में गम्भीरता, और भावों की अभिव्यंजकता है। डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी का नाम वर्तमान समालोचकों में अधिक आदर के साथ लिया जाना चाहिए। उनकी शैली और भाषा ने पं० रामचन्द्र शुक्ल की शैली, और भाषा को अधिक सुदृढ़ किया है। उन्होंने जो समालोचनात्मक कृतियाँ उपस्थित की हैं, उनसे हिन्दी-समालोचना के भंडार की अभिवृद्धि हुई है। 'कबीर' और 'सूर' ऐसे कवियों पर उन्होंने नए ढंग से विचार किया है। उनके निरीक्षण में विवेक, और भाव का सामंजस्य पाया जाता है। श्री सदगुरुशरण अवस्थी, श्री परशुराम चतुर्वेदी, श्री नन्ददुलारे वाजपेयी, और डा० रामरतन भटनागर इत्यादि ने भी अपनी समालोचनात्मक कृतियों के द्वारा हिन्दी समालोचना के गौरव में अभिवृद्धि की है। श्री सदगुरुशरण अवस्थी ने गोस्वामी तुलसीदासजी के जीवन और उनकी कृतियों पर समीक्षात्मक ढंग से प्रकाश डाला है। श्री परशुराम चतुर्वेदी ने 'संत साहित्य' के आविष्कार में सुकीर्ति प्राप्त की है। उन्होंने सन्त साहित्य पर विवेचना पूर्वक जो प्रकाश डाला है, उसमें उनके अध्ययन की गहनता साफ-साफ झलकती है। श्री नन्ददुलारे वाजपेयी ने आधुनिक साहित्य और उसके अंगों पर विचार पूर्ण समालोचनात्मक कृतियाँ उपस्थित की हैं। श्री रामरतन भटनागर, डा० नगेन्द्र और डा० रामकुमार वर्मा ने भी आलोचनात्मक साहित्य उपस्थित करके यश प्राप्त किया है।

नाटक साहित्य का मुख्य अंग है। साहित्य में नाटकों की रचना अभिनय के उद्देश्य से की जाती है। अतः नाटकों की रचना करते समय अभिनय, और रंग नाटक शाला के नियमों पर मुख्य रूप से ध्यान दिया जाता है। अँगरेजी इत्यादि भाषाओं के कई समालोचक ऐसे हैं, जो उन नाटकों को नाटक मानते ही नहीं, जिनका अभिनय रंग मंच पर नहीं किया जा सकता। हमारे देश में भी नाटक की सफलता उसके गुणों को ही आधार मानकर आँकी जाती है। रंग मंचों, और रंग शालाओं पर युग का अधिक प्रभाव पड़ता है। युग में परिवर्तन होने के साथ ही साथ रंग मंचों, और रंग शालाओं में भी परिवर्तन होता है। यही कारण है, कि किसी एक काल का नाटक दूसरे काल में सफलता पूर्वक नहीं

खेला जा सकता। अँगरेजी के शेक्सपियर इत्यादि प्राचीन लेखकों के नाटक अब आधुनिक रंग मंच की दृष्टि से अधिक पुराने पड़ गए हैं। संस्कृत के कालिदास इत्यादि नाटककारों की कृतियाँ भी आधुनिक रंग मंच पर सफलता पूर्वक नहीं खेली जा सकतीं, क्योंकि उनकी रचना जिन रंगशालाओं को दृष्टि में रखकर की गई है, वे रंगशालाएँ प्राचीन युग की रंगशालाएँ थीं।

नाटकों की रचना में रंगशालाओं का महत्व पूर्ण स्थान है। पाश्चात्य जगत में यही कारण है, कि रंगशालाओं की अधिक उन्नति हुई है। हमारे देश में, हिन्दी-जगत में रंगशालाओं का पूर्ण रूपेण अभाव है। हिन्दी जगत में नाम मात्र के लिए जो रंग मंच हैं, वह पारसियों के हाथ में है। उनका ढंग अधिक पुराना है, और युग तथा नाट्यकला की दृष्टि से उसमें अनेक त्रुटियाँ हैं। रंगशालाओं की उन्नति की ओर हिन्दी-जगत ने बहुत कम ध्यान दिया गया है। स्वर्गीय भारतेन्दु बाबू ने इसके लिए प्रयत्न किया था। उनके प्रयत्न से 'रंगशाला' की स्थापना भी हुई थी। उनके पश्चात् कुछ और लोगों ने भी इस दिशा में प्रयत्न किया है। कुछ रंगशालाओं की स्थापना भी हुई है, पर जिस प्रकार उन्नति होनी चाहिए उस प्रकार नहीं हो रही है। रंगशालाओं की उन्नति और उसके विकास के अभाव में हिन्दी नाट्यकला अस्त-व्यस्त हो रही है, और उसके विकास में बाधा उपस्थित हो रही है।

हिन्दी नाट्यकला का जन्म भारतेन्दु युग के पूर्व ही हो चुका था। भारतेन्दुजी के पहले ही हिन्दी में नाटकों की रचना हो चुकी थी। यह सच है, कि वे केवल अनुवाद मात्र थे, और उनमें नाटकीय तत्वों का अभाव था, पर यह भी सच है, कि नाट्य रचना की प्रवृत्ति हिन्दी में भारतेन्दुजी के पूर्व ही पैदा हो चुकी थी। स्वयं भारतेन्दु जी के पिता ने ही एक मौलिक नाटक की रचना की थी। किन्तु नाट्यकला की दृष्टि से जिन रचनाओं को हम नाटक की संज्ञा दे सकते हैं, उनका निर्माण सर्व प्रथम भारतेन्दुजी के ही द्वारा हुआ। सर्व प्रथम भारतेन्दुजी ने ही ऐसे नाटकों की रचना की, जिनमें नाटकीय कला का विकास हुआ है। भारतेन्दुजी के नाटकों में 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति,' सत्य हरिश्चन्द्र, चन्द्रावली, भारत दुर्दशा, अंधेर नगरी, नीलदेवी, और प्रेम योगिनी इत्यादि का मुख्य स्थान है। भारतेन्दुजी के द्वारा जिस मौलिक नाट्यकला ने हिन्दी में जन्म ग्रहण किया, उसका पालन-पोषण उनके सहयोगियों के द्वारा भी हुआ। उनके समकालीन लेखकों में दिल्ली निवासी श्री निवासदास ने रणधीर प्रेम मोहिनी, संयोगिता स्वयम्बर, और तप संवरण की रचना की। पं० बद्रीनारायण उपाध्याय प्रेम घन ने भारत सौभाग्य और पं० प्रतापनारायण मिश्रजी ने 'गो संकट' तथा 'कलि कौतक' का निर्माण किया। भारतेन्दु युग के अंत में राधा कृष्णदास ने 'महाराणा प्रताप', 'महारानी पद्मावती', और 'दुःखिनी बाला' इत्यादि नाटकों की रचना की। इस प्रकार भारतेन्दु युग में, हिन्दी नाट्यकला जन्म लेकर पल्लवित और पुष्पित हो गई। थोड़े ही दिनों में उसमें इतने फल फूल

लग गए, कि उसकी वैभव शालीनता को देखकर लोगों को अधिक विस्मय होने लगा। सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण और मंगल जनक बात यह हुई, कि छोटे-बड़े सभी लेखकों में नाट्य रचना की प्रवृत्ति उत्पन्न हो गई। रंग मंचों और रंगशालाओं की ओर भी लोगों का ध्यान आकर्षित हुआ, और प्रसिद्ध लेखकों की रचनाएँ अभिनीत भी की जाने लगीं।

भारतेन्दुयुग के पश्चात् हिन्दी जगत पर कल्पनाओं का जाल छा गया। तिलिस्मी, और कौतूहल प्रिय उपन्यासों की ओर लोगों की प्रवृत्ति अधिक बढ़ी, और इस प्रकार की रचनाओं की बाढ़ सी आ गई। इसका परिणाम यह हुआ, कि नाट्य कला की प्रगति मंद पड़ गई। कुछ दिनों तक लोग तिलिस्मी और कल्पना प्रिय उपन्यासों को ही लेकर उलझे रहे। इसके पश्चात् पुनः लोगों की निद्रा भंग हुई। पं० सत्यनारायण कविरत्न ने भवभूति के उत्तर रामचरित और मालती माधव के अनुवाद को उपस्थित करके लोगों की प्रसुप्त प्रवृत्ति को पुनः जगा दिया, और पुनः लोग नाट्य रचना की ओर प्रवृत्त हुए। लाला सीताराम ने संस्कृत के कई नाटकों के अनुवाद किए, जिनमें नागानन्द, मृच्छकटिक, मालविकाग्निमित्र, और महावीर चरित्र आदि का मुख्य स्थान है। पुरोहित गोपीनाथ ने 'रोमियो जुलियट' का अनुवाद करके प्रकाशित कराया। पं० रूपनारायण पांडेय, और श्रीरामकृष्ण वर्मा के द्वारा द्विजेन्द्रलाल राय के कई नाटक अनुवादित होकर हिन्दी-जगत के सामने आए। श्री देवीप्रसाद 'पूर्ण', पं० नारायण प्रसाद बेताब पं० राधेश्याम कथावाचक, और पं० किशोरीलाल गोस्वामी ने भी कई मौलिक नाटकों की रचना की, जो पारसी रंग मंच और कला से अधिक प्रभावित थे।

हिन्दी की नाट्यकला अभी तक मुख्य रूप से अनुवादों के ही आँगन में खेल रही थी। अभी तक जो रचनाएँ हिन्दी-जगत में उपस्थित हुई थीं, उनमें अनुवादित रचनाओं की ही अधिकता थी। इन अनुवादित रचनाओं से सबसे बड़ा लाभ यह हुआ, कि एक तो इनके द्वारा नाट्य रचना की प्रवृत्ति उत्पन्न हुई, और दूसरा नाट्य कला को समझने में सहायता प्राप्त हुई। नाट्यकला के संबंध में पूर्वी दृष्टिकोण क्या है, पश्चिमी दृष्टिकोण क्या है—इन अनुवादित रचनाओं के द्वारा प्रस्तुत हुआ। इसी का यह परिणाम है, कि जब द्विवेदी युग आरम्भ हुआ, तब साहित्य के अन्यान्य अंगों के साथ ही साथ नाट्यकला भी अपने संकीर्ण क्षेत्र को छोड़कर 'विश्वत्व' की ओर अग्रसर हुई। सर्व प्रथम हिंदी नाट्यकला का विस्तृत दृष्टिकोण स्वर्गीय जयशङ्कर प्रसाद जी की रचनाओं में ही देखने को मिलता है। सर्व प्रथम उन्होंने ही ऐसे नाटकों की रचना की, जिनमें आधुनिक नाट्यकला प्रादुर्भूत हुई है। 'प्रसादजी' के सभी नाटक ऐतिहासिक हैं। उन्होंने पौराणिक नाटक भी लिखे हैं। उनके ऐतिहासिक और पौराणिक नाटक आधुनिक नाट्यकला के साँचे में प्राचीन जीवन के चित्रों को उपस्थित करते हुए आधुनिक जीवन के भी चित्रों का निर्माण करते हैं। 'प्रसादजी' ही हिन्दी में आधुनिक नाट्यकला के जन्म-

दाता हैं। उनके पश्चात् हिन्दी नाट्यकला के जीवन का महत्व पूर्ण अभिसार हुआ। इन अभिसार कर्त्ताओं में श्री उग्र, श्री गोविन्द वल्लभ पंथ, श्री लक्ष्मीनारायण मिश्र, श्री मिलिन्द, श्री हरिकृष्ण प्रेमी, श्री पं० माखनलाल चतुर्वेदी, श्री पं० बद्रीनाथ भट्ट, श्री जी० पी० श्री वास्तव, और श्री सुदर्शन इत्यादि का नाम उल्लेखनीय है।

साहित्य में उपन्यास का प्रमुख स्थान है। जीवन से जब से साहित्य का सम्बंध हुआ है, उसी समय से उपन्यास का सम्बन्ध भी मानव जीवन से हुआ है।

उपन्यास मनुष्य को उपन्यास अधिक प्रिय है। मनुष्य अपने जीवन के आदि काल से ही कथा-कहानियों से सम्बन्ध रखता चला आ रहा है। मनुष्य के पास साहित्य के नाम पर आज जो प्रानची सम्पत्ति है, उसमें कथा कहानियों की अच्छी निधि देखने को मिलती है। हमारे देश में कथा कहानियों का प्राचीन जीवन आज भी ऋग्वेद, उपनिशद, जैन और बौद्ध ग्रन्थों में सुरक्षित है। प्राचीन काल में हमारे देश में कथा-कहानियों का कितना विकास हुआ था—इसकी झलक आज भी हितोपदेश, सिंहासन बत्तीसी, आदि कथात्मक पुस्तकों में देखने को मिलती है।

हिन्दी गद्य के जन्म के साथ ही साथ उसमें कथा और कहानी का जन्म हुआ है। यदि इस बात को इस रूप में कहें तो कोई अत्युक्ति न होगी, कि हिन्दी गद्य का जन्म ही कथा और कहानी की गोद में हुआ है। हिन्दी गद्य में इस विषय की जो पहली रचना मिलती है, वह इंशा अल्ला खां की 'रानी केतकी की कहानी' है। इसकी रचना इंशा अल्ला खां ने उस समय की थी, जब हिन्दी गद्य जन्म ले रहा था। इसके पश्चात् लल्लूलालजी ने सिंहासन बत्तीसी, बैताल पच्चीसी, शकुंतला, और प्रेम सागर की रचना की। सदल मिश्र ने नासिकेतोपाख्यान की रचना भी इन्हीं दिनों की। जटमल ने गोरा बादल की कथा, और राजाशिवप्रसाद सितारे हिन्द ने राजाभोज का सपना लिख कर कथा और कहानी की प्रवृत्ति को अग्रसर किया।

इन रचनाओं में केवल मनोरंजन की ही प्रधानता थी। मनोरंजन की दृष्टि से ही इन रचनाओं का निर्माण हुआ था। कुछ दिनों तक हिन्दी में कथा और कहानियों के नाम पर मनोरंजन प्रधान ही रचनाएँ सामने आती रहीं। यह रचनाएँ कुछ तो उर्दू से आई, और कुछ संस्कृत से। कुछ रचनाओं का संबंध प्राचीन भारतीय लोक कथाओं से भी था। जिसे उपन्यास कहते हैं, उसका जन्म अभी तक हिन्दी-गद्य में नहीं हो सका था। सर्व प्रथम भारतेन्दु बाबू ने हिन्दी उपन्यास कला को जन्म दिया। उन्होंने 'चंद्रप्रभा', और 'पूर्व प्रकाश' की रचना करके लोगों के सामने उपन्यास की कला को प्रस्तुत किया। भारतेन्दुजी ने जिस उपन्यास कला को जन्म दिया, किशोरीलाल गोस्वामी ने उसे वास्तविकता के साँचे में ढाला, और उसे सबल बनाया। किशोरीलाल गोस्वामी ने कई उपन्यासों की रचना की,

जिनमें त्रिवेणी, स्वर्गीय कुसुम, हृदयहारिणी, और लवंगलता, इत्यादि का मुख्य स्थान है। उपन्यास कला का वास्तविक स्वरूप सर्व प्रथम गोस्वामीजी की इन रचनाओं में ही देखने को मिलता है। गोस्वामीजी के पश्चात् ही श्री राधाचरण ने गोस्वामी विधवा विपत्ति, श्री हनुमतसिंह ने चन्द्रकला, श्री देवीप्रसाद खत्री ने जया, और श्री राधाकृष्णदास ने निःसहाय हिन्दू की रचना करके हिन्दी उपन्यास कला की रगों में जीवन संचरित किया।

भारतेन्दु काल के उपन्यास लेखकों में बालकृष्ण भट्ट, श्री निवासदास, और श्री कार्तिक प्रसाद, का नाम विशेष उल्लेखनीय है। बालकृष्ण भट्ट के 'नूतन ब्रह्मचारी', और 'सौ अजान का एक सुजान' में औपन्यासिक कला अपने वास्तविक स्वरूप में दिखाई पड़ती है। श्री निवासदास के परीक्षागुरु और कार्तिक प्रसाद के 'दीनानाथ' ने भी औपन्यासिक कला के सुंदर चित्र उपस्थित किए हैं। मेहता लज्जाराम की रचनाओं ने भी औपन्यासिकता को प्रगति प्रदान की। देवकीनन्दन खत्री के चन्द्रकांता और 'चन्द्रकांता संतति' ने हिंदी उपन्यास जगत में एक युगांतर सा उपस्थित कर दिया। देवकीनंदन खत्री के इन तिलस्मी, और काल्पनिक उपन्यासों ने, हिन्दी जनता में उपन्यास पढ़ने की तीव्र प्रवृत्ति उत्पन्न की। कितने ही लोगों ने केवल इन उपन्यासों को पढ़ने के लिए ही हिन्दी की शिक्षा प्राप्त की। इन उपन्यासों के चरण-चिह्नों पर कितने ही उपन्यास भी लिखे गए। देवकीनंदन खत्री ने अपनी रचनाओं के द्वारा हिन्दी में एक युग की स्थापना की। इस युग को हम तिलस्मी युग कह सकते हैं। देवकीनंदन खत्री के युग को गोपालराम गहमरी की रचनाओं से अधिक बल प्राप्त हुआ। गोपालराम गहमरी हिन्दी में जासूसी उपन्यासों की एक धारा सी बहा दी। उनके पश्चात् हिन्दी में अँगरेजी और बँगला के कई अच्छे उपन्यासों का अनुवाद प्रकाशित हुआ, जिससे हिंदी में मौलिक उपन्यासों के प्रणय की प्रवृत्ति उत्पन्न हुई, और लोग इस ओर ध्यान देने लगे।

सर्व प्रथम किशोरीलाल गोस्वामी के मौलिक उपन्यास सामने आए। जिसे उपन्यास कला कहते हैं। उसकी झलक पहले पहल गोस्वामीजी के उपन्यासों में मिलती है। गोस्वामीजी के द्वारा कई उपन्यास लिखे गए। वे सभी उपन्यास घटना मूलक हैं। भाषा और चरित्र-चित्रण की दृष्टि से उनमें अधिक त्रुटियाँ हैं। कहीं कहीं उनमें अश्लीलता भी अधिक पाई जाती है। यह होते हुए भी इस बात से अस्वीकार नहीं किया जा सकता, कि सर्व प्रथम गोस्वामीजी ही हिन्दी जगत में उपन्यास मौलिकता की ओर अग्रसर हुए हैं। हिन्दी उपन्यास जगत में युगांतर उपस्थित करने का श्रेय स्वर्गीय प्रेमचंदजी को है। आधुनिक उपन्यास कला का जन्म सर्व प्रथम प्रेमचंदजी के ही उपन्यासों में हुआ है। सर्व प्रथम प्रेमचंदजी ने हिन्दी में ऐसे मौलिक उपन्यास लिखे, जिनमें सामाजिक जीवन की अभिव्यक्ति हुई। प्रेमचंदजी का पहला उपन्यास सेवासदन है। इसके पश्चात् उन्होंने प्रेमाश्रम की रचना की। प्रेमाश्रम की रचना करके उन्होंने हिन्दी उपन्यास कला में जीवन सा डाल दिया,

दूसरे शब्दों में यह कहना चाहिए, कि उन्होंने हिन्दी उपन्यास कला के अस्तित्व को दृढ़ता के साथ स्थापित कर दिया। सेवासदन के पश्चात् उन्होंने कई उपन्यासों की रचना की। जिनमें रंगभूमि, कायाकल्प, प्रतिज्ञा, और गबन इत्यादि मुख्य हैं। प्रेमचंदजी के सम्पूर्ण उपन्यास आदर्श उन्मुख हैं। उन्होंने अपने उपन्यासों में सामाजिक विकृतियों का चित्रण करके उसे आदर्श की ओर ले जाने का प्रयत्न किया। ग्रामीण जीवन के चित्र भी उनके उपन्यासों में सुन्दरता के साथ मिलते हैं।

प्रेमचंदजी के ही चरण चिह्नों पर चलकर विश्वम्भरनाथ कौशिक ने 'माँ' की रचना की। प्रेमचंदजी के पश्चात् हिन्दी में उपन्यास का प्रभाव तीव्रगति से बह चला। अँगरेजी और बँगला के साहित्य का भी उस पर प्रभाव पड़ा। फलतः उपन्यास की कई धाराएँ फूट पड़ीं। इन धाराओं को जिन कलाकारों से अधिक प्रेरणा मिली है। उनमें श्री जयशंकर प्रसाद, श्री जैनेंद्र कुमार, श्री प्रतापनारायण श्रीवास्तव, श्री वृंदावनलाल वर्मा, श्री भगवती प्रसाद वाजपेयी, श्री भगवतीचरण वर्मा, श्री अज्ञेय, श्री उग्रजी, और श्री राजाराधिकारमणसिंह इत्यादि का नाम मुख्य है। श्री प्रेमचंदजी के उपन्यास आदर्श उन्मुख हैं। पर उनके पश्चात् जिन उपन्यासों की रचना हुई है, उनकी पृष्ठभूमि मनोवैज्ञानिकता है। इन उपन्यासों में मनोवैज्ञानिकता की पृष्ठभूमि पर ही जीवन को समझने की चेष्टा की है। किसी-किसी में यथार्थवादी भावनाओं का विकास पूर्ण रूप में हुआ है। किसी-किसी की रचना में राजनीतिक सिद्धांतों की भी प्रधानता मिलती।

उपन्यास की भाँति ही कहानी भी साहित्य का मुख्य अंग है, और उपन्यास की भाँति ही कहानी से भी मानव जीवन का अधिक घनिष्ट परिचय है। विश्व के

आख्यायिका

प्रत्येक साहित्य का अध्ययन करने से पता चलता है, कि प्रत्येक साहित्य में कहानी का जन्म उसके प्रारम्भ से ही हुआ है। पर हिन्दी इसका अपवाद सा जान पड़ता है। हिन्दी साहित्य में कहानी का जन्म बहुत देर से हुआ है। हिन्दी में कहानी सर्व प्रथम पद्य के रूप में ही प्रगट हुई है। सर्व प्रथम जायसी की कविताओं में ही कहानी देखने को मिलती है। जायसी के पश्चात् और कई सूफी कवियों की रचनाओं में भी कहानी का प्रादुर्भाव है। हिन्दी गद्य में सर्व प्रथम जो कहानी मिलती है, वह इंशा अल्ला खाँ की 'रानी केतकी' की कहानी है। इस प्रकार इंशा अल्ला खाँ को ही हिन्दी का प्रथम कहानीकार मानना चाहिए, भारतेंदु युग में जब हिन्दी गद्य की उन्नति हुई, तब साहित्य के अन्यान्य अंगों के साथ ही साथ हिंदी कहानी कला ने भी अपना स्वरूप धारण करना प्रारम्भ किया। भारतेंदु युग में श्री निवासदास ने परीक्षा गुरु, और राधाकृष्णदास ने निःसहाय हिंदू तथा बालकृष्ण भट्ट ने नूतन ब्रह्मचारी की रचना की।

कहानी और कथा के नाम पर यह सर्व प्रथम प्रयास था। इस प्रथम प्रयास से केवल इतना ही लाभ हुआ, कि इससे कहानी कला को प्रोत्साहन मिला, और वह

कुछ सजीव सी होकर आगे बढ़ी। द्विवेदीजी के युग की जब सृष्टि हुई, और जब उनके द्वारा सम्पादित सरस्वती ने हिंदी-जगत में एक नया आलोक उत्पन्न किया, तब हिंदी-कहानी कला के ऊपर भी एक नया प्रकाश पड़ा, परिणाम स्वरूप किशोरीलाल गोस्वामी की 'इंदुमती' सामने आई। हिंदी में यह पहली कहानी थी; जिसमें कहानी कला अपने वास्तविक रूप में प्रादुर्भूत हुई थी। इसके पश्चात् 'सरस्वती' में तरह-तरह की कहानियाँ प्रकाशित होने लगीं। इन कहानियों में अधिकांश बँगला से अनूदित ही होती थीं। बँगला से अनूदित कहानियाँ उपस्थित करने वालों में गिरिजा कुमार घोष, और 'बंग महिला' का नाम उल्लेखनीय है। 'बंग महिला' ने कुछ मौलिक कहानियाँ भी हिंदी में लिखीं, जिनमें 'दुलाई वाली' का महत्त्व पूर्ण स्थान है।

इसके पश्चात् श्री जयशङ्कर प्रसाद और स्वर्गीय प्रेमचंदजी हिन्दी कहानी-कला के रंग मंच पर आए। 'प्रसादजी' की कहानी सर्व प्रथम 'इन्दु' में प्रकाशित हुई, जिसका शीर्षक ग्राम था। कुछ लोगों का कथन है, कि हिन्दी की यही पहली मौलिक कहानी है। इसके पश्चात् प्रसादजी ने अनेक कहानियाँ लिखीं। उनकी कहानियों के कई संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं, जिनमें आकाशदीप, विसाती, प्रतिध्वनि, स्वर्ग के खँडहर, चित्र मन्दिर, और पुरस्कार इत्यादि अधिक प्रसिद्ध हैं। प्रसादजी की कहानियों के विषय कल्पित और ऐतिहासिक हैं। कुछ कहानियों में मनोवैज्ञानिक ढंग पर तन के द्वन्दों का भी विश्लेषण किया गया है। कुछ कहानियों में व्यक्ति के व्यक्तित्त्व की भी प्रधानता है। प्रसादजी की कहानी कला विभिन्न विषयों की पृष्ठभूमि पर निवास करती है, और वास्तविकता की तालिका से आदर्श के चित्र उपस्थित करती है। प्रेमचंदजी की कहानियों में भी आदर्श की भावना है। उपन्यास की भाँति कहानी-जगत में भी प्रेमचंदजी के द्वारा युगांतर उपस्थित हुआ है। प्रेम चंदजी की सम्पूर्ण कहानियों में सामाजिक समस्याओं पर प्रकाश डाला गया है। उन्होंने समाज की विकृतियों का चित्रण करते हुए उसे आदर्श की ओर ले जाने का प्रयत्न किया है, पर प्रसादजी और प्रेमचंदजी के आदर्श पथ में अधिक अंतर है। प्रसादजी का आदर्श-पथ जहाँ भावनामय है, वहाँ प्रेमचंदजी के आदर्श-मार्ग में वास्तविकता है। प्रेमचंदजी कहानियाँ घटना प्रधान हैं। उनकी कहानियों की भाषा भी अधिक सरल और व्यावहारिक है। यही कारण है, कि प्रसादजी की अपेक्षा प्रेमचंदजी की कहानियाँ अधिक लोक प्रिय हैं। प्रेमचंदजी के ही मार्ग का 'कौशिक' और सुदर्शन इत्यादि ने भी अनुगमन किया। 'कौशिक' और 'सुदर्शनजी' ने भी दर्जनों कहानियाँ लिखीं, जो मुख्य रूप से आदर्शोन्मुख हैं।

प्रेमचंदजी के पश्चात् हिन्दी-कहानी जगत में एक नवीन अध्याय का श्री गणेश हुआ। प्रेमचंदजी और उनके समकालीन लेखकों की अधिकांश कहानियाँ आदर्शोन्मुख हैं; पर प्रेम चंदजी के पश्चात् धीरे-धीरे हिन्दी कहानी कला यथार्थवाद की पृष्ठभूमि पर उतर आई। पहले जहाँ वह समष्टि से अपने जीवन का अभिसार करती है, वहाँ अब वह अपने अभिसार में व्यष्टि को महत्त्व देने लगी। इस नये अध्याय में

उसने केवल अपनी पृष्ठिभूमि ही नहीं बदली, बल्कि उसने अपनी शैली बदल दी। अब वह वर्णन के क्षेत्र से हट कर मनोवैज्ञानिकता के क्षेत्र में घुसी, और मन के द्वन्दों बीच में ही खेलने लगी। उसकी भाषा भी अब पहले से अधिक व्यंजक हो गई। इस नए अध्याय को पूर्ण करने में जिन कहानीकारों ने भाग लिया है, उनमें श्री चतुरसेन शास्त्री, श्री भगवती प्रसाद वाजपेयी, श्री जैनेन्द्र कुमार, श्री अज्ञेय, श्री भगवती चरण वर्मा, श्री निराला, और श्री उग्र इत्यादि का मुख्य स्थान है। इस नए अध्याय में हास्य रस की सुन्दर कहानियाँ भी लिखी गई हैं। हास्य रस के कहानीकारों में श्री अन्नपूर्णानंद, और श्री बेढब बनारसी का मुख्य स्थान है। श्री अन्नपूर्णा नंद ने संयत और शिष्ट हास्य रस की मार्मिक कहानियाँ, जो हृदय और प्राणों को स्पर्श करने में अधिक सक्षम हैं, लिख कर हिन्दी कहानी कला को अधिक बल प्रदान किया है। श्री जी० पी० श्री वास्तव ने भी हास्य रस की सुन्दर कहानियाँ लिखी हैं।

निबंध साहित्य का प्रारम्भ भारतेंदु युग से ही हुआ है। भारतेंदुजी के पूर्व का हिन्दी साहित्य का इतिहास निबंध से रिक्त है। सर्व प्रथम भारतेंदु बाबू ने ही निबंध

निबंध लिखने की परिपाटी हिन्दी में चलाई। जिस प्रकार उन्होंने साहित्य के अन्यान्य अंगों पर प्रकाश डाला, उसी प्रकार उन्होंने निबंध-भण्डार को भी पूर्ति की। उन्होंने विभिन्न विषयों पर निबंध लिखे। उनके निबंधों के अधिकांश विषय या तो साहित्यिक हैं, और या सामाजिक। उन्होंने अपने निबंधों में नाटक और उसके तत्त्वों का भी बड़ी गम्भीरता के साथ विवेचन किया है। इस प्रकार यह कहा जा सकता है, कि उन्होंने ही समालोचनात्मक निबंध लिखने की प्रवृति हिंदी में उत्पन्न की। उनके द्वारा प्रवर्तित निबंध परिपाटी की रक्षा उनके समकालीन लेखकों ने बड़े मनोयोग के साथ किया। भारतेंदुजी के द्वारा जो निबंध का पौदा रोपा गया था; उसमें फल-फूल लगाने का श्रेय भारतेंदु युग के निबंधकारों को है। इन निबंधकारों में पं० बालकृष्ण भट्ट, पं० प्रताप नारायण मिश्र, पं० माधव प्रसाद, सरदार पूर्णसिंह, और पं० पद्मसिंह शर्मा इत्यादि का मुख्य स्थान है। पं० बालकृष्ण भट्ट ने विभिन्न विषयों पर भाव पूर्ण निबंधों की रचना की। उनके निबंधों की दो शैली है—भावात्मक, और व्यंग्य पूर्ण। उनके साहित्यिक निबंध भावात्मक शैली में हैं। सामाजिक निबंधों में व्यंग्य पूर्ण शैली का विकास हुआ है। पं० प्रताप नारायण मिश्र ने सामाजिक और राजनीतिक विषयों पर निबंधों की रचना की है। इनकी भी शैली दो प्रकार की है—गम्भीर, और हास्य तथा व्यंग्य पूर्ण। इनके साहित्यिक निबंध गंभीर शैली में हैं। सामाजिक और राजनीतिक निबंधों में हास्य तथा व्यंग्य पूर्ण शैली का प्रयोग हुआ है। माधव प्रसाद मिश्र ने भावात्मक शैली में निबंधों की रचना की है। सरदार पूर्णसिंह ने भावात्मक शैली में श्रेष्ठ निबंधों की रचना की है। पं० पद्मसिंह शर्मा ने आलोचनात्मक निबंध लिखे हैं, जिन पर हास्य और व्यंग्य की छाप है।

निबन्ध साहित्य में युगांतर द्विवेदी युग से आरम्भ हुआ है। द्विवेदी युग के पूर्व हिंदी जगत में अधिकांश भावात्मक निबन्धों की ही रचना हुई है। कुछ लेखकों ने विचारात्मक, विवरणात्मक, और वर्णनात्मक निबन्धों की भी रचना की है, पर उनकी संख्या नहीं के बराबर है। द्विवेदीजी ने जब सरस्वती का सम्पादन अपने हाथों में लिया, तो सरस्वती के द्वारा हिन्दी के निबन्ध-साहित्य में क्रान्ति-सी उपस्थित हो गई। सामाजिक, राजनीतिक, साहित्यिक और आर्थिक इत्यादि विषयों पर विचार पूर्ण निबन्ध सरस्वती में प्रकाशित होने लगे। इन्हीं दिनों डा० श्यामसुन्दरदास और पं० रामचंद्र शुक्ल हिन्दी-निबन्ध के रंग मंच पर उपस्थित हुए। इन दोनों ही उद्भट निबन्ध लेखकों ने भिन्न-भिन्न शैलियों का प्रवर्तन किया। उनके द्वारा प्रवर्तित शैलियों ने गद्यकारों के मन के भीतर प्रेरणाएँ उत्पन्न कीं, और मनस्वी तथा अध्ययन प्रिय विचारक लेखकों का प्रादुर्भाव हुआ। इन लेखकों में श्री मिश्रबन्धु, श्री पदम लाल पुन्नालाल बख्शी, श्री जयशङ्कर प्रसाद, श्री सूर्यकांत त्रिपाठी निराला, श्री कृष्ण बलदेव शर्मा, श्री नलिनी मोहन सन्याल, श्री इलाचन्द्र जोशी, श्री गुलाबराय, डा० पीताम्बर बड़थ्वाल, श्री रामचंद्र वर्मा, श्री शांति प्रिय द्विवेदी, श्री डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी, श्री परशुराम चतुर्वेदी श्री डा० रामकुमार वर्मा इत्यादि का नाम मुख्य स्थान है। इन निबन्धकारों ने विभिन्न विषयों पर निबन्ध लिख कर निबन्ध साहित्य-भण्डार की पूर्ति की है।

जीवन चरित्र लिखने की प्रणाली हिन्दी में प्राचीन काल से चली आ रही है। वीर गाथा काल और भक्ति काल में भी जीवन चरित्र लिखे गए हैं। रीति काल में भी जीवन चरित्र जीवन घटनाओं का गुंफन किया गया है। किन्तु यह सब पद्य में ही हुआ है। सुप्रसिद्ध चरित्रात्मक ग्रन्थ 'भक्त माला' और गोसाई चरित्र की भी रचना पद्य में ही हुई है। गद्य में सर्व प्रथम भारतेंदु हरिश्चन्द्रजी ने जीवन चरित्र लिखे। उन्होंने ही सबसे पहले पहल उर्गद्ध भक्तमाल की रचना की। उनके पश्चात् राधाचरण गोस्वामी ने तब भक्तमाल का निर्माण किया। भारतेन्दु जी ही जीवन चरित्र के सर्व प्रथम लेखक हैं। इन्होंने छोटे-छोटे जीवन चरित्र भी लिखे, और इस प्रकार उन्होंने जीवन चरित्र लिखने की परिपाटी हिंदी में प्रारंभ की। उनके पश्चात् उनके समकालीन कई लेखकों ने जीवन चरित्र लिख कर यश प्राप्त किया, जिनमें कार्तिक प्रसाद खत्री, राधाकृष्णदास, और गोकुलनाथ शर्मा इत्यादि का नाम उल्लेखनीय है।

द्विवेदी युग में प्रारम्भ के साथ ही साथ जीवन-चरित्र जगत में भी क्रान्ति उपस्थित हो गई। गद्य का विकास और उसकी उन्नति होने के साथ ही साथ ऐतिहासिक, राजनैतिक, और साहित्यिक महापुरुषों के जीवन चरित्र लिखे जाने लगे। अब तक कितने ही जीवन चरित्र लिखे जा चुके हैं। वर्तमान जीवन चरित्र के प्रणेताओं में निराला, श्री रामनाथ सुमन, श्री गुलाबराय, और श्री डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी इत्यादि का मुख्य स्थान है।

इस प्रकार हिन्दी गद्य की बहुमुखी उन्नति हो रही है। विभिन्न विषयों पर इस समय कितने ही मासिक पत्र, और पत्रिकाएँ भी निकल रही हैं। इस समय हिन्दी-गद्य जिस द्रुत गति से आगे बढ़ रहा है, उसे देखते हुए यह कहने में तनिक भी संकोच नहीं होता, कि एक दिन आयेगा, जब विश्व के साहित्य में उसका प्रमुख स्थान होगा।

गीति, और उसका जन्म

गीति का जीवन से अधिक निकट का संबंध है। संसार में कदाचित् ही कोई ऐसा मनुष्य हो, जिसे गीति प्रिय न हो, या जिसका हृदय मधुर गीति को सुनकर उछल न पड़ता हो, या जिसके प्राणों में गीति से प्राण संचरित न हो उठते हों। मनुष्य ही नहीं पशु पक्षी तक गीति से विमुग्ध हो जाते हैं। कितने ही पशु पक्षी ऐसे हैं, जो गीति की मधुरिमा, पर मुग्ध होकर अपने को मृत्यु के मुख में डाल देते हैं। गीति में अद्भुत से मोहनी शक्ति होती है। गीति के स्वर जब ताल और लय में बँधे हुए मधुर कंठों से निकलते हैं, तब उनका प्राणों के ऊपर अचूक प्रभाव पड़ता है। जो कार्य किसी के द्वारा सिद्ध नहीं होते, वे गीति के द्वारा सिद्ध हो जाते हैं। गीति के मधुर स्वरों में आत्मा को विभोर कर देने की अद्भुत शक्ति होती है। गीति के स्वर ऊँचे उठकर आत्मा को उठाते हैं। और उसे उस आनन्द से मिलाते हैं, जिसे परमानन्द कहते हैं। यही कारण है, कि गीति का अधिक उच्च स्थान है। जीवन के साधारण अवसरों पर गीति को अधिक महत्व तो दिया ही जाता है, उन अवसरों पर भी गीति को अधिक महत्व प्रदान किया जाता है, जब मनुष्य परमात्मा के चरणों के निकट पहुँचने की आकांक्षा से उसकी अभिनन्दना करता है। अभिनंदना के लिए मनुष्य जिस साधना का अवलंब लेता है, वह गीति ही है। संसार के सभी धर्मों और मतों तथा संप्रदायों में ईश्वर की प्रार्थनाएँ गीति मूलक ही हैं।। गीति में जब 'अदृश्य' और अप्रत्यक्ष को भी भेदन करने की शक्ति है, तब दृश्य और अप्रत्यक्ष जगत पर उसके मुग्धकारी प्रभाव की बात का कहना ही क्या ?

गीति का महत्व

जो गीति इतना अधिक महत्व पूर्ण वह क्या वस्तु है ? गीति से सभी लोग परिचित हैं, और गीति सब को प्रिय है। पर गीति क्या है—यह कदाचित् सभी लोग नहीं जानते। 'गीति' गीति है, यह इस प्रश्न का साधारण उत्तर है। पर गीति में जो महान शक्ति होती है, वह कहाँ से आती है—इस प्रश्न का उत्तर फिर भी नहीं मिलता। गीति के सम्बन्ध में संसार के आचार्यों ने भिन्न-भिन्न मत प्रगट किए हैं, किन्तु सभी का इस बात पर एक मत है, कि गीति मनुष्य के हृदय का एक सार है—एक निष्कर्ष है, दूसरे शब्दों में उसके हृदय का एक बोल है। एक आसव है। गीति में महान शक्ति छिपी रहती है, उसका एक

गीति क्या है ?

४

गीति काव्य

विषय सूची

१—गीति और उसका जन्म ३९६
(अ) गीति का महत्त्व, (आ) गीति क्या है, ? (इ) गीति का यंत्र-हृदय (ई) गीति और काव्य।
२—गीति का स्वरूप २९९
(ए) गीति के स्वरूप पर विद्वानों के मत, (ऐ) गीति काव्य के प्रति भारत और पश्चिम का दृष्टि कोण, (ओ) श्रेष्ठ और सुन्दर गीति का स्वरूप।
३—गीति काव्य और छंद ३०५
(औ) गीति की विभिन्न शैलियां, (अं) गीति और छंद, ।(अः) हिन्दी गीत और पद, (क) हिन्दी गीत के नए छंद।
४—गीति काव्य और संगीत ३०९
(ख) सगीत का महत्त्व, (ग) संगीत का सौन्दर्य, (घ) संगीत की उत्पत्ति, (ङ) संगीत का विकास और उसकी उन्नति।
५—हिन्दी गीति काव्य का विकास क्रम ३१४
(च) गीति काव्य-वैदिक काल में, (छ) गीति काव्य रामायण और महाभारत काल में, (ज) गीति काव्य और भरत मुनि, (झ) गीति काव्य और प्राकृत, (ञ) गीति काव्य और मागधी, (ट) हिन्दी गीति काव्य और जयदेव, (ठ) गीति काव्य-काल विभाजन।
६—गीति काव्य—आदि काल ३१८
(ड) सामाजिक राजनीतिक स्थिति, और गीति काव्य, (ढ) बीसलदेव रासो, (ण) आल्ह खण्ड, (त) मुक्तक गीत।
७—गीत काव्य—मध्यकाल ३२९
(थ) मध्यकाल गीति काव्य की उन्नति का कारण, (द) मध्यकाल-गीति काव्य की श्रेणियाँ, (ध) निर्गुणवादी गीतिकार, (न) सगुणवादी-कृष्ण भक्ति गीतिकार (प) सगुणवादी-राम-भक्ति गीतिकार, (फ) रीतिकाल और गीतिकाव्य।
८—गीति काव्य आधुनिक काल ३३०
(ब) आधुनिक काल के पूर्व-गीतिकाव्य, (भ) आधुनिक काल के गीति काव्य की एक झलक, (म) आधुनिक गीतिकार।

—०—

मात्र कारण यही है, कि उसके शब्दों में—उसके स्वरों में मनुष्य का हृदय और उसका प्राण छिपा रहता है। गीति के स्वर उसके स्वर नहीं मनुष्य के प्राणों के स्वर होते हैं। गीति के शब्द उसकी भाषा के शब्द नहीं, मनुष्य के हृदय के शब्द होते हैं। जिस प्रकार आधुनिक ग्रामोफोनों के रेकार्डों में मनुष्य के शब्द भरे जाते हैं, उसी प्रकार मनुष्य अपने हृदय के स्वरों को गीति के रेकार्डों में भरता है। जो अपने हृदय के स्वरों को जितनी ही अधिक तल्लीनता, रसमयता, और विभोरता के साथ गीति के स्वरों में भरता है, उसके गीत उतने ही अधिक मनोहारी, और विमुग्धकारी होते हैं। गीत में जितने ही अधिक हृदय के तत्त्व होते हैं, उतना ही अधिक उसका हृदय पर प्रभाव भी पड़ता है। हृदय के स्वरों को तोड़ कर निकला हुआ गीत विश्व के स्तरों को तोड़ देता है, और विश्व के स्तरों को तोड़ कर ब्रह्मांड में भी गूंज उठता है। तुलसी, सूर, और मीरा के गीत इसके दृष्टांत हैं। हिन्दी के काव्य के वीर गाथा काल से लेकर आधुनिक काल तक कितने ही गीतों की रचना हुई, और हो रही है, पर उन संपूर्ण गीतों पर तुलसी, सूर, और मीरा के गीत छाए हुए हैं। इसका कारण केवल यही है, कि तुलसी, सूर, और मीरा के गीत उनके हृदय और प्राणों के गीत हैं। यह सच है, कि आज इस धरती पर उनका पार्थिव शरीर नहीं है। पर उसके साथ ही साथ यह भी सच है, कि आज भी उनके गीति स्वरों में उनका हृदय और प्राण बोल रहा है। उनके पार्थिव शरीर की अविद्यमानता में भी उनका हृदय, और उनका प्राण उनके गीतों के रूप में कंठ-कंठ से निकल कर जन-जन के प्राणों को आंदोलित कर रहा है, और तब तक इसी प्रकार आंदोलित करता रहेगा, जब तक यह धरती, और यह आकाश रहेगा।

गीत मनुष्य के शरीर के उस यन्त्र की झंकार है, जिसे हृदय कहते हैं। मानव शरीर के भीतर दो प्रधान यन्त्र हैं—मस्तिष्क और हृदय। मस्तिष्क से मनुष्य सोचता और विचार करता है। हृदय से वह अनुभव करता है, दूसरे शब्दों में मस्तिष्क मनुष्य की बुद्धि का कोष है, और हृदय उसके भाव का भण्डार। मनुष्य अपने हृदय रूपी भंडार में ही भावों को एकत्र करके रखता है। इतना ही नहीं, भावों का जन्म भी मनुष्य के हृदय में ही होता है। भावों के जन्म का कारण दुःख सुख, हर्ष विषाद, वियोग संयोग, और उत्थान-पतन इत्यादि होते हैं। यद्यपि इन स्थितियों, घटनाओं, और अवस्थाओं के बोध में मस्तिष्क भी सहायक होता है, और उस पर इसका प्रभाव पड़ता है, पर इनके परिणाम स्वरूप भाव हृदय-पटल पर ही उत्पन्न होता है। स्थितियों, और अवस्थाओं से उत्पन्न भाव जब हृदय में उच्चता को प्राप्त हो जाता है, तब वह राग में बन कर छिटक पड़ता है। इस राग में हृदय की वे सुधी, और तन्मयता होती है। हृदय के इसी तन्मय और वे सुध राग को 'गीति' की संज्ञा दी गई है।

गीति का यंत्र

दुख सुख, हर्ष विषाद शोक और उल्लास मनुष्य मात्र के जीवन में घटित

होते हैं, और मनुष्य मात्र का हृदय इनसे आंदोलित होता रहता है। अतः गीति की हिलोरें मनुष्य मात्र के हृदय में उठती हैं : उस मनुष्य के हृदय में भी गीति की हिलोरें उठती हैं, जो असंस्कृत और अशिक्षित होता है, और उस मनुष्य के हृदय में भी उठती हैं, जो शिक्षित और सुसंस्कृत होता है। अशिक्षित और असंस्कृत मनुष्य जब भावातिरेक से विमुग्ध हो उठता है। तब गुनगुना कर रह जाता है, या कभी कभी स्वरालाप भी कर उठता है, पर शिक्षित और सुसंस्कृत मनुष्य के हृदय में जब भावातिरेक से गीति की हिलोरें उत्पन्न होती हैं, तब वह उन हिलोरों को भाषा और शब्दों के सूत्र में गूँथने का प्रयास करता है। इस प्रयास में सबसे अधिक सफलता उन व्यक्तियों को प्राप्त होती है, जिनके भीतर कव्य-कल्पना की शक्ति होती यों तो भावातिरेक में साधारण गीतों की रचना साधारण व्यक्ति भी कर लिया करते हैं, और उनके साधारण गीत भी कुछ कम प्रभाव वाले नहीं होते, पर उन गीतों में कुछ और ही प्रभाव शक्ति होती है, जो कवि कर्म में कुशल किसी चतुर कलाकार के द्वारा हृदय-पयोधि से बाहर निकाले जाते हैं।

गीत और कवि-कर्म में अधिक घनिष्ठता है। वास्तव में कवि-कर्म की सफलता गीत के रूप में प्रगट होती है। संसार के आचार्यों ने गीत को काव्य के ही अंतर्गत माना है। किसी किसी आचार्य का तो यह कथन है, कि गीत सर्वश्रेष्ठ और सुन्दर काव्य का ही एक उज्वल स्वरूप है।

गीति और काव्य

वास्तव में इसमें रंच मात्र भी सन्देह नहीं, कि काव्य के अन्तर्गत गीत का प्रमुख स्थान है। गीत का निर्माण कवि जिन स्थितियों में करता है, वे उसके कवि-जीवन की वे स्थितियाँ हैं, जिनमें उसकी आत्मा भावों में सबसे अधिक विभोर हो उठती है। जिनमें उसकी दृष्टि बाह्य जगत से हट कर अन्तर्जगत में प्रवेश करती है, और अन्तर्जगत के दृश्यों को देखने में ही वह अपना समय व्यतीत करती है, दूसरे शब्दों में कवि जिन क्षणों में गीतों की रचना करता है, वह अधिक भावमय हो उठता है। अधिक भावावेग में होने के कारण उन-क्षणों में उसकी अभिव्यक्ति में अधिक तन्मय और अधिक तीव्रता होती है। आचार्यों के कथनानुसार भावों की तन्मयता पूर्ण तीव्र अभिव्यक्ति को ही काव्य की संज्ञा दी गई है। अतः गीत को काव्य का उज्वल स्वरूप मानने में किसी प्रकार भी सत्य का उल्लङ्घन नहीं होता। काव्य के सुन्दर और प्रभावकारी तत्त्व गीत में ही उत्पन्न होते हैं। गीत के स्वरों में ही आत्मा की वह सच्ची अनुभूति होती है, जिसे काव्य का प्राण कहते हैं। गीत को यदि काव्य का प्राण और जीवन भी कहा जाय तो कोई अत्युक्ति न होगी। काव्य 'गीत' की सत्ता से ही काव्य बनता है। काव्य का संपूर्ण आकर्षण, उसकी संपूर्ण सत्ता और उसकी संपूर्ण शक्ति 'गीत' की ही ओर देखती है। 'गीत' जब काव्य के शरीर में प्रवेश करता है, तभी काव्य अपने वास्तविक अर्थ में काव्य की संज्ञा से अभिभूषित होता है।

गीति का स्वरूप

गीति आत्मा की वास्तविक अभिव्यक्ति है। वास्तविक गीति उसी को कहते हैं, जिसमें हृदय की--प्राणों की सच्च अनुभूति छिपी होती है, दूसरे शब्दों में जिसमें कवि या

गीत के स्वरूप पर विद्वानों के मत

गीतिकार नावों और अनुभूतियों में डूब कर अपने प्राणों का आसव शब्दों और भाषा के प्याले में ढालता हुआ दिखाई देता है। जो कवि या गीतिकार जितनी ही अधिक तन्मयता और विभोरता के साथ शब्दों के प्याले में अपनी आत्मा का रस ढालता है। उसके गीत उतने ही अधिक उत्कृष्ट, और उतने ही अधिक प्रभाव पूर्ण होते हैं। पश्चिम का सुप्रसिद्ध विद्वान हीगल इसी बात को इसी रूप में कहता है—'कवि संसार के अन्तः करण में पहुँच कर आत्मानुभूति करता है, तब उसे अपनी चित्त-वृत्ति के अनुसार काव्योचित भाषा में कुशलता पूर्वक व्यक्त करता है।' हीगल के मतानुसार गीति अनुभूतिमय होता है। हीगल गीत उसी को मानता है, जिसमें भाव, या अनुभूति की प्रधानता होती है। हीगल के कथनानुसार गीति की रचना चित्त की एक विशेष अवस्था में होती है। उस विशेष अवस्था को हम चित्त की शांत और सुस्थिर कह सकते हैं। कवि अपने चित्त की इस शांत और सुस्थिर में, बाह्य-जगत के दृश्यों और पदार्थों के देखने, और सुनने के परिणाम स्वरूप भावों का अनुभव करता है। यही अनुभूत भाव उसकी कल्पना में गीति बन कर जाग्रत होते हैं। अँगरेजी का सुप्रसिद्ध विद्वान अनेस्ट राईस गीति के स्वरूप के सम्बन्ध में अपना मत व्यक्त करते हुए कहता है—'वास्तविक गीत वही है, जो भाव, या भाव पूर्ण विचारों को स्वाभाविकता के साथ भाषा में व्यक्त कर सके, जो शब्दों और लय की एक रूपता से उस भाव को ठीक-ठीक व्यक्त कर सके, जिसका व्यक्त किया जाना अपेक्षित हो, जिसके शब्दों से मधुरता, और संगीतात्मकता की ध्वनि निकलती हो, और सरलता, कोमलता से पूर्ण हो, तथा जो नाद पूर्ण और प्रवाह पूर्ण हो। गीत में आरोह अवरोह, प्रसाद, मधुरता, स्पष्टता, और संगीतात्मकता का होना अधिक वांछनीय है। अँगरेजी का सुप्रसिद्ध समालोचक 'हर्नट रीड' 'गीति' की व्याख्या करता हुआ करता है—'गीति' का मूल अर्थ अब प्रायः लुप्त-सा हो गया है, और अब वह केवल भाषात्मक हो रह गया है। संसार उन कविताओं को गीत मानने लग गया है, जिसमें सूक्ष्म अनुभूति हो, अथवा सूक्ष्म अनुभूतियों की उन प्रति क्रियाओं को जो एकांत आनन्द से आलो-

कित होती है। गीति काव्य का कवि निश्चय ही विश्व की सजगता और चेतनता से अपने भीतर चेतना युक्त भाव पाता है। विश्व की रमणियों में, खिले हुए पुष्पों में, और वातावरण के रंगीन वैभवों में, ही उसके जागृत होते हैं। इन भावात्मक चेतनाओं के अनायास प्रवाह में गीति काव्य की धारा तीव्रता के साथ बह निकलती है। हिन्दी के सुप्रसिद्ध विद्वान और आलोचक डा० श्यामसुन्दरदासजी ने गीति काव्य पर अपना मत इस प्रकार प्रगट किया है—'गीति काव्य में कवि अपनी अन्तरात्मा में प्रवेश करता है, और बाह्य जगत को अपने अन्तः करण में ले जाकर उसे अपने भावों से रंजित करता है। आत्माभिव्यंजन सम्बन्धी कविता गीति-काव्य में ही छोटे-छोटे गेय पदों में मधुर भावना पन्न, आत्म-निवेदन से युक्त स्वाभाविक भी जान पड़ती है। उसमें शब्द की साधना के साथ-साथ स्वर की भी साधना होती है। भावना सुकोमल होती है, और एक एक पद में पूर्ण होकर समाप्त हो जाती है। कवि उसमें अपने अंतर्गत को स्पष्टतया दृष्टव्य कर देता है। वह अपने अनुभवों, और भावनाओं से प्रेरित होकर उनकी भावात्मक अभिव्यक्ति कर देता है।' हिन्दी की सुप्रसिद्ध कवियित्री, और गीति लेखिका श्रीमती महादेवी वर्मा गीति के स्वरूप की विवेचना करती हुई कहती हैं—'सुख दुख की भावावेशमयी अवस्था का विशेष गिने-चुने शब्दों में स्वर साधना के उपयुक्त चित्रण कर देना ही गीत है।.....गीत यदि दूसरे का इतिहास न कह कर वैयक्तिक दुख सुख को ध्वनित कर सके तो उसकी मार्मिकता विस्मय की वस्तु बन जाती है, उसमें सन्देह नहीं।'

गीति के स्वरूप पर विश्व के साहित्य मर्मज्ञों, और कलाकारों ने जो मत व्यक्त किए हैं, उनकी भाषा और शब्दावली में अंतर अवश्य है, किन्तु सूक्ष्म दृष्टि से उनके मतों की समीक्षा करने पर इस बात का पता चलता है, कि उनके विचारों में साम्य है। प्रायः सभी कलाकारों और आचार्यों ने गीति को भावमूलक बताया है। वस्तुतः गीति का स्रोतभाव है, जिस गीति में जितना ही अधिक भावों की विह्वलता होती है, वह गीति उतना ही अधिक प्राणमय और हृदय स्पर्शी होता है।

गीति काव्य के प्रति भारत और पश्चिम का दृष्टिकोण

गीति के स्वरूप पर ऊपर जिन विद्वानों के मत प्रगट किए हैं, उनमें कुछ ऐसे हैं, जो पश्चिमी हैं, और कुछ ऐसे हैं, जो पूर्वी हैं। यद्यपि दोनों ही वर्ग के विद्वानों के मतों में गीति के स्वरूप के सम्बन्ध में एक रूपता है, पर इस एक रूपता में गीति के स्वरूप संगठन को लेकर उनमें कुछ विभिन्नता भी दिखाई देती है। उनके मतों की विभिन्नता उस समय और भी अधिक स्पष्ट हो जाती है, जब हम भारतीय, और पश्चिमी गीति-काव्य का मन्थन करते हैं। भारतीय और पश्चिमी गीति काव्य के स्वरूपों में स्पष्टतः पार्थिक्य दिखाई देता है। भारतीय गीत काव्य अपने आप में ही पूर्ण है। भारतीय साहित्य में ऐसा नहीं है, कि काव्य पृथक हो, इसके विपरीत भारतीय साहित्य में स्वयं काव्य ही 'गेय' होने पर गीति काव्य की संज्ञा धारण कर

लेता है। जैसे तुलसी, सूर, और मीरा के पद इत्यादि। प्राचीन भारतीय साहित्य का मन्थन करने से पता चलता है, कि काव्य में गेय पदों ने ही गीति काव्य की संज्ञा ग्रहण कर ली है। पर पश्चिमी काव्य साहित्य में यह बात नहीं है। पश्चिमी काव्य साहित्य में काव्य और गीति को पृथक-पृथक सत्ता है। अँगरेजी में एक विशेष प्रकार की रचनाओं को ही गीति की संज्ञा दी जाती है। उस रचना को अँगरेजी में काव्य न कह कर 'लीरिक' कहते हैं। 'लीरिक' में एक विशेष अर्थ छिपा हुआ है। प्राचीन साधारण रूप में उस रचना या उन रचनाओं को लीरिक की संज्ञा दी जाती थी, जिसका 'लायर' पर भली भाँति गान किया जा सकता हो 'लायर' 'वीणा' के आकार प्रकार का एक बाजा होता है। किन्तु आधुनिक काल में पश्चिमी काव्य साहित्य में भी, 'लीरिक' के सबन्ध में 'लायर' पर गाये जाने का प्रतिबिम्ब दूर हो गया है। आधुनिक काल में भी 'लीरिक' के संबन्ध में केवल इतनी ही बात कही जाती है, वह मधुर हो, और लय युक्त हो। उसमें ऐसे भावों की प्रधानता हो, जिनका सम्बन्ध आत्मा और प्राणों से हो, जिनमें अंतर्जगत के ही भाव चित्रों की प्रसाधना की कमी की गई हो।

आधुनिक भारतीय गीति काव्य। पश्चिम के 'लीरिक' से बहुत कुछ प्रभावित है। वर्तमान काल में कुछ ऐसे तरुण कवि हैं, जो अँगरेजी के लीरिक के ढंग पर गीतों की रचना कर रहे हैं, पर ऐसा ज्ञात होता है, कि इन कलाकारों के गीति काव्य जगत में स्थापित्व न पा सकेंगे। इसका एक मात्र कारण यह है, कि उनके गीति भारतीय पद्धति के विरुद्ध है। भारतीय पद्धति के अनुसार गीति और काव्य दोनों ही के तत्व एक में संलिष्ट से रहते हैं। भारतीय पद्धति के अनुसार गीति काव्य में शब्दों की साधना के साथ ही साथ सगीत की भी साधना होती है, तुलसी, सूर, मीरा, और कबीर के पदों में संगीत की यह साधना का स्पष्ट रूप से देखी जा सकती है।

श्रेष्ठ और सुन्दर गीति का स्वरूप

गीति काव्य के सम्बंध में पश्चिम और भारत के जो दृष्टिकोण हैं, उन्हें ध्यान में रखते हुए इस बात पर विचार करना चाहिए, कि गीति काव्य सर्वश्रेष्ठ, और सुन्दर स्वरूप क्या हो सकता है? क्योंकि आधुनिक हिन्दी काव्य-जगत में जिन गीतों का प्रचलन हो रहा है, उन पर भारतीय और पश्चिम—दोनों ही गीति-कला का प्रभाव साफ-साफ दिखाई देता है। गीति काव्य के श्रेष्ठ और सुन्दर स्वरूप पर प्रकाश डालने के पूर्व हम सर्व प्रथम गीति के उन अगो पर विचार करेंगे, जिनसे गीति की रचना होती है। गीति या गीति काव्य के मुख्य रूप से दो अंग होते हैं—आंतरिक, और बाह्य। गीति काव्य के आंतरिक अंग को कई छोटे छोटे किन्तु महत्व पूर्ण अवयव मिलकर सुदृढ़ बनाते हैं। जैसे भाव, विचार, इच्छा, कल्पना, और उद्‌गार इत्यादि। दूसरे शब्दों में गीति काव्य का आंतरिक अंग भावनात्मक और अनुभूतिमय होता है। बाह्य अंग का संगठन भी कई अवयवों की सहायता से होता है। जैसे—भाव-भाषा के सामंजस्य की कला, छंद शैली, सरलता, मधुरता, कोमलता, संगीतात्मकता, संक्षिप्तता, और

स्पष्टता इत्यादि। गीति काव्य के श्रेष्ठ और सुन्दर स्वरूप का निश्चय, गीति काव्य के उक्त अंगों और उनके अवयवों को ही दृष्टि में रखकर किया जायगा। संक्षेप में हम उसी कीर्ति काव्य को श्रेष्ठ और सुन्दर गीति काव्य कह सकेंगे, जिसमें उसके दोनों ही अंग अपने अवयवों से परिपुष्ट होकर भली भाँति विकसित हुए हों।

गीति काव्य की उत्कृष्टता की पहली कसौटी भाव है। अतः गीति काव्य में भाव की प्रमुखता होनी चाहिए। भाव या भावना का उद्गम स्थल हृदय है। अतः यह कहा जा सकता है, कि गीति काव्य में हृदय के तत्वों की मुख्यता होनी चाहिए। हृदय के तत्त्वों में ही सरलता, सुकुमारता, विह्वलता, और तन्मयता इत्यादि का भी समावेश है। अतः गीति काव्य में जहाँ भावना की प्रधानता हो। वहाँ उसमें सरलता, सुकुमारता और तन्मयता, के भी गुण अधिक होने चाहिए। इसके विपरीत गीति काव्य में दार्शनिक तत्त्वों के विवेचन के लिए स्थान नहीं है। जिस गीति काव्य में दार्शनिक तत्वों का विवेचन किया जाता है, दूसरे शब्दों में जिसमें हृदय के तत्वों की अपेक्षा मस्तिष्क के तत्वों की प्रधानता होती है, उस गीति काव्य को न तो लोकप्रियता प्राप्त होती है, और न हम उसे किसी प्रकार श्रेष्ठ और सुन्दर ही कह सकते हैं।

श्रेष्ठ गीति काव्य की दूसरी कसौटी उसका प्रकरण है। गीति काव्य का प्रकरण अन्यान्य काव्यों के प्रकरणों से पृथक होता है। गीति काव्य के प्रकरण हृदय और प्राणों को स्पर्श करते हुए चलते हैं। उनमें मधुरता, सरलता, संक्षिप्तता, और प्रभावोत्पादकता होती है। मनोहर और संक्षिप्त प्रकरण गीता काव्य की श्रेष्ठता को बढ़ा देते हैं। सुन्दर और श्रेष्ठ गीति काव्य में रूप और ध्वनि के सौन्दर्य का होना अधिक वांछनीय है। रूप ध्वनि और भाव आपस में इस प्रकार मिले जुले हों, कि उनमें पृथकता का बोध न हो। भाव के अनुरूप ही भाषा भी सरल और मृदुल होनी चाहिए।

श्रेष्ठ गीति काव्य की तीसरी कसौटी उसकी भाषा और कल्पना है। श्रेष्ठ गीति काव्य में भाषा भाव के अनुरूप होती है। भाषा अधिक से अधिक सरल और सुकोमल होती है। भाषा में शब्दों का स्थापन और संगठन कोमलता के ही आधार पर किया जाता है। शब्दों में व्यंजकता और नादमयता होती है। भाषा की ही भाँति कल्पना भी कोमल और रसमय होती है। नवीन और युक्त कल्पनाएँ गीति काव्य के महत्व को अधिक बढ़ा देती हैं।

श्रेष्ठ गीति काव्य में भाषा के निर्माण पर अधिक ध्यान दिया जाता है। श्रेष्ठ गीति काव्य में भाषा की सुन्दरता से ही उसका सौष्ठव उत्पन्न होता है। भाषा सुकुमार और लचीली होती है। उसमें प्रवाह संगीतमयता विशेष रूप से पाई जाती है। शब्दों का चयन बड़ी सतर्कता के साथ किया जाता है। अधिकतर सरस सुकोमल और व्यंजक शब्दों को ही श्रेष्ठ गीति काव्य की भाषा में स्थान दिया जाता है। द्वित्व

और संयुक्ताक्षरों का प्रयोग श्रेष्ठ गीति काव्य की भाषा में नहीं किया जाता। कठोर अक्षरों का पूर्ण रूप से बहिष्कार किया जाता है। अधिकतर दीर्घ मात्रा वाले वर्णों का ही प्रयोग सुन्दर गीति काव्य की भाषा में किया जाता है. इससे भाषा प्रवाह मय हो जाती है, और इसके भीतर संगीत के तत्त्व जागृत होते हैं। भाषा के संगठन में स्वरों के आरोह-अवरोह पर भी पूर्ण रूप से ध्यान दिया है। श्रेष्ठ गीति काव्य की भाषा का संगठन ऐसे वर्णों से किया जाता है, जिससे स्वरों के आरोह अवरोह में उचित सामंजस्य स्थापित हो सके।

श्रेष्ठ गीति काव्य की चतुर्थ कसौटी उसकी रसमयता है। रसमयता से तात्पर्य उस आनन्द से है। जो काव्य के रसों से उत्पन्न होता है। काव्य में नौ रसों की कल्पना की गई है—शांत, शृंगार, वात्सल्य, वीर, हास्य, करुण, रौद्र, वीभत्स, और भयानक। श्रेष्ठ गीति काव्य के लिए शांत, शृंगार, और वात्सल्य सर्वोत्तम रस हैं। करुण रस में भी गीति काव्य की सुन्दरता के साथ अभिव्यञ्जना होती है। शृंगार रस गीति काव्य के लिए अच्छा रस है। शृंगार रस के संयोग और वियोग के चित्रों में हृदय के तत्वों की प्रधानता होती है। रौद्र, वीभत्स, और भयानक इत्यादि रस अपनी भयानकता और कर्कशता के कारण गीति काव्य के लिए उपयुक्त नहीं होते। इन रसों में गीति काव्य की उद्भावना करने पर गीति-काव्य का वह सौंदर्य नष्ट हो जाता है, जिसके कारण वह अधिक विशिष्ट और प्रभाव पूर्ण है।

श्रेष्ठ गीति काव्य की पाँचवीं कसौटी उसकी संगीतात्मकता है। गीति में संगीत शब्दों के द्वारा उत्पन्न होता है। शब्दों में एक विशेष प्रकार की शक्ति अंतर्निहित रहती है। शब्दों के श्रेष्ठ तत्त्व और शक्ति सम्पन्नता से ही गीति काव्य में श्रेष्ठता उत्पन्न होती है। अतः श्रेष्ठ गीत काव्य में मुख्य रूप से ऐसे शब्दों को ही स्थान दिया जाता है। जो शक्ति सम्पन्न नाद युक्त होते हैं। संगीतात्मकता के लिए शब्दों के क्रम और उनकी व्यवस्था पर पूर्ण रूप से ध्यान दिया जाता है। भावों की गति की रक्षा के लिए शब्दों में प्रवाह का होना अत्यन्त आवश्यक है। अतः शब्दों की स्थापना इस प्रकार की जाती है, जिससे कि भावों के प्रवाह की अभंगता बराबर बनी रहे।

श्रेष्ठ गीति काव्य की छठीं कसौटी उसकी संक्षिप्तता है। यद्यपि इसके लिए कोई विशेष नियम नहीं है, पर अच्छे गीतों में दस बारह से अधिक चरण नहीं होते। चरण का विस्तार और उनकी न्यूनता भावना के ऊपर निर्भर करती है। जितनी बड़ी छोटी भावना होती है, उसी के अनुसार पद भी अधिक और कम होते हैं। ऐसे भी गीत मिलते हैं, जिनमें चालिस चालिस और पचास-पचास तक चरण पाए जाते हैं और ऐसे भी गीत मिलते हैं, जिनमें दस-दस या बारह-बारह चरण हैं। जहाँ तक हो सके, गीत छोटे ही होने चाहिए। अधिक से अधिक बारह या सोलह चरण के गीत होने चाहिए। तुलसी, और सूर, के अधिकांश गीत बारह या सोलह ही चरण में हैं। मीरा के गीतों में इससे भी कम चरण हैं।

संक्षेप में श्रेष्ठ और सुन्दर गीति काव्य में निम्नांकित गुण और विशेषताएँ होनी चाहिए—ऐसे भावों की अभिव्यक्ति, जो संगीतमय हों, ऐसे भावों और दृश्यों का चित्रण, जिनका सम्बन्ध अन्तर्जगत से हो, प्रकरण अथवा भावना की सुकुमारत; सरलता, और व्यंजकता, भाषा का माधुर्य, और सरलता, शब्दों का मधुर एवं मार्मिक चयन, भाषा और भावना का सामंजस्य और उचित प्रभाव तथा संक्षिप्तता। इन गुणों और विशेषताओं के आधार पर रचे गए गीति काव्य ही श्रेष्ठ और सुन्दर गीति काव्य होते हैं। हिन्दी के प्राचीन गीति काव्य लेखकों तुलसी, सूर, और मीरा का महत्व पूर्ण स्थान है। आधुनिक हिन्दी काव्य के गीतिकारों में प्रसाद, श्रीमती महादेवी वर्मा, पन्त, निराला, और डा० रामकुमार वर्मा ने विशेष कीर्ति अर्जित की है।

गीति काव्य और छन्द

गीत तीन रूपों में विभक्त किए जा सकते हैं—लोक गीत, साहित्यिक गीत, और गायक गीत। लोक गीत उन गीतों को कहते हैं, जो जन समाज में प्रचलित हैं, और

गीति के प्रकार

पर्वों, त्योहारों तथा विशेष अवसरों पर गाये जाते हैं। गायक गीत भी लोक गीतों से ही मिलते-जुलते हैं। लोक गीत, और गायक गीत प्राचीन काल से जन समाज प्रचलित हैं। लोक गीतों, और गायक गीतों का अधिक महत्व भी होता है। लोक गीतों और गायक गीतों से संस्कृति पर प्रकाश पड़ता है, और जन समाज की विचार चेतना का भी उनसे पता चलता है। साहित्यिक गीत वे हैं, जो कवियों और कलाकारों के द्वारा रचे जाते हैं। साहित्यिक गीतों की भाव, भाषा, और शैली लोक गीतों की भाव, भाषा और शैली से विभिन्न होती है। लोक गीतों में जनता का हृदय बोलता है। उनकी भाषा और शैली भी अधिक साधारण, और स्वाभाविक होती है। साहित्यिक गीतों की भाषा और शैली अधिक परिमार्जित होती है; दूसरे शब्दों में हम यह भी कह सकते हैं, कि साहित्यिक गीतों की भाषा और शैली चमत्कार की ओर उन्मुख होने के कारण कृत्रिम और अस्वाभाविक होती है। भावों की स्वाभाविकता और विह्वलता भी साहित्यिक गीतों की अपेक्षा लोक गीतों में अधिक होती है।

साहित्यिक गीतों को ही गीति काव्य कहते हैं। साहित्यिक गीतों के विकास और निर्माण पर देश और काल का अखंड रूप से प्रभाव पड़ता है। जिस प्रकार का

गीति की विभिन्न शैलियाँ

देश और काल होता है, उसी प्रकार के साहित्यिक गीत भी बनते हैं। आज हमारे सामने गीति काव्य की जो सम्पदा विद्यमान है, देश और काल के आधार पर जब हम उसका वर्गीकरण करते हैं, तब उसमें भिन्न भिन्न प्रकार की प्रणालियाँ, और शैलियाँ पाते हैं। उन सम्पूर्ण प्रणालियों और शैलियों को हम संक्षेप में नौ वर्गों में बाँटते—भक्ति मूलक, स्वदेश प्रेम मूलक, प्रेम मूलक, विरह मूलक, प्रकृति मूलक, स्तवन गीत, शोक गीत, गद्य गीत और चतुर्दश पदी। भक्ति मूलक शैली का विकास तुलसी, सूर, और मीरा के गीतों में हुआ है। भक्ति काल में और भी कई ऐसे कवि हुए हैं, जिन्होंने भक्ति सम्बन्धी गीत लिखे हैं। प्रसादजी की कुछ रचनाओं में स्वदेश प्रेम मूलक शैली का आविर्भाव हुआ है। विरह मूलक शैली के सर्वश्रेष्ठ चित्र श्रीमती महादेवी वर्मा के गीतों में मिलते हैं। 'पन्त' ने प्रेम मूलक, और स्वदेश प्रेम मूलक गीत लिखने में

सुकीर्ति प्राप्त की है। 'प्रसाद' ने प्रकृति मूलक गीति-चित्र भी उपस्थित किए हैं। श्री सियाराम शरण ने स्तवन और शोक गीत लिखे हैं। श्री हरवंशराय बच्चन ने मधुगीतों की रचना की है।

साहित्यिक गीतों को ही दूसरे शब्दों में गीति काव्य कहते हैं। गीति काव्य चाहे जिस किसी भी अपनी शैली में हो, उसमें संगीत के तत्वों का होना परमावश्यक है।

गीति और छन्द गीति-काव्य संगीत के तत्वों से ही गीति-काव्य के पद पर प्रतिष्ठित होता है। गीति काव्य और संगीत का पारस्परिक घनिष्ठ सम्बन्ध है। गीति काव्य और संगीत के पारस्परिक सम्बन्ध पर विचार करने के पूर्व हम गीति और छन्द के सम्बन्ध पर विचार करेंगे। क्योंकि गीत में संगीत के तत्त्व और लय छन्दों के द्वारा ही उत्पन्न होते हैं। छन्द काव्य जगत में उसे कहते हैं, जो पद्य को एक नियमित स्वरूप प्रदान करता है। छन्द एक सूत्र है, जो शब्दों को पद्य या कविता की माला में पिरोता है। 'छन्द' से ही 'कविता' को 'कविता' का रूप प्राप्त होता है। छन्द तीन प्रकार के होते हैं—मात्रिक, वर्णिक, और मुक्तक। मात्रिक छन्द उन्हें कहते हैं, जिनकी रचना मात्राओं को आधार मान कर की जाती है। जिन छन्दों की रचना वर्णों के आधार पर की जाती है, उन्हें वर्णिक छन्द कहते हैं। मुक्तक का निर्माण अक्षय-लय या गति के आधार पर किया जाता है।

काव्य-जगत में छन्दों का अधिक महत्व है। काव्य में संगीत और लय तभी उत्पन्न होती है, जब उसके पदों, शब्दों, और वर्णों में नियमितता होती है। काव्य में नियमितता उत्पन्न करने का कार्य छन्दों के ही द्वारा होता है। गीति काव्य में काव्य के सभी आवश्यक तत्व समाविष्ट रहते हैं। अतः जिस प्रकार छन्द काव्य के लिए आवश्यक है, उसी प्रकार गीति काव्य से भी छन्दों का अधिक निकट का सम्बन्ध है। गीति काव्य में संगीत के तत्व छंदों के ही द्वारा उत्पन्न होते हैं। गीति काव्य अपने जिस लय ताल, और स्वर से प्रभाव पूर्ण बन कर लोगों को विमुग्ध करता है, उसे संगठित करके शक्ति सम्पन्न बनाने का काम छन्द ही करता है। ऊपर यह कहा जा चुका है, कि छन्द के तीन प्रकार होते हैं। किन्तु क्या यह तीनों ही प्रकार के छन्द गीति काव्य के लिए उपयुक्त होते हैं! गीति काव्य के लिए कौन-सा छन्द अधिक उपयुक्त हो सकता है—इसका निर्णय करने के लिए हमें गीति के स्वरूप पर विचार करना होगा। 'गीति' में स्वरों के आरोह अवरोह की प्रधानता होती है। स्वरों के आरोह अवरोह से ही गीत में लय और संगीत के तत्व उत्पन्न किए जाते हैं। स्वरों के आरोह अवरोह की क्रिया मात्राओं के ही द्वारा पूर्ण की जाती है। छन्दों के तीनों प्रकारों में मात्रिक छन्द ही एक ऐसा छंद है, जिसकी रचना मात्राओं के आधार पर की जाती है। अतः यह कहा जा सकता है, कि मात्रिक छन्द ही एक ऐसा छन्द है, जो गीति की प्रकृति के अधिक अनुकूल होता है। मात्रिक छन्द 'गीति' की प्रकृति के अनुकूल होने के कारण उसकी संगीतात्मकता की वृद्धि करते हैं। गीति में लय और स्वरों का आरोह अवरोह मात्रिक छंदों के द्वारा बड़ी सुन्दरता के साथ सम्पन्न

होता है। मात्रिक छन्दों से लय बँध जाती है, जिससे गीत में अधिक माधुर्य उत्पन्न होता है। इसके विपरीत वर्णिक और मुक्तक का गीत में प्रयोग करने से गीत में संगीत के तत्वों का अभाव हो जाता है। वर्णिक छन्द गीत की सुकुमारता को नष्ट करके उसे विकृत बना देते हैं। इसी बात को 'पन्त' जी के निम्नांकित शब्दों में देखिए—हिन्दी का संगीत ही ऐसा है, कि उसके सुकुमार पद-क्षेप के लिए वर्ण वृत्त पुराने फैशन के चाँदी के कड़ों की भाँति बड़े भारी हो जाते हैं, उसकी गति शिथिल तथा विकृत हो जाती है, उसके पदों में वह स्वाभाविक नूपुर ध्वनि नहीं रहती।'

हिन्दी गीति काव्य के इतिहास पर जब हम दृष्टि डालते हैं, तब हमें उसमें ऐसे भी गीत मिलते हैं, जिनकी रचना में छन्दों को महत्व नहीं दिया गया है। इस प्रकार

हिन्दी गीत और पद

के गीत हिन्दी गीति काव्य भंडार में, सैकड़ों नहीं, हजारों की संख्या में मिलते हैं। भक्ति काल में इसी कोटि के गीत रचे गए हैं। इन गीतों को पद कहते हैं। इनकी रचना में छन्दों के स्थान पर विभिन्न राग-रागिनियों को महत्व दिया गया है। तुलसी, सूर, और मीरा के पद विभिन्न राग-रागिनियों में ही हैं। इन पदों की रचना भी एक विशिष्ट भाव की प्रेरणा से हुई है। वह विशिष्ट भाव है, उनका ईश्वर के प्रति अनन्य प्रेम, और आनन्द पूर्ण भक्ति। पदों में अधिकांश पद प्रेम और भक्ति को ही आधार मान कर रचे गए हैं। यद्यपि इन पदों की रचना हिन्दी के कैशोर काल में ही हुई है, पर इनमें आत्मा की उज्वलता का अधिक प्रकाश पाया जाता है। हृदय अपने अधिकांश तत्वों को लेकर इन पदों में ढल सका है। भावों की अभिव्यक्ति इन पदों में बड़ी गम्भीरता, बड़ी विह्वलता, और बड़ी अनन्यता के साथ हुई है। यही कारण है, कि हिन्दी के गीति-काव्य में इन पदों का अत्यधिक महत्व पूर्ण स्थान है। ये पद अपने स्वरूप, अपने विषय, और अपने भावों के संगठन में इतने पूर्ण हैं, कि अपने जातीय-पदों को छोड़ कर अन्य किसी भी प्रकार के गीत को अपने समकक्ष जमने ही नहीं देते। यही कारण है, कि हिन्दी के गीत-काव्य में इन पदों की एक विशिष्ट परंपरा बन गई है। अधिक-तर आध्यात्मिक भावों को ले करके ही इन पदों की रचना हुई है। भक्ति और प्रेम के तत्वों को छोड़ कर, और किसी प्रकार के विषय गीति के रूप में पदों के साँचे में नहीं ढलते।

हिन्दी गीत के नये छन्द

किन्तु वर्तमान हिन्दी गीति काव्य में पदों की परम्परा अब उठ भी गई है। इसका एक मात्र कारण यही हो सकता है, कि वर्तमान काल में हिन्दी काव्य के विषय आध्यात्मिक न होकर लौकिक हैं। किसी किसी की रचना में आध्यात्मिकता का पुट पाया जाता है। पर उस पुट में भी लौकिकता का रंग दिखाई देता है। अतः आज कल गीतों के लिए नवीन व्यवस्था स्थापित की गई है। आज कल जिन गीतों की रचना हो रही है, उनमें मात्राओं की ही प्रधानता होती है। इसका यह तात्पर्य नहीं है, कि आज कल गीतों

की रचना मात्रिक छन्दों में होती है। आज कल गीतों के लिए जो व्यवस्था काम में लाई जाती है, उसके अनुसार प्रथम पंक्ति में एक छोटी सी टेक होती है। टेक मात्राओं के आधार पर बनती है। टेक के पश्चात् गीति की पंक्तियाँ होती हैं, जिनमें सममात्राएँ होती हैं। टेक के पश्चात् की पंक्तियाँ कभी कभी टेक के सममात्रा वाली होती हैं, और कभी कभी उनमें उससे अधिक मात्राएँ होती हैं। अधिक से अधिक १२, १४, या १६ मात्राएँ होती हैं। पंक्तियों के सभी पद तुकांत होते हैं। पंक्तियों की कोई संख्या निश्चित नहीं है। इस प्रकार वर्तमान हिन्दी-गीति काव्य में गीति के लिए नए नए छन्द और नई नई शैलियाँ बना ली गई हैं। यद्यपि ये सभी छन्द पिंगल शास्त्र के नियमों के अनुसार नहीं हैं, पर इसमें सन्देह नहीं, कि गीति के भीतर उनसे संगीत के तत्व जाग्रत होते हैं।

गीति काव्य और संगीत

गीति काव्य और संगीत का परस्पर अधिक घनिष्ठ सम्बन्ध है, वरन् कहना यह चाहिए, कि संगीत गीति काव्य का प्राण है। गीति काव्य में जो माधुर्य, जो मनो-

संगीत का महत्व

हरता, और प्रभाव पूर्णता होती है, उसका एक मात्र कारण संगीत ही है। संगीत ही वह शक्ति है, जिसके कारण गीति-काव्य समादृत है। गीति काव्य की सम्पूर्ण सत्ता संगीत ही के द्वारा है। यदि गीति काव्य के भीतर से संगीत के तत्त्व निकाल दिए जायँ, तो इसमें सन्देह नहीं, कि उसके अस्तित्व का लोप हो जायगा। तुलसी, सूर, और मीरा के गीत आज भी अमर हैं। आज भी तुलसी की 'विनय पत्रिका' के गीत लोगों के श्रवणों में अमृत के बिंदुओं की वर्षा करते हैं, और आज भी सूर और मीरा के प्रेम तथा विरह के भावों में ढले हुए सुन्दर गीत लोगों के हृदयों को अमृत-रस में डुबोते हैं। यदि तुलसी, सूर और मीरा के गीतों में संगीत के तत्व न होते तो क्या आज उनके द्वारा अमृत-बिन्दुओं की वर्षा हो सकती? संगीत के तत्वों ने ही आज भी तुलसी, सूर और मीरा के गीतों को अमर बना दिया है। संगीत के तत्वों के ही कारण आज भी यह ज्ञात होता है, मानों तुलसी, सूर और मीरा के गीत अभी हाल ही में उनके कंठ से निकले हैं। संगीत प्राचीन को भी नवीन कर देता है, और जिसे हम भूल गए हैं, उसे सामने उपस्थित कर देता है। संगीत में महान् शक्ति होती है। संगीत अपनी अनुपम शक्ति से स्वर्ग भी पृथ्वी पर उतार देता है, और उस ब्रह्मानन्द को भी सुलभ कर देता है, जिसके आनन्द का उपभोग योगी जन केवल ध्यान में किया करते हैं। संगीत की यह अनुपम शक्ति स्वाभाविक रूप में गीति काव्य में सन्निहित होती है। संगीत की मोहक शक्ति से ही गीति काव्य भी अधिक मोहक और प्रभाव पूर्ण होता है।

काव्य और संगीत का अभिन्न सम्बन्ध है। दोनों का एक दूसरे की सापेक्षता में ही अधिक विकास होता है। दोनों एक दूसरे के साद्धर्म्य में ही अधिक प्रभावकर

संगीत का सौन्दर्य

बनते हैं। दोनों ही का उद्गम स्रोत भी एक ही स्थान है। काव्य भाव प्रधान है। भाव प्रधान होने के कारण काव्य का स्रोत हृदय से फूटता है। काव्य में हृदय के तत्वों की ही प्रधानता होती है दूसरे शब्दों में हम यह भी कह सकते हैं, कि काव्य हृदय का प्रतिबिम्ब होता है। छन्द युक्त होने के

कारण काव्य में संगीत प्रकृत रूप से समाविष्ट होता है। काव्य छन्द अर्थात् संगीत की लय के कारण काव्य कहलाता है। काव्य जहाँ भावमय होता है, वहाँ संगीत में स्वर की प्रधानता होती है। संगीत में स्वर अकेला नहीं होता है। वह अपने साथ भाव को भी लिए रहता है। इसी बात को हम इस रूप में भी कह सकते हैं, कि संगीत में स्वर और भाव दोनों ही समाविष्ट रहते हैं। संगीत में काव्य की अपेक्षा हृदय के तत्व अधिक परिमाण में रहते हैं। यद्यपि काव्य में भी संगीत के तत्व रहते हैं, और पर उतने नहीं होते, जितने संगीत में होते हैं। संगीत में भाव, और गीति-दोनों के ही तत्व अधिक परिमाण में होते हैं। यही कारण है, कि संगीत का प्रभाव काव्य की अपेक्षा अधिक पड़ता है। गीति काव्य के अधिक विमुग्धकर होने का भी यही कारण है। 'गीति काव्य' संगीत और काव्य-दोनों के ही तत्वों से मिल कर बनता है। गीति काव्य में जहाँ एक ओर भावों का सावन झरता है, वहाँ दूसरी ओर उसमें मोहक स्वरों का समीर भी चलता है। भावों के श्रावण की झड़ी से जब मोहक स्वरों के समीर का संयोग होता है, तो एक अकल्पित आनन्द उत्पन्न होता है। ऐसा आनन्द उत्पन्न होता है, जिसे हम स्वर्गीय, और अलौकिक आनन्द कह सकते हैं।

मानव शरीर के कुछ ऐसे रहस्यमय स्थान हैं, जिन्हें हम अखंड शक्तियों का स्रोत कह सकते हैं। इन स्थानों को यदि हम प्राण स्थल, आत्म स्थल और हृदय स्थल कहें तो कोई अत्युक्ति न होगी। मनुष्य अपने इन स्थलों की शक्ति को जागृत करके विश्व में महान् से महान् कार्य कर सकता है। कहना न होगा, कि गीति काव्य में सन्निहित भाव, और स्वरों का शक्तियाँ इन्हीं स्थानों से निकलती हैं। गीति काव्य प्राण, हृदय, और आत्मा के रस से अभिषिक्त रहता है। यही कारण है, कि गीति का एक पद जब उचित रूप में मनुष्य के कंठ से निकलता है, तो चैतन्य को कौन कहे, जड़ भी झूम उठते हैं। गीति के पदों में सम्पूर्ण ब्राह्मांड को भी, नचा देने की शक्ति होती है। गीति के पद शुष्क वृक्षों में नए पत्ते खिला सकते हैं, गीति के पद मरुथल में सलिल की धार बहा सकते हैं, और गीति के पद पत्थरों को भी द्रवित कर सकते हैं। बुझे हुए दीपकों को दीप्तिमय कर देना, मृतकों के शरीर में जीवन सञ्चरित कर देना, और प्रसुप्तों को जागृत इत्यादि कर देने की अलौकिक शक्ति गीति पदों में विद्यमान रहती है।

भाव और स्वर के संयोग के कारण गीति पदों में एक अनुपम सौंदर्य का स्रोत बहता रहता है। भाव स्वभावतः सुकोमल और सुन्दर होते हैं, उधर स्वरों की साधना भी अपने आप में अधिक सुकोमल और सुन्दर होती है। दोनों की अमूर्त सुकोमलता, और सौन्दर्य का संयोग जब गीति काव्य में होता है, तो एक अकल्पित सौन्दर्य की सृष्टि होती है। ऐसे सौन्दर्य की सृष्टि होती है, जिस पर साधारण मनुष्यों की तो बात ही नहीं, सर्व सत्ताधारी परमात्मा भी रीझ जाते हैं। मीरा ने भाव और स्वर की साधना से उत्पन्न सौन्दर्य से ही श्रीकृष्ण को रिझा लिया था। विश्व-वंद्य

सूरदासजी ने इसी सौन्दर्य की शक्ति से गोपाल को अपने वश में कर लिया था, और गोस्वामी तुलसीदासजी ने इसी को अपनी दीन भक्ति का सम्बल बना कर मर्यादा पुरुषोत्तम श्री रामचन्द्रजी की कृपा प्राप्त की थी। भाव और स्वर साधना के संयोग से उत्पन्न यह सौन्दर्य अक्षय, शाश्वत, और चिरंतन होता है।

गीति काव्य में यह सौन्दर्य संगीत के ही द्वारा उत्पन्न होता है। यद्यपि गीति-काव्य में भाव का सौंदर्य भी अधिक परिमाण में होता है, पर भाव सौंदर्य को आलो-

संगीत की उत्पत्ति

कित और जाग्रत करने का काम संगीत के तत्वों के ही द्वारा होता है। संगीत के तत्त्व ही भाव-सौंदर्य की अभिवृद्धि करते हैं, और उसके भीतर मोहकता उत्पन्न करते हैं। अतः यहाँ यह भी जान लेना अधिक आवश्यक है, कि संगीत है क्या वस्तु! संगीत यों तो एक कला है, जिसका विकास मनुष्य के द्वारा हुआ है। पर यह कला मनुष्य को किस प्रकार मिली है—इस सम्बन्ध में हमारे देश का एक आध्यात्मिक दृष्टिकोण है। यह ब्रह्मांड जिसमें हमारा विश्व स्थित है, नादमय है। ब्रह्मांड में निरन्तक 'नाद' का गुंजार होता रहता है। नाद की उत्पत्ति का कारण भगवान आशुतोष का डमरू है। भगवान आशुतोष के डमरू से निकला हुआ नाद ब्रह्मांड में निरन्तर गुंजित होता रहता है। नाद और शब्द एक ही वस्तु है। इसी 'नाद' और 'शब्द' से ध्वनि की उत्पत्ति हुई है, जिससे संगीत के सात स्वर उत्पन्न हुए हैं। इन सातों स्वरों के नाम इस प्रकार हैं—षडज, ऋषभ, गांधार, मध्यम, पञ्चम, धैवत, निषाद। इन स्वरों-उच्चारण स्थान पर माला के भिन्न-भिन्न अंग माने गए हैं। उन अंगों के नाम इस प्रकार हैं—शीर्ष, नेत्र, मुख, कंठ और नाभि। इन्हीं स्वरों से उन रागों की उत्पत्ति हुई है, जिन्हें हम मूल राग कहते हैं। मूल रागों के नाम इस प्रकार हैं—हिंडोल, दीपक, भैरव, माल कोष, श्री राग, और मेघ इत्यादि। रागों की उत्पत्ति में स्वरों के आरोह-अवरोह की प्रधानता होती है। स्वरों के आरोह-अवरोह को मूर्च्छना कहते हैं। इस प्रकार 'नाद' से श्रुति, श्रुति से स्वर, और स्वर से मूर्च्छना की उत्पत्ति होती है। मूर्च्छना ही विभिन्न राग-रागिनियों की उत्पत्ति का कारण है।

इस प्रकार संगीत की उत्पत्ति में एक आध्यात्मिक तथ्य निहित है। हमारे देश में संगीत कला के जन्म की कल्पना अनंतता, नूतनता, और अछोरता के आधार पर की गई है। यही कारण है, कि हमारे देश में संगीत को ब्रह्मानन्द का सहोदर माना गया है, और यही कारण है, कि हमारे देश में संगीत कला का अधिक विकास भी हुआ है। विभिन्न राग-रागिनियों के रूप में हमारे देश में संगीत कला ने परमो उन्नति की है। हमारे देश की संगीत कला के इतिहास में ऐसे संगीतज्ञ कलाकारों का नाम आता है, जिन्होंने अपनी संगीत की शक्ति से सचमुच सूखे हुए वृक्षों में हरे-हरे पत्ते लगा दिए थे, और जिन्होंने सचमुच पाषाणों के वज्र-स्तरों को तोड़ कर उनके भीतर से पानी की धार बहा दी थी।

हमारे देश में आदि काल से ही संगीत कला की उन्नति होती चली आ रही

है। यों तो हमारे देश में संगीत की उत्पत्ति का कारण भगवान आशुतोष का डमरू माना जाता है, जो अनन्त और अनादि है; पर मानवी सृष्टि में, संगीत का जो आदि ग्रन्थ मिलता है, वह सामवेद है। हमारे देश की संस्कृति का जीवन-स्रोत वैदिक काल से ही आरंभ होता है। वैदिक काल से जहाँ हमारे देश की सभ्यता के विभिन्न स्रोत फूटे हैं, वहाँ संगीत की निर्झरिणी भी सामवेद से प्रवाहित होकर जीवन के क्षेत्र में प्रवाहित हुई है। वैदिक काल में केवल तीन ही स्वर थे—उदात्त, अनुदात्त, और स्वरित। उन दिनों संगीत आज की भाँति सस्ता नहीं था। जिस प्रकार आज संगीत का प्रयोग मनोरंजन के लिए किया जाता है, उस प्रकार उन दिनों संगीत मनोरंजन का साधन न था। वैदिक काल में संगीत मुक्ति का साधन माना जाता था, और पवित्र अवसरों पर ही उसका उपयोग किया जाता था। पौराणिक काल में संगीत में नृत्य का समावेश किया गया। पौराणिक काल की कथा कहानियों में इन्द्र की अप्सराओं के नृत्य गान, और गंधर्वों की संगीत कला का उल्लेख बार बार मिलता है। पौराणिक काल की कथा कहानियों में इन्द्र की अप्सराओं के नृत्य गान की जिस मोहकता, और गंधर्वों की संगीत कला की जिस मधुरता का वर्णन मिलता है, उससे पता चलता है, कि पौराणिक काल में हमारे देश में संगीत कला की अधिक उन्नति हुई थी। रामायण और महाभारत काल में भी संगीत कला का विकास अपनी प्रगति पर था। रामायण काल में सर्व प्रथम आदि कवि वाल्मिकि ने भाव और छन्द का संयोग स्थापित किया। इसी बात को हम इस रूप में कह सकते हैं, कि रामायण काल में सर्व प्रथम वाल्मिकि मुनि ने गीति और काव्य का योग स्थापित किया। महाभारत काल में संगीत और काव्य के पारस्परिक संबंध का और भी अधिक विस्तार हुआ। महाभारत के ग्रन्थों से पता चलता है, कि उन दिनों संगीत कला अपनी उन्नति की पराकाष्ठा पर थी। महाभारत काल और उसके पश्चात् की संगीत कला की उन्नति भरतमुनि के ग्रन्थ में केन्द्रित हो उठी है। भरतमुनि ने नाट्य शास्त्र का जो ग्रन्थ लिखा है, उसमें उन्होंने नाटक के तत्वों का विवेचन करने के साथ ही साथ संगीत के अंगों पर भी प्रकाश डाला है। बौद्ध और हिन्दू काल में भी संगीत कला का विकास अपनी तीव्र गति पर था। बौद्ध ग्रन्थों में अनेक संगीत कला विशारदों के नाम मिलते हैं। हैं। हिन्दू काल में महाकवि कालिदास के काव्यों में संगीत कला मुखरित हो उठी है। महाराज विक्रमादित्य स्वयं संगीत कला के मर्मज्ञ थे।

संगीत का विकास और उसकी उन्नति

मध्य काल में भी संगीत का प्रवाह अखंड रूप से बहता रहा है। मध्य काल में जब देश में यवनों का आगमन हुआ है, तब संगीत का प्रवाह दो रूपों में विभक्त हो गया। संगीत के प्रवाह का एक रूप तो वह था, जिसमें फारसी संगीत कला समाविष्ट थी, और दूसरा रूप वह था, जिसे हम भारतीय संगीत कला का शुद्ध प्रवाह कह सकते हैं। मध्य काल में प्रथम रूप का विकास जिन संगीतज्ञों के द्वारा हुआ है, उनमें मुसलिम संगीतज्ञों का मुख्य स्थान है। द्वितीय रूप को प्रोत्साहन प्रदान करने वाले

संगीतज्ञों में जयदेव, विद्यापति, चैतन्य देव, तानसेन, स्वामी हरिदास, बैजूबावरा, और गोपालराय इत्यादि का महत्व पूर्ण स्थान है।

आधुनिक काल में भी संगीत कला का स्वाभाविक गति के साथ विकास हो रहा है। रेडियो, और सिनेमा के प्रचार ने आधुनिल काल में, संगीत कला की उन्नति में पङ्ख लगा दिए हैं। आधुनिक काल में संगीत कला के अनेक कलाकार हैं, जिनसे प्रोत्साहन पाकर संगीत कला दिनों दिन विकास और उन्नति की ओर अग्रसर होती जा रही है। आधुनिक काल में संगीत कला की उन्नति और उसके विकास के लिए कई शिक्षण संस्थाएँ भी स्थापित हुई हैं। इन शिक्षण संस्थाओं में बम्बई के 'गंधर्व विद्यालय' का महत्व पूर्ण स्थान है।

—:o:—

हिन्दी गीति काव्य का विकास क्रम

हिन्दी गीति काव्य के विकास क्रम को समझने के पूर्व हमें गीति-काव्य की उस लड़ी पर ध्यान देना चाहिए, जो प्राचीन काल से हमारे देश के साहित्य में चली आ रही है। हिन्दी का गीति-काव्य उसी लड़ी की जंजीर है। हमारे देश के सांस्कृतिक जीवन का प्रारंभ वैदिक काल से माना जाता है। अतः गीति काव्य का स्रोत भी वैदिक काल से ही प्रारम्भ हुआ है। वेदों में ऋगवेद सबसे अधिक प्राचीन है। ऋगवेद में अनेक ऐसी ऋचाएं हैं, जो गीतिमय हैं। ऋगवेद की ऋचाओं में जो गीतिमय हैं, प्राणों के विह्वलकारी भाव हैं। उनमें जीवन की ज्योति है, प्राणों का राग है। उनके शब्द-शब्द में जीवन का तत्व उछलता है। ये गीतिमय ऋचाएँ जब कंठ से निकलती हैं, तो वायु मंडल में जीवन छा जाता है, और चारों ओर की निस्तब्धता गुंजार से भर जाती है। सामवेद को तो सगीत का आदि स्रोत ही मानते हैं। सामवेद में जो ऋचाएँ हैं, वे शुद्ध संगीतमय हैं; दूसरे शब्दों में यह भी कहा जा सकता है, कि सामवेद में जो काव्य है, गीतिमय है। काव्य में संगीत इस प्रकार घुला मिला है, कि दोनों को एक दूसरे से पृथक नहीं किया जा सकता। सामवेद की प्रणाली पर ही वैदिक काल में ऐसे कई अन्य काव्यों की भी रचना हुई है, जो गेय हैं। वैदिक काल में काव्य और संगीत का अभिन्न सम्बन्ध था।

गीति-काव्य वैदिक काल में

वैदिक काल में संगीति का उद्देश्य अधिक उच्च और महत्व पूर्ण था। वैदिक काल में संगीत मनोरंजन का साधन न होकर मोक्ष प्राप्ति का साधन माना जाता था। वैदिक काल में संगीत का आयोजन यज्ञों और पवित्र अनुष्ठान के अवसरों पर ही किया जाता था। वैदिक काल में संगीत में केवल तीन ही स्वर थे—उदात्त, अनुदात्त, और स्वरित। वैदिक काल के पश्चात् जब पाणिनि की संस्कृत का युग आया, तब भाषा व्याकरण के जटिल नियमों में आबद्ध कर दी गई। भाषा के साथ ही साथ संस्कृत काल में संगीत के नियमों का भी विस्तार किया गया। पाणिनि काल में और उसके पश्चात् संगीत शास्त्र की विवेचना पर महत्व पूर्ण प्रकाश डाला गया। संगीत के सम्बन्ध में महत्व पूर्ण नियम निश्चित किए गए। अनेक राग-रागनियों का भी विस्तार किया गया। रामायण काल में काव्य के अंतर्गत सर्व

गीति काव्य रामायण और महाभारत काल में

प्रथम वाल्मिकि मुनि ने छंद का प्रचलन किया। इसके पश्चात् राग-रागिनियों का स्रोत फूटकर जन समाज में बह चला, और उसने विभिन्न लोक गीतों का रूप धारण कर लिया। महाभारत काल में यह प्रवाह और भी अधिक जोरों के साथ उमड़ा। महाभारत काल में संगीत के सौंदर्य का उतना अधिक महत्व नहीं था, जितना अधिक महत्व लोक गीतों को प्राप्त था। महाभारत काल में लोक गीतों का विकास अपनी चरम सीमा पर पहुँचा हुआ था।

गीति काव्य और भरतमुनि

महाभारत काल में लोक गीतों का विकास पूर्ण पराकाष्ठा को पहुँचा हुआ था। लोक गीतों की विभिन्न शैलियाँ जन समाज में प्रचिलत थीं। संगीत का प्रयोग केवल काव्य में ही नहीं किया जाता था, वरन् नाटकों में भी उसे आदर के साथ स्थान दिया जाता था। इसकी सत्यता का प्रमाण भरतमुनि के नाट्य शास्त्र में मिलता है, जिनका आविर्भाव महाभारत काल के पश्चात् हुआ था। भरतमुनि के नाट्य शास्त्र से पता चलता है, कि उनके पूर्व संगीत कला, और राग-रागिनियों का महत्व पूर्ण विकास हो चुका था। भरतमुनि ने जन समाज में प्रचलित उन्हीं राग-रागिनियों के आधार पर संगीत कला की महत्व पूर्ण विवेचना की। उन्होंने संगीत के तीन स्वरों के स्थान पर सात स्वरों (स, र, ग, म, प, ध, नि,) की स्थापना की। इन स्वरों की स्थापना के पश्चात् विभिन्न राग-रागिनियों के रूप में संगीत कला जोरों के साथ उमड़ पड़ी। भरतमुनि ने स्वयं अनेक राग-रागिनियों का आविष्कार किया। भरतमुनि के पश्चात् राग-रागिनियों की कला में पङ्ख लग गए। चारों ओर से संगीत का प्रवाह उमड़ उठा। केवल लोक गीतों ही में नहीं काव्यों की रगों में भी संगीत की झंकार गुंजित होने लगी।

गीति काव्य और प्राकृत

इस काल तक गीति काव्य के मुख्य रूप से दो स्रोत थे। एक स्रोत तो वह था, जो संस्कृत के काव्यों में समाविष्ट था, और दूसरा स्रोत वह था, जो लोक गीतों के रूप में जन समाज में प्रवाहित हो रहा था। जन समाज के लोक गीतों की भाषा संस्कृत से भिन्न थी। उसे हम जन या लोक भाषा कह सकते हैं। व्याकरण के जटिल नियमों से अधिक आक्रांत होने के कारण प्रगति में संस्कृत जन भाषा से पिछड़ गई, और परिणाम स्वरूप संस्कृत तथा जन भाषा के संयोग से पाली, और प्राकृत ने जन्म लिया। जन भाषा की प्रबलता होने पर लोक गीतों का प्रवाह भी उमड़ पड़ा। प्राकृत में अनेक ग्रन्थों की रचना हुई, जिनमें लोक गीतों का विकास देखने को मिलता है। हिन्दी के गीति काव्य का भवन इन्हीं लोक गीतों की नींव पर खड़ा किया गया है।

प्राकृत में कई गीतात्मक महत्व पूर्ण काव्य ग्रन्थों की रचना हुई है। 'गाथा सप्त शती' प्राकृत की एक कला पूर्ण गीतात्मक रचना है, । आर्य सप्तशती' में भी गीति कला के अन्यतम दृष्टांत मिलते हैं। कालिदास के नाटकों में ऐसे कई गीत

मिलते हैं, जिनकी भाषा बोलचाल की है। कालिदास ने गीतात्मक काव्य की रचना भी की है। कालिदास का मेघदूत गीति काव्य के सुन्दर गुणों से अलंकृत है।

कुछ दिनों के पश्चात् संस्कृत की भाँति प्राकृत भी व्याकरण के जटिल नियमों से बाँध दी गई। परिणाम स्वरूप एक नवीन भाषा की सृष्टि हुई, जिसे हम अपभ्रंश

गीति काव्य और मागधी

भाषा कहते हैं। हमारे देश में आजकल जो भाषाएँ बोली जाती हैं, उन सब का जन्म अपभ्रंश से ही हुआ है। हिन्दी के जन्म का कारण भी अपभ्रंश ही है। हिन्दी के आदि रूप की झलक मागधी अपभ्रंश में दिखाई पड़ती है। अतः मागधी के गीति काव्य पर भी विचार करना उचित होगा। मागधी का क्षेत्र बिहार में नालंदा और विक्रम शिला के आस पास था। यह बौद्ध धर्म के वज्रयान तत्व के प्रचारक उन बौद्ध साधुओं की भाषा थी, जो सिद्ध कहलाते थे। बौद्ध सिद्धों में अनेक कवि और संगीतज्ञ हो चुके हैं, जिनमें शरह शबरि, लूहि, दारिक, वज्र घंटा, जालंधर, कराहपा और शांति पा इत्यादि का मुख्य स्थान है। इन सिद्ध कवियों ने राग-रागिनियों में वज्रयान के सिद्धांतों का चित्रण किया है। नाथपन्थ के योगियों की रचनाओं में भी गीति काव्य की कला का विकास मिलता है। वज्रयानी सिद्धों की भाँति नाथपन्थ के योगियों में भी कई सुप्रसिद्ध कवि हो चुके हैं। इन कवियों ने विभिन्न राग-रागिनियों में नाथ पन्थ के सिद्धांतों का चित्रण किया है।

वैदिक काल से लेकर मागधी अपभ्रंश तक गीति काव्य का जो इतिहास मिलता है, वह अपने स्वतन्त्र रूप में नहीं है। गीति काव्य होते हुए भी उसमें वे विशेषताएँ

हिन्दी गीति काव्य और जयदेव

नहीं मिलतीं, जिनके कारण गीति काव्य की प्रसिद्धि है। मुक्तक पदों की रचना तो उसमें बहुत ही अल्प हुई है। गीति काव्य को उसके वास्तविक पद पर प्रतिष्ठित करने वाले जयदेव हैं। जयदेव का आविर्भाव बारहवीं शताब्दी में हुआ था। सर्व प्रथम जयदेव ने ही गीत गोविन्द की रचना करके 'गीति काव्य' को गीति काव्य का वास्तविक स्वरूप प्रदान किया। गीति गोविन्द गीति काव्य की प्रथम उत्कृष्ट रचना है। भाव और संगीत-दोनों का ही योग उसमें कुशलता के साथ हुआ है। एक ओर उसमें भावों की तन्मयता है, और दूसरी ओर संगीत की सरसता तथा मधुरता। भावों की तन्मयता और संगीत सरसता तथा मधुरता ने गीति गोविन्द के पदों को अधिक विमुग्धकारी और प्रभावपूर्ण बना दिया है। गीति गोविन्द के पदों में भावों और स्वरों की साधना मूर्तिमान हो उठी है। हिन्दी का गीति काव्य गीति गोविन्द से अधिक प्रभावित है। विद्यापति, और सूरदास इत्यादि कवियों की रचनाओं पर गीति गोविन्द का प्रभाव स्पष्ट रूप से दिखाई पड़ता है।

अब हम अपने उस मूल विषय पर आते हैं, जिसकी चर्चा हमने ऊपर की है, अर्थात् अब हम यह देखेंगे कि हिन्दी गीति काव्य का विकास किस क्रम से हुआ

गीति काव्य— काल विभाजन है, और उसके विकास में किन-किन कलाकारों से अधिक योग प्राप्त हुआ है। हिन्दी गीति काव्य के विकास की विवेचना करने के लिए हमें हिन्दी गीतिकाव्य के इतिहास का मंथन करना होगा। हिन्दी गीत काव्य का इतिहास अपने जन्म से लेकर आज तक अपने विस्तृत क्षेत्र में फैला हुआ है। सुविधा की दृष्टि से उसके विस्तृत क्षेत्र को हम तीन कालों में विभक्त कर सकते हैं—आदि काल, मध्यकाल, और आधुनिक काल। आदि काल को वीर गाथा काल भी कह सकते हैं। इसका समय सम्वत् १०५० वि० से लेकर संवत् १३७५ वि० तक माना जा सकता है। मध्यकाल भक्तिकाल से प्रारम्भ से होता है। इसमें वह काल भी समाविष्ट है, जिसे हिन्दी कविता में रीतिकाल कहा जा सकता है। इसका समय सम्वत् १४०० से प्रारम्भ होकर सम्वत् १९५० तक चलता है। इसके पश्चात् आधुनिक काल प्रारम्भ होता है, जो अब तक चल रहा है। आधुनिक काल का प्रारंभ प्रसादजी से माना जाता है। हिन्दी गीत काव्य में आधुनिक कला का समावेश सर्व प्रथम प्रसादजी की ही रचनाओं में हुआ है। अतः प्रसादजी को ही आधुनिक गीत काव्य कला का प्रवर्तक माना जाता है।

—:o:—

गीति काव्य—आदि काल

आदिकाल को वीर गाथा काल भी कहते हैं। इसका समय सं० १०५० विक्रम से १३७५ तक माना जा सकता है। इस काल में गीति काव्य की रचना बहुत ही कम हुई है। इस तीन सौ वर्ष के लम्बे समय पर जब हम गीति काव्य की दृष्टि से विचार करते हैं, तो निराश ही होना पड़ता है। इस निराशा का मुख्य कारण यह है, कि यह समय गीति काव्य की रचना के लिए उपयुक्त नहीं था। तीन सौ वर्ष के इस लम्बे समय तक भारत की राजनीतिक स्थित अधिक अस्त-व्यस्त रही हैं। देश में चारों ओर अशांत की आँधियाँ सी चलती रही हैं। यवनों के बार बार आक्रमण होते रहे हैं। यवनों के आक्रमण से देश की रक्षा करने के लिए वीर राजपूत की तलवारों की झंकार भी बार बार सुनाई पड़ती रही है। युद्ध आतङ्क और आक्रमण के कारण जीव, समाज, और राष्ट्र—सबकी गति में अनिश्चितता उत्पन्न हो गई थी; परिणाम साहित्य सृजन का द्वार बंद हो गया था। युद्ध और आक्रमण की विभिषिकाओं के कारण लोगों के हृदयों में सुकुमार भावनाएँ सो सी गई थीं। केवल भाँटों और चारणों के द्वारा काव्य के अंतर्गत वीर भावों की सृष्टि हो रही थी। कभी-कभी स्वयंबरों और आखेट के अवसरों पर मनोरंजनार्थ शृंगार रस की धारा भी प्रभावित हो उठती थी, पर उस शृंगार में भी वीर रस समाहित-सा रहता था।

सामाजिक राजनीतिक स्थिति और गीति काव्य

यह समय युद्ध और आतंक का समय था। इस काल में जिस चरण काव्य का निर्माण हुआ, उसका उद्देश्य 'काव्य का निर्माण' नहीं, वरन् देश की रक्षा के लिए वीरों को उत्तेजित करना था। जीवन अनिश्चित होने के कारण यह समय काव्य के निर्माण का समय नहीं था। यही कारण है, कि तीन सौ वर्ष के इस लम्बे समय में गीति काव्य का निर्माण नहीं हो सका। युद्ध आक्रमण और आतंक का यह अशांति-मय समय गीति-काव्य की रचना के लिए सर्वथा अनुपयुक्त था।

इस काल में गीति काव्य के रूप में दो काव्य ग्रन्थों की रचना हुई है—बीसल देव रासो, और आल्ह खंड। बीसल देव रासो के रचयिता का नाम नरपत नाल्ह है।

बीसलदेव रासो इसकी रचना सं० १२१२ वि० में हुई थी। यह चार खंडों और दो सहस्र चरणों में समाप्त हुआ। यद्यपि इसकी रचना वीर गाथा काल में हुई थी,

पर इसमें शृंगार रस की प्रधानता है। प्रेम, वियोग, और संयोग के भाव चित्रों का अंकन इसमें कुशलता के साथ हुआ है। यद्यपि यह वर्णन प्रधान काव्य ग्रन्थ है, पर भावों का स्रोत इसकी पंक्तियों में छलकता हुआ दृष्टिगोचर होता है। वर्णन की अपेक्षा भाव सौष्ठव ही इसमें स्थान-स्थान पर अधिक परिमाण में जागृत हुआ है। भाषा इसकी सीधी सादी और बोल चाल की है। इसकी भाषा में खड़ी और ब्रजभाषा दोनों के ही रूप मिलते हैं। अरबी, फारसी, और तुर्की इत्यादि विदेशी भाषाओं के शब्दों का प्रयोग भी उसकी भाषा में मिलता है। इसकी भाषा बराबर बदलती गई है। इसका कारण यह है, कि यह गेय रहा है। गेय होने के कारण समय-समय पर इसकी भाषा में उलट फेर होता गया है। भाषा, शैली और प्रबंधात्मकता की दृष्टि से इसका उतना महत्व नहीं है, जितना भाव की दृष्टि से। भाषा और शैली के सौन्दर्य से हीन होने पर भी इसका भाव सौंदर्य इसके महत्व को प्रतिस्थापित करने में उदासीन नहीं रहता।

दूसरा गीतात्मक, काव्य ग्रन्थ आल्ह खंड है। इसके रचयिता का नाम जगनिक, और रचना काल सं० १२३० के आस पास बताया जाता है। इसमें महोबा के दो

आल्ह खण्ड प्रसिद्ध वीरों, आल्हा और ऊदल के वीरता पूर्ण चरित्रों और कार्मों का चित्रण ओजस्विनी भाषा में किया गया है, इसकी भाषा अधिक ओजस्विनी और वीर-भाव पूर्ण है। वीरता के भाव पूर्ण चित्र इसकी पंक्ति-पंक्ति और शब्द-शब्द से बनते हैं। इसकी पंक्तियों को सुन कर रगों में जीवन जाग उठता है। इसकी रचना भी गाने के उद्देश्य से ही की गई थी। इसलिए यह सदा गेय ही बना रहा। गेय होने के कारण इसकी भाषा में सदा कुछ न कुछ परिवर्तन होता रहा है। सर्व प्रथम सं० १८६५ में फर्रुखाबाद के तत्कालीन जिलाधीस सरचार्ल्स इलिपट ने इसके गीतों का संग्रह कराया था। तब यह लिपि बद्ध रूप में 'आल्हा खण्ड' के नाम से पाया जाता है। इसके वीरता पूर्ण गीत, श्रावण भाद्र पद के महीने में, उत्तर प्रदेश के गाँवों में होलक पर गाए जाते हैं। इसके गीतों में वर्णन के मनोरम चित्र भी मिलते हैं।

बीसल देव रासो, और आल्ह खंड के अतिरिक्त आदि काल में कुछ ऐसे गीतों की भी रचना हुई है, जिन्हें हम मुक्तक गीत कह सकते हैं। मुक्तक गीतों की रचना

मुक्तक गीति करने वालों में महात्मा गोरखनाथ, और अमीर खुसरो का मुख्य स्थान है। गोरखनाथ गोरख पन्थ के प्रवर्तक सुप्रसिद्ध साधु थे। इन्होंने बौद्धों के वज्रयान की विकृतियों से असंतुष्ट होकर अपने मत का प्रवर्तन किया था। इनका यह मत शैव मत के ही अन्तर्गत है। इनके मत का आधार हठयोग, और शून्य वाद है। इन्होंने अपने मत के सिद्धान्तों के प्रचारार्थ पद, गीत, बानियाँ, और संवादों की रचना की है। साहित्यिक दृष्टि से इनके पदों का विशेष महत्व नहीं है, पर आध्यात्मिक और परमोज्वल विचारों की झलक इनके पदों में अच्छी देखने को

मिलती है। इनके पदों, और बानियों से हिन्दी भाषा के रूप और उसके विकास पर भी महत्व पूर्ण प्रकाश पड़ता है।

अमीर खुसरों फारसी का विद्वान था। हिन्दी और संस्कृत में भी उसकी अच्छी गति थी। वह काव्य और संगीत कला में अधिक निपुण था। उसने अरबी-फारसी के ढंग पर पहेलियों, और मुकरियों की रचना की है। उसकी पहेलियों, और मुकरियों की भाषा बोलचाल की, अधिक सरल है। अमीर खुसरों ने कुछ भाव पूर्ण दोहों और पदों की भी रचना की हैं। इसके दोहों और पदों में भावों के सौन्दर्य की प्रमुखता है। कहा जाता है, कि बरवा राग में लय रखने की रीति का आविष्कार अमीर खुसरों ने ही किया है। कव्वाली में अनेक राग-रागिनियाँ भी उसी ने निकाली है।

गीति काव्य—मध्यकाल

मध्य काल सं० १४६० से प्रारम्भ होकर सं० १६५० तक माना जा सकता है। चार सौ वर्ष के इस लम्बे समय में हिन्दी गीति-काव्य में अधिक अभिवृद्धि हुई है।

मध्य काल—गीति काव्य की उन्नति का कारण

इतनी और इस प्रकार अभिवृद्धि हुई है, कि इस समय को यदि हम हिन्दी गीति-काव्य का स्वर्ण काल कहें, तो कोई अत्युक्ति न होगी। चार सौ वर्ष के इस समय में हिन्दी गीति-काव्य की अभिवृद्धि क्यों हुई—यह एक विचारणीय विषय है। 'गीति' के प्रकृत तत्वों की आलोचना करते हुए पहले यह बताया जा चुका है, कि गीति के तत्वों का संगठन हृदय के तत्वों से होता है। इसी बात को हम इस रूप में कह सकते हैं, कि गीति कला का विकास हृदय के तत्वों से होता है। जिस युग में हृदय के तत्त्वों की मस्तिष्क के तत्वों से अधिक प्रबलता होती है, उस युग में काव्य या गीति काव्य का अधिक विकास होता है, अर्थात् जिस युग में मानव जीवन में भावनाओं की प्रधानता होती है, उस युग में मनुष्य काव्य और गीति काव्य की रचना की ओर अधिक उत्प्रेरित होता है। कहना न होगा, कि मध्यकाल भावनाओं का युग था। यवनों से देश को बचाने के लिए आदि काल में राजपूतों की जो तलवार बाहर निकली थी, वह मध्य काल में असिकोष के भीतर थी। अब देश में न वह हुंकार थी, और न वह गर्जन। हुंकार और गर्जन के स्थान पर अब देश के भीतर निराशा की भावना डोल रही थी। यवनों का आक्रमण और आतंक पहले की ही भाँति वेग पर था, पर जनता में अब आक्रमणकारी यवनों से जूझने की भावना न थी। जनता अपने देश की रक्षा की वेदिका पर सम्पूर्ण साधनों को लुटा कर अब निरुपाय सी हो उठी थी। अब उसका हृदय भीतर ही भीतर दुःख, और वेदना से मथ रहा था। उसी दुःख, वेदना, और निराशा का यह परिणाम था, कि जनता ईश्वरता की ओर उन्मुख थी। पहले जहाँ जनता के भीतर से तलवारों के पुजारी निकलते थे, वहाँ अब उसके भीतर से संत और भक्त निकलने लगे। इन संतों और भक्तों में अधिकांश ऐसे लोग हुए हैं, जिन्होंने काव्य की वीणा पर जनता के जीवन का राग गाया है, और जिन्होंने जनता के निराश हृदयों में उठने वाले भाव-झंकोरों को अपनी भक्ति और प्रेम से शांत करने का प्रयत्न किया है।

मध्य काल को हम भावनाओं का काल कह सकते हैं। मध्य काल में हमारे देश

का जीवन भावनाओं से अधिक आंदोलित था। उसका प्रभाव साहित्य और काव्य पर अखंड रूप से पड़ा है। उसी के परिणाम स्वरूप मध्य काल में रामायण और सूरसागर ऐसे प्रबन्ध काव्यों की सृष्टि हुई है। उसी के परिणाम स्वरूप गीति काव्य कला का विकास भी अपनी उच्चता को प्राप्त हुआ। मध्यकाल में अनेक ऐसे संत कवि हुए हैं, जिन्होंने गीति काव्यों की रचना की है। इनमें कुछ संन्त कवि तो ऐसे हैं, जिन्होंने गीति काव्यों की रचना में अपने को सर्वश्रेष्ठ प्रमाणित किया है। इन सर्वश्रेष्ठ कवियों में सूर, तुलसी, मीरा, और विद्यापति का महत्वपूर्ण स्थान है।

मध्यकाल के इन संत कवियों की दो श्रेणियाँ हैं। एक श्रेणी तो उन कवियों की है, जिनकी भक्ति में निर्गुण भाव की प्रधानता है। इन कवियों में कबीर, नानक, धर्मदास, और दादू इत्यादि का महत्वपूर्ण स्थान है। इन कवियों ने परमात्मा की अनन्त सत्ता का अनुभव करके विभिन्न रूपों में उससे सम्बन्ध स्थापित करने का प्रयत्न किया है; दूसरे शब्दों में इनकी रचनाओं में एक रहस्य का उद्घाटन हुआ है। वह रहस्य है परमात्मा की अनन्त और अपरोक्ष सत्ता! इन्होंने अनन्त सत्ता पूर्ण परमात्मा से सम्बन्ध स्थापित करने के लिए जिस विधि से काम लिया है, वह भी रहस्य पूर्ण और सांकेतिक है। यही कारण है, कि इन संत कवियों को रहस्यवादी कवि कहते हैं। इनकी रचनाओं में गीति शैली का विकास विशुद्धता के साथ हुआ है। यद्यपि इन्होंने अधिकांश मुक्तक पदों की रचना की है, पर इनके मुक्तक पदों में एक अलौकिक सुन्दरता है। दूसरी श्रेणी में वे भक्त कवि आते हैं, जिनकी भक्ति में साकार भाव की प्रधानता है। इन कवियों में तुलसी, सूरदास, और मीरा का महत्व पूर्ण स्थान है। इन कवियों ने मुक्तक पदों की रचना करने के साथ ही साथ प्रबन्धात्मक गीति काव्यों की भी रचना की है।

मध्य काल में गीति शैली का विकास अपनी उन्नति की चरम सीमा पर पहुँचा हुआ है। भाव, भाषा, और शैली प्रत्येक दृष्टि से मध्यकाल में गीति काव्य की उन्नति

मध्य काल—गीति काव्य की श्रेणियाँ

हुई है। एक ओर उसमें जहाँ भावों का अजस्र स्रोत बहता हुआ दिखाई देता है, दूसरी ओर वहाँ उसमें कलात्मकता की प्रचुरता है। भाव और कला दोनों का ही संयोग मध्य काल के गीति काव्यों में सुन्दरता के साथ हुआ है। मध्य काल का सम्पूर्ण गीति काव्य दो रूपों पर आधारित है। एक भक्ति के निर्गुण स्वरूप पर, और दूसरा भक्ति के सगुण स्वरूप पर। प्रथम रूप में प्रेम, ज्ञान, और सूक्ष्म अनुभूति की प्रधानता है। दूसरे रूप में प्रेम, भक्ति, रूप, वर्णन, और संयोग वियोग सम्बंधी भावों की मुख्यता है। दोनों ही रूपों के गीति-काव्यों की समीक्षा करने पर हम मध्य काल के सम्पूर्ण गीति-काव्य को चार श्रेणियों में विभक्त कर सकते हैं—आत्म निवेदन सम्बन्धी पद, सिद्धांत निरूपण के पद, शील शक्ति और रूप सौन्दर्य के वर्णनात्मक पद, और संयोग वियोग के शृंगार पूर्ण पद।

मध्य काल में गीति काव्य की दो धाराएँ बही हैं। एक धारा निर्गुणात्मक है, और दूसरी धारा सगुणात्मक। निर्गुण धारा के सन्त कवियों की रचनाएँ ब्रह्मवाद पर आधारित हैं। उन्होंने एक ही ब्रह्म की ज्योति सब में देख कर संसार की विभेदता को मिटाने का प्रयत्न किया है। उनकी रचनाओं में आचार, विचार, पूजा, समाज, जीवन, और धर्म सम्बन्धी आडम्बरों पर प्रहार है। उनकी रचनाएँ ज्ञान का अंचल पकड़ कर चलती हैं। उन्होंने जगत की प्रत्येक वस्तु को ज्ञान और विवेक की ही दृष्टि से देखा है। उनकी ज्ञान की तलवार बड़ी तीव्र है। उन्होंने अदम्य साहस और पुरुषार्थ के साथ जीवन, समाज, और धर्म की विकृतियों पर अपने ज्ञान की तलवार चलाई है। एक ओर उनकी रचनाओं में जहाँ ज्ञान की तलवार की प्रखरता है, वहाँ दूसरी ओर उनकी रचनाओं में भावों की सरसता का अजस्र स्रोत बहता हुआ दृष्टिगोचर होता है। जहाँ कहीं भी ये ज्ञान का अंचल छोड़ कर प्रेम की ओर झुके हैं, वहाँ इनकी रचनाओं में सरस भावों की तरंगे उत्पन्न हो गई हैं। उनकी इस कोटि की रचनाओं में ही रहस्यवादी भावनाओं का विकास हुआ है।

निर्गुणवादी गीति काव्य के प्रणेताओं में नामदेव, सदनाजी, पीपाजी, रैदासजी, कबीरदासजी धर्मदासजी, गुरुनानक, मलूकदास, दादूदयाल, सुन्दरदास, धरनीदास, यारी साहब, दरिया साहब और गरीबदास इत्यादि का मुख्य स्थान है। इन निर्गुण गीतिकारों में कबीरदासजी सबसे श्रेष्ठ उतरते हैं। शेष निर्गुण गीतिकारों ने भाव, भाषा, और शैली के क्षेत्र में कबीरदासजी का ही अनुगमन किया है।

निर्गुणवादी गीतिकार

नामदेव महाराष्ट्र के रहने वाले सुप्रसिद्ध सन्त थे। इनका जीवन भक्ति और प्रेम से ओत प्रोत था। इनके द्वारा जन-समाज में भक्ति-भावनाओं का प्रचार प्रशंसनीय रूप में हुआ है। भक्ति के क्षेत्र में इनका विचार अधिक विस्तृत, और ऊँचा था। यह जाति-भाँति के विरोधी थे। इन्होंने भक्ति, और प्रेम में डूब कर सुन्दर पदों की रचना की है। इनके पदों में प्रेम, और ज्ञान का सामंजस्य सुन्दरता के साथ हुआ है।

रैदास उच्चकोटि के सन्त थे। यद्यपि इनका जन्म चमार जाति में हुआ था, पर इनके हृदय में अध्यात्म की अलौकिक शक्तियाँ जाग्रत हुई थीं। इनकी अलौकिक शक्तियों से ही आकृष्ट होकर मीराबाई ने इनका शिष्यत्व स्वीकार किया था। स्वामी रामानन्द इनके गुरु थे। स्वामी रामानन्द सगुणोपासक थे, पर इन्होंने निर्गुण भाव से ही परमात्मा की उपासना की है। इनके पदों में निर्गुण भावों के मार्मिक चित्र मिलते हैं।

कबीरदासजी का स्थान सन्त कवियों में अन्यतम है। कबीरदासजी के ही द्वारा उस मत का प्रवर्तन हुआ है, जिसे निर्गुण मत कहते हैं। निर्गुणवाद की गीति शैली की दोनों ही विशिष्टताएँ कबीरदासजी के पदों में विद्यमान हैं, अर्थात् कबीरदास जी के पदों में ज्ञान की वीणा की झङ्कार भी है, और प्रेम के सरस भावों की लह-

रियाँ भी। कबीर की रचनाएँ एक संगम की भाँति हैं, जिसमें कई स्रोतों का संमिलन हुआ है। उनमें ज्ञान भी है, भक्ति भी है। उनमें प्रेम भी है, वैराग्य भी है। उनमें निर्गुण भावनाएँ भी हैं, और सगुणवाद की झलक भी कहीं-कहीं देखने को मिलती है। इस प्रकार कबीरदासजी के पदों का निर्माण विशालता की पृष्ठभूमि पर हुआ है। कबीरदासजी के सम्पूर्ण पद दो प्रकार के हैं। अपने एक प्रकार के पदों में तो उन्होंने पूजा, धर्म, आचार विचार, मन्दिर, मस्जिद, धर्म ग्रन्थ, और पंडितों तथा मौलवियों की आलोचना की है। दूसरे प्रकार के पदों में कबीरदासजी ने प्रेम विभोर होकर, विभिन्न रूपों में अपरोक्ष और अनन्त सत्ता से सम्बन्ध स्थापित करने का प्रयत्न किया है। कबीरदासजी के ये दूसरे प्रकार के पद अधिक भावात्मक हैं। इनमें हृदय की मार्मिक अनुभूतियों का विकास हुआ है। कबीरदासजी अपने इन्हीं पदों के लिए गीति काव्य जगत में अधिक प्रसिद्ध हैं।

गुरुनानक सिक्ख सम्प्रदाय के संस्थापक थे। सिक्खों में इनका स्थान ईश्वर के तुल्य है। इनकी बानियाँ और इनके भजन सिक्खों में ईश्वर के वाक्यों की भाँति समादृत हैं। इनकी बानियों और भजनों में निर्गुण भक्ति के परमोज्वल चित्र मिलते हैं। इनकी बानियों की भाषा व्रज, खड़ी बोली, और पंजाबी है, जो बहुत सीधी सादी और सरल है।

सगुणवाद की गीति धारा दो रूपों में विभक्त है—एक कृष्ण भक्ति के रूप में, और दूसरी राम भक्ति के रूप में। पहले हम कृष्ण भक्ति, और उसके गीतिकारों

सगुणवादी—कृष्ण भक्ति गीतिकार

की रचनाओं पर प्रकाश डालेंगे। कृष्ण भक्ति की स्थापना करने वालों में निम्बार्काचार्य, माध्वाचार्य, और विष्णु स्वामी का महत्वपूर्ण स्थान है। निम्बार्काचार्य का आविर्भाव बारहवीं शताब्दी में हुआ था। यह एक वैष्णव आचार्य थे। सर्व प्रथम इन्होंने ही राधाकृष्ण की संमिलित भक्ति का प्रचार किया। यह श्रीकृष्ण को परब्रह्म परमात्मा, और राधा तथा गोपियों को श्रीकृष्ण रूपी ब्रह्म से आविर्भूत शक्तियाँ मानते थे। माध्वाचार्य का आविर्भाव चौदहवीं शताब्दी में हुआ था। इन्होंने केवल श्रीकृष्ण की भक्ति का प्रचार किया। इनकी भक्ति के क्षेत्र में राधा के लिए स्थान नहीं है। विष्णु स्वामी का आविर्भाव चौदहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में हुआ था। इन्होंने श्रीकृष्ण और राधा की सम्मिलित भक्ति पर बल दिया है।

श्रीकृष्ण भक्ति को सबसे अधिक प्रोत्साहन महाप्रभु वल्लभाचार्यजी के द्वारा प्राप्त हुआ है। उत्तर भारतवर्ष में श्रीकृष्ण भक्ति के प्रचार का श्रेय महाप्रभु वल्लभाचार्यजी को ही है। महाप्रभु वल्लभाचार्यजी का आविर्भाव सोलहवीं शताब्दी में हुआ था। यह श्रीकृष्ण के अनन्य भक्त, साधक, और विद्वान थे। इन्होंने श्रीकृष्ण को परब्रह्म मान कर उनकी उपासना की है। इन्होंने श्रीकृष्ण को परब्रह्म मान कर एक सम्प्रदाय का प्रवर्तन भी किया है, जिसे 'पुष्टि' मत या सम्प्रदाय कहते हैं। इनके पुष्टि मत या सम्प्रदाय के अनुसार श्रीकृष्ण का अनुग्रह ही सब कुछ है। श्रीकृष्ण

के अनुग्रह से ही उनकी भक्ति और उनका प्रेम प्राप्त होता है। इतना ही नहीं, वरन् श्रीकृष्ण के अनुग्रह से ही जीव का श्रीकृष्ण की ओर झुकाव भी होता है। श्री कृष्ण के इसी अनुग्रह को ही पुष्टि कहते हैं।

वल्लभाचार्यजी के पश्चात् जितने कृष्ण भक्त हुए हैं, वे प्रायः पुष्टि मतानुयायी ही हैं। सुप्रसिद्ध भक्त और कवि सूरदास भी महाप्रभु वल्लभाचार्यजी के शिष्यों में थे। इनकी रचनाओं में भी पुष्टि मत के ही सिद्धान्तों का प्रतिपादन हुआ है। कृष्ण भक्तों, और प्रेमियों में सूरदासजी के अतिरिक्त और भी कई लोग ऐसे हुए हैं, जिन्होंने काव्य की वीणा पर श्रीकृष्ण भक्ति का राग गाया है। इन कवियों और गीतिकारों में विद्यापति, सूरदास, नन्ददास, कृष्णदास, परमानन्ददास, कुंभनदास, चतुर्भुजदास, छीत स्वामी, मीराबाई, हितहरिवंश, रसखान और रहीम इत्यादि का महत्त्वपूर्ण स्थान है। इन कवियों और गीतिकारों की रचनाओं का जब हम अध्ययन करते हैं, तो यह देखते हैं, कि उनकी रचनाओं में उनकी कृष्ण भक्ति कई रूपों में विकसित हुई है। जैसे—आत्म निवेदन के रूप में, दास्य भाव के रूप में, सख्य भाव के रूप में, वात्सल्य के रूप में, प्रेमी के रूप में और दांपत्य जीवन के रूप में। इन सभी रूपों में हृदय के भावों की ही प्रधानता पाई जाती है। भक्त कवि ने भक्ति के जिस किसी भी रूप से श्रीकृष्ण की उपासना की है, उसकी उपासना में हृदय की विह्वलता, और तन्मयता ही उसका अवलम्ब है। उसने अपनी इस विह्वलता और तन्मयता में जिन गीतों और पदों की रचना की है, उनमें प्राणों के विह्वलकारी भावों का विकास प्रचुर रूप में हुआ है। सूर और मीरा इत्यादि कृष्ण प्रेमी कवियों के पदों में इस प्रकार के भावों के मनोरम चित्र मिलते हैं।

विद्यापति बिहार प्रान्त के, दरभंगा जिले के बिसपी गाँव के निवासी थे। यह संस्कृत के विद्वान थे। संस्कृत में इन्होंने कई ग्रन्थों की रचना की है। इन्होंने राधा कृष्ण के पारस्परिक प्रेम को लेकर सरस पदों की रचना की है। इनके पदों की भाषा मैथिली है, जो मागधी की एक उपबोली है। यही कारण है, कि हिन्दी के गीतिकारों में इनका भी नाम लिया जाता है। इनके पद दो प्रकार के हैं—शृंगार पूर्ण, और भक्ति पूर्ण। इनके प्रारम्भिक पद अधिक शृंगार पूर्ण हैं, जिनमें वासना और अश्लीलता उभड़ पड़ी है। जीवन के अन्तिम दिनों में इन्होंने जिन पदों की रचना की है, उनमें मङ्गलमयी भक्ति का उन्मेष हुआ है। इनके पद सरसता, और माधुर्य के लिए प्रसिद्ध हैं। इनके सरस और मधुर पदों में संगीत कला मूर्तिमान सी हो उठी है।

सूरदास गीति काव्य के प्रणेताओं में सबसे अधिक आगे हैं। हिन्दी गीति काव्य के, सूरदास सबसे श्रेष्ठ कलाकार माने जाते हैं। सूरदास वल्लभाचार्यजी के शिष्य, और श्रीकृष्ण के अनन्य भक्त थे। इन्होंने श्रीकृष्ण भक्ति की पृष्ठभूमि पर ही अपने गीतों का निर्माण किया है। यों तो इनकी भक्ति का क्षेत्र अधिक विस्तृत है, पर उसमें इनकी वह भक्ति अधिक तन्मय और आनन्दमय है, जो श्रीकृष्ण के गोपाल

रूप के प्रति है। श्रीकृष्ण के 'गोपाल' रूप में तन्मय होकर इन्होंने जिन गीतों की रचना की है, उनमें इनके हृदय और आत्मा की स्वाभाविकता कूट-कूट कर भरी हुई है। बालकृष्ण के बाल-वैभव के चित्र इनकी रचनाओं में जैसे मिलते हैं, वैसे कहीं नहीं मिलते। बाल-वैभव के चित्रों को पदों के साँचे में ढालने में इन्होंने अधिक कुशलता प्रदर्शित की है। इनके दूसरे पद भी अधिक भाव पूर्ण, और कलात्मक हैं। जैसे—विनय सम्बन्धी पद, गोपियों के विरह संयोग सम्बन्धी पद, यमुना वर्णन सम्बन्धी पद, ब्रज शोभा सम्बन्धी पद इत्यादि। इनके सभी पदों में भाव, और गीति का संयोग बड़ी कुशलता के साथ स्थापित हुआ है। संगीतात्मकता इनके पदों में कूट कूट कर भरी हुई है।

नन्ददास भी पुष्टि मार्गी थे। यह पहले भगवान श्रीरामचन्द्रजी के भक्त थे। किन्तु जब इन्होंने महाप्रभु वल्लभाचार्यजी के लड़के विट्ठलनाथजी से पुष्टि मार्ग की दीक्षा ग्रहण की, तब इनकी भक्ति श्रीकृष्णजी की ओर उन्मुख हो उठी। इन्होंने श्रीकृष्ण की भक्ति में डूब कर विभिन्न राग-रागिनियों में मुक्तक पदों की रचना की है। इनके पदों में काव्य और संगीत कला की मर्मज्ञता देखने को मिलती है।

श्रीकृष्णदास महाप्रभु वल्लभाचार्यजी के शिष्य थे। इन्होंने श्रीकृष्ण की भक्ति में तन्मय होकर दो गीतात्मक काव्य ग्रन्थों की रचना की है—भ्रमर गीत, और प्रेम तत्त्व निरूपण। इनके दोनों ही काव्य ग्रन्थों के पदों में शृंगार रस की प्रधानता है।

परमानन्ददास श्री कृष्ण के अनन्य भक्त थे। इनकी भक्ति सर्वोच्च स्थिति को प्राप्त थी। जिस प्रकार इनकी भक्ति सर्वोच्च थी, उसी प्रकार इन्होंने अत्यधिक सरस, और भाव पूर्ण पदों की रचना भी की है। इनके पदों में हृदय को विह्वल और तन्मय कर देने वाले तत्त्वों की प्रधानता है।

छीत स्वामी पुष्टि मतानुयायी थे। इनकी श्रीकृष्ण सम्बन्धी अनुभूतियाँ बड़ी सरस, और प्रेम पूर्ण हैं। ब्रजभूमि के प्रति इनका अधिक आकर्षण था। इनके पदों में ब्रजभूमि के प्रति प्रेम के मनोरम चित्र मिलते हैं।

गोविन्द स्वामी सुप्रसिद्ध संगीतज्ञ थे। श्रीकृष्ण की भक्ति में डूब कर इन्होंने अत्यधिक सरस, और भाव पूर्ण पदों की रचना की है। इनके कंठ से निकले हुए सरस और भाव पूर्ण पदों को सुनकर तानसेन भी विमुग्ध जाता था।

मीराबाई श्रीकृष्ण की अनन्य आराधिका थीं। श्रीकृष्ण का प्रेम उनकी रग-रग में समाविष्ट था। उन्हें इस विश्व में, चारों ओर श्रीकृष्ण ही की सत्ता दिखाई देती थी। वे श्रीकृष्ण को अपना प्रियतम मानती थीं। श्रीकृष्ण के प्रेम में डूब कर उन्होंने विमुग्धकारी भाव-चित्रों की रचना पदों में की है। इनके भाव-चित्रों की तीन श्रेणियाँ हैं—प्रार्थना सम्बन्धी, संयोग शृंगार सम्बन्धी, और वियोग शृंगार संबन्धी। प्रार्थना सम्बन्धी पदों में इन्होंने श्रीकृष्ण की अनन्त शक्तिशालिनी सत्ता का गुण गान किया है। संयोग शृंगार में उस प्रेम की स्थिति का चित्रण है, जिसमें ये अपने

प्रियतम श्रीकृष्ण के सानिद्ध्य का आनन्द प्राप्त करती हैं। वियोग शृंगार में इनके उस हृदय की विकलता है, जो श्रीकृष्ण के प्रेम में पपीहे की भाँति व्याकुल है। यों तो इनके सभी भाव चित्र सरस, मधुर और मनोरम हैं, पर इनके वियोग शृंगार के चित्रों में हृदय की प्रेम-विह्वलता कूट-कूट कर भरी है। इनके वियोग शृंगार के चित्र अन्यान्य चित्रों की अपेक्षा अधिक भावमय, और अनुभूति सूचक हैं। वियोग शृंगार के चित्रों में यह कहीं-कहीं रहस्यवादिनी भी बन गई है।

हितहरिवंश राधावल्लभ सम्प्रदाय के संस्थापक थे। इन्होंने 'राधा' की उपासना पर अधिक बल दिया है। 'राधा' की भक्ति में डूब कर इन्होंने अत्यधिक सरस, और भाव पूर्ण गीतों की रचना की है। इनके गीत सरसता और मधुरता के लिए प्रसिद्ध हैं। श्रीकृष्ण की वंशी अनन्ता सत्ता के रूप में इनके गीत में चित्रित हुई है। वंशी के अद्भुत प्रभाव-चित्र इनके गीतों में अधिक मिलते हैं।

सगुणवादी भक्ति-गीतिकार

सगुणवादी भक्ति का दूसरा प्रवाह वह है, जिसमें श्रीरामचन्द्रजी की भक्ति की प्रधानता है। उत्तर भारत में श्रीरामचन्द्रजी की भक्ति के प्रवर्तक स्वामी रामानन्द हैं। स्वामी रामानन्दजी के प्रयत्नों से ही उत्तर भारत में श्रीरामचन्द्रजी की भक्ति की पताका चारों ओर उड़ी। स्वामी रामानन्द ने राम भक्ति को आधार मान कर एक विशिष्ट संप्रदाय की स्थापना की थी, और एक विशेष मत का प्रचार भी किया था। उनके द्वारा स्थापित संप्रदाय को ही आज कल रामानन्दी संप्रदाय कहते हैं। रामानन्दी संप्रदाय में कई सन्तों का आविर्भाव हुआ है, जिन्होंने श्रीरामचन्द्रजी के प्रति अलौकिक भक्ति प्रदर्शित करके संसार को परमोज्वलता का दान दिया है। इन सन्तों में केवल गोस्वामी तुलसीदासजी ही ऐसे हुए हैं, जिन्होंने काव्य और गीति की रचना की है।

गोस्वामी तुलसीदासजी सुप्रसिद्ध गीति काव्यकार हैं। इनके गीति काव्य का आधार श्रीरामचन्द्रजी की भक्ति है। इनकी भक्ति में दैन्य, और दास्य भाव की प्रधानता है। हृदय में दैन्य और दास्य भाव प्रधान होने के कारण इनके गीति ग्रन्थों में हृदय और प्राणों की स्वाभाविक अनुभूतियों का कुशलता के साथ चित्रण हुआ है। इनकी 'विनय पत्रिका' इस तरह के भावों प्रकार की सर्व श्रेष्ठ कृति है। विनय पत्रिका में गोस्वामीजी की उस आत्मा के निवेदन के, जो दैन्य और दास्य के अंचल में लिपट कर श्रीरामचन्द्रजी के चरणों पर लोट रही है, सजीव और साकार चित्र मिलते हैं। इन चित्रों में गोस्वामीजी की हृदय की तन्मयता और विह्वलता स्थान स्थान पर देखने को मिलती है। 'कृष्ण गीतावली' और 'राम गीतावली' में भी गोस्वामीजी की गीति कला मुखरित हो उठी है। कृष्ण गीतावली में श्रीकृष्णजी के बाल जीवन के चित्र हैं, जो अधिक सरस, सूक्ष्म, और मनमोहक हैं। 'राम गीतावली' में राम के चरित सम्बन्धी पद हैं, जो अधिक भाव पूर्ण हैं।

गोस्वामी तुलसीदासजी की गीति कला गीति काव्य के क्षेत्र में अद्वितीय है।

उनकी गीति कला संगीत और भाव-दोनों का सृजन करने में अधिक कुशल है। वह भावों और अनुभूतियों के गंभीर पयोधि में डुबकी लगाने में बड़ी निपुण है, और उसके भीतर से भाव-रत्नों को निकाल कर उन्हें गीति के तागे में पिरोने में अधिक दक्ष भी है। गीति और भाव का संयोग उनकी कला ने बड़ी कुशलता से स्थापित किया है। फिर भी यह विस्मय की बात ही है, कि गोस्वामीजी के पश्चात् उनकी परम्परा का पालन किसी अन्य कवि के द्वारा नहीं हो सका है। इसका एक मुख्य कारण है। गोस्वामीजी के पश्चात् देश की राजनीतिक स्थिति में परिवर्तन हो गया। देश में मुगलों के शासन ने स्थापित होकर अपनी जड़ जमा ली। अकबर ने राजनीतिक रंग मञ्च पर आविर्भूत होकर अपने शृंगारिक और प्रेममय जीवन की छाप देश के हृदय पर डाल दी। देश शृंगार, और प्रेम की वासनात्मक लहरों के साथ खेलने लगा। 'राममक्ति' जिसका राग तुलसी ने गाया था, देश की शृंगारिक प्रवृत्ति के विरुद्ध थी। अतः देश की जनता ने, उसे अपना करके भी अपने जीवन में स्थान नहीं दिया। उधर राधाकृष्ण की भक्ति में, जिसका राग सूरदास ने गाया था, प्रेम और शृंगार की भावना विद्यमान थी। अतः देश की जनता ने उसे अपना कर अपनी रुचि और आकांक्षा के साँचे में ढाल लिया; परिणाम स्वरूप राम काव्य धारा गोस्वामी तुलसीदासजी तक ही रह गई, और कृष्ण भक्ति धारा के अनेकों स्रोत फूटकर बह चले। पर इस बहु स्रोतस्विनी कृष्ण धारा में तुलसी अकेले ही अपनी गीति काव्य की वीणा पर राम भक्ति का राग गाकर सब के स्वरों को अपने स्वर में विलीन कर रहे हैं।

यहाँ रीतिकाल मध्य काल के ही अंतर्गत माना गया है। गोस्वामी तुलसीदासजी की गीति कला की विवेचना करते हुए यह कहा जा चुका है, कि गोस्वामीजी के पश्चात्

रीति काल और गीति काव्य

देश की राजनीतिक और सामाजिक स्थिति में परिवर्तन हुआ। गोस्वामी तुलसीदासजी के पश्चात् देश का जीवन-प्रवाह भक्ति के तट को छोड़ कर शृंगार की ओर मुड़ा, और कुछ ही दिनों में उसने शृंगार को ही अपना मुख्य केन्द्र बना लिया। देश के शृंगारिक जीवन की छाप साहित्य और काव्य पर भी पड़ी; परिणाम स्वरूप हिन्दी काव्य के अंतर्गत शृंगार की धारा प्रवाहित हो उठी। शृंगार की इसी धारा को रीति-प्रवाह कहते हैं। हिन्दी काव्य के अंतर्गत शृंगार की यह धारा दो-तीन सौ वर्षों तक बहती रही है। हिन्दी काव्य का यह समय शृंगारिक वर्णनों से परिपूर्ण है। इस काल में जितनी रचनाएँ हुई हैं, उनमें वर्णनों की ही प्रधानता है। इसका एक मात्र कारण यह है, कि इस काल में जितने कवि हुए हैं, उन सबका ध्येय कविता के द्वारा अर्थ प्राप्त करना था। इस काल के प्रायः सभी छोटे बड़े कवि राजाओं, रईसों, और दरबारों के आश्रय में रहे हैं। राजाओं, रईसों, और दरबारों का आश्रय ग्रहण करके, उनकी प्रशंसा में ही, उन्होंने अपनी काव्य शक्ति का उपयोग किया है; अतः इस युग की संपूर्ण रचनाओं में भावों और अनुभूतियों का अभाव तथा वर्णनों की प्रधानता पाई

आती है। भावों और अनुभूतियों की ओर कवियों का ध्यान न होने के कारण इस युग में भावात्मक काव्यों और गीति काव्यों की रचना नहीं के बराबर हुई है। इस युग में गीति काव्य की ओर किसी भी कवि का ध्यान नहीं दिखाई पड़ता। इस युग में जितने कवि हुए हैं, सबने वाह्य-जगत में वर्णनात्मक शैली की ही छाया में बैठ कर काव्य की आराधना की है।

रीति काल में गीति काव्य शैली का ह्रास अपनी पराकाष्ठा पर दिखाई पड़ता है। गीति काव्य की जो शैली भक्ति काल में अंकुरित और पल्लवित होकर लहलहा रही थी, वह रीति काल में शुष्क सी हो गई है। रीति काल में कुछ भक्त कवि अवश्य हुए हैं, जो गीति काव्य की इस शुष्क शैली की जड़ में पानी डालते हुए दिखाई देते हैं। इन भक्त कवियों में घनानन्द, नागरीदास, प्रतापसाहि, और जुगुलप्रिया इत्यादि का महत्व पूर्ण स्थान है। रीति काल के अन्त में भारतेन्दु हरिश्चन्द्रजी का आविर्भाव हुआ है, जिन्होंने भक्ति पूर्ण सरस गीतों की रचना की है। भारतेन्दुजी के पश्चात् कविरत्न सत्यनारायणजी ने भी, ब्रजभाषा में प्रेम और भक्ति पूर्ण पद रच कर सरस धारा प्रवाहित की है।

—:o:—

गीति काव्य—आधुनिक काल

आधुनिक काल के गीति-काव्य पर प्रकाश डालने के पूर्व हमें इस बात पर एक दृष्टि डाल लेनी होगी, कि आधुनिक काल के पहले गीति काव्य की क्या स्थिति थी ?

आधुनिक काल के पूर्व गीति काव्य

गीति काव्य का आधुनिक काल द्विवेदीजी के पश्चात् से प्रारम्भ होता है। उसके पहले के समय को हम भारतेन्दु काल मानते हैं। भारतेन्दु काल के पूर्व रीति काल था। रीति काल गीति काव्य की दृष्टि से अधिक निराशामय है। रीति काल में जहाँ शृंगारिक विषयों को लेकर विभिन्न रचनाएँ हुई हैं, वहाँ गीतात्मक रचनाओं का पूर्ण अभाव सा है। रीति काल एक ऐसा युग है, जिसमें हिन्दी का कवि भावनाओं और अनुभूतियों से पृथक हट कर, वर्णन प्रधान रचनाओं के निर्माण में ही संलग्न दिखाई पड़ता है। वर्णन प्रधान रचनाओं में संलग्न होने ही के कारण उसकी दृष्टि कभी भी गीतात्मक काव्यों की रचना की ओर नहीं गई। अतः रीति काल में गीतात्मक काव्यों का निर्माण नहीं हो सका। रीति काल की समाप्ति पर जब भारतेन्दु काल प्रारम्भ हुआ, और हिन्दी काव्य-जगत के भीतर एक नया आलोक फैला, तब गीति काव्य-क्षेत्र में भी पुनः सजीवता की लहर उत्पन्न हुई। भारतेन्दु हरिश्चन्द्रजी जिस प्रकार साहित्य के अन्यान्य क्षेत्रों में नवीनता को लेकर उत्पन्न हुए, उसी प्रकार उन्होंने गीति-काव्य के क्षेत्र में भी पुनः जीवन के पौदे लगाए। रीति काल में हिन्दी गीति काव्य का जो पौदा सूख गया था, वह भारतेन्दुजी के जीवन में पुनः लहलहाता हुआ दृष्टिगोचर होता है। रीति काल के पश्चात् भारतेन्दुजी ही एक ऐसे कवि दिखाई पड़ते हैं, जिनकी रचनाओं में गीति काव्य की पुष्ट शैली प्रगट हुई है। भारतेन्दुजी की गीतात्मक रचनाओं के विषय प्रेम, और भक्ति हैं। प्रेम और भक्ति की उनकी अनुभूतियाँ अधिक विह्वलकारी, और आनन्दमय हैं। भक्ति काल के पश्चात् ऐसी भावजनक अनुभूतियों का विकास गीति काव्य के क्षेत्र के भीतर बहुत समय के पश्चात् देखने को मिलता है। भारतेन्दुजी ने प्रेम और भक्ति पर सरस गीतात्मक रचनाएँ करके हिन्दी में पुनः गीति काव्य की धारा बहा दी। यद्यपि उनकी गीतात्मक रचनाओं की भाषा व्रज है, पर यही क्या कम महत्व की बात है, कि उन्होंने गीति काव्य की उस धारा को, जो रीति काल के रेगिस्तान में घुस कर लुप्त हो गई थी, खोज कर उसे आगे बढ़ाने का प्रयत्न किया है। यद्यपि भारतेन्दु के सहयोगियों से गीति काव्य के

प्रवाह को प्रोत्साहन प्राप्त नहीं हुआ, पर इसमें सन्देह नहीं, कि भारतेन्दु बाबू के द्वारा अग्रसर किया हुआ गीति काव्य का प्रवाह हिन्दी के क्षेत्र में आगे बढ़ता ही गया। भारतेन्दु बाबू के पश्चात् इस प्रवाह को गति प्रदान करने वालों में कविरत्न सत्यनारायणजी हैं। कविरत्न सत्य नारायण के गीतों की भाषा यद्यपि व्रज ही है, पर उनके विषयों में नवीनता है। उन्होंने अपने गीतों को भक्ति के साँचे में ढालने के साथ ही साथ देश के दुःखों के भी साँचे में ढाला है। उनके गीत भक्ति और देश के दुःखों के मार्मिक चित्र हैं।

हिन्दी गीति काव्य का आधुनिक काल द्विवेदी काल से प्रारम्भ होता है। द्विवेदी काल के प्रारंभ होने के साथ ही साथ हिन्दी काव्य पर एक नया प्रकाश पड़ा हुआ दिखाई देता है। यह प्रकाश अँगरेजी, और बँगला की रचनाओं का है। हिन्दी साहित्य के अन्यान्य क्षेत्रों की भाँति ही गीति काव्य के क्षेत्र में भी इस प्रकाश ने अपना प्रभाव डाला है, परिणाम स्वरूप द्विवेदी काल के पश्चात् से हिन्दी गीति काव्य का प्रवाह बदला हुआ दृष्टिगोचर होता है। द्विवेदी काल के पश्चात् हिन्दी में जिस गीति काव्य की रचना हुई है, भाव, भाषा और शैली—प्रत्येक दृष्टि से वह सर्वथा नवीन है।

आधुनिक काल के गीति काव्य की एक झलक

आधुनिक काल के पूर्व का गीति काव्य अधिकतर भक्ति, और प्रेम पर ही आधारित है। उसमें अधिकतर ऐसे ही भाव मिलते हैं, जिनका संबंध ईश्वरता और आध्यात्म से है। यद्यपि उसमें सूक्ष्म भावों और अनुभूतियों का विकास विभोरता की ही स्थिति में हुआ है; पर यह कहना पड़ेगा, कि आधुनिक काल के पूर्व का गीति कव्य जीवन के स्वर से अछूता है। जहाँ उसमें प्रेम और भक्ति के मनोरम चित्र हैं, जहाँ उसमें अक्षय आनन्द और सौंदर्य की भावनाएँ हैं, जहाँ उसमें कल्याण और शिवत्व की कामनाएँ हैं, जहाँ उसमें रहस्यवाद की मार्मिक अनुभूतियाँ हैं, वहाँ उसमें जीवन की स्थितियों, और उसके सुख-दुख के चित्रण का अभाव है। पर मार्मिक दृष्टि से उसका अधिक महत्व है, पर लौकिक दृष्टिकोण का उसमें अभाव है। भाषा और शैली का विकास भी मध्य काल के गीति-काव्यों में उतना नहीं मिलता, जितना आधुनिक काल के कवियों की भाषा और शैली में मिलता है। मध्य काल के कवियों में तुलसी और सूर को छोड़ कर सभी कवियों की भाषा और शैली बहुत ही साधारण कोटि की है। जिन कवियों के गीति-काव्यों में रहस्यवादी भावनाओं का विकास हुआ है, उनकी भाषा और शैली में भी व्यंजकता का अभाव है। उनके रहस्यवादी भाव इसमें संदेह नहीं, कि अधिक सूक्ष्म, और उच्चकोटि के हैं, पर उन भावों को प्रकट करने के लिए उन्होंने जिन साधनों, और प्रतीकों का आश्रय ग्रहण किया है, उनमें निर्बलता है। साधनों और प्रतीकों की भाँति ही उनकी कल्पनाओं में भी विविधता, और तीव्रता का अभाव है।

मध्य कालीन गीति काव्य में आध्यात्मिक भावों का विकास अपनी पराकाष्ठा पर

पहुँचा हुआ है। मध्यकाल के प्रायः सभी गीतिकारों ने आध्यात्मिक भावों से ही अपने पदों का अभिसार किया है। प्रेम, भक्ति, संयोग, वियोग, और वात्सल्य इत्यादि के चित्र भी उसमें अधिक मिलते हैं। लौकिक दृष्टिकोण का उसमें अभाव है। आधुनिक काल के गीति काव्य का क्षेत्र मध्यकालीन गीति काव्य से अधिक विस्तृत है। मध्यकालीन गीति काव्य में जहाँ आध्यात्मिक भावों की ही प्रधानता है, वहाँ आधुनिक गीति काव्य में जीवन के विभिन्न दृष्टिकोणों का भी विकास हो रहा है। एक ओर आध्यात्मिक भावों को आधार मानकर रहस्यवादी रचनाएँ हो रही हैं, दूसरी ओर जीवन के रहस्यों, हृदय के द्वन्द्वों और स्थितियों पर प्रकाश भी पड़ रहा है। कुछ ऐसे गीतिकार हैं, जो जीवन के भौतिक दुख-सुखों, अवस्थाओं, और स्थितियों को भी आधार मानकर गीति काव्य की रचना कर रहे हैं। आधुनिक काल के गीति काव्य में जहाँ विषय की विविधता है, वहाँ भाव, शैली, और भाषा में भी वह मध्य कालीन गीति काव्य से अपना पृथक दृष्टिकोण रखता है। मध्यकालीन गीति काव्य में जहाँ वर्णनों की प्रधानता थी, वहाँ आधुनिक काल का गीति काव्य भाव की ओर उन्मुख है। आधुनिक काल का भाव अंतर्जगत और हृदय के द्वन्द्वों से ही अपना सम्बन्ध रखता है।

मध्य कालीन गीति काव्य की भाँति आधुनिक काल के गीति काव्य में भी प्रेम, संयोग, वियोग, और सौन्दर्य के चित्रण की प्रधानता है। पर दोनों के दृष्टिकोण में अधिक अंतर है। मध्यकालीन प्रेम, संयोग, वियोग, और सौन्दर्य चित्रण में मंगल की भावना है। पर आधुनिक काल में प्रेम, सयोग, वियोग, और सौन्दर्य का चित्रण एकांतिक और व्यक्तिगत भावना के आधार पर हो रहा है। यद्यपि आधुनिक काल के चित्रण में व्यंजकता, और मनोवैज्ञानिकता के तत्त्व अधिक हैं, पर यह कहना पड़ेगा, कि आधुनिक काल के प्रेम, और सौंदर्य के चित्रण में शिवत्त्व की भावना का अभाव है। मध्य कालीन प्रेम, और सौन्दर्य के चित्रण में जहाँ मंगल, और कल्याण की कामना थी, वहाँ आधुनिक काल के प्रेम और सौंदर्य पर वासना का रंग है। मध्यकालीन प्रेम और सौन्दर्य का चित्रण सरलता, और स्वाभाविकता के अंचल में हुआ है, पर आधुनिक काल के प्रेम और सौन्दर्य के चित्रण में कलाकारिता है। साहित्यिक दृष्टि से आधुनिक काल का चित्रण महत्व पूर्ण अवश्य है, पर उसमें उस सरलता और स्वाभाविकता का अभाव है, जो मध्यकालीन गीति काव्य में मिलता है। आधुनिक काल के गीति काव्य में मध्यकालीन गीति काव्य की अपेक्षा भाव, भाषा, और शैली में व्यंजकता के तत्त्व अधिक पाये जाते हैं। आधुनिक काल की भाषा और शैली अधिक लाक्षणिक, अभिव्यंजक और सांकेतिक है। भाषा और शैली की लाक्षणिकता तथा अभिव्यंजकता ने आधुनिक काल के गीति काव्य में अधिक भावपरता और मनोरमता उत्पन्न कर दी है।

आधुनिक गीति काव्य का निर्माण कई यशस्वी कवियों और गीतिकारों के द्वारा हुआ, और हो रहा है। इन कवियों और गीतिकारों में श्रीधर पाठक, श्री मैथिलीशरण

आधुनिक गीतिकार — गुप्त, श्री जयशंकर प्रसाद, श्री सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला', श्री सुमित्रानन्दन पन्त, श्रीमती महादेवीवर्मा, श्री रामकुमार वर्मा, श्री भगवतीचरण वर्मा, श्री हरिवंशराय बच्चन, श्री नरेन्द्र शर्मा, श्री सोहनलाल द्विवेदी, श्री आरसी प्रसादसिंह, श्री सुधीन्द्र, श्री गोपालसिंह नैपाली, और श्री रामेश्वर शुक्ल 'अंचल' इत्यादि का महत्व पूर्ण स्थान है।

पं० श्रीधर पाठक का आविर्भाव उस समय हुआ था, जब आधुनिक काल की स्वर्ण रेखाएँ छिटक रही थीं। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, और कविरत्न सत्यनारायण के गीतों का शृंगार व्रजभाषा के ही द्वारा हुआ है। उनके गीतों के विषय भी प्राचीन ढंग के हैं, अर्थात् उनके गीत मध्य काल के गीतों की भाँति भक्ति, और ईश्वर-प्रेम पर ही आधारित हैं। भाव, भाषा, शैली और विषय-प्रत्येक दृष्टि से सर्व प्रथम पाठकजी के गीतों में ही परिवर्तन दृष्टिगोचर होता है। गीति काव्य का जिसे आधुनिक काल कहते हैं, उसकी अभिव्यक्ति सर्व प्रथम पाठकजी के ही गीतों में हुई है।

पाठकजी के गीतों को हम तीन श्रेणियों में विभक्त कर सकते हैं—देश प्रेम सम्बन्धी गीत, भ्रमर गीत, और स्वतन्त्र गीत। देश प्रेम सम्बन्धी गीतों में राष्ट्र और मातृभूमि की अभ्यर्थना तन्मयता के साथ हुई है। उनके इस प्रकार के गीतों में भाव और संगीत का सामंजस्य कुशलता के साथ हुआ है, जिससे उनके गीतों का अधिक प्रचार है। इनके कुछ गीत इतने भावमय और राष्ट्रीय भावों से परिपूर्ण हैं, कि उनका प्रचार विद्यालयों तक में है। 'भ्रमर गीत' यद्यपि व्रजभाषा में है, पर उसमें भी देश प्रेम और भक्ति की ही प्रधानता है। भ्रमर गीत में पाठकजी ने अन्योक्ति के द्वारा देश-प्रेम और भक्ति की शिक्षा प्रभाव पूर्ण ढंग से दी है। स्वतन्त्र गीतों की संख्या यद्यपि बहुत कम है, पर जो हैं, उनमें उच्चकोटि के भावों का उन्मेष है। "स्वतन्त्र गीतों" में पाठकजी ने भावों की विस्तृत मंजिलें पार की हैं। उनमें उनकी अनुभूति किसी दिव्य सौंदर्य का रसास्वादन करती हुई जान पड़ती है। उनमें जहाँ भावों की दिव्यता है, वहाँ संगीत के स्वर, ताल, और लय का संयोग कुशलता के साथ स्थापित हुआ है। भाव और संगीत के संयोग से बने हुए उनके गीत हृदय में स्वच्छन्द भावों की सृष्टि करते हैं। यही कारण है, कि उन्हें बहुत से लोग स्वच्छंद वाद का प्रवर्तक मानते हैं।

श्री मैथिलीशरण गुप्त ने दृढ़ हाथों से आधुनिक काल के गीति काव्य की नींव स्थापित की है। आधुनिक काल का गीति काव्य अपनी जिन विशिष्टताओं के लिए प्रसिद्ध है, उनकी झलक सर्व प्रथम गुप्तजी के गीति काव्य में मिलती है। गुप्तजी सर्वथा स्वतन्त्र, और मौलिक गीतिकार हैं। उनके पूर्व हिन्दी का जो गीति काव्य था, भाव, भाषा, और शैली के क्षेत्र में उसकी कोई निश्चित रूप रेखा नहीं थी। गुप्तजी ने अपने गीति काव्य के लिए विषय, भाव, भाषा, और शैली के क्षेत्र में स्वयं ही पथ का निर्माण किया है। पथ निर्माण करने में उन्होंने जो

साधना की है, उसका फल उनकी रचनाओं में सफलता के रूप में फूट उठा है।

गुप्तजी के गीति काव्य में कई भावों का संगम हुआ है। एक ओर उसमें देश प्रेम और समाज सेवा है, दूसरी ओर उसमें भारतीय संस्कृति, और राष्ट्र के लिए जागरण का संदेश है। एक ओर उसमें देश प्रेम के अनुपम चित्र हैं, दूसरी ओर उसमें त्याग और उत्सर्ग की कामनाएँ हैं। एक ओर उसमें मानवता के परमोज्वल भाव-चित्र हैं, और दूसरी ओर उसमें आध्यात्म और रहस्यवादी भावनाओं की कांति है। प्रेम, विरह, और संयोग के चित्र भी उसमें मिलते हैं। आशा, निराशा, हर्ष, विषाद और उत्थान पतन का आंदोलन भी उसमें देखने को मिलता है। इस प्रकार यह कहा जा सकता है, कि गुप्तजी के गीति काव्य की रचना विस्तृत पृष्ठभूमि पर हुई है। यह भी कहा जा सकता है, कि आधुनिक गीति काव्य के प्रवर्तक गुप्तजी ही हैं। क्योंकि आधुनिक काल के गीति-काव्य की विशिष्टताओं का जन्म सर्व प्रथम इन्हीं की रचनाओं में हुआ है।

गुप्तजी प्रथम गीतिकार हैं, जिन्होंने हृदय-पयोधि का मन्थन किया है। वे हृदय-पयोधि का मन्थन करके उसके भीतर से अनुपम भाव-रत्न निकाल कर बाहर उपस्थित करने में समर्थ हो सके हैं। भावों को उपस्थित करने में उन्होंने जिस भाषा और शैली का आश्रय ग्रहण किया है, उसकी वृत्ति अन्तर्मुखी है। गुप्तजी की भाषा और शैली अपने भीतर भावों की सृष्टि करती हुई दिखाई देती है। जिस प्रकार वह अपने भीतर भावों की सृष्टि करती है, उसी प्रकार वह अभिव्यंजिका भी है। उनकी भाषा और शैली भावों की सृष्टि करके उसके रहस्य-चित्रों को बड़ी कुशलता के साथ सामने स्पष्ट करती है। सरलता और स्पष्टता उनके गीति की विशेषताएँ हैं। सरलता और स्पष्टता के अंचल में उनके सूक्ष्म भावों, और अनुभूतियों का उन्मेष हृदय में भावों का स्पन्दन करता है। स्वर, ताल, और लय से युक्त उनकी मधुर गीत कला बरबस प्राणों को अपने बन्धनों में बाँध लेती है। गुप्तजी प्रथम कलाकार हैं, जिनकी गीति-कला में इस प्रकार का सशक्त बल दिखाई पड़ता है।

गुप्तजी के गीतों को हम दो श्रेणियों में विभक्त कर सकते हैं—आधुनिक शैली के गीत, और परम्परागत शैली के गीत। आधुनिक शैली के गीत भी दो प्रकार के हैं। आधुनिक शैली के एक प्रकार के उनके वे गीत हैं, जिनकी रचना उन्होंने राष्ट्र प्रेम, और मातृभूमि प्रेम को आधार मान कर की है। आधुनिक शैली के उनके दूसरे प्रकार के गीतों में आध्यात्मिक भावों का उन्मेष हुआ है। 'झंकार' में उनके इसी कोटि के गीत संगृहीत हैं। 'झंकार' के गीत यद्यपि उनके प्रारंभिक जीवन के गीत हैं, पर उनमें भावों का उन्मेष बड़ी गम्भीरता से हुआ है। इन गीतों के भीतर से गुप्तजी का स्वर्णिम भविष्य बड़ी सुन्दरता और प्रगल्भता के साथ झाँकता हुआ दिखाई पड़ता है। यही इन गीतों की सबसे बड़ी विशेषता है। गुप्तजी की दूसरी शैली के गीत में तुलसी और सूरदास की परंपरा दिखाई पड़ती है। इस प्रकार के

उनके गीत 'साकेत' और 'यशोधरा' में मिलते हैं। साकेत की 'उर्मिला', और 'यशोधरा' सूरदासजी के गोपियों के चित्र को सामने प्रस्तुत करती है। 'उर्मिला' और 'यशोधरा' के वियोग की पीड़ा मीरा की स्मृति की लहरें भी हृदय में उठाती है। पर सूरदास की गोपियों के विरह में भावों की जो अनन्तता, और विशालता थी, उसका 'उर्मिला', और 'यशोधरा' की पीड़ा में अभाव है। मीरा की सी उत्कट विरह साधना भी उनमें नहीं है। पर फिर भी यह तो मानना ही पड़ेगा, कि गुप्तजी ने सूरदास, तुलसी और मीरा के चरण चिह्नों पर चल कर अपने गीति-काव्य में उन्हीं के जैसे चित्र उपस्थित किए हैं।

गुप्तजी के गीतों की दोनों ही शैलियाँ अधिक आकर्षक, और हृदय स्पर्शिनी हैं। उनकी दोनों ही शैलियों के गीतों में भाव, और संगीत एक में मिलकर मुखरित हो उठा है।

श्री जयशङ्कर प्रसाद हिन्दी काव्य के ऐसे कलाकार थे, जिनके द्वारा हिन्दी गीति काव्य के शरीर में जीवन का संचार तो हुआ ही है, उसका सुन्दरता के साथ अभिसार भी हुआ है। गुप्तजी ने जिस हिन्दी गीति-काव्य का ढाँचा तैयार किया था, उसमें प्राण, स्फूर्ति, और जीवन प्रसादजी के द्वारा ही संचरित हुआ है। प्रसादजी में अपूर्व काव्य प्रतिभा थी। उनकी प्रतिभा का क्षेत्र अधिक विस्तृत था। उनके हृदय में जो कवि निवास करता था, वह साहित्य के भीतर सभी क्षेत्रों में सृजन की क्षमता रखता था। उसमें काव्य के तत्त्व प्रचुर परिमाण में तो थे ही, नाटक, उपन्यास, गीति, और कहानी के तत्त्व भी अधिक संख्या में थे; दूसरे शब्दों में उसमें सृजन की व्यापक शक्ति थी। उसने सभी क्षेत्रों में अपनी शक्ति की व्यापकता का परिचय दिया है। उसने साहित्य के विभिन्न क्षेत्रों में अपनी क्षमता शालिनी प्रतिभा के चित्र उपस्थित किए हैं, पर उसके सभी चित्रों पर उसके कवि तत्वों की छाप है। इसका अर्थ यह है, कि प्रसादजी के हृदय में जो कवि था, उसमें उपन्यास कहानी और नाटक की अपेक्षा काव्य के तत्व अधिक थे। प्रसादजी ने काव्य के क्षेत्र में प्रशंसनीय कीर्ति अर्जित की है। उन्होंने 'कामायनी' और 'आँसू' ऐसे भाव पूर्ण सुन्दर काव्य ग्रन्थों की रचना करके अपने को अमर बना लिया है।

प्रसादजी वास्तविक कवि थे। उनके पास मस्तिष्क और हृदय-दोनों की शक्तियाँ थीं। वे गम्भीर अध्ययनशील भी थे, और अत्यधिक भावुक भी। उनके भीतर ऐसी भी शक्तियाँ थीं, जो चिन्तन करती थीं, और ऐसी भी शक्तियाँ थीं, जो भावों का अनुभव बड़ी तीव्रता के साथ करती थीं। इस प्रकार हम यह कह सकते हैं, कि उनकी काव्य-प्रतिभा एक ऐसी प्रतिभा थी, जो उच्चत काव्य का सृजन करने वाले सभी उपकरणों से युक्त थी। काव्य के क्षेत्र में प्रसादजी ने भावों की ही हाट लगाई है। यद्यपि वे कहीं कहीं चिन्तक के रूप में भी दृष्टिगोचर होते हैं, पर उनकी रचनाओं में हृदय के तत्त्वों की प्रधानता है। उनकी प्रतिभा और दृष्टि में संवेदन शीलता, और तीव्रता है। अपनी संवेदन शीलता के कारण उनकी कवि प्रतिभा दुःख, सुख, हर्ष, विषाद,

और आशा निराशा के चित्रों को सहानुभूति और करुणा की ही छाया में ग्रहण करती है। इन भावों का चित्रण भी उसने बड़ी सहृदयता के साथ किया है। उनकी कवि प्रतिभा तीव्रता के साथ अन्तर्जगत के निगूढ़ स्थानों में भी प्रवेश करती है, और सूक्ष्म से सूक्ष्म भावों को ग्रहण करके उनका चित्र उपस्थित करने में समर्थ होती है।

प्रसादजी भाव जगत के कवि हैं। उनका भाव जगत सौंदर्य के व्यापारों से पूर्ण है। भाव और सौंदर्य के कुशल शिल्पी होने के कारण उन्होंने काव्य के क्षेत्र में गीति काव्य के अनुपम चित्र उपस्थित किए हैं। उनके गीत दो श्रेणियों में विभक्त किए जा सकते हैं—एक प्रकार के उनके गीत वे हैं, जो उनके नाटकों में पाए जाते हैं और दूसरे प्रकार के गीत उनके काव्य ग्रन्थों में मिलते हैं। उन्होंने पृथक स्वतन्त्र गीतों की भी रचना की है। उनके नाटकों में जो गीत मिलते हैं, उनमें मानव हृदय के द्वन्द्वों और संघर्षों का विकास सुन्दरता के साथ हुआ है। इन गीतों से पता चलता है, कि प्रसादजी मानव हृदय के द्वन्द्वों से भली भाँति परिचित थे। उन्होंने अपने नाटकों के गीतों में मानव हृदय के रहस्यों का अध्ययन बड़ी तीव्रता के साथ किया है। उनके दूसरे प्रकार के गीत जो उनके काव्य ग्रन्थों में मिलते हैं, अधिक अनुभूतिमय हैं। प्रेम, विरह, और प्रकृति की भावमय अनुभूति के चित्र इन गीतों में सजीव से हो उठे हैं। इन गीतों में प्रसादजी की अनुभूतियों ने विभिन्न रूप-धारण किए हैं। कहीं तो उनकी अनुभूतियाँ प्रकृति के आँगन में अभिनय करती हुई दिखाई देती हैं, और कहीं मानवीय व्यापारों के साथ क्रीड़ा करती हैं। कहीं मानवीय सौंदर्य का व्यापार करती हैं, तो कहीं सूक्ष्म जगत के नित्य नवीन और शाश्वत सौंदर्य की हाट लगाती है। इस प्रकार प्रसादजी की अनुभूतियों में विविधता और विशदता है।

प्रसादजी के गीतों में जहाँ भावों का सौन्दर्य तथा माधुर्य है, वहाँ उनमें संगीत के तत्त्व भी प्रचुर परिमाण में मिलते हैं। भावनावादी होने के कारण प्रसादजी स्वयं भी संगीत के अनन्य प्रेमी थे। उन्होंने अपने गीतों में अपने संगीत प्रेम को ढालने का सफलता पूर्वक प्रयत्न किया है। उनके गीतों के प्रत्येक पद और प्रत्येक शब्द में संगीत के तत्व विद्यमान हैं। उन्होंने अपने गीतों के शब्दों और पदों का संयोजन इस प्रकार किया है, जिससे उनकी संगीत कला की मर्मज्ञता साफ-साफ टपकती है। भाव और संगीत के अनुपम सौंदर्य ने उनके गीतों में जागृत होकर उन्हें अधिक आकर्षक और प्राणवान बना दिया है।

श्री सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' हिन्दी काव्य-जगत के एक उच्चकोटि के कलाकार हैं। उनमें उद्भट प्रतिभा है। उनकी प्रतिभा एक ऐसी प्रतिभा है, जो अपने आप में ही पूर्ण है। वह विश्व की प्रतिभा को देख करके भी अपनी ही ओर देखती है। उसने अपने लिए स्वयं मार्ग बनाया है। वह अपने मार्ग पर अपनी ही गति से चलती है। उसकी गति में चेतना, ज्ञान, और तीव्रता है। वह सबको मान

करके भी किसी को स्वीकार नहीं करती। भाव, विषय, भाषा, और शैली—किसी भी क्षेत्र में उसने उन विधियों और परम्पराओं को मान्यता प्रदान नहीं की है, जो हिन्दी काव्य-जगत में उसके पूर्व प्रचलित थीं; इसके विपरीत 'निरालाजी की प्रतिभा ने सभी विधियों और परम्पराओं को तोड़ कर अपने लिए स्वतन्त्र मार्ग का निर्माण किया है। यही कारण है, कि लोग निरालाजी को विद्रोही कलाकार कहते हैं।

निरालाजी वस्तुतः एक विद्रोही कलाकार हैं। उन्होंने भाव, शैली, छंद, और तुक सभी क्षेत्रों में विद्रोह की गर्जना की है। हिन्दी काव्य-जगत में कविता की अब तक जो विधियाँ प्रचलित थीं, निरालाजी ने सब पर प्रहार किया है। निरालाजी की शैली, और उनके छंद नए छन्द हैं। उनके छन्दों का पिंगल शास्त्र में कहीं पता नहीं लगता। पिंगल शास्त्र के सम्पूर्ण नियमों की अवहेलना करके उन्होंने काव्य-रचना की है। किन्तु उनके काव्य में प्रवाह, और संगीतात्मकता है। पिंगल शास्त्र के नियमों की उपेक्षा करने पर भी उन्होंने अपनी काव्य रचना में शब्दों का स्थापन इस प्रकार किया है, कि उनकी रचनाओं में संगीतात्मकता उत्पन्न हो गई है। प्रवाहमयता निरालाजी की रचनाओं की सबसे बड़ी विशेषता है।

निरालाजी की रचनाओं को हम पाँच वर्गों में विभाजित कर सकते हैं—दार्शनिक रचनाएँ, गीतात्मक रचनाएँ, अलंकारिक रचनाएँ, प्रगतिशील रचनाएँ, और व्यंग्य तथा हास्य संबंधी रचनाएँ। 'निरालाजी' की दार्शनिक रचनाएँ 'परिमल' में संगृहीत हैं। इस कोटि की रचनाओं में उन्होंने अद्वैतवाद को आधार मानकर 'आत्मा' और 'माया' के स्वरूप पर विचार प्रगट किया है। उन्होंने आत्मा की चरम सत्ता को सिद्ध करते हुए माया की असत्यता को प्रमाणित किया है। उनकी इस कोटि की रचनाओं में हृदय के तत्वों की अपेक्षा मस्तिष्क के तत्व अधिक पाए जाते हैं। कहीं-कहीं आत्मा, और माया सम्बन्धी निगूढ़ विचारों की इतनी अधिकता हो गई है, कि वे आपस में उलझ गए हैं, जिससे रचना में दुरूहता और भाव अगम्यता उत्पन्न हो गई है। निरालाजी की दूसरी कोटि की रचनाएँ वे हैं, जिन्हें हम गीत कहते हैं। उनकी इस कोटि की रचनाएँ परिमल, और 'गीतिका' में संगृहीत हैं। निरालाजी सौन्दर्योपासक कवि हैं। अतः उन्होंने अपने गीतों की रचना प्रेम और करुणा के आधार पर की है। देश और प्रकृति के मनोरम चित्र भी उनके गीतों में मिलते हैं। उन्होंने अपने गीतों में जीवन की शृंगारिक भावना के नग्न चित्र खींचे हैं। किन्तु यह नहीं कहा जा सकता, कि उनमें अश्लीलता है। निरालाजी ने जहाँ शृंगार की भावना से उद्प्रेरित होकर सौन्दर्य के नग्न चित्रों का अंकन किया है, वहाँ भी उनकी रचनाओं में संयम का प्रकाश ही दिखाई पड़ता है। निरालाजी की तीसरी प्रकार की रचनाएँ वे हैं, जिनमें अलंकारिक शैली है। जैसे—तुलसीदास, और 'राम की शक्ति पूजा' इत्यादि। इन रचनाओं में मनोवैज्ञानिक संघर्षों और अंतर्द्वन्दों के साथ ही साथ आध्यात्मिक कल्पनाओं का विकास सुन्दरता के साथ हुआ है। ओजस्विता, और प्रवाहमयता इन रचनाओं की

विशेषता है। चतुर्थ प्रकार की निरालाजी की रचनाएँ प्रगतिशील रचनाएँ हैं। इन रचनाओं में उन्होंने किसानों, श्रमिकों, और स्त्रियों के जीवन पर नए ढंग से विचार किया है। हास्य और व्यंग्य पूर्ण रचनाओं में उन्होंने सामाजिक रीतियों और परम्पराओं पर तीव्र व्यंग्य किया है।

कवि होने के साथ ही साथ निरालाजी गीतिकार भी है। निरालाजी स्वयं संगीत कला के प्रेमी है। संगीत कला के ऊपर वे अपना आधिपत्य भी रखते हैं। यों तो उन्होंने स्वतन्त्र रूप से गीतों की रचना की है, पर उनके सम्पूर्ण काव्यों में संगीत कला समाई हुई है। उन्होंने अपने काव्यों की भाषा में शब्दों का स्थापन, और संगठन इस प्रकार किया है, कि उनकी भाषा में संगीत के तत्व उत्पन्न हो गए हैं। उन्होंने अपनी रचनाओं में छन्दों और तुकों को महत्व न देकर संगीत के तत्वों को ही अधिक महत्व दिया है। उनकी प्रत्येक प्रकार की रचना में भावों, और संगीत के तत्वों का संयोग बड़ी कुशलता के साथ स्थापित हुआ है। उनके गीतों में तो संगीत कला मूर्तिमान हो उठी है। उनके 'गीत' गीति-काव्य के उत्कृष्ट चित्र हैं। एक ओर उनमें जहाँ भावों की विकचता और प्रवणता है, दूसरी ओर उनमें स्वरों की साधना भी है। भावों की विकचता और प्रवणता ने स्वरों की साधना से मिल कर उनके गीति काव्य के भीतर अमृत की निर्झरिणी सी बहा दी है। 'निरालाजी' के गीतों की सबसे बड़ी विशेषता यही है, कि उनमें भावों के साथ ही साथ संगीत की मर्यादा का उचित रूप में स्थापन हुआ है।

श्री सुमित्रानन्दन पन्त हिन्दी काव्य जगत के उच्चकोटि के कवि और गीतिकार है। हिन्दी कविता के नवीन युग के अभिसार में पन्तजी की रचनाओं से अधिक योग प्राप्त हुआ है। प्रसादजी ने हिन्दी नवीन कविता की जो नींव डाली थी, उसे सुदृढ़ बनाने में पन्तजी ने अधिक तन्मयता के साथ साधना की है। पन्तजी की साधना प्रत्येक दृष्टि से अधिक महत्वपूर्ण है। विषय, भाव, भाषा, शैली और कल्पना प्रत्येक क्षेत्र में उन्होंने एक ऐसी कला से काम लिया है, जिसे हम एक वास्तविक कवि की कला कह सकते हैं। पन्तजी की कला का दृष्टिकोण अधिक विस्तृत, और व्यापक है। वह देश, संस्कृति, और परम्पराओं की सीमा से बाहर निकलकर मुक्त रूप से भावों के साथ खेलती है, और मनुष्य मात्र के लिए—संपूर्ण विश्व के लिए सृष्टि करती है। उनकी कला के द्वारा जो सृष्टि हुई है, उसमें सौंदर्य के साथ ही साथ सुकुमारता और कोमलता के प्रचुर तत्त्व हैं। सुकुमारता और कोमलता उनकी सृष्टि की विशेषताएँ हैं।

पन्तजी की काव्य कला का विकास शनैः शनैः हुआ है। यही कारण है, कि उनकी गति में स्थिरता, और गम्भीरता है। उनकी काव्य-कला के विकास-क्रम को देखने के लिए हमें उनकी रचनाओं पर दृष्टि डालनी होगी। पन्तजी की रचनाओं के अब तक जो संग्रह प्रकाशित हुए हैं, उनके नाम इस प्रकार हैं—'वीणा', ग्रन्थि, पल्लव, गुंजन, युगांत, युगवाणी, और ग्राम्या। 'वीणा' में पन्तजी की प्रारंभिक कवि-

ताएँ संगृहीत हैं। उनमें प्रेम, सौंदर्य, और प्रकृति के चित्रों की प्रधानता है। इसका तात्पर्य यह है, कि पन्तजी का कवि जीवन प्रकृति-सौंदर्य, और प्रेम को लेकर प्रारंभ होता है। प्रारंभ में उन्हें प्रकृति के सौंदर्य चित्रों से ही अनुभूति प्राप्त हुई है। 'ग्रन्थि' उनका दूसरा संग्रह है। 'ग्रन्थि' में पन्तजी प्रकृति के आँगन से निकल कर प्रेम, और विषाद के आँगन में परिभ्रमण करते हुए दृष्टिगोचर होते हैं। 'पल्लव' में उनकी कला का प्रौढ़, और सुव्यवस्थित स्वरूप प्रगट हुआ है। पल्लव में उनकी कला भाव, भाषा, और शैली की दृष्टि से अधिक अन्तर्मुखी हो गई है। 'पल्लव' में भावों और अनुभूतियों का सुहास स्थान-स्थान पर देखने को मिलता है। प्रेम और सौंदर्य सम्बन्धी उनकी पल्लव की अनुभूतियाँ मार्मिक भावों से लसी हुई हैं। 'गुंजन' में पन्तजी की काव्य कला में परिवर्तन प्रारम्भ होता है। यद्यपि गुंजन में भी प्रेम और सौंदर्य की अनुभूतियों की प्रौढ़ता प्राप्त होती है; पर इसमें पन्तजी की काव्य-कला 'भाव' की अपेक्षा, कहीं अधिक चिन्तन की ओर उन्मुख दिखाई पड़ती है। युगांत, युगवाणी, और ग्राम्या में वह जीवन के धरातल पर उतर कर पूर्ण रूप से चिंतक बन गई है। युगांत, युगवाणी, और ग्राम्या में पन्तजी की जो रचनाएँ संगृहीत हैं, उनमें भावों के सौंदर्य का अभाव, और चिंतन शक्ति का विकास है। इन रचनाओं में पन्तजी हृदय के तन्त्रों को न टाल कर मस्तिष्क की शक्तियों की छाया में सोच-विचार करते हुए दिखाई पड़ते हैं।

पन्तजी की सम्पूर्ण रचनाओं को हम छः वर्गों में विभक्त कर सकते हैं—सौंदर्य की अनुभूति से सम्बन्ध रखने वाली रचनाएँ, प्रेम की अनुभूति से सम्बन्ध रखने वाली रचनाएँ, रहस्य की अनुभूति से सम्बन्ध रखने वाली रचनाएँ, जीवन दर्शन से सम्बन्ध रखने वाली रचनाएँ, सामाजिक आदर्शों से सम्बन्ध रखने वाली रचनाएँ, और ग्राम्य जीवन से सम्बन्ध रखने वाली रचनाएँ। पन्तजी की प्रथम वर्ग की रचनाओं में प्रकृति के मनोरम चित्रों का चित्रण हुआ है। उनकी इस वर्ग की रचनाएँ प्रकृति के सौंदर्य-चित्रों पर आधारित हैं। इन रचनाओं में उनकी प्रकृति की ओर अधिक आस्था दिखाई देती है। प्रकृति के सौंदर्य से उन्होंने जो अनुभूति प्राप्त की है, उसमें उल्लास, उमंग, और स्फूर्ति है। पन्तजी की दूसरी प्रकार की रचनाएँ प्रेम की अनुभूतियों से उल्लसित हैं। उनकी प्रेम की अनुभूतियों में वास्तविकता, और तन्मयता है। उनका प्रेम एक तरुण हृदय का प्रेम है। उसमें रूढ़ियों के प्रति विद्रोह, और परंपराओं के प्रति अमान्यता है। उनकी प्रेमानुभूतियाँ रूढ़ियों, और परंपराओं पर प्रहार करती हुई स्वच्छन्दता से जीवन की ओर अग्रसर होती हैं। उन्होंने अपनी प्रेमानुभूतियों को सुकुमारता, और कोमलता के धागे में पिरोकर ही सामने प्रस्तुत किया है। सुकोमल भावनाओं से पूर्ण उनकी प्रेमानुभूतियाँ हृदय में वास्तविक प्रेम का संचार करती हैं। पन्तजी की तृतीय कोटि की रचनाओं में रहस्य वादी भावनाओं का विकास हुआ है। उनका रहस्यवाद जगत के नाना रूपों, और व्यापारों के बीच में छिपी हुई अज्ञात चेतना और सत्ता के ऊपर आधारित है।

जगत के नाना रूपों और व्यापारों में छिपी हुई अज्ञात सत्ता को देख कर उनके मन के भीतर जिज्ञासा उत्पन्न हो रही है। उनकी 'रहस्यवादी' रचनाओं में उनके मन की यही जिज्ञासा प्रगट हुई है। उनके 'रहस्यवाद' में भक्ति की अर्चना भी है। उन्होंने संपूर्ण जगत, और प्रकृति में एक अक्षय सौंदर्य का दर्शन किया है। उनकी दृष्टि में यह अक्षय सौन्दर्य नारी का विस्तृत और सुकुमार स्वरूप है। उन्होंने नारी के इस विस्तृत स्वरूप की उपासना विभिन्न रूपों में की है। कहीं उन्होंने 'माँ' के रूप में उसकी अभ्यर्थना की है, तो कहीं 'प्रियतम' के रूप में। कहीं वे स्वयं उस नारी के रूप को अपने भीतर लाकर, उसमें समाविष्ट हो जाने का प्रयत्न करते हैं। 'पन्तजी' की चतुर्थ कोटि की रचनाओं में जीवन के गीत हैं। इन रचनाओं में वे एक चिंतक के रूप में सामने उपस्थित होते हैं, और जगत की स्थितियों पर विचार करते हैं। इन रचनाओं में उनकी कल्पना कर्म के विस्तृत क्षेत्र में प्रवेश करती है, और उसके परिणाम स्वरूप दुख, सुख, हर्ष, विषाद और उत्थान पतन के चित्रों का अंकन करती है। 'पन्तजी' की पाँचवीं वर्ग की रचनाओं में जीवन और समाज को उन्नत उठाने वाले 'आत्म विश्वास' और स्वालंबन संबंधी भावों का विकास हुआ है। इन रचनाओं में पन्तजी ने मानव समाज के संमुख उसके विकास और उन्नति के लिए उन्नत आदर्श उपस्थित किए हैं। आदर्श उपस्थित करने में उन्होंने युग की आकांक्षाओं का पूर्ण रूप से ध्यान रक्खा है। 'पन्तजी' की छठीं वर्ग की रचनाओं में ग्राम्य के स्वाभाविक चित्र मिलते हैं। इन रचनाओं में 'पंतजी' ग्राम्य के सौंदर्य, और उनके निवासियों की सरलता, और निष्कपटता पर विमुग्ध दिखाई पड़ते हैं।

पन्तजी के काव्य और गीतों में सादृश्य है। उनकी कविताओं का सृजन जिन भावों के आधार पर हुआ है, उनके गीत भी उन्हीं की छाया में बने हुए हैं। पन्तजी के गीतों में कहीं प्रकृति के सौन्दर्य का चित्र है, तो कहीं प्रेम की अनुभूतियाँ। कहीं रहस्यवादी भावनाएँ हैं, तो कहीं जीवन की दार्शनिक विवेचना। कहीं जीवन को ऊँचा उठाने वाले उन्नत आदर्श हैं, तो कहीं ग्राम के चित्र। 'पन्तजी' के संपूर्ण गीत भावों की तरंगों के साथ खेलते हैं। उनके गीतों की अनुभूतियाँ और कल्पनाएँ स्थान स्थान पर भावों के अनुपम चित्र बनाती हैं। उनकी कल्पनाओं में कोमलता और सुकुमारता है। उनकी सुकुमार और कोमल कल्पनाएँ भावों के गगन पर बड़ी उन्मद गति से विहार करती हैं। उनके गीतों में जहाँ भावों की सुकुमारता है, वहाँ संगीत की कमनीयता भी है। उन्होंने अपने 'गीतों' की भाषा में शब्दों का स्थापन और संघटन बड़ी सुचारुता और मर्मज्ञता के साथ किया है। इससे उनकी भाषा में सुकुमारता तो टपक ही पड़ी है; साथ ही उसमें संगीत के तत्व भी छिटक पड़े हैं। 'मौन निमन्त्रण' पन्तजी का अमर गीत है। उनके गीतों में सर्वाधिक 'मौन निमन्त्रण' में 'भाव और संगीत' का योग स्थापित हुआ है।

श्रीमती महादेवी वर्मा हिन्दी के आधुनिक काव्य-जगत में अपना महत्व पूर्ण

स्थान रखती हैं। उन्होंने हिन्दी काव्य और गीति काव्य की छाया में बैठकर जो साधना की है, वह अमूल्य है। उन्होंने अपनी प्रेम पूर्ण साधना से हिन्दी जगत को जो निधियाँ प्रदान की हैं, उनमें ज्योति है, प्रकाश है। उनकी दी हुई निधियों से हिन्दी-जगत चिर दिनों तक आलोकित रहेगा।

श्रीमती महादेवी वर्मा का काव्य और गीति-काव्य एक ही में घुला-मिला है। उन्होंने जिन विषयों को लेकर अपने काव्य का निर्माण किया है, वही विषय उनके गीति काव्य के भी हैं। अतः उनके गीति काव्य को समझने के लिए उनकी काव्य-कला पर ध्यान देना आवश्यक है। उनकी रचनाओं के अब तक पाँच संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं—नीहार, रश्मि, नीरजा, सांध्य गीत, और दीप शिखा। श्रीमती महादेवी वर्मा की रचनाओं में रहस्यवाद का विकास पूर्ण रूप में हुआ है। वे आदि से लेकर अन्त तक रहस्यवादिनी हैं। उनकी दृष्टि आदि से लेकर अन्त तक, एक अदृश्य सत्ता, और एक अदृश्य शक्ति की ओर लगी हुई है। उनके काव्यों में वही अमिट सत्ता, और वही अविनश्वर शक्ति उनका प्रियतम है। 'नीहार' में प्रथम बार उनकी दृष्टि उस सत्ता की ओर आकृष्ट हुई है, जो इस त्रिगुणात्मक जगत में समाविष्ट है। 'नीहार' की रचनाओं में उन्होंने उसका अनुभव किया है, और उसके वियोग की टीस उनके मन की भीतर उत्पन्न हुई है। इस जगत में 'परमात्मा' के अतिरिक्त और भी बहुत कुछ है। यह 'बहुत कुछ' नश्वर है—मायात्मक है। जीव और परमात्मा के बीच जो यह 'बहुत कुछ' है, वही जीव को परमात्मा से मिलने में बाधा उत्पन्न करता है। जीव के भीतर जब ज्ञान उत्पन्न हो जाता है, तब इस 'बहुत कुछ' के प्रति वह उदास हो जाता है। इसी का नाम वैराग्य है। 'रश्मि' में यही वैराग्य रचना के रूप में प्रगट हुआ है। 'रश्मि' में संसार के प्रति उदासीनता और परमात्मा के प्रति आत्मा की 'परता' दिखाई देती है। 'नीरजा' में परमात्मा के प्रति आत्मा का प्रेम भाव दृढ़ हो गया है, और वह ज्ञान के क्षेत्र से निकल कर भक्ति, और आसक्ति के क्षेत्र में आ गया है। 'नीरजा' में आत्मा परमात्मा को अपनी घनिष्ठता का अनुभव करने लगी है। वः उससे 'प्रियतमा' के रूप में अपना सम्बन्ध भी स्थापित करने लगी है। 'सांध्य गीत' में उसका प्रेम दृढ़ हो गया है। उसके प्रेम की दृढ़ता का प्रमाण उसका विरह और उसकी वेदना है। 'नीहार' और 'रश्मि' में श्रीमती महादेवी वर्माजी की रचनाओं में अदृश्य सत्ता के प्रति जो वेदना उत्पन्न हुई थी, वह सांध्य गीत में पराकाष्ठा को पहुँच गई है, और पराकाष्ठा को पहुँच कर उसने 'आत्मानन्द' का रूप धारण कर लिया है। सांध्य गीत की रचनाओं में विरह और वेदना के भीतर से एक उल्लास, और एक आनन्द सा झाँकता हुआ दिखाई देता है। सांध्य गीत की रचनाओं में, ऐसा ज्ञात होता है, मानों कवियित्री ने अपने उस लक्ष्य को प्राप्त कर लिया है, जिसके लिए अब तक उसके मन के भीतर विकलता थी।

श्रीमती महादेवी वर्मा की रचनाओं को हम तीन श्रेणियों में विभक्त कर सकते

हैं—रहस्यवादी रचनाएँ, वेदना भाव मूलक रचनाएँ, और प्रकृति भाव मूलक रचनाएँ। उनकी रहस्यवादी रचनाओं का क्षेत्र अधिक विस्तृत, और व्यापक है। आत्मा जब जगत में रहस्य का अनुभव करती है, और अदृश्य सत्ता तथा अलक्ष्य शक्ति के प्रति जब उसके भीतर आकर्षण उत्पन्न होता है, तब वह या तो साधना की ओर प्रवृत होती है, या भाव की ओर। भाव के क्षेत्र में वह जिन साधनों का आश्रय ग्रहण करती हैं, उनमें भक्ति, प्रेम, विचार, और प्रकृति सौन्दर्य के प्रति आसक्ति इत्यादि मुख्य होता है। श्रीमती महादेवी वर्मा का रहस्यवाद भाव पर आधारित है। उन्होंने 'भाव' के मन्दिर में बैठ करके ही अपने प्रियतम—'अलक्ष्य शक्ति' की आराधना की है। उनकी रहस्य-आराधना सभी उपकरणों से युक्त है। उसमें भक्ति भी है, और प्रेम भी है। उसमें चिंतन भी है, और प्रकृति के सौंदर्य के प्रति आस्था भी है। जिन साधनों और संबलों से रहस्य-आराधना का विकास होता है, वे सभी श्रीमती वर्मा की रहस्य-आराधना में लगे हुए हैं। उनकी रहस्य-आराधना का विकास क्रम-क्रम से हुआ है। प्रथम सोपान पर उनकी रहस्य-आराधना में जिज्ञासा की भावना है। द्वितीय सोपान पर बैठ कर वह उस परमात्मा के सम्बन्ध में विवेचना करती हैं, जिसके प्रति प्रथम सोपान पर उसके मन में जिज्ञासा उत्पन्न हुई थी। तृतीय सोपान पर पहुँचते-पहुँचते उसके भीतर विकलता उत्पन्न हो जाती है। वह इस जगत में चारों ओर अपने प्रियतम-अलक्ष्य सौंदर्य को देख कर तड़प उठती है। उसके सानिद्ध्य के लिए उसके भीतर आकुलता का ज्वार उत्पन्न हो जाता है। चतुथ सोपान उसकी पूर्णता का सोपान है। चतुर्थ सोपान पर उनके विरह-दुःख ने आनन्द का रूप धारण कर लिया है। इस प्रकार उनकी रहस्य-आराधना का विकास स्वाभाविक ढंग से हुआ है। स्वाभाविक ढंग से विकास होने के ही कारण उनकी रहस्य आराधना में स्थिरता, और गम्भीरता है। श्रीमती महादेवी वर्मा की द्वितीय कोटि की रचनाओं में वेदना, और पीड़ा के भावों की प्रधानता है। दुःख और पीड़ा से श्रीमती वर्मा की अनन्य घनिष्ठता है। उनके जीवन पथ पर दुःख, और पीड़ा ही उनका सहचर है। वे स्वयं इस सम्बन्ध में कहती हैं—'दुःख मेरे निकट जीवन का ऐसा काव्य है, जो सारे संसार को एक सूत्र में बाँध रखने की क्षमता रखता है। हमारे असंख्य सुख हमें चाहे मनुष्य की पहली सीढ़ी तक भी न पहुँचा सकें, किन्तु हमारा एक बूँद भी जीवन को अधिक उर्वर बनाए बिना नहीं गिर सकता। मनुष्य सुख को अकेला भोगना चाहता है, परन्तु दुःख सब को बाँट कर—विश्व जीवन में, अपने जीवन को, विश्व वेदना में अपनी वेदना को इस प्रकार मिला देना, जिस प्रकार एक जल बिन्दु समुद्र में मिल जाता है, कवि के लिए मोक्ष है।...मुझे दुःख के दोनों ही रूप प्रिय हैं—एक वह जो मनुष्य के सम्वेदनशील हृदय को सारे संसार से एक अविच्छिन्न बन्धन में बाँध देता है, और दूसरा वह, जो काल और सीमा के बन्धन में पड़े हुए असीम चेतन का क्रन्दन करता है, श्रीमती वर्मा की दुःख संबंधी अभिव्यक्ति बड़ी अनन्यता के साथ हुई

है। उनका दुःख वास्तविक दुःख है। वह इस जगत का होते हुए भी, इस विश्व के बाहर का है। उसका क्षेत्र सीमा, परंपराओं, और विधियों से परे है। उसमें वासना और कामना की कड़वी गंध नहीं, प्रेम का आनन्द है। श्रीमती वर्मा की तीसरी कोटि की रचनाओं में प्रकृति का चित्रण हुआ है। उनका प्रकृति चित्रण भी रहस्य-भावनाओं से परिपूर्ण है। उन्होंने अपने प्रकृति चित्रण में, प्रकृति के दृश्यों को उद्दीपन के रूप में ग्रहण करके रहस्यवादी भावनाओं का अंकन किया है। प्रकृति चित्रण में उनका लक्ष्य प्रकृति चित्रण की ओर न होकर अपने उसी लक्ष्य की ओर है—रहस्य भावनाओं के प्रस्फुटन की ओर।

श्रीमती महादेवी वर्मा की काव्य और गीति-काव्य कला आपस में मिली हुई है। दोनों में अधिक सहयोग, और पारस्परिक अनन्यता है। दोनों का एक ही विषय, एक ही शैली, और एक ही भाषा है। दोनों की पारस्परिक घनिष्ठता को देख कर हम यह भी कह सकते हैं, कि दोनों का अस्तित्व एक दूसरे के सहयोग से ही आकर्षक बन सका है। उनकी काव्य-कला सर्वत्र संगीत के तन्त्र से परिपुष्ट है। उनकी काव्य कला में सर्वत्र एक लय, एक गति, और एक व्यवस्थित स्वरों की साधना दिखाई देती है। उनकी गीति काव्य कला में काव्य कला का पूर्ण योग है—यह कहने की आवश्यकता नहीं। उनके गीतों में जहाँ एक ओर गीति काव्य कला अपना चमत्कार प्रगट करती है, वहाँ काव्य कला भी अपना प्रभाव प्रगट करने में पीछे नहीं रहती। उनके गीतों में काव्य और, संगीत का पूर्ण योग स्थापित हुआ है। उनके गीत भाव और अनुभूतियों से लसे हुए हैं। वे शरीर के भीतर से उन स्थानों से निकले हैं, जहाँ हृदय, प्राण और आत्मा का निवास होता है। यही कारण है, कि उनके गीत हृदय, और प्राणों को अपने शब्दों के तारों में बाँध लेते हैं। लोग उनके गीतों की उपमा में मीरा की समानता ठीक ही देते हैं। इसमें सन्देह नहीं, कि वस्तु, भाव, और अभिव्यक्ति-प्रत्येक क्षेत्र में उनके गीत हमें मीरा की याद दिलाते हैं।

डा० रामकुमार वर्मा हिन्दी काव्य के गीतिकारों में अपना महत्वपूर्ण स्थान रखते हैं। उनके गीत रहस्यवादी भावनाओं पर आधारित हैं। उनके गीतों में एक ओर प्रकृति का मोहक सौंदर्य है, और दूसरी ओर संसार की नश्वरता। उन्होंने संसार की नश्वरता, और असारता के मध्य में ही एक अद्भुत आनन्द, और सौंदर्य का अनुभव किया है। वे अपने गीतों में सर्वत्र इसी आनन्द, और सौंदर्य से विमुग्ध दिखाई पड़ते हैं। उनके गीतों में भावों, और संगीत के तत्त्वों की मधुरता है। भावों को अपने पङ्खों में लिपेट कर उड़ने वाली उनकी कल्पना सुकुमारता की छाया में विराम करती है। उनके गीतों की भाषा और शैली भी अधिक सरस, और मधुर है।

श्री भगवतीचरण वर्मा के गीति काव्य का आधार रहस्यवाद, प्रेम, और मानव है। उनके गीतों में कहीं तो रहस्यवाद की कांति है, कहीं प्रेम का अजस्र स्रोत है, और कहीं मानव की गति और उसकी स्थितियों पर विवेचन है। 'रहस्यवाद' और 'प्रेम' को आधार मान कर उन्होंने जिन गीतों की रचना की है, उनमें भावों की

विह्वलता देखने को मिलती है। पर उनकी उन रचनाओं में, जिनका सृजन उन्होंने 'मानव' की गति और उसकी स्थितियों को आधार मान कर किया है, मस्तिष्क के तत्त्वों की अधिकता है। प्रेम संगीत वर्माजी का उत्कृष्ट गीति काव्य है। प्रेम संगीत में गीति काव्य-कला का विकास उचित और स्वाभाविक रूप में हुआ है। प्रेम संगीत के गीतों में भाव और संगीत के तत्त्व घुले-मिले दिखाई देते हैं। 'प्रेम संगीत' की भाषा, और शैली भी अधिक मनोरम तथा आकर्षक है।

गीति काव्य के क्षेत्र में श्री हरिवंशराय 'बच्चन', श्री नरेन्द्र शर्मा, श्री सोहनलाल द्विवेदी, श्री आरसी प्रसादसिंह, श्री रामेश्वर शुक्ल अंचल, श्रीमती सुमित्राकुमारी सिनहा, और श्रीमती विद्यावती 'कोकिल' आदि ने भी यश अर्जन किया है।

५

गद्य

विषय सूची

१—खड़ी बोली के पूर्व—हिन्दी गद्य ३४५
(अ) प्राचीन काल में पद्य की और मनुष्य का झुकाव-क्यों ? (आ) गद्य-सृजन का युग, (इ) गद्याभाव का कारण, (ई) हिन्दी का प्राचीन गद्य।
२—खड़ी बोली और उसका प्राचीन स्वरूप ३५०
(उ) खड़ी बोली—हिन्दी और उर्दू का जन्म, (ऊ) खड़ी बोली का प्राचीन गद्य।
३—खड़ी बोली का प्रचारात्मक गद्य ३५४
(ए) खड़ी बोली का दिल्ली के बाहर प्रचार, (ऐ) फोर्ट विलियम कालेज द्वारा प्रयत्न, (ओ) गिल क्राइस्ट का प्रयत्न—प्रयत्न मात्र, (औ) मुन्शी सदासुख लाल, (अं) इन्शा अल्लाह खाँ, (अः) लल्लूलालजी, (क) पं० सदल मिश्र।
४—हिन्दी गद्य के विकास की पहली सीढ़ी ३५६
(ख) पाठ्य पुस्तकों के द्वारा गद्य का विकास, (ग) ईसाई धर्म प्रचारक और हिन्दी गद्य, (घ) प्रेस और पत्रकारिता, (ङ) अँगरेजी शिक्षा का जन्म और उसका प्रचार, (च) अँगरेजी शिक्षा की ओट में ईसाई धर्म का प्रचार, (छ) नवीन चेतना की लहर, (ज) हिन्दी की उपेक्षा, (झ) हिन्दी की शक्ति, (ट) पत्रों का प्रकाशन और हिन्दी गद्य, (ठ) राजा शिवप्रसाद सितारे हिन्द।
५—हिन्दी गद्य—प्रथम प्रयास ३७०
(ड) हिन्दी का विरोध, (ढ) राजाशिव प्रसाद हिन्द की बुद्धिमानी, (ण) सितारे हिन्द के सहयोगी, (त) हिन्दी गद्य और राजालक्ष्मणसिंह, (थ) आर्य समाज और हिन्दी गद्य, (द) ब्राह्म समाज के नेता और हिन्दी, (ध) पं० श्रद्धाराम फुल्लौरी और हिन्दी, (न) हिन्दी गद्य के लिए अपूर्व अवसर।
६—गद्य—भारतेन्दु काल ३७६
(प) भारतेन्दु के पूर्व का गद्य, (फ) भारतेन्दुजी की सेवा साधना, (ब) शैली के जन्मदाता भारतेन्दु, और उनकी शैली, (भ) भारतेन्दु—भाषा के विधायक, (म) गद्य निर्माता—भारतेन्दु, (य) नाटककार भारतेन्दु, (र) पत्रकार भारतेन्दु, (ल) भट्टजी की साहित्य साधना, (व) भट्टजी की शैली, (श) भट्टजी की भाषा (ष) प्रताप नारायण मिश्र की साहित्य साधना, (स) मिश्रजी की शैली, (ह) मिश्रजी की भाषा, (क्ष) प्रेमघन की साहित्य साधना, (अ) प्रेमघनजी की शैली, (आ) प्रेमघनजी की भाषा, (इ) श्री निवासदासजी की साहित्य साधना, (ई)

श्री निवासदासजी की शैली, (उ) श्री निवासदासजी की भाषा, (ऊ) ठाकुर जगमोहनसिंह की साहित्य साधना, (ए) ठाकुर साहब की शैली, (ऐ) ठाकुर साहब की भाषा, (ओ) भारतेन्दु काल के शेष गद्यकार (औ) भारतेन्दु काल के गद्य की समीक्षा।

७—हिन्दी गद्य—द्विवेदी काल ४०४

(अं) द्विवेदी काल के गद्य की झलक, (अः) द्विवेदी काल की बहुमुखी उन्नति, (क) द्विवेदी युग के गद्य की एक झलक, (ख) द्विवेदीजी की साहित्य-साधना, (ग) द्विवेदीजी की शैली, (घ) द्विवेदीजी की भाषा, (ङ) पं० माधव प्रसाद मिश्र की साहित्य साधना, (च) मिश्रजी की शैली, (छ) मिश्रजी की भाषा, (ज) बालमुकुन्द गुप्त की साहित्य साधना (झ) गुप्तजी की शैली, (ञ) गुप्तजी की भाषा, (ट) पं० गोविन्द मिश्र की साहित्य साधना, (ठ) मिश्रजी की शैली, (ड) मिश्रजी की भाषा, (ढ) बाबू श्यामसुन्दरदास और उनकी साहित्य-साधना, (ण) बाबू श्यामसुन्दरदासजी की शैली, (त) बाबू श्यामसुन्दरदासजी की भाषा, (थ) पं० चन्द्रधर शर्मा गुलेरी की साहित्य-साधना, (द) गुलेरीजी की शैली (ध) गुलेरीजी की भाषा, (न) पूर्णसिंह की साहित्य साधना, (प) पूर्णसिंहजी की शैली, (फ) पूर्णसिंहजी की भाषा, (ब) पद्मसिंह शर्मा की साहित्य साधना, (भ) शर्माजी की शैली, (म) शर्माजी की भाषा, (य) पं० रामचन्द्र शुक्ल की साहित्य साधना, (र) शुक्लजी की शैली, (ल) शुक्लजी की भाषा, (व) शुक्लजी और हिन्दी गद्य का आधुनिक युग।

८—हिन्दी गद्य—आधुनिक काल ४०४

(श) आधुनिक काल में गद्य की प्रगति, (ष) उपन्यास, (स) नाटक, (ह) समालोचना, (क्ष) आधुनिक युग के गद्यकार, (अ) जयशङ्कर प्रसाद की साहित्य साधना, (आ) प्रसादजी की शैली, (इ) प्रसादजी की भाषा, (ई) प्रेमचन्दजी की साहित्य साधना, (उ) प्रेमचन्दजी की शैली, (ऊ) प्रेमचन्दजी की भाषा, (ए) श्री गुलाबरायजी की साहित्य साधना, (ऐ) श्री गुलाबरायजी की शैली, (ओ) श्री गुलाबरायजी की भाषा, (औ) श्री पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी की साहित्य साधना, (अं) बख्शीजी की शैली, (अः) बख्शीजी की भाषा, (क) वृन्दावन लाल वर्मा की साहित्य साधना, (ख) वर्माजी की शैली, (ग) वर्माजी की भाषा, (घ) विश्वम्भरनाथ शर्मा 'कौशिक' की साहित्य साधना, (ङ) कौशिकजी की भाषा, (च) कौशिकजी की शैली, (छ) रायकृष्णदासजी की साहित्य साधना, (ज) रायसाहब की शैली, (झ) रायसाहब की भाषा, (ञ) वियोगीहरिजी की साहित्य-साधना, (ट) वियोगीहरिजी की शैली, (ठ) वियोगीहरिजी की भाषा, (ड) सुदर्शनजी की साहित्य साधना, (ढ) सुदर्शनजी की शैली, (ण) सुदर्शनजी की भाषा, (त) अन्य यशस्वी गद्यकार।

—:o:—

खड़ी बोली के पूर्व—हिन्दी गद्य

प्राचीन काल में पद्य की ओर मनुष्य का झुकाव—क्यों ?

आज हिन्दी गद्य की चतुर्मुखी उन्नति हो रही है। आज जिस हिन्दी गद्य के विकास ने हमारे हिन्दी साहित्य को चारों ओर से आच्छन्न कर रक्खा है, वह खड़ी बोली का गद्य है। खड़ी बोली के जन्म का इतिहास लगभग डेढ़ सौ वर्षों का इतिहास है। इसके पूर्व खड़ी बोली का अस्तित्व हिन्दी साहित्य के इतिहास में नहीं दिखाई पड़ता। खड़ी बोली में हिन्दी गद्य का जन्म, और उसका विकास भी हुआ है। इसका अर्थ यह होता है, कि खड़ी बोली के जन्म के पूर्व हिन्दी में 'गद्य' लिखने की परिपाटी नहीं थी। यह आश्चर्य की ही बात है। जिस हिन्दी साहित्य में 'वीर', 'भक्ति', और 'रीति' के रूप में उच्च भावों से परिपूर्ण काव्यों का सृजन हुआ हो, जिसमें सभी रसों से युक्त खण्ड और प्रबन्ध काव्य लिखे गए हों, उसमें किसी का ध्यान गद्य-रचना की ओर आकृष्ट न हो—यह विचारणीय विषय है। यह एक ऐसी बात है, जो मानव-प्रवृत्ति पर आघात करती है। यह एक ऐसी बात है, जो हमारे साहित्यिक गुणों के अभाव की ओर भी निर्देश करती है। मानव जीवन के इतिहास पर जब हम दृष्टि डालते हैं, तो यह देखते हैं, कि मनुष्य आदि काल से बोल चाल के रूप में गद्य का प्रयोग करता चला आ रहा है। पर इसके साथ ही साथ हम यह भी देखते हैं, कि प्राचीन काल में मनुष्य ने साहित्य के नाम पर गद्य की अपेक्षा पद्य का ही अधिक सृजन किया है। प्राचीन भाषाओं के साहित्य में जितना अधिक पद्य मिलता है, उसकी अपेक्षा गद्य बहुत कम मिलता है। कारण यह है, कि प्राचीन काल में गद्य की अपेक्षा मनुष्य का झुकाव पद्य की ओर अधिक था। प्राचीन काल में मनुष्य का जीवन संघर्षमय था। वह दिन रात अपने जीवन के निर्वाह के लिए उपयोगी वस्तुओं को जुटाने में लगा रहता था। उसके पास ऐसे साधनों का अभाव था, जिनके द्वारा वह अपने विचारों, और अनुभूतियों को सुरक्षित रख सकता। अपने विचारों और अनुभूतियों को सुरक्षित रखने के लिए उसके पास एक ही साधन था—उसकी स्मरण शक्ति। उसके हृदय में जो कुछ भी विचार उठते थे, जो कुछ भी अनुभूतियाँ उसके भीतर जागृत होती थीं, वह उन्हें 'याद' रख करके ही स्थायी रखता था। विचारों और अनुभूतियों को सरलता पूर्वक याद रखने के लिए ही उसने 'पद्य' का सहारा लिया था। 'पद्य' में संगीत का तत्त्व मिश्रित होने के कारण 'गद्य' की अपेक्षा वह सहज में

ही याद किया जा सकता है। प्राचीन भाषाओं में गद्य का अभाव केवल उसके स्वरूप के ही कारण है। 'गद्य' पद्य की अपेक्षा अधिक विस्तृत होता है। विचारों और भावों को प्रगट करने के लिए 'पद्य' की अपेक्षा उसमें अधिक शब्दों, और वाक्यों की आवश्यकता होती है। शब्दों और वाक्यों की अधिकता होने के कारण यह अधिक कठिन है, कि भावों और विचारों को सुरक्षित रखने के लिए गद्य को स्मरण शक्ति के साँचे में ढाला जाय। गद्य के स्वरूप और उसके संगठन के ही कारण प्राचीन काल के मनुष्य के सामने उसके निर्माण में बहुत बड़ी कठनाई थी। यही कारण है, कि प्राचीन काल में मनुष्य गद्य की ओर बहुत कम आकृष्ट हुआ।

गद्य का स्वभाव मनोवैज्ञानिकता और तार्किकता के तत्वों से संगठित होता है। गद्य में पद्य की अपेक्षा मस्तिष्क के तत्वों का अधिक समावेश होता है। अतः गद्य

गद्य—सृजन का युग

के निर्माण का युग भी पद्य से विपरीत होता है। गद्य का सृजन ऐसे युग में होता है, जिसमें मनुष्य की चेतना शक्तियाँ वैज्ञानिकता, और तार्किकता की ओर आकृष्ट होती हैं। 'गद्य' के सृजन के लिए ऐसे युग की आवश्यकता है, जिसमें मनुष्य शिक्षा, सभ्यता, और संस्कृति की परमोच्च सीमा पर पहुँचा हुआ हो, और जिसमें मनुष्य की मस्तिष्क सम्बन्धी शक्तियों का विकास पूर्ण रूप से हुआ हो। वैदिक काल और उसके पश्चात् जब जब हमारे देश वासियों का जीवन इस प्रकार के उन्नतिमय, और स्वर्णिम युग से आगे बढ़ा है, तब तब उन्होंने पद्य के साथ ही साथ गद्य की भी रचना की है। वैदिक संस्कृत, लौकिक संस्कृत, और पाली इत्यादि प्राचीन भाषाओं में पद्य के साथ ही साथ गद्यात्मक रचनाएँ भी पाई जाती हैं। साहित्य, कला और विचारों की दृष्टि से यह गद्यात्मक रचनाएँ अधिक महत्वपूर्ण हैं। इनका निर्माण जिस युग में हुआ है, वह भारत की सभ्यता, शिक्षा, और संस्कृति का स्वर्ण युग था। इन युगों में भारत ने जहाँ आध्यात्मिक क्षेत्र में उन्नति की है, वहाँ पार्थिव जगत में भी उसकी उन्नति की पताका बहुत ऊँचाई तक उड़ सकी थी। जहाँ उसने जीवन के विविध क्षेत्रों में उन्नति की थी, वहाँ भाषा और साहित्य में भी उसकी प्रशंसनीय गति थी। जहाँ उसने काव्यों के सृजन में अपनी पूर्णता प्रगट की थी, वहाँ गद्य के क्षेत्र में भी उसने अपनी उद्भटता दिखाई थी। वैदिक संस्कृत, लौकिक संस्कृत, पाली, और प्राकृत भाषाओं की वे गद्यात्मक रचनाएँ आज भी हमारे समक्ष हैं, और आज भी हम उनकी भाषा, शैली, और विचारों की मनोवैज्ञानिकता और व्यंजकता को देख कर विस्मित हो जाते हैं।

गद्याभाव का कारण

किन्तु यह प्रश्न तो अभी अपने स्थान पर ही बना हुआ है, कि हिन्दी में खड़ी बोली के पूर्व सुष्ठ, साहित्यिक, और व्यवस्थित गद्य का पूर्ण रूपेण अभाव था। इस प्रश्न पर हमें उक्त दोनों ही बातों को सामने रखकर विचार करना होगा। एक यह कि खड़ी बोली के जन्म के पूर्व हिन्दी जिस युग से होकर आगे बढ़ रही थी, क्या उस युग में जनता के पास अपने विचारों और अनुभूतियों की रक्षा के लिए आज के से साधन उपलब्ध थे, और दूसरी बात यह

कि क्या उस युग की सांस्कृतिक और शैक्षिक अवस्था उन्नति पूर्ण थी ! हम पहले प्रथम बात पर विचार करेंगे। अपने विचारों और भावों के प्रकाशन तथा उनकी सुरक्षा के लिए हमारे पास आज मुद्रण, समाचार पत्र, और कागज की जिस प्रकार सुविधा है, उस प्रकार की सुविधा हिन्दी के जन्म के प्रारम्भिक काल में नहीं थी। उस समय जनता के पास अपने विचारों की सुरक्षा के लिए केवल स्मरण शक्ति का ही भरोसा था। लिपि की रीति का आविष्कार अवश्य हो चुका था, और पुस्तकें हाथ से लिखी जा चुकी थीं, पर हिन्दी के जन्म के प्रारम्भिक और उसके मध्यकाल में इन सब साधनों का भी, यदि लोप नहीं हो चुका था, तो अभाव अवश्य था। इसका एक मात्र कारण उस समय की राजनीतिक परिस्थिति थी। हिन्दी के जन्म के प्रारम्भ से ही भारतीय जगत पर विपत्तियों के बादल मँडराने लगे थे। यवनों के आक्रमण देश के ऊपर हिन्दी के जन्म के प्रारंभ काल से ही होने लगे थे। जनता का जीवन सङ्कटों, और अभावों में ग्रस्त था। यह काल एक ऐसा हाल था, जिसे हम अस्त-व्यस्तता का काल कह सकते हैं। इस काल में भारतीय जीवन पूर्ण रूप से छिन्न-भिन्न हो उठा था। उसकी शिक्षा और संस्कृति की लड़ी पूर्ण रूप से टूट चुकी थी। हिन्दी के जन्म के आदि काल से लेकर रीति काल तक जब तक यवनों का शासन इस देश के ऊपर था, हम भारतीय शिक्षा, संस्कृति, और जीवन की शृंखला को अस्त-व्यस्त अवस्था में ही पाते हैं। भारत की यह सामाजिक और राजनीतिक स्थिति गद्य के स्वभाव के विपरीत थी। हिन्दी जिस प्रदेश में पल रही थी, अथवा जो प्रदेश हिन्दी का मुख्य क्षेत्र था, उस पर इस युग का पूर्ण रूप से आधिपत्य था। यही कारण है, कि इस युग में पद्य का सृजन तो हुआ, पर गद्य-रचना की ओर किसी का ध्यान न गया। 'पद्य रचना' केवल आवश्यकताओं, और स्थितियों के ही कारण हुई है। यदि पद्य की भाँति युग को गद्य की आवश्यकता होती तो इसमें सन्देह नहीं, कि पद्य की भाँति ही गद्य का भी सृजन हुआ होता। वीर गाथा काल में जिस प्रकार युग को केवल पूर्ण पद्यों की आवश्यकता थी, भक्ति काल में जिस प्रकार युग के भीतर भक्ति पूर्ण रचनाओं की आकांक्षा थी, और जिस प्रकार रीति काल में उसके भीतर शृंगारिक रचनाओं के लिए भूख थी, यह निश्चय है, कि उस प्रकार की भूख युग के भीतर गद्य रचना के लिए नहीं थी; परिणाम स्वरूप हिन्दी में पद्य-रचना तो हुई, किन्तु गद्य-रचना का पूर्ण रूप से अभाव ही रहा।

हिन्दी का प्राचीन गद्य

क्या हिन्दी में खड़ी बोली के जन्म के पूर्व गद्य का पूर्ण रूप से अभाव है; आइए खोज कर देखें, कहीं किसी कोने में गद्य का अंकुर पनपता हुआ न दिखाई पड़े ! हिन्दी के गद्य की खोज के लिए हमें खड़ी बोली, ब्रज, राजस्थानी, और मागधी इत्यादि उन बोलियों और उपभाषाओं की छानबीन करनी होगी, जिनसे हिन्दी का गठन हुआ है, और जो हिन्दी की उपबोलियाँ और उपभाषाओं के रूप में विख्यात हैं। इन बोलियों और भाषाओं की छानबीन जब हम करते हैं, तो इस बात का पता चलता है, कि

खड़ी बोली के साहित्यिक गद्य के जन्म के बहुत पूर्व ही राजस्थानी, और व्रज में गद्य का अंकुर फूट उठा था। यद्यपि इस गद्य में, गद्य की विशेषताएँ नहीं थीं, और न गद्य-रचना की दृष्टि से उसे कोई विशेष महत्व ही दिया जा सकता है, फिर भी उससे इतना तो कहा जा सकता है, कि पद्य-रचना की प्रवृत्ति की भाँति गद्य रचना की प्रवृत्ति भी हिन्दी के मूल में विद्यमान थी। सर्व प्रथम हम राजस्थानी भाषा के गद्य पर प्रकाश डालेंगे, और उसके पश्चात् व्रज के गद्य पर।

चौदहवीं शताब्दी के पूर्व उस हिन्दी प्रदेश की, जिसे हिन्दी के जन्म का स्थान कहते हैं, साहित्यिक भाषा डिंगल थी। 'डिंगल' को ही राजस्थानी भाषा भी कहते हैं। चौदहवीं शताब्दी के पूर्व और उसके आस पास डिंगल भाषा का अधिक मान था। यही डिंगल राजपूत दरबारों की भाषा थी। वीर गाथा काल के कवियों, और चारणों ने डिंगल में ही अपनी अनुभूतियों का ग्रन्थन किया है। डिंगल का इतिहास नवीं शताब्दी के आस पास से आरंभ होता है, और चौदहवीं शताब्दी के आस पास तक अखंड रूप में मिलता है। 'डिंगल' में पद्य के साथ ही साथ गद्य की भी रचना हुई है। 'डिंगल' के गद्य के नमूने अन्-तत्र पाए जाते हैं। कई शिला लेख भी ऐसे प्राप्त हुए हैं, जिनमें राजस्थानी भाषा के गद्य के नमूने मिलते हैं। इन्हीं दिनों के बने हुए कुछ जैन ग्रन्थों में भी राजस्थानी गद्य के नमूने प्राप्त होते हैं। चौदहवीं शताब्दी के आस पास की लिखी हुई, 'गोरख गणेश गोष्ठी', 'महादेव गोरख संवाद' और 'गोरखनाथजी की सत्रह कला' नामक तीन गद्यात्मक पुस्तकें मिलती हैं। इन गद्यात्मक पुस्तकों में राजस्थानी भाषा का ही प्रयोग हुआ है।

'वीर गाथा काल' में डिंगल भाषा ही साहित्य के क्षेत्र में अपना आसन जमाए हुए थी। अतः वीर गाथा काल के प्रारम्भ से लेकर भक्ति काल के प्रारम्भ तक जो कुछ भी गद्य की रचना हुई है, वह डिंगल भाषा में ही हुई है। इसके पश्चात् भक्ति काल का युग प्रारम्भ होता है। भक्ति काल में मुख्य रूप से दो भाषाएँ साहित्य के क्षेत्र में थीं—अवधी, और व्रज। अवधी में पद्य की रचना तो हुई है, किन्तु उसमें गद्य की रचना नहीं हो सकी। इसका एक मात्र कारण यही हो सकता है, कि युग अवधी के विपरीत था। गोस्वामी तुलसीदासजी के पश्चात् पुनः किसी ने अवधी में रचना नहीं की। अवधी और व्रज-दोनों ही साथ साथ साहित्य क्षेत्र में चलती रही। अवधी की अपेक्षा 'व्रज' को अधिक प्रोत्साहन, और अनुकूलता प्राप्त हुई। इसलिए 'व्रज' अवधी को पीछे छोड़ कर आगे बढ़ी, और अधिक दिनों तक उसका साहित्य में स्थान बना रहा। यही कारण है, कि जहाँ 'अवधी' में गद्य की रचना नहीं हो सकी, वहाँ 'व्रज' में गद्य भी लिखने का प्रयास किया गया।

'व्रज' के गद्यकारों में जिनका सर्व प्रथम नाम लिया जा सकता है, वह हैं श्री वल्लभाचार्यजी के पुत्र गोंसाईं विट्ठलनाथजी। उन्होंने सोलहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में गद्य में एक पुस्तक का निर्माण किया, जिसका नाम 'शृंगार रस मंडन' है। सत्रहवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध की दो और गद्यात्मक पुस्तकें प्राप्त होती हैं, जिनके नाम

चौरासी वैष्णवों की वार्ता, और 'दो सौ बावन वैष्णवों की वार्ता' है। इन पुस्तकों के रचयिता गोस्वामी गोकुलनाथ, या उनका कोई शिष्य है। इन पुस्तकों का विषय उनके नाम से ही प्रगट है। इनमें वैष्णव भक्तों और उनके आचार्यों की कीर्ति-कथाओं का वर्णन है। इनकी भाषा पहले से कुछ अधिक व्यवस्थित, और परिष्कृत है। इन्हीं दिनों, १६०३ ई० के आस पास नाभादासजी ने 'अष्टयाम' की रचना की। 'अष्टयाम' में मर्यादा पुरुषोत्तम श्री रामचन्द्रजी की 'दिन चर्या' पर प्रकाश डाला गया है। अष्टयाम के पश्चात् जिन गद्यात्मक कृतियों का पता लगता है, उनका नाम 'अगहन माहात्म्य' और 'वैसाख माहात्म्य' है। इनकी रचना बैकुंठमणि के द्वारा हुई है जो ओड़छा नरेश, जसवंतसिंह के दरबार में रहते थे। इसके पश्चात् सत्रहवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में दो और गद्य ग्रन्थों की रचना हुई, जिनके नाम 'भुवन दीपिका', और 'विष्णुपुरी' हैं। इन्हीं दिनों १७०३ ई० में 'नासिकेतोपाख्यान' की रचना किसी अज्ञात लेखक के द्वारा हुई। १७१० ई० में सुरति मिश्र ने वैताल पचीसी, और नारायणदास ने 'भक्त माल प्रसंग' की रचना की। १७६५ ई० में हीरालाल ने, जयपुर नरेश सवाई प्रतापसिंहजी की आज्ञा से, 'आईने अकबरी' की 'भाषा वचनिका' लिखी, जो अधिक महत्वपूर्ण है। इनके अतिरिक्त ब्रजभाषा के गद्य की और भी कई कृतियाँ मिलती हैं। जैसे—'भूगोल पुराण', हितोपदेश, इत्यादि। शृंगार शतक, रामचन्द्रिका, कविप्रिया, रसिक प्रिया, और बिहारी सतसई आदि ग्रन्थों की टीकाएँ भी इन्हीं दिनों ब्रजभाषा के गद्य में हुईं। ब्रजभाषा के साथ ही साथ राजस्थानी में भी, इन दिनों गद्य रचना होती रही। इन दिनों राजस्थानी में जो गद्य रचनाएँ हुईं, उनमें 'मुहणोत नैन सी की ख्यात', 'रावरतन महेश देवोत्तरी,' और 'जोधपुरी राठौर की ख्यात' अधिक महत्वपूर्ण हैं।

ऊपर राजस्थानी और ब्रज के जिस गद्य की चर्चा की गई है, उसका साहित्यिक महत्व नहीं के बराबर है। न तो उसमें भाषा का सौष्ठव है, और न शब्दों के संस्थापन और संघटन की क्रम बद्धता। भाषा का न तो कोई निश्चित स्वरूप है, और न शैली के विकास का क्रम! उक्त गद्य कृतियों के जितने लेखक हैं, सबने अपनी अपनी रुचि के अनुसार ही भाषा का प्रयोग किया है। भाषा के प्रयोग में वे सर्वत्र लड़खड़ाते हुए दृष्टिगोचर होते हैं। इन कृतियों में गद्य के तत्त्वों का जो अभाव है, उन्हें देखते हुए हम इनकी गणना वास्तविक गद्य में नहीं कर सकते। इन कृतियों का महत्व तो केवल इतना ही है, कि ये गद्य के जन्म, और उसके विकास की शृंखला को आपस में जोड़ती हैं। साहित्य के विद्यार्थी को इसी दृष्टिकोण से इन गद्यात्मक कृतियों की भाषा, और शैली का अध्ययन भी करना चाहिए।

—:o:—

खड़ी बोली और उ र का प्राचीन रूप

आज जिस गद्य की सर्व व्यापी उन्नति हो रही है, वह खड़ी बोली में है। खड़ी बोली किसे कहते हैं, उसका विकास किस प्रकार हुआ है—इस पर इसके पूर्व प्रकाश डाला जा चुका है। पर फिर भी, विषय की पूर्णता के लिए यहाँ उसका चित्र उपस्थित किया जा रहा है। आज हम जिस खड़ी बोली में लिखते, पढ़ते, और बोलते हैं, उसका जन्म स्थान मेरठ, और उसके आस पास था। आज जिस प्रकार उसे साहित्यिक गौरव प्राप्त है, पहले उसकी ऐसी प्रतिष्ठा न थी। आज वह एक भाषा के रूप में साहित्यिक पद पर प्रतिष्ठित है, किन्तु पहले वह केवल एक बोली मात्र थी, और मेरठ तथा उसके आस पास के भूमि भागों में उसका प्रचार था। मेरठ, और उसके समीपवर्ती स्थानों को छोड़ कर बाहर के स्थानों से उसका परिचय नहीं के बराबर था। यहाँ यह भी कह देना आवश्यक है, कि जिस प्रकार भारत की सभी आधुनिक भाषाओं और बोलियों का जन्म अपभ्रंश से हुआ है, इसी प्रकार खड़ी बोली ने भी अपभ्रंश से जन्म धारण किया है। खड़ी बोली की भाँति उन दिनों और भी भाषाएँ और बोलियाँ अपने-अपने क्षेत्र में प्रचलित थीं। जैसे—मागधी, मैथिली, राजस्थानी, अवधी और ब्रज इत्यादि। पर इन सबमें खड़ी बोली का भविष्य अधिक उज्वल था। खड़ी बोली ने अपने परमोज्वल भविष्य के ही प्रभाव के कारण उन्नति की ओर अपना चरण बढ़ाया। मुसलमानों का शासन जब दिल्ली पर स्थापित हुआ, तो सर्व प्रथम उनके सामने भाषा की कठिनाई उपस्थित हुई। क्योंकि उनकी भाषा अरबी और फारसी थी। इसके विपरीत दिल्ली के आस पास जो भाषा बोली जाती थी, वह खड़ी बोली या हिन्दवी थी। शासक मुसलमानों के लिए जनता से सम्पर्क स्थापित करना आवश्यक था। अतः उन्होंने खड़ी बोली के शब्दों को सीखना प्रारम्भ कर दिया। इस प्रकार खड़ी बोली ने अपने क्षेत्र को छोड़ कर दिल्ली में प्रवेश किया। दिल्ली में खड़ी बोली ने अरबी फारसी के शब्दों के साथ मिलकर एक नया रूप धारण किया। पहले खड़ी बोली के इस नवीन रूप का प्रचार केवल बाजारों में था। इसके पश्चात् शनैः शनैः उसका महत्व बढ़ता गया। ज्यों-ज्यों इसका महत्त्व बढ़ता गया, त्यों-त्यों उसका रूप भी व्यवस्थित, और सुदृढ़ होता गया। धीरे-धीरे उसने एक भाषा का रूप धारण कर लिया। आज जिसे उर्दू कहते हैं, वह यही भाषा है, जो खड़ी बोली और

अरबी-फारसी के संयोग से उत्पन्न हुई है। प्रारम्भ में इसकी लिपि देव नागरी ही थी, किन्तु बा० में इसकी लिपि में परिवर्तन किया गया, और इस पर अरबी-फारसी के व्याकरण का रंग भी चढ़ाया गया। जिस प्रकार अरबी-फारसी और खड़ी बोली के पारस्परिक शब्दों के मेल से उर्दू ने जन्म लिया, उसी प्रकार खड़ी बोली और संस्कृत के तत्सम शब्दों के पारस्परिक मेल से उन्हीं दिनों एक दूसरी भाषा ने भी जन्म लिया। इस दूसरी भाषा को ही खड़ी बोली हिन्दी कहते हैं। खड़ी बोली उर्दू और खड़ी बोली हिन्दी में अंतर यह है, कि उर्दू में जहाँ अरबी और फारसी के शब्दों की प्रचुरता है, वहाँ हिन्दी में संस्कृत के तत्सम शब्द हैं। उर्दू की लिपि—विदेशी अरबी है। हिन्दी की लिपि अपने देश की—देव नागरी है। उर्दू में जहाँ अरब और फारस की संस्कृतियों का अभिसार हुआ है, वहाँ हिन्दी की रगों में भारतीय संस्कृति का जीवन संचरित होता है। उर्दू का पालन-पोषण जहाँ शासकों के द्वारा हुआ है, वहाँ हिन्दी भारतीय जनता के बीच में पली है। इस प्रकार खड़ी बोली से दो धाराएँ निःसृत हुईं—खड़ी बोली उर्दू, और खड़ी बोली हिन्दी। इधर राजनीतिक कारणों से खड़ी बोली उर्दू और खड़ी बोली हिन्दी के मिश्रण से एक तीसरी धारा निकली है, जिसका नाम हिन्दुस्तानी पड़ा है। उर्दू और हिन्दी दोनों का ही सुगठित और व्यवस्थित स्वरूप है। दोनों में ही साहित्य का सृजन भी हो रहा है, पर हिन्दुस्तानी का अब तक कोई भी स्वरूप निश्चित नहीं हो सका है। स्वरूप निश्चित न होने के कारण अब तक किसी प्रकार के साहित्य का सृजन भी उसमें नहीं हो सका है।

खड़ी बोली का प्राचीन गद्य

आज जो खड़ी बोली हिन्दी राष्ट्र भाषा के पद पर आसीन है, और जिसमें विश्व साहित्य की सृष्टि हो रही है, उसमें साहित्य का सृजन कब से हो रहा है—यह एक विचारणीय प्रश्न है। सभी प्रश्नों की भाँति विदेशी विद्वानों ने इस प्रश्न को भी अपनी दृष्टि से देखा है। कई विदेशी विद्वानों ने खड़ी बोली के साहित्य पर अपना अभिमत व्यक्त करते हुए लिखा है, कि यह हिन्दुओं की भाषा है। इस भाषा में उन्होंने अँगरेजों की प्रेरणा से ही साहित्य का निर्माण करना प्रारम्भ किया है। पर विदेशी विद्वानों की इस बात को इतिहास किसी भी रूप में स्वीकार नहीं करता। इतिहास के जो तथ्य हमारे सामने हैं, उनसे यह विदित होता है, कि अँगरेजों के आगमन और उनके शासन के बहुत पूर्व खड़ी बोली हिन्दी रचना के क्षेत्र में अस्तित्व में आ चुकी थी। अँगरेजों के शासन के बहुत पूर्व कई ऐसे लेखक और कवि हो चुके हैं, जिन्होंने अपनी रचनाओं में खड़ी बोली के रूपों और उसके शब्दों का प्रयोग भी किया है।

इतिहास से पता चलता है, कि खड़ी बोली का प्रयोग दसवीं शताब्दी या उसके आस पास से रचना के रूप में हो रहा है। ग्यारहवीं शताब्दी में हेमचन्द्र सूरि ने 'सिद्ध हेमचन्द्र शब्दानुशासन' की रचना की है। यह व्याकरण का ग्रन्थ है। इसमें खड़ी बोली के रूप स्पष्ट रूप से देखने को मिलते हैं। बारहवीं शताब्दी में नरपति

नाल्ह ने 'बीसलदेव' की रचना की। बीसल देव में भी खड़ी बोली के शब्द मिलते हैं। इन्हीं दिनों अमीर खुसरों ने कुछ पहेलियों, और ऐसे पद्यों की रचना की, जिनमें खड़ी बोली के शब्दों का स्पष्ट रूप से प्रयोग हुआ है। तेरहवीं शताब्दी के अन्त में कबीरदासजी हुए, जिन्होंने अपनी रचनाओं में खड़ी बोली के शब्दों का प्रयोग किया है। अभी तक जिन ग्रन्थों और लेखकों की चर्चा की गई है, वे पद्यात्मक हैं। गद्य के रूप में खड़ी बोली का प्रयोग अकबर के समय में मिलता है। अकबर के शासन काल में गंग नामक एक कवि हो चुका है, जिसने सर्व प्रथम खड़ी बोली में 'चन्द छन्द वरनन की महिमा' नामक एक पुस्तक गद्य में लिखी। इसके पूर्व के कुछ और भी मुसलमान औलियाओं के लिखे हुए गद्य मिलते हैं। इन मुसलमान औलियाओं ने, जिनमें बीजापुरी शाहमीरान, और शाहबुरहान खान का नाम महत्वपूर्ण है, हिन्दवी भाषा में गद्य रचना की है। यह हिन्दवी भाषा खड़ी बोली का ही एक रूप है। किन्तु खड़ी बोली का सबसे अधिक परिमार्जित और व्यवस्थित रूप जिस रचना में मिलता है, वह 'गंग' की 'चंद' छन्दवरनन की महिमा की है। अकबर के पश्चात् जहाँगीर के राज्य में भी, खड़ी बोली ने शिष्ट भाषा के रूप में पद प्राप्त कर लिया था। यद्यपि जहाँगीर के शासन काल की 'खड़ी बोली' की किसी गद्यात्मक कृति का पता नहीं चलता, किन्तु इतना तो पता चलता ही है, कि जहाँगीर के शासन काल में खड़ी बोली ने शिष्ट-समाज में आदर पूर्ण स्थान प्राप्त कर लिया था। 'गंग' के ग्रन्थ के पश्चात् खड़ी बोली की जो गद्यात्मक कृति प्राप्त होती है, वह है रामप्रसाद निरंजनी का योग वाशिष्ठ। इसका निर्माण सन् १७४१ में हुआ था। इसमें खड़ी बोली का परिमार्जित स्वरूप देखने को मिलता है। इसको यदि खड़ी बोली के गद्य की प्रथम कृति कहा जाय तो कोई अत्युक्ति की बात न होगी। क्योंकि अब तक की प्राप्त रचनाओं में इसकी भाषा सबसे अधिक व्यवस्थित और परिष्कृत है। इसकी भाषा को देखने से यह भी निष्कर्ष निकलता है, कि मुन्शी सदासुख, और लल्लूलालजी से पूर्व ही खड़ी बोली में गद्य की रचना होने लगी थी। रामप्रसाद निरंजनी के पश्चात् सन् १७६१ में मध्य प्रदेश के निवासी, पं० दौलतराम ने रविषेणाचार्य कृत 'पद्म पुराण' का भाषानुवाद किया। योग वाशिष्ठ की भाषा की अपेक्षा इसकी भाषा अधिक अपरिमार्जित और अव्यवस्थित है। इसके पश्चात् संवत् १८३०-४० के बीच में राजस्थान के किसी अज्ञात लेखक ने 'मंडोवर का वर्णन' लिखा था, जिसमें साधारण बोल चाल की भाषा का प्रयोग हुआ है। इसके पश्चात् की जो गद्यात्मक कृतियाँ मिलती हैं, वे मुन्शी सदासुख लाल, इन्शा अल्ला खाँ, और लल्लूलालजी की कृतियाँ हैं। इन कृतियों पर हम दूसरे प्रकरण में प्रकाश डालेंगे। क्योंकि इन कृतियों से खड़ी बोली के गद्य का इतिहास व्यवस्थित रूप से प्रारंभ हो जाता है।

खड़ी बोली के प्राचीन गद्य की जो महत्वपूर्ण कृति प्राप्त होती है, वह रामप्रसाद निरंजनी का 'योग वाशिष्ठ' है। योग वाशिष्ठ की भाषा अधिक परिष्कृत, और

व्यवस्थित है। रामप्रसाद निरंजनी पटियाला दरबार में रहते थे, और महारानी को कथा बाँच कर सुनाया करते थे। रामप्रसाद निरंजनी की भाषा को देखते हुए स्पष्ट रूप से यह कहा जा सकता है, कि उस समय तक खड़ी बोली का प्रयोग शिष्ट जन समाज में होने लगा था, और साहित्य-निर्माण में लोग उसका प्रयोग भी करने लगे थे। किन्तु रामप्रसाद निरंजनी के पश्चात् दौलतराम ने पद्म पुराण का जो भाषानुवाद किया है, उसकी भाषा 'योग वाशिष्ठ' की भाषा से अधिक लचर और अव्यवस्थित है, जब कि योग वाशिष्ठ की अपेक्षा 'पद्म पुराण' की भाषा में खड़ी बोली का और भी अधिक विकसित रूप मिलना चाहिए था। इस प्रश्न को सामने रख कर जो लोग यह हल निकालने का प्रयत्न करते हैं, कि खड़ी बोली की शृंखला 'पद्म पुराण' की भाषा में टूट गई है, इसलिए यह नहीं कहा जा सकता, कि 'योग वाशिष्ठ' के समय से ही खड़ी बोली में रचना होने लगी थी; हमारी समझ में वे भूल करते हैं। ऐसे लोगों को 'पद्म पुराण' के स्थान, और उसके उद्देश्य पर दृष्टिपात करना चाहिए। पद्म पुराण की रचना उस मध्य प्रदेश में हुई, जिस पर कभी भी फारसी और उर्दू की शिक्षा नहीं लादी गई। इसके अतिरिक्त उसकी रचना उस जैन समाज के लिए हुई है, जिसका सम्बन्ध व्यापार से था। जिन दिनों खड़ी बोली में 'योग वाशिष्ठ' की रचना हुई, उन दिनों या उसके आस पास खड़ी बोली मुसलमानों के ही क्रोड़ में पल रही थी। मुसलमान धीरे-धीरे उस पर अपनेपन का रंग डाल रहे थे। इसलिए यह स्वाभाविक ही था, कि 'पद्म पुराण' की भाषा कुछ और ही होती, जैसा कि उसमें मिलता है। पर यह तो निश्चित है, कि खड़ी बोली में गद्य की रचना 'योग वाशिष्ठ' के समय से होने लगी थी; क्योंकि उसमें जिस भाषा का प्रयोग हुआ है, वह हिन्दी खड़ी बोली के रूप से बहुत कुछ मिलता-जुलता है।

खड़ी बोली का प्रचारात्मक गद्य

खड़ी बोली के जन्म की कहानी में इस बात का उल्लेख किया जा चुका है, कि खड़ी बोली उर्दू के साथ ही साथ खड़ी बोली हिन्दी का भी जन्म हुआ। दोनों का ही पालन-पोषण दिल्ली में होता रहा। उर्दू शासकों के क्रोड़ में पल रही थी, और हिन्दी जनता की गोद में। अपने जन्म के प्रारम्भिक दिनों में उर्दू बहुत कुछ देशी भाषा से मिलती-जुलती थी, किन्तु जब मुसलमान शासकों ने उसका बहुत कुछ रंग बदल दिया; दूसरे शब्दों में जब उस पर अरबी फारसी का रंग चढ़ा दिया गया, तब हिन्दी कवियों से उसका सम्बन्ध टूट गया, और लोग उसे मुसलमानों की भाषा समझने लगे। इधर खड़ी बोली हिन्दी, जो जनता की गोद में पल रही थी, भारतीयता के रंग में रँगी हुई थी। अतः वह कुछ ही दिनों में जनता के आदर की पात्रिणी बन गई। दिल्ली में जब तक मुगलों का राज्य रहा, उर्दू आदर पाती रही, और खड़ी बोली हिन्दी भी उसके साथ ही जनता की गोद में पलती रही। मुसलमानों के शासन का अन्त होने के साथही साथ उर्दू के सौभाग्य का सूर्य अस्त हो गया, और खड़ी बोली हिन्दी के भाग्य का सूर्य उदय हुआ। मुगलों के शासन के पश्चात् जब लखनऊ, पटना, और मुर्शिदाबाद इत्यादि स्थानों में नवाबों की राजधानियाँ स्थापित हुईं, तो दिल्ली के अधिकांश अमीरों और व्यवसायियों ने लखनऊ, पटना, और मुर्शिदाबाद इत्यादि स्थानों में जाकर अपना डेरा जमाया। केवल इन्हीं स्थानों में नहीं, वरन् मुगलों के शासन के पश्चात् जहाँ भी कहीं अमीरों और नवाबों की राजधानियाँ स्थापित हुईं, दिल्ली के गुणियों और व्यवसाइयों ने उन सम्पूर्ण स्थानों को अपना निवास स्थान बनाया। इन व्यवसाइयों और गुणियों के साथ साथ वह भाषा भी सर्वत्र गई, जो दिल्ली के शिष्टजन समाज में प्रचलित थी। यह भाषा खड़ी बोली हिन्दी थी। इस प्रकार खड़ी बोली का प्रचार शनैः शनैः देश के सभी भू-भागों में हो गया, और उसने शनैः शनैः एक शिष्ट भाषा का रूप धारण कर लिया। उसमें रचनाएँ भी होने लगीं। रामप्रसाद निरंजनी का योग वाशिष्ट और पं० दौलतराम का पद्म पुराण इस बात का प्रमाण है। यद्यपि उन दिनों खड़ी बोली ब्रज भाषा से पूर्ण रूप से मुक्त नहीं हो सकी थी, जैसा, कि पद्म पुराण की भाषा से प्रगट होता है, पर इसके साथ ही साथ उससे यह भी प्रगट होता है, कि उन दिनों

खड़ी बोली का दिल्ली के बाहर प्रचार

खड़ी बोली हिन्दी ने एक सामान्य शिष्ट भाषा का रूप धारण कर लिया था, और रचना के क्षेत्र में उसका प्रयोग भी होने लगा था।

मुगलों के शासन के पश्चात् जब देश में अँगरेजों का राज्य स्थापित हुआ, तब अँगरेजों का ध्यान देशी भाषा की ओर गया। वह उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ का समय था। उन दिनों दो भाषाएँ चल रही थीं। एक खड़ी बोली हिन्दी और दूसरी उर्दू। खड़ी बोली हिन्दी जनता की भाषा थी, और उसमें जन-जीवन उग रहा था। इसके विपरीत उर्दू उन मुसलमानों की भाषा थी, जो दाँव हार जाने पर भी अरब और फारस की संस्कृति का राग अलाप रहे थे। अँगरेजों को जब देशी भाषाओं को सीखने की आवश्यकता हुई तो उन्होंने हिन्दी और उर्दू-दोनों भाषाओं का निरीक्षण किया, और उन्होंने दोनों ही भाषाओं को सीखने का प्रयत्न किया। इस समय तक उर्दू में गद्य का पूर्ण रूप से अभाव था। पर खड़ी बोली हिन्दी में गद्यरचना हो चुकी थी। खड़ी बोली हिन्दी जनता की भाषा थी, इसलिए अँगरेजों ने उसकी उपयोगिता भी स्वीकार की, पर फिर भी वे कुछ दिनों तक उर्दू को प्रश्रय देने का प्रयत्न करते रहे।

फोर्ट विलियम कालेज द्वारा प्रयत्न

अँगरेजों को जब हिन्दी और उर्दू सीखने की आवश्यकता प्रतीत हुई, तो उन्होंने हिन्दी और उर्दू की गद्यात्मक पुस्तकों की खोज की। उर्दू में गद्यात्मक पुस्तकों का अभाव था। किन्तु हिन्दी में गद्यात्मक पुस्तकों की रचना हो चुकी थी, जिसका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। इन्हीं दिनों कलकत्ते में फोर्ट विलियम कालेज की स्थापना हुई, और गिलक्राइस्ट हिन्दी और उर्दू के अध्यापक नियुक्त हुए। गिलक्राइस्ट उर्दू के प्रेमी थे। फोर्ट विलियम कालेज में जब हिन्दी और उर्दू की पढ़ाई का प्रबन्ध किया गया, तब हिन्दी और उर्दू की गद्यात्मक पुस्तकें भी तैयार कराई गईं। यह काम गिलक्राइस्ट की ही देखरेख में हुआ। गिलक्राइस्ट उर्दू को ही शिष्ट भाषा समझते थे। किन्तु वे यह भी जानते थे, कि उर्दू शिष्ट भाषा का आधार हिन्दुवी, और हिन्दवी है। यद्यपि वे हिन्दुवी या हिन्दवी को गँवारू भाषा मानते थे, पर उर्दू के आधार भूत भाषा होने के कारण वे उसके महत्व को स्वीकार करने के लिए विवश थे। फलतः उन्होंने हिन्दी उर्दू की जानकारी, तथा गद्यात्मक पुस्तकों के निर्माण के लिए कुछ मुन्शियों का सहयोग प्राप्त किया। इन मुन्शियों में लल्लूजी लाल, पं० सदल मिश्र, और पं० गंगाप्रसाद शुक्ल थे। लल्लूजी लाल, और पं० सदलमिश्र ने गद्य की पुस्तकें लिखीं। इनके सहयोग से कालेज में इंगलिश नाम का एक कोष भी तैयार हुआ। इस प्रकार फोर्ट विलियम कालेज के प्रयत्नों से हिन्दी गद्य विकास के क्षेत्र की ओर अग्रसर हुआ। किन्तु इसका यह अर्थ कदापि नहीं है, कि हिन्दी गद्य की नींव फोर्ट विलियम कालेज के प्रयत्नों से पड़ी है। क्योंकि फोर्ट विलियम कालेज के प्रयत्न के बहुत पूर्व हिन्दी खड़ी बोली में गद्य की नींव पड़ चुकी थी, और उसमें पुस्तकों की रचना भी हो चुकी थी।

फोर्ट विलियम कालेज के इस प्रयत्न को हम केवल प्रयत्न मात्र ही कहेंगे। कालेज के अधिकारी हिन्दी सीखना चाहते थे, इसलिए उन्होंने हिन्दी गद्य के लिए प्रयत्न अवश्य किया, पर वस्तुतः देखा जाय तो कालेज का वातावरण हिन्दी के पक्ष में नहीं था। कालेज के हिन्दी उर्दू के अध्यापक गिलक्राइस्ट उर्दू के अनन्य प्रेमी थे। उन्होंने हिन्दी गद्य के सम्बन्ध में जो कुछ भी प्रयत्न किया, वह केवल हिन्दी के महत्व से विवश होकर नहीं तो हिन्दी उनके निकट उपेक्षित थी। हिन्दी ने कभी राज्याधिकारियों की ओर नहीं देखा। हिन्दी अपने जन्म से ही अपनी शक्ति से अग्रसर हो रही है। मुसलमानों के शासन काल में वह सदा अपनी स्वतन्त्र शक्ति से ही उन्नति के क्षेत्र की ओर बढ़ती रही है। अँगरेजों के शासन काल में भी हिन्दी को सदा उपेक्षा के आघात ही सहने पड़े हैं। गिल क्राइस्ट का भी हिन्दी के प्रति कुछ इसी प्रकार का भाव था। अतः यह कहना नितांत भ्रम पूर्ण होगा, कि हिन्दी में गद्य के श्री गणेश का महत्व पूर्ण कार्य उन्हीं के द्वारा सम्पन्न हुआ है। ऐतिहासिक तथ्यों से यह बात भली भाँति प्रगट है, कि गिलक्राइस्ट के प्रयत्न से बहुत पूर्व हिन्दी में गद्य का जन्म हो चुका था। जिन दिनों गिलक्राइस्ट का प्रयत्न आरम्भ था, उसके कुछ पूर्व दिल्ली निवासी मुन्शी सदासुख लाल मुन्दर और व्यवस्थित भाषा में भागवत की कथा 'सुखसागर' नाम से लिख चुके थे। लखनऊ निवासी इन्शा अल्ला खाँ की 'रानी केतकी की कहानी' भी अस्तित्व में आ चुकी थी। १८१६ ई० में राजा राम मोहनराय ने एक पैम्फलेट प्रकाशित कराया था, जिसकी भाषा से पता चलता है, कि गिल क्राइस्ट के प्रयत्नों के पूर्व हिन्दी खड़ी बोली शिष्ट भाषा के रूप में व्यवहृत होने लगी थी। अतः हम गिलक्राइस्ट के प्रयत्नों को प्रयत्न मात्र ही कहेंगे। उनके प्रयत्नों से हिन्दी गद्य प्रचार की शृंखला में कड़ी अवश्य जुटी, पर इसका यह कदापि अर्थ नहीं, कि हिन्दी गद्य की शृंखला उनके द्वारा जोड़ी हुई कड़ी से ही प्रारम्भ होती है।

गिलक्राइस्ट का प्रयत्न—प्रयत्न मात्र !

हिन्दी गद्य के लिए यह प्रचारात्मक युग था। इस युग में हिन्दी गद्य के लिए जो भी प्रयत्न हुआ, उसे हम प्रचारात्मक ही प्रयत्न कहेंगे। क्योंकि अभी उसमें विकास के उन तत्त्वों का समावेश नहीं हुआ था, जिनके कारण कोई भी रचना साहित्य के पद पर प्रतिष्ठित होती है। हिन्दी गद्य के इस प्रचारात्मक युग में जिन गद्यकारों ने हिन्दी गद्य की शृंखला में महत्व पूर्ण कड़ियाँ जोड़ी हैं, उनमें मुन्शी सदासुख लाल, मुन्शी इन्शा अल्ला खाँ, लल्लूलालजी और पं० सदलमिश्र का नाम महत्वपूर्ण है। यहाँ अब हम इनकी भाषा और शैली पर प्रकाश डाल कर इस अध्याय को पूरा करेंगे।

मुन्शी सदासुख लाल का जन्म सम्वत् १८०३ में हुआ था। यह मिर्जापुर जिलांतर्गत चुनार में, कम्पनी की अधीनता में एक अच्छे पद पर नियुक्त थे।

मुन्शी सदासुख लाल — यह उर्दू, फारसी, और हिन्दी आदि भाषाओं के जानकार थे। लेखक के साथ ही साथ कवि भी थे। इन्होंने उर्दू और फारसी में भी पुस्तकें लिखी हैं, और कविताएँ भी की हैं। इनका सुखसागर सुप्रसिद्ध गद्य ग्रन्थ है। इन्होंने एक और भी पुस्तक लिखी है, किन्तु वह अधूरी ही है। ६५ वर्ष की अवस्था में यह नौकरी छोड़कर प्रयाग चले गए, और ईश्वर की आराधना में अपना जीवन व्यतीत करने लगे। सम्वत् १८८१ में उनका स्वर्गवास हो गया।

मुन्शी सदासुख लाल ने अपने सुखसागर में स्वाभाविक भाषा का प्रयोग किया है। उन दिनों शिष्ट समुदाय में जो भाषा प्रचलित थी, वह संस्कृत मिश्रित थी। उन्होंने इसी भाषा का प्रयोग अपने ग्रन्थ में किया है। पंडिताऊ प्रयोग भी इनकी भाषा में मिलते हैं। इनकी भाषा में प्रवाह, और स्वाभाविकता भली भाँति दिखाई पड़ती है। इसका कारण यह है, कि इन्होंने किसी के निर्देश पर अपनी भाषा का गठन नहीं किया। इन्होंने उन दिनों शिष्ट समाज में जो भाषा प्रचलित, और समादृत देखी, उसी में अपने भावों का सृजन किया।

इन्शा अल्ला खाँ — इन्शा अल्ला खाँ दिल्ली के रहने वाले थे; किन्तु जब दिल्ली में मुसलमानों का शासन उजड़ गया, तब वे लखनऊ में जाकर रहने लगे थे। हिन्दी में उनकी लिखी हुई 'उदयभान चरित या रानी केतकी की कहानी' प्रसिद्ध है। इन्शा अल्ला खाँ ने अपनी इस कहानी के लिखने का कारण बताते हुए लिखी है—'कहानी ऐसी कहिए, कि जिसमें हिन्दवी छुट और किसी बोली का पुट न मिले।..... हिन्दवी पन भी न निकले, और 'भाखापन' भी न हो। जैसे भले लोग—अच्छे से अच्छे आपस में बोलते चालते हैं, ज्यों का त्यों वही सब डौल रहे, और छाँव किसी की न हो।' इन्शा अल्ला खाँ के उद्धरण से पता चलता है, कि वे हिन्दवी, अर्थात् ठेठ हिन्दी के पक्षपाती थे, पर भाखापन से बचना चाहते थे। उन दिनों अरबी-फारसी वाले उस हिन्दी को 'भाखा' कहते थे, जिसमें संस्कृत के तत्सम शब्दों की प्रचुरता रहती थी, चाहे वह ब्रज हो, और चाहे खड़ी बोली हो। इन्शा अल्ला खाँ 'भाखापन' की भाँति अरबी-फारसी के प्रयोगों से भी बचना चाहते थे। उन्होंने रानी केतकी की कहानी में जिस भाषा का प्रयोग किया है, उसमें सर्वत्र एक प्रयत्न दिखाई देता है। उन्होंने अपनी भाषा में भरसक तीन प्रकार के शब्दों से बचने का प्रयत्न किया है—(१) संस्कृत के शब्दों से, (२) अरबी फारसी के शब्दों से, और (३) अवधी और ब्रज के शब्दों से। इन प्रयत्नों के कारण उनकी भाषा में कृत्रिमता आ गई है। उनकी यह भाषा अस्वाभाविक थी, इसलिए उनके पश्चात् कोई उनकी भाषा को ग्रहण भी न कर सका। इसके विपरीत सदासुख लाल की वह भाषा, जो अधिक स्वाभाविक और प्रवाहमय थी, रचना-जगत में बराबर आदर और सम्मान की पात्रिणी बनी रही।

लल्लूलालजी आगरे के निवासी गुजराती ब्राह्मण थे। उनका जन्म संवत् १८२०

में, और मृत्यु सम्वत् १८८२ में हुई। हिन्दी गद्य-जगत में उनका 'प्रेम सागर' अधिक

लल्लू लालजी प्रसिद्ध है। 'प्रेम सागर' की रचना व्रज मिश्रित खड़ी बोली में की गई है। इन्होंने अपनी भाषा में अरबी-फारसी के शब्दों को न आने देने का भरसक प्रयत्न किया है। उनका यह प्रयत्न उनकी भाषा में स्पष्ट रूप से लक्षित होता है। इन्शा अल्ला खाँ की भाँति इनकी भाषा में भी प्रवाह की कमी, और अधिक शिथिलता है।

पं० सदलमिश्र आरा (बिहार) के निवासी थे। फोर्ट विलियम कालेज से उनका सम्बन्ध था। उन्होंने लल्लूलालजी के साथ रह कर, फोर्ट विलियम कालेज के अधि-

पं० सदलमिश्र कारियों की प्रेरणा से गद्य-रचना की। लल्लूलालजी ने प्रेमसागर की रचना की, और इन्होंने 'नासिकेतोपाख्यान' का निर्माण किया। पर दोनों की भाषा में अधिक अन्तर है। लल्लूलालजी की भाषा में जहाँ व्रजभाषा के रूपों, और परम्परागत काव्य भाषा की पदावलियों के प्रयोग की अधिकता है, वहाँ पण्डित सदलमिश्र ने अपनी भाषा का निर्माण व्यावहारिकता की ही पृष्ठभूमि पर किया है। इन्होंने यथा शक्ति खड़ी बोली के शब्दों के प्रयोग का ही प्रयत्न किया है। लल्लूलालजी की अपेक्षा इनकी भाषा अधिक परिष्कृत, और व्यवस्थित दिखाई पड़ती है। पर फोर्ट विलियम कालेज में इनकी भाषा आदर की पात्रिणी न बन सकी थी। कदाचित् इसका कारण यही हो सकता है, कि उनकी भाषा में हिन्दी गद्य की भावी शैली के बीज निहित थे।

इस प्रकार इन लेखकों ने अपनी अपनी भाषा, और शैली से हिन्दी गद्य के प्रचार और प्रसार में प्रशसनीय सहायताएँ पहुँचाईं। यद्यपि इनकी रचनाओं का साहित्यिक महत्व बहुत कम है, पर जितना ही साहित्यिक महत्व कम है, उतना ही ऐतिहासिक महत्व अधिक भी है। इनकी रचनाओं की भाषा और शैली से हिन्दी गद्य की भाषा और शैली के विकास पर पूरा पूरा प्रकाश पड़ता है। इन चारों लेखकों में मुन्शी सदासुखलाल, और पं० सदल मिश्र का स्थान अधिक महत्वपूर्ण है। मुन्शी सदासुखलाल, और पं० सदल मिश्र ने अपनी रचनाओं में जिस भाषा और शैली का प्रयोग किया है, उनकी वही भाषा और शैली आगे चल कर कट छँट कर अधिक साफ-सुथरी और व्यवस्थित बन कर हिन्दी गद्य की परिमार्जित भाषा बनी है।

—:o:—

हिन्दी गद्य के विकास की पहली सीढ़ी

पाठ्य पुस्तकों के द्वारा गद्य का विकास

पिछले अध्याय में हमने उन प्रयत्नों पर प्रकाश डाला है, जिनसे हिन्दी गद्य के प्रचार में सहायता मिली है। इस अध्याय में हम उन प्रयत्नों पर प्रकाश डालेंगे, जिनसे हिन्दी गद्य के विकास में सहायता प्राप्त हुई है। इसका यह अर्थ कदापि नहीं है, कि पिछले अध्याय में जिन लेखकों की चर्चा की गई है, उनकी गद्य-रचनाओं का कोई महत्व नहीं है। वास्तव में बात तो यह है, कि जिन लेखकों की चर्चा पिछले अध्याय में की गई है, हिन्दी के गद्य की विकास की कहानी उन्हीं से प्रारम्भ होती है। अब तक हिन्दी में जो गद्य-रचनाएँ हो चुकी थीं, उन्हीं के आधार पर आवश्यकतानुसार गद्य की रचना की जाने लगी। हिन्दी गद्य के विकास में सर्व प्रथम उन शिक्षा संस्थाओं से सहायताएँ प्राप्त हुईं, जो उन दिनों अँगरेजी शिक्षा के प्रचार के उद्देश्य से स्थापित की गई थीं, किन्तु इसके साथ ही साथ उन्होंने हिन्दी के पठन-पाठन की भी आवश्यकता अनुभव की थी। फोर्ट विलियम कालेज के प्रयत्नों का उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। १८२४ ई० में फोर्ट विलियम कालेज के पाठ्यक्रम में हिन्दी को विशेष रूप से स्थान दिया गया, और तुलसीदासजी के रामायण को पाठ्य ग्रन्थों में संमिलित किया गया। किन्तु इस कार्य में विशेष गति न हुई। थोड़े ही दिनों में हिन्दी के प्रति उक्त कालेज का दृष्टिकोण बदल गया, और हिन्दी को उक्त कालेज में ठीक-ठीक प्रोत्साहन न मिल सका। यह एक ऐसा समय था, जब अँगरेजी शिक्षा के प्रचार के लिए स्कूल, और कालेजों की स्थापना हो रही थी। स्कूलों और कालेजों की स्थापना के साथ ही साथ हिन्दी-गद्य की पुस्तकों की माँग भी बढ़ने लगी। सन् १८२३ ई० में आगरा कालेज की स्थापना हुई, और उसमें हिन्दी-शिक्षा के लिए प्रबन्ध किया गया। स्कूलों और कालेजों में हिन्दी शिक्षा के प्रबन्ध के साथ ही साथ पाठ्य ग्रन्थों के निर्माण के लिए भी प्रयत्न प्रारम्भ हुआ। सन् १८३३ में इसके लिए 'आगरा बुक स्कूल सोसाइटी' की स्थापना की गई। इसके पूर्व १८१७ ई० में कलकत्ता में 'कलकत्ता बुक सोसाइटी' की स्थापना हो चुकी थी। इन संस्थाओं ने पाठ्य पुस्तकों के निर्माण में प्रशंसनीय योग दिया। इन संस्थाओं की ओर से विभिन्न विषयों पर पुस्तकें प्रकाशित की गईं, जिनमें कथा सार, भूगोल

सार, रसायन प्रकाश, पदार्थ विद्यासार, और भू-चरित्र दर्पण इत्यादि का मुख्य स्थान था।

यह पुस्तकें स्कूलों और कालेजों के लिए तैयार की गई थीं। इसलिए इनकी भाषा और शैली पर भी विशेष रूप से ध्यान दिया गया था। यद्यपि साहित्यिक दृष्टि से इन पुस्तकों का विशेष महत्व नहीं था, पर भाषा और शैली के परिष्करण में इन पुस्तकों से विशेष सहायता प्राप्त हुई है। इन पुस्तकों की भाषा में शिथिलता है, पर वह व्यवस्थित, और परिमार्जित है। इन पुस्तकों के प्रकाशन से परिमार्जित भाषा के प्रचार में सहायता प्राप्त हुई; साथ ही विभिन्न विषयों पर रचना करने की प्रकृति को भी इनसे प्रोत्साहन प्राप्त हुआ है।

हिन्दी गद्य के विकास में ईसाई धर्म प्रचारकों से महत्व पूर्ण सहायता प्राप्त हुई है। ईसाई धर्म-प्रचारकों को हिन्दू समाज में अपने धर्म का प्रचार करना था, अतएव

ईसाई धर्म-प्रचारक और हिन्दी गद्य

उन्होंने हिन्दू समाज का अध्ययन बड़ी गम्भीरता के साथ किया था। उन्होंने हिन्दू समाज का अध्ययन करके यह बात भली भाँति जान ली थी, कि यदि हिन्दुओं में अपने धर्म का प्रचार करना है, तो उन्हें हिन्दी की शरण लेनी ही पड़ेगी। अतः उन्होंने अपने धर्म प्रचार के उद्देश्य से ही हिन्दी को ग्रहण किया, और गद्यात्मक पुस्तकों के निर्माण में योग दिया। उन दिनों कलकत्ते के निकट सिरामपुर में ईसाई धर्म प्रचारकों का केन्द्र था। इस केन्द्र की ओर से इञ्जील का अनुवाद भारत की विभिन्न भाषाओं में प्रकाशित किया गया। ऊपर जिस केन्द्र की चर्चा की गई है, इसके मुख्य अधिकारियों में केरे, वार्ड, और मार्शमैन का नाम महत्व पूर्ण था। यह तीनों ही अच्छे विद्वान, और हिन्दू समाज के रहस्यों के अच्छे ज्ञाता थे। कहा जाता है, कि केरे ने स्वयं हिन्दी में बाइबिल का अनुवाद किया था। सम्वत् १८६६ में उसने 'नए धर्म का नियम' अनुवाद करके हिन्दी में प्रकाशित कराया। 'वार्ड' ने 'हिन्दूज' नाम की पुस्तक लिखी, जिसमें हिन्दू समाज पर प्रकाश डाला गया था। मार्शमैन ने भी ईसाई धर्म के कई ग्रन्थों का अनुवाद हिन्दी में किया। धर्म ग्रन्थों का अनुवाद करने के साथ ही साथ उसने शिक्षा, और विज्ञान सम्बन्धी पुस्तकें भी हिन्दी में लिखीं। पुस्तकों के अतिरिक्त ईसाई प्रचारकों की ओर से बहुत सी छोटी छोटी नोटिसें और पुस्तिकाएं भी छाप कर वितरित की गईं। मिर्जापुर, आगरा, और पटना इत्यादि स्थानों में प्रेसों की भी स्थापना की गई। छोटे छोटे स्कूल, और कालेज भी खोले गए। कहीं-कहीं चिकित्सालयों, और कहीं कहीं औषधि-केन्द्रों की भी स्थापना की गई। इस प्रकार देश के विभिन्न भागों में ईसाई धर्म-प्रचारकों ने अपने धर्म-प्रचार के उद्देश्य से हिन्दी को पहुँचाने का प्रयत्न किया। यद्यपि उनके इस प्रयत्न में हिन्दी के कल्याण की अपेक्षा उनके स्वार्थ की ही प्रधानता थी, पर इसमें सन्देह नहीं, कि उनके इस स्वार्थ पूर्ण प्रयत्न से हिन्दी गद्य के विकास में महत्व पूर्ण सहायता प्राप्त हुई है।

इन ईसाई धर्म प्रचारकों ने अपने ग्रन्थों, सूचना पत्रों, और छोटी छोटी पुस्तिकाओं में जिस भाषा का प्रयोग किया है, वह वही भाषा है, जो मुन्शी सदासुख और लल्लूलालजी की भाषा है। ईसाई धर्म प्रचारकों ने अपने ग्रन्थों में मुख्य रूप से संस्कृत मिश्रित भाषा को ही स्थान दिया है। उन्होंने ठेठ ग्रामीण शब्दों को भी ग्रहण किया है, किन्तु अरबी-फारसी के शब्दों को अपनी रचना से यथाशक्ति दूर रखने का प्रयत्न किया है। इसका कारण केवल यही है, कि उन दिनों जन समाज में यही भाषा प्रचलित थी, और इसी का सम्मान था। बिना इस भाषा को ग्रहण किए हुए ईसाई धर्म प्रचारकों का वह उद्देश्य पूर्ण नहीं हो सकता था, जिसकी प्रेरणा से उन्होंने अपनी पुस्तकों का प्रकाशन किया था।

प्रेस और पत्रकारिता

अँगरेजों के सम्पर्क से देश में एक नये जीवन का सञ्चार हुआ। अँगरेजों का शासन स्थापित होने के पश्चात् देश में कई ऐसे अँगरेज विद्वानों का आगमन हुआ, जिनके विचार बहुत ही सुलझे हुए, और परिष्कृत थे। इन विद्वानों ने देश को नए जीवन की ओर जाने में महत्व पूर्ण सहायता की। उन्होंने शिक्षा के प्रचार में योग दिया, और महत्व पूर्ण सामाजिक सुधार भी किए। यद्यपि यह सब जो कुछ हुआ, ईसाई धर्म के प्रचार की ही ओट में हुआ, पर इसमें सन्देह नहीं किया जा सकता, कि उससे देश को महत्व पूर्ण लाभ ही हुआ। एक ओर शिक्षा का प्रचार हुआ, और दूसरी ओर वैज्ञानिक भावना के फैलने में सहायता मिली। अँगरेजों के आगमन के पश्चात् से ही देश के भीतर वैज्ञानिक भावना का प्रसार हुआ है। देश में वैज्ञानिक भावना का प्रसार होने के कारण प्रेसों की स्थापना की गई। सर्व प्रथम ईसाई मिश्नरियों के द्वारा ही प्रेसों की स्थापना की गई। ईसाई मिश्नरियों क द्वारा देश क भीतर मुद्रण कला के प्रचार में सहायता मिली है। जहाँ तक पता चला है, उसके आधार पर यह कहा जा सकता है, कि सर्व प्रथम कलकत्ता, मिर्जापुर, पटना और आगरा इत्यादि स्थानों में ईसाई मिश्नरियों के उद्योग से प्रेसों स्थापना की गई। ईसाई मिश्नरियों ने बड़े उत्साह के साथ इस कार्य में योग दिया। उन्होंने स्थान स्थान में प्रेसों की स्थापना करके चालिस भारतीय भाषाओं में बाइबिल के अनुवाद प्रकाशित किए। सैकड़ों प्रकार की नोटिसें और पुस्तिकाएँ भी उन्होंने छाप कर वितरित की। उनके इस कार्य को देख कर अन्यान्य लोगों का ध्यान भी प्रेसों की ओर आकृष्ट हुआ, फल स्वरूप प्रेसों की स्थापना होने लगी, और हिन्दी गद्य-पद्य की पुस्तकें छपने लगीं।

पत्रकार कला भी अँगरेजों की ही देन है। प्रेसों की स्थापना होने के पश्चात् लोगों का ध्यान पत्रकारिता की ओर आकृष्ट हुआ। हिन्दी में सर्व प्रथम जिस पत्र के द्वारा पत्रकारिता को जन्म मिला है, वह कलकत्ते का 'उदंत मार्तण्ड' था। 'उदंत मार्तण्ड' का प्रथम अङ्क १८२६ ई० की ३०वीं मई को प्रकाशित हुआ था। यह साप्ताहिक पत्र था। लगभग डेढ़ वर्षों तक इसका प्रकाशन हुआ। १८२७ ई० की ४ दिसम्बर को इसका प्रकाशन बन्द कर दिया गया। इसका कारण हिन्दी पाठकों की

कमी थी। उस समय बहुत कम ऐसे लोग थे, जिनके भीतर हिन्दी समाचार पत्र पढ़ने की अभिरुचि थी। हिन्दी समाचार पत्रों की ओर से बहुत दिनों तक लोगों के मन में उपेक्षा का यह भाव बना रहा, जिसके परिणाम-स्वरूप बहुत दिनों तक पत्रकारिता का आसन हिन्दी-जगत में स्थायी न हो सका। 'उदंत मार्तण्ड' के पश्चात् हिन्दी का जो दूसरा पत्र निकला, वह 'बंगदूत' था। 'बंगदूत' का प्रकाशन १८२६ ई० की नवीं मई को आरम्भ हुआ था। यह अँगरेजी, बँगला, हिन्दी और फारसी चार भाषाओं में प्रकाशित होता था। इसके संचालकों में राजा राम मोहनराय ऐसे व्यक्ति थे। १८३४ ई० में कलकत्ते से ही 'प्रजामित्र' प्रकाशित हुआ। १८४४ ई० में काशी से 'बनारस' पत्र निकला। इसके जन्मदाता राजा शिवप्रसाद सितारे हिन्द थे। हिन्दी भाषा प्रदेश का यही पहला पत्र था। इसके पश्चात् १८४६ ई० में 'मार्तण्ड' का प्रकाशन हुआ। यह हिन्दी, उर्दू, बँगला, अँगरेजी, और फारसी पाँच भाषाओं में प्रकाशित होता था। इसके संपादक मौलवी नासिरुद्दीन थे। इसके पश्चात् तो शनैः शनैः पत्रों के प्रकाशन में अभिवृद्धि होने लगी, और सभी प्रकार के पत्र प्रकाशित होने लगे। पत्रों के प्रकाशन से हिन्दी गद्य के प्रचार और प्रसार से प्रशंसनीय उन्नति हुई।

अँगरेजी शिक्षा का जन्म और उसका प्रचार

मुगलों के शासन की समाप्ति के पश्चात् शनैः शनैः देश के भीतर अँगरेजों का राज्य स्थापित हो गया। अँगरेजों का शासन स्थापित होने के साथ ही साथ देश में नए जीवन का प्रारम्भ हुआ। नए जीवन के क्षेत्र में सर्व प्रथम अँगरेजों ने जो कार्य किया, वह था शिक्षा में आमूल परिवर्तन। अँगरेज शिक्षा के महत्त्व को भली भाँति जानते थे। अतः सर्व प्रथम उन्होंने शिक्षा के ढाँचे में ही परिवर्तन किया। पहले सन् १८१३ ई० में एक कानून पास किया गया था, जिसके द्वारा देश के भीतर संस्कृत और फारसी की शिक्षा को प्रोत्साहन प्रदान दिया गया था। पर उस समय के कुछ गण्यमान भारतीय, जिनमें राजाराम मोहनराय प्रमुख थे, फारसी और संस्कृत की शिक्षा के विरुद्ध थे। उनका कथन था, कि देश में एक ऐसी शिक्षा पद्धति प्रवर्तित की जाय, जिससे देश के भीतर नए जीवन का आलोक फैले। राजाराम मोहनराय ने अँगरेजी की नवीन शिक्षा के लिए प्रयत्न करना भी प्रारम्भ कर दिया। उन्होंने एक अँगरेजी स्कूल की भी स्थापना की। इसके पश्चात् सम्वत् १८८४ में ईस्ट इण्डिया कम्पनी के डाइरेक्टरों के पास भारतवर्ष में अँगरेजी शिक्षा के प्रचार के लिए परामर्श पत्र भेजा गया। कुछ दिनों तक तो यह परामर्श-पत्र खटाई में पड़ा रहा, पर इसके पश्चात् डाइरेक्टरों की स्वीकृति प्राप्त हो गई, और अँगरेजी शिक्षा के प्रचार के लिए देश में प्रयत्न किया जाने लगा। राजाराममोहनराय इत्यादि मनीषियों के प्रयत्न से कलकत्ते में हिन्दू कालेज की स्थापना हुई, जिसमें अँगरेजी की शिक्षा के लिए मुख्य रूप से प्रबन्ध किया गया। इसी प्रकार के और भी कई कालेज स्थापित हुए। धीरे-धीरे अँगरेजी के स्कूलों और कालेजों की संख्या बढ़ने लगी।

अँगरेजी को मुख्य रूप से राज भाषा के रूप में स्वीकार किया गया। सरकारी नौकरियों के लिए अँगरेजी का ज्ञान अनिवार्य कर दिया गया; परिणाम स्वरूप कुछ ही दिनों में, देश में चारों ओर अँगरेजी शिक्षा का प्रवाह उमड़ पड़ा।

अँगरेजी शिक्षा के प्रचार से, इसमें सन्देह नहीं, कि देश में नए आलोक की लहर फैली, पर इसमें भी सन्देह नहीं कि ज्यों ज्यों अँगरेजी शिक्षा का प्रचार बढ़ता गया, लोग भारतीयता की ओर से विमुख होते गए। अँगरेजी शिक्षा के प्रचार के साथ ही साथ अँगरेजी सभ्यता का प्रभाव भी देश के ऊपर छा गया। अँगरेजी शिक्षा का प्रचार होने के पश्चात् भी कुछ दिनों तक संस्कृत और फारसी को प्रोत्साहन मिलता रहा। पर धीरे धीरे लोगों की रुचि संस्कृत और फारसी की ओर से हट गई। कुछ दिनों के पश्चात् सरकार भी संस्कृत, और फारसी की ओर से पूर्ण रूप से उदासीन हो गई।

ओट में ईसाई धर्म का प्रचार

अँगरेज शिक्षा के महत्व से सुपरिचित थे। वे यह भी जानते थे, कि किसी जाति को दासता के बन्धनों में जकड़ने के लिए भाषा से किस प्रकार सहायता ली जा सकती है। हिन्दुस्तान में पैर जमाने के साथ ही साथ अँगरेजों ने देश में अँगरेजी शिक्षा का प्रचार करना प्रारम्भ कर दिया। अँगरेजी शिक्षा के प्रचार के लिए स्कूल, और कालेज स्थापित किए गए। हिन्दुस्तान में अँगरेजी का शीघ्र से शीघ्र प्रचार हो—इसके लिए अँगरेजों ने सरकारी नौकरी प्राप्त करने के लिए अँगरेजी के ज्ञान को अनिवार्य बना दिया; परिणाम स्वरूप लोग बड़े जोरों के साथ अँगरेजी की ओर आकर्षित हुए। यह आकर्षण इतना अधिक तीव्र गामी हुआ, कि लोग अपनी अपनी भाषाओं को भूल कर अँगरेजी पढ़ने लगे। धीरे धीरे देशी भाषाओं की ओर से लोगों की अभिरुचि जाती रही। इसका एक मात्र कारण यही था, कि देशी भाषाओं के पठन-पाठन से उन्हें जीविका प्राप्त करने में सहायता नहीं मिलती थी। अँगरेजी शिक्षा के प्रचार से ईसाई धर्म प्रचारकों ने ईसाई धर्म के प्रचार में अधिक लाभ उठाया। अँगरेजी स्कूलों और कालेजों में अँगरेजी शिक्षा के साथ ही साथ बाइबिल की भी शिक्षा दी जाने लगी। इसका परिणाम यह हुआ, कि नव शिक्षा प्राप्त भारतीय युवक ईसाई धर्म में दीक्षित होने लगे। ईसाई धर्म प्रचारकों और अँगरेजों की इस शिक्षा-नीति के कारण देश के भीतर धीरे धीरे असंतोष की भावना जागृत हो उठी। इसी असंतोष की भावना का विकराल स्वरूप सन् १८५७ का सिपाही विद्रोह था।

नवीन चेतना की लहर

सिपाही विद्रोह एक राजनीतिक असफल प्रयास था। इस प्रयास के विफल हो जाने के पश्चात् राजनीतिक प्रयास का पूर्ण रूप से अन्त हो गया। अँगरेजी शिक्षा के आलोक में देश के मनीषियों ने जब देश की राजनीतिक, और सामाजिक स्थिति का अध्ययन किया, तो उन्होंने देश को एक ऐसे वातावरण और परिस्थिति में पाया, जो राजनीतिक आंदो-

लनों के लिए बिलकुल अनुपयुक्त था। अतः उनका ध्यान राजनीति की ओर से हट कर समाज की ओर गया, और समाज का संगठन किया जाने लगा। समाज में जो कुरीतियाँ घुस गई थीं, उन्हें दूर करने के लिए प्रयत्न किया जाने लगा। प्राचीन संस्कारों को ढहाने, और नवीन संस्कारों को जन्म देने का प्रयास होने लगा। जाति पाँति, ऊँच नीच, और पारस्परिक भेद भावों को दूर करने के लिए प्रयत्न होने लगा। सामाजिक विकारों और कुरीतियों के निवारणार्थ कई संस्थाएँ और सभा समितियाँ भी अस्तित्व में आईं। समाचार पत्र और पत्रिकाओं का प्रकाशन भी किया जाने लगा। नवीन भावों की प्रेरणा से पुस्तकों की रचना भी होने लगी। इन्हीं दिनों कई ऐसे कानून भी बने, जिनके द्वारा सामाजिक कुरीतियों के विनाश में सहायता प्राप्त हुई। इन कानूनों में सतीदाह, और कन्याबध निषेध इत्यादि कानून मुख्य थे। यद्यपि इन कानूनों के निर्माण में ईसाई धर्म-प्रचारकों का मुख्य हाथ था, किन्तु इसमें रंच मात्र भी सन्देह नहीं, कि इनके द्वारा हिन्दू-समाज का अधिक कल्याण ही हुआ है। इन्हीं दिनों भारत के शासन की बागडोर ईस्ट इण्डिया कम्पनी के हाथों से निकल कर इङ्गलैंड की महारानी के हाथों में गया। इस राजनीतिक परिवर्तन का प्रभाव भारत के सामाजिक, राजनीतिक, और शैक्षिक जीवन पर पर्याप्त रूप में पड़ा। इस परिवर्तन के पश्चात् इंगलैण्ड के सैकड़ों विचारशील अँगरेजों का आगमन भारतवर्ष में हुआ। उन्होंने अपने दृष्टिकोण से भारत के सामाजिक जीवन का अध्ययन करके उसे उन्नत शील बनाने का प्रयत्न किया। अँगरेजों और नव शिक्षा प्राप्त भारतीयों के प्रयत्न से नवीन युग, और नवीन चेतना की लहर हिन्दुस्तान के कोने कोने में दौड़ गई। इन्हीं दिनों अँगरेजों के प्रयत्न से विज्ञान का जन्म भी नए ढग से भारतवर्ष में हुआ। रेल और तार इत्यादि नए तथा उपयोगी वैज्ञानिकों साधनों का सम्बन्ध देश के जीवन के साथ जोड़ा गया; परिणाम स्वरूप देश के भीतर, एक कोने से लेकर दूसरे कोने तक नया जीवन, और नई चेतना तरंगायित होने लगी।

देश में नई चेतना की लहर तो दौड़ी, पर उसके साथ ही साथ हिन्दी के मार्ग में कठिनाइयाँ भी उत्पन्न हो गईं। अँगरेजी शिक्षा का प्रचार होने के पश्चात् अँग-

हिन्दी की उपेक्षा रेजी सरकार का ध्यान इस बात की ओर गया, कि अदालतों में किस भाषा को स्थान दिया जाय। मुगलों के शासन काल में सम्पूर्ण अदालती काम काज फारसी भाषा और लिपि में ही हुआ करते थे। पर अब युग बदल गया था। अब फारसी भाषा, और लिपि के प्रति जनता में कोई अभिरुचि नहीं थी। फारसी भाषा और लिपि को समझने में जनता को कठिनाइयाँ भी हुआ करती थीं। अतः अदालती भाषा का प्रश्न अँगरेजी सरकार के सामने मुख्य रूप से उपस्थित हुआ। अँगरेजों ने भाषा के प्रश्न पर भली भाँति विचार करके सन् १८३६ में यह आदेश प्रचारित किया, कि अदालती काम काजों में देशी भाषाओं का प्रयोग किया जाय। इस आदेश के अनुसार संयुक्त प्रान्त में 'हिन्दी' को भी स्थान प्राप्त हो गया।

आदेश में 'नागरी' लिपि के प्रयोग पर तो जोर नहीं दिया गया था, पर इस बात पर अवश्य जोर दिया गया था, कि 'बोली' या भाषा 'हिन्दी' होनी चाहिए। लिपि के रूप में नागरी, और फारसी को ही मान्यता प्रदान की गई थी। पर मुसलमानों की ओर से सरकार के इस आदेश-पत्र का तीव्र विरोध किया गया। मुसलमानों की ओर से स्पष्ट रूप से यह बात कही गई, कि अदालती भाषा के रूप में 'हिन्दी' को नहीं, उर्दू को स्थान मिलना चाहिए। मुसलमानों ने इसके लिए आंदोलन भी खड़ा किया। यद्यपि विद्वान अँगरेज उर्दू की अपेक्षा हिन्दी की श्रेष्ठता को स्वीकार करते थे, पर फिर भी उन्होंने 'उर्दू' को ही प्रश्रय दिया। मेरी समझ में इसके दो मुख्य कारण हो सकते हैं—(१) हिन्दी बहुमत की भाषा थी, इसलिए उसमें राष्ट्रीय और सांस्कृतिक बीज निहित थे। (२) हिन्दी का पक्षपात वे लोग कर रहे थे, जिनमें राष्ट्रीय भावनाएँ थीं। फलतः १८३७ ई० में उर्दू को प्रान्त की अदालती भाषा के रूप में स्वीकार कर लिया गया, और सम्पूर्ण अदालती काम-काजों में उसका प्रचलन होने लगा।

अदालती भाषा के रूप में उर्दू के स्वीकृत हो जाने पर लोग विवश होकर उसके पठन-पाठन में लग गए। यद्यपि उर्दू और उसकी लिपि के प्रति किसी के मन में आकर्षण न था, पर अदालती काम काज उर्दू में ही होते थे, इसलिए जीविका के लिए लोगों ने उर्दू पढ़ना प्रारम्भ कर दिया। स्कूलों और कालेजों में भी उर्दू का प्रचार अधिक बढ़ा। हिन्दी एक प्रकार से दब सी गई।

हिन्दी की शक्ति

पर क्या हिन्दी पदाक्रांत की जा सकी? अँगरेजी सरकार द्वारा पूर्ण रूप से उपेक्षित होने पर भी हिन्दी जनता की गोद में पलने लगी। जिन दिनों उर्दू अँगरेजी सरकार के हाथों के पालने पर झूल रही थी, उन दिनों हिन्दी का स्थान जनता के हृदय में था। इसका कारण यह था, कि हिन्दी में भारतीय जनता की संस्कृति और उसकी युगों की राष्ट्रीय सम्पत्ति तुलसीदास के रामचरित मानस और सूरदासजी के भजनों के रूप में सुरक्षित थी। उर्दू केवल अदालती कागजों पर ही होती थी, पर हिन्दी जनता के कंठ कंठ से निकलती थी। अँगरेजों द्वारा उपेक्षित होने पर भी हिन्दी अपने प्रेमियों के बीच में फलती-फूलती रही। यद्यपि उसे संकीर्ण मार्गों से निकलना पड़ा, यद्यपि उसके मार्ग में अनेकों विघ्न बाधाओं के दुर्गम शैल पड़े, पर वह जिस प्रकार सँकरे मार्गों से निकल कर, दुर्गम पहाड़ों को पार करके उन्नति के क्षेत्र में प्रवृष्ट हुई है, वह उसकी आन्तरिक शक्तिमत्ता का सबसे बड़ा दृष्टांत है।

हिन्दी गद्य का यह अभी प्रारम्भिक काल था। पर अपने प्रारम्भिक काल में ही हिन्दी को अधिक कठिनाइयों का मार्ग तै करना पड़ा। हिन्दी को प्रोत्साहन तो मिला ही नहीं, उसका विरोध पूरी शक्ति के साथ किया गया। उर्दू के पक्षपातियों ने यथाशक्ति हिन्दी की उन्नति के मार्ग में बड़ी बड़ी दीवारें खड़ी कर दी थीं। सरकार भी हिन्दी को दबाने का ही प्रयत्न कर रही थी। सरकार के हाथ में जितने

साधन थे, उन सब का प्रयोग उसने हिन्दी की उन्नति के विरुद्ध किया। उसने हिन्दी के लिए अदालतों और पाठशालों का द्वार बन्द कर दिया। उन दिनों हिन्दी जगत में जो समाचार पत्र निकलते थे, सरकार की ओर से उनकी पूर्ण रूप से उपेक्षा की जाती थी। हिन्दी जानने वालों, और हिन्दी के विद्वानों तथा प्रेमियों को सरकारी नौकरियों से सदा विलग रक्खा जाता था। पर फिर भी हिन्दी की प्रगति निरन्तर जारी ही रही। सरकार की ओर से उपेक्षा मिलने पर भी हिन्दी की जनता की गोद में आदर के साथ पलती रही। यद्यपि स्वयं सरकार भी मन ही मन हिन्दी, और देवनागरी लिपि की उपयोगिता को स्वीकार करती थी; पर उसने अपनी हठ धर्मी और उर्दू के पक्षपातियों के विरोध के कारण कभी हिन्दी को उसका उचित और न्यायानुमोदित स्थान न दिया।

पत्रों का प्रकाशन और हिन्दी गद्य

हिन्दी के इस संकट कालीन इतिहास में राजाशिवप्रसाद सितारे हिन्द का नाम चिरस्मरणीय रहेगा। जिन दिनों हिन्दी सरकार के द्वारा पूर्ण रूप से उपेक्षित होकर अपने जीवन के मार्ग पर चल रही थी, काशी से हिन्दी में एक अखबार निकला। इस अखबार का नाम 'बनारस अखबार' था। यह संवत् १९०२ में लीथो में छपकर प्रकाशित हुआ था। यद्यपि इसकी भाषा उर्दू ही रक्खी गई थी, पर उसके अक्षर देवनागरी के थे। पत्र बहुत ही साधारण ढंग का था, और बहुत ही घटिया कागज पर छपता था। पर इससे हिन्दी की उस प्रगति का पता चलता है, जो उस विरोध में भी उसके भीतर विद्यमान थी। इस पत्र की भाषा में अरबी और फारसी के शब्दों के बीच में हिन्दी के शब्द सूर्य, और चन्द्र की भाँति चमकते थे। भाषा की दृष्टि से बनारस अखबार में अरबी और फारसी के शब्दों की बहुलता रहती थी। जनता ने देवनागरी लिपि में छपे हुए बनारस अखबार का स्वागत तो किया, पर साथ ही उसे भाषा में अरबी और फारसी के शब्दों की बहुलता खटकी। इस बहुलता का प्रतिकार 'सुधाकर' के प्रकाशन से किया गया। 'सुधाकर' का प्रकाशन कुछ हिन्दी प्रेमी व्यक्तियों के प्रयत्न से किया गया था, जिनमें तारामोहन मित्र इत्यादि का प्रमुख स्थान था। 'सुधाकर' की भाषा बनारस अखबार के विपरीत थी। बनारस अखबार में जहाँ अरबी और फारसी के शब्दों की बहुलता थी, वहाँ सुधाकर में हिन्दी के शब्दों की अधिकता थी। हिन्दी के प्रेमियों और विद्वानों ने सुधाकर का हृदय से स्वागत किया। सुधाकर के प्रकाशन के दो वर्ष पश्चात् अर्थात् सम्वत् १९०९ में आगरे से 'बुद्धि प्रकाश' नामक पत्र प्रकाशित हुआ, जो भाषा की दृष्टि से इन सब में अधिक प्रगतिशील था।

ऊपर राजाशिव प्रसाद सितारे हिन्द के नाम का उल्लेख किया जा चुका है। राजाशिवप्रसाद काशी के नागरिक, और हिन्दी के अनन्य प्रेमी थे। यद्यपि सरकार

राजाशिवप्रसाद सितारे हिन्द

ने हिन्दी को उपेक्षित करने में किसी प्रकार की कोर कसर न रक्खी। पर उसकी आन्तरिक शक्ति को वह भली भाँति जानती थी। सरकार को वह अच्छी तरह मालूम था, कि हिन्दी इस देश की जन भाषा है। अतः वह मन ही मन उसकी उपयोगिता को भी स्वीकार करती थी। सरकार की उपेक्षा के प्रति कभी कभी हिन्दी प्रेमियों की ओर से टीका-टिप्पणी भी हुआ करती थी; परिणाम स्वरूप सरकार ने हिन्दी को सरकारी पाठालयों में स्थान दिया। हिन्दी की पाठ्य पुस्तकों में रामायण और प्रेम सागर ऐसी धार्मिक पुस्तकों को स्थान दिया गया, पर इस बात का प्रयत्न नहीं किया गया, कि प्रत्येक क्षेत्र में हिन्दी की अधिक उन्नति हो। इन्हीं दिनों राजाशिवप्रसाद सितारे हिन्द का शिक्षा विभाग में आगमन हुआ। राजाशिवप्रसाद हिन्दी के पूर्ण पक्षपाती थे। वे स्वयं लेखक थे, और शुद्ध संस्कृत मिश्रित भाषा लिख सकते थे। उन्होंने कई पुस्तकों की रचना की है, जिनमें मानव धर्मसार, योग वशिष्ठ के चुने हुए श्लोक, 'उपनिषदसार' भूगोल हस्तामलक, बामा मनरंजन, आलसियों का कोड़ा, विद्याकुर, राजाभोज का सपना और वर्णमाला इत्यादि आधिक प्रसिद्ध हैं। इन पुस्तकों में उन्होंने जिस भाषा का प्रयोग किया है, वह संस्कृत मिश्रित है। इन पुस्तकों की भाषा से यह भी पता चलता है, कि राजा साहब की भाषा पहले तो संस्कृत मिश्रित होती थी, पर वह धीरे धीरे अरबी और फारसी मिश्रित उर्दू की ओर झुकती गई है। उनकी कुछ अंतिम पुस्तकों में विशुद्ध उर्दू का ही प्रयोग हुआ है। इतिहास तिमिर नाशक में, जिसकी रचना उन्होंने सन् १८६४ में की थी, विशुद्ध उर्दू का ही प्रयोग हुआ है। इतिहास तिमिर नाशक और उक्त पुस्तकों की भाषा में अधिक अंतर है। इन पुस्तकों में जहाँ संस्कृत मिश्रित भाषा का प्रयोग हुआ है, वहाँ इतिहास तिमिर नाशक में अरबी फारसी की गोद में पली हुई उर्दू ही दिखाई देती है। इतना ही नहीं, राजाशिवप्रसाद उर्दू की वकालत भी करने लगे थे। वे उर्दू को हमारे मुल्क की मुख्य भाषा के रूप में अधिक आदर और प्रतिष्ठा का स्थान भी देते थे।

यह बात विचारणीय है, कि राजाशिवप्रसाद की भाषा में यह परिवर्तन क्यों कर उपस्थित हुआ? राजाशिवप्रसाद सरकारी कर्मचारी थे। वे शिक्षा-विभाग में इन्स्पेक्टर के पद पर नियुक्त थे। वे हिन्दी और देवनागरी लिपि के पक्षपाती थे। उनमें सरकारी पद पर प्रतिष्ठित होने के पश्चात् ही यह परिवर्तन उपस्थित हुआ है। इस परिवर्तन का कारण, हो सकता है, सरकार की नीति, और समय की गति हो। उस समय सरकार की नीति अरबी-फारसी के पक्षपात की नीति थी। इतना ही नहीं, उन दिनों कचहरियों में उर्दू का बोल बाल था। उन दिनों वही लोग उन्नति कर सकते थे, जो उर्दू के विद्वान होते थे, या जो उर्दू जानते थे। ऐसा लगता है, कि राजाशिव प्रसाद ने सरकारी नीति और समय की गति से ही प्रभावित होकर उर्दू में रचनाएँ की हैं। क्योंकि उनकी उर्दू की रचनाओं में भी उनका देवनागरी का प्रेम अखंड रूप से वर्तमान है। उनकी भाषा उर्दू अवश्य है, पर उसकी लिपि देवनागरी

ही है। इससे पता चलता है, कि राजाशिवप्रसाद ने अँगरेजी सरकार की भाषा-नीति से प्रभावित हो करके ही अपनी भाषा में परिवर्तन किया है। उन दिनों शिक्षा-विभाग में उच्चपदों पर अँगरेज ही अफसर काम किया करते थे। अँगरेज अफसरों की दृष्टि में हिन्दी एक गँवारू भाषा थी। फिर राजाशिवप्रसाद हिन्दी का पक्ष कैसे ले सकते थे? उन्होंने वही किया, जो उन दिनों एक राजभक्त कर सकता है। उन्होंने अपने महाप्रभुओं की इच्छा के अनुसार, जहाँ तक हो सका, अपनी भाषा को उर्दू के साँचे में ढाला, और उसे संस्कृत या हिन्दी के शब्दों से दूर रक्खा। राजा साहब की भाषा का स्वरूप निम्नांकित पंक्तियों में देखिए—'तुगलक का भाई मशकूर खाँ निहायत हसीन था, बगावत का शुबहा हुआ, पूछने पर, कि उकूबत और सियासत के डर से मौत को बेहतर समझते हैं।' पर संस्कृत मिश्रित भाषा का जो प्रवाह था, उसकी गति मन्द न हुई। इधर सरकारी क्रोड़ में अरबी-फारसी मिश्रित भाषा पलती रही, और उधर उस भाषा का प्रवाह भी जारी रहा, जो संस्कृत मिश्रित थी।

सरकारी नीति के कारण राजाशिवप्रसाद सितारे हिन्द ने अपनी भाषा को उर्दू के साँचे में अवश्य ढाला; पर इसमें सन्देह नहीं, कि उनके द्वारा हिन्दी का अधिक कल्याण हुआ। हिन्दी के पक्ष में उनके द्वारा जो सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण बात हुई है, वह है देवनागरी लिपि का प्रचार। भाषा के स्थान में उर्दू को ग्रहण करने पर भी उन्होंने देवनागरी लिपि और अक्षरों पर अधिक बल दिया। इस रूप में हम यह कह सकते हैं, कि उन्होंने हिन्दी भाषा के एक महत्त्वपूर्ण अंग—लिपि के प्रचार में प्रशंसनीय योग प्रदान किया। उन्होंने हिन्दी को सरकारी पाठालयों में स्थान दिलाने के लिए प्रयत्न किया, यह भी एक चिर स्मरणीय बात है। अदालतों से हिन्दी को बहिष्कृत करने के पश्चात् उर्दू के पक्षपातियों का इस बात के लिए दृढ़ प्रयत्न था, कि हिन्दी को सरकारी पाठालयों में भी स्थान न मिले। इस प्रकार के प्रयत्न करने वालों में सरसैयद अहमद खाँ का महत्व पूर्ण स्थान था। सर सैयदअहमद और उनके साथियों ने सरकारी पाठालयों से हिन्दी को बहिष्कृत कराने में ऐड़ी-चोटी का पसीना एक कर दिया। उन दिनों राजाशिवप्रसाद सितारे हिन्द ही एक ऐसे थे, हिन्होंने हिन्दी के लिए मुसलमानों के विरोध का सामना किया। जिस प्रकार सरसैयद अहमद सरकार के निकट आदर के पात्र थे, उसी प्रकार राजा-शिव प्रसाद सितारे हिन्द भी आदरणीय और सम्मानित समझे जाते थे। अतः जब उन्होंने हिन्दी के पक्ष में आवाज उठाई, तब अँगरेजी सरकार के सामने भाषा को लेकर एक विवादात्मक प्रश्न उत्पन्न हो गया। अँगरेजी सरकार मुसलमानों की पीठ अवश्य सहलाया करती थी, पर वह इस बात का साहस नहीं कर सकती थी, कि राजाशिवप्रसाद ऐसे व्यक्तियों की बात की अवहेलना करे। अतः हिन्दी और उर्दू को लेकर एक विवाद सा प्रारम्भ हो गया। इस विवाद में कई विदेशियों ने भी भाग लिया, जिनमें 'गार्सादतासी' का मुख्य स्थान है। गार्सादतासी एक फ्रांसीसी विद्वान थ, जो पेरिस में हिन्दुस्तानी का अध्यापक था। उसने हिन्दी के विरोध में

खुल कर सरसैयद अहमद का साथ दिया। उसने हिन्दी के विरोध और उर्दू के पक्ष में पुस्तक लिखी, तथा समाचार पत्रों में वक्तव्य भी निकाले। देशी मुसलमानों की ओर से भी उर्दू के पक्ष में अधिक प्रयत्न किया गया। इस विवाद से हिन्दी का अधिक कल्याण ही हुआ। ज्यों ज्यों हिन्दी और उर्दू को लेकर विवाद बढ़ता गया त्यों त्यों हिन्दी की वैज्ञानिकता लोगों के सामने आती गई। इस विवाद से उन लोगों के भीतर प्रगति भी उत्पन्न हुई, जो हिन्दी के पक्षपाती थे। अतः हिन्दी और उर्दू के इस विवाद को हम हिन्दी के लिए एक वरदान ही मानते हैं।

हिन्दी गद्य—प्रथम प्रयास

हिन्दी गद्य के जन्म काल में उसे अधिक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा है। हिन्दी और उर्दू के पारस्परिक विवाद से यद्यपि हिन्दी का अधिक कल्याण ही हुआ

हिन्दी का विरोध

है, पर यह तो सत्य ही है, कि हिन्दी को बड़े बड़े विघ्नों और बाधाओं की खाइयाँ पार करनी पड़ी हैं। हिन्दी ने जब शिक्षा के क्षेत्र में प्रवेश किया, तब मुसलमानों के कान खड़े हो गए। उन्होंने संमिलित रूप से हिन्दी का विरोध करना प्रारंभ कर दिया। हिन्दी पर बड़े बड़े लांछन लगाए गए। उसे 'गँवारू बोली' और भाषा के नाम से अभिहित किया गया। इतना ही नहीं, इस बात का भी ढिंढोरा पीटा गया, कि हिन्दी सांप्रदायिक भाषा है। मुसलमानों की ओर से, साधारण रूप से इस बात का प्रचार किया जाता था, कि हिन्दी हिन्दुओं की मजहबी जबान है। मुसलमानों की दृष्टि में हिन्दी एक ऐसी 'भाखा' थी, जिसमें संस्कृत के शब्दों की अधिकता थी, और जो मुसलमानों के लिए अधिक मुश्किल थी। अतः मुसलमान प्राणपण से हिन्दी के विरोध में जुटे हुए थे। कुछ अँगरेज अधिकारी भी मुसलमानों की 'हाँ' में 'हाँ' मिला रहे थे। उन दिनों शिक्षा-विभाग में मुसलमानों और अँगरेजों का ही आधिपत्य था। अतः यह कहने में रंच मात्र भी सन्देह नहीं उत्पन्न होता, कि वह समय हिन्दी के संकट का समय था। ऐसे घोर संकट के समय में हिन्दी की रक्षा राजाशिवप्रसाद सितारे हिन्द ने बड़ी तन्मयता, और बुद्धिमानी के साथ की।

राजाशिवप्रसाद सितारे हिन्द की बुद्धिमानी

राजाशिवप्रसाद सितारे हिन्द उन दिनों शिक्षा-विभाग में इन्सपेक्टर के पद पर नियुक्त थे। उन दिनों हिन्दुओं, और हिन्दी-प्रेमियों में राजाशिवप्रसाद सितारे हिन्द ही एक ऐसे थे, जिनका अँगरेजों के निकट अधिक सम्मान था। राजाशिवप्रसाद के ही उद्योग से हिन्दी को सरकारी पाठालयों में स्थान प्राप्त हुआ। मुसलमान प्राणपण से हिन्दी के उस रूप का विरोध कर रहे थे, जिसमें संस्कृत के शब्दों का मिश्रण था। मुसलमानों के इस तीव्र विरोध के वातावरण में, राजाशिव प्रसाद सितारे हिन्द के लिए यह अधिक कठिन कार्य था, कि वे स्कूली पुस्तकों में उस हिन्दी को स्थान देते, जो संस्कृत मिश्रित थी। एक तो उन दिनों सरकार की नीति अरबी

फारसी मिश्रित उर्दू के पक्ष में थी, और दूसरे मुसलमान संस्कृत मिश्रित हिन्दी का विरोध कर रहे थे, इसलिए राजाशिवप्रसाद सितारे हिन्द ने बुद्धिमानी, और चतुराई से काम लिया। उन्होंने हिंदी की नींव को मजबूत करने तथा उसके प्रचार के उद्देश्य से उसके स्वरूप को परिवर्तित किया। उन्होंने हिन्दी को संस्कृत के ढाँचे से निकाल कर एक ऐसे साँचे में ढाला, जिसे हम ठेठ हिन्दी का साँचा कह सकते हैं। उन्होंने अपनी इस भाषा में संस्कृत के शब्दों के स्थान पर फारसी के चलते हुए शब्दों का प्रयोग किया। उन्होंने इस भाषा में स्वयं भी पुस्तकें लिखीं, और दूसरे व्यक्तियों से भी पुस्तकें लिखवाईं। उन्होंने स्वतन्त्र विषयों पर पुस्तकें लिखने के साथ ही साथ शिक्षा सम्बन्धी पुस्तकें भी लिखीं। उनकी पुस्तकों में राजाभोज का सपना, वीरसिंह का वृत्तांत, और 'आलसियों का कोड़ा' इत्यादि अधिक प्रसिद्ध हैं।

राजाशिवप्रसाद सितारे हिन्द की भाषा दो प्रकार की है—संस्कृत मिश्रित, और फारसी मिश्रित। उन्होंने अपने 'मानव धर्मसार' में संस्कृत मिश्रित भाषा का ही प्रयोग किया है, जिसका स्वरूप इस प्रकार है—मनुस्मृति हिन्दुओं को मुख्य धर्म शास्त्र है। उसको कोई भी हिन्दू अप्रमाणित नहीं कह सकता।' पर इस भाषा को हम राजाशिवप्रसाद की वास्तविक भाषा नहीं कह सकते। क्योंकि राजाशिवप्रसाद प्रारम्भ से ही ठेठ हिन्दी के पक्षपाती थे। उनकी दूसरी प्रकार की भाषा फारसी मिश्रित है। शिक्षा विभाग में इन्स्पेक्टर के पद पर प्रतिष्ठित होने पर उन्होंने इसी भाषा का प्रयोग किया है। उनकी इस भाषा का दृष्टांत, पहले दिया जा चुका है, और इस बात पर भी प्रकाश डाला जा चुका है, कि उनकी भाषा में यह परिवर्तन क्यों कर उपस्थित हुआ। स्वतंत्र विषय सम्बन्धी पुस्तकों में फारसी मिश्रित भाषा का प्रयोग करने पर भी ऐसा लगता है, कि राजाशिवप्रसाद स्कूली पुस्तकों में ठेठ हिन्दी के ही पक्षपाती थे। उन्होंने अपनी गुटका में, जो साहित्य की एक पाठ्य-पुस्तक थी, ठेठ हिन्दी का प्रयोग किया है, पर इसके पश्चात् उनका दृष्टिकोण बिलकुल बदला हुआ प्रतीत होता है। 'गुटका' के पश्चात् उन्होंने इतिहास और भूगोल की जो पुस्तकें लिखीं हैं, उनकी भाषा में उर्दू की ही प्रधानता है। राजासाहब की भाषा में यह परिवर्तन क्यों हुआ—इसके कारणों पर बहुत कुछ प्रकाश पहले डाला जा चुका है।

राजाशिवप्रसाद सितारे हिन्द के समय में ही कुछ और लोगों ने स्कूली पुस्तकें लिख कर हिन्दी गद्य के प्रचार में प्रशंसनीय योग दिया। इन लोगों में पं० बंशीधर,

सितारे हिन्द के सहयोगी

पं० श्रीलाल, पं० बिहारी लाल, और पं० ब्रजीलाल जी का नाम आदर से लिया जा सकता है। पं० बंशीधर आगरा नार्मल स्कूल के अध्यापक थे। उन्होंने पाठ्य पुस्तकों के रूप में कई किताबें लिखी थीं, जिनमें पुष्पवाटिका, भारतवर्षीय इतिहास, जगत वृत्तांत, और जीविका परिपाटी का मुख्य स्थान है। पं० श्रीलाल ने 'पत्र मालिका' की रचना की थी।

विहारीलाल ने 'गुलिस्ता' का हिन्दी में अनुवाद किया था। पं० बद्रीलाल ने 'सिद्धांत संग्रह' और 'उपदेश पुष्पवती' की रचना की थी। किसी-किसी का कथन है, कि इन्होंने हितोपदेश का हिन्दी में अनुवाद भी किया था।

इन पुस्तकों की भाषा का प्रतिनिधित्व राजाशिवप्रसाद सितारे हिन्द की भाषा कर रही थी; अर्थात् इन पुस्तकों में भी अरबी फारसी मिश्रित भाषा का ही प्रयोग हुआ था। भाषा की दृष्टि से इन पुस्तकों की उपयोगिता भले ही हीन कोटि की हो, पर इसमें संदेह नहीं, कि हिन्दी गद्य के प्रचार में इन पुस्तकों और उनके लेखकों से प्रशंसनीय सहायताएँ प्राप्त हुई हैं।

किन्तु जनता ने राजाशिवप्रसाद सितारे हिन्द की भाषा को स्वीकार न किया। राजाशिवप्रसाद की अरबी फारसी मिश्रित उर्दू भाषा को देखकर जनता के भीतर हिन्दी गद्य—और प्रतिक्रियाएँ उत्पन्न हुईं। जनता अपनी भाषा को राजालक्ष्मणसिंह भली भाँति समझती थी। वह यह अच्छी तरह जानती थी, कि उसके देश की राष्ट्रीय और सांस्कृतिक सम्पत्ति किस भाषा में सुरक्षित है। राजाशिवप्रसाद सितारे हिन्द की भाषा को देखकर जनता के भीतर जो प्रतिक्रियाएँ हुई थीं, उनके परिणाम स्वरूप काशी से 'सुधाकर' और आगरा से 'बुद्धि प्रकाश' का प्रकाशन आरम्भ हुआ था। इन दोनों पत्रों की भाषा बहुत ही परिमार्जित और संस्कृत मिश्रित हिन्दी थी। 'बुद्धि प्रकाश' की भाषा में परिमार्जित तत्त्व अधिक परिमाण में थे। 'बुद्धि प्रकाश' की भाषा का स्वरूप निम्नांकित पंक्तियों में देखिए:—

'स्त्रियों में सन्तोष और नम्रता और प्रीति यह सब गुण कर्ता ने उत्पन्न किए, केवल विद्या की न्यूनता है, जो यह भी हो तो स्त्रियाँ अपने सारे ऋण से चुक सकती हैं, और लड़कों को सिखाना पढ़ाना जैसा उनसे बन सकता है, वैसा दूसरे से नहीं। यह काम उन्हीं का है, कि शिक्षा के कारण बाल्यावस्था में लड़कों को भूल चूक से बचावें और सरल-सरल विद्या उन्हें सिखावें।'

इस प्रकार जनता की ओर से राजाशिवप्रसाद सितारे हिन्द की भाषा के विरोध में वास्तविक भाषा का स्वरूप सामने उपस्थित किया गया। केवल पत्रों द्वारा ही नहीं, बल्कि गद्यकारों के द्वारा भी राजासाहब की कृत्रिम भाषा का विरोध किया गया, और उसके मुकाबिले में उस भाषा को उपस्थित किया गया, जो जनता की वास्तविक भाषा थी। इन गद्यकारों में राजालक्ष्मणसिंह का नाम अधिक महत्त्वपूर्ण है। जिन दिनों राजाशिवप्रसाद सितारे हिन्द की अरबी-फारसी मिश्रित उर्दू का प्रवाह बह रहा था, उन्हीं दिनों राजालक्ष्मणसिंह रंग मंच पर पधारे। राजालक्ष्मणसिंहजी का समय सन् १८२६ से १८८६ तक माना जाता है। राजालक्ष्मणसिंहजी ने स्पष्ट शब्दों में राजाशिवप्रसाद सितारे हिन्द की भाषा का विरोध किया। उन्होंने हिन्दी और उर्दू की पृथकता को प्रमाणित करते हुए कहा—'हिन्दी और उर्दू दो बोली न्यारी न्यारी है। कुछ अवश्य नहीं है, कि अरबी फारसी के शब्दों के बिना हिन्दी न बोली जाय, और न हम जिस भाषा को हिन्दी कहते हैं, जिसमें अरबी-फारसी के शब्द

भरे हैं।' राजालक्ष्मणसिंहजी ने केवल मौखिक विरोध ही नहीं किया, वरन् उन्होंने वास्तविक हिन्दी का स्वरूप भी सामने उपस्थित किया। उन्होंने कालिदास के कई ग्रन्थों का हिन्दी में अनुवाद किया, जिनमें 'मेघदूत' और 'अभिज्ञान शांकुतल' का उनका अनुवाद सर्वश्रेष्ठ माना जाता है। अपनी इन अनुवाद कृतियों में उन्होंने हिन्दी के वास्तविक स्वरूप को उपस्थित करने का भर सक प्रयत्न किया है। अभिज्ञान शांकुतल' की भाषा की झलक निम्नांकित पंक्तियों में देखिए:—

'अनसूया—(हौले प्रियंवदा से) सखी! मैं भी इसी सोच-विचार में हूँ। अब इससे कुछ पूछूँगी, (प्रगट) महात्मा तुम्हारे मधुर वचनों के विश्वास में आकर मेरा जी येह पूछने को चाहता है, कि तुम किस राजवंश के भूषण हो और किस देश की प्रजा को विरह में व्याकुल छोड़ यहाँ पधारे हो।'

इस प्रकार राजालक्ष्मणसिंहजी ने हिन्दी के वास्तविक स्वरूप को सामने रखने का प्रशंसनीय प्रयत्न किया। यद्यपि उनकी भाषा में त्रुटियाँ विद्यमान हैं; अर्थात् उनकी भाषा में भी वही दोष हैं, जो उनके पूर्व के लेखकों की भाषा में थे। पूर्व के लेखकों की भाँति उनकी भाषा भी ब्रजभाषा से मुक्त नहीं हो सकी है, पर उन्होंने अपनी भाषा में हिन्दी के वास्तविक स्वरूप को उपस्थित करने का प्रयत्न अवश्य किया है। उनकी भाषा में तद्भव शब्दों की न्यूनता नहीं है, पर उन्होंने अपनी भाषा से अरबी-फारसी के शब्दों को दूर रखने का प्रयत्न किया है। उन्होंने यथाशक्ति अपनी भाषा में संस्कृत के व्यावहारिक शब्दों को ही स्थान दिया है। संस्कृत के व्यावहारिक शब्दों के ही कारण उनकी भाषा अधिक शुद्ध, सरस और परिमार्जित है। राजालक्ष्मणसिंहजी की इस संस्कृत मिश्रित भाषा से फ्रेडरिकपिन्काट साहब अधिक प्रभावित थे। फ्रेडरिकपिन्काट एक अँगरेज विद्वान थे, जो संस्कृत के अनन्य प्रेमी थे। राजालक्ष्मणसिंहजी की भाषा की उन्होंने भूरि-भूरि प्रशंसा की थी। वे इसी भाषा को भारत की मुख्य भाषा मानते थे। वे यह नहीं चाहते थे, कि भारतीयों पर ऐसी भाषा लादी जाय, जो उनकी प्रकृति के विरुद्ध हो। उन्होंने अपने एक अँगरेजी लेख में अपने विचार को निम्नांकित रूप में प्रगट किया है—'फारसी मिश्रित हिन्दी (अर्थात् उर्दू या हिन्दुस्तानी) के अदालती भाषा बनाए जाने के कारण उसकी बड़ी उन्नति हुई, इससे साहित्य की एक नई भाषा ही खड़ी हो गई। पश्चिमोत्तर प्रदेश के निवासी जिनकी यह भाषा कही जाती है, इसे एक विदेशी भाषा की तरह स्कूलों में सीखने के लिए विवश किए जाते हैं।'

कहना न होगा, कि राजालक्ष्मणसिंहजी की भाषा का चारों ओर स्वागत किया गया। यद्यपि उनकी भाषा में दुर्बलताएँ थीं, यद्यपि वे यह स्वयं जानते थे, कि उन्होंने जिस भाषा को सामने उपस्थित किया है, उसमें राजनीति, विज्ञान, और अर्थ शास्त्र इत्यादि विषयों के ग्रन्थ नहीं लिखे जा सकते, फिर भी राजाशिवप्रसाद 'सितारे हिन्द' की भाषा के मुकाबिले में उनकी यह भाषा अधिक पसन्द की गई, जो संस्कृत मिश्रित थी। हो सकता है, इसका कारण यह हो, कि उनकी इस भाषा में उन्नति

के बीज निहित थे। उनकी भाषा का प्रारंभिक स्वरूप दोष युक्त अवश्य था, पर यह नहीं कहा जा सकता, कि उसमें उन्नति के बीज निहित नहीं थे। क्योंकि आज जो भाषा पल्लवित, और पुष्पित हो रही है, वह वही संस्कृत मिश्रित हिन्दी है, जिसकी झलक स्पष्ट रूप से राजालक्ष्मणसिंहजी की भाषा में मिलती है।

इस प्रकार हिन्दी गद्य दो रूपों में प्रगट होकर उन्नति की ओर अग्रसर हुआ। उसका एक रूप तो वह है, जिसका पालन पोषण राजाशिवप्रसाद, और उनके सहयोगियों ने किया। इस रूप का निर्माण फारसी के शब्दों से किया गया है। इस पर उर्दू शैली का स्पष्ट रूप से प्रभाव दिखाई पड़ता है। दूसरे रूप के निर्माण कर्त्ता राजालक्ष्मणसिंह और उनके सहयोगी हैं। इस रूप के निर्माण में संस्कृत के व्यावहारिक शब्दों की प्रचुरता है। इस पर हिन्दी की वास्तविक शैली की छाप है।

आर्य समाज और हिन्दी गद्य

भारतवर्ष में अँगरेजी शिक्षा का प्रचार होने के साथ ही साथ ईसाई मत के प्रचार ने भी तीव्रता ग्रहण की। ईसाई मिश्नरियों ने अँगरेजी शिक्षा के प्रचार की ओट में, ईसाई धर्म के प्रसार में तन, मन, धन से योग देना प्रारम्भ किया; परिणाम स्वरूप सैकड़ों अँगरेजी शिक्षा प्राप्त लोगों ने ईसाई धर्म को ग्रहण कर लिया। ईसाइयों के प्रचार को देख कर मुसलमानों ने भी अपना जाल फैलाना प्रारम्भ कर दिया। एक ओर ईसाई और दूसरी ओर मुसलमान-दोनों ही मिल कर हिन्दू समाज में डाके डालने लगे। ईसाईयों और यवनों के धार्मिक प्रचार से जहाँ हिन्दू समाज की क्षति हुई, वहाँ उसका कल्याण भी अधिक हुआ है। ईसाइयों और यवनों के धार्मिक प्रचार से ही हिन्दू समाज की वह निंद्रा भंग हुई है, जो पतन का कारण थी। यवनों और ईसाइयों की गति शीलता को देख कर हिन्दू समाज के भीतर भी चेतना उत्पन्न हुई, और वह अपनी रक्षा के लिए उठ कर खड़ा हो गया। इन्हीं दिनों स्वामी दयानन्द जी भारतीय रंग मंच पर पधारे, और उन्होंने वैदिक सभ्यता के आधार पर १८७५ ई० में आर्य समाज की स्थापना की। कहना न होगा, कि आर्य समाज ने हिन्दू समाज की रक्षा के लिए जो प्रयत्न किया, वह भारतीय इतिहास में चिरस्मरणीय रहेगा। आर्य समाज ने जहाँ हिन्दू समाज की विकृतियों को दूर करने का प्रयत्न किया, वहाँ वैदिक धर्म की श्रेष्ठता के लिए ईसाइयों और मुसलमानों से वाक्-युद्ध भी किया। वैदिक धर्म की श्रेष्ठता को प्रमाणित करने के लिए तरह तरह की पुस्तिकाएँ और विज्ञप्तियाँ प्रकाशित की गईं, समाचार पत्र भी निकले। व्याख्यान, और पारस्परिक शास्त्रार्थ भी हुए। इन धार्मिक विवादों से हिन्दी गद्य के प्रचार में अत्यधिक सहायता प्राप्त हुई है। आर्य समाज के उद्देश्यों में हिन्दी का प्रचार भी एक उद्देश्य था। आर्य समाज के द्वारा जहाँ वैदिक सभ्यता का प्रचार हुआ है, जहाँ उसके प्रयत्नों से हिन्दू समाज की रीढ़ सुदृढ़ हुई है, वहाँ उसने हिन्दी और हिन्दी गद्य की नींव को सुदृढ़ बनाने में भी श्रेयस्कर कार्य किया। आर्य समाज की ओर से प्रकाशित होने वाली विज्ञप्तियों, और पुस्तिकाओं में अधिकतर उसी

भाषा का प्रयोग मिलता है, जो संस्कृत मिश्रित है। राजालक्ष्मणसिंह के पश्चात् आर्य समाज से ही इस संस्कृत मिश्रित हिन्दी को अधिक बल प्राप्त हुआ है। आर्य समाज से बल प्राप्त करने के पश्चात् इस भाषा का प्रवाह इतना वेग पूर्ण हो गया, कि उसके सारे विरोध अपने आप ही उसके भीतर विलीन हो गए।

ऊपर यह लिखा जा चुका है, कि अँगरेजी शिक्षा के प्रचार के साथ ही साथ देश के भीतर ईसाइत की लहर फैली। हिन्दू समाज गाढ़ी निद्रा में सो रहा था।

ब्राह्म समाज के नेता और हिन्दी

ईसाई धर्म प्रचारकों ने हिन्दू समाज की इस स्थिति से लाभ उठाना प्रारम्भ कर दिया। यों तो ईसाई धर्म-प्रचारकों ने सारे देश में ईसाई धर्म के प्रचार का जाल फैलाया था, पर बंगाल में उनके इस जाल का प्रभाव लोगों पर बड़ी दृढ़ता के साथ पड़ रहा था। कई संभ्रान्त बंगालियों ने ईसाई धर्म प्रचारकों की बातों से प्रभावित होकर ईसाई धर्म की दीक्षा ले ली। इतना ही नहीं, साधारण जनता के ऊपर भी शनैः शनैः ईसाई धर्म का प्रभाव पड़ने लगा। ईसाई धर्म के बढ़ते हुए प्रभाव को देख कर उन महापुरुषों के भीतर झनझनाहट उत्पन्न हुई, जो हिन्दू समाज के स्तम्भ थे। उन्होंने हिन्दू समाज में चेतना उत्पन्न करने के लिए ब्राह्म समाज की स्थापना की। ब्राह्म समाज की स्थापना की। ब्राह्म समाज की स्थापना करने वालों में राजाराममोहनराय प्रमुख थे। पहले ब्राह्म समाज बंगाल तक ही सीमित था, और उसके धर्म ग्रन्थ केवल बँगला भाषा में ही लिखे गए थे। तत्पश्चात् यह अनुभव किया गया, कि केवल बँगला भाषा के सहारे से ब्राह्म समाज का प्रचार भारतवर्ष में नहीं किया जा सकता, इसके लिए हिन्दी का आश्रय वांछनीय है; परिणाम स्वरूप ब्राह्म समाज के नेताओं ने अपने सिद्धांतों के प्रचार के लिए हिन्दी का आश्रय ग्रहण किया। ब्राह्म समाज के जन्म काल में इसी बात का अनुभव राजाराममोहनराय ने भी किया था। उन्होंने इसी बात को ध्यान में रख कर ब्राह्म समाज के जन्म काल में ही हिन्दी में विज्ञप्तियाँ प्रकाशित की थीं। इतना ही नहीं, उन्होंने हिन्दी के समाचार पत्रों को प्रोत्साहन भी प्रदान किया था। किन्तु राजाराममोहनराय के पश्चात् ब्राह्म समाज के जो नेता हुए, वे इस बात को भूल गए थे, जिसके परिणाम स्वरूप कुछ दिनों तक ब्राह्म समाज केवल बंगाल तक ही सीमित रहा। बाबू नवीन चन्द्रराय ने ब्राह्म समाज को बंगाल की सीमा से निकाल कर उसे भारतीय धर्म के रूप में परिणत करने का प्रयत्न किया। उन्होंने इसके लिए हिन्दी का आश्रय ग्रहण किया। सर्व प्रथम उन्होंने पंजाब को अपना कार्य क्षेत्र बनाया। पंजाब उन दिनों उर्दू का दुर्ग था। अतः कहना न होगा, कि हिन्दी का आश्रय ग्रहण करके ब्राह्म समाज के प्रचार में कितनी कठिनाइयों का सामना करना पड़ा होगा। पर ऐतिहासिक तथ्यों से पता चलता है, कि प्रबल विरोधों के होते हुए भी नवीनचन्द्रराय ने हिन्दी के सहारे अपने ब्राह्म समाज के सिद्धांतों का प्रचार किया। उन्होंने ब्राह्म समाज के सिद्धांतों के प्रचार के लिए ही १८६७ ई० में 'ज्ञान प्रदायिनी' पत्रिका निकाली,

जिसमें सामाजिक और धार्मिक लेखों के अतिरिक्त शिक्षा, विज्ञान, और राजनीति सम्बन्धी लेख भी प्रकाशित हुआ करते थे। 'ज्ञान प्रदायिनी' में छपने वाले लेखों की भाषा पर मुख्य रूप से ध्यान दिया जाता था। ज्ञान प्रदायिनी के लेखों की भाषा मुख्य रूप से संस्कृत मिश्रित होती थी।

श्री नवीनचन्द्रराय शुद्ध हिन्दी के पक्षपाती थे। उनका दृढ़ विश्वास था, कि उर्दू के प्रचार से देश को किसी प्रकार का लाभ नहीं।पहुँच सकता। वे उर्दू को केवल 'आशिकी कविता' की भाषा समझते थे। पंजाब ऐसे उर्दू के गढ़ में, उन्होंने बड़े साहस के साथ उन लोगों से मोर्चा लिया, जो उर्दू के अनुचित पक्षपात के कारण हिन्दी की जड़ को खोद कर नष्ट कर देना चाहते थे। उन्होंने हिन्दी के विरोधियों को लेखों, और भाषणों के द्वारा भी मुँह तोड़ उत्तर दिया। उन्होंने एक सभा में हिन्दी के पक्ष में बोलते हुए कहा था—'उर्दू के प्रचलित होने से देश वासियों को कोई लाभ न होगा, क्योंकि वह भाषा खास मुसलमानों की है। उसमें मुसलमानों ने व्यर्थ बहुत से अरबी-फारसी के शब्द भर दिए हैं। पद्य या छन्दों बद्ध रचना के भी उर्दू उपयुक्त नहीं। हिन्दुओं का यह कर्त्तव्य है, कि वे अपनी परम्परा गत भाषा की उन्नति करते चलें। उर्दू में आशिकी कविता के अतिरिक्त किसी गंभीर विषय को व्यक्त करने की शक्ति नहीं।' इस प्रकार नवीनचन्द्रराय ने अपने दृढ़ प्रयत्नों के द्वारा उर्दू के गढ़—पंजाब में हिन्दी की नींव को सुदृढ़ किया। उनके द्वारा हिन्दी की रक्षा तो हुई ही, गद्य के प्रचार में भी अधिक सहायता प्राप्त हुई। नवीनचन्द्रराय के आंदोलन के पश्चात् ही पंजाब में आर्य समाज की स्थापना हुई। आर्य समाज और उसके नेताओं ने पंजाब में हिन्दी की नींव को और भी अधिक सुदृढ़ कर दिया।

पंजाब में हिन्दी के आंदोलन को सुदृढ़ बनाने वाले पं० श्रद्धाराम फुल्लौरी का नाम हिन्दी के इतिहास में चिरस्मरणीय रहेगा। पं० श्रद्धाराम फुल्लौरी सुप्रसिद्ध व्याख्यान दाता और कथा वाचक थे। उनमें वक्तृता शक्ति के साथ ही साथ लेखन शक्ति भी थी। उनका आविर्भाव सम्वत् १९१० के आस पास हुआ था। जिन दिनों नवीनचन्द्रराय पंजाब में हिन्दी के प्रचार में जुटे हुए थे, उन्हीं दिनों पं० श्रद्धाराम फुल्लौरी के व्याख्यानों और कथाओं की धूम सारे पंजाब में मची हुई थी। पं० श्रद्धाराम फुल्लौरी अपने व्याख्यानों और कथाओं के द्वारा हिन्दू संस्कृति और धर्म की श्रेष्ठता अकाट्य रूप से प्रमाणित करते थे। उन दिनों पंजाब में ईसाई और यवन धर्म प्रचारकों की भी धूम थी। कितने ही लोग इन धर्म प्रचारकों की बातों में आकर धर्म-विभ्रष्ट हो चुके थे। पं० श्रद्धाराम फुल्लौरी ने अपने व्याख्यानों और कथाओं के द्वारा इन विदेशी धर्म प्रचारकों के सिंहासन हिला दिए थे। कहा जाता है, कि कपूरथला के महाराज रणजीतसिंह १८२३ ई० में जब ईसाई धर्म में दीक्षित होना चाहते थे, तब पं० श्रद्धाराम फुल्लौरी ने ही उनके सामने हिन्दू धर्म की श्रेष्ठता प्रमाणित करके उन्हें ईसाई धर्म ग्रहण करने से रोका था। पं० श्रद्धाराम फुल्लौरी की वाणी में संमो-

इक शक्ति थी। उनकी वक्तृता को सुन कर लोग मन्त्र-मुग्ध से हो जाते थे। वे अपनी वक्तृता में रामायण और महाभारत की कथाओं का समावेश करके हिन्दू धर्म की श्रेष्ठता को प्रमाणित करते, और हिन्दू धर्म पर आक्रमण करने वालों को अकाट्य उत्तर दिया करते थे। उनकी कथाओं को सुनने के लिए दूर-दूर से लोग एकत्र होते थे। हिन्दू धर्म और संस्कृति के प्रचार के लिए उन्होंने स्थान-स्थान पर सभाएँ और समितियाँ भी स्थापित की थीं।

पं० श्रद्धाराम फुल्लौरी में जिस प्रकार वक्तृत्व शक्ति थी, उसी प्रकार उनमें लेखन शक्ति भी थी। वे हिन्दी के अनन्य प्रेमी थे। यों तो उन्होंने अपनी कुछ पुस्तकें पंजाबी और उर्दू में भी लिखी हैं, पर उन्होंने अपने मुख्य ग्रन्थों की रचना हिन्दी में ही की है। उनके ग्रन्थों में सत्यामृत प्रवाह, आत्म चिकित्सा, तत्त्व दीपक, धर्म रक्षा, और उपदेश संग्रह आदि अधिक प्रसिद्ध हैं। 'भाग्यवती' नामक उन्होंने एक सामाजिक उपन्यास की भी रचना की है। यह उपन्यास उन दिनों अधिक लोक प्रिय समझा जाता था। कहा जाता है, कि उन्होंने चौदह सौ पृष्ठों का अपना जीवन वृत्त भी लिखा था, पर वह आज तक प्राप्त नहीं हो सका है। गद्य-रचना करने के साथ ही साथ उनमें पद्य-रचना की भी शक्ति थी। उनके द्वारा रचित दोहों का एक संग्रह उन दिनों प्रकाशित हुआ था, जिसका नाम 'संतोपदेश' था। गद्य-रचना में उन्हें जैसी सफलता प्राप्त हुई, उस प्रकार वे पद्य-रचना में उन्नति के मार्ग पर आगे नहीं बढ़ सके हैं। उनकी पद्य-रचना का स्रोत कुछ ही दूर आगे बढ़ कर विलीन हो गया। उनका गद्य प्रौढ़, और परिमार्जित है। उनकी भाषा संस्कृत मिश्रित, किन्तु अधिक सरल है। उन्होंने अध्यात्म के निगूढ़ विषयों का भी चित्रण सरल भाषा में बड़ी कुशलता के साथ किया है।

हिन्दी गद्य के लिए अपूर्व अवसर

इस प्रकार सामाजिक, धार्मिक, और राजनीतिक आंदोलनों के कारण हिन्दी गद्य के प्रचार और प्रसार में अधिक सहायताएँ प्राप्त हुई। ज्यों ज्यों नवीन चेतना की लहर फैली, और ज्यों ज्यों उसके परिणाम स्वरूप सामाजिक और धार्मिक आंदोलनों की बाढ़ उठने लगी, त्यों त्यों हिन्दी गद्य सामने प्रस्तुत होकर उन्नति की ओर अग्रसर होने लगा। हिन्दी गद्य के प्रचार और गठन में सबसे अधिक सहायता आर्य समाज के आंदोलनों के कारण हुई है। इसका मुख्य कारण यह है, कि आर्य समाज का आंदोलन व्यंगात्मक और आक्रामक था। ईसाई और यवन पहले से ही अपने धर्म प्रचार में जुटे हुए थे। आर्य समाज के आंदोलनों के कारण उनमें और भी गति शीलता हुई। हिन्दू समाज के भीतर भी आर्य समाज के आक्रामक आंदोलनों के कारण कई प्रकार की शक्तियाँ जागृत हो गईं। इस प्रकार सामाजिक और धार्मिक आंदोलनों की बाढ़ सी आ गई। इन आंदोलनों में सबसे महत्त्व पूर्ण बात यह थी, कि जहाँ तक भाषा का प्रश्न था, सब ने हिन्दी को ही छाया ग्रहण की थी। क्योंकि

जिस जनता को उन्हें अपने आंदोलनों से प्रभावित करना था, उसकी भाषा मुख्य रूप से हिन्दी ही थी। अतः हिन्दी और उसके गद्य को उन्नति के क्षेत्र की ओर अग्रसर होने का अपूर्व अवसर प्राप्त हुआ। हिन्दी गद्य ने इस अवसर का पर्याप्त लाभ उठाया, और उसने एक व्यवस्थित स्वरूप धारण करके उस युग में प्रवेश किया, जिसे हम भारतेन्दु युग कहते हैं।

—:o:—

गद्य—भारतेन्दु काल

हिन्दी गद्य का जो व्यवस्थित इतिहास हमारे सामने है, सुविधा की दृष्टि से हम उसे तीन भागों में विभक्त कर सकते हैं—भारतेन्दु काल, द्विवेदी काल, और आधुनिक काल। हिन्दी गद्य की भाषा और शैली का विकास जिस क्रम से हुआ है, उसी क्रम को ध्यान में रखते हुए हमने यह काल विभाजन किया है। भारतेन्दु काल में हिन्दी गद्य की भाषा और शैली ने एक सुव्यवस्थित स्वरूप धारण किया है। द्विवेदी काल में उसका परिमार्जन, और परिसाधन हुआ है, और आधुनिक काल में वह सर्व प्रकार से परिमार्जित होकर प्रौढ़ता की ओर बढ़ रही है।

भारतेन्दुजी का जन्म सन् १८५० में हुआ था। भारतेन्दुजी के हिन्दी के रंग मंच पर आने के पूर्व हिन्दी गद्य का कोई स्वरूप नहीं था। जितने गद्य लेखक थे, सबकी अपनी भाषा और अपनी शैली थी। मुख्य रूप से भारतेन्दुजी के पूर्व हिन्दी गद्य की दो शैलियाँ प्रचिलित थीं। एक शैली वह थी, जो अरबी फारसी मिश्रित थी, और जिसके प्रवर्तक राजाशिवप्रसाद सितारे हिन्द थे। सरकारी क्षेत्रों में इस शैली का अधिक आदर-सम्मान था। दूसरी शैली हिन्दी की विशुद्ध शैली थी, जिसमें संस्कृत के शब्दों की प्रधानता थी। इस शैली के प्रवर्तक राजालक्ष्मणसिंह, और ईसाई प्रचारक थे। यह शैली यद्यपि सरकार द्वारा पूर्ण रूप से उपेक्षित थी, पर जनता में इसी शैली का आदर-सम्मान था। इसी शैली में शनैः शनैः वह साहित्य निर्मित हो रहा था, जिसे हम जनता का साहित्य कह सकते हैं। जनता अपने धार्मिक, सामाजिक, और राजनीतिक विचारों को इसी भाषा और शैली में व्यक्त कर रही थी। अतः यदि हम हिन्दी गद्य की इस भाषा और शैली को जनता की भाषा कहें तो कोई अत्युक्ति न होगी।

भारतेन्दु के पूर्व का गद्य

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र जी का जन्म सम्वत् १९०७ में काशी में हुआ था। इनके पिता का नाम गोपालचन्द्र था। यह केवल तैंतीस वर्ष तक ही जीवित रहे। तैंतीस वर्ष के अल्प जीवन में उन्होंने जो साधना की, वह हिन्दी के इतिहास में चिरस्मरणीय रहेगी। वे एक सफल कवि, गद्यकार, और नाटककार थे। वे एक अनन्य देश भक्त और समाज सुधारक भी थे। समाज के उत्पीड़ितों के लिए उनके हृदय में अदम्य सहानुभूति थी। राष्ट्रीय वेदना

भारतेन्दुजी की सेवा साधना

का अनुभव वे बड़ी गम्भीरता के साथ करते थे। उनकी संवेदन और सहानुभूति शील भावनाओं का प्रभाव उनके साहित्य पर पड़ा है। उन्होंने अपनी इन्हीं भावनाओं की प्रेरणा से उस हिन्दी साहित्य को जिसने अभी तक शृंगार को ही अपना आराध्य बना रक्खा था, राष्ट्रीयता और सामाजिकता की ओर आकृष्ट किया। सर्व प्रथम जीवन का उदय भारतेन्दुजी की रचनाओं में ही देखने को मिलता है। 'गुलामी की वेदना' और जागरण का नया प्रकाश भी सर्व प्रथम इन्हीं की रचनाओं में झलकता है।

भारतेन्दुजी की हिन्दी सेवाएँ चिरस्मरणीय रहेंगी। आज हिन्दी साहित्य के विविध अंगों का जो पौदा लहलहा रहा है, उसे भारतेंदुजी ने ही अपने हाथों से लगाया था। भारतेन्दुजी के पूर्व हिन्दी-साहित्य में नाटकों का पूर्ण रूप से अभाव था। कुछ नाटकों की रचना अवश्य हुई थी, पर नाट्यकला और साहित्यिक दृष्टि से उनका कुछ भी महत्त्व न था। सर्व प्रथम भारतेन्दुजी ने इस दिशा में प्रयत्न किया। उन्होंने पन्द्रह मौलिक, और अनुवादित नाटकों की रचना की। उनके नाटकों में सत्यहरिश्चन्द्र का महत्वपूर्ण स्थान है। नाटकों की भाँति काव्य-कला के क्षेत्र में भी उन्होंने नवीनता को जन्म दिया। अभी तक हिन्दी साहित्य के अंतर्गत कविता की जो धारा बह रही थी, वह शृंगारिक भावनाओं से ओत प्रोत थी। इसमें सन्देह नहीं, कि भारतेन्दुजी के हृदय पर भी इस धारा का प्रभाव था। पर इसमें भी संदेह नहीं, कि भारतेन्दु बाबू ने इस धारा के विपरीत एक नई धारा भी बहाई। प्राचीन काव्य से प्रभावित होकर भारतेन्दुजी ने शृंगार, भक्ति, और नीति विषयक रचनाएँ भी की। प्राचीन धारा के भारतेन्दुजी ही अन्तिम कवि थे। उन्होंने अपनी रचनाओं के द्वारा ही उसका तर्पण किया, और उससे सर्वथा भिन्न एक नवीन भाव धारा बहाई, जो देश-भक्ति और प्रेम की तरंगों से भरी हुई है, और जिसमें देश की दासता के प्रति गहरी वेदना, और पीड़ितों के प्रति गहरी समावेदना है।

गद्य के क्षेत्र में भारतेन्दुजी के द्वारा एक नए युग का आविर्भाव हुआ है। अभी तक गद्य के नाम पर जो कुछ लिखा गया था, वह पद्यात्मक था, और ब्रजभाषा में था। उस में न तो कोई निश्चित शैली थी, और न भाषा का कोई व्यवस्थित स्वरूप ही था। भारतेन्दुजी ने ही सर्व प्रथम हिन्दी गद्य-शैली की नींव डाली। आज खड़ी बोली की जो शैली विकसित होकर प्रौढ़ हो रही है, उसकी नींव भारतेन्दुजी के ही द्वारा पड़ी है। भारतेन्दुजी के पूर्व गद्य की भाषा का कोई भी निश्चित स्वरूप न था। जितने गद्य लेखक थे, सबकी अपनी पृथक-पृथक भाषा थी। कोई अरबी-फारसी मिश्रित भाषा का पक्षपाती था, तो संस्कृत प्रधान भाषा का। भारतेन्दुजी ने सबसे पृथक अपनी भाषा निश्चित की, और उसे परिमार्जित तथा विकसित किया। भारतेन्दुजी की ही भाषा आज विभिन्न रूपों में पल्लवित और पुष्पित हो रही है।

भारतेन्दुजी ने विविध विषयों पर गद्यात्मक और पद्यात्मक कृतियों का निर्माण

किया है। उनकी कृतियों को देख करके ही लोगों का ध्यान हिन्दी की ओर आकर्षित हुआ; और लोग यह समझने लगे, कि हिन्दी एक महत्व पूर्ण भाषा है, और उसमें सभी प्रकार के भाव व्यक्त किए जा सकते हैं। इस प्रकार भारतेन्दु बाबू ने अपनी रचनाओं के द्वारा लोगों के हृदय में हिन्दी के प्रति आकर्षण उत्पन्न किया। उनकी रचनाएँ विविध भावों और विषयों से पूर्ण हैं। उनकी रचनाओं में जहाँ देश, प्रेम, समाज, सुधार और धर्म विकास के चित्र मिलते हैं, वहाँ व्यंग्य और हास्य का सुन्दर पुट भी उनकी रचनाओं में मिलता है। जहाँ उन्होंने उपन्यास, कहानी, और नाटकों की रचना के लिए साधना की है, वहाँ उन्होंने गवेषणा सम्बंधी निबंधों की रचना भी की है; तात्पर्य यह, कि साहित्य का कोई ऐसा अंग नहीं, जिसके निर्माण में भारतेन्दु बाबू ने योग न दिया हो।

शैली के जन्मदाता भारतेन्दु, और उनकी शैली

आधुनिक हिन्दी गद्य शैली के जन्मदाता के रूप में भारतेन्दु बाबू का नाम सदा इतिहास में अमर रहेगा। आज जो हिन्दी गद्य शैली परिपुष्ट और परिमार्जित होकर उन्नति की ओर अग्रसर हो रही है, उसकी नींव भारतेन्दुजी ने ही डाली है। भारतेन्दुजी के पूर्व हिन्दी गद्य शैली का कोई व्यवस्थित स्वरूप न था। उनके पूर्व जो गद्य रचना हुई थी, उसमें अव्यवस्थित और अनिश्चित गद्य-शैलियों का स्वरूप देखने को मिलता है। हम यह भी कह सकते हैं, कि उनके पूर्व की गद्य रचनाओं में उस शैली का पूर्ण रूप से अभाव था, जिसे साहित्य के अन्तर्गत हम 'शैली' की संज्ञा से अभिहित करते हैं। मुख्य रूप से भारतेन्दुजी के पूर्व दो शैलियाँ प्रतिनिधित्व कर रही थीं। एक शैली अरबी फारसी मिश्रित थी, जिसके प्रवर्तक राजाशिवप्रसाद सितारे हिन्द थे, और दूसरी शैली, संस्कृत मिश्रित थी, जिसका निर्माण राजालक्ष्मणसिंह और ईसाई धर्म प्रचारकों के द्वारा हुआ था। भारतेन्दु बाबू के सामने यह प्रश्न एक समस्या के ही रूप में था, कि वे किस शैली का अनुगमन करें। वे हिन्दी के अनन्य सेवी, और विद्वान थे। वे जब हिन्दी गद्य शैली, और भाषा की ओर दृष्टिपात करते थे, तब उन्हें यह देख कर अधिक दुख होता था, कि हिन्दी गद्य शैली और भाषा में अव्यवस्था तथा अनिश्चितता है। अतः उन्होंने अपने ध्यान को शैली और भाषा के निर्माण की ओर मनोयोग के साथ लगाया। उन्होंने हिन्दी गद्य-शैली को सुव्यवस्थित करने के लिए अपने पूर्ववर्ती शैलियों पर ध्यान दिया। वे हिन्दी के अनन्य भक्त और हिन्दू संस्कृति के सच्चे उपासक थे। अतः राजाशिवप्रसाद सितारे हिन्द की शैली को ग्रहण करना उनके लिए अधिक कठिन था। राजाशिवप्रसाद सितारे हिन्द की शैली, जिन शब्दों से गठित हुई थी, वे विदेशी भावों के द्योतक थे। उनसे विदेशी संस्कृति और विदेशी राष्ट्रीयता को प्रोत्साहन प्राप्त होता था। भारतेंदुजी ऐसे राष्ट्र और संस्कृति निष्ठ व्यक्ति उस शैली को ग्रहण करने को कौन कहे, उस पर अपना अधिक क्षोभ ही प्रगट करते थे। दूसरी शैली राजालक्ष्मणसिंहजी की थी, जिसमें संस्कृत के शब्दों की प्रधानता थी। यह

शैली यद्यपि हिंदी की विशुद्ध शैली थी, और भारत की राष्ट्रीयता तथा सांस्कृतिकता के लिए अनुकूल थी, पर यह युग के विपरीत थी। इस शैली में अरबी फारसी के शब्दों का पूर्ण रूप से बहिष्कार किया गया था, और उनके स्थान पर संस्कृत के अप्रचलित और अव्यावहारिक शब्दों को रखने का प्रयास किया जाता था। भारतेंदुजी को यह शैली भी अव्यावहारिक जान पड़ी। क्योंकि मुसलमानों के बहुकालीन संपर्क के कारण हिंदी में अरबी और फारसी के बहुत से शब्द इस प्रकार मिल गए थे, कि वे हिंदी के अंग से बन गए थे। इन शब्दों का जान बूझ करके बहिष्कार करना भाषा-विज्ञान की दृष्टि से अधिक अनुचित और दोष युक्त था। अतः भारतेंदु बाबू ने इस शैली को भी ग्रहण न किया। उन्होंने दोनों ही शैलियों का अध्ययन करके अपने लिए मध्य का मार्ग निकाला, अर्थात् उन्होंने एक तीसरी शैली का निर्माण किया, जिसमें संस्कृत के तत्सम शब्दों के साथ ही साथ अरबी फारसी के उन शब्दों का भी प्रयोग मिलता है, जो प्रचलित और अधिक व्यावहारिक हैं। भारतेंदु बाबू ने इन शब्दों के प्रयोग में केवल व्यावहारिकता पर ही अपनी दृष्टि को केन्द्रित रक्खा। जैसे—खजाना, जंगल, जवाब, और मुर्दा इत्यादि। इस प्रकार भारतेंदुजी ने एक तीसरी शैली का निर्माण किया। भारतेंदु बाबू की यह शैली संस्कृत के तत्सम और तद्भव शब्दों से बनी हुई है। इसमें अरबी फारसी के प्रचलित शब्दों का प्रयोग भी हुआ है। स्थान-स्थान पर उसमें लोकोक्तियों और मुहाविरों का प्रयोग भी देखने को मिलता है। कहीं कहीं उसमें पंडिताऊपन, अवधीपन या व्रजभाषा के प्रयोग भी मिलते हैं। जैसे—'भई' 'करके' और 'सुनै' इत्यादि। भारतेंदुजी की यह शैली उनके द्वारा अधिक परिमार्जित और विकसित हुई है। उनकी शैली समय और युग के अनुकूल थी। उसके निर्माण में उन्होंने भाषा की मनोवैज्ञानिकता को अधिक महत्व दिया है। फलतः उनकी शैली साहित्य-जगत में प्रगट होकर अधिक प्रभाव पूर्ण बन सकी। उनकी शैली की लोक प्रियता का भी यही कारण है।

भारतेंदुजी की शैली उनकी रचनाओं में चार रूपों में प्रगट हुई है—परिचयात्मक, भावनात्मक, गवेषणात्मक, और व्यंगात्मक। उनके साधारण वर्णन प्रधान लेख परिचयात्मक शैली में हैं। छोटे छोटे लेखों में भी यही शैली दृष्टिगोचर होती है। उनकी इस शैली को हम राजाशिवप्रसाद सितारे हिन्द, और राजालक्ष्मणसिंहजी की शैलियों की बीच की शैली कह सकते हैं। क्योंकि न तो इसमें संस्कृत के शब्दों की प्रचुरता है, और न अरबी-फारसी के प्रचलित शब्दों का बहिष्कार ही किया गया है। उनकी यह शैली छोटे छोटे वाक्यों और प्रचलित शब्दों से बनी हुई है। भारतेंदुजी ने अपने नाटकों के साधारण वर्णनों में अथवा ऐसे स्थलों पर जहाँ नाटक के पात्र अपने आप बोलते हैं, इसी शैली का प्रयोग किया है। उनकी इस शैली का स्वरूप निम्नांकित पंक्तियों में देखिए:—

"अब सही करने से क्या होता है, विचार तो करना ही होगा, और फिर उसमें दोष क्या है, जैसा तुम्हारा दिव्य राजा के कुल में जन्म हुआ है, वैसा ही दिव्य

संन्यासी मिल जायगा, मैंने तो चाँद का टुकड़ा बर खोज लिया था। पर तू कहती है, कि रानी से उसका समाचार ही मत कह, तो अब क्या करूँ?'

भारतेंदु बाबू की दूसरी शैली भावात्मक है। इस शैली का प्रयोग इन्होंने उन रचनाओं में किया है, जिनमें भावना की प्रधानता है; दूसरे शब्दों में जहाँ उन्होंने दुःख क्षोभ, क्रोध, स्नेह, और प्रेम सम्बन्धी भावनाओं का चित्रण किया है, वहाँ इसी शैली का आविर्भाव हुआ है। भारत जननी, भारत दुर्दशा, चंद्रावली और विद्यासुन्दर इत्यादि भावात्मक नाटकों में उनकी यही शैली देखने को मिलती है। उनकी यह शैली अधिक हृदय स्पर्शी, और प्रभाव पूर्ण है। छोटे छोटे वाक्यों द्वारा भाषा में प्रवाह और सुष्ठता उत्पन्न करना इस शैली की विशेषता है। निम्नांकित पंक्तियों में उनकी भावात्मक शैली का स्वरूप देखिए—'और इतने बड़े कारखाने पर बेइमानी पर ले सिरे की। नाम बिके, लोग झूठा कहें, अपने आप मारे-मारे फिरें, पर वाह रे शुद्ध बेहयाई पूर्ण निर्लज्जता! लाज को जूतों मार के पीट-पाट के निकाल दिया है।'

भारतेंदु बाबू की तीसरी शैली गवेषणात्मक है। उनकी गवेषणात्मक शैली के दो रूप मिलते हैं। एक रूप तो वह है, जो उनके साहित्यिक लेखों में मिलता है, और दूसरा वह है, जिसका आविर्भाव उनके ऐतिहासिक निबन्धों में हुआ है। साहित्यिक निबन्धों की शैली अधिक सरल और आकर्षक है। ऐतिहासिक निबन्धों में इस शैली का जो रूप पाया जाता है, वह नीरस और शुष्क है। उनकी इस शैली के दोनों ही रूपों का गठन संस्कृत के शब्दों से हुआ है। पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग भी उन्होंने अपनी इस शैली में किया है आवश्यकतानुसार इस शैली के वाक्य छोटे बड़े हैं। आवश्यकतानुसार ही भाषा के स्वरूप का गठन भी किया गया है। निम्नांकित पंक्तियों में उनकी गवेषणात्मक शैली सुन्दरता के साथ प्रगट हुई है। साहित्यिक निबन्धों में—'ऐसा न होता तो पौर जन पद वर्ग के अपवाद के भय से श्रीरामकृत सीता परिहार के समय इसी रंग स्थल में एक ही बार अयोध्या का राजप्रासाद और फिर उसी समय वाल्मीकि का तपोवन कैसे दिखाई पड़ता।' ऐतिहासिक निबन्धों में—'पश्चात् स्वयं अनुसन्धान करके देखा, कि यह गऊ प्रत्यह एक पर्वत गुफा में जाया करती थी, और वहाँ से प्रत्यागमन करने से उसके स्तन पयः शून्य हो जाते हैं। बप्पा ने गऊ का अनुसरण करके एक दिन गुफा में प्रवेश किया।'

भारतेंदुजी की चतुर्थ शैली व्यंगात्मक है। व्यंगात्मक शैली के भारतेंदुजी जन्मदाता हैं। सर्व प्रथम उन्हीं की रचनाओं में व्यंगात्मक शैली देखने को मिलती है। उन्होंने जहाँ कहीं अपने विरोधियों को उत्तर दिया है, अथवा समाज के पाखंडियों का चित्रांकन किया है, वहाँ इसी शैली का परिस्फुटन हुआ है। उनकी यह शैली हास्य और व्यंग्य पूर्ण है। हास्य और व्यंग्य पूर्ण होते हुए भी उसमें शिष्टता और सुजनता है। निम्नांकित पंक्तियों में उनकी व्यंगात्मक शैली का

स्वरूप देखिए—'राय साहब का सिट-डौन कहना तो सब को अच्छा लगा पर 'हैंड-अप' कहना तो सब को बुरा लगा। मानों भले बुरे का फल देने वाले राय साहब ही थे। इतने में फिर कुछ आने में देर हुई, और सब लोग बैठ गए।'

शैली की भाँति भारतेन्दुजी के पूर्व हिन्दी गद्य की भाषा का भी कोई निश्चित स्वरूप न था। भारतेंदुजी के पूर्व हिन्दी गद्य के प्रतिनिध लेखकों में लल्लूलाल, सदल मिश्र, इन्शा अल्ला खाँ, सदासुखलाल, राजाशिव प्रसाद सितारे हिन्द और राजालक्ष्मणसिंह इत्यादि का प्रमुख स्थान है। इन लेखकों की भाषा पर विचार करने से पता चलता है, कि भारतेंदुजी के पूर्व हिन्दी गद्य की भाषा ने कोई निश्चित, और व्यवस्थित रूप धारण नहीं किया था। लल्लूलालजी और सदलमिश्र की भाषा पर ब्रज की छाप थी। इन्शा अल्ला खाँ की भाषा फारसी मिश्रित थी। सदासुखलाल की भाषा में पंडिताऊपन अधिक था। राजाशिवप्रसाद सितारे हिन्द की भाषा परिमार्जित अवश्य थी, पर वह अरबी और फारसी मिश्रित थी। राजालक्ष्मणसिंह की भाषा विशुद्ध हिन्दी थी, जिसमें संस्कृत के तत्सम शब्दों की प्रधानता था। इस प्रकार भारतेन्दुजी के पूर्व गद्य के क्षेत्र में भाषा का भिन्न भिन्न स्वरूप प्रचलित था। भाषा के इन सम्पूर्ण स्वरूपों में उन गुणों का अभाव था, जिनके कारण किसी भी भाषा को आदर और सम्मान का स्थान प्राप्त होता है। भाषा के इन सम्पूर्ण स्वरूपों में प्रवाह का पूर्ण रूप से अभाव था। उनके वाक्यों और शब्दों के संगठन में असंयतता और शिथिलता थी। दूसरी ओर खड़ी बोली उर्दू के गद्य की भाषा अधिक सुगठित और प्रवाह पूर्ण थी। अतः भारतेंदुजी को एक ऐसी भाषा का निर्वाचन करना था, जिसमें उर्दू खड़ी बोली से अधिक दृढ़ता और प्रवाहमयता हो। निश्चय, ऊपर की सभी भाषाएँ उर्दू खड़ी बोली के मुकाबिले में अधिक दुर्बल, और शिथिल थीं। अतः एक सुव्यवस्थित और सुदृढ़ भाषा के निर्वाचन का प्रश्न भारतेन्दुजी के सामने मुख्य रूप से उपस्थित हुआ।

भारतेन्दुजी ने अपने लिए खड़ी बोली को चुन कर इस प्रश्न को बड़ी कुशलता के साथ सुलझाया। खड़ी बोली अधिक सरल और प्रवाह पूर्ण थी। उसमें भाषा विज्ञान की दृष्टि से विकास के वे गुण निहित थे, जो किसी भी भाषा को उन्नति की पराकाष्ठा पर पहुँचाते हैं। भारतेन्दुजी ने भाषा के स्थान पर खड़ी बोली को चुन कर भाषा विज्ञान की अपनी दक्षता का परिचय दिया है। उन्होंने भाषा के स्थान पर खड़ी बोली का निर्वाचन तो किया ही, साथ ही उसके निर्माण और परिष्करण में भी प्रशंसनीय साधना की। उन्होंने खड़ी बोली को चुन कर उसे युग के साँचे में ढाला है। उन्होंने हिन्दी के शब्द भण्डार से ऐसे शब्दों को निकाल कर बाहर कर दिया, जिनके कारण भाषा के प्रवाह में बाधा उपस्थित होती थी। उन्होंने अपनी भाषा में संस्कृत के उन्हीं शब्दों को स्थान दिया, जो व्यावहारिक थे, और जिनका समाज में प्रचलन था। संस्कृत के तत्सम शब्दों के साथ उन्होंने अपनी भाषा में उन विदेशी शब्दों को भी स्थान दिया, जो अपने प्रचार की अधिकता के कारण

अधिक व्यावहारिक बन गए थे। विदेशी शब्दों के प्रयोग में उन्होंने अधिक सावधानी से काम लिया, अर्थात् उन्होंने विदेशी शब्दों को हिन्दी के व्याकरण के साँचे में ढाल करके ही उनका प्रयोग किया। उन्होंने भाषा को मधुर, प्रवाहमय और अधिक सरल भी बनाने का प्रयत्न किया। उन्होंने अपनी भाषा में अधिकतर ऐसे ही शब्दों का प्रयोग किया, जिनके कारण भाषा मधुर होने के साथ ही साथ अधिक शक्तिशाली हो सकती थी।

भारतेंदु बाबू ने जिस प्रकार खड़ी बोली के अभिसार के लिए उत्कट साधना की, उसी प्रकार उन्होंने ब्रजभाषा का भी सुन्दरता के साथ संस्कार और शृंगार किया। ब्रजभाषा भारतेंदु बाबू के समय तक अधिक प्राचीन बन गई थी। उसके भीतर अधिक विकार उत्पन्न हो गए थे। वह अपने जिस माधुर्य के लिए प्रसिद्ध थी, अब उसमें वह न था। अब उसमें कटुता और दुरूहता उत्पन्न हो गई थी। भारतेंदु बाबू ने ब्रजभाषा को भी अपने हाथ में लिया, और उसके भीतर घुसे हुए विकारों को दूर करके उसे परमोज्वल बनाया। उन्होंने ब्रजभाषा से ऐसे शब्दों को दूर किया, जो अधिक पुराने होने के कारण अधिक घिस गए थे, और अपने स्वरूप की विकृति के कारण अधिक दुरूह बन गए थे। उनके स्थान पर उन्होंने सरल, व्यावहारिक और प्रचलित शब्दों का प्रयोग किया। उन्होंने ऐसे शब्दों को भी स्थान दिया, जो नए ढंग के थे। इस प्रकार उन्होंने खड़ी बोली की भाँति ही ब्रजभाषा के रूप को भी सँवारा, और परिमार्जित किया। भारतेंदु बाबू के हाथों में आकर ब्रजभाषा इसमें संदेह नहीं, कि अधिक मधुर और मृदुल बन गई।

भारतेंदु बाबू भाषा की प्रकृति से भली भाँति परिचित थे! वे यह अच्छी तरह जानते थे, कि भाषा किस प्रकार जनता के जीवन को अभिव्यक्त करती हुई उन्नति की ओर अग्रसर हो सकती है। वे यह भी जानते थे; कि भाषा और जन-जीवन का कितना गहरा सम्बन्ध होता है। यही कारण है, कि उन्होंने अपनी भाषा को जन जीवन के अनुकूल बनाने का प्रयत्न किया। उन्होंने भाषा को जन जीवन के अनुकूल बनाने के लिए ही उन सम्पूर्ण शब्दों को ग्रहण किया है, जो जन समाज में प्रचलित थे। हिन्दी के शब्दों का उनकी भाषा में बाहुल्य है, पर इसके साथ ही साथ उनकी भाषा में अरबी, फारसी, संस्कृत और अँगरेज़ी के शब्दों का प्रयोग मिलता है। उन्होंने विदेशी शब्दों का प्रयोग तद्भव के ही रूप में किया है। इससे उनकी भाषा अधिक मधुर और मृदुल बन गई है। अत्र-तत्र उनकी भाषा में ब्रज के भी शब्द पाए जाते हैं। उन्होंने अपनी भाषा में शब्दों के प्रयोग में बड़े कौशल से काम लिया है। उनके शब्दों के स्थापन में व्यवस्था और सङ्घटनात्मक शक्ति है। उनके सभी शब्द आपस में बँधे हुए एक दूसरे के सहायक से ज्ञात होते हैं। यही कारण है, कि उनकी भाषा में प्रवाह और प्रसाद गुण है। उनकी भाषा अधिक भाव-व्यंजक और प्रवाहमयी है। भाषा को भाव व्यंजक बनाने के लिए उन्होंने शब्दों के चयन पर अपने ध्यान को

केन्द्रित रक्खा है। उन्होंने शब्दों का चयन भावों के ही अनुसार किया है, और भावों को ही लक्ष्य करके उनका संस्थापन भी किया है।

भारतेंदु बाबू में साहित्य निर्माण की अद्भुत शक्ति थी। उन्होंने जहाँ शैली और भाषा का निर्माण किया, वहाँ उन्होंने साहित्य के भिन्न भिन्न क्षेत्रों में रचनात्मक कार्य भी किए, अर्थात् उन्होंने साहित्य के भिन्न भिन्न क्षेत्रों में अपनी प्रतिभा का प्रयोग किया, और पुस्तकें लिखीं। उनका सबसे अधिक महत्व पूर्ण कार्य हिन्दी गद्य का निर्माण है। साहित्य के अंतर्गत जिसे गद्य कहते हैं, सर्व प्रथम उसकी नींव उन्हीं के द्वारा पड़ी है। उनके पूर्व हिन्दी में गद्य-साहित्य का अभाव था। गद्य के नाम पर उनके पूर्व जो रचना हुई थी, वह ब्रजभाषा में थी, और उसे गद्य नहीं कहा जा सकता था। सर्व प्रथम भारतेंदु बाबू ने ही सुव्यवस्थित गद्य की नींव डाली। इन्होंने गद्य-रचना के लिए खड़ी बोली को ग्रहण किया, और उसे व्यवस्थित तथा सुदृढ़ बनाया। भारतेंदुजी ने खड़ी बोली में विभिन्न विषयों पर गद्यात्मक पुस्तकों की रचना की। उन्होंने विभिन्न विषयों पर गद्यात्मक पुस्तकों की रचना करके यह सिद्ध किया, कि खड़ी बोली एक ऐसी भाषा है, जिसमें सभी प्रकार के भाव व्यक्त किए जा सकते हैं। भारतेंदुजी ने कई ऐतिहासिक ग्रंथों की रचना की, जिनमें काश्मीर कुसुम, महाराष्ट्र देश का इतिहास, और बादशाह दर्पण इत्यादि अधिक प्रसिद्ध हैं। इस प्रकार उन्होंने ऐतिहासिक पुस्तकों की रचना करके लोगों में इतिहास लिखने की प्रवृत्ति उत्पन्न की। उन्होंने उपन्यास और कहानियाँ लिखने की ओर भी ध्यान दिया था। किन्तु इस कार्य में सफलता प्राप्त करने के पूर्व ही उनका स्वर्गवास हो गया। उन्होंने गम्भीर विषयों पर निबंध लिखे। उन्होंने देसे भी निबंध लिखे, जो व्यंग और हास्य पूर्ण हैं। 'हमीर हठ', 'राजसिंह', और 'कुछ आपबीती, कुछ जगबीती' में उनके अपूर्ण निबंध देखने को मिलते हैं। 'मदालय', सीलवती, और सुलोचना इत्यादि आख्यानों की भी उन्होंने रचना की। वेश्या स्तोत्र, अंगरेज स्तोत्र, पाँच पैगम्बर, और कंकड़ स्तोत्र इत्यादि उनके हास्य और व्यंग्य पूर्ण निबंध हैं। उन्होंने महत्व पूर्ण नाटकों की रचना करके हिन्दी में नाट्य-रचना के मार्ग को प्रशस्त किया। भारतेंदुजी के पूर्व हिन्दी में मौलिक नाटकों का सर्वथा अभाव था। सर्व प्रथम भारतेंदुजी ने ही हिन्दी में मौलिक नाटकों की सृष्टि की। उनके नाटकों में सत्य हरिश्चंद्र, भारत दुर्दशा, नीलदेवी, और चंद्रावली इत्यादि का महत्व पूर्ण स्थान है। उन्होंने 'प्रहसनों' की भी रचना की। उनका 'अंधेर नगरी' एक सर्वोत्कृष्ट प्रहसन है।

गद्य निर्माता— भारतेन्दु

इस प्रकार भारतेन्दु बाबू ने विभिन्न विषयों पर गद्यात्मक रचनाएँ करके खड़ी बोली हिन्दी की शक्ति को उद्घोषित करने के साथ ही साथ गद्य रचना के मार्ग को प्रशस्त किया, और लोगों के भीतर गद्य-रचना की प्रवृत्ति उत्पन्न की।

भारतेंदु बाबू ही खड़ी बोली के गद्य के जन्मदाता हैं। उन्होंने गद्य की नींव तो डाली

ही उसमें महत्त्वपूर्ण रचनाएँ भी की। हिन्दी साहित्य के वे प्रथम नाटककार हैं। जिस प्रकार उन्होंने निबंध, कविता उपन्यास और आख्यानों के मार्ग का प्रवर्तन किया है, उसी प्रकार उन्होंने हिन्दी नाट्य कला के मार्ग को प्रशस्त करने के लिए भी प्रशंसनीय साधनाएँ की हैं। उनकी गद्यात्मक रचनाओं में उनके नाटकों का अत्यधिक महत्वपूर्ण स्थान है। उनके नाटक हिन्दी साहित्य की अमूल्य सम्पत्ति हैं। हिंदी साहित्य में सर्व प्रथम भारतेंदु बाबूजी के ही द्वारा मौलिक नाटकों की सृष्टि हुई है। भारतेंदु बाबू के पूर्व हिन्दी में नाटकों का अभाव था। उनके पूर्व किसी भी लेखक का ध्यान ऐसे नाटकों के निर्माण की ओर नहीं गया था, जिन्हें हम साहित्यिक और कलात्मक नाटकों की संज्ञा दे सकें। इसके तीन मुख्य कारण थे। एक कारण तो यह था, कि भारतेन्दुजी के पूर्व गद्य की भाषा का कोई निश्चित और व्यवस्थित स्वरूप न था, दूसरा कारण यह था, कि उन दिनों रंग मचों का अभाव था, और तीसरा कारण यह था, कि देश में मुसलमानों का शासन था, जिनकी धार्मिक भावना नाट्य रचना के विपरीत थी। अतः भारतेंदुजी के पूर्व हिन्दी साहित्य में नाटकों की रचना नहीं हो सकी। रीति काल में, और उसके पश्चात् कुछ नाटकों की रचना अवश्य हुई है, पर उन्हें नाटक नहीं कहा जा सकता। क्योंकि उनमें उन तत्त्वों का पूर्ण रूप से अभाव है, जिनके कारण नाटकों को नाटक की संज्ञा मिलती है।

भारतेन्दुजी के पूर्व नाटक के नाम पर राम और श्री कृष्ण की कथाओं को लेकर संवादात्मक पद्यों की रचना की गई थी। ऐसे संवादात्मक पद्यों के बीच-बीच में गद्य का भी संकेत था। कुछ संस्कृत के नाटकों का अनुवाद भी हुआ था, जिनकी भाषा गद्यात्मक थी। पर इन नाटकों का साहित्यिक दृष्टि से कुछ भी मूल्य न था। मुसलमानों के शासन के पश्चात् जब देश में अँगरेजों का शासन स्थापित हुआ, तो अँगरेजी के साहित्य का भी देश में प्रचार हुआ। अँगरेजी के साहित्य का संपर्क सर्व प्रथम बँगला साहित्य से हुआ था। यही कारण है, कि बँगला में आधुनिक ढंग के नाटकों की सृष्टि बहुत पहले ही हुई थी। अँगरेजी और बँगला के नाटकों का प्रभाव भारतेन्दुजी के भी हृदय पर पड़ा। भारतेंदुजी नाट्यकला से पहले ही प्रभावित हो चुके थे। नाट्यकला के प्रति उनके भीतर जन्म जात प्रेम था। उनके पिता भी नाटककार थे, उनके पिता ने उनके पूर्व 'नहुष' नामक नाटक की रचना की थी। इस प्रकार भारतेन्दु बाबू को नाट्यकला पैतृक सम्पत्ति के रूप में प्राप्त हुई थी। उन्होंने नाट्य-कला के प्रेम के कारण नाटक शास्त्र का अध्ययन किया। व्यवहारिक दृष्टि से भी उन्होंने नाट्यकला का ज्ञान प्राप्त किया। उन्होंने हिन्दी और बँगला के कई नाटकों को देखा। अँगरेजी नाट्यकला का भी उन पर कुछ प्रभाव पड़ा था। इस प्रकार नाटकों की रचना करने के पूर्व उन्होंने नाट्य शास्त्र का भली भाँति ज्ञान प्राप्त कर लिया था।

भारतेंदुजी के नाटक दो प्रकार के हैं—मौलिक और अनुवादित। नाट्यकला

नाटककार भारतेंदु

के क्षेत्र में उन्हें जो सुकीर्ति प्राप्त हुई है, इसका कारण उनके मौलिक नाटक हैं। उन्होंने अपने मौलिक नाटकों की रचना प्राचीन परम्पराओं के अनुसार की है। पर प्राचीन परम्पराओं के पालन में वे सजग, और सतर्क दिखाई देते हैं। उन्होंने हिन्दी भाषा की रुचि और उसकी प्रकृति को देख करके ही प्राचीन परंपराओं का पालन किया है। उन्होंने अपनी नाट्यकला में प्राचीन विधियों के साथ ही साथ नवीनता को भी स्थान दिया है। यह नहीं कहा जा सकता, कि उन्होंने अपने नाटकों में संस्कृत की प्राचीन प्रणाली का अनुसरण आँख बंद करके की है. और न यही कहा जा सकता है कि उन्होंने उनका परित्याग करके अँगरेजी नाटकों का अंधानुकरण किया है। यही कारण है, कि हम उनकी नाट्यकला को दोनों के मध्य के मार्ग पर चलते हुए देखते हैं; अर्थात् उनकी नाट्यकला प्राचीन विधियों को भी स्पर्श करती है, और साथ ही उस किनारे से भी खेलती है, जिसे हम नवीनता का कूल कहते हैं। उनकी नाट्यकला में प्राचीन और नवीन-दोनों का संयोग बड़ी मार्मिकता के साथ स्थापित हुआ है।

भारतेन्दुजी की नाट्यकला आदर्शों की रंग स्थली में विहार करती है। उसकी दृष्टि पूर्ण रूप से आदर्शों की ओर ही उन्मुख है। वह जिस किसी भी क्षेत्र में प्रवेश करती है, आदर्शों की ही रक्षा में तन्मय दिखाई देती है। उसने जीवन, राष्ट्र, समाज, प्रेम और भक्ति इत्यादि क्षेत्रों में प्रविष्ट होकर अपने व्यापार की रचना की है। वह जीवन को ऊँचा उठाती, और उसे उन्नत बनाती है। राष्ट्र के गौरव पूर्ण अतीत को वह सामने उपस्थित करती है, और पद-पद पर राष्ट्र के प्रेम को जाग्रत करती है। समाज के भीतर से विकारों को धोकर निकालना उनकी कला का मुख्य काम है। उनकी कला समाज के जन-जन के हृदय में प्रवेश करती है, और दुर्बलताओं को दूर करके आदर्शों की संस्थापना करती है। प्रेम और भक्ति के क्षेत्र में भी उनकी कला उन्नत आदर्शों की सृष्टि करती है। उनका प्रेम दिव्य और परमोज्वल प्रेम है। उनके प्रेम में आदर्श दाम्पत्य जीवन का विकास हुआ है। उनका प्रेम त्याग और उत्सर्ग की भावनाओं से परिपूर्ण है। प्रेम की भाँति ही उनकी भक्ति भी अधिक परमोज्वल और दिव्य है।

भारतेन्दुजी के नाटकों को हम कई श्रेणियों में विभक्त कर सकते हैं। जैसे—यथार्थवादी नाटक, स्वच्छंदवादी नाटक, आदर्शवादी नाटक, और राष्ट्रवादी नाटक। इसी बात को हम इन शब्दों में भी कह सकते हैं, कि भारतेन्दु बाबू ने यथार्थवादी, स्वच्छंदवादी, आदर्शवादी, और राष्ट्रवादी नाटकों की रचना करके हिन्दी साहित्य के नाटक-क्षेत्र में इन 'वादों' की धारा प्रवाहित की। भारतेन्दु बाबू के पश्चात् के नाटककारों ने इन्हीं 'वादों' के मार्ग पर चल कर नाटकों की रचना की है। भारतेंदु बाबू के नाटकों में सत्य हरिश्चंद्र, नीलदेवी, भारत दुर्दशा, और चंद्रावली इत्यादि का महत्त्व पूर्ण स्थान है। 'सत्य हरिश्चंद्र' की रचना आदर्शवाद की भित्ति पर हुई है। उनके आदर्शवादी नाटक दो प्रकार के हैं—ऐतिहासिक और पौराणिक। 'सत्य

हरिश्चंद्र' में पौराणिक आदर्श की स्थापना की गई है। इसका कथानक अधिक सकरुण, प्रवाहमय, और मर्म स्पर्शी है। इसमें करुण, वत्सल्य रौद्र, वीभत्स और भयानक इत्यादि भावों का पर्याप्त रूप में विकास हुआ है। 'भारत दुर्दशा' राष्ट्रवादी नाटक है। इसमें राष्ट्र की विकृतियों पर प्रकाश डालते हुए राष्ट्र के प्रति प्रेम, सौहार्द और सहानुभूति उत्पन्न करने का प्रयत्न किया है। 'नीलदेवी' भी आदर्शात्मक है। 'नीलदेवी' में नारी के आदर्श चरित्र को सामने उपस्थित किया गया है। चंद्रावली में 'यथार्थवाद' और स्वच्छन्दवाद का समन्वय है। प्रेम और भक्ति की चंद्रावली में पराकाष्ठा है। भारतेन्दु बाबू ने सामाजिक विषयों को लेकर प्रहसनों की भी रचना की है। उनके प्रहसनों में 'वैदिकी हिंसा-हिंसा न भवति', 'विषस्य विष मौसधम्' और और 'अन्धेर नगरी' का मस्तव पूर्ण स्थान है।

भारतेन्दु बाबू ने नाटकों की भाँति ही पत्रकार कला के क्षेत्र में भी अपनी प्रतिभा का प्रदर्शन किया है। भारतेंदु के पूर्व हिन्दी में पत्रकारिता का जन्म हो चुका

पत्रकार—भारतेंदु था। उनके समय से पहले से ही कई पत्र प्रकाशित हो रहे थे। पर उनकी दशा बहुत कुछ अच्छी न थी। भारतेन्दु बाबू को हिन्दी और उसके गद्य का प्रचार करना था। यह काम पत्रों की सहायता के बिना नहीं हो सकता था, परिणाम स्वरूप भारतेंदु बाबू ने इस क्षेत्र में भी पदार्पण किया। उन्होंने हिन्दी प्रचार के लिए 'कवि वचन सुधा' नाम का एक पत्र निकाला। पहले यह पत्र मासिक था, और इसमें केवल प्राचीन कवियों की सामाजिक रचनाएं पुस्तक रूप में प्रकाशित हुआ करती थीं। कुछ दिनों के पश्चात् जब इसकी लोक प्रियता अधिक बढ़ी तो यह पाक्षिक हो गया, और इसमें सामाजिक और राजनीतिक इत्यादि विभिन्न विषयों पर निबंध भी प्रकाशित होने लगे। कुछ दिनों के पश्चात् अंत में यह साप्ताहिक रूप में भी परिवर्तित हो गया था। भारतेंदुजी के जीवन काल तक यह पत्र बराबर प्रकाशित होता रहा। समाज में इसका अधिक आदर, और प्रचार था। दूसरा पत्र जो हरिश्चन्द्रजी ने निकाला, वह हरिश्चन्द्र चंद्रिका थी। पहले इसका नाम 'हरिश्चन्द्र मैगजीन' था। पहले पहल यह सन् १८७३ में प्रकाशित हुआ था। किन्तु एक वर्ष के पश्चात् ही यह हरिश्चन्द्र चन्द्रिका के रूप में परिवर्तित हो गया। यह भी मासिक था। इसमें साहित्य, समाज, राजनीति, अर्थशास्त्र, और पुरातत्व इत्यादि विषयों पर गम्भीर, तथा भावपूर्ण निबंध प्रकाशित हुआ करते थे। भारतेंदुजी ने 'बालबोधिनी' और 'भागवद् तोषिणी' नामक दो और पत्रों का प्रकाशन किया था। 'बालबोधिनी' १८७५ ई० में बालिकाओं के लिए निकाली गई थी। 'भागवद् तोषिणी' वैष्णव-धर्म प्रधान पत्रिका थी।

इस प्रकार भारतेंदुजी ने साहित्य के सभी क्षेत्रों में प्रविष्ट होकर नए युग का सूत्रपात किया। यही कारण है, कि हम उन्हें साहित्य के नए युग का नेता मानते हैं। उन्होंने महान् नेता की भाँति ही साहित्य के सभी क्षेत्रों में हमारे पथ का प्रदर्शन किया है।

पं० बालकृष्ण भट्ट का जन्म सं० १९०१ में प्रयाग में हुआ था। यह लगभग साठ वर्ष तक जीवित रहे। इन्होंने अपने जीवन का अधिकांश समय साहित्य की सेवा और उसकी साधना में ही व्यतीत किया। हिन्दी के रंग मंच पर जब इनका आविर्भाव हुआ, उस समय तक हिंदी खड़ी बोली अधिक परिमार्जित और परिष्कृत हो चुकी थी। भरतेन्दुजी की भाँति इनके सामने भाषा के गठन का प्रश्न नहीं था। इनके सामने भारतेन्दुजी की वह भाषा थी, जो उनके हाथों में पड़कर अधिक मँज चुकी थी।

भट्टजी की साहित्य साधना

भट्टजी ने उसी भाषा के माध्यम से हिन्दी गद्य के प्रचार में प्रशंसनीय योग दिया। हिन्दी प्रचार और गद्य के निर्माण में भट्टजी के द्वारा जो प्रयत्न हुए हैं, वे स्तुत्य हैं। हिंदी प्रचार के उद्देश्य से उन्होंने १८७६ ई० में प्रयाग में 'हिन्दी प्रवर्द्धिनी' नाम की एक संस्था स्थापित की, और उसके द्वारा 'हिन्दी-प्रदीप' नाम का एक मासिक पत्र भी निकाला। यह पत्र ३२ वर्षों तक बराबर प्रकाशित होता रहा। भट्टजी ही इसके सम्पादक थे। भट्टजी ने इसके द्वारा हिन्दी साहित्य की स्तुत्य सेवा की। भट्टजी ने भाव पूर्ण निबंधों की रचना करके हिन्दी साहित्य के भण्डार की अभिवृद्धि की। उनके निबंधों में उच्चकोटि की साहित्यिकता पाई जाती है। उनके साहित्यिक निबंधों में साहित्यिकता तो है ही, अन्यान्य विषयक निबंध भी साहित्यिक गुणों से संयुक्त हैं। उनके निबंधों में साहित्यिकता के साथ ही साथ कल्पना का भी संमिश्रण है, जिससे उनके निबंध अधिक आकर्षक और भावमय बन गए हैं। हिन्दी के समालोचक उनके निबंधों की साहित्यिकता को देख करके ही उनकी समानता अँगरेजी के सुप्रसिद्ध निबंधकार 'चार्ल्स लैम्ब' के साथ करते हैं। उन्होंने छोटे से छोटे विषय पर अधिक भाव पूर्ण और साहित्यिक निबन्धों की रचना की है।

निबंध के अतिरिक्त भट्टजी ने गद्य काव्य की भी रचना की है। भट्टजी के पूर्व हिन्दी-साहित्य में गद्य-काव्य का पूर्ण रूप से अभाव था। भट्टजी संस्कृत के पंडित थे। संस्कृत की कादंबरी की शैली पर ही उन्होंने हिन्दी में गद्य-रचना के लिए सफल प्रयास किया। हिन्दी साहित्य में इस प्रकार की रचना के लिए यह प्रथम प्रयास था, जो भट्टजी के द्वारा हुआ। यही कारण है, कि भट्टजी हिन्दी गद्य-काव्य के जन्म दाता कहे जाते हैं। भट्टजी ने गद्याकाव्यात्मक शैली में कई निबंधों की रचना की है, जिनमें 'चन्द्रोदय' और 'आँसू' इत्यादि उनके निबंध उच्चकोटि के समझे जाते हैं। उनके इन निबंधों में भावों और कल्पनाओं का योग बड़ी सुन्दरता के साथ स्थापित हुआ है। भट्टजी ने दो उपन्यास भी लिखे हैं। यद्यपि आधुनिक औपन्यासिक कला की दृष्टि से उनके उपन्यासों में विशेषता नहीं है, पर अपने युग के वे अच्छे उपन्यास हैं। नाटक के क्षेत्र में भी भट्टजी ने अपनी प्रतिभा का उपयोग किया है। पर नाटक के क्षेत्र में उन्हें अधिक सफलता नहीं प्राप्त हो सकी है। उन्होंने हास्यात्मक और व्यंगात्मक निबन्धों की भी रचना की है। भट्टजी पहले निबंधकार हैं, उन्होंने निबंध में हास्य, और व्यंग का समावेश किया है।

भारतेन्दुजी ने जिस शैली का निर्माण किया था, भट्टजी ने उसे अधिक पुष्ट और दृढ़ बनाया है। पुष्ट और दृढ़ बनाने के साथ ही साथ उन्होंने शैली के क्षेत्र को अधिक विस्तृत और व्यापक बनाने का प्रयत्न किया है। भट्टजी की शैली में मुख्य रूप से दो दृष्टिकोण दिखाई पड़ते हैं। अपनी एक शैली में तो वे एक साहित्यकार के रूप में दृष्टिगोचर होते हैं। उनकी यह शैली उनके साहित्यिक व्यक्तित्व और उनकी साहित्यिक आकांक्षाओं को व्यक्त करती है। उनकी दूसरी शैली का दृष्टिकोण हिन्दी के क्षेत्र को व्यापक बनाना है, अपनी इस शैली में वे साहित्यिकता के मोह को छोड़ कर हिन्दी को व्यापक बनाने वाले तत्त्वों को ढूँढ़ते हुए दिखाई देते हैं। उनकी शैली में उनके दोनों ही दृष्टिकोण बड़ी सुन्दरता के साथ अभिव्यक्त हुए हैं। भट्टजी की शैली उनकी अपनी शैली है। उनकी शैली पर उनके व्यक्तित्व की अमिट छाप है। उनकी शैली ऐसी निराली है, कि वह सैकड़ों के बीच में पहचानी जा सकती है। निराली होने के साथ ही साथ वह अधिक परिमार्जित, और परिपुष्ट भी है। उनकी शैली की जो सम्पदा हमारे सामने है, उसे दृष्टि में रखते हुए हम उनकी शैली को दो वर्गों में बाँटते हैं—परिचयात्मक शैली, और भावात्मक शैली। परिचयात्मक शैली का प्रयोग उन्होंने अपने उपन्यासों, और कौतूहल वर्द्धक निबंधों में किया है। उनकी इस शैली को हम उनकी प्रतिनिधि शैली नहीं कह सकते। क्योंकि इस शैली में उनके जो निबन्ध, और उपन्यास हैं, वे साधारण कोटि के हैं। उनकी यह शैली चलती हुई और बहुत सरल है। वाक्य कहीं अधिक छोटे, और कहीं अधिक बड़े हैं। निम्नांकित पंक्तियों में उनकी परिचयात्मक शैली का ही विकास हुआ है—'यह नर पशु तभी तक सुमार्ग पर चलता है, तभी तक स्वभाव का सरल, विनीत, और साधु है, और तभी तक लोक लाज, लोक निन्दा तथा अपवाद या राजदंड की यातना से बचा हुआ है, जब तक दबसट में पड़ा हुआ अपने स्वेच्छाचार में प्रवृत्त नहीं होता।'

भट्टजी की दूसरी शैली भावात्मक शैली है। हिन्दी गद्य साहित्य में भट्टजी को इसी शैली के निबंधों से सुख्याति प्राप्ति हुई है। यही वह शैली है, जिसके कारण भट्टजी को अधिक सुख्याति प्राप्त हुई है। भट्टजी के उच्चकोटि के साहित्यिक निबंध इसी शैली में हैं। उनकी इस शैली में विशेष रूप से तीन गुण हैं। प्रथम यह कि उनकी इस शैली में विशुद्ध भाषा का प्रयोग हुआ है। उनकी इस शैली की भाषा अधिक प्रवाहमयी, और प्रसाद गुण युक्त है, दूसरा यह कि उनकी इस शैली में अलङ्कारों की छटा है। स्थान-स्थान पर उपमा, रूपक, और उत्प्रेक्षा इत्यादि अलङ्कारों का प्रयोग उनकी इस शैली में सुन्दरता के साथ हुआ है, जिससे उनकी यह शैली अधिक अलंकारिक और आकर्षक हो गई है, और तीसरा यह, कि उनकी इस शैली में विचारों तथा भावों के साथ ही साथ कल्पना का भी संमिश्रण हुआ है।

भट्टजी की शैली में व्यंग्य और हास्य का भी समावेश है। उन्होंने हास्य और व्यंग के क्षेत्र में शिष्टता की मर्यादा का पालन किया है। उनका हास्य अधिक

शिष्ट, संयत और मर्यादा पूर्ण है, पर वह अधिक तीव्र और मार्मिक भी है। निम्नांकित पंक्तियों में भट्टजी की व्यंगात्मक शैली को ही झलक मिलती है—'इसी तरह कौम की तनज्जुली कौम के एक एक आदमी की सुस्ती, कमीनापन, नीच प्रकृति, स्वार्थ परता और भाँति-भाँति की बुराइयों का ग्रैंड टोटल है।'

भट्टजी की भावात्मक शैली निम्नांकित पंक्तियों में प्रगट हुई है—'अथवा जंगम जगत मात्र को डसने वाले अनंग-भुजंग के फन पर चमकता हुआ मणि है, या निशा नायिका के चेहरे की मुस्कुराहट है, अथवा जगज्जेता कामदेव का धन्वा है, या तारा मोतियों की दो सीपियों में से एक सीपी है।'

भट्टजी के समय में तीन प्रकार की भाषाएँ प्रचलित थीं। एक प्रकार की भाषा वह थी, जिसका प्रवर्तन राजाशिवप्रसाद सितारे हिन्द के द्वारा हुआ था, दूसरे प्रकार की भाषा वह थी, जिसका निर्माण राजालक्ष्मणसिंहजी ने किया था, और तीसरे प्रकार की भाषा वह थी, जो भारतेन्दु बाबू के द्वारा हिन्दी-साहित्य के रंग मंच पर लाई गई थी। भट्टजी ने इन्हीं भाषाओं की सहायता से अपनी रचनाओं के लिए भाषा का निर्वाचन किया। भट्टजी ने अपनी रचनाओं के लिए जो भाषा चुनी, उसकी दो श्रेणियाँ हो गई हैं। उनकी भाषा की एक श्रेणी तो वह है, जो उनके साहित्यिक निबन्धों में मिलती है। इस भाषा में संस्कृत के तत्सम शब्दों की प्रधानता है। यह अधिक आलंकारिक, और काव्य-गुणों से युक्त भी है। इस पर नागरिकता की छाप है। यह अधिक शिष्ट, संयत और गम्भीर भी है। इसमें स्थान-स्थान पर लोकोक्तियों, और मुहाविरों की अधिकता मिलती है। कहीं कहीं लोकोक्तियों और मुहाविरों का इतना अधिक प्रयोग हुआ है, कि उसके कारण भाषा के प्रवाह और सौंदर्य में कमी आ गई है। भट्टजी की भाषा की दूसरी श्रेणी वह है, जिसमें उन्होंने सम सामयिक और व्यंगात्मक निबन्धों की रचना की है। इस भाषा में संस्कृत के तत्सम शब्दों के साथ ही साथ अरबी, फारसी और अँगरेजी इत्यादि विदेशी भाषाओं के शब्दों का भी प्रयोग हुआ है। कहीं कहीं ऐसे भी प्रयोग इस भाषा में मिलते हैं, जो पूर्वी या ब्रज के ढंग के से हैं। जैसे—पचै, कटै, दै, पड़ैगा, टेघराना, बुझाय इत्यादि। कहीं कहीं लिंगों का अशुद्ध प्रयोग भी इनकी भाषा में मिलता है। जैसे—'लीला देखा' और 'वेद के उत्पत्ति का समय' इत्यादि। जहाँ कहीं इनके वाक्य बड़े बड़े हो गए हैं, वहाँ कर्त्ता का प्रयोग दो बार किया गया है। कहीं कहीं वाक्य योजना में उर्दू की शैली भी टपक पड़ी है। जैसे—'बाद गिने जाने के'। इससे पता चलता है, कि भट्टजी का भाषा संबंधी दृष्टिकोण उदार था। उनकी भाषा पर उनके गम्भीर व्यक्तित्व की छाप होते हुए भी सामयिकता की छाप है। उनकी भाषा में विदेशी शब्दों का जो प्रयोग हुआ है—उसका एक मात्र कारण युग और समय की छाप ही है। उन्होंने संस्कृत के तत्सम शब्दों से युक्त भाषा लिख कर जहाँ अपने हिन्दी प्रेम की विशुद्धता का परिचय दिया है, वहाँ उन्होंने अपनी भाषा में विदेशी शब्दों को स्थान देकर हिन्दी को व्यापक

भट्टजी की भाषा

बनाने का प्रशंसनीय प्रयत्न किया है। उनके इस प्रयत्न को यदि हम उनके हिन्दी-प्रेम के अंतर्गत ही लें, तो अनुचित न होगा।

पं० प्रतापनारायण मिश्र का जन्म सं० १९१३ में उन्नाव जिले के अंतर्गत बैजे नामक गाँव में हुआ था। मिश्रजी भारतेन्दु काल के सुप्रसिद्ध साहित्यकार थे।

मिश्रजी की साहित्य साधना

वे उर्दू, फारसी, संस्कृत, और अँगरेजी इत्यादि भाषाओं के अच्छे ज्ञाता थे। हिन्दी के प्रति उनके भीतर अनन्य प्रेम था। उन्होंने अपने जीवन का अधिकांश भाग हिन्दी की ही अर्चना में व्यतीत किया। उन्होंने सर्वतोमुखी प्रतिभा पाई थी। उनकी प्रतिभा में शक्ति और तीव्रता थी। उनकी विचार और कल्पना शक्ति भी अधिक तीव्र थी। वह बहुत शीघ्र किसी बात को सोच लेते थे। उनके कथन का ढंग भी अधिक अद्भुत था। वे सीधी सादी बात को भी इस ढंग से सामने उपस्थित करते थे, कि उसमें एक प्रकार का अद्भुत रस उत्पन्न हो जाता था।

मिश्रजी का साहित्यिक व्यक्तित्व कई रूपों में प्रगट हुआ है—कवि के रूप में, नाटककार के रूप में, निबंधकार के रूप में और संपादक के रूप में। कवि के रूप में मिश्रजी ने अच्छी सुख्याति प्राप्त की है। उन्होंने सम सामयिक और सामाजिक विषयों पर ही कविताएँ लिखी हैं। उनकी कविताओं में मार्मिक उक्तियों का समावेश है। उनमें कविता करने की अद्भुत शक्ति थी। वे किसी भी विषय पर बहुत ही शीघ्र कविता लिख लिया करते थे। लावनी की रचना करने में वे अधिक कुशल थे। उनकी लावनियों में अधिक सरसता और भाव व्यंजकता है। उन्होंने ऐसी भी रचनाएँ की हैं, जिनमें हास्य रस का अच्छा परिपाक हुआ है। वे कविता में अपना नाम प्रताप, और 'प्रताप हरि' रखते थे। कभी कभी प्रेम सम्बन्धी रचना प्रेमदास के नाम से किया करते थे। कवि की भाँति वे कुशल नाटककार भी थे। उनके नाटकों में कलि प्रभाव, हठी हमीर, और गोसंकट का मुख्य स्थान है। उनके नाटकों के विषय सम सामयिक और सामाजिक हैं। यद्यपि आधुनिक नाट्यकला की दृष्टि से उनके नाटकों का अधिक महत्त्व नहीं है, पर इस बात से अस्वीकार नहीं किया जा सकता, कि मिश्रजी अपने युग के कुशल नाटककार थे। उनके नाटकों में उनकी नाटकीय प्रतिभा साफ-साफ दिखाई देती है। वे नाट्यकला के क्षेत्र में भारतेन्दुजी के पूर्ण रूप से अनुयायी हैं। उन्होंने भारतेन्दुजी के ही चरण-चिह्नों पर चल कर अपने नाटकों का निर्माण किया है। उनके नाटक राष्ट्रीय, और सामाजिक सुधारों के चित्र को सामने उपस्थित करते हैं, और विकृतियों की ओर संकेत करते हैं। मिश्र जी के साहित्यिक जीवन का वास्तविक रूप उनके निबंधों में प्रगट हुआ है। अपने निबंधों के ही कारण साहित्य जगत में वे सुकीर्ति अर्जित कर सके हैं। उन्होंने सामाजिक, राजनीतिक, और धार्मिक विषयों पर मार्मिक निबंध लिखे हैं। उनके इस प्रकार के सभी निबन्धों में सुधार की भावना है। उन्होंने ऐसे विषयों पर भी निबंध लिखे हैं, जिन्हें हम व्यवहार जगत के विषय कह सकते हैं। जैसे—बात, वृद्ध, भौं,

और दाँत इत्यादि। उनके दोनों ही प्रकार के निबन्धों में उनकी लेखन-पटुता साफ-साफ दिखाई देती है। उन्होंने अपने निबन्धों में विषय को इस प्रकार प्रस्तुत किया है, कि उसमें कुशलता और चमत्कारिता उत्पन्न हो गई है। इसी कुशलता और चमत्कारिता के कारण उनके साधारण से साधारण विषय के निबन्ध भी अधिक रोचक और आकर्षक ज्ञात होते हैं। मिश्रजी एक कुशल सम्पादक भी थे। उन्होंने स्वयं 'ब्राह्मण' नामक एक पत्र निकाला था। वे स्वयं ही इस पत्र के सम्पादक भी थे। उन्होंने कुछ दिनों तक 'हिन्दोस्थान' के सम्पादन विभाग में भी काम किया था। 'भारत जीवन' और 'कलेहगढ़ पत्र' से भी उनका सम्बन्ध था।

भारतेन्दु युग के निबन्धकारों में मिश्रजी का महत्त्व पूर्ण स्थान है। मिश्रजी ने गद्य और पद्य-दोनों ही क्षेत्रों में रचना की है, पर उन्हें जो सुख्याति प्राप्त हुई है, उसका कारण उनके महत्त्व पूर्ण निबन्ध हैं। उनके निबन्ध दो प्रकार के हैं—एक शुद्ध साहित्यिक, और दूसरा सुधार सम्बन्धी। उनके सुधार सम्बन्धी निबन्धों में व्यंग और हास्य का अच्छा पुट है। व्यंग और हास्य के पुट के ही कारण उनके इस कोटि के निबन्ध साहित्य-जगत में गौरवान्वित हो सके हैं। उनके साहित्यिक निबन्धों में निबन्ध कला का विकास सुन्दरता और मार्मिकता के साथ हुआ है।

मिश्रजी की शैली

मिश्रजी के निबंधों का अध्ययन करने के पश्चात् हम उनकी शैली को दो वर्गों में विभक्त कर सकते हैं—गम्भीर विचारात्मक शैली और हास्य एवं व्यंग पूर्ण शैली। उनके साहित्यिक और विचारात्मक निबंधों में गम्भीर विचारात्मक शैली प्रगट हुई है। उनकी यह शैली अधिक शिष्ट और संयत है। उसमें भावों और विचारों का समावेश सुन्दरता के साथ हुआ है। उनकी इस शैली में भी, बीच-बीच में हास्य और व्यंग का पुट है। हास्य और व्यंग के पुट के ही कारण उनकी यह शैली अधिक सजीव और आकर्षक बन सकी है। निम्नांकित पंक्तियों में उनकी इस शैली का ही उदय हुआ है—'इससे सब कर्त्तव्यों की भाँति उपर्युक्त विचार का अभ्यास करते रहना मुख्य कार्य समझो तो थोड़े ही दिनों में मन तुम्हारा मित्र बन जायगा, और सर्व काल उत्तम पथ में विचरण करने तथा उत्साहित रहने का उसे स्वभाव पड़ जायगा।'

मिश्रजी की दूसरी शैली हास्य और व्यंग पूर्ण है। मिश्रजी इस शैली के सफल और स्वाभाविक निबन्धकार हैं। उनकी इस शैली को ही हम उनकी प्रतिनिधि शैली कह सकते हैं। क्योंकि उनकी इस शैली पर उनके व्यक्तित्व की पूर्ण छाप है। मिश्र जी विनोदी तबीयत के व्यक्ति थे। उनकी प्रकृति में हास्य के तत्त्व घुले मिले थे। उनकी बात-बात में हास्य और विनोद टपकता था। वे गम्भीर विषयों की चर्चा में भी हास्य और व्यंग का समावेश करते थे। उनके गम्भीर निबन्धों में हास्य और व्यंग का जो पुट है, उसका यही कारण है। यद्यपि उनकी वास्तविक प्रवृत्ति का रंग उनके गम्भीर निबंधों पर भी पड़ा है, पर उसमें उन्हें उतनी सफलता नहीं मिली है, जितनी

सफलता हास्य और व्यंग शैली के निबन्धों में मिली है। उनके हास्य और व्यंग शैली के निबन्ध उनकी प्रकृति के साँचे से ढल कर निकले हैं। यही कारण है, कि उनमें स्वाभाविकता का विकास हुआ है। मिश्रजी की इस शैली के दो रूप हैं—हास्य पूर्ण और कटाक्ष पूर्ण। जहाँ हास्य की प्रधानता है, वहाँ हास्य पूर्ण शैली प्रगट हुई है। कहीं कहीं उन्होंने व्यंग भी किया है। ऐसे स्थलों पर ही कटाक्ष पूर्ण शैली पाई जाती है। निम्नांकित पंक्तियों में उनकी हास्य एवं व्यंग पूर्ण शैली सुन्दरता के साथ प्रगट हुई है—'यह कलयुग है। बड़े बड़े वाजपेयी पीते हैं। पीछे से बल, धर्म, धन, मन, प्राण सब स्वाहा हो जाय तो बला से। पर थोड़ी देर उसकी तरंग में हाथी मच्छर जुगनू दिखाई देता है। इससे और मनोविनोद के अभाव में उसके सेवकों के लिए कभी कभी उसका सेवन करना इतना बुरा नहीं है, जितना मृत चित्त बने बैठ रहना।'

मिश्रजी अपनी शैली के अनूठे निबन्धकार हैं। उनके निबन्धों पर उनके व्यक्तित्व की अमिट छाप है। उनके निबन्धों के शीर्षक से ही यह ज्ञात हो जाता है, कि यह मिश्रजी के निबन्ध हैं। मिश्रजी ने अपने व्यक्तित्व और शैली में एक रूपता स्थापित की है। ऐसी एक रूपता और स्वाभाविकता भारतेन्दु काल के अन्य निबन्धकारों में नहीं पाई जाती।

शैली की भाँति मिश्रजी की भाषा भी अपने ढंग की निराली है। मिश्रजी के पूर्व खड़ी बोली बहुत कुछ परिष्कृत हो चुकी थी। उनके सामने खड़ी बोली का बहुत कुछ विकसित स्वरूप था। पर मिश्रजी ने खड़ी बोली के उस विकसित स्वरूप को ग्रहण नहीं किया। उन्होंने खड़ी बोली के विकसित स्वरूप के स्थान पर उस भाषा को ग्रहण किया, जो उस समय जन साधारण में प्रचलित थी। भारतेन्दुजी ने भी जन-साधारण की भाषा को ही ग्रहण किया था। पर भारतेन्दु और मिश्रजी की भाषा में अधिक अन्तर है। भारतेन्दु ने जन साधारण की भाषा को ग्रहण करके उसके प्रवाह को नागरिकता की ओर मोड़ा है। पर मिश्रजी अपनी भाषा के प्रवाह को नागरिकता की ओर मोड़ने में बिलकुल असमर्थ दिखाई देते हैं। उनकी भाषा का प्रवाह नागरिकता की ओर न मुड़ कर ग्रामीणपन की ओर गया है। फलतः उनकी भाषा ग्रामीण हो गई है। उन्होंने अपनी भाषा में ग्रामीण शब्दों का प्रयोग निःसंकोच के साथ किया है। भावों को प्रगट करने के लिए उन्हें जब शब्द नहीं मिलते थे, तब वे गाँवों के शब्द भण्डार की ओर देखते थे। गाँवों के शब्दों से भी जब उनका काम नहीं चलता था, तब वे संस्कृत के प्रचलित शब्दों का सहारा लेते थे। संस्कृत के शब्दों से भी काम न चलने पर वे अरबी, फारसी और अँगरेजी के शब्दों का प्रयोग करते थे। इस प्रकार मिश्र जी की भाषा में हिन्दी, ग्रामीण, संस्कृत, अँगरेजी और अरबी फारसी इत्यादि कई भाषाओं के शब्द आवश्यकतानुसार मिलते हैं। शब्दों के प्रयोग में उन्होंने स्वच्छंदता से काम लिया है। शब्दों के प्रयोग और वाक्यों के निर्माण में उन्होंने व्याकरण के

मिश्रजी की भाषा

नियमों की भी उपेक्षा की है। विराम इत्यादि चिह्नों का प्रयोग भी उन्होंने बहुत कम किया है। कहावतों और मुहाविरों के प्रयोग की ओर उनका बहुत झुकाव था। किसी-किसी लेख में वे कहावतों और मुहाविरों की झड़ी लगा देते थे।

मिश्रजी की भाषा यों तो सीधी सादी है, पर वह दोष युक्त है। उसमें शिथिलता और अव्यवस्था है। विराम और व्याकरण के नियमों की अवहेलना करने के कारण उनकी भाषा में प्रभाव हीनता आ गई है। उन्होंने शब्दों के प्रयोग में शुद्धाशुद्ध पर भी ध्यान नहीं दिया है। उन्होंने बहुत से ऐसे शब्दों का प्रयोग किया है, जो अपने अशुद्ध रूप में हैं। जैसे—म्लेच्छ, रिषि, रितु, और रिषीश्वर इत्यादि। उनकी भाषा में पंडिताऊपन और पूर्वीपन का भी समावेश है। उन्होंने बैसवाड़े की ठेठ बोली के वाक्यों को भी अपनी भाषा में स्थान दिया है।

उपाध्याय पं० बद्रीनारायण चौधरी का जन्म सम्वत् १९१२ में एक अभिजात ब्राह्मण वंश में हुआ था। भारतेंदु काल के निबंधकारों में चौधरीजी का महत्त्वपूर्ण स्थान है। भारतेन्दुजी के द्वारा अन्वेषित गद्य के मार्ग को प्रशस्त करने में उन्होंने प्रशंसनीय योग दिया है। वे एक अच्छे रईस थे। उनमें रईसी का ठाट बाट था। रईसी का ठाट बाट उनकी वाणी से भी टपकता था। वे जो भी बात कहते थे, उसका ढंग निराला होता था। उनके वाक्यों में एक वक्रता, और वैचित्र्य होता था। उनकी व्यक्तित्व का प्रतिबिम्ब पूर्ण रूप से उनके साहित्य पर पड़ा हुआ दिखाई देता है।

चौधरीजी का साहित्यिक व्यक्तित्व कई रूपों में प्रगट हुआ है—निबन्धकार के रूप में, नाटककार के रूप में, पत्रकार के रूप में, और समालोचक के रूप में। चौधरी प्रेमघनजी की साहित्य साधना जी ने अधिकतर भावात्मक निबन्धों की रचना की है। उनके निबंधों के विषय या तो साहित्यिक हैं या साहित्यिक अभिरुचि के हैं। उनके सभी निबंधों पर उनके निराले व्यक्तित्व का प्रभाव है। नाट्य रचना के क्षेत्र में चौधरीजी को अधिक यश प्राप्त हुआ है। उन्होंने कई नाटकों की रचना की है, जिनमें 'भारत सौभाग्य' 'प्रयाग रामागमन' और वारांगना रहस्य का महत्व पूर्ण स्थान है। 'भारत सौभाग्य' में राष्ट्रीय भावनाओं का विकास हुआ है। इसके पात्र विभिन्न प्रांतीय भाषा भाषी हैं। पात्रों के अनुसार ही इसमें भाषा का रंग विरंगापन भी है। 'प्रयाग रामागमन' की रचना में धार्मिक भाव की प्रधानता है। 'वारांगना रहस्य' सामाजिक नाटक है। इसमें समाज के विकारों और विकृतियों के चित्र को प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया गया है। पत्रकार के रूप में भी चौधरीजी की सेवाएँ प्रशंसनीय हैं। उनकी 'आनंद कादम्बनी' साहित्य के इतिहास की मुख्य वस्तु है। वे अपने साहित्यक भावों के चित्र आनन्द कादम्बनी के ही द्वारा प्रस्तुत किये हैं। उन्होंने नागरी नीरद नामक एक साप्ताहिक पत्र भी निकाला था। चौधरी साहब ने ही सर्व प्रथम 'आनन्द कादम्बनी' और 'नागरी नीरद' में पुस्तकों की समालोचना के स्तम्भ की रीति निकाली थी। सर्व प्रथम उन्होंने ही पुस्तकों की

समालोचना करने की प्रथा पत्रों में प्रारम्भ की थी। भट्टजी ने भी इस दिशा में प्रयत्न किया था। 'भट्टजी' और चौधरीजी के पूर्व पत्रों में समालोचना करने की प्रथा हिन्दी में नहीं थी। इस रूप में चौधरीजी ने समालोचक के रूप में भी हिन्दी गद्य शैली को पुष्ट करने का प्रयत्न किया है।

प्रेमघनजी के समय तक हिन्दी गद्य शैली अधिक परिपुष्ट हो चुकी थी। उसमें अधिक बल और ओज उत्पन्न हो चुका था। प्रेमघनजी ने जब लिखना प्रारम्भ किया, तब उनके सामने यही परिपुष्ट शैली थी।

प्रेमघनजी की शैली

प्रेमघनजी के सामने शैली के निर्माण की वह चिन्ता नहीं थी, जो भारतेंदुजी के सामने थी; परिणाम स्वरूप प्रेमघन उसी परिपुष्ट शैली को लेकर अपनी प्रतिभा का चमत्कार प्रगट करने लगे। प्रेमघनजी का युग हिन्दी गद्य शैली के प्रारम्भ का युग था। युग के अनुरूप ही शैली का चमत्कार की ओर अग्रसर होना स्वाभाविक था। प्रेमघनजी साहित्यिक अभिरुचि के निराले व्यक्ति थे। उन्होंने अपने निराले व्यक्तित्व के अनुसार ही अपनी शैली को चमत्कारिता के साँचे में ढाला है। उन्होंने अपनी शैली को अधिक से अधिक अनुप्रास युक्त, अलौकिक और दिव्य बनाने का प्रयत्न किया है। उन्होंने लम्बे लम्बे और अनुप्रास युक्त वाक्यों के द्वारा अपनी शैली का निर्माण किया है। उनकी शैली गद्य काव्य के गुणों से अलकृत है। साहित्यिक विषयों की तो कोई बात ही नहीं, उन्होंने साधारण विषयों के चित्र भी अनुप्रास युक्त गद्य काव्यात्मक शैली में उपस्थित किए हैं। इसका परिणाम यह हुआ है, कि उनकी शैली कृत्रिम और अव्यवहारिक बन गई है। लम्बे और अनुप्रास युक्त वाक्यों के कारण उनकी शैली में दुरूहता भी उत्पन्न हो गई है। निम्नांकित पंक्तियों में उनकी अनुप्रास युक्त काव्यात्मक शैली का स्वरूप देखिये—दिव्य देवी श्री महारानी बड़हर लाख झंझट झेल और चिर काल पर्यंत बड़े बड़े उद्योग और मेल से दुःख के दिन सकेल अचल कोर्ट का पहाड़ ढकेल फिर गद्दी पर बैठ गईं। ईश्वर का भी कैसा खेल है, कि कभी तो मनुष्य पर दुख की रेल पेल और कभी उसी पर सुख की कुलेल है। यह पंक्तियाँ प्रेमघनजी ने उस समय लिखी थीं, जिस समय बड़हर की रानी का राज्य कोर्ट आफवार्ड से छूटा था। यह एक समाचार मात्र था। समाचार लेखन की इस शैली से ही उनके साहित्यिक निबन्धों की शैली का भी अनुमान लगाया जा सकता है।

शैली की भाँति प्रेमघनजी की भाषा भी अधिक कृत्रिम और अव्यवहारिक है। उन्होंने अपनी भाषा में ढूँढ़ ढूँढ़कर अनुप्रासिक और काव्यात्मक शब्दों को स्थान देने का प्रयत्न किया है। शब्दों के स्थापन तथा संगठन में उनका ध्यान केवल अनुप्रासिकता की ओर केन्द्रित है। इसका परिणाम यह हुआ है, कि उनकी भाषा की भाव व्यंजकता नष्ट हो गई है। इसमें सन्देह नहीं, कि काव्यात्मक होने के कारण वह सरस बन गई है, पर इसके साथ ही साथ उसमें दुरूहता का दोष भी उत्पन्न हो गया है। प्रेमघनजी ने अपनी भाषा

प्रेमघनजी की भाषा

को संस्कृत के तत्सम शब्दों से ही सजाने का प्रयत्न किया है। उनके सभी शब्द व्यवहारिक और प्रचलित हैं। उनके भारत सौभाग्य नाटक में एक दूसरी प्रकार की भाषा भी पाई जाती है, जिसमें उर्दू, मारवाड़ी वैसवाणी, भोजपुरी, पंजाबी, मराठी, और बँगाली का मेल है। पर प्रेमघनजी की यह प्रतिनिधि भाषा नहीं है। भारत सौभाग्य में उन्होंने उसका प्रयोग केवल पात्रों की दृष्टि से किया है, उनकी प्रतिनिधि भाषा वही है, जो अनुप्रास युक्त है, और उनके निबंधों में व्यवहृत है। कहीं कहीं उनकी भाषा में पंडिताऊ प्रयोग भी मिलते हैं। जैसे—'आन पड़ा' और कराकर इत्यादि। प्रेमघनजी की भाषा में यदि कृत्रिमता और दुरूहता न होती, तो उनकी भाषा को अधिक पुष्ट और प्रौढ़ कहने में हमें रंच मात्र भी संकोच न होता।

लाला श्री निवासदासजी का जन्म सम्वत् १९०८ में हुआ था। भारतेंदु काल के गद्यकारों में उनका महत्त्वपूर्ण स्थान है। श्री निवासदासजी ने नाट्य-रचना के क्षेत्र में

श्री निवासदासजी की साहित्य साधना

अधिक कीर्ति प्राप्त की है, उन्होंने कई नाटकों की रचना की है, जिनमें प्रह्लाद चरित रणधीर, और प्रेम मोहिनी और संयोगिता स्वयंवर इत्यादि का महत्व पूर्ण स्थान है। प्रह्लाद चरित की रचना प्रह्लादजी के चरित्र के आधार पर हुई है। इसकी कथा पुराण से ली गई है। इसमें कुल ग्यारह दृश्य हैं। भाषा और संवाद की दृष्टि से यह निम्नकोटि का है। तथा संवरण भी पौराणिक है। प्रह्लाद चरित्र की हीनता उसमें नहीं है। इसके संवाद और भाषा में बहुत कुछ परिष्करण हुआ है। श्री निवासदासजी के नाटकों में रणधीर, और प्रेम मोहिनी का महत्व पूर्ण स्थान है। यह सर्व प्रथम सम्वत् १९३४ में प्रकाशित हुआ था। उन दिनों साहित्य जगत में उसकी अधिक चर्चा थी। इसकी कथा ऐतिहासिक और पौराणिक न होकर कल्पित है। इस पर अँगरेजी के नाटकों का प्रभाव है। अँगरेजी के नाटकों के आदर्श की रक्षा भी इसमें की गई है। यह दुःखान्त है, जो भारतीय नाट्य कला के विपरीत है। संयोगिता स्वयंवर इनका अंतिम नाटक है। इसकी कथा इतिहास से ली गई है। पृथ्वीराज चौहान इसका मुख्य पात्र है। श्री निवासदासजी ने परीक्षा गुरु नामक एक उपन्यास की भी रचना की है।

श्री निवासदासजी की शैली दो प्रकार की है। एक प्रकार की शैली तो वह है, जो उनके नाटकों में पाई जाती है, और दूसरे प्रकार की शैली वह है, जिसका प्रयोग

श्री निवासदासजी की शैली

उनके परीक्षा गुरु में हुआ है। उनके नाटकों की शैली को हम संवादात्मक शैली कह सकते हैं। उनकी इस शैली पर उर्दू का प्रभाव है। उनका महत्व पूर्ण नाटक 'रणधीर और प्रेम मोहिनी' उर्दू के रस में ही डूबा हुआ है। पर उनकी इस शैली को हम उनकी प्रतिनिधि शैली नहीं कह सकते। क्योंकि उन्होंने अपने नाटकों में इस शैली का प्रयोग बहुत कुछ पात्रों की स्थिति पर ध्यान रख कर किया है। उनकी प्रतिनिधि शैली वह है जो उनके

परीक्षा गुरु में व्यवहृत हुई है। उनकी इस शैली को हम वर्णात्मक शैली कह सकते हैं। इसमें व्यवहारिक शब्दों का प्रयोग बड़ी कुशलता के साथ हुआ है। बीच-बीच में मुहावरों को भी स्थान दिया गया है, जिससे शैली आकर्षक, और प्रभाव पूर्ण बन गई है। निम्नांकित पंक्तियों में उनकी इस शैली का विकास बड़ी सुन्दरता के साथ हुआ है—'देखिये परोपकार की इच्छा अत्यन्त उपकारी है, परन्तु हद से आगे बढ़ने पर वह भी फिजूल खर्ची समझी जायगी, और अपने कुटुम्ब परिवार का सुख नष्ट हो जायगा। जो आलसी अथवा अधर्मियों की सहायता की, तो उससे संसार में आलस्य और पाप की वृद्धि होगी।'

श्री निवासदासजी की भाषा भी दो प्रकार की है—एक प्रकार की भाषा वह है, जिसका प्रयोग उनके नाटकों में हुआ है, और दूसरे प्रकार की भाषा वह है, जो

श्री निवासदास जी की भाषा

परीक्षा गुरु में व्यवहृत हुई है, उनके नाटकों में जिस भाषा का प्रयोग हुआ है, उसमें उर्दू के तत्सम शब्दों की प्रधानता है। पर उनकी इस भाषा को उनकी प्रतिनिधि भाषा के रूप में स्वीकार नहीं किया जा सकता। क्योंकि उन्होंने अपने नाटकों में इस भाषा का प्रयोग केवल पात्रों की वक्तृता की अनुकूलता के लिए किया है। उनकी वास्तविक भाषा वह है, जिसका प्रयोग उन्होंने अपने परीक्षा गुरु में किया है। इसमें खड़ी बोली के शुद्ध शब्द व्यवहृत हुए हैं। उनकी भाषा पर प्रांतीयता और पछाँहीपन का भी प्रभाव है। उन्होंने स्थान स्थान ऐसे पर शब्दों का प्रयोग किया, जिनसे पछाँहीपन टपकता है। जैसे—'इस्की', उस्के, उस्को इत्यादि। कहीं कहीं विभक्तियों का प्रयोग भी प्रांतीयता को आधार मान कर किया गया है। अन्य-तत्र शब्दों का अशुद्ध प्रयोग भी उनकी भाषा में मिलता है। फिर भी हम उनकी भाषा को व्यावहारिक भाषा कह सकते हैं। उनके नाटकों में जो भाषा है, वह परीक्षा गुरु की भाषा से अधिक व्यवहारिक, संयमित और सुधरी हुई है।

ठाकुर जगमोहनसिंहजी मध्य प्रदेश के राघवगढ़ के निवासी थे। उनका जन्म सम्वत् १९१४ में हुआ था। भारतेन्दु हरिश्चन्द्रजी के वे घनिष्ठ मित्रों में थे। हिन्दी,

ठाकुर साहब की साहित्य साधना

संस्कृत और अँगरेजी पर उनका आधिपत्य था। उनका साहित्यिक जीवन दो रूपों में प्रगट हुआ है—कवि के रूप में, और लेखक के रूप में। कवि के रूप में उन्होंने एक नए मार्ग का अनुसरण किया है। उनका नवीन मार्ग भावमय है। उन्होंने अपने नवीन मार्ग के निर्माण में शब्दों की ओर ध्यान न देकर रूप विधान की ओर अधिक ध्यान दिया है। उनके इस नवीन मार्ग में भावों का वैचित्र्य और अनुभूतियों की प्रबलता है। उन्होंने अपनी कविताओं का निर्माण प्रेम और प्रकृति की पृष्ठभूमि पर किया है। उनकी अधिकांश रचनाएँ प्रेम और प्रकृति के ही चित्र उपस्थित करती हैं। गद्य के क्षेत्र में भी उन्होंने अपनी अलंकारिकता और भाव परता का निर्वाह किया है। जिस प्रकार वे कविता के क्षेत्र में प्रकृति के सौन्दर्य पर विमुग्ध दिखाई देते हैं, उसी

प्रकार गद्य के क्षेत्र में भी उन्होंने मानव और प्रकृति के सौंदर्य की एकाकारिता का अनुभव किया है। उनका गद्य अधिक काव्यात्मक, और भावमय है। उनका गद्य पं० बालकृष्ण भट्ट के गद्य से बहुत कुछ मिलता जुलता है। भट्टजी की भाँति ही उन्होंने भी अपने गद्य को अधिक अलकृत बनाने का प्रयत्न किया है।

ठाकुर साहब की शैली

ठाकुर साहब हिन्दी, संस्कृत, और अँगरेजी के अच्छे विद्वान थे। उन्होंने संस्कृत और अँगरेजी के साहित्य का गम्भीरता पूर्वक अध्ययन किया था। उनकी शैली पर उनके गम्भीर अध्ययन की छाप है। उनकी विद्वत्ता के अनुरूप ही उनकी शैली अधिक गम्भीर और व्यवस्थित है। संस्कृत के तत्सम शब्दों से लदी हुई उनकी शैली अलंकारिकता की ओर अग्रसर होती है। शैली को अलंकृत बनाने की ओर उनका ध्यान विशेष रूप से दृष्टिगोचर होता है। किन्तु प्रेमघन की भाँति उनकी शैली उलझी हुई नहीं है। अलंकारिक होते हुए भी उनकी शैली में प्रवाह और सुव्यवस्था है। उनकी यह अपनी शैली है, जो अधिक निराली, और विचित्रता से भरी हुई है। निम्नांकित पंक्तियों में उनकी शैली का चित्र देखिए—'ऐसे दंड का रण्य के प्रदेश में भगवती चित्रोत्पला जो नीलोत्पलों की झाड़ियों और मनोहर पहाड़ियों के बीच होकर बहती है, कंकवृद्ध नामक पर्वत से निकल कर अनेक दुर्गम विषम और असमभूमि के ऊपर से बहुत से तीर्थों और नगरों को अपने पुण्य जल से पावन करती समुद्र में गिरती है।'

ठाकुर साहब की भाषा

भारतेंदु काल के लेखकों में ठाकुर साहब की भाषा अधिक परिमार्जित और शुद्ध है। उनकी भाषा उन दोषों से रहित है, जो उनके पूर्ववर्ती निबन्धकारों में पाए जाते हैं; अर्थात् उनकी भाषा में विरामादि चिह्नों की वह अव्यवस्था नहीं है, जो पं० प्रताप नारायण मिश्र जी की भाषा में है। उनकी भाषा में श्री निवासदासजी की भाषा की भाँति अनियन्त्रित पन भी नहीं पाया जाता। इसके प्रतिकूल उनकी भाषा परिष्कृत और बोध गम्य है। यद्यपि उन्होंने अपनी भाषा में संस्कृत के तत्सम शब्दों का अधिक प्रयोग किया है, पर उनके सभी शब्द प्रचलित और व्यावहारिक हैं। शब्दों के प्रयोग में उनकी अभिरुचि काव्य की ओर अधिक दिखाई देती है। उन्होंने अधिकतर ऐसे शब्दों का प्रयोग किया है, जिनमें कवित्त्व की ध्वनि है। कवित्व्य युक्त शब्दों के प्रयोग की अधिकता के कारण उनकी भाषा गद्य-काव्यात्मक हो गई है। अत्र तत्र उनकी भाषा में 'धूवीं' और पंडिताऊ प्रयोग भी मिलते हैं। जैसे - 'तुम्हें समर्पित है', 'जिसे दें', इत्यादि। इन प्रयोगों के रहते हुए भी उनकी भाषा अधिक कान्तिमय और आकर्षक है।

भारतेन्दु काल के गद्यकारों में बाबू तोताराम, पं० राधाचरण गोस्वामी, पं० अम्बिकादत्त व्यास, पं० केशवराम भट्ट, पं० मोहनलाल विष्णुलाल पंड्या, पं० भीमसेन शर्मा, काशीनाथ खत्री, राधाकृष्णदास, और कार्तिक प्रसाद खत्री इत्यादि का भी

महत्त्व पूर्ण स्थान है। बाबू लोताराम का जन्म सम्वत् १६०४ में हुआ था। उन्होंने कई पुस्तकों की रचना की है, जिनमें 'कीर्तिकेतु' और 'स्त्री सुबोधिनी' का महत्त्व पूर्ण स्थान है। पं० केशवराम भट्ट का जन्म सं० १६११ में हुआ था। उन्होंने दो नाटकों की रचना की है—'शब्जाद', 'सुंबल'। इनकी भाषा उर्दू है। पं० राधाचरण गोस्वामी का जन्म सम्वत् १६१५ में हुआ था। उन्होंने कई मौलिक नाटक लिखे हैं, जिनके नाम सुदामा ना क, सती चन्द्रावली, और अमरसिंह राठौर हैं। यह संस्कृत के अच्छे विद्वान थे, उनकी विद्वत्ता के अनुरूप ही उनकी भाषा भी है। पं० राधाकृष्णदास का जन्म सम्वत् १६२२ में हुआ था। उन्होंने कई नाटक लिखे हैं, जिनमें दुखिनी बाला, महारानी पद्मावती अथवा मेवाड़ कमलिनी और महाराणा प्रताप अधिक प्रसिद्ध हैं। कार्तिक प्रसाद खत्री का जन्म सं० १६०८ में हुआ था। उन्होंने 'रेल का विकट खेल' नामक एक नाटक लिखा है। 'इला', 'रमीला', 'जया', और 'मधुमालती' नामक बँगला के उपन्यासों का अनुवाद भी उनके द्वारा हुआ है। काशीनाथ खत्री का जन्म संवत् १६०६ में हुआ था। इनका साहित्यिक व्यक्तित्व दो रूपों में अभिव्यक्त हुआ है—नाटककार के रूप में, और अनुवादक के रूप में। नाटककार के रूप में उन्होंने सिन्धु देश की राजकुमारियाँ, गुजैर की रानी, और 'लवजी का स्वप्न' इत्यादि नाटकों की रचना की है। इन्होंने कई अँगरेजी पुस्तकों, और व्याख्यानों का अनुवाद भी किया है। इसके अतिरिक्त इन्होंने कई छोटी छोटी पुस्तिकाएँ भी लिखीं हैं, जिनमें भारतवर्ष की विख्यात स्त्रियों के चरित्र, और योरोपियन धर्मशीला स्त्रियों के चरित्र महत्त्व पूर्ण हैं। पं० भीमसेन शर्मा आर्य समाजी थे। उन्होंने कई लेखों की रचना करके हिन्दी के प्रचार में महत्व पूर्ण योग दिया था। पं० मोहनलाल पंड्या इतिहास के अच्छे जानकार थे। पं० अम्बिकादत्त व्यास का जन्म संवत् १६१५ में हुआ था। वे हिन्दी, और संस्कृत के सुप्रसिद्ध विद्वान थे। सनातन धर्म के सिद्धांतों में उनका दृढ़ विश्वास था। उन्होंने कई पुस्तकों की रचना की है, जिनमें अवतार मीमांसा, गद्य काव्य मीमांसा, बिहारी बिहार, गोसंकट नाटक और 'ललिता नाटिका' का महत्व पूर्ण स्थान है।

भारतेन्दु काल के गद्य की समीक्षा

भारतेन्दु काल हिन्दी गद्य का प्रारम्भिक काल है। आज जिस हिन्दी गद्य की प्रत्येक क्षेत्र में उन्नति हो रही है, उसकी नींव सर्व प्रथम भारतेन्दु काल में ही पड़ी थी। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ही हिन्दी गद्य के जन्मदाता थे। भारतेन्दु हरिश्चन्द्रजी ने सर्व प्रथम हिन्दी गद्य के स्वरूप को निश्चित किया। गद्य के स्वरूप को निश्चित करने के साथ ही उन्होंने नाटक, उपन्यास, आख्यान, और निबन्ध इत्यादि विषयों पर पुस्तकों की रचना करके हिन्दी भाषा की शक्ति की भी घोषणा की। उन्होंने आलोचना, इतिहास, और पुरातत्व आदि विषयों पर निबन्धों की रचना करके हिन्दी गद्य के क्षेत्र को विस्तृत करने का प्रयत्न किया। भारतेन्दु के समकालीन निबन्धकारों ने भारतेन्दुजी के इस पुनीत कार्य में योग दिया। भारतेन्दुजी ने हिन्दी गद्य के जिस मार्ग का निर्माण किया, उनके सम-

कालीन लेखकों ने उसी पर चल कर हिन्दी गद्य के क्षेत्र को विस्तृत बनाने का स्तुत्य प्रयत्न किया है।

भारतेन्दु और उनके समकालीन लेखकों की भाषा और शैली की वैज्ञानिकता पर विचार करने के पूर्व हमें भारतेन्दु की स्थिति, और उनके युग पर विचार करना चाहिए। भारतेन्दु काल हिन्दी-गद्य का जन्म काल था। हिन्दी के सामने उन दिनों अनेक कठिनाइयाँ थीं। प्रथम कठिनाई तो उर्दू के समर्थकों की थी, और दूसरी कठिनाई वह थी, जो राज्याधिकारियों की ओर से समय-समय पर उपस्थित की जाती थी। सरकारी पाठालयों में यद्यपि हिन्दी को स्थान मिल चुका था, पर अदालतों की भाषा उर्दू ही थी। अदालतों का सारा काम-काज 'उर्दू' में ही किया जाता था। सरकारी नौकरियों की प्राप्ति में 'उर्दू' के ज्ञान को ही प्रधानता दी जाती थी। ऐसी अवस्था में लोगों का हिन्दी की ओर कम आकृष्ट होना स्वाभाविक ही था। हिन्दी के प्रति लोगों में उदासीनता की भावना थी। दूसरी ओर उर्दू का पठन-पाठन तीव्र गति पर था। चारों ओर उर्दू के समर्थक ही दृष्टिगोचर होते थे। हिन्दी-गद्य की पताका को हाथ में लेकर चलने वाले भारतेन्दुजी को कितनी कठिनाइयों का सामना करना पड़ा होगा। उर्दू के समर्थक अलग अवरोध उपस्थित कर रहे थे, और राज्याधिकारी अलग मार्ग में काँटे बिछा रहे थे। भारतेन्दु और उनके सहयोगियों ने बड़े साहस के साथ इन विरोधों की खाइयों को पार किया। उन्होंने विरोधों और अवरोधों के बीच में ही हिन्दी गद्य के झण्डे को ऊँचा किया, और उसकी मर्यादा को साहित्य जगत में स्थापित किया।

हिन्दी-गद्य की उन्नति के लिए भारतेन्दुजी ने दो रूपों में कार्य किया है—प्रचारक के रूप में, और निर्माण कर्ता के रूप में। प्रचारक के रूप में भारतेन्दुजी को कई कार्य करने पड़े हैं। उन्होंने स्वयं समाचार पत्र निकाले, पुस्तकालयों की स्थापना की, और विभिन्न स्थानों में सभा समितियाँ स्थापित की, और व्याख्यान भी दिए। उन्होंने समाचार पत्र में, और पुस्तिकाओं के रूप में हिन्दी के प्रचार के लिए निबंध भी लिखे। इधर हिन्दी के प्रचार का कार्य और उधर हिन्दी गद्य की भाषा और शैली के निर्माण का महत्व पूर्ण कार्य भी भारतेन्दुजी के सामने था। यह एक ऐसा कार्य था, जिसके ऊपर हिन्दी गद्य की सम्पूर्ण उन्नति निर्भर थी। हिन्दी भाषा के प्रचार का कार्य करते हुए भारतेन्दुजी ने भाषा और शैली के निर्माण का कार्य बड़े मनोयोग के साथ किया। उन्होंने हिन्दी गद्य की भाषा को एक स्वरूप में बाँधा, और उसे परिमार्जित किया। उन्होंने युग के मनोभावों का अध्ययन करके भाषा को व्यापक बनाने का भी प्रयत्न किया। भाषा की भाँति ही उन्होंने शैली का भी निर्माण किया। शैली को भी उन्होंने एक सूत्र में गूँथा, और उसमें वैज्ञानिकता का भी समावेश किया। भाषा और शैली के निर्माण की चिन्ता में व्यस्त रहते हुए भी भारतेन्दु बाबू ने क्रियात्मक कार्य किए। उन्होंने विभिन्न विषयों पर महत्व पूर्ण ग्रन्थों की रचना की। कविता, कहानी, नाटक, समालोचना और उपन्यास इत्यादि

साहित्य के विभिन्न क्षेत्रों में उन्होंने एक नवीन पथ का प्रदर्शन किया। इस प्रकार हम देखते हैं, कि भारतेन्दुजी का सम्पूर्ण साहित्यिक जीवन प्रचार और स्वरूप निर्माण-कार्य में अधिक व्यस्त दिखाई देता है। यही व्यस्तता उनके सहयोगियों के जीवन में भी है। उनकी इस व्यस्तता का पूर्ण प्रतिबिंब उनके गद्य पर है। प्रचार और स्वरूप निर्माण के कार्य में लगे रहने वाले भारतेन्दु और उनके सहयोगियों के पास समय कहाँ था, कि वे हिन्दी गद्य को अधिक से अधिक सुष्ठ बनाते। उनके सामने तो हिन्दी गद्य की दीवाल बनाने का प्रश्न था। उन्होंने बड़े मनोयोग के साथ हिन्दी गद्य की दीवाल को बना कर खड़ी की। इसमें सन्देह नहीं, कि वे हिन्दी गद्य की दीवाल को साफ-सुथरी और सुन्दर नहीं बना सके, पर हिन्दी गद्य की दीवाल के निर्माण की साधना का श्रेय उन्हीं को है। उनकी साधना उनसे कहीं अधिक महत्वपूर्ण है, जो आज हिन्दी गद्यकी दीवाल को साफ-सुथरी बना कर उसमें सुष्ठता उत्पन्न करने की साधना में रत हैं।

भारतेन्दु और उनके सहयोगियों ने हिन्दी गद्य के प्रचार और उसके निर्माण के लिए महत्व पूर्ण साधना की है। उनकी साधना के प्रतिफल स्वरूप ही हिन्दी साहित्य के क्षेत्र में गद्य का पौदा अंकुरित हो उठा। नागरी प्रचारिणी सभा ने हिन्दी गद्य के अंकुर में जल-दान का कार्य किया। भारतेन्दु और उनके सहयोगियों के कार्य काल के पश्चात् ही नागरी प्रचारिणी सभा की स्थापना हिन्दी-गद्य के लिए ईश्वरी वरदान सी सिद्ध हुई है। नागरी प्रचारिणी सभा ने भारतेन्दुजी के प्रचार-केतु को अपने हाथ में लेकर उसके आंदोलन में तीव्रता उत्पन्न की। सभा ने विभिन्न रूपों में प्रचार कार्य तो किया ही, रचनात्मक कार्य की ओर भी अधिक ध्यान दिया। विभिन्न विषयों पर पुस्तकें प्रकाशित की गईं, और 'वैज्ञानिक कोष' का भी निर्माण किया गया। नागरी प्रचारिणी सभा के प्रयत्नों से हिन्दी-गद्य का पौदा लहलहा उठा, और अपनी हरीतिमा तथा सुन्दरता से वह लोगों को अपनी ओर आकर्षित करने लगा।

हिन्दी गद्य—द्विवेदी काल

भारतेन्दुजी ने अपने समय में जिस हिन्दी-गद्य की नींव डाली थी, वह द्विवेदी काल में अधिक पुष्ट और सुदृढ़ हुई है। द्विवेदी काल की हिन्दी-गद्य की परिपुष्टता और उसकी सुदृढ़ता को देख कर इस बात का सहज में ही अनुमान लगाया जा सकता है, कि भारतेन्दुजी ने जिस हिन्दी गद्य की नींव डाली थी, वह कितनी गहरी, और कितनी सुदृढ़ थी। उसकी गहराई और उसकी सुदृढ़ता के प्रतिफल स्वरूप ही द्विवेदीजी हिन्दी गद्य के उस स्वरूप को सामने उपस्थित करने में समर्थ हो सके हैं, जो अधिक सुष्ठ, परिमार्जित, और व्यवस्थित है। भारतेन्दु काल में हिन्दी गद्य ने जन्म धारण किया था, और साथ ही उसने एक स्वरूप भी धारण किया था। द्विवेदी काल में वह अधिक परिमार्जित, और परिपुष्ट हुआ है। द्विवेदी काल में उसके उन दोषों का परिष्करण हुआ है, जो भारतेन्दु काल में समयाभाव के कारण उसमें रह गए थे। द्विवेदी काल में हिन्दी गद्य ने एक दिव्य रूप प्राप्त किया है, और साथ ही उसमें नवीन शक्ति का सञ्चार हुआ है। द्विवेदी काल में हिन्दी गद्य ने शक्ति सम्पन्न होकर वैज्ञानिक स्वरूप धारण किया है, और द्विवेदीजी के प्रयत्नों तथा उनकी साधना से साहित्य के विभिन्न क्षेत्रों में अपनी शक्ति की घोषणा की है।

द्विवेदी काल में हिन्दी गद्य की बहुमुखी उन्नति हुई है। इसमें सन्देह नहीं, कि भारतेन्दु काल में निबन्ध, नाटक, उपन्यास, आख्यायिका और गद्य-काव्य इत्यादि

द्विवेदी काल की गद्य की झलक

क्षेत्रों में हिन्दी गद्य अपने स्वरूप में प्रगट हो चुका था, पर उसका वह स्वरूप अधिक निर्बल और अमर्यादित था। द्विवेदी काल में उसके भीतर की निर्बलता दूर हुई है, और वह पुष्टता को प्राप्त हुआ है। द्विवेदी काल में वह अस्त व्यस्तता, और अनियमितता की सीमा से निकल कर अधिक मर्यादित और संयमित हुआ है। निबन्ध, नाटक, उपन्यास, कहानी, और एकांकी इत्यादि के क्षेत्र में उसने नवीनता और वैज्ञानिकता की ओर अपना चरण बढ़ाया है। भारतेन्दु काल में वह केवल वर्णनात्मक था। द्विवेदी काल में वह वर्णनात्मक के घेरे से निकल कर मनोवैज्ञानिकता की ओर अग्रसर हुआ है। द्विवेदी काल में उसकी भाषा और शैली में व्यंजकता उत्पन्न हुई है। द्विवेदी काल में शब्दों के प्रयोग और उसके संघटन में, शब्दों की आंतरिक शक्ति और अर्थ-व्यंजकता को

ही दृष्टि में रक्खा गया है, दूसरे शब्दों में द्विवेदी काल में हिन्दी-गद्य ने भाव, भाषा, और शैली-प्रत्येक क्षेत्र में मनोवैज्ञानिकता और अर्थ व्यंजकता को ही लक्ष्य में रख कर अपना अभिसार किया है।

द्विवेदी काल की बहुमुखी उन्नति

द्विवेदी काल के गद्य ने साहित्य के विभिन्न क्षेत्रों में महत्त्व पूर्ण उन्नति की है। उसने नाटक, उपन्यास, कहानी, और निबन्ध इत्यादि प्रत्येक दिशा में अपने गति शील चरण बढ़ाए हैं। सर्व प्रथम हम नाटक को लेते हैं। द्विवेदी काल में दो प्रकार से नाटकों के लिए प्रयत्न किया गया है—अनुवाद के मार्ग पर चल कर, और मौलिकता का आश्रय ग्रहण करके। द्विवेदी काल के प्रथम चरण में अनुवादित नाटकों की ही मुख्य रूप से सृष्टि हुई है। इस काल के अनुवादकों में श्रीराम कृष्ण वर्मा, और बाबू गोपालराम गहमरी का नाम उल्लेखनीय है। श्रीराम कृष्ण वर्मा और गोपालराम गहमरी ने इस युग में बँगला की कई कृतियों का अनुवाद करके हिन्दी के भण्डार को भरने का प्रयत्न किया है। उनकी अनुवादित कृतियों में वीर नारी, कृष्ण कुमारी, पद्मावती, वनवीर, वभ्रु वाहन, देश दशा, विद्या विनोद, और चित्रांगदा इत्यादि का महत्त्व पूर्ण स्थान है। उनके पश्चात् ही रूप नारायण पांडेय ने बँगला के कई नाटकों का अनुवाद परिमार्जित, और सुव्यवस्थित भाषा में किया। पांडेयजी के अनुवादित नाटकों में पतिव्रता, खानजहाँ, दुर्गादास और ताराबाई इत्यादि विशेष प्रसिद्ध हैं। उन्हीं दिनों कुछ अँगरेजी और संस्कृत नाटकों के भी अनुवाद हुए। अँगरेजी नाटकों के अनुवाद कर्त्ताओं में पुरोहित गोपीनाथ एम० ए०, और पं० मथुरा प्रसाद चौधरी का नाम उल्लेखनीय है। पुरोहित गोपीनाथ ने शेक्सपियर के नाटकों का अनुवाद किया। पं० मथुरा प्रसाद चौधरी ने 'मैकबेथ' का अनुवाद कुशलता पूर्वक किया है। संस्कृत के अनुवाद कर्त्ताओं में रायबहादुर लाला सीताराम, श्री ज्वाला प्रसाद मिश्र, श्री बालमुकुन्द गुप्त और श्री सत्यनारायण कविरत्न का नाम महत्त्व पूर्ण है। रायबहादुर लाला सीतारामजी के द्वारा संस्कृत के कई नाटक अनुवादित होकर हिन्दी में आये, जिनके नाम इस प्रकार हैं—मेघदूत, नागानन्द, मृच्छ कटिक, महावीर चरित, उत्तर रामचरित, मालती माधव, और माल विकाग्निमित्र। रायबहादुर लाला सीताराम के अनुवाद की भाषा बहुत ही सीधी सादी और कृत्रिमता से रहित है। पं० ज्वाला प्रसाद मिश्र ने 'वेणी संहार' और अभिज्ञान शाकुन्तल का अनुवाद उपस्थित किया। श्री बालमुकुन्द गुप्त ने 'रत्नावली नाटिका' का अनुवाद प्रस्तुत किया है। उनके अनुवाद की भाषा अधिक व्यवस्थित और भाव पूर्ण है। कविरत्न पं० सत्यनारायणजी ने 'उत्तर रामचरित' और 'मालती माधव' का अनुवाद करके सुकीर्ति प्राप्त की। उनके अनुवाद की भाषा अधिक सरस और भाव पूर्ण है। उन्होंने अपने अनुवाद में गद्य में तो खड़ी बोली का प्रयोग किया है, पर पद्यों में उन्होंने ब्रजभाषा को ही स्थान दिया है।

द्विवेदी काल में एक ओर जहाँ अनुवादित नाट्य रचनाएँ सामने प्रस्तुत हुई हैं,

वहाँ दूसरी ओर मौलिक नाटकों की रचना के लिए भी महत्त्व पूर्ण प्रयास किए गए हैं। द्विवेदी काल के मौलिक नाटककारों में श्री किशोरी लाल गोस्वामी, पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय, पं० ज्वालाप्रसाद मिश्र, पं० बलदेव प्रसाद मिश्र, बा० शिवनन्दन सहाय, और रायदेवी प्रसाद पूर्ण का नाम विशेष महत्व पूर्ण है। श्री किशोरी लाल गोस्वामीजी ने दो मौलिक नाटकों की रचना की है, जिनके नाम चौपट चपेट और मयंक मंजरी हैं। यह दोनों ही नाटक निम्नकोटि के हैं। नाट्य कला की दृष्टि से इन्हें विशेष महत्व नहीं प्राप्त हो सका। 'हरिऔधजी' ने प्रारम्भ में दो नाटक लिखे थे। उनके नाटकों का नाम 'रुक्मिणी परिणय' और 'प्रद्युम्न विजय व्यायोग' है। इन नाटकों में 'हरिऔधजी' का प्रथम प्रयास ही देखने को मिलता है। ऐसा ज्ञात होता है, कि इन नाटकों में 'हरिऔधजी' ने अपनी नाट्य-शक्ति की परीक्षा की है। पं० ज्वालाप्रसाद मिश्र ने 'सीता वनवास' की रचना की है। उनके 'सीता वनवास' पर 'उत्तर रामचरित' की छाप है। पं० बलदेव प्रसाद मिश्र ने प्रभास मिलन, मीराबाई, और लल्ला बाबू की रचना की। शिव नन्दन सहाय का 'सुदामा' और रायदेवी प्रसाद पूर्ण' का 'चन्द्रकला भानुकुमार' प्रसिद्ध है।

नाट्यकला की भाँति ही द्विवेदी काल में उपन्यास कला का भी तीव्रतर गति से विकास हुआ है। सच बात तो यह है, कि द्विवेदी काल में उपन्यास की रचना जितनी शीघ्रता के साथ हुई है, उतनी और किसी विषय की नहीं हुई है। नाटकों की भाँति उपन्यासों के लिए भी दो प्रकार के प्रयत्न किए गए हैं—अनुवादित और मौलिक। अनुवादित कृतियाँ उपस्थित करने वालों में श्रीरामकृष्ण वर्मा, श्री गोपालराम गहमरी, श्री रूपनारायण पाण्डेय, और श्री गंगा प्रसाद गुप्त का नाम उल्लेखनीय है। इन अनुवादकों ने बँगला, मराठी, और अँगरेजी के उपन्यासों का अनुवाद हिन्दी में उपस्थित किया। इनकी भाषा और शैली अधिक परिमार्जित तथा व्यावहारिक है। इन्होंने बँगला, मराठी और अँगरेजी के कीर्ति प्राप्त लेखकों की कृतियों का अनुवाद हिन्दी में उपस्थित करके हिन्दी का महत्त्व पूर्ण कल्याण किया। इन अनुवादित कृतियों से जहाँ हिन्दी गद्य के प्रचार में सहायता प्राप्त हुई, वहाँ हिन्दी गद्य की भाषा और शैली भी इनके द्वारा अधिक परिपुष्ट और परिमार्जित हुई है। इन अनुवादित कृतियों ने हिन्दी में जीवन के विभिन्न दृष्टिकोण उपस्थित किए हैं, और साथ ही हिन्दी में मौलिक उपन्यास रचना के लिए प्रवृत्ति भी उत्पन्न की है। मौलिक उपन्यासों की सृष्टि करने वालों में श्री देवकी नन्दन खत्री, पं० किशोरी लाल गोस्वामी, पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय, बाबू व्रजनन्दन सहाय इत्यादि का नाम उल्लेखनीय है। मौलिक उपन्यासों की रचना करने वालों में श्री देवकीनन्दन खत्री का नाम सर्व प्रथम आता है। श्री देवकीनन्दन खत्री ने जासूसी और तिलिस्मी उपन्यासों की रचना की है। इनके उपन्यासों में चन्द्रकांता संतति, नरेन्द्र मोहिनी, और वीरेन्द्र वीर इत्यादि का महत्व पूर्ण स्थान है। इनके

उपन्यासों से हिन्दी-प्रचार में प्रशंसनीय सहायता प्राप्त हुई है। बहुत से लोगों ने इनके 'चंद्रकांता संतति' नामक उपन्यास को पढ़ने के लिए ही हिन्दी सीखी। इनके 'चन्द्रकांता संतति' का हिन्दी में एक युग था। इनके उपन्यासों की भाषा बहुत ही सरल और उर्दू मिश्रित है। पं० किशोरी लाल गोस्वामी ने छोटे बड़े सब मिला कर ६५ उपन्यासों की रचना की है। हिन्दी साहित्य में यही पहले उपन्यासकार हैं, जिनकी रचनाओं में औपन्यासिक कला का विकास हुआ है। इनके उपन्यास राजनीतिक और सामाजिक हैं। कथानक, भाषा, शैली, और चरित्र-चित्रण की दृष्टि से इनके उपन्यास आधुनिक उपन्यास के संनिकट हैं। अतः हिन्दी-साहित्य के कई समालोचक गोस्वामीजी को ही हिन्दी का प्रथम मौलिक उपन्यासकार मानते हैं। इनके उपन्यासों में तारा, चपला, तरुण तपस्विनी, हृदय हारिणी, और रजिया बेगम इत्यादि का महत्त्व पूर्ण स्थान है। पं० अयोध्यासिंह उपध्याय ने दो उपन्यासों की रचना की है, जिनका नाम 'ठेठ हिन्दी का ठाठ', और 'अधखिला फूल' है। इन्होंने अपने उपन्यासों में अपनी भाषा के दृष्टिकोण की ओर जितना ध्यान दिया, उतना औपन्यासिकता की ओर नहीं। यही कारण है, कि इनकी इन रचनाओं में चरित्र चित्रण और कथानक का विकास बहुत ही स्वल्प मात्रा में हुआ है। पं० लज्जाराम मेहता ने भी कई मौलिक उपन्यास लिखे हैं, जिनमें हिन्दू गृहस्थ, आदर्श दम्पति, और बिगड़े का सुधार इत्यादि उल्लेखनीय हैं। बाबू ब्रजनन्द सहाय ने उपन्यास के क्षेत्र में परिवर्तन उपस्थित किया है। इन्होंने उपन्यास की वर्णनात्मक धारा को भाव की ओर मोड़ा है। इन्होंने दो भाव पूर्ण उपन्यास लिखे हैं, जिनका नाम सौंदर्योपासक, और राधाकांत है। इन उपन्यासों में शैली वर्णन के क्षेत्र को छोड़ कर भाव-व्यंजकता की ओर अग्रसर हुई है।

यों तो भारतेन्दु काल में ही छोटी कहानियों का हिन्दी-साहित्य में जन्म हो चुका था, पर उसका वास्तविक विकास द्विवेदी काल में ही हुआ है। आज जिसे 'गल्प', और कहानी कहते हैं, उसकी नींव द्विवेदी काल में ही पड़ी है। हिन्दी साहित्य की प्रथम कहानी लोग 'इन्दुमती' को मानते हैं, जो पं० किशोरीलाल गोस्वामी की लेखनी से निकल कर सं० १९५७ में 'सरस्वती' में प्रकाशित हुई थी। बँगला में इसके पूर्व ही कहानी का विकास हो चुका था। 'सरस्वती' में बँगला की अनुवादित कहानियाँ प्रायः प्रकाशित हुआ करती थीं। सरस्वती के द्वारा अनुवादित कहानियों को प्रस्तुत करने का श्रेय वा० गिरिजाकुमार घोष को है। यह लाला 'पार्वती नंदन' के नाम से कहानियों का अनुवाद किया करते थे। छोटी कहानियों की रचना करने वालों में 'वंग महिला' का नाम भी महत्व पूर्ण है। 'वंग महिला' ने दो प्रकार की कहानियाँ सामने प्रस्तुत की हैं—अनुवादित और मौलिक। उनकी मौलिक कहानियों में 'दुलाई वाली' अधिक महत्व पूर्ण है। कुछ लोगों का कथन है, कि आधुनिक कहानी कला की दृष्टि से 'दुलाई वाली' ही हिन्दी की वह प्रथम कहानी है, जिसमें कहानी कला का वास्तविक रूप में विकास हुआ है। इसके पश्चात् स्वर्गीय

जयशंकर प्रसाद की कहानियों का युग आता है। स्वर्गीय जयशंकर प्रसाद की प्रथम कहानी 'ग्राम' इन्दु में प्रकाशित हुई थी। इसके पश्चात् उन्होंने सैकड़ों कहानियाँ लिखीं। उनकी कहानियों के कई संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं, जिनमें आँधी और प्रतिध्वनि इत्यादि अधिक प्रसिद्ध हैं। छोटी कहानियों की रचना करने वालों में श्री जी० पी० श्रीवास्तव, विश्वम्भरनाथ शर्मा कौशिक, राधिकारमण प्रसादसिंह, श्री ज्वालादत्त शर्मा, श्री चन्द्रधर शर्मा गुलेरी, और स्वर्गीय प्रेमचंद इत्यादि का महत्त्व पूर्ण स्थान है।

द्विवेदी काल में निबन्ध के क्षेत्र में महत्त्व पूर्ण प्रयत्न हुए हैं। निबन्ध कला की दृष्टि से द्विवेदी काल अधिक उल्लेखनीय है। यों तो निबन्ध कला का जन्म भारतेन्दु काल में ही हो चुका था, पर भारतेंदु काल में निबन्ध कला अपने सीमित क्षेत्र में ही थी। भारतेंदु काल में निबन्ध कला केवल वर्णनात्मक थी। उसके विषय या तो साहित्यिक होते थे, या सामाजिक। सामाजिक विषयों में अधिकतर होली, दिवाली, विजया दशमी, और रामलीला इत्यादि का वर्णन ही उसका ध्येय था। कुछ निबन्धकारों ने भावात्मक शैली के निबन्धों को भी प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है। पर उनके प्रयत्नों में गम्भीरता और तन्मयता का अभाव है। द्विवेदी काल में निबन्धकला ने एक नवीन स्वरूप धारण किया है। द्विवेदी काल की निबंध कला वर्णन की सीमा से निकल कर मनोवैज्ञानिकता की ओर अग्रसर हुई है। अग्रसर ही नहीं हुई है, वरन् उसने मनोवैज्ञानिकता के क्षेत्र में पहुँचकर अपना चमत्कार भी प्रगट किया है। द्विवेदी काल की निबन्ध कला पूर्ण रूप से विचारात्मक और विश्लेषणात्मक है। जहाँ कहीं वह वर्णनात्मक है, वहाँ भी उस र विश्लेषणात्मक का रंग दिखाई देता है। उसका पूर्ण रूप से झुकाव अर्थ व्यंजकता और भाव प्रवणता की ओर है। उसकी वृत्ति पूर्ण रूप से अंतर्मुखी है। वह अपनी दृष्टि शब्दों के बाह्य अर्थ पर न लगा कर भीतरी शक्ति पर ही केन्द्रित रखती है। अब वह केवल सामाजिक पर्वों और त्योहारों के ही धरातल पर नहीं लोटती, वरन् जीवन में प्रवेश करती है, और उसके तत्त्वों से खलती है। अब वह समाज, साहित्य, इतिहास, राजनीति और प्रकृति-प्रत्येक क्षेत्र में जीवन का अनुसन्धान करती है। जीवन के अनुसन्धान और उसके तत्त्वों के चिन्तन में ही द्विवेदी काल की निबन्ध कला व्यस्त दिखाई देती है।

द्विवेदी काल के निबन्धकारों और अन्यान्य विषयक लेखकों को हम दो वर्गों में विभक्त करते हैं—प्रथम चरण के लेखक, और द्वितीय चरण के लेखक। द्विवेदी काल के प्रथम चरण के लेखकों में पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी, श्री देवकी नन्दन खत्री, पं० किशोरी लाल गोस्वामी, पं० माधव प्रसाद, श्री बाल मुकुन्द गुप्त और श्री गोविन्द नारायण मिश्र इत्यादि का महत्त्व पूर्ण स्थान है। द्विवेदी काल के प्रथम चरण के इन लेखकों ने भाषा और शैली का परिमार्जन करके उसके क्षेत्र को विस्तृत करने का प्रयत्न किया है। द्वितीय चरण के लेखकों में सरदार पूर्णसिंह,

श्यामसुन्दरदास, पं० चन्द्रधर शर्मा गुलेरी, पं० रामचन्द्र शुक्ल, पं० पद्मसिंह शर्मा, श्री जयशंकर प्रसाद, और स्वर्गीय प्रेमचंदजी का नाम उल्लेखनीय है। इन लेखकों ने द्विवेदीजी द्वारा परिमार्जित भाषा, और शैली को मनोवैज्ञानिकता के साँचे में ढाल कर उसे अधिक से अधिक विश्लेषणात्मक बनाने का प्रयत्न किया है। द्विवेदी काल में निबन्ध कला भाषा, भाव, शैली, और विषय-प्रत्येक दृष्टि से साहित्य की संकीर्ण सीमाओं को तोड़ कर विश्वात्मकता की ओर अग्रसर होती हुई दिखाई देती है। इन लेखकों की रचनाओं में आधुनिक मनोवैज्ञानिक कला का पूर्ण रूप से विकास हुआ है। आज जो रचनाएँ हिन्दी-साहित्य की अमूल्य सम्पत्ति समझी जाती हैं, वे द्विवेदी काल के द्वितीय चरण में इन लेखकों की ही तपश्चर्या का फल हैं।

द्विवेदीजी के युग की एक झलक

पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी का जन्म सं० १९२१ में हुआ था। द्विवेदीजी का साहित्यिक जीवन हिन्दी साहित्य के लिए अधिक महत्व पूर्ण है। आज जो हिन्दी गद्य साहित्य पल्लवित और पुष्पित हो रहा है, वह द्विवेदीजी की ही देन है। उसे पल्लवित और पुष्पित करने के लिए द्विवेदीजी ने स्तुत्य साधनाएँ की। द्विवेदीजी की साधनाओं की गुरुता को समझने के लिए उनके समय पर दृष्टिपात करना चाहिए, और साथ ही हिन्दी की उस स्थिति पर भी ध्यान देना चाहिए, जो उनके आविर्भाव के पूर्व थी। द्विवेदी जी का युग नवीन चेतना, और जागृतियों के प्रकाश का युग था। अँगरेजी शासन अपनी पूर्ण प्रभुता पर विराजमान था। उसकी प्रभुता में मद उत्पन्न हो गया था। मद उत्पन्न हो जाने के कारण शासकों की ओर से स्थान-स्थान पर अत्याचार पूर्ण अमानवी नृत्य किए जा रहे थे, जिसके प्रतिफल स्वरूप देश के भीतर राष्ट्रीयता की तरंगे उत्पन्न होती जा रही थीं। शनैः शनैः अँगरेजी शासन के विरुद्ध विरोध, और विपरीतता का भाव बढ़ता जा रहा था। अँगरेजी शिक्षा के प्रचार के कारण वैज्ञानिक ज्ञान का उदय हो चुका था, और अब उसका प्रकाश सर्वत्र व्यापी हो रहा था। समाज के भीतर नवीन चेतनाएँ और ज्ञान उत्पन्न होते जा रहे थे। अज्ञानता पूर्ण रूढ़ियाँ ध्वस्त होती जा रही थीं, और उनके स्थान पर ऐसे रीति-रिवाजों की रचना होती जा रही थी, जिनमें मानवता की भावना थी। समाज और राजनीति के इस नव प्रकाश युक्त वातावरण में हिन्दी भी अब आगे बढ़ती ही जा रही थी। हिन्दी के प्रति अब लोगों का ध्यान आकर्षित हो गया था, और लोग यह समझने लगे थे, कि देश की उन्नति के साथ ही हिन्दी की भी उन्नति होना आवश्यक है।

पर अभी हिन्दी खड़ी बोली का मार्ग साफ न था। अँगरेजी और उर्दू का प्राबल्य अब भी बना हुआ था। अब भी अपनी गति के लिए हिन्दी खड़ी बोली को संघर्ष करना ही पड़ रहा था। खड़ी बोली अपने पैरों पर खड़ी अवश्य हो गई थी, पर अभी उसमें दृढ़ता का अभाव था। इसलिए वह कभी कभी लड़खड़ा कर गिर भी पड़ती थी। खड़ी बोली के स्वरूप के सम्बन्ध में अभी तक कोई व्यवस्था

निश्चित नहीं हो सकी थी। भाषा और शैली का रूप भी अभी तक कुछ निश्चित नहीं हो सका था। भाषा और शैली के क्षेत्र में सभी लेखक स्वतन्त्र थे। भाषा और शैली के सम्बन्ध में सबका पृथक-पृथक अपना दृष्टिकोण था। इसलिए खड़ी बोली के पृथक पृथक स्वरूप दिखाई पड़ते थे। भाषा के क्षेत्र में पूर्ण रूप से अस्त व्यस्तता फैली हुई थी। शुद्ध भाषा की ओर लोगों का बहुत कम ध्यान था। लोग प्रायः व्याकरण के नियमों की उपेक्षा किया करते थे। शब्दों के प्रयोग में भी अस्त व्यस्तता और अनियमितता थी। ऐसे शब्दों का प्रयोग प्रायः देखने में आता था, जो अशुद्ध होने के साथ ही साथ अव्यावहारिक होते थे। शब्दों के प्रयोग में लोग स्वच्छन्दता से काम लेते थे। प्रान्तीय, ग्रामीण, और स्थानीय शब्दों का प्रयोग भी धड़ल्ले के साथ किया जाता था। खड़ी बोली में ब्रजभाषा के शब्दों का प्रयोग भी बिना किसी संकोच के होता था। शब्दों के प्रयोग में भावों को प्रमुखता नहीं दी जाती थी। भाषा में चमत्कार उत्पन्न करना ही शब्दों के प्रयोग का लक्ष्य था। अतः भाषा में शिथिलता की मात्रा अधिक और व्यंजकता का पूर्ण रूप में अभाव था।

भाषा की भाँति ही शैली के क्षेत्र में भी अव्यवस्था फैली हुई थी। जिस प्रकार भाषा अनियमित और अव्यवस्थित थी, उसी प्रकार शैली का भी कोई निश्चित स्वरूप न था। जितने लेखक थे, सबकी अपनी पृथक पृथक शैलियाँ थीं। सब में कृत्रिमता और आडम्बर का ही प्राधान्य था। किसी भी प्रकार चमत्कार उत्पन्न करना ही शैलियों का अभीष्ट था; परिणाम स्वरूप शैलियों में व्यंजकता का अभाव था। प्रवाह, और स्वाभाविकता की झलक बहुत कम दिखाई पड़ती थी। शैलियों के निर्माण में कोई क्रम न था। कहीं लम्बे लम्बे वाक्य दिखाई पड़ते थे, तो कहीं बहुत छोटे जोटे। कहीं-कहीं बड़े-बड़े वाक्यों के साथ छोटे छोटे वाक्यों का अद्भुत सम्मिश्रण भी देखने को मिलता था। कहीं संस्कृत के तत्सम शब्दों की प्रधानता होती थी, तो कहीं उर्दू के शब्दों की। कहीं कहीं संस्कृत के तत्सम शब्दों के साथ उर्दू शब्दों का प्रयोग भी देखने को मिलता था। विराम इत्यादि चिह्नों की ओर बहुत कम लोगों का ध्यान जाता था; परिणाम स्वरूप शैलियों में प्रवाह, स्वाभाविकता, और प्रभाव का पूर्ण रूपेण अभाव था।

साहित्य निर्माण भी अभी अपनी अवोधावस्था में था। कहानी, नाटक, और उपन्यास के क्षेत्र में अनुवाद की धूम थी। कहानी, नाटक, और उपन्यास के क्षेत्र में मौलिकता की सृष्टि हो चुकी थी, पर अभी तक जो प्रयास हुए थे, उनकी गति जीवन के बाह्य क्षेत्र तक ही सीमित थी। अभी तक जीवन अपनी समस्याओं के साथ साहित्य में आविर्भूत न हो सका था। कहानी, उपन्यास, और नाटक के क्षेत्र में अभी तक जो रचनाएँ हुई थीं, उनके विषय या तो पौराणिक थे, या ऐतिहासिक और या सामाजिक। जासूसी और तिलिस्मी उपन्यासों और कहानियों की भी बाढ़ थी। इनमें केवल वर्णनों की ही प्रधानता थी। वर्णनात्मक निबंधों की अधिकता

थी। निबन्ध के क्षेत्र में अभी तक विश्लेषणात्मक निबंधों की ओर लोगों का ध्यान नहीं गया था। इतिहास, राजनीति, अर्थ शास्त्र, और पुरातत्त्व इत्यादि विषयों की ओर अभी तक लोगों का ध्यान आकृष्ट नहीं हुआ था। काव्य के क्षेत्र में भी वर्णनात्मक रचनाओं की ही अधिकता थी। समाचार पत्रों के जगत में भी एक प्रकार से दैन्य छाया हुआ था। कई पत्रों का प्रकाशन अवश्य हो रहा था, पर उनमें आधुनिक सम्पादन कला का अभाव था। भारतेन्दु बाबू ने पत्रकारिता के लिए जो नीति ग्रहण की थी, कितने ही पत्र अभी तक उसी नीति का अवलम्बन कर रहे थे।

द्विवेदीजी के पूर्व खड़ी बोली भाषा, शैली, और भाव की दृष्टि से अव्यवस्थित और अनियमित अवस्था में थी। द्विवेदीजी का आविर्भाव खड़ी बोली के लिए एक ईश्वरी वरदान सिद्ध हुआ। खड़ी बोली और उसका साहित्य द्विवेदीजी के हाथों में पड़ कर चमक उठा।

द्विवेदीजी की साहित्य साधना

खड़ी बोली और उसके साहित्य से आज जो ज्योति निकल रही है, उसकी ओर सर्व प्रथम ध्यान द्विवेदीजी का ही गया था। द्विवेदीजी ने खड़ी बोली, और उसके साहित्य की अभिवृद्धि के लिए दो रूपों में साधना की है—(१) भाषा और शैली के निर्माण कर्त्ता के रूप में, (२) साहित्य के सृष्टा के रूप में। द्विवेदीजी के पूर्व खड़ी बोली का कोई निश्चित स्वरूप न था। जितने लेखक थे, सबकी अपनी पृथक-पृथक भाषा थी। भाषा पूर्ण रूप से शिथिल थी। उसमें प्रवाह और ओज का अभाव था। व्याकरण के नियमों की बिना किसी भय के उपेक्षा की जाती थी। विरामादि चिह्नों पर बिल्कुल ध्यान नहीं दिया जाता था। सर्व प्रथम द्विवेदीजी ने भाषा की ओर ध्यान दिया। उन्होंने सरस्वती के द्वारा लोगों के सामने एक ऐसी भाषा उपस्थित की, जो सर्व प्रकार से शुद्ध थी। उन्होंने खड़ी बोली की उन त्रुटियों को दूर किया, जिनके कारण वह प्रवाहहीन और अव्यवस्थित ज्ञात होती थी। उन्होंने खड़ी बोली को व्याकरण के नियमों के साँचे में ढाला, और विरामादि चिह्नों के प्रयोग पर भी ध्यान दिया। उन्होंने शब्दों के चयन और संगठन में अर्थ व्यंजकता को महत्व दिया। उन्होंने भाषा के क्षेत्र से ऐसे शब्दों को निकाल कर बाहर किया, जो अप्रचलित और अव्यावहारिक थे। उन्होंने खड़ी बोली में प्रचलित और व्यावहारिक उर्दू शब्दों को भी स्थान दिया। इस प्रकार उन्होंने खड़ी बोली के क्षेत्र को विस्तृत बनाया। उनके प्रयत्नों से खड़ी बोली मनोवैज्ञानिकता के साँचे में ढली, और उसमें ऐसी शक्ति उत्पन्न हुई, कि वह सर्व प्रकार के भावों को ग्रहण करने में समर्थ बन सकी।

भाषा की भाँति ही द्विवेदीजी ने शैली का भी निर्माण किया। द्विवेदीजी के पूर्व हिन्दी गद्य शैली का कोई निश्चित स्वरूप न था। जितने लेखक थे, सब की अपनी अलग-अलग शैलियाँ थीं। शैलियों का लक्ष्य वर्णन और चमत्कार मात्र था। ओज, प्रसाद, माधुर्य, और प्रवाह का उनमें अभाव था। कहीं अनुप्रास युक्त लम्बे

लम्बे वाक्य थे, तो कहीं छोटे छोटे वाक्य दिखाई पड़ते थे। द्विवेदीजी ने शैली के क्षेत्र में प्रविष्ट होकर शैली के सम्बन्ध में लेखकों की स्वच्छन्दता को दूर किया। उन्होंने लोगों के सामने शुद्ध और मनोवैज्ञानिक शैली उपस्थित की। उन्होंने जो शैली उपस्थित की, वह प्रत्येक प्रकार से शुद्ध और परिमार्जित थी। उसमें ओज, प्रसाद, और माधुर्य था। वह भावों की ओर उन्मुख थी। उसमें स्वाभाविकता और व्यंजकता का समावेश था। न उसमें बहुत बड़े बड़े वाक्य थे, और न बहुत छोटे छोटे। वाक्यों का सन्तुलन उसमें बड़ी कुशलता के साथ स्थापित किया गया था। संयमित और सन्तुलित होने के कारण वह अधिक सरल, और व्यवस्थित भी थी। इस प्रकार शैली का निर्माण करने के साथ ही साथ द्विवेदीजी ने उन लेखकों की कठोर आलोचना की, जो भाषा और शैली के क्षेत्र में स्वच्छन्दता के साथ कार्य कर रहे थे। ऐसे लेखकों की कठोर और व्यंग्य पूर्ण आलोचना के लिए द्विवेदीजी की लेखनी सदैव तैयार दिखाई पड़ती थी। इसका परिणाम यह हुआ, कि सभी लेखकों में सतर्कता उत्पन्न हो गई, और लोग द्विवेदीजी की आलोचना के भय से शुद्ध भाषा और शैली का प्रयोग करने लगे।

साहित्य निर्माण के क्षेत्र में द्विवेदीजी ने कई रूपों में साधना की है—संपादक के रूप में, निबंधकार के रूप में आलोचक के रूप में, और कवि के रूप में। द्विवेदीजी का साहित्यिक जीवन उनके द्वारा सम्पादित 'सरस्वती' से ही अधिक महत्व पूर्ण बन सका है। उन्होंने साहित्य के क्षेत्र में जो महत्व पूर्ण कार्य किए हैं, उनमें सरस्वती का ही अधिक योग रहा है। 'सरस्वती' एक आदर्श पत्रिका थी, जो सभी प्रकार के उपयोगी स्तंभों से युक्त थी। सरस्वती के प्रकाशन के पूर्व हिन्दी साहित्य में सरस्वती जैसी पत्रिका का पूर्ण रूप से अभाव था। अतः हम कह सकते है, कि द्विवेदीजी ने सरस्वती के सम्पादन द्वारा हिन्दी के सम्पादन कला के स्तर को अधिक ऊँचा उठाया। उन्होंने हिन्दी के सम्पादकों के सामने एक आदर्श उपस्थित किया। उन्होंने सरस्वती में कई ऐसे स्तम्भ स्थापित किए, जिनके सम्बंध में यह कहा जा सकता है, कि पहले पहल वे सरस्वती के पृष्ठों में ही प्रकाशित हुए थे। द्विवेदीजी ने बँगाली अँगरेजी इत्यादि उन्नत भाषाओं की पत्रकारिता को सामने रख करके ही सरस्वती के लिए पाठ्य सामग्री का चयन किया। इस प्रकार यह कहा जा सकता है, कि उन्होंने हिन्दी संपादन कला के क्षेत्र को अधिक विस्तृत किया, और उसे आधुनिकता के साँचे में ढाला। सरस्वती के प्रकाशन और उसके संपादन को देख करके ही हिन्दी में इस प्रकार की पत्र-पत्रिकाएँ प्रकाशित होने लगीं, जिन्हें आधुनिक संपादन-कला की कसौटी पर कसा जा सकता था।

निबन्धकार के रूप में द्विवेदीजी को अधिक सुख्याति नहीं प्राप्त हो सकी है। इसका यह तात्पर्य नहीं, कि द्विवेदीजी में गम्भीर निबंध रचना की शक्ति और प्रतिभा का अभाव था। जहाँ तक प्रतिभा का प्रश्न है, द्विवेदीजी में सर्वतोमुखी

प्रतिभा विद्यमान थी। पर वास्तविक बात तो यह है, कि द्विवेदीजी का ध्यान सदैव निर्माण और प्रचार की ओर ही लगा रहता था। उनका ध्यान साहित्यिक दृष्टि से निबंध रचना की ओर नहीं था; वरन् उनका ध्यान था, हिन्दी भाषा और शैली के परिष्करण की ओर तथा हिन्दी के भंडार को विविध ज्ञान-विज्ञान से भरने की ओर। विविध विषयों पर निबंध लिखने की ओर ही उनका सदा ध्यान रहता था। वे निबन्ध लिखने के लिए सदा नए-नए विषयों की ही खोज में व्यस्त रहा करते थे। इस प्रकार उनके पास उन निबंधों की रचना के लिए समय का अभाव था, जिन्हें साहित्यिक और गम्भीर शैली के निबन्ध कहते हैं। द्विवेदीजी ने विविध विषयों पर प्रचार, और प्रसार की दृष्टि से ही निबंध लिखे हैं। उनके निबंधों को हम पाँच वर्गों में विभक्त कर सकते हैं—साहित्यिक, ऐतिहासिक, वैज्ञानिक, आध्यात्मिक, और जीवन चरित्र। उनके सभी निबंधों में उनकी अपनी भाषा और अपनी शैली है। उनकी भाषा बड़ी सरल, और हृदय स्पर्शी है। उन्होंने अपनी भाषा को किसी सीमा में बन्द न करके उसके क्षेत्र को विस्तृत बनाने का प्रयत्न किया है। उनकी शैली सुगठित और भावोंउन्मुख है। भाषा की भाँति ही उनकी शैली भी अधिक सरल, और हृदयस्पर्शी है।

द्विवेदीजी हिन्दी साहित्य के प्रथम आलोचक हैं। आलोचना के क्षेत्र में सर्व प्रथम उन्होंने ही उस पद्धति का आविष्कार किया, जिसका आज साहित्य जगत में अधिक सम्मान है। द्विवेदीजी सफल समालोचक थे। आलोचना की शक्ति उनमें स्वाभाविक रूप से निवास करती थी, यही कारण है, कि उनकी आलोचना में स्वाभाविकता होती थी। स्वाभाविकता होने के साथ ही साथ उसमें निर्भीकता का प्रचुर अंश भी होता था। द्विवेदीजी आलोचना करते समय कभी किसी का संकोच नहीं करते थे। उन्हें जो बात कहनी होती थी, उसे वे बड़े साहस और निर्भीकता के साथ कहते थे। यही कारण है, कि उनकी आलोचनाओं में कभी कभी अधिक कटुता उत्पन्न हो जाती थी। उनकी आलोचनाओं को हम दो वर्गों में विभक्त कर सकते हैं – (१) प्राचीन साहित्य और साहित्यकारों की आलोचना, (२) समसामयिक साहित्य और साहित्यकारों की आलोचना। अपनी दोनों प्रकार की आलोचनाओं में उन्होंने अधिक साहस और निर्भीकता का परिचय दिया है। महाकवि कालिदास की कविता की आलोचना ने उन्हें अनेक व्यक्तियों के कोप का भाजन बना दिया था। सम सामयिक साहित्य और साहित्यकारों की आलोचना वे अपनी लेखनी के पैने-धार से करते थे। उनकी तीव्र आलोचनाओं के परिणाम स्वरूप ही हिन्दी गद्य के भीतर से शीघ्र ही वे विकार दूर हो गए, जिनके कारण उसका शरीर क्षीण और जर्जर होता जा रहा था।

द्विवेदीजी अपने जीवन के प्रथम चरण में कविता किया करते थे। उनकी जो कविताएँ हमारे सम्मुख हैं, उनसे सहज में ही यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है; कि द्विवेदीजी में गद्य रचना की जितनी शक्तियाँ थीं, उतनी पद्य-रचना की नहीं

थी। यही कारण है, कि काव्य निर्माण में उन्हें अधिक सफलता नहीं प्राप्त हो सकी है। उन्होंने साहित्यिक जीवन के प्रथम चरण में देश, धर्म, उपदेश, और चरित्र संबन्धी कविताओं की रचना की है। यह सभी रचनाएँ वर्णात्मक हैं, और साधारण पाठकों के लिए ही उपयुक्त हैं। द्विवेदीजी ज्यों-ज्यों साहित्य के क्षेत्र में प्रविष्ट करते गए, त्यों त्यों कविता से उनका संपर्क छूटता गया। अंत में तो वे केवल संपादक, आलोचक और निबन्धकार ही रह गए थे। द्विवेदीजी को अपने अपने इन्हीं रूपों के कारण अधिक सुख्याति प्राप्त हुई है। उनके साहित्यिक रूपों में उनका आलोचक, और संपादक का रूप सबसे अधिक श्रेयस्कर है।

द्विवेदीजी गद्य के विधायक थे। हिन्दी गद्य की शैली और उसकी भाषा के क्षेत्र में में उन्होंने महत्त्वपूर्ण साधनाएँ की हैं। हिन्दी गद्य शैली के निर्माण और उसके परिष्करण में उन्होंने जो परिश्रम किया है, वह स्तुत्य और श्लाघ्य है। आज गद्य शैली का जो परिष्कृत और व्यवस्थित स्वरूप हमारे सामने दिखाई पड़ता है, उसका निर्माण द्विवेदीजी के ही द्वारा हुआ है। द्विवेदीजी ने अपने संपूर्ण निबंधों की रचना शैली के निर्माण और उसके विकास की दृष्टि से की है। उनके निबंधों का जब हम मन्थन करते हैं, तो उसमें तीन प्रकार की शैलियाँ पाते हैं—परिचायात्मक शैली, आलोचनात्मक शैली, और गवेषणात्मक शैली। उनकी तीनों प्रकार की शैलियाँ अधिक सरल और सुस्पष्ट हैं। उनकी तीनों प्रकार की शैलियों पर उनके सरल और सुरुचि पूर्ण व्यक्तित्त्व की छाप है।

द्विवेदीजी की शैली

हिन्दी के प्रचार में द्विवेदीजी की परिचायात्मक शैली से अधिक सहायता मिली है। उन्होंने अपनी इस शैली में ज्ञान-विज्ञान संबन्धी लेख लिखे हैं। द्विवेदीजी प्रथम लेखक हैं, जिन्होंने इन विषयों पर लेख लिखने का प्रयत्न किया है। उनके इन विषयों के लेख अँगरेजी, बँगला, मराठी, और गुजराती इत्यादि भाषाओं में छपे हुए लेखों के सारांश हुआ करते थे। उन्होंने बड़ी सरल और उपयुक्त भाषा में इन लेखों में भावों का स्पष्टीकरण किया है। द्विवेदीजी ने अपनी इस शैली में एक शिक्षक की भाँति अपने विषय को सामने प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है। उन्होंने शिक्षक की भाँति ही ग्रन्थि को खोल कर बार बार समझाने की चेष्टा की है। विषय को स्पष्ट करने के उद्देश्य से ही उन्होंने एक ही बात को बार-बार कई वाक्यों में कहा है। विद्वानों के लिए द्विवेदीजी की यह शैली अरुचि कर हो सकती है। पर प्रचार की दृष्टि से उनकी इस शैली का अधिक महत्त्व है। उन्होंने अपनी इस शैली में गूढ़ से गूढ़ विषय को भी सरलता के साथ समझाने का प्रयत्न किया है। निम्नांकित पंक्तियों में उनकी इस शैली का रूप अभिव्यक्त हुआ है—'यदि एक मात्र पांडित्य दिखाने के उद्देश्य से किसी लेख या पुस्तक की रचना न की गई हो तो ऐसी भाषा का प्रयोग करना चाहिए, जिसे अधिकांश पाठक समझ सकें। तभी रचना का

उद्देश्य सफल होगा, तभी उसके पढ़ने वाले के ज्ञान और आनन्द की वृद्धि होगी।'

द्विवेदीजी की दूसरी शैली आलोचनात्मक है। इस शैली में द्विवेदीजी के वे निबन्ध आते हैं, जिनकी रचना उन्होंने आलोचना के उद्देश्य से की है। द्विवेदीजी के आलोचना संबन्धी निबंधों का एक महत्त्वपूर्ण उद्देश्य है। द्विवेदीजी के पूर्व हिन्दी में भाषा के नाम पर एक प्रकार का स्वेच्छाचार सा फैला हुआ था। लोग गद्य के क्षेत्र में स्वच्छन्दता का बर्ताव करते थे। व्याकरण के नियमों और विराम चिह्नों के प्रयोग की ओर किसी का बिलकुल ध्यान न था। लोगों की दृष्टि में हिन्दी उपेक्षणीय भी थी। कुछ लोग हिन्दी की बढ़ती हुई प्रगति का विरोध भी कर रहे थे। द्विवेदीजी ने भाषा की इन्हीं अस्त व्यस्तताओं को हटाने के लिए अपने आलोचनात्मक निबंधों की रचना की। उन्होंने अपने आलोचनात्मक निबंधों के द्वारा हिन्दी के विरोधियों को मुँह तोड़ उत्तर दिया है। द्विवेदीजी की आलोचनात्मक शैली के तीन प्रकार हैं—आदेश पूर्ण आलोचनात्मक शैली, ओज पूर्ण आलोचनात्मक शैली, और व्यंग पूर्ण आलोचनामक शैली। आदेश पूर्ण आलोचनात्मक शैली में द्विवेदीजी ने उन निबंधों की रचना की है, जिनका निर्माण उन्होंने भाषा के परिष्करण और परिशुद्धिकरण के उद्देश्य से किया है। इस शैली के निबंधों में उन्होंने लेखकों की स्वच्छंदता की आलोचना करते हुए उन्हें उचित आदेश दिए हैं, और उनके संमुख शुद्ध भाषा के सुझाव भी उपस्थित किए हैं। इस शैली पर भी उनकी परिचायात्मक शैली की कुछ छाप पड़ी हुई दिखाई पड़ती है। क्योंकि परिचयात्मक शैली की भाँति उनकी यह शैली भी अधिक सरल और हृदय ग्राह्य है। निम्नांकित पंक्तियों में द्विवेदी जी की आदेशपूर्ण आलोचनात्मक शैली परिस्फुटित हुई है—'जिस रचना में संस्कृत के सैकड़ों बलिष्ट शब्द हों, जिसमें संस्कृत के अनेकानेक वचन और श्लोक उद्धृत हों, जिसमें योरोप तथा अमेरिका के देशों के अनेक पंडितों और लेखकों के नाम हों, अँगरेजी नम्र, शब्द, और वाक्य अँगरेजी के ही अक्षरों में लिखे हों, उस रचना को बहुधा पांडित्य पूर्ण समझते हैं।' द्विवेदीजी की आलोचना की दूसरी शैली ओजपूर्ण शैली है। उन्होंने इस शैली में अपने साहित्यिक निबंधों की रचना की है। इस शैली के निबन्धों के द्वारा उन्होंने भारतीय संस्कृति और भारतीय साहित्य का महत्त्व उन अँगरेजी प्रेमियों के हृदय पर अंकित करने का प्रयत्न किया है, जो अँगरेजी साहित्य और संस्कृति के उन्माद में भारतीय साहित्य और संस्कृति के विरोधी थे। उनकी इस शैली के निबन्धों में अधिक चुस्त और संस्कृत तत्सम शब्दों से संयुक्त भाषा देखने को मिलती है। भाषा चुस्त होने के साथ ही साथ इस शैली के वाक्य भी अधिक प्रौढ़ और स्फूर्तिदायक हैं। निम्नांकित पंक्तियों में द्विवेदीजी की इस शैली का स्वरूप देखिए—'अतएव समर्थ होकर भी जो मनुष्य इतने महत्त्वशाली साहित्य की सेवा और अभिवृद्धि नहीं करता अथवा उससे अनुराग नहीं रखता, वह

समाज द्रोही है, देश द्रोही है, जाति द्रोही है, किंबहुना वह आत्म द्रोही है, और आत्म हंता भी है।' द्विवेदीजी की आलोचना की तीसरी शैली व्यंग पूर्ण है। इस शैली में द्विवेदीजी ने साहित्य, राजनीति, और समाज इत्यादि के क्षेत्रों में मनमानी करने वालों पर लेख लिखे हैं। उनकी इस शैली में व्यंग, कटाक्ष, हास्य, विनोद और फटकार स्थान-स्थान पर मिलती है। जहाँ कहीं उन्होंने व्यंग और कटाक्ष किया है, वहाँ अधिक संयम से काम लिया है। उनके द्वारा किए हुए व्यंगों और कटाक्षों में तीव्रता होने पर भी वे कटु नहीं कहे जा सकते। उन्होंने अपनी इस शैली में व्यावहारिक और चलती हुई भाषा का प्रयोग किया है। निम्नांकित पंक्तियों में उनकी इस शैली का स्वरूप देखिए—'चेयरमैन आप केवल इसलिए हुए हैं, कि अपनी कारगुजारी गवर्नमेन्ट को दिखाकर आप रायबहादुर बन जाँय, और खुशामदियों से आठ पहर चौसठ घड़ी घिरे रहें।'

द्विवेदीजी की तीसरी शैली गवेषणात्मक शैली है। इस शैली में द्विवेदीजी के उन निबन्धों की गणना की जाती है, जिनमें उन्होंने साहित्यिक या गम्भीर विषयों का विवेचन किया है। द्विवेदीजी की यह शैली बड़ी शिष्ट, संयत, और गंभीर है। अपनी इस शैली में वे एक गम्भीर विचारक, दार्शनिक, और चिंतक के रूप में दिखाई पड़ते हैं। उनकी इस शैली के दो स्वरूप हैं—एक सरल, दूसरा गम्भीर। सरल शैली का गठन छोटे-छोटे वाक्यों से हुआ है, और उसमें भाषा भी सरल ही मिलती है। गंभीर शैली शुद्ध साहित्यिक है। इस शैली में भाव व्यंजना कहीं कहीं अधिक गम्भीर हो गई है, जिससे उसमें दुरूहता उत्पन्न हो गई है। निम्नांकित पंक्तियों में उनकी इस शैली का विकास सुन्दरता के साथ हुआ है—'इसमें विकारों की परस्पर इतनी संलग्नता है, कि प्रतिभा को अपस्मार और विक्षिप्तता से अलग करना बहुत ही कठिन है। इसलिए प्रतिभावान पुरुषों में कहीं कहीं विक्षिप्तता के कोई कोई लक्षण मिलने पर भी मनुष्य उनकी गणना बावलों में नहीं करते।'

शैली की भाँति ही द्विवेदीजी भाषा के विधायक थे। द्विवेदीजी के पूर्व जो भाषा प्रचलित थी, वह या तो संस्कृत के तत्सम शब्दों से युक्त थी, और या उसमें अरबी और फारसी के कठिन शब्दों की बहुलता रहती थी। द्विवेदीजी का इन दोनों ही भाषाओं में से किसी से भी काम चलने को नहीं था। क्योंकि यह दोनों भाषाएँ संकीर्ण थीं, और उनके द्वारा द्विवेदीजी के उस महान् उद्देश्य की पूर्ति नहीं हो सकती थी, जिसकी वे कल्पना कर रहे थे। अतः द्विवेदीजी ने अपने लिए एक नवीन भाषा का निर्माण किया। भाषा के निर्माण में उनका मुख्य लक्ष्य इसी ओर था, कि भाषा अधिक से अधिक व्यापक और भाव व्यंजक बन सके। इसी विचार से उन्होंने अपनी भाषा को अधिक से अधिक सरलता के साँचे में ढालने का प्रयत्न किया। इसके लिए उन्होंने दो मार्ग चुने। एक यह है, कि उन्होंने संस्कृत के केवल उन्हीं तत्सम शब्दों को ग्रहण किया, जो अधिक प्रचलित और व्यावहारिक थे, और दूसरा यह, कि उन्होंने अरबी और फारसी के उन

द्विवेदीजी की भाषा

शब्दों का बहिष्कार नहीं किया, जो प्रचलित थे। इस प्रकार उन्होंने अपनी भाषा को अधिक से अधिक व्यावहारिक बनाने का प्रयत्न किया है। भाषा को व्यावहारिक बनाने के लिए उन्होंने अवसर-तत्र अँगरेजी शब्दों का भी प्रयोग किया है। शब्दों के प्रयोग में उन्होंने अधिक कुशलता प्रदर्शित की है। शब्दों की आंतरिक शक्ति के वे बहुत बड़े पारखी थे। उन्होंने संस्कृत के तत्सम शब्दों के साथ अरबी-फारसी और अँगरेजी के शब्दों का मेल बड़ी कुशलता के साथ स्थापित किया है। उन्होंने भाषा को सरल बनाने के लिए संस्कृत के तत्सम शब्दों को सरल बनाने की भी चेष्टा की है। वे जान बूझ कर भाषा को दुरूह बनाने के विरोधी थे। उन्होंने भाषा को दुरूहता से बचाने के लिए प्रचलित और व्यावहारिक शब्दों का ही अधिक प्रयोग किया है।

द्विवेदीजी की भाषा अधिक शुद्ध और परमार्जित है। शुद्ध और परिमार्जित भाषा का एक सुन्दर आदर्श उन्होंने लोगों के सामने उपस्थित किया है। उनकी भाषा में छोटे छोटे-कला पूर्ण वाक्य मिलते हैं। उनके छोटे-छोटे वाक्य भावों का उन्मेष करने में बड़े पटु हैं। उनके वाक्यों के सभी शब्दों में परस्पर मैत्री, और संबद्धता है। उनके वाक्यों के सभी शब्द अपने स्थान पर अधिक उपयुक्त और सहधर्मी हैं। उन्होंने कठिन से कठिन विषय का स्पष्टीकरण भी सरल भाषा में किया है। दुरूह विषयों के चित्रांकन में भी वे वाक्यों के ऊपर अपना अनुशासन रखते हैं। दुरूह विषयों में भी उनके वाक्य अपनी सीमा का उल्लङ्घन नहीं करते। शब्दों के स्थापन और वाक्यों के विन्यास में द्विवेदीजी सिद्ध-हस्त थे। उचित शब्दों के स्थापन और वाक्यों के विन्यास के कारण उनकी भाषा अधिक वैज्ञानिक, और भाव व्यंजिका दृष्टिगोचर होती है।

पं० माधव प्रसाद मिश्र का जन्म संवत् १९२८ की भाद्रपद शुक्ल १३ को हुआ था। मिश्रजी का साहित्यिक जीवन दो वर्गों में विभक्त है– सम्पादक के रूप

मिश्रजी की साहित्य साधना

में, और निबंधकार के रूप में। संपादक के रूप में इन्होंने 'वैश्योपकारक' और 'सुदर्शन' नामक पत्र का सम्पादन किया है। 'सुदर्शन' के सम्पादक के रूप में इन्होंने ख्याति प्राप्ति की है। यद्यपि यह केवल दो वर्ष तक ही चल कर ही बन्द हो गया। पर दो वर्ष के अल्प समय में ही उसके द्वारा समाज और साहित्य की अच्छी सेवा हुई है। निबन्धकार के रूप में मिश्रजी ने दर्जनों निबंधों की रचना की है। मिश्रजी के निबंधों की पृष्ठभूमि समाज, धर्म, और देश है। मिश्रजी सनातन धर्म के अनन्य प्रेमी थे। इनके अधिकांश निबन्धों में इनके सनातन धर्म का प्रेम साफ साफ झलकता है। इन्होंने राजनीति, और स्वदेश प्रेम पर निबंध लिखे हैं। इनके द्वारा चरित्रात्मक पुस्तकों की रचना भी हुई है, जिनमें विशुद्धानन्दजी का जीवन चरित्र अधिक महत्व पूर्ण है।

द्विवेदी काल के निबंधकारों में मिश्रजी का महत्त्वपूर्ण स्थान है। मिश्रजी अपने ढंग

के अद्भुत गद्यकार हैं। यद्यपि उनके निबंध सीमित संख्या में ही मिलते हैं, पर जो

मिश्रजी की शैली

मिलते हैं, उन पर उनके विशेष व्यक्तित्व की छाप है। उनकी शैली भाव व्यंजिका, और ओजमयी है। उनकी शैली की विशेषता उसका नाटकत्व है। वे अपनी बात को अधिक प्रभाव पूर्ण बनाने के लिए कई वाक्यों में, कई प्रकार से बार बार कहते हैं। कहीं-कहीं इसी के परिणाम स्वरूप उनके वाक्यों का अधिक विस्तार भी हो जाता है, पर इसका यह तात्पर्य नहीं, कि उनकी शैली में नीरसता है। वाक्यों का विस्तार होने पर भी उनकी शैली सर्वत्र भाव व्यंजिका और चमत्कारपूर्ण बनी रहती है। उनकी शैली भावों के विकास की ओर ही सदा प्रयत्नशील रहती है। भावों का प्रस्फुटन और उसका प्रकाशन करना उनकी शैली का प्रधान गुण है। ओज और गम्भीरता के तत्त्व भी उनकी शैली में अधिक पाये जाते हैं। प्रवाह सर्वत्र एक सा उनकी शैली में दिखाई देता है। उनकी शैली को सुकरता का स्वरूप देने वाले उनके वाक्य परस्पर अधिक सम्बद्ध और विन्यास युक्त हैं। उनके वाक्यों के शब्दों में भी अधिक मैत्री, और घनिष्ठता है।

मिश्रजी की शैली अधिक गम्भीर संयत और भावमय है। शिष्टता और भाव सम्पन्नता मुख्य रूप से उनकी शैली में मिलती है। उनकी शैली की भाँति ही उनकी

मिश्रजी की भाषा

भाषा भी अधिक शिष्ट, संयत, और गम्भीर है। उनकी भाषा में संस्कृत तत्सम के शब्दों की प्रधानता है, किन्तु हम यह नहीं कह सकते, कि उनकी भाषा कठिन है। संस्कृत के तत्सम शब्दों के प्रयोग में उन्होंने अधिक सतर्कता के साथ काम लिया है। उन्होंने प्रायः ऐसे ही शब्दों को ग्रहण किया है, जो अधिक भाव व्यंजक, सरस, शिष्ट और संयत हैं, उनका प्रत्येक शब्द शिष्ट संयत और भावों का चित्र उपस्थित करता हुआ दृष्टिगोचर होता है। यही कारण है, कि उनकी भाषा अधिक शिष्ट, और गम्भीर और प्रवाहमय बन गई है। निम्नांकित पंक्तियों में उनकी भाषा और शैली का सुन्दर स्वरूप देखा जा सकता है—'अच्छा माँ! यह तो कहो, तुम्हारा नाम वसुंधरा किसने रक्खा। यह नाम तो उस समय का है। यह नाम व्यास, बाल्मीकि, पाणिनि, काव्यायन, आदि सुरुन्तानों का दिया हुआ है। जाने वे तुम्हारे सुपुत्र कितने आदर, कितनी श्लाघा से और श्रद्धा से तुम्हें पुकारते थे।'

बा० बालमुकुन्द गुप्त—गुप्तजी का जन्म सम्वत् १९२२ में हुआ था। गुप्तजी द्विवेदी युग के सुप्रसिद्ध निबन्धकार हैं। उन्होंने जीवन पर्यन्त हिन्दी की सेवा बड़ी

गुप्तजी की साहित्य साधना

तन्मयता के साथ की है। उनका साहित्यिक जीवन तीन रूपों में विभक्त किया जा सकता है—पत्रकार के रूप में, आलोचक के रूप में, और निबन्धकार तथा नाटककार के रूप में। गुप्त जी का साहित्यिक जीवन पत्रकार के रूप से ही प्रारम्भ हुआ है। सर्व प्रथम वह एक उर्दू पत्र के सम्पादक थे, जिसका नाम 'अखबारे चुनार' था। उन दिनों उर्दू पत्रों

में सामयिक विषयों पर उनके निबन्ध भी बराबर प्रकाशित हुआ करते थे। हिन्दी के क्षेत्र में आने पर गुप्तजी ने 'हिन्दुस्थान' और वंगवासी इत्यादि, पत्रों का सम्पादन किया। सम्पादक के रूप में, उन्होंने हिन्दी साहित्य के विभिन्न अंगों का संगठन किया, और भाषा तथा शैली के निर्माण में योग दिया। सम्पादन कला का गुप्तजी को अधिक अनुभव था। अतः उन्होंने अपने ज्ञान, अपने अनुभवों से हिन्दी-सम्पादन कला को ऊँचा उठाया, और उसे विकसित होने में सहायता प्रदान की। गुप्तजी के साहित्यिक जीवन का दूसरा रूप उनके आलोचक का रूप है। आलोचक के रूप में उन्होंने हिन्दी साहित्य के विकारों को दूर करने का प्रयत्न किया है। उनकी आलोचनाएँ बड़ी तीव्र हुआ करती थीं। पर फिर भी वे कभी शिष्टता और संयम का परित्याग नहीं करते थे। उनकी आलोचनाओं को हम दो वर्गों में बाँट सकते हैं—साहित्यिक, और राजनीतिक। उनकी साहित्यिक आलोचनाएँ गम्भीर और विद्वत्ता पूर्ण होती थीं। वे पक्षपात से दूर—अपनी-अपनी आलोचना की तुला पर साहित्यिक कृतियों का तोल किया करते थे, उनकी राजनीतिक आलोचनाएँ प्रायः व्यंग्यात्मक हुआ करती थीं। वे अपनी राजनीतिक आलोचनाओं में—'भगोड़ी शिवशंभु शर्मा, के नाम का प्रयोग किया करते थे। गुप्तजी के साहित्यिक जीवन का तीसरा रूप, उनके निबन्धकार का रूप है। उन्होंने ऐतिहासिक, राष्ट्रीय, और सामाजिक विषयों पर महत्त्व पूर्ण निबन्धों की रचना की है। उनके निबन्धों में उनकी उद्भट प्रतिभा, और उनके गम्भीर अध्ययन की अच्छी झलक देखने को मिलती है। गुप्तजी ने नाटक और कविता के क्षेत्र में भी कुछ प्रयास किया है, पर वह केवल प्रयास मात्र ही है। नाटक और कविता के क्षेत्र में गुप्तजी को बहुत कम सफलता प्राप्त हुई है।

गुप्तजी की शैली

गुप्तजी उर्दू के क्षेत्र से हिन्दी के क्षेत्र में आये थे। हिन्दी के क्षेत्र में आने से पूर्व, उर्दू के क्षेत्र में उनकी लेखनी अधिक मँज चुकी थी। वे उर्दू के अच्छे विद्वान भी थे। हिन्दी में आने से पहले उर्दू में विभिन्न विषयों पर उनके निबन्ध प्रकाशित हो चुके थे। हिन्दी के क्षेत्र में आने पर, उर्दू की शैली और उसकी भाषा का प्रभाव अखण्ड रूप से ज्यों का त्यों बना रहा। यह प्रभाव उनके हिन्दी के निबन्धों की शैली पर स्पष्ट परिलक्षित होता है। उनकी शैली में जो ओज, प्रवाह और माधुर्य है, उसका बहुत कुछ कारण उर्दू की शैली का ही प्रभाव है। उर्दू की शैली के प्रभाव के कारण उनकी शैली अधिक मार्मिक, और प्रभाव पूर्ण बन गई है।

द्विवेदी युग के निबन्धकारों में गुप्तजी शैली-जगत के एक अनूठे चितेरे से से दिखाई देते हैं। शब्दों के गठन, और वाक्य के विनास की उनमें अपूर्व चातुरी है। वे तोल तोल कर शब्दों का स्थापन करते हैं। उनके वाक्य अधिक मार्मिक, और भाव पूर्ण है। वाक्यों के विन्यास में उनका लक्ष्य केवल भाव-व्यंजकता की ही ओर दिखाई देता है। भावों के प्रस्फुटन के लिए ही वे कभी कभी एक ही बात को

कई प्रकार से कई वाक्यों में दुहरा भी जाते हैं। भावों में दृढ़ता उत्पन्न करने के लिए उन्होंने कहावतों का भी प्रयोग किया है। कहावतों के प्रयोग से उनकी शैली अधिक प्रभाव और प्रवाह पूर्ण बन गई है। शैली को रोचक और आकर्षक बनाने की ओर उनका मुख्य रूप से ध्यान रहता था। वे गूढ़ से गूढ़ विषय का चित्रांकन भी रोचक ढङ्ग से ही किया करते थे। शैली में रोचकता उत्पन्न करने के लिए वे वार्तिक प्रणाली का अवलम्बन करते थे। उन्हें जो बात कहनी होती थी, प्रायः वार्तिक ढङ्ग से कहते थे। बात को प्रभाव पूर्ण बनाने के लिए उसके भीतर छिपे हुए भाव के उत्तर-चढ़ाव पर अधिक ध्यान रखते थे। बात को सामने प्रस्तुत करने का उद्देश्य क्या है—इस बात को वे मुख्य रूप से स्मरण रखते थे।

गुप्तजी की शैली को हम दो वर्गों में विभाजित कर सकते हैं—परिचयात्मक शैली, और आलोचनात्मक शैली। गुप्तजी परिचयात्मक शैली के अधिक समर्थ शाली निबंधकार हैं। उनके अधिकांश निबंध इसी शैली में हैं। उनकी यह शैली अधिक रोचक और हृदय ग्राहिणी है। गुप्तजी ने अपनी इस शैली में मुहाविरों का प्रयोग करके उसे और भी अधिक रोचक बना दिया है। उनकी यह शैली छोटे-छोटे वाक्यों से बनी हैं, और उसमें भाव व्यंजक तथा मार्मिक शब्दों का भी प्रयोग हुआ है। उनकी इस शैली में कहीं-कहीं व्यंग्य का पुट भी है। निम्नांकित पंक्तियों में उनकी इस शैली का दृष्टांत देखिए—शर्माजी महाराज बूटी की धुन में लगे हुए थे। सिल बट्टे से भङ्ग रगड़ी जा रही थी। मिर्च मसाला साफ हो रहा था। बादाम इलायची के छिलके उतारे जाते थे। नागपुरी नारंगियाँ छील-छील कर रस उतारा जाता था। इतने में देखा, कि बादल उमड़ रहे हैं। चीलें नीचे उतर रही हैं, तबीयत भुरभुरा उठी।' गुप्तजी की दूसरी शैली जिसे आलोचनात्मक शैली कहते हैं। उनके गम्भीर निबन्धों में पाई जाती है। इस शैली में उन्होंने गम्भीर विषयों का प्रतिपादन किया है। परिचयात्मक शैली के निबन्धों की भाँति इस शैली के निबन्धों में न तो चुलबुलाहट है, और न अरबी-फारसी के ही शब्दों का प्रयोग हुआ है; इसके विपरीत उनकी यह शैली अधिक गम्भीर, और संस्कृत के तत्सम शब्दों से युक्त है।

गुप्तजी उर्दू के विद्वान थे। हिन्दी के क्षेत्र में आने से पूर्व वे उर्दू पत्रों के सम्पादक रह चुके थे, और उनमें प्रायः निबन्ध भी लिखा करते थे। पत्रों से सम्पर्क होने के कारण उनकी लेखनी का पत्रों की भाषा से अधिक घनिष्ठता थी। उनकी लेखनी से जो भाषा निकलती थी, वह प्रायः चलती हुई, और व्यावहारिक होती थी। हिन्दी के क्षेत्र में भी उनका पत्रों से ही अधिक सम्बन्ध रहा है। अतः यदि यह कहा जाय, तो कोई अत्युक्ति की बात न होगी, कि हिन्दी के क्षेत्र में आने पर भी पत्रों की भाषा से ही उनका अधिक सम्बन्ध रहा है। उनकी भाषा में व्यावहारिकता, और चलताऊपन का जो अधिक पुट है, उसका कारण उनका पत्रों की भाषा से अधिक घनिष्ठता का होना ही है। उनकी भाषा में स्थान-स्थान पर अरबी और फारसी के शब्द भी मिलते हैं। इसका भी कारण यही है

गुप्तजी की भाषा

कि उनका पहले उर्दू से अधिक संबंध था। अरबी-फारसी के शब्दों में उन्होंने तूल, अरज, ख्याल, और महफिल इत्यादि का प्रयोग उन्होंने बड़ी सुन्दरता के साथ किया है। प्रचलित अँगरेजी शब्दों को भी उन्होंने ग्रहण किया है। जैसे—लाट, गवर्नमेंट, और डाइरेक्टर इत्यादि। इस प्रकार उन्होंने अरबी फारसी और अँगरेजी के प्रचलित शब्दों का प्रयोग संस्कृत के तत्सम शब्दों के साथ करके भाषा के क्षेत्र को विस्तृत बनाने का प्रयत्न किया है। यद्यपि उनकी भाषा में संस्कृत के तत्सम शब्द अधिक परिमाण में मिलते हैं, पर उन शब्दों से उनकी भाषा की व्यावहारिकता पर किसी प्रकार का आघात नहीं होता। इसका कारण केवल यही है, कि संस्कृत के तत्सम के प्रयोग में भी उन्होंने अपनी दृष्टि व्यावहारिकता पर ही केन्द्रित रक्खी हैं। व्यावहारिक शब्दों की बहुलता ही के कारण उनकी भाषा अधिक व्यावहारिक और चलती हुई दिखाई देती है। उन्होंने अपनी भाषा में कहावतों का भी प्रयोग किया है, कहावतों के प्रयोग के कारण उनकी भाषा अधिक प्रभाव पूर्ण और मार्मिक भी बन गई है।

पं० गोविन्द नारायण मिश्र प्राचीन लेखकों में अपना महत्त्व पूर्ण स्थान रखते थे। उनका साहित्यिक जीवन उनके साहित्यिक निबन्धों में ही परिस्फुटित हुआ है।

मिश्रजी की साहित्य साधना

वे हिन्दी और संस्कृत के बहुत बड़े विद्वान थे। उनकी विद्वत्ता उनके निबन्धों से साफ-साफ झलकती है। उनके निबन्ध हिन्दी में अपने ढङ्ग के एक निबन्ध है। उन्होंने अपने सम्पूर्ण निबन्धों की रचना, अलंकृत, और काव्यात्मक शैली में की है। उनके निबंधों को सामने रख कर यदि हम उन्हें हिन्दी का बाण और दंडी कहें, तो कोई अत्युक्ति की बात न होगी। क्योंकि उन्होंने दंडी, और बाण की भाँति ही अपने गद्य को गद्य-काव्य के साँचे में ढालने का प्रयत्न किया है।

मिश्रजी काव्यात्मक शैली के निबन्धकार हैं। गद्य के क्षेत्र में इनके समान इस शैली का निदर्शन करने वाला इनके समान आज तक कोई न हो सका। इनके पूर्व

मिश्रजी की शैली

'प्रेमघनजी' के गद्य में भी इसी शैली का आभास देखने को मिलता है, पर 'प्रेमघनजी' इस शैली में इनसे बहुत ही पीछे छूट गए हैं। इनकी यह शैली अधिक काव्यात्मक और पांडित्य पूर्ण है। इन्होंने अपनी शैली में समासांत दीर्घ पदावलियों का प्रयोग स्थान-स्थान पर किया है। कहना चाहिए, कि इनकी शैली दीर्घ समासांत पदावलियों का एक जाल सा है, जिसमें नए-नए और भारी भरकम शब्दों की प्रचुरता है। शब्दों के प्रयोग में केवल वाग्विलास को ही अधिक महत्त्व दिया गया है, इसका परिणाम यह हुआ है, कि इनकी शैली काव्य पूर्ण और अलंकारिक तो हो गई है, पर वह अधिक बोझीली बन गई है। शब्दों और वाक्यों का 'विलास' होने पर भी वह भावों के रस से खाली दिखाई पड़ती है, परिणाम स्वरूप वह हृदय के ऊपर अपना प्रभाव नहीं डालती। निम्नांकित पंक्तियों में वाग्विलास से युक्त उनकी गद्य काव्यात्मक शैली का स्वरू

देखिए—'मुक्ताहारी नीर-क्षीर-विचार-सुचतुर-कवि-कोविद राज राजहित्य-सिंहासन निवासिनी मेदहासिनी, त्रिलोक-प्रकाशिनी, सरस्वती माता के अति दुलारे, प्राणों से प्यारे पुत्रों की अनुपम अनोखी अतुल बलवाली परम प्रभाव शाली सुजन मनमोहिनी रव-रसभरी सरस सुखद विचित्र-वचन रचना का नाम ही साहित्य है।

शैली की भाँति मिश्रजी की भाषा भी अधिक कवित्व पूर्ण है। कवित्व पूर्ण होने के साथ ही साथ उनकी भाषा अधिक पांडित्य पूर्ण भी है। उन्होंने अपनी भाषा में संस्कृत के तत्सम शब्दों का प्रयोग आवश्यकता से अधिक किया है। दीर्घ समासांत पदावलियों में संस्कृत के तत्सम शब्दों के प्रयोग की अधिकता ने उनकी भाषा को भार युक्त बना दिया है। उनकी यह भाषा ऐसी ज्ञात होती है, मानों कोई कठिन और दुर्बोध शब्दों का हथौड़ा, शीघ्र-अति शीघ्र हृदय पर चला रहा हो। उन्होंने संस्कृत के तत्सम शब्दों के बीच-बीच में तद्भव शब्दों का भी प्रयोग किया है। जैसे—राह, पहुँच, और बूँद इत्यादि। इससे उनकी भाषा में शिथिलता उत्पन्न हो गई है। अनुप्रासिक शब्दों की अधिकता के कारण उनकी भाषा सुनने में मधुर अवश्य ज्ञात होती है, पर हृदय पर उसका प्रभाव बिलकुल नहीं पड़ता, और इसका एक मात्र कारण यही है, कि उनके शब्द अव्यावहारिक और अधिक दुर्बोध हैं।

बाबू श्यामसुन्दरदासजी का जन्म संवत् १९३२ में हुआ था। वे हिन्दी के सुप्रसिद्ध गद्यकार थे। उनका सम्पूर्ण जीवन हिन्दी साहित्य की सेवा में ही व्यतीत हुआ है। वे जब तक जीवित रहे, बराबर हिन्दी साहित्य की अर्चना में लगे रहे। एक ग्रन्थकार के रूप में उन्होंने कई महत्त्व पूर्ण ग्रन्थ लिख कर हिन्दी-साहित्य की अमूल्य सेवा तो की ही है, साथ ही हिन्दी के प्रचार में भी उनके द्वारा अधिक योग प्राप्त हुआ है।

बाबू श्यामसुन्दरदास और उनकी साहित्य साधना

स्वर्गीय श्यामसुन्दरदासजी द्विवेदी युग के अन्यतम विभूति थे। द्विवेदीजी ने हिन्दी के निर्माण और प्रचार के लिए, जो शक्ति जाग्रत की थी; उसी के परिणाम स्वरूप स्वर्गीय श्यामसुन्दरदासजी का आविर्भाव हुआ। श्यामसुन्दरदासजी का समय हिन्दी साहित्य के निर्माण और प्रचार का समय था। ब्रजभाषा मृत प्राय हो चुकी थी, और उसके स्थान पर खड़ी बोली अपना आधिपत्य स्थापित कर रही थी। कविता, कहानी, नाटक, उपन्यास, और निबन्ध प्रत्येक क्षेत्रों में खड़ी बोली के विकास के क्षेत्र की ओर अग्रसर हो रही थी। द्विवेदीजी उसका नेतृत्त्व कर रहे थे। द्विवेदीजी के नेतृत्त्व में कई ऐसे सुयोग्य और उद्भट गद्यकार थे, जो खड़ी बोली के विकास और उसकी उन्नति में योग प्रदान कर रहे थे। उन लेखकों में बाबू श्यामसुन्दरदासजी का स्थान अधिक महत्त्व पूर्ण, और श्लाघ्य था। द्विवेदीजी जिस खड़ी बोली के झण्डे को लेकर आगे बढ़ रहे थे, उसकी उन्नति और मर्यादा के स्थापन में बाबू श्यामसुन्दरदासजी से अधिक योग प्राप्त हो रहा था। द्विवेदीजी बाबू श्याम-

सुन्दरदासजी की सेवाओं, और उनके कार्यों के स्वयं अधिक प्रशंसक थे। उनकी प्रशंसा उन्हीं की लिखी हुई निम्नांकित पंक्तियों में साफ-साफ दिखाई पड़ती है—'मातृभाषा के प्रचारक, विमल बी० ए० पास। सौम्य शील निधान, बाबू श्यामसुन्दरदास, बाबू श्यामसुन्दर हिन्दी के कर्मठ और अनन्य सेवी थे। उन्होंने अपनी सेवाओं के महत्त्व पूर्ण फलों से साहित्य के भंडार को बड़ी गुरुता के साथ भरा है। उन्होंने अपनी सेवाओं के परिणाम स्वरूप हिन्दी-जगत को जो फल प्रदान किये हैं, वे अधिक महत्त्व पूर्ण होने के साथ ही साथ अमूल्य भी हैं। उनकी सेवाओं को हम दो रूपों में विभक्त कर सकते हैं—प्रचारक के रूप में, और साहित्यिक के रूप में। प्रचारक के रूप में उन्होंने जो सबसे अधिक महत्त्व पूर्ण कार्य किया है, वह है काशी नागरी प्रचारिणी सभा का स्थापन। काशी नागरी प्रचारिणी सभा के स्थापन में में बाबू श्यामसुन्दरदासजी का अधिक हाथ रहा है। काशी नागरी प्रचारिणी सभा के द्वारा हिन्दी के प्रचार और साहित्य निर्माण का जो महत्त्व पूर्ण कार्य हुआ है, वह बाबू श्यामसुन्दरदासजी की ही प्रेरणा का परिणाम है। बाबू श्यामसुन्दरदासजी ने सभा के द्वारा प्राचीन पुस्तकों की खोज की, निर्माण के कार्य को आगे बढ़ाया, और शब्द-सागर तथा वैज्ञानिक कोश की भी रचना की है। उन्हीं के प्रोत्साहन से प्राचीन कवियों और उनके ग्रन्थों पर भी प्रकाश डाला गया। इतना ही नहीं, इतिहास, राजनीति, और पुरातत्त्व इत्यादि विषयों के क्षेत्र में भी कार्य किया गया। इस प्रकार बाबू श्यामसुन्दरदासजी ने हिन्दी साहित्य के क्षेत्र को विस्तृत बनाने का श्रेयस्कर प्रयत्न किया, और इस प्रयत्न के द्वारा उन्होंने हिन्दी खड़ी बोली की उस वैज्ञानिक शक्ति की घोषणा की, जो उसके भीतर छिपी हुई थी।

बाबू श्यामसुन्दरदासजी की द्वितीय वर्ग की सेवा उनकी साहित्यिक सेवा है। एक ओर उन्होंने हिन्दी खड़ी बोली का प्रचार किया है, और दूसरी ओर उन्होंने साहित्य का निर्माण किया है। बाबू श्यामसुन्दरदासजी ही हिन्दी के ऐसे प्रथम लेखक हैं, जिन्होंने 'भाषा विज्ञान' और तुलनात्मक आलोचना के क्षेत्र में महत्त्व पूर्ण प्रयास किया। बाबू श्यामसुन्दरदासजी के पूर्व उन विषयों पर ऐसी पुस्तकों का अभाव था, जिनका गम्भीरता के साथ अध्ययन और मनन किया जा सकता हो। बाबू श्यामसुन्दरदास ने 'भाषा विज्ञान' और 'साहित्यालोचन' की रचना करके हिन्दी साहित्य को महत्त्व पूर्ण कृतियाँ तो प्रदान की ही, साथ ही उन्होंने इन विषयों पर ग्रन्थ रचना करने की लोगों में प्रवृत्ति भी उत्पन्न की। यद्यपि उनकी इन दोनों पुस्तकों पर अँगरेजी की छाया अधिक है, पर इसमें संदेह नहीं, कि इनका प्रकाशन जिस समय हुआ था, उस समय इनकी कोटि की हिन्दी-साहित्य में और कोई पुस्तक नहीं थी। भाषा विज्ञान, और तुलनात्मक आलोचना के क्षेत्र में बाबू श्यामसुन्दरदासजी की की इन पुस्तकों से लोगों को अधिक सहायता प्राप्त हुई। इसके पश्चात् बाबू श्यामसुन्दरदासजी ने और भी कई आलोचनात्मक ग्रंथों की रचना की, जिनमें हिन्दी भाषा और साहित्य का इतिहास, अधिक महत्त्व पूर्ण है। उन्होंने साहित्य के

भिन्न भिन्न अंगों पर भी प्रकाश डाला है, विभिन्न विषयों पर भाव पूर्ण निबन्धों की भी रचना की है।

बाबू श्यामसुन्दरदास अध्ययन प्रिय विद्वान थे। उन्होंने हिन्दी, और अँगरेजी, साहित्य का मंथन किया था। उन्होंने साहित्य के उन अंगों पर प्रकाश डालने

बाबू श्यामसुन्दरदासजी की शैली

का महत्व पुर्ण प्रयत्न किया है, जिनकी ओर अभी तक किसी का ध्यान आकृष्ट नहीं हुआ था। उनकी प्रकृति में अनुसंधान और विचारों का तत्त्व अधिक था। वे सदैव हिन्दी साहित्य के अभावों को दूर करने के लिए विचार पूर्ण अनुसंधान किया करते थे। यही कारण है, कि उनके व्यक्तित्त्व में गम्भीरता और विचार निष्ठता है। उनके व्यक्तित्त्व की छाप उनकी शैली और भाषा पर भी स्पष्ट रूप से दिखाई पड़ती है। जिस प्रकार उनके विषय विचार पुर्ण और गहन हैं, उसी प्रकार उनकी शैली भी विचार पूर्ण और अधिक गहन है। पर उनकी शैली विचार पूर्ण और गहन होने पर भी अधिक सरल, और पष्ट है। उन्होंने एक कुशल, और अनुभवी अध्यापक की भाँति ही अपनी शैली को स्पष्ट और हृदय ग्राह्य बनाने का प्रयत्न किया है उन्होंने गहन और गम्भीर विषयों का चित्र भी सरल से सरल ढङ्ग से अङ्कित करने का प्रयास किया है। उनकी शैली में कहीं भी अव्यावहारिक शब्दों से युक्त समासांत पदावलियों का प्रयोग नहीं पाया जाता। इसके विपरीत उन्होंने सर्वत्र छोटे छोटे-और संयत वाक्यों में अपने विचारों को सुस्पष्ट करने का प्रयत्न किया है। विषय को सुस्पष्ट करने के लिए उन्होंने अपनी बात को बार बार दुहराया भी है। शब्दों के प्रयोग में उन्होंने अधिक सावधानी से काम लिया है। उनके शब्द आवश्यकतानुसार ही प्रयुक्त हुए हैं। उनकी शैली में कहीं भी ऐसे शब्द नहीं मिलते जो अनुपयुक्त जान पड़ते हों। उनके शब्द भावों के चित्र भी उपस्थित करने में बड़े कुशल हैं। उनके शब्दों में परस्पर अधिक मैत्री, और पारस्परिक सहयोग भी है। कहावतों और मुहाविरों का प्रयोग उनकी शैली में कहीं नहीं मिलता, विरामादि चिह्नों का प्रयोग भी उनकी शैली में बहुत कम मिलता है।

बाबू श्यामसुन्दरदासजी की शैली को हम दो रूपों में विभक्त कर सकते हैं—विचारात्मक, और गवेषणात्मक। विचारात्मक शैली में उनके वे निबन्ध आते हैं, जिनमें उन्होंने कठिन विषय को स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है। जैसे—'भाषा-विज्ञान' इत्यादि। उनकी यह शैली संस्कृत के तत्सम शब्दों से युक्त है। शब्दों का प्रयोग विचारों के ही अनुसार हुआ है। विचारों की गूढ़ता के कारण कहीं-कहीं शब्द कठिन हो गए हैं। वाक्यों का गठन भी आवश्यकता के ही अनुसार हुआ है। यों तो वाक्य अधिकतर छोटे छोटे ही हैं, पर आवश्यकता के अनुसार कहीं-कहीं बड़े बड़े भी हो गए हैं। वाक्य भाव पूर्ण और सुगठित हैं। निम्नांकित पंक्तियों में इस शैली का शुद्ध स्वरूप देखा जा सकता है—'भाषा का समाज की उन्नति के साथ बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध है। यहाँ तक, कि एक के बिना दूसरे का अस्तित्त्व ही संभव

नहीं। पर यही उनके सम्बन्ध के साफल्य की इतिश्री भी नहीं होती। दोनों साथ ही साथ चलते हैं। समाज की उन्नति के साथ भाषा की उन्नति, और भाषा की उन्नति के साथ समाज की उन्नति होती ही रहती है।'

बाबू श्यामसुन्दरदासजी की दूसरी शैली गवेषणात्मक शैली है। इस शैली में उनके गवेषणा संबंधी निबन्ध आते हैं। इस शैली की भाषा विषय के ही अनुरूप है। विषय को स्पष्ट करने के लिए उन्होंने अपनी इस शैली में सरल से सरल शब्दों का आश्रय ग्रहण किया है। इसमें वाक्य भी अधिक छोटे-छोटे, और सरल हैं। यद्यपि विषय के अनुरूप इस शैली में शुष्कता का सञ्चार हो गया है, पर फिर भी यह कहा जा सकता है, कि यह शैली अधिक हृदय ग्राह्य है, इस शैली के निबन्धों की रचना उन्होंने विद्यार्थियों, और ज्ञान-पिपासुओं के लिए की है। यह कहते भी बिलकुल झिझक नहीं मालूम होती, कि उन्होंने इस शैली का निर्माण अपने उद्देश्य के अधिक निकट से किया है। निम्नांकित पंक्तियों में उनकी गवेषणात्मक शैली का सुन्दर स्वरूप देखिए—'सारांश यह, कि एक ही उद्गम से निकल कर एक ही नहीं अनेक रूप धारण करती है, और कहीं पीन काय, तथा कहीं क्षीण काय होकर प्रवाहित होती है, और जैसे कभी कभी जल की धारा अलग होकर सदा अलग ही बनी रहती है, और अनेक भू-भागों से होकर बहती है, वैसे ही 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' भी प्रारम्भिक अवस्था से लेकर अनेक धाराओं के रूप में प्रवाहित हो रहा है।'

शैली की भाँति ही बाबू श्यामसुन्दरदासजी की भाषा भी अधिक गम्भीर है।

बाबू श्यामसुन्दरदासजी की भाषा

है। बाबू श्यामसुन्दरदासजी ने अधिकतर ऐसे ही विषयों पर निबन्धों की रचना की ही है, जो अधिक विचार पूर्ण और गम्भीर है। अतः विषय की गम्भीरता, और चिन्तनमयता के कारण उनकी भाषा भी अधिक गंभीर और विचार पूर्ण हो गई है। इस रूप में हम यह कह सकते हैं, कि उनकी भाषा उनके विषय और विचारों के अनुकूल है। उन्होंने अपने विषय और विचारों के प्रतिपादन के लिए संस्कृत के तत्सम शब्दों का आश्रय ग्रहण किया है; परिणाम स्वरूप उनकी भाषा में संस्कृत के तत्सम शब्दों की बहुलता है। विषय की गम्भीरता को देखते हुए हम यह भी कह सकते हैं, कि उन्होंने संस्कृत के तत्सम शब्दों का आश्रय ग्रहण करके उचित किया है। संस्कृत के तत्सम शब्दों को ग्रहण करने में उन्होंने भावों और विचारों को प्रमुखता प्रदान की है। यही कारण है, कि संस्कृत के शब्दों की बहुलता होने पर भी उनकी भाषा में दुबोधता नहीं दिखाई पड़ती। उन्होंने अपनी भाषा में संस्कृत के तत्सम शब्दों के साथ अत्र-तत्र तद्भव के रूप में विदेशी शब्दों का भी प्रयोग किया है। उनकी भाषा में अत्र-तत्र उर्दू के शब्द भी तद्भव के रूप में प्रयुक्त हुए हैं। जैसे—कलम, कानून, और कायदे इत्यादि। हिन्दी में प्रयुक्त करने पर उन्होंने उर्दू के शब्दों की बिन्दी उड़ाई है, इस प्रकार हम यह कह सकते हैं, कि उन्होंने विदेशी शब्दों का

प्रयोग अपने अनुशासन में रख कर किया है। केवल विदेशी शब्दों पर ही नहीं, संस्कृत के तत्सम शब्दों पर भी उनका अपना अनुशासन है। उन्होंने संस्कृत के 'कार्य्य', और 'सौन्दर्य' इत्यादि शब्दों का प्रयोग अपने अनुशासन में 'कार्य' और सौन्दर्य' के रूप में किया है। इसी प्रकार उन्होंने 'अंजन' और 'सम्पत्ति' इत्यादि शब्दों के पञ्चम वर्ण को हटा कर अनुस्वार से युक्त करके प्रयुक्त किया है। शब्दों के प्रयोग में उनका मुख्य रूप से ध्यान भावों और विचारों की स्पष्टता की ओर केंद्रित रहा है। उन्होंने यथाशक्ति इसी बात को लक्ष्य करके शब्दों का चुनाव किया है, और वाक्यों के निर्माण में भी इसी बात को विशेष महत्त्व दिया है। उन्होंने यथाशक्ति अपनी भाषा को अन्यावहारिक और लंबे समासांत पदावलियों से बचाने का प्रयत्न किया है। इस रूप में हम यह कह सकते हैं, कि उन्होंने भाषा के निर्माण, और उसके गठन में एक महत्त्व पूर्ण साधना की है। उनकी साधना ही उनकी रचनाओं में भाषा की सुष्ठता के रूप में प्रगट हुई है।

गुरेरीजी और उनकी साधना

पं० चन्द्रधर शर्मा गुलेरी का जन्म सम्वत् १९४० में हुआ है था। गुलेरीजी संस्कृत के बहुत बड़े विद्वान थे। संस्कृत के अतिरिक्त अँगरेजी, पाली, बँगला, और मराठी इत्यादि भाषाओं पर उनका आधिपत्य था, उन्होंने प्राचीन साहित्य का अध्ययन बड़ी गंभीरता के साथ किया था। साहित्य के अतिरिक्त भाषा तत्त्व, दर्शन और पुरातत्त्व इत्यादि विषयों के वे अच्छे ज्ञाता थे। उनकी रचनाओं पर उनके इस गंभीर ज्ञान और पांडित्य की स्पष्ट रूप से झलक दिखाई पड़ती है। गुलेरीजी हिन्दी के अनन्य भक्त और आराधक थे। उन्होंने तीन रूपों में हिन्दी साहित्य की बहुमूल्य सेवा की है—संपादक के रूप में, निबन्धकार के रूप में और कहानीकार के रूप में। गुलेरीजी कई वर्षों तक, जयपुर से प्रकाशित होने वाले 'समालोचक' के संपादक रहे हैं। 'समालोचक' समालोचना संबन्धी पत्र था, जिसमें साहित्य, समालोचना, काव्य, और नाटक इत्यादि विषयों पर गंभीर और विद्वत्ता पूर्ण निबन्ध प्रकाशित हुआ करते थे। समालोचक के प्रत्येक निबन्ध पर गुलेरीजी की विद्वत्ता, और उनकी अध्ययन गम्भीरता की छाप रहती थी। उनके संपादकत्व में 'समालोचक' ने विद्वानों के निकट अच्छी ख्याति प्राप्त की थी। गुलेरीजी स्वयं भी समालोचक निबन्ध लिखा करते थे। उनके निबन्धों का विषय समालोचना, इतिहास, साहित्य, समाज सुधार, और सामयिक साहित्य इत्यादि होता था। वे जिस किसी भी विषय पर निबन्ध लिखते थे, उस पर अपनी विद्वत्ता की छाप लगा देते थे। उनके निबन्ध अधिक विचार पूर्ण और गंभीर हुआ करते थे। विवेचन, और विश्लेषण के तत्त्वों की उनके निबन्धों में प्रचुरता हुआ करती थी। विषय का प्रतिपादन वे बड़ी क्षमता, और प्रगल्यता के साथ किया करते थे। संस्कृत के प्रकांड पण्डित होने के कारण उनके निबन्धों की भाषा भी प्रायः संस्कृत गर्भित हुआ करती थी।

गुलेरीजी कहानीकार भी थे। कहानीकार के रूप में उनका हिन्दी साहित्य में

अमिट स्थान बन गया है। उनकी केवल तीन ही कहानियाँ मिलती हैं—उसने कहा था, सुखमय जीवन, और बुद्धू का काँटा। 'उसने कहा था' उनकी सर्वश्रेष्ठ कहानी है। हिन्दी के कहानी साहित्य में उनकी इस कहानी का सर्वोपरि स्थान है। उनकी इस अकेली कहानी ने ही हिन्दी के कहानीकारों में उन्हें सर्वश्रेष्ठ स्थान दिला दिया है। इस कहानी में उन्होंने मानव के आदर्श और त्याग पूर्ण चरित्र का हृदयहारी चित्र अंकित किया है। 'सुखमय जीवन' और 'बुद्धू का काँटा' भी उनकी सुन्दर कहानियाँ हैं, जो जीवन की विभिन्न स्थितियों के चित्रों को सामने उपस्थित करती हैं।

गुलेरीजी की शैली

गुलेरीजी संस्कृत, अँगरेजी, और उर्दू इत्यादि भाषाओं के अच्छे ज्ञाता थे। संस्कृत के तो वे प्रकांड पण्डित थे। उनकी रचनाओं पर स्पष्टतः उनके पांडित्य की छाप है। उनकी जो रचनाएँ हमारे सामने हैं, उन्हें दृष्टि में रखते हुए हम उनकी शैली को दो वर्गों में विभक्त कर सकते हैं—गंभीर शैली, और परिचयात्मम शैली। गंभीर शैली में उनकी वे रचनाएँ आती हैं, जिनमें गंभीर विषयों का प्रतिपादन हुआ है। इस शैली पर गुलेरी जी के पांडित्य पूर्ण व्यक्तित्व की छाप है। उनके व्यक्तित्व के अनुकूल ही यह शैली संस्कृत के तत्सम शब्दों से युक्त है। कहीं-कहीं इस शैली में अव्यावहारिक शब्द भी मिलते हैं। वाक्यों का विस्तार भी इस शैली में देखने को मिलता है। तत्सम शब्दों की बहुलता और अर्थ गंभीरता के कारण उनकी यह शैली, साधारण पाठकों के लिए दुर्बोध अवश्य हो गई है, पर उसका सौष्ठव और प्रवाह नष्ट नहीं हुआ है। यही इस शैली की विशेषता है। उनकी इस शैली को हम 'आलोचनात्मक' शैली भी कह सकते हैं।

गुलेरीजी की दूसरी शैली वह है, जिसे हम परिचयात्मक शैली कहते हैं। इस शैली में उनकी वे रचनाएँ हैं, जिनमें सामायिक विषयों का चित्रण हुआ है। उनके सामायिक विषयों में आलोचना, साहित्य, और समाज सुधार इत्यादि सभी विषय हैं। इन विषयों का चित्रण गुलेरीजी ने उनके अनुरूप ही किया है। उन्होंने व्यावहारिकता की पृष्ठभूमि पर खड़े हो करके ही इन विषयों का चित्र खींचा है। यही कारण है, कि उनकी यह शैली अधिक व्यावहारिक है। व्यवहारिक होने के साथ ही साथ वह अधिक सरल और स्वाभाविक भी है। उसमें एक प्रकार की चुलबुलाहट और चलतापन भी पाया जाता है। स्थान-स्थान पर व्यंग्य, विनोद, और हास्य की झड़ी भी मिलती है। लोकोक्तियों और मुहाविरों का प्रयोग भी इस शैली में हुआ है। शब्दों के सङ्गठन और चुनाव में व्यावहारिकता को महत्व दिया गया है। न तो संस्कृत के तत्सम शब्दों की अधिकता है, और न उर्दू के चलताऊ शब्दों का बहिष्कार ही किया गया है। वाक्यों के संगठन में कुशलता दिखाई पड़ती है। वाक्य छोटे-छोटे और अधिक भाव व्यंजक हैं। निम्नांकित पंक्तियों से उनकी इस शैली का अनुमान लगाया जा सकता है—हम तो शिवदासजी गुप्त की इस खोज की प्रशंसा में मग्न हैं। क्या

ात है ! क्या बढ़ के बात निकली है। इधर हमारे हँसोड़ मित्र कह रहे हैं, कि जाल हंस बाल हंस कोई नहीं है, रोमन लिपि का चमत्कार है, और संस्कृत साहित्य न जानने वालों की अँगरेजी या बँगला सूँघकर 'गवेषणा पूर्ण' लेख लिखने की लालसा पूर्ण करके पाँचवे सवार बनने की धुन का परिहास मात्र दुष्परिणाम हैं।

शैली की भाँति गुलेरीजी की भाषा भी दो प्रकार की है। एक प्रकार की उनकी भाषा वह है, जिसमें उन्होंने गंभीर विषयक निबंधों की रचना की है। उनकी यह

गुरेलीजी की भाषा

भाषा संस्कृत बहुला है। इस भाषा में संस्कृत के ऐसे भी शब्दों का भी प्रयोग मिलता है, जिन्हें हम अव्यावहारिक कह सकते हैं। उनकी इस भाषा पर पंडिताऊपन का भी प्रभाव है। उन्होंने इस भाषा में कई स्थानों पर ऐसी क्रिया-पदों का प्रयोग किया है। जिनसे प्रांतीयता, और पंडिताऊपन की झलक मिलती है। जैसे-'चाहें कहेंगे सुनावेंगे और निस्हाया इत्यादि। उनके इन प्रयोगों का प्रभाव स्पष्ट रूप से भाषा के प्रभाव पर पड़ा है। जहाँ इस प्रकार के प्रयोगों की अधिकता है, वहाँ भाषा का प्रभाव मन्द पड़ गया है। गुलेरीजी की भाषा का दूसरा स्वरूप वह है, जिसमें सामयिक विषयों का प्रतिपादन हुआ है। उनकी यह भाषा अधिक व्यावहारिक और चलती हुई है। इसमें संस्कृत के व्यावहारिक शब्दों के साथ ही साथ उर्दू के व्यावहारिक शब्द भी मिलते हैं। कहीं-कहीं अँगरेजी के व्यावहारिक शब्द भी उसमें प्रयुक्त हुए हैं। जैसे—मेंबर, पालिश, और पब्लिक इत्यादि। कहीं-कहीं उन्होंने अँगरेजी के ऐसे शब्दों का प्रयोग किया है, जो अव्यावहारिक हैं। जहाँ कहीं ऐसे शब्द प्रयुक्त हुए हैं, वहाँ भाषा के प्रवाह में वेदना उत्पन्न हो गई है। ऐसे स्थलों को छोड़ कर उनकी यह भाषा सर्वत्र अधिक रोचक, और आकर्षक है। व्यावहारिकता और स्वाभाविकता उनकी इस भाषा की मुख्य विशेषताएँ हैं।

सरदार पूर्णसिंहजी का जन्म संवत् १९३८ में सीमा प्रांत के ऐबटाबाद नामक जिले के एक गाँव में हुआ था। सरदार साहब अँगरेजी और हिन्दी के विशेष विद्वान

पूर्णसिंह की साहित्य साधना

थे। भारतीय संस्कृति के प्रति उनके हृदय में अधिक अनुराग था। स्वामी रामतीर्थ के सिद्धांतों के प्रति उनके हृदय में अटल अनुराग था। उन्होंने एक स्थान पर स्वामी रामतीर्थ के सिद्धांतों के प्रति अपना अनुराग प्रगट करते हुए लिखा है - इसी समय जापान में एक भारतीय सन्त से, जो भारतवर्ष से आया था, मेरी भेंट हो गई। उन्होंने मुझे ईश्वरीय ज्योति से स्पर्श किया, और मैं संन्यासी हो गया। मगर मैं देखता हूँ, कि उन्होंने मेरे हृदय में अनेक भाव जिनके लिए भारत के आधुनिक साधु अधिक व्यग्र हैं, भर दिए जैसे राष्ट्र का निर्माण भारत की महत्ता को जाग्रत करना और कई में निरत रहना। यद्यपि मैं जीवन की व्यर्थ की बातों में आकर्षित नहीं होता था, तथापि जिसने मुझे आत्म-ज्ञान की इतनी बातें बताई थीं, उनकी आज्ञा शिरोधार्य करके मैं अपनी रसायन की पुस्तकें फेंक फाँक कर भारत चला आया। 'सरदार साहब' ने जापान आदि देशों

की यात्रा की थी। उन्होंने कई संस्थाओं में भी काम किया था। उन्होंने राष्ट्र प्रेमियों के साथ मिल कर राष्ट्र के चरणों में अपनी भक्ति और सेवाएँ भी अर्पित की थी। इस प्रकार उनके जीवन में एक बड़ा अनुभव था। उन्होंने परिस्थितियों के द्वंदों और संघर्षों के बीच में रहकर जीवन का वास्तविक ज्ञान प्राप्त किया था। उनके निबंधों में उनके अनुभव, और ज्ञान की पूर्ण झलक दिखाई पड़ती है। उन्होंने कुल पाँच निबंधों की रचना की है। उनके निबंधों के नाम इस प्रकार हैं—कथा भाव या मयनों की गंगा, पवित्रता, आचरण की सभ्यता, मजदूरी, और प्रेम सच्ची वीरत। उनके इन पाँच निबंधों ने ही उन्हें हिन्दी साहित्य में अमर कर दिया है। उनके पाँचों ही निबंध अधिक भाव पूर्ण और अधिक प्रभावोत्पादक है। उनके निबंधों को हम दो वर्गों में विभक्त कर सकते हैं—भाव प्रधान, और विचार प्रधान। भाव प्रधान निबंधों में भावों की प्रधानता है। जैसे—सच्ची वीरता। विचार प्रधान निबंधों में विचारों और तर्कों का अधिक समावेश मिलता है। जैसे—मजदूरी और प्रेम। उनके दोनों ही प्रकार के निबंध निबंध-कला के अधिक उत्कृष्ट है। विचारों की प्रौढ़ता, और भावों की प्रवणता, विशेष रूप से उनके निबंधों में मिलती है।

सरदारजी के निबन्धों में दो प्रकार की शैली पाई जाती है—वर्णनात्मक और विचारात्मक। वर्णनात्मक शैली में उनके वे निबंध आते हैं, जो भाव प्रधान हैं।

पूर्णसिंहजी की शैली — उन्होंने अपनी इस शैली को सरलता के साँचे में ढाला है, शैली को सरल बनाने के उद्देश्य से उसमें उन्होंने ऐसे शब्दों का प्रयोग किया है, जो अधिक सरल और सुबोध हैं। वाक्य भी इस शैली में बहुत छोटे-छोटे और स्पष्ट है। प्रवाह भी उनकी इस शैली में विशेष रूप से पाया जाता है। उनकी दूसरे शैली में, जिसे विचारात्मक शैली कहते हैं, उन निबंधों की गणना की जाती है, जो विचार या तर्क प्रधान है। उनकी यह शैली पहले की अपेक्षा अधिक गम्भीर और क्लिष्ट है, दूसरे शब्दों में उनकी इस शैली में पहले की सरलता और सुबोधता बिलुप्त सी हो गई है। इसमें संस्कृत के तत्सम शब्दों की प्रचुरता मिलती है। इसमें वाक्यों का विस्तार भी अधिक हुआ है। कहीं-कहीं वाक्य आवश्यकता से अधिक लम्बे हो गए हैं। प्रवाह भी इस शैली में बहुत कम मिलता है। वाक्यों के विस्तार और भाषा की दुरूहता के कारण कहीं-कहीं प्रवाह बिलकुल क्षीण सा हो गया है, जिससे शैली में शिथिलता उत्पन्न हो गई है। इस शैली में जहाँ वे भावावेश में आए हैं, वहाँ उसका सुन्दर, शिष्ट और ओजमय स्वरूप देखने को मिलता है।

सरदारजी की शैली में मुख्य रूप से तीन विशेषताएँ हैं। उनकी शैली की प्रथम विशेषता तो यह है, कि वह अधिक आकर्षक, और काव्यमय है। उन्होंने अपनी शैली को आकर्षक बनाने के लिए एक साधारण वाक्य लिख कर, उसी के समान कई वाक्य प्रस्तुत कर दिए हैं। इससे उनकी शैली अधिक आकर्षक और काव्यमय

बन गई है। उनकी शैली की दूसरी विशेषता है, भावों की रहस्यात्मक ढङ्ग से अभिव्यंजना। उन्होंने इसके लिए शब्दों के चुनाव में कुशलता प्रदर्शित की है। भावों को रहस्यात्मक ढंग से प्रगट करने के लिए उन्होंने लाक्षणिक शब्दों का आश्रय ग्रहण किया है। लाक्षणिक शब्दों के प्रयोग के कारण ही उनकी शैली में अधिक आकर्षण और प्रवाह उत्पन्न हो गया है। सरदार साहेब की शैली की तीसरी विशेषता है, उसकी व्यंगमयता। उन्होंने अपनी शैली स्थान-स्थान पर ऐसे वाक्यों का प्रयोग किया है, जो व्यङ्ग पूर्ण हैं। व्यंगमयता के कारण भी उनकी शैली भी अधिक रोचक और आकर्षक प्रतीत होती है। सरदार साहब की शैली की व्यंग्यमयता निम्नांकित पंक्तियों में देखिए—यह वह आम का पेड़ नहीं है, जिसको मदारी एक क्षण में तुम्हारी आँखों में धूल झोंक कर अपनी हथेली पर जमा दे।

शैली की भाँति ही सरदार साहब की भाषा भी दो प्रकार की है—एक साधारण, और दूसरी कठिन। वर्णात्मक निबंधों में साधारण भाषा मिलती है।

पूर्णसिंहजी की भाषा

उनकी साधारण भाषा में संस्कृत के व्यावहारिक तत्सम शब्दों के साथ-साथ उर्दू, और अँगरेजी के चलते हुए शब्द भी प्रयुक्त हुए हैं। उर्दू और अंगरेजी के शब्दों के प्रयोग में उन्होंने सावधानी से काम लिया है, उर्दू के ऐसे ही शब्दों को उन्होंने ग्रहण किया है, जो अधिक प्रचलित हैं, और जो संस्कृत के तत्सम शब्दों के साथ मिलकर भाषा के सौन्दर्य और प्रवाह को बढ़ाने में सहायक होते हैं। उनकी भाषा का दूसरा स्वरूप जिसे कठिन भाषा कहते हैं, उनके विचार पूर्ण निबन्धों में मिलती है। यह भाषा अधिक गम्भीर और कठिन है। इसमें संस्कृत के तत्सम शब्द प्रचुर परिणाम में मिलते हैं। भाषा के दोनों ही स्वरूपों पर सरदारजी का अधिपत्य है। उनकी दोनों ही प्रकार की भाषा अधिक प्रौढ़ और परमार्जित है। उन्होंने अत्र-तत्र अपनी भाषा में लोकोक्तियों और मुहाविरों का भी प्रयोग किया है।

शर्माजी की साहित्य साधना

पद्मसिंह शर्मा का जन्म सम्वत् १९३३ में बिजनौर जिले के नगवा नामक गाँव में हुआ था। द्विवेदी युग के गद्यकारों में शर्माजी का महत्वपूर्ण स्थान है। शर्माजी संस्कृत और उर्दू इत्यादि भाषाओं के पंडित थे। उनमें अध्ययन और मनन की तीव्र प्रवृत्ति थी। वे किसी भी विषय का अध्ययन बड़ी गम्भीरता और तन्मयता के साथ करते थे। अध्ययन में साहित्य उनका मुख्य विषय था। साहित्य के अंतर्गत तुलनात्मक आलोचना उन्हें अधिक प्रिय थी। सामयिक राजनीति और सामाजिक विषयों की ओर भी उनकी अभिरुचि थी। वैदिक सभ्यता और उसके सिद्धांतों के प्रति वे अधिक आस्थालु थे।

शर्माजी की रचनाओं पर उनके व्यक्तित्व की छाप है। उनकी जो रचनाएँ हमारे सामने हैं, उन्हें देखते हुए हम उनकी साहित्यिक साधना को तीन वर्गों में विभक्त कर सकते हैं—टीकाकार, आलोचक, और निबन्धकार। टीकाकार के रूप में उन्होंने 'बिहारी सतसई' की टीका की है। शर्माजी बिहारी के अनन्य भक्त थे।

बिहारी के दोहों का उन्होंने गम्भीरता के साथ अध्ययन किया था। आलोचक के रूप में उन्होंने बिहारी सतसई की गाथा 'सप्तशती' और 'आर्य सप्तशती' से तुलनात्मक आलोचना की है। उर्दू के शृंगारिक कवियों से भी उन्होंने बिहारी की तुलनात्मक आलोचना है। आलोचना करते हुए उन्होंने बिहारी की हृदय खोल कर प्रशंसा की है। बिहारी की प्रशंसा करते हुए उन्होंने न्याय की उपेक्षा की है। शर्माजी की आलोचना पद्धति अपनी निराली पद्धति है, जो सैकड़ों हजारों के बीच में सरलता के साथ पहचानी जा सकती है। उनकी आलोचना पद्धति पर उर्दू की छाप है। उर्दू की छाप होने के कारण उसमें गम्भीरता का अभाव, और चलतापन की अधिकता देखने को मिलती है। आलोचना की अपेक्षा निबन्ध के क्षेत्र में शर्माजी को अधिक सफलता प्राप्त हुई है। शर्माजी के निबन्धों के तीन संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं—प्रबन्ध मंजरी, पद्मपराग, और हिन्दी उर्दू हिन्दुस्तानी। इन तीनों ही संग्रहों में मुख्य रूप से साहित्य और आलोचना पर निबंध लिखे गए हैं। इनके निबन्धों और मनन शीलता की छाप है। इनकी भाषा भी अधिक परिमार्जित प्रौढ़ और सुसंस्कृत है। 'हिन्दी उर्दू और हिन्दुस्तानी' में उनके भाषणों का संग्रह है।

शर्माजी की शैली

शर्माजी हिन्दी, उर्दू और संस्कृत के विद्वान थे। उर्दू का अध्ययन उन्होंने अधिक गम्भीरता के साथ किया था। उर्दू के साथ उनकी अधिक जान-पहचान थी। यद्यपि वे हिन्दी के अनन्य भक्त थे। पर यह कहने में तनिक भी संकोच नहीं किया जा सकता, कि उन पर उर्दू का रंग था। उर्दू, में जो चुलबुलाहट और हल्कापन है। वह स्पष्ट रूप में उनकी भाषा, और शैली पर दिखाई पड़ता है। उनकी शैली का निरीक्षण करने से यह ज्ञात होता है, कि उन्होंने अपनी शैली पर उर्दू का रंग चढ़ाने के लिए प्रयत्न किया है। शर्माजी हिन्दी साहित्य में अपनी शैली के अकेले गद्यकार हैं। उनकी शैली अधिक सजीव, चलती हुई, और चुटीली है। उन्होंने अपनी शैली में जीते-जागते शब्दों का प्रयोग किया है। उनका प्रत्येक शब्द उछलता और बोलता हुआ दिखाई देता है। शब्दों के चुनाव में उनके सामने उर्दू और हिन्दी का प्रश्न नहीं है। वे हिन्दी की छाप में बैठ कर बड़ी ही स्वतंत्रता के साथ उर्दू के शब्दों का चयन करते हैं, और उन्हें हिन्दी के शब्दों के साथ बिठाते हैं। हिन्दी और उर्दू के शब्दों की मैत्री स्थापित करने में उन्होंने अधिक कुशलता प्रदर्शित की है। उनके शब्द उनमें भावों की ही ओर देखते हैं। उन्होंने अपने शब्दों के भीतर तड़प उत्पन्न करने के लिए अभिधा, लक्षणा और व्यंजना का भी प्रयोग किया है। अभिधा, लक्षणा और व्यंजना की शक्तियों से संयुक्त उनके शब्द बड़ी मार्मिकता के साथ हृदय पर अपना प्रभाव डालते हैं। उनके इन शब्दों से बने हुए वाक्य भी बड़े मार्मिक, और प्रभाव पूर्ण हैं। उनके वाक्यों में सजीवता, मार्मिकता और रोचकता है।

संक्षेप में शर्माजी की शैली के दो रूप मिलते हैं—आलोचना, और वर्णना

त्मक। उनकी आलोचनात्मक शैली में उन निबन्धों की गणना की जाती है, जिनकी रचना आलोचना की पृष्ठभूमि पर हुई है, इस शैली के दो वर्ग हैं। एक वर्ग में उनकी वह आलोचना आती है, जो बिहारी सतसई को लेकर की गई है। इसमें हिन्दी-उर्दू के शब्दों का संयोग बड़ी कुशलता के साथ स्थापित किया गया है। इस पर उर्दू की शैली का पुट है। उर्दू की शैली का पुट होने के कारण इसमें गंभीरता का अभाव, और चलताऊपन की अधिकता है। शैली की दृष्टि में उनकी इस शैली में गंभीरता का अभाव अवश्य है, पर वे तुलनात्मक शैली के हिन्दी में प्रथम कलाकार हैं। सर्व प्रथम उन्हीं की दृष्टि तुलनात्मक आलोचना की ओर आकर्षित हुई थी। उनकी आलोचनात्मक शैली के द्वितीय वर्ग में, वे निबन्ध आते हैं, जो स्फुट हैं, और उनकी पुस्तकों में संग्रहीत हैं। बिहारी सतसई की आलोचना, वाली शैली की अपेक्षा उनकी यह शैली गंभीर, और संयत है। इसमें शब्दों और वाक्यों का सन्तुलन भी देखने को मिलता है। इसकी भाषा भी पूर्व की अपेक्षा अधिक परिवर्तित है।

शर्माजी की दूसरी शैली वर्णनात्मक शैली है। इस शैली का आविर्भाव उनके कुछ ही निबन्धों में हुआ है। उनकी इस शैली पर हास्य और व्यंग्य का पुट भी है। इसमें छोटे-छोटे वाक्य, और भाषा विषय तथा भाव के अनुकूल है।

शैली की भाँति ही शर्माजी की भाषा पर भी उनके व्यक्तित्व का प्रभाव है। शर्माजी उर्दू, फारसी, और हिन्दी तथा संस्कृत के विद्वान थे। उनकी विद्वत्ता के अनुरूप ही उनकी भाषा का रूप भी निर्मित हुआ है। उनकी भाषा के दो रूप मिलते हैं—एक विशुद्ध हिन्दी, और दूसरा उर्दू शब्द-प्रधान हिन्दी। विशुद्ध हिन्दी में संस्कृत के तत्सम शब्दों की प्रधानता है। यह अधिक गंभीर, संयत, और विषय तथा भावानुकूल है। उनके स्फुट आलोचनात्मक निबन्धों में इसी भाषा का प्रयोग हुआ है। उनकी दूसरी भाषा, जिसमें उर्दू के शब्दों की प्रधानता है। बिहारी सतसई की तुलनात्मक आलोचना में मिलती है, इसमें उर्दू के शब्दों की अधिकता है। इसमें उर्दू के अधिकांश ऐसे शब्द मिलते जिन्हें हम 'हल्के' शब्द कह सकते हैं। यद्यपि इस भाग में गंभीरता का अभाव है, पर यह अधिक सरस और सजीव है, इसमें स्थान-स्थान पर शब्दों की चुलबुलाहट, और सजीवता देखने को मिलती है। उनकी इस भाषा पर कहीं कहीं व्यङ्ग और विनोद का पुट भी मिलता है।

शर्माजी की भाषा

शुक्लजी की साहित्य साधना

प० रामचन्द्र शुक्ल का जन्म संवत् १९४१ में बस्ती जिले के अगोना नामक गाँव में हुआ था। द्विवेदी युग के गद्यकारों में शुक्लजी का स्थान सर्वोच्च है। शुक्लजी द्विवेदी युग के गौरव थे। उन्होंने अपनी उद्भट प्रतिभा से द्विवेदी-युग के गद्य को उन्नति की पूर्ण परा-काष्ठा पर पहुँचा दिया था। शुक्लजी की गद्य-रचना क्षमता को देखते हुए यदि हम उन्हें एक विशेष युग का निर्माता कहें, तो कोई अत्युक्ति की बात न होगी। क्योंकि

उन्होंने भाषा, भाव, विषय और शैली के क्षेत्र में एक युगान्तर उपस्थित किया है। द्विवेदीजी ने हिन्दी की जिस गद्य शैली को परिमार्जित करके उसे सुदृढ़ बनाया था, शुक्लजी ने उसे उन्नति की पराकाष्ठा पर पहुँचा कर उसके भीतर नए युग की स्थापना भी की है। शैली और भाषा के क्षेत्र में शुक्लजी का स्थान अधिक गौरव पूर्ण है। हिन्दी गद्य-शैली और भाषा को शुक्लजी ने संजीवनी शक्ति प्रदान की है। उनकी दी हुई संजीवनी शक्ति से आज हिन्दी गद्य शैली प्रत्येक प्रकार से परिपुष्ट होकर उन्नति के विस्तृत क्षेत्र की ओर अग्रसर हो रही है।

शुक्लजी में जन्म जात साहित्यिक प्रतिभा थी। जीवन के प्रथम चरण से ही वे साहित्य की आराधना में निरत थे, और अंत तक बराबर साहित्य की सेवाओं में लगे रहे। नौ-दस वर्ष की अवस्था में ही उन्होंने लेख लिखना प्रारम्भ कर दिया था। ज्यों-ज्यों वे वय की सीढ़ियों को पार करते गए, उनकी प्रतिभा-शक्ति का विकास होता गया। सर्व प्रथम, मिर्जापुर में, जब वे अध्यापक थे, उनकी प्रतिभा की झलक लोगों को देखने को मिली। मिर्जापुर के पश्चात् जब वे काशी गए, तब वास्तविक रूप में उनकी प्रतिभा का उदय हुआ। काशी में ही उनकी प्रतिभा पूर्ण पराकाष्ठा को पहुँची। काशी अंत तक उन्नति का केन्द्र बनी रही। काशी में रहकर ही उन्होंने उन साहित्यिक कृतियों का निर्माण किया, जिनके कारण आज वे हिन्दी साहित्य में 'आचार्य' के गौरव पूर्ण पद पर विभूषित हैं।

शुक्लजी ने पाँच रूपों में हिन्दी-साहित्य की आराधना की है—संपादक के रूप में, अनुवादक के रूप में, कवि के रूप में, निबंधकार के रूप में, और आलोचक के रूप में। शुक्लजी ने संपादक के रूप में, पत्रों और पुस्तकों का संपादन किया है। पत्रों के संपादक के रूप में, उन्होंने विशेष रूप से 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका' का संपादन करके कीर्ति प्राप्त की है। 'आनंद कादंबिनी' के संपादन में भी उनका कुछ हाथ रहा था। पत्रों की अपेक्षा पुस्तकों के संपादन में उन्हें अधिक सफलता प्राप्त हुई है। उन्होंने कई पुस्तकों का विद्वत्ता पूर्ण संपादन किया है, जिनमें भ्रमर गीत, तुलसी साहित्य, और जायसी साहित्य का महत्व पूर्ण स्थान है। 'हिन्दी शब्द सागर' के संपादकों में भी उनका स्थान अधिक गौरव पूर्ण रहा है।

शुक्लजी हिन्दी, संस्कृत, अँगरेजी और बँगला इत्यादि भाषाओं के अच्छे विद्वान थे। अतः उन्होंने जहाँ मौलिक रचनाओं के द्वारा हिन्दी साहित्य के कोष को भरने का महत्वपूर्ण प्रयत्न किया है, वहाँ उन्होंने अनुवादित रचनाएँ भी हिन्दी साहित्य को प्रदान की हैं। उन्होंने अँगरेजी और बँगला से महत्त्व पूर्ण कृतियाँ हिन्दी में अनुवादित की हैं। गद्य और पद्य दोनों ही प्रकार की कृतियों का उन्होंने अनुवाद किया है। उनकी अनुवादित कृतियों में राज्य प्रबन्ध शिक्षा, आदर्श जीवन, विश्व प्रपंच, मैगस्थनीज, का भारतवर्षीय वर्णन, कल्पना का आनन्द और बुद्ध चरित्र इत्यादि

है। यह सब कृतियाँ अपने नाम के ही अनुरूप शिक्षा, दर्शन, इतिहास, संस्कृत, और साहित्य इत्यादि विषयों की हैं।

शुक्लजी गद्यकार होने के साथ ही कवि भी थे। जीवन के प्रथम चरण में ही उनके हृदय में काव्य का अंकुर फूटा था। वे उन्हीं दिनों कविता का निर्माण करने लगे थे। उनकी हृदय का मधुभार कविता उनके जीवन के प्रारम्भिक दिनों की है। प्रौढ़ काल में उनकी काव्य प्रतिभा का विकास मन्द पड़ गया, दूसरे शब्दों में हम यह कह सकते हैं, कि उनकी प्रतिभा काव्य के क्षेत्र से पृथक होकर गद्य के क्षेत्र म चली गई, परिणाम स्वरूप शुक्लजी को काव्य के क्षेत्र में अधिक सफलता नहीं प्राप्त हो सकी है। उन्होंने कविता के क्षेत्र में एकाही ग्रन्थ का निर्माण किया है, जिसका नाम है 'बुद्धचरित'। यद्यपि यह एक अनुवादित ग्रंथ है, पर फिर भी इसमें शुक्लजी की मौलिक प्रतिभा का चमत्कार देखने को मिलता है। इसके अतिरिक्त शुक्लजी की कुछ और स्फुट रचनाएँ प्राप्त होती हैं, जिनमें द्विवेदी काल की प्रवृत्तियों का विकास हुआ है।

शुक्लजी को सबसे अधिक महत्व पूर्ण, और मूल्यवान आराधना निबन्धकार के रूप में हुई है। निबन्धकार के रूप में शुक्लजी ने हिन्दी साहित्य को अमूल्य कृतियाँ प्रदान की हैं। शुक्लजी एक वास्तविक निबन्धकार थे। निबंध कला के बीज उनके हृदय में प्रकृति के हाथ से बिखेरे गए थे। निबन्ध का विषय किस प्रकार का होना चाहिए, विषय का विस्तार किस प्रकार करना चाहिए, विषय को किस प्रकार प्रस्तुत करना चाहिए, और विषय को हृदय गत कराने के लिए किस शैली तथा भाषा का आश्रय ग्रहण करना चाहिए—शुक्लजी इन सम्पूर्ण बातों के अच्छे मर्मज्ञ थे। उनके संपूर्ण निबन्धों में उनकी यह मर्मज्ञता प्रत्यक्ष रूप में देखने को मिलती है। उन्होंने हिन्दी साहित्य को विद्वत्ता पूर्ण निबन्ध प्रदान तो किए ही हैं, साथ ही निबन्ध कला के एक अनुपम आदर्श का स्थापन भी उनके द्वारा हुआ है। कितने ही हिन्दी के यशस्वी निबन्धकार आज उनके द्वारा स्थापित आदर्शों के मार्ग पर चल कर हिन्दी साहित्य के क्षेत्र में कीर्ति अर्जित कर रहे हैं।

शुक्लजी के निबन्ध दो प्रकार के हैं। एक समीक्षा सम्बन्धी, और दूसरे भाव संबन्धी। समीक्षा संबंधी निबन्धों में उनके वे निबन्ध आये हैं, जिनमें साहित्य, काव्य और कला संबन्धी सिद्धांतों की विवेचना हुई है। उनके भाव संबन्धी निबन्ध वे हैं, जिनकी रचना मनोविकारों को लेकर की गई है। यद्यपि दोनों ही प्रकार के निबन्ध अधिक भाव पूर्ण और कलामय हैं, पर समीक्षा संबंधी निबन्धों की अपेक्षा उन्हें भाव संबन्धी निबन्धों में अधिक सफलता प्राप्त हुई है। उनके भाव संबन्धी बड़े ही उच्चकोटि के निबंध हैं। उनमें मनोवैज्ञानिकता और विचार शीलता का सामञ्जस्य बड़ी कुशलता के साथ हुआ है। अपने भाव संबन्धी निबन्धों में शुक्लजी मनोविकारों के पंडित ज्ञात होते हैं। उन्होंने मनुष्य के मन में उठने वाले विकारों को बड़ी

सन्निकटता के साथ देखा है। मनोविकारों के चित्रण में उनके ज्ञान और अनुभवों की सूक्ष्मता दर्शनीय है।

शुक्लजी के दोनों ही प्रकार के निबन्ध अधिक उत्कृष्ट और भावमय हैं। उनके दोनों ही प्रकार के निबन्धों में कई विशेषताएँ हैं, जिनमें कुछ इस प्रकार हैं—(१) शुक्लजी के सभी निबन्धों पर उनकी वैयक्तिकता की छाप है। यद्यपि उनके निबन्धों में विषयों की स्वतन्त्रता, और प्रधानता है, पर उन्होंने अपने सभी निबन्धों को वैयक्तिकता के साँचे में ही ढाला है। (२) उनके निबन्धों में हृदय और बुद्धि का संयोग बड़ी कुशलता के साथ स्थापित हुआ है। हृदय और बुद्धि का संयोग होने के कारण उनके निबन्धों में विचारों के साथ ही साथ भाव भी चलते हैं। उनके निबन्धों में जो सरसता, रोचकता, और व्यंजकता पाई जाती है, उसका कारण केवल यही है, कि वे अपने निबन्धों में मस्तिष्क के साथ ही साथ हृदय की भी छाया ग्रहण किए रहते हैं। (३) शुक्लजी के निबन्धों में विचारों की एक रूपता, और पारस्परिक सम्बद्धता रहती है। जिस प्रकार एक माला में मोतियों के दाने पिरोए रहते हैं, उसी प्रकार शुक्लजी के निबन्धों में उनके विचारों की क्रम बद्धता रहती है। (४) शुक्लजी के निबन्धों की भाषा और शैली उनके विचारों के ही अनुरूप है। उनके निबन्धों की भाषा और शैली में धारा प्रवाह तथा ओजस्विता पाई जाती है। (५) शुक्लजी ने अपने विषयों का प्रतिपादन बड़ी कुशलता के साथ किया है। उनके प्रतिपादन और कथन का ढङ्ग अधिक प्रभाव पूर्ण है। (६) उन्होंने अपने विषय और कथन को अधिक स्पष्ट करने के लिए बीच-बीच में कथाओं का भी समावेश किया है। इससे उनके विषय और कथन में रोचकता आ गई है। इस प्रकार इन विशेषताओं से संयुक्त बन कर शुक्लजी के सभी निबंध प्रभाव उत्पन्न करने में अधिक क्षमताशील सिद्ध हो सके हैं।

निबन्धकार की भाँति शुक्लजी ने आलोचक के रूप में भी साहित्य की सर्जना की है। जिस प्रकार उनका निबन्धकार का रूप अधिक महत्व पूर्ण और श्रेयस्कर है, उसी प्रकार आलोचक के रूप में भी उनकी साहित्यिक सेवाएँ प्रशंसनीय है। आलोचक के रूप में, उन्होंने आलोचना के क्षेत्र में एक नई दिशा का निर्माण किया है। आलोचना की समीक्षात्मक शैली का प्रयोग सर्व प्रथम उन्हीं की रचनाओं में मिलता है। इस प्रकार हम यह कह सकते हैं, कि शुक्लजी के द्वारा ही हिन्दी में विश्लेषणात्मक और मनोवैज्ञानिक आलोचना शैली की नींव पड़ी है। उन्होंने केवल इस शैली की नींव ही नहीं डाली, वरन् उसे परिपुष्ट और परिमार्जित भी किया है। उनकी आलोचनाएँ दो वर्गों में विभक्त हैं - सैद्धांतिक और व्यावहारिक। सैद्धांतिक आलोचनाओं में उनकी वे कृतियाँ आती हैं, जिनमें साहित्य के अंग प्रत्यङ्गों पर विश्लेषणात्मक विवेचन किया गया है। जैसे—साहित्य, उपन्यास, और भाषा की शक्ति इत्यादि। व्यावहारिक आलोचनाओं में उन्होंने अपनी व्यक्तिगत रुचियों को

महत्त्व दिया है। सूर, तुलसी और जायसी इत्यादि कवियों की आलोचना में उन्होंने अपनी वैयक्तिक रुचियों को ही प्रधानता प्रदान की है।

शुक्लजी के निबन्ध जहाँ विषय प्रतिपादन, कथन, और भाव व्यंजकता की दृष्टि से अधिक महत्त्वपूर्ण हैं, वहाँ शैली और भाषा की दृष्टि से उनका अप्रतिम स्थान है। शैली और भाषा के क्षेत्र में शुक्लजी के द्वारा एक महत्त्वपूर्ण आदर्श स्थापित हुआ है।

शुक्लजी की शैली

शुक्लजी का आविर्भाव द्विवेदी युग के अंतिम चरण में हुआ था। शुक्लजी के पूर्व हिन्दी गद्य-शैली के कई स्रोत फूट चुके थे, और उनका अधिक परिमार्जन भी हो चुका था। हिन्दी गद्य शैली मन वैज्ञानिकता का आवरण अपने ऊपर डाल कर भाव-व्यंजकता की ओर अग्रसर हो चुकी थी। उसमें प्रौढ़ता और प्रगल्भता भी आ चुकी थी। शब्दों के प्रयोग में भाव-व्यंजकता को महत्त्व दिया जाने लगा था। शब्दों की आंतरिक शक्ति पर भी लोगों का ध्यान जा चुका था। वाक्यों के गठन में स्वाभाविकता को महत्त्व दिया जाने लगा था। इस प्रकार यह कहा जा सकता है, कि जब शुक्लजी का आविर्भाव हुआ, तब उन्हें अपने विचारों को व्यक्त करने के लिए हिन्दी गद्य की एक ऐसी शैली मिली, जिसमें प्रत्येक प्रकार की उन्नति और विकास के तत्त्व निहित थे। शुक्लजी में अद्भुत प्रतिभा शक्ति थी। वे कई भाषाओं के पंडित थे। वे भाषा विज्ञान, और शैली के गुणों से भली भाँति परिचत थे। शुक्लजी ने अपने पूर्व की शैलियों के आधार पर ही अपनी शैली और भाषा का निर्माण किया है। उन्होंने अपनी शैली में पूर्व की शैलियों को ही एक आदर्श और सुगठित स्वरूप प्रदान किया है। उनकी शैली, और भाषा हिन्दी की गद्य-शैली तथा भाषा का एक उन्नत स्वरूप है। उसमें न कृत्रिमता है, और न शिथिलता है। उनकी शैली में सर्वत्र प्रवाह, और ओज एक सा पाया जाता है। शब्दों के चयन, और वाक्यों के विकास में उन्होंने अपनी कला मर्मज्ञता प्रगट की है। उनके शब्द उनके भावों के ही अनुकूल हैं। शब्दों में पारस्परिक मैत्री, और संबद्धता है। वाक्य भी अधिक छोटे-छोटे और भाव व्यंजक हैं। उनके भाव और विचार उनकी शैली में लड़ी की भाँति गुँथे हुए हैं। प्रभावात्मकता उनकी शैली की प्रमुख विशेषता है। उन्होंने बड़ी कुशलता के साथ विषय का प्रतिपादन किया है। विषय के प्रत्येक अंग पर प्रकाश डालने में उनकी शैली अधिक सफल सिद्ध हो सकी है। वे अपने भावानुकूल शब्दों और वाक्यों से विषय के प्रत्येक अंग का चित्र उपस्थित करते हुए चलते हैं। यत्र-तत्र शुक्लजी ने अपनी शैली में मुहाविरों और कहावतों का भी प्रयोग किया है। मुहाविरों और कहावतों के प्रयोग के कारण उनकी शैली में और भी अधिक सजीवता उत्पन्न हो गई है।

शुक्लजी की शैली तीन प्रकार की है—आलोचनात्मक शैली, गवेषणात्मक शैली, और भावात्मक शैली। शुक्लजी आलोचनात्मक शैली के हिन्दी में जन्मदाता हैं। उनकी आलोचनात्मक शैली के दो रूप हैं—शुद्ध आलोचना शैली, और व्यंग्यात्मक आलोचना शैली। शुद्ध आलोचना शैली अधिक गम्भीर और प्रभावपूर्ण है। इसमें छोटे

छोटे वाक्य हैं, जो अर्थों की गुरुता से पूर्ण हैं। उनकी इस शैली में विषय का स्पष्टीकरण बड़ी कुशलता के साथ हुआ है। दूसरी शैली व्यंग्य पूर्ण है। अपनी इस शैली में शुक्लजीने व्यंग पूर्ण वाक्यों और शब्दों का प्रयोग किया है। उनके व्यंगों में शिष्टता, और संयम है। निम्नांकित पंक्तियों में उनकी आलोचनात्मक शैली का चित्र देखिए—'रमणीय वन पर्वत के बीच एक सुकुमार राजवधू को साथ लिए दो वीर आत्मावलम्बी राजकुमारों को विपत्ति के दिनों को सुख के दिनों में परिवर्तित करने पाकर 'वीर भोग्या वसुन्धरा' की सत्यता हृदयङ्गम करते हैं, सीताहरण या विप्रलंभ शृंगार का माधुर्य देख कर पाठक फिर लङ्का दहन के अद्भुत, भयानक, और वीभत्स दृश्य का निरीक्षण करते हुए राम रावण युद्ध में रौद्र और वीर तक पहुँच सकते हैं।' शुक्लजी की दूसरी शैली गवेषणात्मक है। इस शैली के निबन्धों में शुक्लजी ने अपने दार्शनिक विषयों का प्रतिपादन किया है। उनकी यह शैली दार्शनिक विषयों से संयुक्त होने के कारण आलोचना शैली से अधिक गम्भीर और क्लिष्ट है। आलोचना शैली की अपेक्षा इसमें कहीं अधिक दुरूह शब्द मिलते हैं। इस शैली के वाक्यों में अधिक गहनता, और अर्थ गम्भीरता है। निम्नांकित पंक्तियों में उनकी इस शैली के स्वरूप को देखिए—'कवि मङ्गल का नाम न लेकर सौंदर्य का ही नाम लेता है, और धार्मिक सौन्दर्य की चर्चा बचाकर मङ्गल की ही चर्चा किया करता है। टालस्टाय इस प्रकृति-भेद को न पहचान कर काव्य क्षेत्र में लोक मङ्गल का एकांत उद्देश्य रख कर चले। इससे उनकी समीक्षाएँ गिरजाघर के उपदेश के रूप में हो गई।' शुक्लजी की तीसरी शैली भावात्मक है। इस शैली में उन्होंने मनोवृत्तात्मक निबन्धों की रचना की है। यह शैली अपने ढङ्ग की अनोखी है। हिन्दी में शुक्लजी ही इस शैली के जन्मदाता कहे जा सकते हैं। इसमें विचारों और भावों का सामंजस्य सुन्दरता के साथ स्थापित हुआ है। भाव व्यंजकता इस शैली की मुख्य विशेषता है। इसमें छोटे-छोटे, सरल और भाव व्यंजक वाक्यों का गठन बड़ी कुशलता के साथ किया गया है। इसकी भाषा भी अधिक व्यावहारिक, और सुबोध है। निम्नांकित पंक्तियों में भावात्मक शैली का ही रूप स्पष्ट हुआ है—'जिन कर्मों से दूसरे के वास्तविक सुख के साधन और दुख की निवृत्ति हो वे शुभ और सात्त्विक हैं, तथा जिस अन्तःकरण वृत्ति से इन कर्मों में प्रवृत्ति हो, वह सात्त्विक है।'

जिस प्रकार शुक्लजी की शैली में उनके पूर्व की सभी शैलियों की विशेषताएँ सन्निहित हैं, उसी प्रकार उनकी भाषा में भी उनके पूर्व की भाषा के विकास के सभी तत्त्व समाविष्ट हैं। द्विवेदी युग की भाषा का उन्नत, प्रौढ़ और सुगठित स्वरूप शुक्लजी की भाषा में ही दिखाई देता है। शुक्लजी ने शैली की भाँति ही भाषा के क्षेत्र में भी एक अनुपम आदर्श स्थापित किया है। उन्होंने द्विवेदीजी की खड़ी बोली के शक्ति क्षेत्र को अधिक विस्तृत बनाया है। उन्होंने विभिन्न और विषयों पर निबन्धों की रचना करके जहाँ अपनी प्रतिभा की शक्ति का परिचय दिया है, वहाँ इन्होंने खड़ी बोली की सृजन शक्ति को और

शुक्लजी की भाषा

भी अधिक व्यापक बनाया है। उन्होंने खड़ी बोली में नए-नए शब्दों का प्रयोग किया है। उन्होंने शब्दों के प्रयोग में शब्दों की नई-नई ध्वनियों से काम लियाँ है। वाक्यों के विन्यास में भी उन्होंने नवीनता प्रदर्शित की है। उन्होंने खड़ी बोली के प्रवाह को मनोवैज्ञानिकता, और भाव-व्यंजकता की ओर मोड़ा है। इतना ही नहीं, उन्होंने उस प्रवाह को अधिक गतिशील, संयत और स्वाभाविक भी बनाया है।

जिस प्रकार शुक्लजी की शैली के तीन रूप मिलते हैं, उसी प्रकार उनकी भाषा भी दो रूपों में विभक्त की जा सकती है—क्लिष्ट रूप, और व्यावहारिक रूप। उनके आलोचनात्मक और गवेषणात्मक निबन्धों में भाषा का क्लिष्ट स्वरूप देखने को मिलता है। उनकी यह भाषा संस्कृत गर्भित है। इसमें संस्कृत के तत्सम शब्दों का प्रयोग अधिकता के साथ हुआ है। इसमें ऐसे शब्द भी प्रयुक्त हुए हैं, जो बिलकुल नवीन हैं। अप्रचलित शब्दों का प्रयोग भी इस भाषा में नवीन रूपों में किया गया है। इसका एक मात्र उद्देश्य विषय का स्पष्टीकरण और उसका प्रतिपादन है। विषय का स्पष्टीकरण करने के उद्देश्य से ही शुक्लजी ने नए-नए शब्दों का निर्माण किया है; परिणाम स्वरूप उनकी यह भाषा दुरूह हो गई है। उनकी भाषा का दूसरा रूप व्यावहारिक है, जो उनके मनोवृत्तात्मक निबन्धों में मिलता है। उनकी यह भाषा अधिक सरल और सुबोध है। इसमें अधिकतर ऐसे ही शब्दों का प्रयोग हुआ है, जो अधिक व्यावहारिक हैं। कहीं कहीं उर्दू और अँगरेजी के शब्द भी शुक्लजी की भाषा में मिलते हैं। अँगरेजी शब्दों का प्रयोग उन्होंने ऐसे स्थलों पर किया है, जहाँ उन्हें पश्चात्य सभ्यता संबंधी भाव-व्यक्त करने होते थे। इसी प्रकार उन्होंने उर्दू शब्दों का प्रयोग ऐसे स्थलों पर किया है, जहाँ उन्हें अपने वाक्यों को व्यंगमय और चुटीला बनाना होता था। उन्होंने विदेशी शब्दों को उनके तत्सम के रूप में ही ग्रहण किया है।

शुक्लजी की भाषा अधिक गम्भीर,, संयत और विचारानुकूल है। प्रौढ़ता और प्रांजलता उनकी भाषा में विशेष रूप से पाई जाती है। उनके व्यक्तित्व की गंभीरता उनकी भाषा में कूट-कूट कर भरी हुई है। उनकी विचार शीलता, और अध्ययन गम्भीरता की छाप स्पष्ट रूप से उनकी भाषा पर दिखाई पड़ती है। शुद्धता शुक्लजी की भाषा की अपनी वस्तु है।

द्विवेदी काल के हिन्दी गद्य की सर्वोच्च सीमा रामचन्द्र शुक्ल है। द्विवेदी काल के प्रारम्भ में जिस हिन्दी गद्य ने आगे बढ़ने के लिए पग उठाना सीखा था, वह शुक्लजी और हिन्दी गद्य का आधुनिक युग पं० रामचन्द्र शुक्ल की भाषा, और शैली में पूर्ण रूप से उन्नति के क्षेत्र की ओर गतिमान दिखाई देता है। केवल निबन्ध के क्षेत्र में ही नहीं, कहानी, नाटक, उपन्यास और एकांकी इत्यादि सभी क्षेत्रों में उसकी गति शीलता देखने को मिलती है। द्विवेदी काल में हिन्दी गद्य शैली, और भाषा ने जो उन्नति की, उसका स्वर्णिम रूप शुक्ल जी की भाषा और शैली में देखने को मिल सकता है। शुक्लजी ने हिन्दी गद्य-क्षेत्र

में एक युगांतर सा उपस्थित कर दिया है। उन्होंने ऐसे विषयों पर निबन्धों और ग्रन्थों की रचना की, जिनकी ओर अभी तक किसी का ध्यान ही आकृष्ट नहीं हुआ था। आलोचनात्मक और भावात्मक शैली के निबंधों की विद्वत्ता पूर्ण रचना सर्व प्रथम शुक्लजी के ही द्वारा हुई है। इन दोनों ही शैलियों के जन्मदाता भी शुक्ल जी ही हैं। इस प्रकार शुक्लजी ने द्विवेदी काल के गद्य को उन्नति की पराकाष्ठा पर पहुँचा कर उसके भीतर नए युग का निर्माण किया है। हम उस युग को विश्लेषणात्मक और समीक्षात्मक युग कह सकते हैं। आज हिन्दी गद्य के क्षेत्र में, वही युग विभिन्न रूपों में प्रगट होकर अपनी पूजा करा रहा है।

हिन्दी गद्य—आधुनिक काल

आचार्य शुक्लजी के पश्चात् से हिन्दी गद्य ने एक नवीन युग में प्रवेश किया है। इस नवीन युग को हम आधुनिक काल कहते हैं। शुक्लजी द्विवेदी काल और आधुनिक काल के गद्य की प्रगति

आधुनिक काल के मिलन बिंदु पर खड़े होकर एक की समाप्ति और दूसरे का उद्घाटन करते हुए दिखाई देते हैं। शुक्लजी के गद्य में द्विवेदी काल, और आधुनिक काल दोनों की ही विशेषताएँ विद्यमान हैं, जिस प्रकार हम शुक्लजी के गद्य से द्विवेदी काल के गद्य की विशेषताओं का अनुमान लगा सकते हैं, उसी प्रकार शुक्लजी का गद्य आधुनिक काल के गद्य के ऊपर भी प्रकाश डालता है। शुक्लजी के गद्य को हम एक ऐसा उद्गम स्थान मानते हैं, जहाँ से कई धाराएँ विभिन्न रूपों में निःसृत हुई हैं। इन धाराओं में कुछ तो शुक्लजी के गद्य का रंग है, और कुछ अन्यान्य भाषाओं के गद्यका प्रभाव। इस प्रकार आधुनिक गद्य के क्षेत्र में भाषा और शैली की दृष्टि से नई नई धाराएँ फूट पड़ी हैं। हिन्दी गद्य का आधुनिक काल भाषा, शैली और विषय की दृष्टि से हिन्दी गद्य की उन्नति का काल कहा जा सकता है। इसी युग में उपन्यास सम्राट प्रेमचन्द्रजी का आविर्भाव हुआ है, इसी युग में स्वर्गीय जयशङ्कर प्रसादजी ने अपने नाटकों की रचना की है, और इसी युग में डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी, श्री परशुराम चतुर्वेदी, डा० नगेन्द्र, श्री गुलाबराय, और श्री जैनेन्द्र इत्यादि निबंधकारों ने अपने निबन्धों और आलोचनाओं से हिन्दी साहित्य का शृंगार किया है। अभी आधुनिक काल की प्रगतिजारी है, और अभी इन यशस्वी लेखकों की कृतियों का प्रवाह भी अखंड रूप से चल रहा है। इन लेखकों के अतिरिक्त और भी कितने ऐसे गद्यकार हैं, जो अपनी गद्यात्मक कृतियों से हिन्दी साहित्य के भंडार की अभिवृद्धि कर रहे हैं।

आधुनिक काल में हिन्दी गद्यकी उन्नति साहित्य के सभी क्षेत्रों में हो रही है। उपन्यास, कहानी, नाटक, आलोचना, निबन्ध, एकांकी और गद्य काव्य इत्यादि सभी क्षेत्रों में हिन्दी गद्य अपने व्यापक सिद्धांतों और आदर्शों के साथ उन्नति के क्षेत्र की ओर अग्रसर हो रहा है। हिन्दी गद्य ने अपने सभी क्षेत्रों में नवीनता का स्वरूप धारण किया है। आधुनिक काल में हिन्दी गद्य की प्रवृति ने सभी क्षेत्रों में नवीनता

का स्वरूप धारण किया है। इस आधुनिक काल में हिन्दी गद्य की प्रवृति सभी क्षेत्रों में मनोवैज्ञानिकता, और विश्लेषणात्मक समीक्षा की ओर है। वह अपने सभी क्षेत्रों में समष्टि रूप से वस्तु को समझने के साथ ही साथ वस्तु के एक एक अंग को समझने का प्रयत्न कर रहा है। भाषा और शैली के क्षेत्र में उसकी प्रवृति ध्वन्यात्मकता और भाव-व्यंजकता की ओर है। शब्दों के बाह्य स्वरूपों से पृथक हटकर शब्दों की आंतरिक शक्ति संपन्नता ही इस युग में हिन्दी के गद्य का लक्ष्य है। हिन्दी का गद्य इस युग में धीरे धीरे चमत्कार और कृत्रिमता से अपना संबंध तोड़ कर सरलता और स्वाभाविकता की ओर अग्रसर हो रहा है। धीरे धीरे वह अधिक सबल और पुष्ट बन कर व्यावहारिकता की पृष्ठभूमि पर ही आता जा रहा है। इतना ही नहीं, धीरे धीरे जीवन से उसकी अधिक घनिष्ठता बढ़ती जा रही है। हिन्दी गद्य की गति और उसकी प्रवृति को देखते हुए यह कहने में रच मात्र भी हिचक नहीं की जा सकती, कि किसी दिन हिन्दी का गद्य जीवन को निश्चिय रूप से अपने में घुला मिला लेगा।

द्विवेदी काल के प्रारम्भ में हिन्दी के जिस उपन्यास को हम चलना सीखते हुए देखते हैं, वह आधुनिक काल में तीव्र गति से दौड़ता हुआ दिखाई देता है। द्विवेदी

उपन्यास

काल में जहाँ वह अँगरेजी और बँगला इत्यादि भाषाओं से अपने लिए पोषण तत्त्व ग्रहण कर रहा था, वहाँ आधुनिक काल में वह स्वयं पोषण तत्व उत्पन्न करके उनका उपभोग कर रहा है। आधुनिक काल में पूर्ण रूप से उसकी प्रवृति भी बदली गई है। द्विवेदी काल में वह केवल घटनाओं के वर्णनों में ही संलग्न दिखाई देता है, पर आधुनिक काल में उसकी दृष्टि जीवन के गहन तत्त्वों में प्रवेश करती है। आधुनिक काल में वह वर्णनात्मक क्षेत्र से पृथक होकर पूर्ण रूप में व्याख्यात्मक बन गया है। आधुनिक काल में वह समष्टि को छोड़ कर व्यष्टि को ही समझने में अपनी सार्थकता समझता है। वह समष्टि को व्यष्टि के भीतर ही देखता है। समष्टि के रोगों और विकृतियों का निदान वह व्यष्टि के ही रोगों के निदान के आधार पर करता है। व्यष्टि और उसके जीवन के तत्वों को समझने तथा उसकी समस्याओं को सुलझाने में ही आज का उपन्यास निरत है। आज उपन्यास के क्षेत्र में कई कलाकारों का आविर्भाव हो चुका है। प्रेमचन्दजी से लेकर और अब तक कई ऐसे उपन्यासकार हो चुके हैं, जिन्होंने हिन्दी उपन्यास के जीवन में संजीवनी शक्ति का सञ्चार करने के साथ ही साथ उसमें नए नए आदर्शों, और सिद्धांतों की स्थापना की है। इन उपन्यासकारों में स्वर्गीय प्रेमचन्द श्री विश्वम्भर नाथ शर्मा कौशिक, श्री जयशङ्कर प्रसाद, श्री प्रतापनारायण श्रीवास्तव, श्री जैनेन्द्र कुमार, श्री भगवती प्रसाद वाजपेयी, श्री चतुरसेन शास्त्री, श्री चंडी प्रसाद हृदयेश, श्री गिरिजादत्त शुक्ल गिरीश, श्री इलाचन्द्र जोशी, श्री भगवतीचरण वर्मा श्री पांडेय वेचन शर्मा उग्र, श्री सूर्यकांत त्रिपाठी निराला, श्री अज्ञेय, श्री यशपाल, ठा० श्रीनाथसिंह, राधिका रमणसिंह और श्री ऋषभचरण जैन इत्यादि का प्रमुख

स्थान है। इन उपन्यासकारों में स्वर्गीय प्रेमचंद, स्वर्गीय प्रसाद, श्री जैनेंद्र कुमार, श्री अज्ञेय, श्री यशपाल, और श्री भगवती प्रसाद वाजपेयी इत्यादि ने उपन्यास के क्षेत्र में नए-नए आदर्शों की सृष्टि की है। हिन्दी उपन्यास के क्षेत्र में स्वर्गीय प्रेमचंदजी का स्थान सर्वोपरि है। प्रेमचंदजी ही हिन्दी के प्रथम उपन्यासकार हैं, जिन्होंने उपन्यास के क्षेत्र में जीवन का चित्र खींचा है। यद्यपि उनके चित्रण में वर्णनों की ही प्रधानता है; पर यह तो निश्चय है, कि आज हिन्दी उपन्यास के क्षेत्र में जीवन की जो विश्लेषणात्मक धारा बह रही है, उसका उद्गम प्रेमचंदजी की ही रचनाओं में मिलता है।

उपन्यास की भाँति कहानी के क्षेत्र में भी हिन्दी गद्य ने अधिक उन्नति की है। कहानी के क्षेत्र में हिन्दी गद्य का सबसे अधिक विस्तार हुआ है। हिन्दी कहानी का

सहानी जन्म द्विवेदी युग में हुआ था। द्विवेदी युग में हिन्दी कहानी ने जन्म लेकर, थोड़े ही दिनों में अधिक उन्नति कर ली थी। द्विवेदी युग में ही हिन्दी कहानी ने प्रौढ़ता का रूप भी धारण कर लिया था। यह सच है, कि द्विवेदी युग में हिन्दी कहानी के भंडार में अनूदित कहानियों की संख्या अधिक थी। पर यह भी सच है, कि मौलिक कहानियों ने द्विवेदी काल में ही जन्म धारण कर लिया था। द्विवेदी युग में मौलिक कहानी अस्तित्व में आ चुकी थी, और शनैः शनैः उसका विकास भी होने लगा था। द्विवेदी काल में हिन्दी कहानी की प्रवृत्ति मुख्य रूप से वर्णन की ओर थी, पर ज्यों ज्यों उसका विकास हुआ है, त्यों त्यों वह मन के अंतर्द्वंदों के साथ अपनी घनिष्ठता बढ़ाती गई है। आधुनिक काल में तो हिन्दी कहानी का स्वरूप पहले से बिलकुल बदला हुआ है। उसके आज के और पहले के स्वरूप में बिलकुल भिन्नता है। आज उसका शरीर एक नए ही प्रकार का है। एक दिन था, जब हम उसके शरीर को चमत्कारिक और अलङ्कारिक शब्दों से सजाते थे, उसके शरीर को सजाने के लिए शब्दों में अधिक से अधिक वक्रोक्ति उत्पन्न करते थे, दूसरे शब्दों में प्राचीन कहानी की भाषा जिसे कहानी की छाया कहते हैं, अलङ्कारिक होती थी, किन्तु आज उसने अपना यह जामा छोड़ दिया है। आज उसके शृंगार में अलङ्कारिकता की प्रधानता नहीं है। आज उसका ध्यान सरलता, ओजस्विता, और हृदय स्पर्शिता की ओर है। आज वह अपने शब्दों में, जिससे उसका भाषा शृंगार पूर्ण होता है, चमत्कार नहीं उत्पन्न करती, वरन् एक ऐसी शक्ति उत्पन्न करती है, जो विद्युत की भाँति संचरित होकर हृदय को स्पर्श करती है। आज उसका पूर्ण ध्यान अपनी भाषा में और अपनी शैली में हृदय स्पर्शिता, और ओजस्विता की शक्ति को ही एकत्र करने की ओर है। कहना पड़ेगा, कि जहाँ वह आज सत्य, धर्म, और नैतिकता के आलोक से हट कर अर्थ और अधिकारों के चित्रण के द्वारा मानव को मानव से दूर ले जा रही है, उसने अपने प्रसाधन में—भाषा, शैली, और शब्दों में अभूत पूर्व उन्नति की है। उसकी अंतरात्मा का, जो भौतिक वाद का राग गाने में ही पूर्ण शक्ति के

साथ जुटी हुई है, भले ही कोई स्वागत न करे, पर उसके नवीन प्रसाधन-साधनों का, ऐसा कोई न होगा, जो स्वागत न करे।

आज का मानव जीवन समस्या मूलक है। अतः आज की कहानी भी समस्या मूलक है। आज की कहानी मानव जीवन की उन समस्याओं को लेकर ग्रथित हो रही है, जो उसके मन को सदैव आंदोलित किए रहती है। चरित्र से दूर—बहुत दूर आज की कहानी अभाव ग्रस्त मानव जीवन की एक-एक समस्या को खोलती हुई चलती है। उसमें हृदय का अभाव और मन की प्रचुरता रहती है। वह मन के उस छोर से निकलती है, जहाँ अभाव ही अभाव होते हैं। आज की कहानी का परम उद्देश्य मानव के मन के अभावों का ही चित्रण करना होता है।

हिन्दी की कहानी अपने वर्तमान स्वरूप तक कई रूपों को परिवर्तित करने के पश्चात् पहुँच सकी है। द्विवेदी काल में, अपने जन्म से लेकर और आधुनिक काल में अब तक, वह कई स्वरूप धारण कर चुकी है। आधुनिक काल में ही उसके कई रूप बने और बिगड़े हैं। इस समय भी वह कई रूप धारण करके विकास के क्षेत्र की ओर अग्रसर हो रही है। हिन्दी कहानी के आधुनिक काल के रूप-निर्माण में कई महत्त्व पूर्ण कलाकारों ने योग दिया है, जिनमें स्वर्गीय प्रेमचन्द, स्वर्गीय जय-शङ्कर प्रसाद, राजाराधिका रमणप्रसादसिंह, श्री सुदर्शन, विश्वम्भरनाथ शर्मा कौशिक, श्री जैनेन्द्रकुमार, श्री अज्ञेय, श्री रायकृष्णदास, श्री भगवतीचरण वर्मा, श्री पांडेय बेचन शर्मा 'उग्र', श्री भगवती प्रसाद वाजपेयी और श्री यशपाल इत्यादि का नाम प्रमुख रूप से लिया जा सकता है। इन कहानीकारों ने जहाँ अपनी कृतियों से हिन्दी-साहित्य के भण्डार की अभिवृद्धि की है, वहाँ उन्होंने हिन्दी कहानी की भिन्न-भिन्न दिशाएँ भी निश्चित की हैं। आज हिन्दी कहानी जिन दिशाओं में अपनी प्रगति कर रही है, उनका निश्चय और निर्माण इन्हीं कहानीकारों के द्वारा हुआ है।

हिन्दी नाटक का जन्म भारतेन्दु काल में हुआ था। भारतेन्दु काल में, हिन्दी नाट्यकला ने प्राचीन भारतीय परम्परा के ही आधार पर अपना शृंगार किया है।

नाटक उसने प्रायः उन्हीं विधियों का पालन किया है, जिनका पालन संस्कृत के प्राचीन नाटकों में हुआ है। भारतेन्दुजी ने अपनी नाट्यकला में नवीनता को भी प्रश्रय दिया है। पर प्रमुख रूप में उनकी नाट्यकला प्राचीन विधियों का ही अनुसरण करती हुई दिखाई पड़ती है। द्विवेदी काल में हिन्दी नाट्यकला ने विकास की ओर अपना चरण बढ़ाया है। द्विवेदी काल में जहाँ वह प्राचीन परम्परा का पालन करती हुई दिखाई पड़ती है, वहाँ उस पर अँगरेजी और बँगला के नाटकों का प्रभाव भी पड़ा हुआ है। अँगरेजी और बँगला के नाटकों से प्रभावित होने पर भी द्विवेदी काल की हिन्दी नाट्यकला ऐतिहासिक और पौराणिक कथाओं के ही क्षेत्र तक सीमित रही है। द्विवेदी काल में हिन्दी में मौलिक नाटकों की अपेक्षा अनूदित नाटकों की ही सृष्टि अधिक हुई। जो मौलिक नाटक लिखे गए, उनमें

वर्णनों और घटनाओं की ही प्रधानता दिखाई पड़ती है। पर उनसे हिन्दी नाट्यकला के विकास पर प्रकाश अवश्य पड़ता है! उनसे यह स्पष्टतः प्रतीत होता है, कि हिन्दी नाट्यकला उत्तरोत्तर विकास के क्षेत्र की ओर अग्रसर हो रही है। आधुनिक काल में नाट्यकला पूर्ण रूप से विकास के क्षेत्र की ओर अग्रसर दिखाई पड़ती है। द्विवेदी काल में जहाँ वह प्राचीन परम्पराओं में लिप्त थी, वहाँ आधुनिक काल में वह पूर्ण रूप से नवीनता वादी है। आधुनिक काल की नाट्यकला का शरीर से लेकर आत्मा तक सब कुछ नवीन है। भारतेन्दु और द्विवेदी काल में वह संस्कृत के प्राचीन नाट्य सिद्धांतों का ही पथ अवलम्बन करती थी, पर आज वह अँगरेजी की नाट्यकला के मार्ग का अनुसरण कर रही है। संसार के और कई साहित्यों की नाट्यकलाओं का आज उसमें समावेश है। आज उसका झुकाव अधिकतर जीवन की समस्याओं के निदान की ओर है। यद्यपि आधुनिक काल में भी ऐतिहासिक और सांस्कृतिक नाटकों की रचना हुई है, पर उन नाटकों के भीतर भी जीवन की समस्याओं के निदान का ही अनुसन्धान मिलता है। सामाजिक और काल्पनिक नाटकों की रचना तो विशुद्ध रूप से, इसी बात को सामने रख कर की जाती है। आज के नाटकों में अंतर्द्वंदों की मुख्य रूप से प्रधानता होती है। कथानक से लेकर पात्रों के चरित्र चित्रण तथा परिणाम में भी अंतर्द्वंदों की अधिकता देखने को मिलती है। आज के युग में वही नाटक सबसे अधिक अच्छा, और कला पूर्ण समझा जाता है, जिसमें मानव हृदय के द्वन्दों का विश्लेषण होता है। इसी बात को हम इस रूप में भी कह सकते हैं, कि आज की नाट्यकला मुख्य रूप से मनोवैज्ञानिकता की ओर उन्मुख है। आज उसके सामने आदर्श नहीं, तथ्य है। आज आदर्श के लिए उसके भीतर व्याकुलता नहीं, आज वह समाकुल है तथ्य की खोज में। 'यथार्थ' का मार्ग ढूँढ़ना ही आज उसका लक्ष्य है। 'तथ्य और यथार्थ' ने आज उसके भीतर ऐसी व्याकुलता उत्पन्न कर दी है, कि वह काव्य को भी भूल गई। यद्यपि स्वर्गीय प्रसादजी और सेठ गोविन्ददास प्रभृति नाटककारों की नाट्यकला ने काव्य का परित्याग नहीं किया है, पर नई पीढ़ी के अधिकांश नाटककारों की नाट्यकला ने अपने को काव्य से पृथक ही रक्खा है। आधुनिक नाट्यकला का प्रवाह मुख्य रूप से अपने को काव्य से पृथक रखने की ओर दिखाई देता है।

आधुनिक काल मौलिक रचना का युग है। जिस प्रकार काव्य, उपन्यास, और कहानी इत्यादि क्षेत्रों में मौलिक रचनाएँ हो रही हैं, उसी प्रकार नाटक के क्षेत्र में भी अधिकतर मौलिक रचनाओं की ही सृष्टि हो रही है सैकड़ों ऐसे सुलेखक हैं, जो मौलिक नाटकों की रचना में लगे हुए हैं। इन लेखकों में स्वर्गीय प्रसादजी सेठ गोविन्ददास, श्री गोविन्द वल्लभ पन्त, श्री लक्ष्मीनारायण मिश्र, श्री उदयशङ्कर भट्ट, श्री जगन्नाथ प्रसाद मिलिंद, और श्री हरिकृष्ण प्रेमी इत्यादि का प्रमुख स्थान है।

समालोचना के क्षेत्र में भी आधुनिक काल में हिन्दी गद्य ने अधिक प्रगति की

है। भारतेन्दु काल में हिन्दी समालोचना का जन्म हो चुका था। द्विवेदी काल में

समालोचना

वह अधिक पुष्ट और बलवान हुई थी। द्विवेदी काल में ही डा० श्यामसुन्दरदास, और आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्लजी का आविर्भाव हुआ था, जिन्होंने समीक्षात्मक और तुलनात्मक आलोचना की नींव ही नहीं डाली थी, वरन् उसे अधिक पुष्ट और दृढ़ भी बनाया था। आज समालोचना के क्षेत्र में जिस मनोवैज्ञानिक विश्लेषणात्मक समीक्षा का प्रवाह बह रहा है, उसका स्रोत द्विवेदी काल में ही फूट चुका था। आचार्य शुक्लजी ने समीक्षात्मक समालोचना के प्रवाह में अधिक गतिशीलता भी उत्पन्न की थी। आज की आलोचना शुक्लजी के द्वारा स्थापित किए हुए सिद्धांतों के मार्ग पर चल रही है। आज उसकी दृष्टि में तीव्रता, और गम्भीरता है। आज वह बड़ी सूक्ष्मता के साथ विषय के भीतर प्रवेश करती है। विषय के एक एक कोने की ओर आज उसका ध्यान जाता है। विषयके प्रत्येक कोने पर आज वह विचार करती है, और फिर सब को मिलाकर विषय का निरीक्षण करती है। इसी बात को हम इसाद्धङ्ग से कह सकते हैं, कि आज की समीक्षा के दो रूप हैं—विश्लेषणात्मक और संश्लेषणात्मक। अपने दोनों ही रूपों में आज वह पूर्ण रूप से मनोवैज्ञानिक और तार्किक है।

आधुनिक आलोचना साहित्य को जिन विद्वानों से अधिक बल प्राप्त हो रहा है, उनमें डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी श्री गुलाबराय, डा० नगेन्द्र, श्री परशुराम चतुर्वेदी, श्री गिरिजादत्त शुक्ल गिरीश, प्रो० सत्येन्द्र, श्री रामनाथ लाल सुमन, श्री राजेन्द्रसिंह गौड़, श्री रामरतन भटनागर इत्यादि का प्रमुख स्थान है।

हिन्दी गद्य का आधुनिक काल उसकी उन्नति का युग है। हिन्दी गद्य की वास्तविक उन्नति इसी युग में हुई, और हो रही है। अभी यह युग अपनी प्रगति

आधुनिक युग के गद्यकार

पर है। कहा नहीं जा सकता, कि इसकी समाप्ति कब और किस स्थान पर होगी। अब तक की इसकी प्रगति को देखकर निःसंकोच रूप में यह कहा जा सकता है, कि इसने कविता, कहानी, उपन्यास, नाटक, आलोचना, और निबन्ध इत्यादि सभी क्षेत्रों में अपना निर्माण मानवता और विश्वत्व को सामने रखकर किया है। आज उसका सिद्धांत अधिक व्यापक और लक्ष्य अधिक ऊँचा है। यों तो सैकड़ों ऐसे सुलेखक हैं, जो आधुनिक गद्य को विभिन्न क्षेत्रों में उन्नत सबल और दृढ़ बना रहे हैं, पर उनमें स्वर्गीय प्रसादजी, स्वर्गीय प्रेमचन्द, श्री गुलाबराय, श्री विश्वम्भर नाथ शर्मा कौशिक, श्री वृन्दावन लाल वर्मा, श्री रायकृष्णदास, श्री पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी, श्री वियोगी हरि, श्री सुदर्शन, डा० सम्पूर्णानन्द, श्री अन्नपूर्णानन्द, श्री भगवतीप्रसाद वाजपेयी, श्री गिरिजादत्त शुक्ल गिरीश, श्री वासुदेवशरण, श्री लक्ष्मीनारायण मिश्र, श्री जैनेन्द्रकुमार, श्री डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी, श्रीमती महादेवी वर्मा और डा० नगेन्द्र इत्यादि का महत्वपूर्ण स्थान है।

स्वर्गीय जयशङ्कर प्रसाद—प्रसादजी का जन्म सं० १९४६ में काशी में हुआ था। प्रसादजी हिन्दी साहित्य के आधुनिक निर्माताओं में प्रमुख थे। यदि हम उन्हें

प्रसादजी की धनासा

आधुनिक युग का निर्माता कहें तो कोई अत्युक्ति न होगी। क्योंकि साहित्य के काव्य, उपन्यास, कहानी, नाटक, और निबंध तथा आलोचना इत्यादि सभी क्षेत्रों में उनके द्वारा नवीन आदर्शों की स्थापना हुई है। उनका साहित्यिक व्यक्तित्व हमारे सामने पाँच रूपों में प्रस्तुत है—कवि के रूप में, उपन्यासकार के रूप में, नाटककार के रूप में, कहानीकार के रूप में और निबंधकार के रूप में। कवि के रूप में प्रसादजी महाकवि थे। उन्होंने आँसू, और 'कामायनी' की रचना करके अपने महाकाव्यत्व की छाप हिन्दी साहित्य के ऊपर अमिट रूप से लगा दी। 'कामायनी' उनका प्रबन्धकाव्य है, जो हिन्दी साहित्य में अपने ढंग का अकेला है।

कविता के क्षेत्र में प्रसादजी युग के स्रष्टा है। यद्यपि कविता की भाँति ही उपन्यास के क्षेत्र में भी उनके द्वारा नवीन आदर्शों की स्थापना हुई है, पर उपन्यास के क्षेत्र में हम उन्हें युग का स्रष्टा नहीं कह सकते। क्योंकि प्रसादजी के पूर्व प्रेमचन्द जी का आविर्भाव हो चुका था, और उनके द्वारा हिन्दी उपन्यास जगत में एक नवीन युग की स्थापना हो चुकी थी। फिर भी उपन्यास जगत में प्रसादजी का गौरव पूर्ण स्थान है। प्रसादजी ने तीन उपन्यासों की रचना की है—कंकाल, तितली, और इरावती। प्रसादजी के तीनों ही उपन्यास औपन्यासिक गुणों से युक्त हैं। कथा, चरित्र चित्रण, और वार्तालाप—प्रत्येक दृष्टि से उनके उपन्यासों का सम्मान किया जा सकता है। प्रसादजी के तीनों ही उपन्यासों की कथा मौलिक है। कथा को ढूँढने, और उसके निर्माण में उन्होंने अपनी मौलिक सूझ बूझ का परिचय किया है। उनके उपन्यासों की कथा मौलिक होने के साथ ही साथ अधिक स्वाभाविक और सजीव भी है। उन्होंने अपने उपन्यासों की कथाओं में जीवन को ढालने का प्रयत्न किया है। उनकी कथाओं में जीवन बोलता है। यही कारण है, कि उनकी कथाओं में मार्मिकता के साथ ही साथ रोचकता उतर आई है। उनके उपन्यासों के पात्र अत्यधिक सजीव और स्फूर्ति वान है। उनमें हृदय की विशालता, और मनस्विता है। वे बड़ी चतुराई से अपने पथ की मंजिलों को पार करते हैं। वे अपने हृदय की कलुषिता को भी नहीं छिपाते। जीवन के कल्याण के लिए वे अपने पाप को भी बड़े साहस के साथ सामने उपस्थित कर देते हैं। प्रसादजी के उपन्यासों में पात्रों के चरित्र चित्रण में स्वाभाविकता के साथ काम लिया गया है। चरित्र चित्रण में उन्होंने मनोवैज्ञानिकता का ही आंचल पकड़ा है। वे बड़ी कुशलता, और तीव्रता से पात्रों के हृदय में प्रवेश करते हैं, और उनके मन के द्वन्दों का चित्र उपस्थित करके उनके चरित्र पर प्रकाश डालते हैं। उनके उपन्यासों में भाव प्रवणता विशेष रूप से पाई जाती है। उन्होंने कथा, चरित्र चित्रण और संवाद-इत्यादि सबको भावों के साँचे में ढाला है। अतः उनके उपन्यासों में काव्य के तत्त्वों का समावेश हो गया

है। काव्य के तत्त्वों का समावेश हो जाने के कारण ही उनके उपन्यास हृदय को पकड़ते हैं, और उसके भीतर आनन्द का रस घोलते हैं।

नाट्यकला के क्षेत्र में प्रसादजी को सर्वाधिक सफलता प्राप्त हुई है। उपन्यासों की अपेक्षा प्रसादजी ने नाटकों की रचना में अधिक सफलता प्राप्त की है। हिन्दी साहित्य में उन्हें जो सुकीर्ति प्राप्त हुई है, उसमें उनके नाटकों का अधिक योग है। प्रसादजी ने कुल बारह नाटकों की रचना की है, जिनके नाम इस प्रकार हैं—सज्जन, प्रायश्चित, विशाख, जनमेजय का नागयज्ञ, चन्द्रगुप्त, एक घूँट, करुणालय, राज्यश्री, अजातशत्रु, कामना, स्कन्द गुप्त, और ध्रुव स्वामिनी। 'सज्जन' और 'प्रायश्चित' उनकी प्रारम्भिक रचनाएँ हैं, जो चित्राधार में सम्मिलत हैं। विशाख ऐतिहासिक है। जनमेजय के नागयज्ञ की कथा पुराणों से ली गई है। चंद्रगुप्त अजात शत्रु, स्कन्द गुप्त, और राज्यश्री की रचना भारतीय इतिहास के पृष्ठों के आधार पर हुई है। करुणालय एक गीति नाट्य है, जो भावों की प्रवणता में सना हुआ है। 'एक घूँट' एक भाव रूपक है, जिसमें सांकेतिकता का विकास मिलता है।

प्रसादजी के सभी नाटक मौलिक हैं। उनके नाटकों को हम तीन वर्गों में विभाजित कर सकते हैं—ऐतिहासिक, पौराणिक, और भावात्मक। ऐतिहासिक और पौराणिक नाटकों में उन्होंने भारत के अतीत स्वर्णमय युगों के आदर्शों को सामने रखने का प्रयत्न किया है। इन नाटकों में यद्यपि कथा बहुत पुरानी है, पर प्रसादजी ने उसे आधुनिकता के साँचे में ढाला है। इन नाटकों में जहाँ भारत के प्राचीन जीवन-आदर्शों की झलक मिलती है, वहाँ पात्रों के मन की भाव-तरङ्गें भी देखने को मिलती हैं। प्रसादजी के सभी नाटकों में अंतर्द्वंदों का चित्रण बड़ी कुशलता के उपस्थित किया गया है। प्रसादजी बड़ी चतुराई के साथ पात्रों के मन के भीतर प्रवेश करते हैं, और उनके मन के उस छोर से सच्ची बातें निकाल लाते हैं, जिसे सूर्य की किरणें भी नहीं देख पातीं। प्रसादजी के पात्र यद्यपि अधिक प्राचीन युग के हैं, पर उनकी संवाद कला में आधुनिक मनोवैज्ञानिकता है। प्रसादजी ने अपने पात्रों के चरित्र चित्रण में भी पूर्ण रूप से स्वाभाविकता और आधुनिकता का संयोग स्थापित किया है।

प्रसादजी के नाटकों में हृदय और मस्तिष्क—दोनों का संयोग बड़ी कुशलता के साथ स्थापित हुआ है। उनके नाटकों में एक ओर जहाँ मनोवैज्ञानिकता है, वहाँ दूसरी ओर भावात्मकता भी है। वरन् कहना तो यह चाहिए, कि उनकी मनोवैज्ञानिकता पर भावात्मकता का आधिपत्य है! इसका एक मात्र कारण है, प्रसादजी का काव्यत्व! प्रसादजी सर्व प्रथम कवि थे, उसके पश्चात् नाटककार और उपन्यासकार इत्यादि। प्रसादजी की काव्यकला उनकी नाट्य, उपन्यास, और कहानी कला से अधिक प्रभाव पूर्ण और क्षमता शलिनी थी। यही कारण है, कि उनकी नाट्य और उपन्यास कला पर काव्य कला का प्रभाव है। प्रसादजी के नाटकों में काव्य के तत्त्व स्वाभाविक रूप में घुले-मिले हैं। उनके नाटकों में जहाँ काव्य का

आनन्द आता है, वहाँ उनमें कथावस्तु चरित्र चित्रण, कथोपकथन, दृश्य, और अभिनयात्मकता की भी स्वाभाविकता मिलती है।

कहानी के क्षेत्र में भी प्रसादजी की प्रतिभा ने अपनी सत्ता स्थापित की है। काव्य, नाटक, और उपन्यास की भाँति कहानी के क्षेत्र में भी प्रसादजी ने नवीन आदर्शों की स्थापना की है। प्रसादजी ने कई दर्जन कहानियाँ लिखी हैं। उनकी कहानियों को हम तीन वर्गों में विभक्त कर सकते हैं—भावात्मक, रहस्यवादात्मक, और यथार्थ वादात्मक। उनकी भावात्मक कहानियाँ कहानी कला की दृष्टि से सर्वोत्तम नहीं कही जा सकतीं। अपनी भावात्मक कहानियों में वे कहानी कला के निम्न धरातल पर दिखाई देते हैं। उनकी कहानी कला का आदर्श स्वरूप उनकी रहस्य वादात्मक, और यथार्थ वादात्मक कहानियों में देखने को मिलता है। उनकी रहस्य वादात्मक कहानियाँ सांकेतिकता के अद्भुत चित्र उपस्थित करती हैं। कथा चरित्र चित्रण, संवाद, घटना, प्रेम, निष्ठुरता, वियोग इत्यादि कहानी के संपूर्ण अंगों और स्थलों के चित्र संकेत के द्वारा ही स्पष्ट हुए हैं। उनकी यथार्थवादी कहानियाँ जीवन के वास्तविक दुखों और सुखों के चित्र उपस्थित करती हैं। जीवन के विभिन्न और वास्तविक चित्रों को उपस्थित करने में उनकी यथार्थवादी कहानियाँ अद्वितीय हैं। प्रसादजी ने ऐतिहासिक कहानियाँ भी लिखी हैं, जिन पर भावात्मकता का रंग है।

प्रसादजी ने उत्कृष्ट निबन्धों की भी रचना की है। उनके निबन्ध तीन प्रकार के हैं। एक प्रकार के निबन्ध वे हैं, जो चित्राधार में संगृहीत हैं। यह निबन्ध उनके प्रारम्भिक काल के निबन्ध हैं। विषय, शैली, और भाषा की दृष्टि से इनमें शिथिलता है। दूसरे प्रकार के निबन्ध वे हैं, जो भूमिका के रूप में लिखे गए हैं। इन निबन्धों में गम्भीर ज्ञान की झलक मिलती है। इनकी भाषा और शैली भी अधिक प्रौढ़ तथा सुव्यवस्थित है। प्रसादजी के तीसरे प्रकार के निबन्ध उनके 'काव्य और कला' में संगृहीत हैं। इनकी भाषा और शैली दूसरे प्रकार के निबन्धों की भाषा और शैली से भी अधिक प्रौढ़ और व्यवस्थित है। इनमें जहाँ निबन्धीय कला का उचित रूप में विकास हुआ है, वहाँ इनमें गम्भीरता और अध्ययन शीलता भी अधिक मिलती है।

प्रसादजी युग स्रष्टा थे। उन्होंने कविता, कहानी, उपन्यास, और नाटक इत्यादि सभी क्षेत्र में नवीन आदर्शों की स्थापना की है। प्रत्येक क्षेत्र में उनका अपना

प्रसादजी की शैली

एक व्यक्तित्व है, अपना एक ढङ्ग है। उनके व्यक्तित्व के अनुरूप ही उनकी अपनी शैली भी है। उनकी शैली पर उनके व्यक्तित्व का रंग है। उनकी शैली अपने ढङ्ग की अद्भुत शैली है। उनकी शैली का झुकाव मुख्य रूप से भावात्मकता की ओर पाया जाता है। वे अपने प्रत्येक वाक्य और प्रत्येक शब्द को भावात्मकता, और सांकेतिकता के साँचे में ढालते हुए दिखाई देते हैं। यही कारण है, कि उनकी शैली काव्य-युक्त हो गई है। काव्य युक्त होने

पर फिर भी उनकी शैली में स्वाभाविकता का प्रचुर अंश है। उनकी शैली काव्य-युक्त होने पर भी कहीं भी चमत्कारिकता का अंचल नहीं पकड़ती। वह सर्वत्र स्वाभाविकता के धरातल पर ही रह कर अपना अभिसार करती है। प्रसादजी के प्रत्येक शब्द और वाक्य अधिक सजीव और स्फूर्तिवान हैं। वे अपने छोटे से छोटे वाक्य में भी गम्भीर भाव भर देते हैं।

प्रसादजी की शैली दुरूह और गम्भीर है। इसका कारण यह है, कि प्रसादजी ने अपनी रचनाओं के कथानक भारतीय संस्कृति के उस काल से लिए हैं, जो गम्भीरता के लिए अधिक प्रसिद्ध है, और साथ ही साथ जो अभी हमारे लिए अस्पष्ट भी है। दूसरी बात यह है, कि प्रसादजी ने अपने नाटकों में घात-प्रतिघात तथा अंतर्द्वंदों का चित्रण किया है। उनके सभी नाटक मानव प्रवृत्तियों के संघर्ष स्थल हैं। स्पष्ट बात है, कि मानव प्रवृत्तियों के चित्रण में, जो रहस्यमयी होती हैं, गम्भीरता और दुरूहता स्वाभाविक रूप में आ जाती है। प्रसादजी की शैली के दुरूह होने का तीसरा कारण यह है, कि प्रसादजी दार्शनिक विचारों के व्यक्ति थे। उनकी रचनाओं में उनके दार्शनिक विचारों की स्पष्ट छाप दिखाई पड़ती है। स्थान-स्थान पर उनके कवि-हृदय की भावुकता भी परिलक्षित होती है। प्रसादजी कवि प्रथम हैं, और नाटककार तथा उपन्यासकार पीछे। उनके कथन में स्पष्ट रूप से काव्य के तत्त्व दिखाई पड़ते हैं। उनके कथन का ढङ्ग अधिक अनोखापन लिए हुए हैं। उनकी उक्तियों में चमत्कार है। उन्होंने सीधी सादी बात भी इस ढङ्ग से प्रस्तुत की है, कि उसमें रोचकता आ गई है। प्रसादजी की रचनाओं में सर्वत्र कथन की रोचकता दिखाई पड़ती है। उनके नाटकों में कथन की रोचकता का अंश और भी अधिक स्पष्ट हो गया है। किन्तु कथन में रोचकता के होते हुए भी कहीं भी अस्वाभाविकता नहीं दिखाई पड़ती। प्रसादजी की शैली की यह सबसे बड़ी विशेषता है। प्रसादजी की शैली चमत्कार युक्त होने पर भी सर्वत्र दुख, सुख, हर्ष और विषाद इत्यादि मनोभावों का चित्रण बड़ी स्वाभाविकता के साथ करती है।

प्रसादजी की शैली भाव-प्रकाशन में बड़ी तीव्र है। उनकी दृष्टि बड़ी पैनी और कुशल है। वे अन्तस्तल के मार्मिक भावों का अनुसन्धान बड़ी सूक्ष्मता के साथ करते हैं। भावों के अनुरूप ही वे शब्दों और वाक्यों का प्रयोग करते हैं। उनके शब्द और वाक्य मार्मिक भावों का चित्र उपस्थित करने में बड़े कुशल हैं। उनके नाटकों में भावात्मक शैली के उत्कृष्ट दृष्टांत मिलते हैं। नाटकों में जहाँ उन्होंने अन्तर्द्वंदों का चित्रण किया है, भावात्मक शैली मुखरित हो उठी है। उनकी शैली बड़ी ओज पूर्ण है। उनके नाटकों में ओज पूर्ण शैली के भी उदाहरण मिलते हैं। नाटकों में जहाँ उन्होंने देश, प्रेम, त्याग, और वीरता इत्यादि मनोभावों का चित्रण किया है, वहाँ ओज पूर्ण शैली का सुन्दर स्वरूप देखने को मिलता है। इसी प्रकार कहानियों और उपन्यासों में भी ऐसे स्थलों पर ओज पूर्ण शैली के दर्शन होते हैं। प्रसादजी ने कहीं-कहीं व्यंगात्मक, और चुटीली शैली का

भी प्रयोग किया है। उनकी व्यंगात्मक शैली में तीव्रता नहीं, मधुरता और मिठास है।

शैली की भाँति ही प्रसादजी की भाषा पर भी उनके व्यक्तित्व की छाप है। प्रसादजी उच्चकोटि के साहित्यकार और कलाकार थे। उन्होंने अपने साहित्यिक जीवन के अनुरूप ही अपनी भाषा का गठन किया है। उनकी भाषा अधिक गंभीर, कलात्मक, और प्रभाव पूर्ण है। उनकी भाषा के दो रूप मिलते हैं—एक व्यावहारिक, और दूसरा संस्कृत प्रधान। भाषा का व्यावहारिक स्वरूप उनकी प्रारंभिक रचनाओं में मिलता है। प्रौढ़ काल की रचनाओं में भी, उन स्थलों पर व्यावहारिक भाषा ही दिखाई पड़ती है, जहाँ उनके पात्र अधिक भावावेश में आ गए हैं, अथवा जहाँ उन्होंने अधिक भावावेश में आकर भावों का चित्रण किया है। उनकी व्यावहारिक भाषा अधिक सरस और सरल है। उसमें छोटे छोटे वाक्य हैं, जो अधिक भावमय हैं। व्यावहारिक भाषा में अधिकतर सरल शब्दों का ही प्रयोग किया गया है। प्रसादजी की भाषा का दूसरा स्वरूप वह है, जो संस्कृत प्रधान है। प्रसादजी की भाषा के इस स्वरूप का विकास शनैः शनैः हुआ है। ज्यों ज्यों प्रसादजी का अध्ययन बढ़ता गया है, और ज्यों ज्यों उनके विचारों में दार्शनिकता का समावेश होता गया है, त्यों त्यों उनकी भाषा भी संस्कृत प्रधान होती गई है। उनकी इस भाषा में संस्कृत के तत्सम शब्दों की प्रधानता है। उनके शब्द उनके भावों के ही अनुकूल हैं। उनके शब्दों में मैत्री, और संबद्धता है। उन्होंने जहाँ जिस शब्द का प्रयोग किया है, आवश्यकता के ही अनुरूप किया है। उनके शब्दों में सांकेतिकता और लाक्षणिकता भी है। सांकेतिक और लाक्षणिक शब्दों की अधिकता के कारण उनकी भाषा अधिक सांकेतिक है। भाव-व्यंजकता उनकी भाषा की मुख्य विशेषता है। लोकोक्तियों और मुहाविरों का प्रयोग प्रसादजी की भाषा में बहुत कम मिलता है। अन्यान्य भाषाओं के शब्द भी उनकी भाषा में बहुत कम प्रयुक्त हुए हैं।

प्रसादजी की भाषा

स्वर्गीय प्रेमचन्दजी का जन्म सम्वत् १९३७ में बनारस जिलांतर्गत पांडेपुर नामक गाँव में हुआ था। हिन्दी साहित्य में प्रेमचन्दजी एक अमर उपन्यासकार के रूप में प्रसिद्ध हैं। उन्होंने हिन्दी उपन्यास जगत में एक नवीन युग की स्थापना की है। उनके पूर्व हिन्दी साहित्य में मौलिक उपन्यासों का अभाव था। जो मौलिक उपन्यास थे, वे या तो तिलिस्मी थे, और या उनके सृजन में चमत्कारिक घटनाओं की प्रधानता थी। प्रेमचन्दजी ने ही सर्व प्रथम ऐसे उपन्यासों की सृष्टि की, जिनमें 'जीवन' आविर्भूत हुआ है। हिन्दी उपन्यास का सम्बन्ध सर्व प्रथम प्रेमचन्दजी ने ही 'जीवन' से स्थापित किया है। प्रेमचन्दजी के सभी उपन्यास जीवन को ही लेकर चलते हैं। किसी का आधार सामाजिक जीवन है, तो किसी का आधार राजनीतिक। उन्होंने अपने उपन्यासों को सामाजिक और राजनीतिक चित्रों से ही सँजोया है। उनके

प्रेमचन्दजी की साहित्य साधना

सभी उपन्यास सामाजिक, और राजनीति स्थितियों के विभिन्न चित्र सामने उपस्थित करते हैं।

प्रेमचन्दजी की समाज, और तत्कालीन राजनीतिक से अधिक पहचान थी। वे समाज के भीतर घुस कर उसके विकारों को भली प्रकार देख चुके थे। उन्होंने अपने उपन्यासों में समाज के विभिन्न विकारों का ही चित्रण किया है। उन्होंने समाज के विकारों का चित्रण करके समाज को उन्नत बनाने का प्रयत्न किया है। प्रेमचन्दजी ने कई उपन्यासों की रचना की है, जिनके नाम इस प्रकार हैं—प्रेमा, निर्मला, सेवा सदन, प्रेमाश्रम, रंगभूमि, गोदान, कर्म भूमि, और गबन। 'प्रेमा' इनका प्रथम प्रयास है। इसका प्रकाशन उर्दू में हुआ था। हिन्दी के क्षेत्र में प्रवेश करने पर यह 'निर्मला' के नाम से प्रकाशित हुआ। इसके पश्चात् इन्होंने कई उपन्यासों की रचना की। इनके उपन्यासों में 'सेवा सदन', प्रेमाश्रम, रंग भूमि, कर्म भूमि, गबन और गोदान का महत्त्व पूर्ण स्थान है। इनकी औपन्यासिक कला का परिचय लोगों को सेवा सदन के ही द्वारा प्राप्त हुआ। 'सेवा सदन' के प्रकाशन के पूर्व उपन्यास-जगत में इनका साधारण स्थान था। 'सेवा सदन' ने इनकी ख्याति का केतु चारों ओर उड़ा दिया। हिन्दी जगत में 'सेवा सदन' पहला उपन्यास है, जिसमें जीवन आविर्भूत हुआ है। सेवा सदन के पश्चात् प्रेमाश्रम और रंग भूमि का प्रकाशन हुआ। 'सेवा सदन' में प्रेमचन्दजी की जिस औपन्यासिक कला ने जीवन से अपना सम्बन्ध जोड़ा है, उसने रंग भूमि और 'प्रेमाश्रम' में अपने सम्बन्ध को और भी अधिक दृढ़ बनाया है। 'कर्म भूमि', गबन, और गोदान में उसका संबंध जीवन के साथ और भी अधिक विस्तृत रूप में हुआ है।

उपन्यासों के अतिरिक्त प्रेमचन्दजी ने कहानियाँ और नाटक भी लिखे हैं। उनकी कहानियों के कई संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं, जिनके नाम इस प्रकार हैं—प्रेरणा, कफन, नवनिधि, ग्राम जीवन की कहानियाँ, नारी जीवन की कहानियाँ, पञ्च प्रसून, प्रेम द्वादशी, प्रेम पचीसी, प्रेम पूर्णिमा, प्रेम चतुर्थी, मन मोदक, मान सरोवर ५ भाग, समर भूमि, सप्त सरोज, अग्नि समाधि, प्रेम गङ्गा, प्रेम पंचमी और सप्त सुमन। प्रेमचन्दजी की कहानियों को हम चार वर्गों में विभक्त कर सकते हैं—समाजिक, राजनीतिक, ऐतिहासिक, और ग्रामीण तथा पारिवारिक। इनकी कहानियों में आदर्शवाद की पुष्टि हुई है। इन्होंने अपनी कहानियों में 'तथ्य' और यथार्थ को सामने प्रस्तुत करते हुए जीवन को आदर्श की ओर ले जाने का प्रयत्न किया है। इन्होंने चार नाटकों की भी रचना की है, जिनके नाम इस प्रकार हैं—कर्बला, प्रेम की वेदी, संग्राम, तथा रूठी रानी। नाट्यकला के क्षेत्र में प्रेमचन्दजी को अधिक सफलता नहीं प्राप्त हो सकी है। इनकी नाट्यकला का स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं दिखाई पड़ता। इनके उपन्यासों में जो नाटकीय कला है, उसी का विकास इनके नाटकों में हुआ है। प्रेमचन्दजी ने कुछ जीवन चरित्र और निबन्ध भी लिखे हैं, तथा कुछ पुस्तकों का अनुवाद भी किया है।

प्रेमचन्दजी की शैली

प्रेमचन्दजी पहले उर्दू के लेखक थे। उर्दू में उनकी कई प्रारम्भिक रचनाएँ प्रकाशित हो चुकी थीं। उर्दू के कहानी लेखकों में उनका अधिक आदर पूर्ण स्थान भी था। हिन्दी के क्षेत्र में आने के पूर्व वे उर्दू के कहानी लेखकों में यश प्राप्त कर चुके थे। उर्दू में उनकी भाषा और शैली भी अधिक परिमार्जित हो चुकी थी। पर हिन्दी के क्षेत्र में आने पर उन्हें पुनः शैली और भाषा के सम्बन्ध में नया प्रयास करना पड़ा। यही कारण है, कि उनकी प्रारम्भिक कृतियों में जो शैली मिलती है, वह प्रवाहहीन और शिथिल है। हिन्दी के क्षेत्र में आने पर उन्होंने ज्यों ज्यों उन्नति की है, त्यों त्यों उनकी शैली का भी विकास हुआ है। उनकी अंतिम रचनाओं में प्रौढ़ और परिमार्जित शैली का विकास हुआ है। उनकी शैली को हम निम्नांकित नामों से अभिहित कर सकते हैं—परिचयात्मक, भावात्मक, विचारात्मक, अभिनयात्मक, विश्लेषणात्मक, और आलोचनात्मक। आलोचनात्मक शैली उनके निबन्धों में आविर्भूत हुई है। शेष शैलियाँ उनके उपन्यासों और कहानियों में पाई जाती हैं।

प्रेमचन्दजी की सभी शैलियाँ सजीव और चित्ताकर्षक हैं। उनकी शैलियों में कई प्रकार की विशेषताएँ पाई जाती हैं। प्रेमचन्दजी उर्दू के क्षेत्र से हिन्दी में पधारे थे। अतः उनकी शैली पर उर्दू का रंग है। इस बात को हम इस रूप में कह सकते हैं, कि उनकी शैली में उर्दू की शैली मिली हुई है। उनकी शैलियों में एक ओर हिन्दी की गम्भीरता है, और दूसरी ओर उर्दू का चुलबुलापन है। हिन्दी और उर्दू शैली के मिश्रण के कारण उनकी शैलियों में अधिक सजीवता उत्पन्न हो गई है। प्रेमचन्दजी की सभी शैलियों में यह सजीवता मुख्य रूप से पाई जाती है। सजीवता के साथ ही साथ सरलता का प्रचुर अंश भी उनकी शैलियों में मिलता है। शैलियों को सरलता के साँचे में ढालने में प्रेमचन्दजी एक ही व्यक्ति थे। शैलियों में सरलता उत्पन्न करने के लिए उन्होंने सरल और व्यावहारिक शब्दों का आश्रय ग्रहण किया है। उनके शब्द बड़े स्वाभाविक, और भावों के अनुकूल हैं। उनकी शैलियाँ सर्वत्र कृत्रिमता से दूर, भावों की ही सृष्टि करती हुई दिखाई पड़ती हैं। कहीं कहीं उनकी शैलियों में अलङ्कारिकता भी मिलती है।

प्रेमचन्दजी की शैलियाँ भावों का चित्र उपस्थित करने में तीव्र हैं। उन्होंने जहाँ जिस भाव का चित्र उपस्थित किया है, बड़ी तन्मयता और सजीवता के साथ उपस्थित किया है। उनकी सभी शैलियाँ अधिक प्रभाव पूर्ण हैं। भावों के चित्र को उपस्थित करने में उनका जो उद्देश्य होता है; वे अपने उस उद्देश्य की पूर्ति बड़ी तन्मयता के साथ करती हैं। प्रभावोत्पादकता होने के साथ ही साथ प्रेमचन्दजी की शैलियोंमें अभिनयात्मकता भी पाई जाती है। उनके उपन्यासों के पात्र पग-पग पर नाटकीय ढङ्ग से बातचीत करते हैं। उनके उपन्यासों और कहानियों में जहाँ नाटकीय कला का समावेश हुआ है, वहाँ उनमें अधिक सजीवता, और ओजस्विता उत्पन्न हो गई है। कहीं कहीं उनकी शैलियों में हास्य और व्यंग का पुट भी पाया

जाता है। सूक्तियों और मुहाविरों का प्रयोग भी उन्होंने अपनी शैलियों में बड़ी सुन्दरता के साथ किया है।

प्रेमचन्दजी की भाषा प्रेमचन्दजी की भाषा को हम दो वर्गों में विभक्त कर सकते हैं—प्रारंभिक काल की भाषा, और प्रौढ़ काल की भाषा। उर्दू के क्षेत्र से हिन्दी में आने पर उन्होंने पहले पहल जो पुस्तकें लिखी हैं, उनमें प्रारम्भिक काल की ही भाषा मिलती है। उनकी यह भाषा अधिक उर्दू मिश्रित है। उसमें प्रवाह, और सौन्दर्य का भी अभाव है। व्याकरण की दृष्टि से उसमें अन्तत्र अशुद्धियाँ भी पाई जाती हैं। पर ज्यों ज्यों वे हिन्दी के क्षेत्र में प्रविष्ट होते गए हैं, त्यों त्यों उनकी भाषा का भी विकास होता गया है। उनकी प्रौढ़ काल की रचनाओं में प्रौढ़ भाषा का रूप देखने को मिलता है। यह भाषा अधिक व्यावहारिक और सरल है। उसमें प्रवाह, और सौन्दर्य भी अधिक है। यह अधिक परिमार्जित और साफ-सुथरी है। इसमें शब्दों का चुनाव बड़ी कुशलता के साथ किया गया है। हिन्दी के शब्दों के साथ उर्दू के शब्दों का प्रयोग भी इस भाषा में मिलता है। उर्दू के शब्द हिन्दी-शब्दों के प्रभाव की छाया में ही प्रयुक्त हुए हैं। शब्दों में सजीवता, सरलता और भाव व्यंजकता भी है। स्वाभाविकता उनके शब्दों में विशेष रूप से भरी हुई है। उनके शब्द बड़ी कुशलता के साथ भावों का चित्र उपस्थित करते हैं। शब्दों में परस्पर मैत्री, और सङ्गठन है। शब्दों की पारस्परिक मैत्री के कारण वाक्यों में विशेष रूप से प्रभावोत्पादकता पाई जाती है। अन्त-तत्र सूक्तियों और मुहाविरों का प्रयोग भी उनकी भाषा में मिलता है, जिससे उनकी भाषा और भी अधिक प्राणमय तथा प्रभावोत्पादिनी बन गई है।

श्री गुलाबरायजी की साहित्य साधना श्री गुलाबरायजी का जन्म सं० १९४४ में इटावा नगर के छोपैटी नामक मुहल्ले में हुआ था। श्री गुलाबरायजी हिन्दी के सुयोग्य विद्वान और सुलेखक हैं। हिन्दी, संस्कृत, और अँगरेजी इत्यादि भाषाओं पर उनका आधिपत्य है। उन्होंने इन भाषाओं का अध्ययन बड़ी गम्भीरता, और तन्मयता के साथ किया है। उनकी जो रचनाएँ हमारे सामने हैं, उन पर उनके अध्ययन की छाप स्पष्टतः दिखाई पड़ती है। वे अपने जीवन के प्रारम्भ काल से ही साहित्य की सेवा में संलग्न हैं। उन्होंने साहित्य की अभिवृद्धि के लिए जो साधना की है, उसे हम दो रूपों में विभक्त कर सकते हैं—निबन्धकार के रूप में, और संपादक के रूप में। निबन्धकार के रूप में उन्होंने तीन प्रकार के निबन्ध तथा पुस्तकें लिखी हैं—दार्शनिक, आलोचनात्मक, और व्यावहारिक तथा छात्रोपयोगी। उनकी प्रारंभिक रचनाएँ दार्शनिक भावों से ओत प्रोत हैं। उनमें दार्शनिक रहस्यों की खोज बड़ी गहराई के साथ की गई है, तथा दार्शनिक सिद्धांतों पर प्रकाश भी बड़ी तन्मयता के साथ डाला गया है। श्री गुलाबरायजी हिन्दी के सफल समालोचक हैं। उनकी समालोचना शैली पर शुक्लजी की शैली का प्रभाव है। वे बड़ी सूक्ष्मता के साथ विषय के भीतर प्रवेश करते हैं, और बड़ी सरलता के

साथ विषय का विश्लेषण करते हैं। विषय का विश्लेषण करने में जहाँ उनकी सूक्ष्मता, और तार्किकता का परिचय मिलता है, वहाँ उनकी अध्ययन की गम्भीरता भी दिखाई पड़ती है। उनकी कई समालोचनात्मक कृतियाँ अब तक सामने आ चुकी हैं, जिनमें नवरस, 'सिद्धांत और अध्ययन', तथा काव्य के रूप अधिक प्रसिद्ध हैं। इन कृतियों में जहाँ समालोचना के सिद्धांतों का प्रतिपादन हुआ है, वहाँ साहित्य के विभिन्न अंगों पर विवेचना पूर्वक प्रकाश भी डाला गया है। श्री गुलाब रायजी ने व्यावहारिक और उपयोगी विषयों पर भी पुस्तकों की रचना की है। इन पुस्तकों में प्रबन्ध प्रभाकर, हिन्दी साहित्य का सुबोध इतिहास, विज्ञान वार्ता, और हिन्दी नाट्य विमर्श इत्यादि अधिक प्रसिद्ध हैं। इनके अतिरिक्त उन्होंने विभिन्न उपयोगी विषयों पर निबन्धों की भी रचना की है। श्री गुलाबरायजी की साधना का दूसरा रूप वह है, जिसकी पूर्ति पत्रों के द्वारा हुई है। सामयिक पत्र पत्रिकाओं से उनका सदा संबंध रहा है। उनके दार्शनिक, आलोचनात्मक, और विभिन्न विषयों पर उपयोगी निबन्ध सदा पत्रों में प्रकाशित होते रहे हैं। इधर आगरे से प्रकाशित होने वाले साहित्य सन्देश से विशेष रूप से उनका संबंध रहा है। 'साहित्य सन्देश' के वे कुछ दिनों तक सम्पादक भी रहे हैं।

हिन्दी के वर्तमान गद्यकारों में श्री गुलाबरायजी का महत्व पूर्ण स्थान है। उन्होंने विभिन्न विषयों का अध्ययन बड़ी गम्भीरता के साथ किया है। उनके अध्ययन का मुख्य विषय साहित्य और दर्शन है। साहित्य में 'समालोचना' से उनकी अधिक घनिष्ठता है। उनका साहित्यिक व्यक्तित्व 'तर्क और विवेचना' के तत्त्वों से संगठित है। उनकी शैली पर उनके व्यक्तित्व की छाप है। जिस प्रकार उनके व्यक्तित्व में 'तर्क' और 'विवेचना' के तत्त्वों की प्रधानता है, उसी प्रकार उनकी शैली भी तर्क और विवेचना के ही तत्त्वों पर आधारित है। उनकी शैली में तर्क, और विवेचना का अंश मुख्य रूप से पाया जाता है। उनकी शैली की जो संपदा हमारे समक्ष है, उसे देखते हुए हम उनकी शैली के दो वर्ग कर सकते हैं—व्याख्यात्मक शैली, और आलोचनात्मक शैली। उनकी व्याख्यात्मक शैली अधिक सरल, सुबोध, और प्रभाव पूर्ण है। उसमें छोटे छोटे प्रभाव पूर्ण वाक्य मिलते हैं। भाषा सरल, और मिश्रित होती है। इस शैली में अधिकतर व्यावहारिक शब्दों का ही प्रयोग हुआ है। कहीं कहीं दूसरी भाषाओं के भी शब्द मिलते हैं, जो व्यावहारिक ही होते हैं। उनकी दूसरी शैली आलोचनात्मक शैली है, जो पहली की अपेक्षा अधिक कठिन है। इस शैली में उन्होंने दार्शनिक और गंभीर आलोचना संबंधी निबन्धों की रचना है। उनकी यह शैली संस्कृत के विशुद्ध तत्सम शब्दों से युक्त है। कहीं कहीं उनकी शैली में हास्य और विनोद का पुट भी पाया जाता है। कहावतों और उक्तियों का प्रयोग भी उन्होंने अपनी शैली में किया है।

श्री गुलाबरायजी की शैली

शैली की भाँति ही गुलाबरायजी की भाषा भी दो प्रकार की है। एक प्रकार की

उनकी भाषा तो वह है, जिसमें संस्कृत के तत्सम शब्दों के साथ उर्दू के चलते हुए शब्द भी मिलते हैं। इस भाषा में कहीं कहीं अँगरेजी के शब्द भी प्रयुक्त हुए हैं। मुहाविरों और उक्तियों का प्रयोग भी इसी भाषा में मिलता है। यह भाषा अधिक सरल और सुबोध है। इसमें छोटे छोटे और प्रभाव पूर्ण वाक्य हैं। कहीं-कहीं संस्कृत की उक्तियों और श्लोकों के द्वारा इस भाषा को हास्य और विनोद के भी साँचे में ढाला गया है। उनकी दूसरी प्रकार की भाषा का रूप वह है, जो उनके दार्शनिक और गंभीर आलोचनात्मक निबन्धों में मिलता है। यह भाषा अधिक संस्कृतमय है। इसमें क्लिष्ट शब्दों का अधिक प्रयोग हुआ है। शब्दों की क्लिष्टता के कारण यह भाषा अधिक दुरूह हो गई है।

श्री गुलाबरायजी की भाषा

श्री पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी का जन्म संवत् १९६१ में छत्तीसगढ़ान्तर्गत राजनांदगाँव नामक राज्य में हुआ था। बख्शीजी सुयोग्य विद्वान और मननशील व्यक्ति हैं। हिन्दी, और अँगरेजी इत्यादि भाषाओं का अध्ययन उन्होंने बड़ी गंभीरता के साथ किया है। अँगरेजी और बँगला इत्यादि भाषाओं के साहित्य का अध्ययन उन्होंने तुलनात्मक, और आलोचनात्मक दृष्टि से किया है। उनका मुख्य विषय साहित्य और समालोचना है। उन्होंने साहित्य और समालोचना से संबंध रखने वाली जो कृतियाँ प्रस्तुत की हैं, उन पर स्पष्टतः उनके गंभीर ज्ञान की छाप है। सम्पादन कला के क्षेत्र में भी बख्शीजी ने सुकीर्ति प्राप्त की है। स्वर्गीय द्विवेदीजी के पश्चात् 'सरस्वती' के संपादन का कार्य उन्हीं के हाथों में पड़ा था। उन्होंने द्विवेदीजी के चरण-चिह्नों पर चल कर, अपनी प्रतिभा, और योग्यता से 'सरस्वती' को चमका दिया था।

बख्शीजी की साहित्य साधना

बख्शीजी की साहित्यिक सेवाएँ छः रूपों में विभक्त हैं—कवि के रूप में, संपादक के रूप में, अनुवादक के रूप में, कहानीकार के रूप में, आलोचक के रूप में, और निबन्धकार के रूप में। बख्शीजी का साहित्यिक जीवन कविता से ही प्रारंभ होता है। पहले पहल जब उन्होंने साहित्य जगत में प्रवेश किया, तब वे कविता ही किया करते थे। उनकी कविताओं में सुकोमल भावनाओं और अनुभूतियों की झलक मिलती है। रहस्यात्मक भावनाओं का विकास भी उनकी कविताओं में हुआ है। बख्शीजी की प्रतिभा का पूर्ण परिचय साहित्य-जगत को 'सरस्वती' के संपादक के रूप में प्राप्त हुआ है। द्विवेदीजी के पश्चात् जब उन्होंने सरस्वती के संपादन की बागडोर अपने हाथों में ली, तो थोड़े ही दिनों में उनकी कीर्ति चारों ओर फैल गई। उन्होंने कई वर्षों तक बड़े परिश्रम और लगन के साथ सरस्वती का संपादन किया। उनके संपादन काल में 'सरस्वती' अधिक फूली फली और उन्नति की ओर अग्रसर हुई। 'सरस्वती' का संपादन कार्य करते हुए उन्होंने विद्यार्थियों के लिए पुस्तकों का संपादन और अँगरेजी तथा बँगला इत्यादि भाषाओं से नाटकों और कहानियों का अनुवाद भी किया।

बख्शीजी कवि और संपादक होने के साथ ही साथ कहानीकार भी हैं। उनकी कहानियों का संग्रह 'झलमला', और 'पंच पात्र' के नाम से प्रकाशित हुआ है। 'झलमला' में उनकी मौलिक कहानियाँ संगृहीत हैं, जिनमें दार्शनिक भावों की परिपुष्टि हुई है। 'पंच पात्र' में उनकी कुछ अनूदित कहानियाँ हैं, जो अँगरेजी और बँगला से अनुवादित की गई है। आलोचना के क्षेत्र में बख्शीजी ने अधिक यश अर्जित किया है। उन्होंने विश्व साहित्य, और हिन्दी साहित्य का विमर्श की रचना करके अपने को एक सफल आलोचक के रूप में सिद्ध किया है। विश्व साहित्य में साहित्य के विभिन्न अंगों—कविता, कहानी, नाटक, कला, और भाषा इत्यादि का विवेचन किया गया है। हिन्दी साहित्य विमर्श में मध्यकालीन काव्य-धारा के क्रम-विकास पर आलोचनात्मक दृष्टि से विचार किया गया है। बख्शीजी ने अपनी इन कृतियों के द्वारा आलोचना जगत में नए आदर्शों की स्थापना की है। उन्होंने पाश्चात्य आलोचना साहित्य का अध्ययन करके उसकी शैली को हिन्दी के आलोचना-जगत में प्रवर्तित करने का प्रयत्न किया है। उन्होंने अपनी आलोचनाओं में पाश्चात्य, और प्राच्य सिद्धांतों का समन्वय करते हुए नवीन आदर्शों की स्थापना की है। बख्शीजी के निबन्धकार का रूप और सभी रूपों से अधिक विस्तृत, और कलामय है। बख्शीजी के निबन्धकार का रूप इतना विस्तृत है, कि उनके शेष सभी रूप इसी के अन्तर्गत आ जाते हैं। निबन्धकार के रूप में उन्हें सर्वाधिक सफलता प्राप्त हुई है। उनके निबन्ध अधिक भावमय, गम्भीर, विद्वत्ता पूर्ण, और विचारमय हैं। उनके एक ही निबन्ध में कविता, कहानी, और नाटक इत्यादि कई-कई तत्त्वों का समावेश हो जाता है। उनके निबन्ध विभिन्न प्रकार के हैं, जो साहित्य दर्शन, इतिहास, समाज, और अध्यात्म इत्यादि विषयों पर लिखे गए हैं। उनके निबन्धों में हृदय और मस्तिष्क-दोनों की शक्तियों का विकास साथ-साथ देखने को मिलता है।

बख्शीजी का साहित्यिक व्यक्तित्व अधिक भावमय है। वे दर्शन, इतिहास, समाज और आलोचना संबन्धी अपने निबंधों में भी अधिक भाव-विभोर दिखाई देते हैं।

बख्शीजी की शैली

उनकी विचार शक्ति अधिक संवेदनशील है। वे जो कुछ भी सोचते हैं, उसमें भावना का अधिक अंश है, यही कारण है, कि उनकी शैली में सुकुमार वृत्तियों का अधिक अंश होता है। उन्होंने अपने दार्शनिक निबंधों में भी सुकुमार वृत्तियों से काम लिया है। उनकी शैली में सुकुमार भावनाओं की प्रधानता पाई जाती है। उन्होंने जहाँ जिस भाव को व्यक्त किया है, बड़ी कोमलता के साथ व्यक्त किया है। कोमलता के साथ ही साथ उनकी शैली में सूक्ष्म दर्शिता भी है। वे विषय के भीतर बड़ी गहराई तक घुसते हैं, और उसका चित्रांकन बड़ी मार्मिकता के साथ करते हैं। चित्रांकन में वे छोटे छोटे वाक्यों से ही काम लेते हैं। वे अपने छोटे छोटे वाक्यों में अपने हृदय के उद्दीप्त और मनोरम भावों को बड़ी कुशलता के साथ भर देते हैं। उनके वाक्य बड़े स्पष्ट, गम्भीर और

प्रभावोत्पादक होते हैं। वाक्यों को बनाने वाले उनके शब्दों में संबद्धता और भावानुकूलता होती है।

बख्शीजी की शैली दो प्रकार की है—व्याख्यात्मक, और आलोचनात्मक। उनकी व्याख्यात्मक शैली उनके सामाजिक और साहित्यिक निबन्धों में मिलती है। यह शैली अधिक सरल, और स्पष्ट है। इसमें छोटे छोटे वाक्य हैं, जो अधिक भावमय हैं। आलोचनात्मक शैली का विकास उनके दार्शनिक और समीक्षात्मक निबंधों में हुआ है। विषय के अनुरूप ही इस शैली का स्वरूप भी गठित हुआ है। पहली की अपेक्षा यह शैली अधिक गंभीर और क्लिष्ट है।

बख्शीजी शैली और भाषा के क्षेत्र में शुक्लजी के अनुयायी हैं। जिस प्रकार उनकी शैली पर शुक्लजी की शैली की छाप है, उसी प्रकार उनकी भाषा भी शुक्ल

बख्शीजी की भाषा

जी के ही आदर्श पर चलती है। शुक्लजी की ही भाँति बख्शीजी ने भी अपनी भाषा को अधिक दृढ़, और क्षमता शालिनी बनाने का प्रयत्न किया है। उन्होंने अपनी भाषा को अधिक सक्षम बनाने के लिए संस्कृत के तत्सम शब्दों के साथ ही साथ आवश्यकतानुसार उर्दू के शब्दों का भी प्रयोग किया है। कहीं कहीं उन्होंने अँगरेजी शब्दों से भी काम लिया है। साधारण बोलचाल के तद्भव शब्द भी उनकी भाषा में आये हैं। इस प्रकार उन्होंने अपनी भाषा को क्षमताशालिनी बनाकर उसे सभी प्रकार के भावों को ग्रहण करने के योग्य बनाया है। उन्होंने अपनी भाषा को जहाँ सक्षम बनाया है, वहाँ उसे मृदुता के भी साँचे में ढाला है। उनकी भाषा का एक-एक शब्द अधिक मृदुल और श्रुतिमधुर है, जो भावों मे सना हुआ जान पड़ता है।

श्री वृन्दावनलाल वर्मा का जन्म सं० १९४७ में झाँसी जिलांतर्गत मऊरानीपुर नामक ग्राम में हुआ था। आधुनिक गद्यकारों में वर्माजी का आदर पूर्ण स्थान है।

वर्माजी की साहित्य साधना

वर्माजी ने गद्य के क्षेत्र में, कई रूपों में सेवा की है। उनकी सेवाओं को हम दो रूपों में विभक्त कर सकते हैं—उपन्यासकार के रूप में, और नाटककार के रूप में। वर्माजी हिन्दी के सफल और उत्कृष्ट उपन्यासकार हैं। उनके उपन्यास दो प्रकार के हैं—ऐतिहासिक और सामाजिक। वर्माजी ने अपने ऐतिहासिक उपन्यासों के लिए बुन्देलखण्ड के प्राचीन इतिहास के पृष्ठों से कथानक लिए हैं। उनके ऐतिहासिक कथानकों में भावों की अपेक्षा तथ्य का ही अधिक विकास हुआ है। उन्होंने तथ्य में कल्पना और भावना का भी संमिश्रण किया है। इस प्रकार उनके ऐतिहासिक उपन्यास तथ्य, कल्पना, और भावना के अनुपम संयोग के कारण सजीवता की मूर्ति बन गए हैं। उनके ऐतिहासिक उपन्यासों के पात्र भी कथानक के ही अनुरूप हैं। जिस प्रकार उनके ऐतिहासिक उपन्यासों के कथानक त्याग, वीरता, आत्मदान, देशभक्ति और पुरुषार्थ के भावों से उल्लसित हैं, उसी प्रकार उनके पात्र भी त्याग, वीरता, और सजीवता की प्रतिमूर्ति हैं। उन्होंने अपने पात्रों के चरित्र चित्रण में अधिक स्वाभाविकता

से काम लिया है। उनका प्रत्येक चरित्र वीरता, और त्याग के चित्र उपस्थित करता है। उन्होंने ऐसे भी चरित्रों के चित्र उपस्थित किए हैं, जो प्रत्यक्ष रूप से समाज के लिए हितकर नहीं होते। पर अप्रत्यक्ष रूप से उनके चित्रण में भी वर्माजी का उद्देश्य समाज का हित ही है। उनका चरित्र चित्रण यद्यपि आदर्शवाद को दृष्टि में रख कर किया गया है, पर उसमें यथार्थवाद का भी पुट है। सामाजिक उपन्यासों में समाज की विकृतियों, और समस्याओं को अपना लक्ष्य बनाया गया है। सामाजिक कुरीतियों का चित्रण करते हुए, सामाजिक उपन्यासों में राष्ट्रीय चेतनाओं और पारिवारिक समस्याओं पर भी प्रकाश डाला गया है।

उपन्यासों की भाँति वर्माजी ने नाटकों की रचना भी की है। उनके नाटक भी दो प्रकार के हैं—ऐतिहासिक, और सामाजिक। पर उन्हें जितनी अधिक सफलता उपन्यास रचना में मिली है, उतनी नाटक प्रणयन में नहीं मिली। उनके नाटकों में हंसमयूर ही एक ऐसा नाटक है, जो कला की दृष्टि से सर्वोत्तम कहा जा सकता है। शेष नाटक साधारण कोटि के हैं। वर्माजी के सभी नाटक अभिनयात्मक हैं। उनके सभी नाटकों का अभिनय रंग मञ्च पर सफलता के साथ किया जा सकता है।

वर्माजी ने गद्य के क्षेत्र में मुख्य रूप से उपन्यासों और नाटकों की रचना की है। उनकी कृतियों में उनकी दृष्टि विशेष रूप से एक ही दिशा की ओर केन्द्रित जान पड़ती है—भारत के एक विशेष युग के गौरव पूर्ण जीवन को चित्रित करना। इस चित्रण में उन्होंने दो रीतियों से काम लिया है—वर्णनात्मक रीति के द्वारा, और भावात्मक रीति के द्वारा। कहीं कहीं उनके चित्रण में वर्णन की प्रधानता है, और कहीं कहीं वे अधिक भाव-विभोर भी हो गए हैं। उनके चित्रण की इन रीतियों को सामने रखते हुए हम उनकी शैली के दो वर्ग कर सकते हैं—वर्णनात्मक शैली, और भावात्मक शैली। उनकी वर्णनात्मक शैली सरल तो है, पर उसमें प्रवाह की कमी है। यद्यपि उसमें छोटे छोटे भाव पूर्ण और संयत वाक्यों की अधिकता है, पर कहीं कहीं वह अधिक शिथिल भी हो गई है। वर्माजी की दूसरी शैली, जो भावात्मक है, उनकी वर्णनात्मक शैली से अधिक प्रवाह पूर्ण और हृदय स्पर्शिनी है। उनकी यह शैली पहली की अपेक्षा अधिक प्रभाव पूर्ण भी है। इस शैली में उन्होंने उपमाओं का अधिक प्रयोग किया है। उपमाओं के प्रयोगाधिक्य के कारण कहीं कहीं भावोद्रेक में बाधा उपस्थित होती जान पड़ती है।

वर्माजी की शैली

वर्माजी हिन्दी, संस्कृत, और अँगरेजी के विद्वान हैं। उन्होंने निबन्ध की रचना नहीं, उपन्यास और नाटकों की रचना की है। उनकी रचनाओं के ही अनुरूप उनकी शिष्ट भाषा है। उन्होंने अपनी भाषा का गठन अपने भावों को ध्यान में रख कर किया है। भावों को ध्यान में रखते हुए ही उन्होंने शब्दों का चयन भी किया है। उनकी सभी शब्द संयत, और अर्थ पूर्ण

वर्माजी की भाषा

हैं। उनके वाक्य छोटे छोटे हैं। वाक्यों में उपमाओं का अधिक समावेश है। वाक्य विन्यास के लिए उन्होंने दो प्रकार के शब्दों से काम लिया है—संस्कृत के तत्सम शब्द, और बोलचाल के शब्द। संस्कृत के तत्सम शब्दों में उन्होंने उन्हीं शब्दों को ग्रहण किया है, जो अधिक व्यावहारिक हैं। व्यावहारिक शब्दों के प्रयोग के वे अधिक पक्षपाती जान पड़ते हैं। कहीं कहीं उन्होंने विलष्ट शब्दों का भी प्रयोग किया है। बोलचाल के शब्दों का प्रयोग उन्होंने अपने नाटकों में ग्रामीण पात्रों के मुख से कराया है।

कौशिकजी की साहित्य साधना

विश्वम्भरनाथ शर्मा कौशिक का जन्म सं० १९४८ में अंबाला छावनी में हुआ था। कौशिकजी हिन्दी के उत्कृष्ट कहानीकार, और उपन्यासकार थे। यह जब तक जीवित रहे, बराबर कहानियों और उपन्यासों के द्वारा हिन्दी-साहित्य की सेवा करते रहे। इनकी कहानियाँ और उपन्यास हिन्दी-साहित्य के अन्तर्गत अपनी एक विशिष्टता रखते हैं। ग्रामीण और पारिवारिक जीवन के चित्र इनकी रचनाओं में मार्मिकता के साथ मिलते हैं। पारिवारिक जीवन के चित्रों को उपस्थित करने में यह अत्यन्त कुशल थे। इन्होंने पारिवारिक जीवन की विकृतियों पर आघात करते हुए उसे आदर्शवाद के साँचे में ढालने का प्रयत्न किया है। उनके उपन्यासों और कहानियों के पात्र अधिक परिचित, और जाने पहचाने हैं। वे अपने हृदय के भावों को बड़ी सरलता के साथ उपस्थित करते हैं। उनके भाव चित्र बड़े मार्मिक और प्रभावोत्पादक हैं।

कौशिकजी की भाषा

कौशिकजी हिन्दी के क्षेत्र में आने के पूर्व उर्दू के लेखक थे। प्रेमचन्दजी की भाँति, हिन्दी के क्षेत्र में आने पर वे भी अपने साथ उर्दू की विशेषताएँ लाए थे। यह विशेषताएँ स्पष्ट रूप से उनकी रचनाओं की भाषा में दृष्टिगोचर होती हैं। उनकी भाषा में जो कोमलता, और प्रवाहमयता है, उसका एक मात्र कारण उर्दू का प्रभाव ही है। उनकी प्रारंभिक रचनाओं पर उर्दू का प्रभाव अधिक है। प्रौढ़ काल में उन्होंने जो कृतियाँ उपस्थित की हैं, उनमें उन्होंने संस्कृत के तत्सम शब्दों का ही प्रयोग किया है। उनके संस्कृत के तत्सम व्यावहारिक और कला पूर्ण हैं। व्यावहारिक और कला पूर्ण शब्दों के आधिक्य के कारण उनकी भाषा भी अधिक व्यावहारिक और कला पूर्ण है। उनकी भाषा में सजीवता और रोचकता भी प्रचुर परिमाण में मिलती है। उनकी भाषा का प्रत्येक शब्द जीवन का चित्र उपस्थित करता, और रगों में स्फूर्ति का सञ्चार करता है।

कौशिकजी की शैली

भाषा की भाँति कौशिकजी की शैली भी अधिक रोचक और सजीव है। उनकी शैली में प्रभावोत्पादकता के गुण विशेष रूप से पाये जाते हैं। वे सीधी-सादी बात को भी अधिक कुशलता के साथ उपस्थित करते थे। उनके वाक्यों और शब्दों में एक कलामयता, और मनोवैज्ञानिकता होती थी। बात में प्रभाव उत्पन्न करने में वे अधिक कुशल थे। वे एक

कुशल कलाकार की भाँति अपनी बात को मार्मिक बना कर उसे हृदय-पटल पर अङ्कित कर देते थे।

कौशिकजी की शैली के तीन रूप मिलते हैं— परिचयात्मक, आलोचनात्मक, और व्यङ्गात्मक। उनकी तीनों ही प्रकार की शैलियाँ अधिक प्रभावमयी, और आकर्षक हैं। उन्होंने अपनी शैलियों में मुहाविरों और कहावतों का भी प्रयोग किया है। कहावतों और मुहाविरों के कारण उनकी शैलियाँ अधिक आकर्षक हो गई हैं। उनकी व्यंगात्मक शैली में उर्दू के शब्दों की प्रधानता है।

रायकृष्णदासजी का जन्म सं० १९४६ में काशी में एक अग्रवाल वंश में हुआ था। रायसाहब का आधुनिक गद्यकारों में महत्त्व पूर्ण स्थान है। यह हिन्दी साहित्य के सुयोग्य लेखक, और कलाकार हैं। उन्होंने अपने जीवन में साहित्य और कला का संयोग बड़ी कुशलता के साथ उपस्थित किया है। उनके द्वारा अब तक जो साधनाएँ हुई हैं, उन्हें हम तीन वर्गों में विभक्त कर सकते हैं—कवि के रूप में, गद्य-काव्यकार के रूप में, और कहानीकार के रूप में। कवि के रूप में उन्होंने जो साधना चित्र उपस्थित किये हैं, वे अधिक भावनामय हैं। उनकी कविताओं में भावनाओं की प्रधानता है। उन्होंने अपने अन्तर्जगत में प्रविष्ट होकर कोमल भावनाओं का अनुसन्धान किया है, और फिर कलात्मकता के साथ कल्पनाओं के सूत्र में पिरोया है। उनकी भावनाएँ रहस्यात्मकता और दार्शनिकता की सृष्टि करती हैं। उनका गद्य काव्य भी अधिक भावना प्रधान है, जिसमें मार्मिक रहस्यवादी, और दार्शनिक चित्र मिलते हैं। कविता की रचना की अपेक्षा गद्य-काव्य के निर्माण में रायसाहब को अधिक सफलता प्राप्त हुई है। उनके गद्य काव्यों में अन्तर्जगत के मार्मिक और दार्शनिक चित्रों की सृष्टि बड़ी कुशलता के साथ हुई है। गद्य काव्य के क्षेत्र में वे रवीन्द्रनाथ टैगोर की गीतांजलि से अधिक प्रभावित दिखाई पड़ते हैं। रायसाहब की कहानियाँ भी भावना प्रधान ही हैं। उन्होंने छोटी, और भावना प्रधान कहानियाँ लिखने में अधिक यश प्राप्त किया है। उनकी घटना प्रधान कहानियों पर भी भावना का पुट है। उन्होंने अपनी भावना प्रधान कहानियों में ऐतिहासिक और सामाजिक कथानकों को बड़ी कलात्मकता के साथ कल्पनाओं के सूत्र में पिरोया है।

रायसाहबजी की साहित्य साधना

रायसाहब अधिक भावुक और कला प्रेमी हैं। उनके जीवन में भावुकता और कलात्मकता का सुन्दरता के साथ संयोग स्थापित हुआ है। उनकी शैली भी उनके साहित्यिक जीवन से प्रभावित है। उनके जीवन की भाँति उनकी शैली पर भी भावना और कलात्मकता का अधिक पुट है। उनकी शैली के मुख्य रूप से दो रूप मिलते हैं—भावनात्मक, और व्यंजनात्मक। उनकी दोनों ही शैलियाँ अधिक कलात्मक और चमत्कार पूर्ण हैं। उन्होंने अपनी दोनों ही शैलियों को कलात्मकता के साँचे में ढाला है। उन्होंने सीधी-सादी बात को भी कलात्मक और चमत्कारिक ढङ्ग से उपस्थित किया है। उनकी शैलियों में भावा-

रायसाहब की शैली

वेश मुख्य रूप से मिलता है। भावावेश के साथ ही साथ उनकी शैलियों में कोमलता और मृदुता भी अधिक है।

रायसाहब की भाषा

रायसाहब की भाषा भी अधिक कला पूर्ण है। उनकी रचनाओं में दो प्रकार की भाषा मिलती है—व्यावहारिक, और संस्कृत तत्सम प्रधान। उनकी व्यावहारिक भाषा में संस्कृत के तत्सम व्यावहारिक शब्दों के साथ ही साथ बोल चाल के भी शब्द मिलते हैं। कहीं कहीं उर्दू के तत्सम शब्द भी उनकी व्यावहारिक भाषा में प्रयुक्त हुए हैं। कहीं कहीं तद्भव के भी रूप में शब्द आये हैं। कहीं कहीं प्रांतीय और पंडिताऊ शब्दों का भी उन्होंने प्रयोग किया है। उनकी दूसरी प्रकार की भाषा पहली से कहीं अधिक संस्कृत तत्सम प्रधान है। इस भाषा में उन्होंने अपने दार्शनिक विचारों को व्यक्त किया है। यद्यपि यह भाषा संस्कृत के तत्सम शब्दों से युक्त है, किन्तु फिर भी उन्होंने उसे सरलता में साँचे में ढाला है।

वियोगीहरिजी की साहित्य साधना

वियोगीहरिजी का वास्तविक नाम श्री हरिप्रसाद द्विवेदी है। उनका जन्म सं० १९५१ में बुन्देलखंड में छत्रपुर राज्य में हुआ था। वियोगीहरिजी हिन्दी साहित्य के भावुक सुलेखक हैं। उन्होंने अपने जीवन का अधिकांश भाग साहित्य की आराधना में व्यतीत किया है। वे अब भी बड़ी तन्मयता के साथ साहित्य की आराधना में संलग्न हैं। उन्होंने कई रूपों में साहित्य की आराधना की है—कवि के रूप में, निबन्धकार के रूप में, नाटककार के रूप में, सम्पादक के रूप में और सुधारवादी लेखक के रूप में। कवि के रूप में उन्होंने कई रचनाएँ उपस्थित की हैं, जिनमें 'अनुराग वाटिका', 'कवि कीर्तन', और 'वीर सतसई' का महत्त्व पूर्ण स्थान है। 'अनुराग वाटिका' में उनके पद संग्रहीत हैं, जो विनय, भक्ति, और प्रेम के भावों से उल्लसित हैं। 'कवि कीर्तन' में लगभग सौ कवियों के पद्यात्मक परिचय दिए हुए हैं। 'वीर सतसई' उनका सर्वोत्कृष्ट काव्य है, जो वीर रस में है। 'वीर सतसई' पर उन्हें मङ्गला प्रसाद पारितोषिक भी प्राप्त हो चुका है। 'वियोगीहरिजी' ने निबन्धों की भी रचना की है। उनके निबन्ध अधिक भावना प्रधान हैं। निबन्ध के क्षेत्र में वे पूर्ण रूप से भावनावादी हैं। उन्होंने 'गद्य काव्य' की भी रचना की है। गद्य काव्यों में भावना और दार्शनिक सिद्धांतों का समन्वय कुशलता के साथ हुआ है। नाट्यकला के क्षेत्र में वियोगीहरिजी को अधिक सफलता नहीं प्राप्त हो सकी है। इस क्षेत्र में उन्होंने जो साधना की है, उस पर भी भावना का अधिक पुट है। वियोगीहरिजी कई पत्रों के सम्पादक रह चुके हैं, जिनमें संमेलन पत्रिका और 'हरिजन सेवक' का महत्त्व पूर्ण स्थान है। उन्होंने 'ब्रज माधुरीसार' और 'विनय पत्रिका' आदि पुस्तकों का संपादन किया है, तथा टीका भी लिखी है।

वियोगीहरिजी का साहित्यिक व्यक्तित्व भावुकता के तत्त्वों से संगठित है। वे जो कुछ भी सोचते, और लिखते हैं, उसमें भावना का अधिक पुट है। उनकी शैली पर

वियोगीहरिजी की शैली

भी उनकी भावुकता का अखण्ड प्रभाव है। उनकी शैली के हमें दो रूप प्राप्त होते हैं—भावात्मक, और विचारात्मक। उनकी भावात्मक शैली भी दो प्रकार की है। एक प्रकार की उनकी शैली वह है, जो उनके 'साहित्य विहार' के निबन्धों में मिलती है। इसमें व्यावहारिक शब्दों की प्रचुरता है। उनकी दूसरी प्रकार की भावात्मक शैली उनके 'अन्तर्नाद' में मिलती है। यह काव्यात्मक है, और इसमें अधिक गम्भीर शब्द प्रयुक्त हुए हैं। इसमें संस्कृत समासांत पदावलियाँ भी पाई जाती हैं। प्रवाह और विचारों की संबद्धता इस शैली की विशेषताएँ हैं। उनकी दूसरी शैली, जो विचारात्मक है, उनके दार्शनिक निबन्धों में मिलती है। यह भावात्मक शैली की अपेक्षा अधिक ठोस, और गम्भीर है।

वियोगीहरिजी की भावात्मक शैली अधिक आकर्षक, और हृदय स्पर्शी है। इसमें भावों की व्यंजना बड़ी मार्मिकता के साथ हुई है। इस शैली में अत्र-तत्र उर्दू, और संस्कृत की उक्तियों का भी प्रयोग हुआ है, जिससे यह और भी अधिक चमत्कारिक और आकर्षक बन गई है। इसमें व्रजभाषा और खड़ी बोली का समन्वय भी देखने को मिलता है।

शैली की भाँति भाषा भी वियोगीहरिजी की दो प्रकार की है—व्रजभाषा, और खड़ी बोली। उनकी कविता की भाषा व्रज है, जो बड़ी सरस और मधुर है। रस और अलङ्कार की दृष्टि से भी वह सरलता के साँचे में ढली हुई है। इन्होंने अपने दार्शनिक विचारों को भी, अपनी व्रजभाषा में अधिक सरल ढङ्ग से व्यक्त किया है। यद्यपि उन्होंने खड़ी बोली में भी कुछ कविताएँ लिखी हैं, पर प्रमुख रूप से खड़ी बोली उनके गद्य की ही भाषा है।

वियोगीहरिजी की भाषा

उनकी खड़ी बोली के दो रूप मिलते हैं—शुद्ध साहित्यिक, और व्यावहारिक। उनके गद्य काव्य शुद्ध साहित्यिक भाषा में हैं। इसमें संस्कृत के तत्सम शब्दों का प्रयोग अधिकता के साथ हुआ है। यह अधिक गम्भीर भी है। कहीं कहीं यह अधिक दुरूह भी हो गई है। पर दुरूह होने पर भी इसमें सर्वत्र एक सा ही प्रवाह पाया जाता है। उनकी दूसरी भाषा, जो व्यावहारिक है, उनके साहित्यिक निबन्धों में मिलती है। इसमें संस्कृत के तत्सम शब्दों के साथ ही साथ उर्दू के भी शब्द प्रयुक्त हुए हैं। संस्कृत और उर्दू—दोनों के ही शब्दों के प्रयोग में व्यावहारिता को ही महत्त्व दिया गया है। संस्कृत और उर्दू शब्दों का समन्वय इस भाषा में बड़ी सुन्दरता के साथ हुआ है। दोनों के सुन्दर समन्वय के कारण यह भाषा अधिक सरस, आकर्षक, और हृदय स्पर्शिनी बन गई है।

सुदर्शनजी का जन्म सम्वत् १९५३ में पंजाब के सियालकोट नामक स्थान में हुआ था। सुदर्शनजी हिन्दी के सुप्रसिद्ध कहानीकार हैं। हिन्दी के क्षेत्र में आने के पूर्व वह उर्दू में कहानियाँ लिखा करते थे। उर्दू के कहानीकारों में प्रमुख रूप से उनकी गणना भी होती थी।

सुदर्शनजी की साहित्य साधना

हिन्दी का प्रचार और प्रसार होने पर वे हिन्दी के क्षेत्र में चले आए, और हिन्दी साहित्य की संवर्द्धना में संलग्न हो गए। उन्होंने हिन्दी के क्षेत्र में तीन रूपों में साधना की है—कहानीकार के रूप में, उपन्यासकार के रूप में, और नाटककार के रूप में। सुदर्शनजी की कहानियों के अब तक चार संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं, जिनके नाम इस प्रकार हैं—तीर्थ यात्रा, पनघट, सुदर्शन-सुधा, और परिवर्तन। उनकी संपूर्ण कहानियाँ सामाजिक, राजनीतिक और ऐतिहासिक कथानकों को लेकर सृजित हुई हैं। उनकी सभी कहानियाँ आदर्श की ओर उन्मुख हैं। उनकी किसी किसी कहानी में सुधार की भावना भी दिखाई पड़ती है। इस प्रकार की कहानियाँ कहानी कला की दृष्टि से अधिक साधारण कोटि की हैं। इन्होंने अपनी कहानियों में किसान, मजदूर, और मध्य वर्ग के व्यक्तियों का ही अधिक चित्रण किया है। सुदर्शनजी ने उपन्यास की भी रचना की है। पर जितनी अधिक सफलता उन्हें कहानी-कला के क्षेत्र में मिली है, उतनी उपन्यास के क्षेत्र में नहीं। उनके उपन्यास साधारण कोटि के हैं। उपन्यासों की भाँति ही नाट्य रचना के क्षेत्र में भी सुदर्शनजी को अधिक सफलता नहीं प्राप्त हो सकी है। उन्होंने अंजना, आनरेरी मजिस्ट्रेट, और सिकन्दर—तीन नाटकों की रचना की है। 'अंजना' एक पौराणिक कथा के आधार पर लिखा गया है। आनरेरी मजिस्ट्रेट एक सामाजिक कृति है, जो हास्य रस प्रधान है। 'सिकन्दर' ऐतिहासिक है। सिनेमा के लिए भी सुदर्शनजी ने नाटक लिखे हैं। उनके सिनेमा के नाटकों में 'धूप छाँह' का अच्छा प्रचार हुआ है।

सुदर्शनजी की शैली

सुदर्शनजी उर्दू के क्षेत्र से हिन्दी में आए हैं। अतः उनकी शैली पर उर्दू का प्रभाव है। यद्यपि उन्होंने अपनी शैली को उर्दू से विमुक्त कर देने का प्रयत्न किया है, पर उर्दू की शैली के गुण अब तक इनकी शैली में विद्यमान हैं। उनकी शैली में जो सजीवता और रोचकता है, उसका एक मात्र कारण उर्दू का प्रभाव ही है। सुदर्शन जी अपनी शैली के एक ही कलाकार हैं। 'सरलता' और प्रभाव पूर्णता उनकी शैली में विशेष रूप से पाई जाती है। उन्होंने अपनी शैली को सरलता के साँचे में ढालने के लिए मुख्य रूप से व्यावहारिक भाषा से ही काम लिया है। उनके संपूर्ण वाक्य छोटे छोटे, और अधिक भाव व्यंजक हैं। उनके वाक्यों के सभी शब्द अपने प्रयोग की सार्थकता सिद्ध करते हैं। उनके शब्दों में मेल, और संघटन है। उन्होंने कहीं भी ऐसे शब्दों का प्रयोग नहीं किया है, जो अप्रचलित हैं। शब्दों की संघटन शक्ति और परस्पर मैत्री के कारण उनकी भाषा में प्रवाह और गति सर्वत्र एक रूप में मिलती है। उन्होंने शैली और भाषा को प्रभाव पूर्ण बनाने के लिए बीच-बीच में मुहाविरों का भी प्रयोग किया है।

सुदर्शनजी की भाषा अधिक सरल और व्यावहारिक है। उनकी भाषा पर स्पष्ट रूप से उर्दू का प्रभाव है। उन्होंने संस्कृत के व्यावहारिक तत्सम शब्दों के साथ साथ

सुदर्शनजी की भाषा

उर्दू के प्रचलित शब्दों का प्रयोग बड़ी सुन्दरता के साथ किया है। उर्दू के प्रचलित शब्दों के प्रयोग से उनकी भाषा में अधिक रोचकता और सजीवता आ गई है। कहीं कहीं उनकी भाषा में बोल चाल के भी शब्द मिलते हैं। उनकी भाषा के सभी शब्द अधिक भाव व्यंजक और भावों के अनुकूल हैं। भाषा को सुन्दर और रोचक बनाने के लिए उन्होंने शब्दों का चयन बड़ी कुशलता के साथ किया है।

हिन्दी के आधुनिक गद्यकारों में सैकड़ों ऐसे लेखक हैं, जिनका अधिक महत्व पूर्ण स्थान है। आधुनिक गद्यकारों में जिन लेखकों की अब तक चर्चा की जा चुकी है; उनसे वे गद्यकार किसी भी रूप में घट कर नहीं हैं, जिनके नाम हम यहाँ देने जा रहे हैं। पुस्तक का कलेवर अधिक बढ़ जायगा—इस भय से हम यहाँ उन यशस्वी गद्यकारों के नाम का ही उल्लेख कर के संतोष करेंगे। उन गद्यकारों के नाम इस प्रकार हैं—श्री सम्पूर्णानन्द, श्री अम्बिकाप्रसाद वाजपेयी, श्री वासुदेवशरण अग्रवाल, श्री उदय शङ्कर भट्ट, श्री भगवती प्रसाद वाजपेयी, श्री लक्ष्मीनारायण मिश्र, श्री जैनेन्द्रकुमार, श्री रामकुमार वर्मा, डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी, श्री परशुराम चतुर्वेदी, डा० नगेन्द्र, श्री गिरिजा-दत्त शुक्ल 'गिरीश', डा० श्रीनाथसिंह, श्री ज्योतिप्रसाद मिश्र 'निर्मल' श्री राजेन्द्र सिंह गौड़, श्री डा० रामरतन भटनागर, श्री परिपूर्णानन्द वर्मा, श्री इलाचंद्रजोशी, श्री अज्ञेय, श्री यशपाल, श्रीमती महादेवी वर्मा, श्रीमती चंद्रावती लखनपाल, श्रीसूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला' डा० रघुवीरसिंह एम० ए०, श्री सदगुरुशरण अवस्थी, पं० नन्ददुलारे वाजपेयी, श्री शांतिप्रिय द्विवेदी, श्री कालिदास कपूर, श्री सियारामशरण गुप्त, डा० धीरेन्द्र वर्मा, श्री सन्तराम, श्री प्रभाकर माचवे, श्री राम-नाथ सुमन, श्री रामदहिन मिश्र, श्री राहुल सांकृत्यायन, श्री उदयनारायण तिवारी, श्री हरिभाऊ उपाध्याय, श्री हरिशङ्कर शर्मा, श्री रामशङ्कर शुक्ल 'रसाल', श्री रामचन्द्र वर्मा, श्री रामकृष्ण शुक्ल शिली मुख, श्री बनारसीदास चतुर्वेदी, स्वर्गीय द्वारिका प्रसाद चतुर्वेदी, श्रीनारायण चतुर्वेदी, श्री गोकुलचन्द शर्मा, और श्री विनय मोहन शर्मा इत्यादि। इन यशस्वी लेखकों ने विभिन्न विषयों पर पुस्तकें लिख कर हिन्दी गद्य-भंडार की अभिवृद्धि की है। आज हिन्दी गद्य की जो सर्वतोमुखी उन्नति हो रही है, उसमें इन लेखकों का ही प्रमुख रूप से हाथ है। इन गद्यकारों के अति-रिक्त और भी कितने ही गद्यकार हैं, जो साहित्य रचना में लगे हुये हैं। जैसे—अंचल, कोमल, रसिक, श्री सर्वदानन्द, श्री सुमित्राकुमारी, श्री जगमोहन अवस्थी आदि-आदि।

अन्य यशस्वी गद्यकार

—:o:—

६

कहानी

विषय सूची

१— कहानी क्या है ४६५
(अ) कहानी पर विद्वानों के मत, (आ) कथानी—एक सत्य है, (इ) कहानी का प्रभाव, (ई) कहानी और मानव-हृदय।
२— कहानी का जन्म ४६८
(उ) कहानी का जन्म क्यों ?, (ऊ) कहानी का प्रथम स्वरूप और उसमें परिवर्तन, (ए) कहानी के परिवर्तन का चक्र।
३—कहानी और उसका प्राचीन स्वरूप ४७१
(ऐ) मौखिक कहानियाँ, (ओ) वेद और कहानी, (औ) पुराण, रामायण, महाभारत और कहानी, (अं) पंचतंत्र, हितोपदेश और कहानी, (अः) कादंबरी, बृहत्कथा, और कहानी, (क) प्राचीन कहानी के मुख्य रूप।
४—कहानी का वर्तमान स्वरूप ४७६
(ख) नवीन कहानी का आधार-भौतिकता, (ग) शब्द, भाषा, और शैली की दृष्टि से नवीन करानी, (घ) नवीन कहानी का उद्देश्य।
५—कहानी और उसके रूप ४७८
(ङ) कहानी-साहित्य के अंगों का आदि स्रोत, (च) कहानी और उपन्यास, (छ) कहानी और एकांकी, (ज) कहानी और रेखा चित्र, (झ) कहानी और गीति काव्य, (ञ) कहानी और इतिहास, (ट) कहानी के समानार्थक कुछ शब्द, (ठ) कहानी और प्राचीन आख्यान।
६—कहानी का सफल और श्रेष्ठ स्वरूप ४८४
(ड) कहानी का शीर्षक, प्रारंभ, मध्य और अंत, (ढ) कहानी और तथ्य, (ण) कहानी और अंतर्द्वन्द, (त) कहानी और उसका नायक, (थ) कहानी की संक्षिप्त विशेषताएँ।
७—हिन्दी कहानी और उसका विकास ४८६
(द) हिन्दी कहानी का जन्म, (ध) हिन्दी कहानी का विकास।
८—हिन्दी कहानी की कक्षाएँ ४६४
(न) समन्वयात्मक कक्षा, (प) भावात्मक कक्षा, (फ) विद्रोहात्मक कक्षा, (ब) मनोवैज्ञानिक कक्षा, (भ) प्रगतिवादी कक्षा, (म) मिश्रित कक्षा।
९—समन्वयात्मक कक्षा ५०२
(य) प्रेम चन्द, (र) चन्द्रधर शर्मा गुलेरी, (ल) श्री सुदर्शन, (व) विश्वम्भर नाथ शर्मा कौशिक।
१०—भावात्मक कक्षा ५०६
(श) जयशंकर प्रसाद, (ष) रायकृष्णदास।
११—विद्रोहात्मक कक्षा ५१३
(स) पांडेय बेचन शर्मा उग्र।
१२—मनोवैज्ञानिक कक्षा ५१२
(ह) श्री जैनेन्द्रकुमार, (क्ष) श्री भगवती प्रसाद वाजपेयी, (त्र) श्री भगवतीचरण वर्मा, (ज्ञ) श्री अज्ञेय।
१३—प्रगतिवादी कक्षा ५२२
(अ) यशपाल।

कहानी क्या है ?

कुछ विषय ऐसे होते हैं, जिनका हम भीतर ही भीतर अनुभव तो करते हैं, किन्तु जब हम उन्हें शब्दों के द्वारा व्यक्त करने का प्रयास करने लगते हैं, तब हमारी अभिव्यंजक शक्तियाँ असमर्थ सी हो जाती हैं। हमें ऐसा ज्ञात होता है, जैसे हमारी अभिव्यंजना के वे समस्त साधन—वे सम्पूर्ण प्रयास पंगु बन गए हैं, जिनसे विषय वस्तु का स्वरूप धारण करता है। हम अपनी अनुभूति में कुछ इस प्रकार तन्मय हो जाते हैं—कुछ इस प्रकार खो जाते हैं, कि हमें अपने भीतर का सम्पूर्ण प्रयास—संपूर्ण साधन 'रहने' पर भी दृष्टिगत नहीं होता। उस समय हमारी स्थिति उस मूक की सी हो जाती है, जो विषय के रस को जानते हुए भी वाणी विहीनता के कारण उसके स्वाद का वर्णन नहीं कर सकता। संभव है, कुछ लोग इसे अभिव्यंजना की निर्बलता कहें, पर ऐसी निर्बलता उन आचार्यों के हृदय में भी दृष्टिगोचर होती है, जो अभिव्यंजना के अवतार माने जाते हैं। आज उनकी जो अभिव्यंजनाएँ हमारे सामने हैं, उनमें उनकी इन दुर्बलताओं को हम स्पष्ट रूप से देख सकते हैं। उन्होंने कई स्थलों पर उसके सामने सिर झुकाकर उसके अस्तित्व को स्वीकार भी किया है। पर क्या वस्तुतः यह उनकी अभिव्यंजना की दुर्बलता है। नहीं हम उसे दुर्बलता न कह कर अनुभूति की पूर्णता ही कहेंगे।

ऐसे कुछ विषयों में, जिनमें अभिव्यंजक शक्तियाँ असमर्थ और अस्पष्ट हो जाती हैं, कहानी भी है। कहानी को हम सभी लोग जानते हैं, और वह साहित्य के अन्यान्य अंगों की अपेक्षा हमें प्रिय भी अधिक है, पर कहानी क्या है—इस बात को हम कदाचित् अब भी ठीक-ठीक नहीं जान पाये हैं। सृष्टि के आदि से लेकर मानव कहानी कहता और लिखता चला आ रहा है। साहित्य के अंगों का यदि ठीक-ठीक हिसाब लगाकर देखा जाय तो उनमें कहानी का ही पलड़ा सबसे अधिक भारी होगा। यह होते हुए भी कहानी क्या है—इस बात पर आज तक साहित्य के सभी आचार्य एक मत नहीं हो सके हैं। कविता के पश्चात् कहानी ही साहित्य का ऐसा अंग है, जिस पर साहित्य के आचार्यों का सर्वाधिक मत-वैपरीत्य है। सबने एक स्वर से कहानी के गुणों और उसकी व्यापकता को मुक्त कंठ से स्वीकार किया है, पर कहानी क्या है—इस संबंध में उन्होंने जो मत व्यक्त किए हैं, उनमें वैषम्य होने के साथ ही साथ अस्पष्टता की

कहानी पर विद्वानों के मत

झलक भी है। हम इस वैषम्य और अस्पष्टता को केवल अनुभूति की पूर्णता और तन्मयता ही मानते हैं।

कहानी क्या है—इस सम्बन्ध में लोगों के भिन्न भिन्न मत हैं। अँगरेजी का एक सुप्रसिद्ध कहानी लेखक जिसका नाम एडगरएलन पो है, और जो आधुनिक कहानी का जन्मदाता माना जाता है, एक स्थान में 'कहानी' पर अपना मत व्यक्त करता हुआ लिखता है:—'कहानी एक ऐसा आख्यान है, जो प्रभाव पूर्ण हो, और एक बैठक में पढ़ा जा सके।' विश्व कवि रवीन्द्रनाथ टैगोर कहानी को जीवन की प्रतिच्छाया मानते हैं। उनकी दृष्टि में जीवन का एक-एक पल एक एक कहानी है। वे कहानी और जीवन में तद्रूपता-एकरूपता देखते हैं। एक अमेरिकन लेखक ने कहानी की आलोचना करते हुए उसे मानव हृदय के गूढ़ और मार्मिक तत्त्वों का एक निर्णय-निष्कर्ष बताया है। उसकी दृष्टि में कहानी एक ऐसी कला है, जो मानव हृदय के गूढ़, और मार्मिक रहस्यों पर बड़ी कुशलता के साथ प्रकाश डालती है। हिन्दी के उपन्यास सम्राट स्वर्गीय प्रेमचन्दजी कहानी को एक ऐसी रचना मानते हैं, जिसमें जीवन के किसी अंग पर प्रकाश डाला जाता है। इसके विपरीत श्री जैनेन्द्र कुमार कहानी को मानव-हृदय की एक तीव्रतर और स्वाभाविक भूख बताते हैं। उनकी दृष्टि में कहानी मानव-हृदय के सम्पूर्ण प्रश्नों, और सम्पूर्ण शङ्काओं का एक समाधान है।

तात्पर्य यह, कि कहानी के संबंध में लोगों के भिन्न-भिन्न मत हैं। कहानी की उपादेयता और उसकी सार्वभौमता को सब ने एक मत से स्वीकार किया है, पर

कहानी—एक सत्य है

कहानी क्या है—इस बात की विवेचना करते हुए सब आपस में मतैक्य नहीं स्थापित कर सके हैं। कहानी है भी एक ऐसी वस्तु, जिसकी विवेचना में—जिसकी व्याख्या में मतैक्य नहीं स्थापित किया जा सकता। क्या 'सत्य' की विवेचना में आज तक मतैक्य स्थापित किया जा सका है? क्या कला की व्याख्या में विश्व के आचार्य एक मत स्थिर कर सके हैं? कहानी भी एक सत्य है—एक कला है। सत्य की भाँति कहानी का क्षेत्र भी अपरिमित है। जिस प्रकार सत्य 'सत्य' होते हुए भी जाना नहीं जा सकता, उसी प्रकार कहानी भी विवेचना, और व्याख्या के परे की वस्तु है। यद्यपि कहानी अपने आकार में सीमित है, पर उसकी सीमता में एक असीमता छिपी रहती है। कहानी की उस असीमता का माप बुद्धि से नहीं किया जा सकता। हाँ हृदय से—आत्मा से केवल उसका बोध किया जा सकता है। कहानी का बाह्य आकार शब्दों से निर्मित होता है, पर उसकी आंतरिक शक्ति का सङ्गठन हृदय और मन के भावों से होता है, जो समय समय पर अनुभूतियों के रूप में उत्पन्न होते हैं। कहानी में मस्तिष्क की अपेक्षा हृदय और मन के तत्त्व अधिक होते हैं। वह अपने छोटे से आकार में हृदय के गूढ़ और मार्मिक भावों को छिपाने में बड़ी कुशल होती है।

जीवन की एक ऐसी मार्मिक घटना, जिसमें हृदय के तत्त्व अधिक होते हैं,

कहानी का रूप धारण करके हृदय पर ऐसा मार्मिक प्रभाव छोड़ जाती है, जो बड़े-

कहानी का प्रभाव

बड़े उपन्यासों से भी नहीं बन पड़ता। उपन्यास आकार में कहानी से अवश्य बड़े होते हैं, और उनमें जीवन की सम्पूर्ण विवेचना भी होती है, पर प्रभाव के क्षेत्र में कहानी उपन्यासों को पीछे छोड़ जाती है। इसका प्रधान कारण केवल यही है, कि उसमें हृदय के तत्त्व अधिक होते हैं। उपन्यासों में जहाँ बर्णनात्मक सृष्टि होती है, वहाँ कहानी में केवल अनुभूतियों का ही व्यापार होता है। उपन्यास एक बड़ा है, जो रस से भरा नहीं जा सकता। इसके विपरीत कहानी एक प्याला है, जिसे कुशल कलाकार बड़ी सरलता के साथ अपनी अनुभूतियों के रस से भर देता है। यही कारण है, कि कहानी मानव-हृदय को उपन्यासों की अपेक्षा अधिक प्रिय लगती है।

साहित्य के अंगों में कहानी का जितना अधिक प्रचार और प्रसार है, उतना और किसी का नहीं है। कविता, उपन्यास, नाटक आदि जितने भी साहित्य के सरस

कहानी और मानव-हृदय

और सुकुमार अंग हैं, वे मानव-हृदय का दुलार और प्यार पाने में कहानी से पीछे हैं। प्रभाव के क्षेत्र में भी कहानी अधिक सक्षम है। कहानी की इस व्यापकता और प्रभाव शालीनता का कारण इसके अतिरिक्त और क्या हो सकता है, कि कहानी मानव-हृदय की भूख को—उसकी पृच्छा को सबसे अधिक शांत करती है। श्री जैनेन्द्रकुमारजी के शब्दों में कहानी वस्तुतः मानव-हृदय के प्रश्नों—पृच्छाओं और उसकी शङ्काओं का एक समाधान है। वह एक ऐसा उत्तर है, जिसे सुन कर मानव-हृदय की पृच्छा शांत हो जाती है, वह एक ऐसी तृप्ति है, जिसे पाकर मानव-हृदय आनन्द से विभोर हो जाता है, और वह एक ऐसा समाधान है, जहाँ मानव-हृदय की सम्पूर्ण शङ्काओं का अस्तित्व लुप्त हो जाता है; दूसरे शब्दों में कहानी मानव-हृदय की तृप्ति है, आनन्द है, और समाधान है। मानव सृष्टि के आदि काल से ही कहानी के द्वारा आनन्द, तृप्ति, और सन्तोष ग्रहण करता चला आ रहा है। कहानी और उसका बहुत समीप का परिचय है। वह कहानी को प्रिय है, और कहानी उसे प्रिय है। कहानी उससे है, और वह कहानी से है। दोनों का सम्बन्ध घनिष्ट है—घनिष्ठतर है।

—:o:—

कहानी का जन्म

मानव-सृष्टि के साथ ही साथ कहानी का भी जन्म हुआ है। कहानी मानव प्रकृति के साथ ही साथ है। कहानी का मूल मानव प्रकृति के भीतर है। सृष्टि के

कहानी का जन्म—क्यों ?

आदि काल में जब मानव ने अपने से विभिन्न वस्तुओं, दृश्यों, और प्राणियों को देखा होगा, तब उसके भीतर उनसे सम्बन्ध स्थापित करने के लिए स्पृहा जाग्रत हो उठी होगी। उसने उन दृश्यों, वस्तुओं, और प्राणियों के सम्बन्ध में अनेक प्रकार की अलौकिक बातें सोची होंगी, जैसे उसने समुद्र को देख कर यह सोचा होगा, कि उसके भीतर कोई बहुत बड़ा नगर है, जहाँ ऐसे प्राणी रहते हैं, जो अपनी इच्छानुसार आकाश में उड़ा करते हैं। इसी प्रकार पर्वतों के सम्बन्ध में भी उसके मन में अलौकिक कल्पनाएँ जाग्रत हो उठी होंगी। पशुओं, और अपने से विपरीत आचरण वाले अमानवों को देख करके भी उसके मन में रहस्यमयी कल्पनाएँ जाग उठी होंगी। सूर्य, चन्द्रमा, और बादलों को भी जब उसने देखा होगा, तब उनके सम्बन्ध में भी उसके हृदय में कौतूहल जाग्रत हो उठा होगा। आदि काल के मानव के हृदय की इसी स्पृहा, उत्कंठा, और कौतूहल ने हमारी कहानी को जन्म दिया है। कहानी मानव-प्रकृति के अन्तर में हमाविष्ट हैं। अतः सबसे प्रथम मानव ने कहानी के द्वारा ही सृष्टि के अलौकिक दृश्यों, वस्तुओं, और प्राणियों से अपना रागात्मक सम्बन्ध स्थापित किया होगा। कहानी के साथ ही साथ गीत भी बने होंगे। क्योंकि कहानी की भाँति गीतों का भी मानव-जगत में अधिक प्रचार और प्रसार है।

विश्व के कहानी साहित्य का जब हम गवेषणा पूर्वक अध्ययन करते हैं, तब हमारी यह धारणा और भी अधिक दृढ़ हो जाती है, कि कहानी का जन्म मानव-हृदय की उस स्पृहा, उत्कंठा, और कौतूहल के द्वारा ही हुआ है, जो सृष्टि की अलौकिक वस्तुओं, दृश्यों, और प्राणियों को देख कर उसके हृदय में जाग्रत हो उठा था। यही कारण है, कि विश्व के सभी देशों में कहानी का प्रारम्भ ऐसी कहानियों के द्वारा हुआ है, जो कौतूहल वर्द्धक होने के साथ ही साथ अलौकिकताओं से परिपूर्ण हैं। कहानी का सम्पूर्ण प्रारम्भिक इतिहास अलौकिकताओं और चमत्कारों से भरा पड़ा है। मानव का सर्व प्रथम परिचय वन के पशुओं और प्राकृतिक दृश्यों से हुआ था। अतः सर्व प्रथम उसने अपना रागात्मक सम्बन्ध वन के पशुओं, और प्राकृतिक

दृश्यों तथा प्राणियों से ही स्थापित किया। यही कारण है, कि कहानी के प्रारंभिक युग में ऐसी ही कहानियाँ अधिक बनीं, जिनमें पशुओं, अद्भुत प्राणियों, और प्राकृतिक दृश्यों की अलौकिकताएँ हैं। बहुत दिनों तक मानव अपनी इन्हीं कहानियों को लेकर व्यस्त रहा, और इन्हीं के द्वारा वह अपने हृदय के कौतूहल को शांत करता रहा। मानव के आदि काल की वे कहानियाँ आज भी जन-समाज में प्रचुर रूप में प्राप्त होती हैं।

कहानी का प्रथम स्वरूप और उसमें परिवर्तन

आदि काल के मानव को अपने सम्बन्ध में बहुत कम ज्ञान था। न उसका घर था, न उसका गाँव था, और न उसका कोई समाज था। वह प्रकृति के संसार में रहता था। प्रकृति ही उसका सर्वस्व थी। प्रकृति का भी, वह केवल बाह्य रूप ही जानता था। अतः मानव की प्रारम्भिक कहानियों में प्रकृति के बाह्य रूप का ही चित्रण है। प्रकृति के बाह्य रूप की मुग्धता ही उसकी प्रारम्भिक कल्पना का शृङ्गार है। उसकी कल्पना का यह शृङ्गार आदि काल की कहानियों और गीतों में भर पूर देखने को मिलता है। किन्तु मानव की यह स्थिति बहुत दिनों तक स्थिर न रह सकी। प्रकृति के संसर्ग में रहने कारण उसके भीतर ज्ञान उत्पन्न हुआ। वह एकाकी रहना छोड़ कर घर, गाँव, समाज और देश की भावना के साथ रहने लगा। उसके जीवन के इन नवीन परिवर्तन ने उसकी रागात्मक प्रकृति में भी परिवर्तन की हिलोर उत्पन्न कर दी। पहले जहाँ वह वन के पशुओं, प्राकृतिक दृश्यों, और अद्भुत प्राणियों के साथ रागात्मक संबंध स्थापित करके शांत हो जाता था, वहाँ अब उसकी कल्पना एक पग और आगे बढ़ी। अब वह पशुओं और प्राकृतिक दृश्यों के साथ रागात्मक सम्बन्ध स्थापित करने के साथ ही साथ उपदेशात्मक कहानियों की भी सृष्टि करने लगा। क्योंकि अब उसे अपनी ही चिन्ता नहीं, अपने घर, समाज, और देश की भी चिन्ता थी। अब उसका ध्यान केवल पेट भरने, और किसी प्रकार तन ढँकने की ही ओर नहीं था; वरन् अब उसे अपने समाज के व्यक्ति को ऊपर उठाकर समाज को सुसंस्कृत करने की चिन्ता थी। अब वह अन्धकार से प्रकाश में आ गया था। अब वह यह समझने लगा था, कि मानवता क्या वस्तु है, और उसका अभिसार किस प्रकार किया जा सकता है। अपनी इस नवीन चेतना के युग में वह नवीन प्रकार की कथात्मक अभिव्यक्तियाँ करने लगा। उसकी इन अभिव्यक्तियों में चरित्र, आत्मबल, नैतिकता, और सहृदयता की भावना थी। उसकी ये अभिव्यक्तियाँ पंच तंत्र, और हितोपदेश इत्यादि प्राचीन पुस्तकों में आज भी सुरक्षित हैं। पुराण, और बाईबिल इत्यादि धर्म ग्रन्थों में भी वे ही अभिव्यक्तियाँ हैं, जो उपदेशात्मक होने के साथ ही साथ रोचक भी हैं। वेदों और उपनिषदों में भी इसी प्रकार की कथात्मक अभिव्यक्तियाँ पाई जाती हैं।

पर कहानी का यह रूप भी स्थिर न रह सका। ज्यों ज्यों समय पलटता गया, और मानव जीवन समय के चक्रों में पड़ कर नवीन से नवीनतर रूप धारण करता

कहानी के परिवर्तन का चक्र

गया, त्यों त्यों कहानी का रूप भी परिवर्तित होता गया। कहानी ने मानव-जीवन के साथ जन्म लिया था। उसके साथ ही साथ यात्रा भी उसकी प्रारम्भ हुई। मानव जीवन के उत्थान पतन के साथ ही साथ उसने भी उत्थान पतन के अलौकिक दृश्य देखे। उसने अपने जीवन का वह रूप भी देखा, जो तमिस्रा पूर्ण था, और जिसमें तन्मयता के लिए रंच मात्र भी स्थान नहीं था, और इसके विपरीत आज वह अपने जीवन का वह रूप भी देख रही है, जो सचमुच मानव-हृदय की शङ्काओं का समाधान है—उसकी पृच्छाओं का सहज-स्वाभाविक उत्तर है। आज कहानी अपने जन्म स्थान से दूर-बहुत दूर आगे निकल गई है।

—.०:—

कहानी और उसका प्राचीन स्वरूप

कहानी का जन्म मानव की सृष्टि के साथ ही साथ हुआ है। मानव अपने साथ कहानी को भी लेकर अग्रसर हुआ है। ज्यों ज्यों मानव-जीवन में उत्थान-पतन की घटनाएँ घटित हुई हैं, त्यों त्यों कहानी के जीवन में भी उत्थान-पतन के ज्वार उपस्थित हुए हैं। कहानी के इतिहास पर जब हम दृष्टिपात करते हैं, तब हम प्रत्यक्ष रूप से यह देखते हैं, कि कहानी ने अपने कई रूप बदले हैं। कुछ अपने देश के ही साहित्य में नहीं, संपूर्ण विश्व के साहित्य में भी कहानी के जीवन की यही गति विधि है। कहानी की गति-विधि का यह साम्य मानव-प्रकृति के साम्य के कारण है। यद्यपि मानव-प्रकृति स्थान, वातावरण, वायु, और जल से बार-बार प्रभावित हुई है, पर विकास के मार्ग पर उसकी गति प्रायः एक ही सी रही है।

यों तो कहानी मानव-जन्म के साथ-साथ चल रही है, पर उसका जो इतिहास उपलब्ध है, वह उस समय का है, जब वह कुछ-कुछ प्रौढ़ बन चुकी थी। उसके बहुत पूर्व से कहानी मानव-हृदय को आंदोलित करती चली आ रही है। जिस प्रकार मानव की सृष्टि का इतिहास आज हमारे लिए धूमिल है, उसी प्रकार कहानी का वह प्रारम्भिक इतिहास भी अस्पष्ट है, किन्तु जिस प्रकार मानव की सृष्टि का इतिहास धूमल होने पर भी अपने आदि जीवन का डंका पीट रहा है, उसी प्रकार कहानी आज भी अपने आदि जन्म की गाथाओं का गुणानुवाद किया करती है। समाज में प्रचलित मौखिक कहानियाँ कहानी के जीवन के कितने प्राचीन इतिहास पर प्रकाश डालती हैं, कोई उसकी कल्पना तक नहीं कर सकता।

प्रायः संसार के सभी देशों में प्राचीन काल से ही कहानी मानव-हृदय को आंदोलित और आकर्षित करती चली आ रही है। चाहे जिस देश और समाज में प्रवेश

मौखिक कहानियां

करके देखिए, आजकी मनोवैज्ञानिक और कलात्मक लिपिबद्ध कहानियों के अतिरिक्त वहाँ ऐसी कहानियों का एक अंबार सा दिखाई पड़ेगा, जो अभी कागज के पृष्ठों पर न आकर मनुष्य के अधरों पर ही निवास करती हैं। भाषा और शब्दों की दृष्टि से निश्चय वे कहानियाँ आज की कलात्मक और मनोवैज्ञानिक कहानियों की समता नहीं कर सकतीं, पर यह नहीं कहा जा सकता, कि उनमें जीवन को सँजोने वाले भाव नहीं हैं। संसार के कई विद्वानों ने अपने अपने देश में उनमें से कुछ का संकलन किया है। उन्होंने उनकी श्रेष्ठता और व्यापकता

को सिद्ध करते हुए लिखा है कि आज के कहानीकार ने उन कहानियों से ही कहानी लिखने का मार्ग-ग्रहण किया है। वे कहानियाँ निश्चय आज के जटिल मानव जीवन की समस्याओं को नहीं खोलतीं, किन्तु उनसे मानव जीवन को प्रकाश और ज्ञान अवश्य प्राप्त होता है। हमारे देश में ऐसी उपदेशात्मक और ज्ञानमयी कहानियों की सभी देशों से अधिकता है।

वेद और कहानी

प्राचीनकाल का मानव विशुद्ध रूप से धार्मिक था। ईश्वर और धर्म में उसका अटूट विश्वास था। यह कहना इतिहास पर धूलि डालना होगा, कि वह आज के मानव की भाँति राजनीतिज्ञ, और वैज्ञानिक नहीं था। उसकी राजनीति और उसका विज्ञान आज की राजनीति और विज्ञान से भिन्न था। वह धर्म की शिला पर ही राजनीति के दुर्ग तैयार करता था और वैज्ञानिक जगत में केवल वाष्प, जल, और भाप तक ही अपनी शक्तियों को सीमित न रख कर आत्मा के स्वरूपों को भी जानने का प्रयत्न करता था। उसके जीवन के सम्पूर्ण कार्यों में ईश्वरता, धर्म, सत्य, और ज्ञान की झलक होती थी। अतः उसने अपनी कहानियों को भी इन्हीं भावों के साँचे में ढाला है। संसार के सभी देशों की प्राचीन कहानी कथाओं में धर्म और ईश्वरता का ही भाव मुख्य रूप से मिलता है।

हमारा देश विश्व के सम्पूर्ण देशों में चिरकाल से, सबसे अधिक धर्म-प्राण रहा है। हमारे देश का जीवन धर्म और ईश्वर को ही आधार मान कर ग्रथित हुआ है। हमारे पूर्वजों ने अपने जीवन में जो कुछ भी प्राप्त किया है—उन्होंने विकास के मार्ग पर जो कुछ भी देखा है, उसमें उनका आधार ईश्वरता और धर्म ही विशेष रूप से रहा है। यही कारण है, कि हमारे देश के प्राचीन साहित्य में ईश्वरता और धर्म-भाव की प्रचुरता है। काव्य, नाटक, कथा, कहानी आदि साहित्य के विविध अंगों की रचना हमारे देश में प्राचीन काल से होती चली आ रही है। कहानी और काव्य का तो जन्म ही भारत में हुआ है। मौखिक और लिखित—दोनों ही प्रकार की कहानियों का स्रोत भारतीय जीवन से ही निःसृत हुआ है।

वेद संसार के सबसे अधिक प्राचीन ग्रन्थ हैं। वेदों में भी ऋग्वेद आदि ग्रन्थ माना जाता है। आज हमारे सामने जो इतिहास विद्यमान है, उसके आधार पर यह कहा जा सकता है, कि ऋग्वेद के पूर्व का कोई ऐसा ग्रन्थ नहीं, जो लिखित रूप में हो। ऋग्वेद में पावन मन्त्र हैं, जो विभिन्न देवताओं की स्मृतियों के रूप में हैं। उनमें कई ऐसे मन्त्र हैं, जिनमें कहानी के तत्त्व विद्यमान हैं। कहानी के तत्त्व ही नहीं विद्यमान हैं, वरन् कहानी का पूर्ण आकार भी है। वेदों के अध्ययन से पता चलता है, कि वैदिक काल में कहानी का जन्म ही नहीं, उसका पूर्ण रूप से विकास भी हो चुका था। वैदिक काल के कई ग्रन्थों में कहानियों और कथाओं का पूर्ण विकसित रूप प्राप्त होता है। उपनिषदों और ब्राह्मण ग्रन्थों में ऐसी कहानियाँ पाई जाती हैं, जो जीवन के विभिन्न तत्त्वों को मिलातीं और उन पर प्रकाश डालती हैं।

पौराणिक काल तो कथा और कहानियों का एक केन्द्र सा प्रतीत होता है। पुराणों के अध्ययन से ऐसा ज्ञात होता है, कि उन दिनों हमारे समाज में कथा और कहानियों का सबसे अधिक प्रचार था। पुराणों में कहानियों की ही संख्या सबसे अधिक है। उनमें जो कुछ भी कहा गया है, कहानी के ही मुख से कहा गया है। पौराणिक काल में पुराणों के अतिरिक्त और भी कई ऐसे ग्रन्थों की रचना हुई है, जिनमें कहानियों और कथाओं की ही प्रचुरता है। रामायण और महाभारत यद्यपि महाकाव्य हैं, पर उनके भीतर जो कहानी विद्यमान है, वह विश्व की सर्वश्रेष्ठ कहानी होने का गर्व कर सकती है। वह जीवन के संपूर्ण अंगों पर प्रकाश ही नहीं डालती, वरन् उसके तत्त्वों को भी स्पष्ट करती है।

पुराण, रामायण, महाभारत और कहानी

रामायण और महाभारत की कथाओं के आधार पर संस्कृत में कई ऐसे ग्रन्थों की रचना हुई है, जो विश्व के साहित्य में अपना प्रमुख स्थान रखते हैं। उत्तर रामचरित नाटक वासवदत्ता, और मृच्छ कटिक इत्यादि इसी प्रकार के ग्रन्थ हैं। इन ग्रन्थों में कहानी कला का पूर्ण रूप से विकास हुआ है, यद्यपि ये स्वयं कहानी-ग्रन्थ नहीं हैं। संस्कृत के कई कहानी-ग्रन्थों का विश्व की कई भाषाओं में अनुवाद भी हो चुका है। ऐसे ग्रन्थों में पंच तन्त्र, और हितोपदेश का प्रमुख स्थान है। पंच तन्त्र और हितोपदेश की उपदेशात्मक कहानियों ने विश्व के कहानी-साहित्य को प्रभावित किया है। अँगरेजी में अनेक कहानियों की रचना पंच तंत्र और 'हितोपदेश' की कहानियों के ही आधार पर हुई है।

पंच तंत्र, हितोपदेश और कहानी

बाण भट्ट की कादंबरी कथा-साहित्य का एक अमर रत्न है। इसकी रचना उस समय हुई थी, जब विश्व की श्रेष्ठ कही जाने वाली जातियाँ जीवन के प्रारंभिक अक्षरों का पाठ कर रही थीं। आज जो उपन्यास साहित्य हमारे मनोरंजन का मुख्य साधन बना हुआ है, उसका स्रोत कादंबरी से ही निःसृत हुआ है। यद्यपि कादंबरी में आज के उपन्यासों की भाँति जीवन की सर्वांगीण आलोचना नहीं है, पर उसमें प्रणय-गाथा को लेकर जो चित्रण हुआ है, उसमें औपन्यासिकता की बहार है। उसकी भाषा और शैली में जो चमत्कार है, वह आज तक अन्य स्थलों में बहुत कम दृष्टिगोचर हो सका है। दश कुमार चरित और कथा सरित्सागर इत्यादि और कई ऐसे कहानी-ग्रन्थ हैं, जिनमें कहानी के तत्त्वों का विकास हुआ है। पैशाची और पाली में भी कई ऐसे ग्रन्थ हैं, जिनमें कहानियों की प्रमुखता है। पैशाची का गुणाढ्यकृत 'बृहत्कथा' लोक कथाओं का सुप्रसिद्ध ग्रन्थ है। उसकी रचना प्रथम या द्वितीय शती में हुई बताई जाती है। पंच तंत्र और हितोपदेश की कहानियों की भाँति इसमें भी उपदेशात्मक कहानियाँ हैं। पाली में जातक कथाओं का प्रमुख स्थान है।

कादम्बरी, बृहत्कथा और कहानी

जब हम प्राचीन कहानी साहित्य पर विचार करते हैं, तो उसके दो रूप हमारे

सामने आते हैं—कहानी साहित्य का एक रूप तो वह है, जो वैदिक सभ्यता के पूर्व का है, और दूसरा रूप वह है, जिसका दर्शन हमें वैदिक काल से होने लगता है। वैदिक सभ्यता के पूर्व का कहानी साहित्य मौखिक रूप में ही था। आज भी उसका स्रोत ज्यों का त्यों अखण्ड रूप से प्रवाहित है। यद्यपि आज लिखित कहानियों की प्रचुरता है, पर वैदिक सभ्यता के पूर्व मौखिक कहानियों का जो स्रोत फूटा था, वह आज भी बहता चला जा रहा है। आज भी लोग गाँवों में सायंकाल के पश्चात् अलाव के पास या चौपाल में बैठकर ऐसी कहानियाँ कहते और सुनते हैं, जो वैदिक सभ्यता के पूर्व की कहानियों से बहुत कुछ मिलती-जुलती हैं।

प्राचीन कहानी के मुख्य रूप

प्राचीन कहानी के मौखिक स्वरूप में पशु-पक्षियों, और परियों की कहानियों की प्रमुखता है। उन कहानियों से ऐसा प्रतीत होता है, मानों जिस युग में ये कहानियाँ रची गई थीं, उन दिनों के मनुष्यों का पशु-पक्षियों से अधिक घनिष्ठ सम्बन्ध था। इन कहानियों से यह भी पता चलता है, कि उस युग का मनुष्य पशु-पक्षियों की भाषा समझता था, और उनसे बात चीत भी कर सकता था। क्योंकि उन कहानियों में पात्र पशु-पक्षियों के साथ ही साथ मनुष्य भी हैं, जो परस्पर वार्तालाप करते हैं। उनमें घटनाओं की अधिकता, और भावों का अभाव है। रोचकता और मनोरंजकता ही उनका लक्ष्य है। बहुत सी कहानियों में नैतिकता, और चरित्र का समावेश भी पाया जाता है। पशु-पक्षियों के जीवन से सम्बद्ध ऐसी उपदेशात्मक कहानियाँ आज भी हमारे शिशुशालयों में बालकों को पढ़ाई जाती हैं।

कहानी का दूसरा रूप, जो लिखित है, वैदिक काल से प्रारम्भ होता है। लिखित कहानियाँ भी दो प्रकार की हैं। एक प्रकार की वे कहानियाँ हैं, जो देवताओं और अवतारों के सम्बन्ध में लिखी गई हैं; दूसरी प्रकार की कहानियों में राजा, महाराजाओं, और सेठ साहूकारों का चित्रण है। हमारे देश के प्राचीन साहित्य में लिखित कहानियों के प्रथम प्रकार की प्रचुरता है। इन कहानियों से नैतिकता और चरित्र की पुष्टि होती है। दूसरे प्रकार की कहानियों में अनेक ऐसी कहानियाँ हैं, जिनमें पुरुषार्थ और साहस का प्रशंसनीय चित्रण हुआ है।

इन कहानियों का मुख्य लक्ष्य मनोरंजन और लोक कल्याण है। इनमें प्रायः ऐसी घटनाओं का समावेश है, जो चित्त में कुतूहल उत्पन्न कर देती हैं। प्रत्येक पात्र विशेष गुणों से परिवेष्ठित है। वह समाज और देश से पृथक होते हुए भी समाज और देश के लिए एक आदर्श की रचना करता है। यद्यपि जन-जीवन से वह बहुत उच्च है, पर उसके कार्य जन-जीवन के लिए ही हैं। उसके कार्यों में कुतूहल और चमत्कार है। वह ध्रुव भाग्यवादी है, और ईश्वर पर अटूट विश्वास रखता है। उसके समस्त कार्य ईश्वर के ही सहारे होते हैं। पर वह आलसी नहीं है। उसमें शक्ति है, साहस है, पुरुषार्थ है। वह पर्वतों को भी तोड़ता, और समुद्रों को भी लाँघ सकता है।

प्राचीन कहानियों में घटनाओं की प्रधानता है। कौतूहल और रोचकता उत्पन्न करने के लिए एक ही कहानी में कई-कई घटनाओं का समावेश हुआ है। घटनाएँ कौतूहल पूर्ण और चमत्कारिक हैं। उनमें विस्मय उत्पन्न कर देने की प्रचुर शक्ति है, पर वे हृदय का स्पर्श नहीं करतीं। उनका मनुष्य के व्यक्तिगत जीवन से कोई सम्बन्ध नहीं है। वे समूह और समाज से सम्बन्ध रखती हैं, और उसी के चित्र को हमारे सामने प्रस्तुत करती हैं। प्राचीन कहानियों में व्यक्ति का चित्रण कहीं नहीं मिलता।

भाव, भाषा और शैली की दृष्टि से हम प्राचीन कथा-कहानियों को चमत्कारिक और अलङ्कारिक ही कहेंगे। सरसता और मनोरंजकता प्राचीन कहानी का लक्ष्य है। अधिक से अधिक रस उत्पन्न करने की ओर ही प्राचीन कहानियों में विशेष रूप से ध्यान दिया जाता रहा है। इसके लिए शैली को यथा शक्ति चमत्कारिक और अलङ्कारिक स्वरूप प्रदान किया गया है। प्रत्येक कहानी का अन्त 'आनन्द' और सुख की स्थिति के साथ-साथ हुआ है। बीच बीच में अत्र-तत्र दुःख और अभाव के भी दर्शन होते हैं, किन्तु अन्त में सुख, शांति, और आनन्द की ही धारा प्रवाहित होती है।

कहानी का वर्तमान स्वरूप

कहानी मानव जीवन की सहचरी है। मानव जीवन के साथ ही साथ कहानी का स्रोत आरम्भ हुआ है। अपने जन्म से लेकर आज तक कहानी ने मानव-जीवन के साथ ही साथ कई युग देखे हैं। हमें कहानी का वह प्रारम्भिक युग याद आता है, जब वह केवल पशुओं के जीवन की घटनाओं से ही अपना अभिसार करती थी, हमें उसका वह युग भी याद आता है, जब उसमें देवताओं और राजा-महाराजाओं के चमत्कार पूर्ण चित्र होते थे, और हमें उसका वह युग भी याद आता है, जब वह धार्मिकता और नैतिकता के साँचे में ढल कर लोक-कल्याण में निरत रहती थी। किन्तु आज वह एक दूसरे ही स्वरूप में हमारे संमुख है। मानव जीवन के साथ ही साथ उसने भी आज अपना स्वरूप बदला है। मानव जीवन ज्यों-ज्यों धर्म, ईश्वरता, सत्य-अहिंसा और नैतिकता के युग से निकल कर भौतिकवादी बनता गया है, त्यों-त्यों कहानी भी अपने चोले को भौतिकवाद के साँचे में ढालती गई है। आज मानव-जीवन के साथ ही साथ वह भी कठोर भौतिकवादिनी है। एक दिन था, जब वह धर्म, ईश्वरता, और नैतिकता का राग अलापती थी, किन्तु आज अर्थ, और अधिकारों के संगीत में ही वह अपनी शक्ति समाप्त कर रही है। एक दिन था, जब उसे लोक-कल्याण की चिन्ता थी, किन्तु आज वह वर्गवाद को ही अपना आधार बनाए हुए है। आज उसके शृंगार के प्रसाधन धर्म, सत्य, अहिंसा, और नैतिकता नहीं; कुरूपता, अर्थ, और अधिकार है।

नवीन कहानी का आधार-भौतिकता

आज की कहानी का स्वरूप अपने प्राचीन रूप से बिल्कुल भिन्न है। आज उसका शरीर एक नए ही प्रकार का है। एक दिन था, जब हम उसके शरीर को शब्द, भाषा और शैली की दृष्टि से चमत्कारिक और अलङ्कारिक शब्दों से सजाते थे, उसके शरीर को सजाने के लिए शब्दों में अधिक से अधिक वक्रोक्ति उत्पन्न करते थे; दूसरे शब्दों में प्राचीन कहानी की भाषा, जिसे कहानी की छाया कहते हैं, अलङ्कारिक होती थी, किन्तु आज उसने अपना यह जामा छोड़ दिया है। आज उसके शृंगार में अलङ्कारिकता की प्रधानता नहीं है। आज उसका ध्यान सरलता, ओजस्विता, और हृदय स्पर्शिता की ओर है। आज वह अपने शब्दों में, जिससे उसका भाषा-शृंगार पूर्ण होता है, चमत्कार नहीं

नवीन कहानी की शब्द, भाषा और शैली की दृष्टि से

उत्पन्न करती, वरन् एक ऐसी शक्ति उत्पन्न करती है, जो विद्युत की भाँति संचरित होकर हृदय को स्पर्श करती है। आज उसका पूर्ण ध्यान अपनी भाषा, अपने शब्दों में और अपनी शैली में हृदय स्पर्शिता और ओजस्विता की शक्ति को ही एकत्र करने की ओर है। कहना पड़ेगा, कि जहाँ वह आज सत्य, धर्म, और नैतिकता के आलोक से हट कर अर्थ और अधिकारों के चित्रण द्वारा मानव को मानव से दूर ले जा रही है, वहाँ उसने अपने प्रसाधन में—भाषा, शैली, और शब्दों में अभूत पूर्व उन्नति की है। उसकी अन्तरात्मा का, जो भौतिकवाद का राग गाने में ही पूर्ण शक्ति के साथ जुटा हुई है भले ही कोई स्वागत न करे, पर उसके नवीन प्रसाधन-साधनों का ऐसा कोई न होगा, जो स्वागत न करे।

नवीन कहानी का उद्देश्य

आज का मानव-जीवन समस्या मूलक है। अतः आज की कहानी भी समस्या मूलक है। आज की कहानी मावन जीवन की उन समस्याओं को लेकर ग्रथित होती है, जो उसके मन को सदैव आंदोलित किए रहती हैं। चरित्र से दूर—बहुत दूर आज की कहानी अभाव ग्रस्त मानव जीवन की एक-एक समस्या को खोलती हुई चलती है। उसमें हृदय का अभाव और मन की प्रचुरता रहती है। वह मन के उस छोर से निकलती है, जहाँ अभाव ही अभाव होते हैं। आज की कहानी का परम उद्देश्य मानव के मन के अभावों का चित्रण करना ही होता है। उसमें घटनाओं, ईश्वर, और भाग्य के लिए बिलकुल स्थान नहीं होता। उसकी दृष्टि केवल वर्तमान पर ही केन्द्रित रहती है। वह वर्तमान को ही अपना आधार मानती है, और उसी के चित्रण की सफलता में अपने विकास की चरम पराकाष्ठा समझती है। रसोद्रेक के लिए वह केवल व्यक्ति के मन की ओर झाँकती है। उसका व्यक्ति समाज के केवल किसी विशेष वर्ग का ही नहीं होता। वह समाज के जन-जन के मन के छोर से निकलती है। अभावों से आग्रस्त मन उसे अधिक प्रिय है। यही कारण है, कि वह आज गरीबों और मजदूरों के अभाव ग्रस्त जीवन के चित्रण में ही अपनी सार्थकता समझ रही है।

—:*:—

कहानी और उसके रूप

कहानी एक मूल स्रोत है, जिससे विभिन्न धाराएँ प्रवाहित हुई हैं। आज साहित्य-जगत में उपन्यास, एकांकी, रेखा चित्र, आख्यायिका और इतिहास इत्यादि की धूम है, किन्तु एक दिन था, जब यह सब कुछ नहीं था। जब साहित्य-जगत में कुछ नहीं था, उस समय भी कहानी विद्यमान थी। यद्यपि वह मौखिक थी, पर उस समय भी उसका अस्तित्व था। अतः यह कहना ही पड़ेगा, कि आज साहित्य के अधिकांश भिन्न-भिन्न अंग कहानी के ही रूप हैं। उपन्यास, नाटक, इतिहास, गीति काव्य, कथा काव्य, और रेखाचित्र इत्यादि का विकास निश्चयरूप से कहानी से ही हुआ है। आज भी जब हम साहित्य के इन अंगों की सूक्ष्म दृष्टि से विवेचना करते हैं, तब हम उनके मूल में कहानी को ही पाते हैं। यद्यपि आज कहानी और उसके रूपों में पर्याप्त पृथकता है, पर एक वेशज होने के कारण आज भी उनमें वह साम्य विद्यमान है, जिससे यह जाना जा सकता है; कि वस्तुतः कहानी ही साहित्य के उक्त प्रवाहों की जन्मदात्री है। अँगरेजी के एक विद्वान लेखक ने साहित्य के अन्यान्य अंगों के साथ कहानी की तुलना करते हुए लिखा है —"कहानी मानव के भाव-जगत से फूटा हुआ एक ऐसा स्रोत है, जिसने विकसित होकर नाटक और उपन्यास का रूप धारण कर लिया है। आज कहानी अपने वास्तविक रूप में केवल कहानी ही रह गई है, पर उसने अपने पीछे एक ऐसे अलौकिक संसार का निर्माण किया है, जो गेय, ध्येय और पठनीय है।" हिन्दी के सुप्रसिद्ध समालोचक श्रीयुत गुलाब राय जी ने कहानी को अप्रजा की उपाधि से विभूषित किया है।

कहानी-साहित्य के अङ्गों का आदि स्रोत

यह सच है, कि उपन्यास, नाटक, और रेखाचित्र इत्यादि कहानी के ही विकसित रूप हैं, पर फिर भी उनमें और कहानी के वर्तमान रूप में अधिक अंतर है। यहाँ हम उसी अंतर को स्पष्ट करेंगे, क्योंकि बिना उसे स्पष्ट किए हुए कहानी के वास्तविक स्वरूप को समझने और जानने में कठिनाई होगी।

कहानी का जन्म उपन्यास से बहुत पूर्व हुआ है। कहानी जब मानव के भाव-जगत में अवतीर्ण हुई थी, उस समय उपन्यास का कहीं अस्तित्व भी नहीं था।

कहानी और उपन्यास

हमारी प्राचीन कहानी से ही उपन्यास का जन्म हुआ है; दूसरे शब्दों में प्राचीन काल की कहानी ने ही समय, परि-

स्थिति और आवश्यकता के कारण उपन्यास का रूप धारण कर लिया है। आज कहानी केवल कहानी ही रह गई है, पर उससे प्रादुर्भूत होकर उपन्यास ने अपने लिए एक ऐसे जगत का निर्माण कर लिया है, जो कहानी के गत से कहीं अधिक विस्तृत ज्ञात होता है। कहानी और उपन्यास में आज एक प्रतिद्वंद्विता सी ज्ञात हो रही है। मानव के हृदय को विमुग्ध और आंदोलित करने के लिए आज दोनों ही अपने स्वरूप को अधिक से अधिक आकर्षक बनाने में संलग्न हैं। उपन्यास जो कार्य अपने पृथुल आकार से करता है, कहानी उसी को अपने छोटे स्वरूप से संपादित करके उपन्यास के ऊपर अपना अस्तित्व प्रगट करती है।

कहानी और उपन्यास दोनों ही साहित्य के मुख्य अंग हैं। दोनों ही हृदय को आंदोलित और प्रभावित करते हैं। कहानी बहुत छोटी होती है, उसे केवल पन्द्रह बीस मिनट में समाप्त कर लिया जा सकता है। वह अपने इस लघु समय व लघु आकार में बड़े कौशल से उन साधनों को छिपा कर चलती है, जो मानव-हृदय का आंदोलित करने में समर्थ हो सकते हैं। कहानी अपने आकर्षक तत्त्वों के द्वारा मानव-हृदय पर लघु समय में ही वह प्रभाव डालती है, जिसे उपन्यास अधिक समय में डालने में समर्थ हो सकता है। कहानी अपने एक तीर से ही मानव-हृदय को झकझोर देती है। उसे उपन्यास की भाँति अपने तूणीर से अधिक तीरों को निकालने की आवश्यकता नहीं होती। यह कहानी की सबसे बड़ी विशेषता है। कहानी अपनी इसी विशेषता के कारण आज भी उपन्यास के समक्ष संसार में टिकी हुई है। आज भी उसकी मनोहारिता और प्रभावोत्पादकता पर विमुग्ध होकर मानव ने उसे अपने जीवन में स्थान दिया है। आज यदि विश्व के उपन्यासों और कहानियों की गणना की जाय तो उसमें कहानी की ही संख्या सबसे अधिक होगी। इसका कारण केवल यही है, कि कहानी का मानव-हृदय पर सर्वाधिक प्रभाव पड़ता है। विभिन्न समस्याओं की जाल में जकड़ा हुआ मानव अपने हृदय का भोजन जितनी शीघ्रता के साथ कहानी से पा जाता है, उतना उपन्यासों से नहीं। उपन्यासों के पढ़ने में अधिक समय लगता है। और आज के अभाव-ग्रस्त मानव के पास इतना समय कहाँ, कि विपुल काय उपन्यासों के पढने में व्यय करे।

कहानी और उपन्यास—दोनों ही का आकार कथानक से गठित होता है। दोनों ही के मूल में कथानक, जिसे प्लाट भी कहते हैं, होता है। पर कहानी का कथानक उपन्यासों के कथानकों की अपेक्षा बहुत छोटा होता है। कहानी जहाँ जीवन की किसी एक घटना, किसी एक दशा, और किसी एक आंदोलन को लेकर चलती है, और उसी को आधार मान कर संपूर्ण-जीवन का चित्र अंकित करती है, वहाँ उपन्यास किसी एक घटना को लेकर अपना व्यापार प्रारम्भ नहीं करता। वह प्रारंभ में ही उस जीवन का निरीक्षण कर लेता है, जिसका सम्बन्ध उस घटना या स्थिति से होता है; क्योंकि कहानी की भाँति उसे केवल जीवन की एक घटना या स्थिति से जीवन का चित्र काढ़ना नहीं होता; वरन् वह सम्पूर्ण जीवन से ही जीवन का चित्र

तैयार करता है। कहानी के जीवन-चित्र में यदि जीवन के अंश छूट जायँ, तो कहानी की सार्थकता नष्ट न होगी, पर उपन्यासों की सार्थकता तो केवल जीवन की पूर्णता पर ही निर्भर करती है। उपन्यास जितना ही जीवन की पूर्णता को स्पष्ट करेगा, उतना ही वह सफल और उत्कृष्ट समझा जायगा। अपनी इस सफलता और उत्कृष्टता के विकास के लिए उपन्यास को अपने भीतर विस्तृत वातावरण, बहुपात्र, विविध घटनाओं, और जीवन के विविध रूपों की अवतारणा करनी पड़ती है। वह सब में कौशल के साथ सामंजस्य स्थापित करता है। जीवन की विविध अवस्थाओं, घटनाओं, और रूपों में सामंजस्य स्थापित करना ही उपन्यास की कला है। कहानी की कला सामंजस्य के झमेले में नहीं फंसती, क्योंकि उसमें पात्रों, घटनाओं, और वर्णनों की बहुलता नहीं होती। वह किसी एक घटना या स्थिति के दर्पण में ही सम्पूर्ण जीवन को देखती है।

कहानी एक ऐसी कला है, जो बिखरे हुए जीवन को एक घटना या स्थिति में सिमेट कर उसकी आलोचना या व्याख्या करती है। वह बड़ी चतुराई के साथ जीवन की उस घटना को पकड़ती है, जो जीवन में सबसे अधिक प्रभाव पूर्ण होती है। वह केवल एक उसी घटना को आधार मान कर संपूर्ण जीवन की आलोचना या व्याख्या करती है। यही कारण है, कि हम कहानी की कला को संश्लेषिका की संज्ञा से अभिहित करते हैं। इसके प्रतिकूल उपन्यास अपनी कथा के भीतर विश्लेषक होता है। वह जीवन के प्रत्येक भाग को खोल कर देखता है, और उसकी व्याख्या करता है।

उपन्यास की भाँति नाटक का भी कहानी से घनिष्ठ संबंध है। नाटक में भी एकांकी कहानी के अधिक संनिकट है। एकांकी और कहानी में बहुत कम अन्तर है।

कहानी और एकांकी कहानी और एकांकी दोनों का ही जन्म जीवन की किसी एक प्रभाव पूर्ण घटना से होता है। दोनों में पात्रों और वर्णनों की अल्पता रहती है। दोनों का ही काय लघु होता है, जो पन्द्रह-बीस मिनट के भीतर पूर्ण रूप से देख लिया जा सकता है। कहानी और एकांकी-दोनों ही जीवन की किसी एक प्रभाव पूर्ण स्थिति या घटना के चित्रण में ही अपनी पूर्ण सार्थकता समझते हैं। दोनों ही मानव-हृदय पर एक ही प्रकार का प्रभाव भी छोड़ते हैं, जो या तो संवेदनशील होता है, या आकस्मिक प्रभाव पूर्ण होने के कारण आंदोलक होता है। एकांकी और कहानी में जहाँ यह साम्य होता है, वहाँ किसी-किसी बात में दोनों में अंतर भी अधिक होता है। यद्यपि कहानी और एकांकी दोनों का ही गठन जीवन की किसी एक प्रभाव पूर्ण घटना से होता है, पर दोनों के रूप-प्रसाधनों में भिन्न-भिन्न साधनों का प्रयोग होता है। एकांकी अपने रूप का शृंगार कथनोपकथन से करता है। एकांकी में कथनोपकथन की जितनी ही अधिक स्वाभाविकता और मर्म स्पर्शिता होगी, वह उतना ही अधिक सफल और श्रेष्ठ समझा जायगा। चरित्र की कुशलता भी एकांकी का प्राण है। एकांकी की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि

उसमें केवल कथनोपकथन और संवाद से ही चरित्रों की चारित्रिकता प्रगट होती है। कहानी में कथनोपकथन का इतना प्रभावपूर्ण और आकर्षक तत्व नहीं पाया जाता, और न इसकी उसे आवश्यकता ही रहती है। वह तो केवल व्याख्या में ही अपने को पूर्ण मानती है। वह जीवन के एक छोर से ही सम्पूर्ण को देखती है, और उसी के विश्लेषण में अपनी सार्थकता समझती है।

कहानी और रेखा चित्र दोनों की ही गणना श्रव्य काव्य के अंतर्गत की जाती है। जिस प्रकार एकांकी कहानी के सन्निकट होने पर भी दृश्य काव्यांतर्गत होने के कारण उससे पृथक होता है, उस प्रकार की पृथकता कहानी और रेखाचित्र में नहीं होती। कहानी और रेखाचित्र एक ही कक्षा के हैं, पर दोनों के स्वरूप में अंतर होता है। कहानी का गठन घटना या कथा के आधार पर होता है। रेखाचित्र में किसी एक पात्र के चरित्र का अंकन होता है। कहानी की विशेषता उसकी विश्लेषक शक्ति है, पर रेखाचित्र की विशेषता उसका वर्णन है। कहानी प्रवाहमय होती है। वह एक झरने की भाँति निकलती है, और झरने की ही भाँति अग्रसर होती जाती है। कहानी और रेखाचित्र की गति में भी अंतर है। कहानी की गति में ओजस्विता और रेखाचित्र की गति में स्थिरता होती है। रेखाचित्र जम कर सुंचरित होता है। कहानी में जहाँ मनोवैज्ञानिक विश्लेषण की छटा रहती है, वहाँ रेखा चित्र में भावुकता का अंश होता है।

कहानी और रेखाचित्र

कहानी और गीति काव्य का अपना पृथक-पृथक क्षेत्र है। कहानी का मूल स्रोत मनुष्य की कथात्मक प्रकृति है, और गीति काव्य का मूल स्रोत मानव हृदय की संगीतात्मक उत्कंठा है। कहानी के विकास ने बड़े-बड़े उपन्यासों को जन्म दिया है, और गीति काव्य के विकास ने बड़े बड़े महाकाव्यों को। कहानी और गीति-दोनों ही श्रव्य काव्य के अंतर्गत आते हैं, पर कहानी कही और सुनी जाती है, गीति काव्य गेय होता है। यही उसकी विशेषता भी है। कहानी और गीति काव्य-दोनों का ही जन्म स्रष्टा की भावानुभूति से होता है। दोनों में ही अनुभूति और संवेदन शीलता की प्रधानता होती है, पर दोनों के अपने पृथक पृथक व्यापार-क्षेत्र हैं। यह सच है, कि दोनों का ही जन्म भावानुभूति से होता है, पर एक कवि के अंतस्तल से फूटता है, और दूसरा एक कहानीकार के हृदय से। कवि भाव-जगत का प्राणी है। वह अपने आप में ही तन्मय रहता है। अपने संपूर्ण अस्तित्व को—अपनी संपूर्ण सत्ता को वह अपनी भावानुभूति में डुबो देता है। यद्यपि उसकी वाणी लोक कल्याण कारिणी, और उसका प्रयत्न सत् तथा महत् होता है, पर वह जीवन, समाज, और व्यक्ति का विश्लेषक नहीं होता। यह कार्य कहानीकार करता है। कहानीकार अपनी भावानुभूति में अपने को खो नहीं देता, वरन् वह वहाँ भी जागरूक रहता है, और अपने चारों ओर के वातावरण को बड़ी पैनी और सूक्ष्म दृष्टि से देखता है। वह एक एक वस्तु पर दृष्टि डालता है, और सब में सामंजस्य स्थापित करके उसका चित्रण करता है।

कहानी और गीति-काव्य

कवि जहाँ जीवन की परिधि पर स्थित होकर आनन्द विभोर हो जाता है, वहाँ कहानी कार जीवन की परिधि पर पैर रखकर अपने चारों ओर देखता है, और जो कुछ देखता है, उसका विश्लेषण करता है। कवि की सार्थकता उसकी तन्मयता और विभोरता में है। इसके प्रतिकूल कहानीकार विश्लेषण में ही अपनी सफलता का दर्शन करता है।

कहानी और इतिहास—दोनों ही श्रव्य काव्य हैं। अतः हम दोनों को ही एक ही कक्षा में ले सकते हैं। पर दोनों के आदि स्रोत भिन्न-भिन्न स्थलों से फूटे हैं।

कहानी और इतिहास

कहानी अनुभूतिमय होने के कारण हृदय और मन के छोरों से निकलती है। कहानी में हृदय और मन के तत्त्व अधिक होते हैं। इसलिए कहानी संवेदनशील होती है। कहानी का व्यापार सत्य होते हुए भी कल्पनाओं पर अवलम्बित है। वह कल्पनाओं को ही लेकर चलती है, और उसी से अपना अभिसार भी करती है। कहानी व्यक्ति की वस्तु है। उसका सम्बन्ध जितना व्यष्टि से होता है, उतना समष्टि से नहीं।

इतिहास का सम्बन्ध व्यष्टि से नहीं, समष्टि से होता है। वह केवल वर्णन मात्र होता है। इतिहास में कल्पना और भावुकता के लिए रंच मात्र भी स्थान नहीं होता। उसका व्यापार ठोस सत्य के आधार पर चलता है। इतिहास में जितना ही अधिक सत्य होता है, उतना ही वह महत्त्व पूर्ण होता है। इतिहास का सम्बन्ध हृदय से नहीं, मस्तिष्क से होता है। उसमें देश और जाति के अतीत जीवन का वर्णन तथा उसकी आलोचना होती है। इतिहास वर्णन और आलोचना में ही अपनी इति समझता है।

कहानी के प्राचीन इतिहास पर जब हम दृष्टि डालते हैं, तब यह देखते हैं, कि प्राचीन काल में न तो कहानी अपने इस रूप में थी, और न उसका यह नाम ही था। हमारे देश का सम्पूर्ण साहित्य संस्कृत में है। हमारे देश की भाषा भी संस्कृत ही थी। अतः हमारे देश में सर्व प्रथम कहानी संस्कृत में ही लिखी गई है। पर संस्कृत में कहानी का नाम कहीं भी कहानी नहीं है। संस्कृत में कहानी के लिए कथा, आख्यायिका, और आख्यान शब्द व्यवहृत हुए हैं। किन्तु यह न समझ लेना चाहिए, कि इन शब्दों में के अर्थों में समानता है, और ये एक ही प्रकार की वस्तु के लिए व्यवहृत किये गए गए हैं। हिन्दी साहित्य में तो आज कल ये शब्द समानार्थी हो गए हैं, और कहानी के लिए उसके स्थान पर प्रयोग में आते हैं, पर संस्कृत के आचार्यों ने इन शब्दों महत्त्व पूर्ण अन्तर बताये हैं। उसी अन्तर को सामने रख कर संस्कृत में कथा, आख्यान, और आख्यायिकाओं की रचना भी हुई है।

कहानी के समानार्थ कुछ शब्द

कहानी न तो कथा हो सकती है, न आख्यायिका, और न आख्यान प्राचीन काल की कथा ने ही आज 'कहानी' का नाम धारण कर लिया है, पर आज दोनों के ही स्वरूपों में अधिक अंतर है। इतना अधिक अंतर है, कि दोनों का अस्तित्व ही

बिलकुल पृथक हो गया है। आज हम जिसे कहानी कहते हैं, उसे कथा बिलकुल नहीं कह सकते। आज हम जिसे कहानी कहते हैं, उसमें कलात्मक और मनोवैज्ञानिक तत्त्व अधिक होते हैं। हृदय और मन के द्वन्द्वों का विश्लेषण करना ही उसका धर्म होता है। वह जीवन के अंतस में पैठ कर उसकी समस्याओं को देखती है और समस्याओं की एक-एक गाँठ को खोलती है। कथा का संबन्ध केवल कल्पना से होता है। वह कल्पना से उत्पन्न होती है, और कल्पना से ही अपना अभिसार भी करती है। कथा में कन्या हरण, और युद्ध इत्यादि का वर्णन होता है। सूर्योदय और चन्द्रोदय के चित्र भी कथा में खींचे जाते हैं।

आख्यान ऐतिहासिक और पौराणिक होते हैं। इतिहास और प्राचीन वृत्तों के चित्रण में ही आख्यानों की सार्थकता समझी जाती है। कथाओं की भाँति आख्यानों में भी कल्पनाओं का ही अधिक पुट रहता है। संस्कृत साहित्य में आख्यानों की प्रचुरता है। आख्यानों की भाँति आख्यायिकाओं का निर्माण भी ऐतिहासिक वृत्तों के आधार पर किया जाता है। आख्यायिकाओं में नायक स्वयं वक्ता होता है। इस रूप में आख्यायिका को हम आत्म कथा भी कह सकते हैं। आख्यायिकाओं का विभाग भी अध्यायों में किया जाता है, जिन्हें उच्छ्वास कहते हैं।

हमारी आज की कहानी प्राचीन आख्यानों से अपना स्वतन्त्र अस्तित्व रखती है। यह सच है, कि प्राचीन काल के आख्यानों ने ही आज की कहानी को जन्म दिया है, पर आज उसके स्वरूपों में अधिक अंतर है।

कहानी और प्राचीन आख्यान

इतना अंतर है, कि आज की कहानी को हम आख्यान कदापि नहीं कह सकते। आज की कहानी मानव के मन और उसके हृदय को स्पर्श करती हुई चलती है। मानव के मन और हृदय में जो द्वन्द उठता है, उसीका चित्रण करना आज की कहानी का उद्देश्य है। आख्यान, जो लोक कथा, और नीति-कथा के रूप में प्रसिद्ध हैं, उपदेशात्मक हैं। हमारे देश के साहित्य में नीति और लोक कथाओं की बहुलता है। इन कथाओं में कला का अंश बिलकुल नहीं है। कहानी कला की दृष्टि से इन कथाओं का चाहे मूल्य न हो पर जीवन के विकास के लिए ये कथाएँ परमोपयोगी हैं। नीति कथाओं में पशु-पक्षियों तक का चित्रण किया गया है। प्रत्येक कथा किसी न किसी मानवी गुण से सम्बन्ध रखती है। 'पंच तंत्र' और 'हितोपदेश' में नीति कथाओं का अच्छा विकास हुआ है।

नीति कथा और लोक कथाओं में बहुत कम अंतर है। लोक कथाएँ मौखिक और लिखित रूप में भी आज जन-समाज में प्रचलित हैं। इन लोक-कथाओं का उद्देश्य केवल मनोरंजन है। उनमें मानवीय चरित्रों पर चमत्कारिक ढंग से प्रकाश डाला गया है। इनके चरित्र अलौकिक हैं, जो मनोरंजन के साथ ही साथ हृदय को आन्दोलित भी कर देते हैं। गुणाढ्य की बृहत्कथा में ऐसी ही कथाओं का विकास हुआ है।

—:o:—

कहानी का सफल और श्रेष्ठ स्वरूप

मानव जीवन स्वयं एक कहानी है। वह कहानी की भाँति ही प्रारंभ होता है, चलता है, और समाप्त भी हो जाता है। यदि मानव जीवन के पीछे दृष्टिपात किया जाय तो सचमुच एक लंबी कहानी ही दृष्टिगोचर होती है, जो मानव के दुखों, सुखों, और हर्ष-विषादों तथा उसके उत्थान-पतनों को अपने अंग में सिमेटे रहती है। मानव के जन्म के साथ ही साथ उसकी कहानी भी आरंभ हो जाती है। मानव अपनी लीला समाप्त करके लोक से उठ जाता है, पर उसकी जीवन-कहानी उसके पश्चात् भी लोक में उसकी कीर्ति का गान करती रहती है। इसीलिए तो हम यह कहते हैं, कि कहानी मानव जीवन की चिरसंगिनी है। वह तब भी मानव का साथ देती है, जब वह जीवित रहता है, और उस समय भी वह उसके प्रति कृतज्ञता प्रगट करती है, जब वह अपनी लौकिक लीला समाप्त करके उसका साथ छोड़ देता है। कहानी की सत्यवादिता, सवेदन शीलता, और प्रेम वादिता को देख करके ही मानव ने उसको अपने जीवन में सबसे अधिक स्थान दिया है। उसने संसार में जितनी रचनाएं की हैं, उनमें कहानी की रचना ही सर्वाधिक है। कहानी मानव-हृदय की भूख को शांत करने में अधिक सक्षम होती है। विश्रांत मानव का मन उसे जीवन के प्याले के रस की भाँति पीता है। इसलिए पीता है, कि उसके थके और उदास मन को कहानी जितनी शीघ्रता के साथ शक्ति, और जीवन देती है, उतना साहित्य का और कोई अंग नहीं देता।

साहित्य जीवन का प्रतिबिंब है, इसीलिए साहित्य में कहानी की बहुलता है। यदि विश्व के संपूर्ण साहित्य-महोदधि का मंथन किया जाय तो उसमें कहानी की ही रत्न राशि सबसे अधिक होगी। अपने जन्म काल से लेकर आज तक कहानी मानव द्वारा सर्वाधिक संख्या में रची गई है। आज तो विश्व-साहित्य के आँगन में कहानी की और भी अधिक धूम है। इसका कारण यह है, कि आज का मानव समस्या-जगत का प्राणी है। वह दिन रात अपने जीवनोपयोगी साधनों को जुटाने में ही रत रहता है। अनवरत संघर्ष में रत रहने के कारण उसे इतना समय नहीं मिलता, कि वह पृथुल काय उपन्यासों और नाटकों को पढ़ कर उनसे मनोरंजन प्राप्त कह सके। कहानी बहुत छोटी होती है, उसे वह पन्द्रह-बीस मिनट में ही अपने मन

के भीतर उतार कर विश्रांत मन को हरा भरा बना लेता है। कहानी संवेदनशील भी होती है। वह मानव के दुख-सुख में सहानुभूति प्रगट करती है और उसके साथ सहचरी की भाँति संचरण करती है। यह सत्य है, कि कहानी मानव जीवन के सबसे अधिक निकट है, पर निकट होने पर भी आज तक सभी मनुष्य इस सम्बन्ध में एक मत नहीं हो सके हैं, कि कहानी क्या है, और उसका सफल तथा श्रेष्ठ स्वरूप किस प्रकार का होता है? कहानी और उसके सफल तथा श्रेष्ठ स्वरूप को लेकर संसार के विद्वानों में आज भी विचारों का संघर्ष चल रहा है, और कदाचित् यह संघर्ष सदा-सदा तक चलता रहेगा।

कहानी क्या है—इस सम्बन्ध में हम विवेचन कर चुके हैं। यहाँ हम कहानी के सफल और श्रेष्ठ स्वरूप पर प्रकाश डालने की चेष्टा करेंगे। कहानी में सर्व

कहानी का शीर्षक प्रारंभ मध्य और अन्त

प्रथम पाठक का ध्यान कहानी के शीर्षक पर जाता है। शीर्षक को ही देखकर पाठक कहानी की ओर आकर्षित होता है। अतः श्रेष्ठ और सफल कहानी में, उसका रचयिता सर्व प्रथम शीर्षक पर ही ध्यान देता है। अच्छी कहानियों का शीर्षक उत्सुकता पूर्ण, रहस्यात्मक और प्रभावोत्पादक होता है। शीर्षक अधिक बड़ा नहीं होता। अधिक से अधिक उसमें चार शब्द होते हैं। कभी कभी कहानी के प्रधान पात्र या पात्रों के नाम पर शीर्षक चुन लिया जाता है। कभी कभी शीर्षक का सम्बन्ध पात्रों की मनोवृत्ति, कहानी की मुख्य घटना, अथवा पात्रों की भावना से होता है। शीर्षक जितना ही अधिक उत्सुकता पूर्ण, आकर्षक, और रहस्यात्मक होता है, कहानी के स्वरूप में उतना ही अधिक सौन्दर्य उत्पन्न होता है। अच्छे कलाकार का ध्यान शीर्षक के पश्चात् कहानी के प्रारम्भ पर जाता है। वह अपनी कहानी को रोचक, और बहुत ही उत्सुकता पूर्ण ढङ्ग से प्रारम्भ करता है। उसका ढङ्ग ऐसा रहस्यात्मक होता है, कि पाठक की उत्सुकता अन्त तक बनी रहती है। ज्यों ज्यों कहानी आगे बढ़ती है, पाठक की उत्सुकता का भी विकास होता जाता है। श्रेष्ठ कलाकार कहानी के मध्य भाग में अपने पाठक को कहानी के सम्पूर्ण पात्रों से परिचित करा देता है। उसे कहानी में जितनी घटना का समावेश करना होता है, कहानी के मध्य भाग तक कर लेता है। कहानी के मध्य भाग तक पहुँचते-पहुँचते वह कहानी का स्वरूप-चित्र बड़ी मार्मिकता और कुशलता के साथ अपने पाठक के समुख उपस्थित कर देता है। कहानी की सफलता बहुत कुछ उसके अन्त पर निर्भर करती है। श्रेष्ठ कलाकार अपने पाठकों की उत्सुकता को अन्त तक सुरक्षित रखता है। यहाँ तक, कि कहानी का अन्त होने पर भी पाठक की उत्सुकता ज्यों की त्यों बनी रहती है। श्रेष्ठ कहानियों में उनका अन्त इस प्रकार कुशलता के साथ होता है, कि उसमें कहानी का सम्पूर्ण वातावरण, चरित्रों का विकास, और प्रभाव भली भाँति सामने आ जाता है।

कहानियाँ कई प्रकार की होती हैं। इसलिए कहानियों के अन्त का प्रकार भी

भिन्न-भिन्न होता है। साहसिक कहानियों में अन्त साहस पूर्ण होता है। इसी प्रकार घटनात्मक कहानियों में अन्त घटना पूर्ण, और ऐतिहासिक कहानियों में उनके तथ्यों के अनुसार होता है। भावात्मक कहानियों में अन्त संवेदनशील होता है। कुशल कलाकार अपनी भावात्मक कहानियों में सब कुछ खोल कर नहीं कह देता। वह कहानी के अन्त में भी पाठक के लिए बहुत कुछ छोड़ देता है। वह कहानी के अन्त के ही द्वारा पाठक के हृदय में एक ऐसा प्रभाव पूर्ण वातावरण उत्पन्न कर देता है, कि पाठक देर तक उसी में पड़ा रहता है, और कहानी तथा कहानी के पात्रों के सम्बन्ध में संकल्प-विकल्प करता रहता है।

प्रत्येक कहानी लेखक की भाषा और शैली पृथक पृथक होती है। पर श्रेष्ठ कहानीकार वही समझा जाता है, जिसकी भाषा और शैली में सरलता, और सरसता

कहानी और तथ्य

का पुट रहता है। दुरूह भाषा कहानी के लिए कभी उपयुक्त नहीं होती। भाषा और शैली जितनी ही सरस और व्यंजक होती है, कहानी में उतना ही अधिक उसके तत्वों का विकास होता है। कहानियाँ कई प्रकार की होती हैं—जैसे साहसिक, धार्मिक, ऐतिहासिक, पौराणिक, घटनात्मक, वर्णनात्मक, और भावात्मक इत्यादि। कहानी चाहे जिस प्रकार की हो, पर श्रेष्ठ कहानी वही है, जिसमें उसके तथ्यों का विकास पूर्ण रूप में होता है। श्रेष्ठ कहानी में तथ्य के विकास के लिए कलाकार को प्रयत्न नहीं करना पड़ता, वरन् वह कहानी के साथ ही साथ अपने आप में विकसित हो जाता है, और अन्त तक पहुँचते-पहुँचते तथ्यों का विकास पूर्णता को प्राप्त कर लेता है। ज्यों-ज्यों तथ्य विकसित होते हैं, त्यों त्यों उत्सुकता की वृद्धि भी होती जाती है।

यों तो सभी प्रकार की कहानियाँ मनोरंजक और आकर्षक होती हैं, पर वे कहानियाँ सबसे अधिक सुन्दर और श्रेष्ठ समझी जाती हैं, जिसमें मानव जीवन के तत्त्व

कहानी और अन्तर्द्वंद

और अन्तर्द्वंदों का चित्रण होता है। कलाकार जितना ही अधिक अन्तर्द्वंदों का पारखी होता है, उतना ही अधिक उसकी कहानी में कला का विकास होता है। श्रेष्ठ कलाकार अन्तर्द्वंदों के चित्रण में अपनी ओर से कुछ भी नहीं कहता। वह पात्र के चरित्र द्वारा ही उसकी अन्तर्दशाओं का चित्रण करता है। उसके चित्रण में स्वाभाविकता, और मनोवैज्ञानिकता होती है। वह शिल्पी की भाँति अपने पात्र की एक-एक बात में सन्तुलन और संयम रखता है। वह पात्रों के मुख से उतनी ही बातें कहलाता है, जितनी उसकी कहानी के विकास के लिए अवश्यक होती हैं। वह घटनाओं और वर्णनों के विस्तार पर ध्यान न देकर मन के तत्त्वों को ही अधिक तोलता है। वह एक कुशल विश्लेषक की भाँति मन के तत्त्वों की व्याख्या करने में ही अपनी कुशलता की पराकाष्ठा समझता है।

कुशल कलाकार अपनी कहानी के लिए नायक एक ऐसे स्थान से चुनता है, जो भावनात्मक होता है, अथवा जहाँ हर्ष, विषाद और दुख-सुख की भावनाएँ

कहानी और उसका नायक — केन्द्रित रहती है। उसका नायक पूर्णतः रहस्यात्मक होता है। उसके चरित्र में यथार्थता, और स्वाभाविकता होती है। वह अपने चरित्र द्वारा मानव जीवन और हृदय के चित्र उपस्थित करने में अधिक सक्षम होता है। कहानीकार अपने नायक को मानव जीवन और हृदय के प्रतिनिधि रूप में सामने उपस्थित करता है। उसकी एक-एक बात, उसका एक-एक चरित्र मानव-हृदय के चित्र उपस्थित करता है। उसकी बातें अनावश्यक, और अधिक विस्तार पूर्ण नहीं होतीं। वह अत्यन्त स्वाभाविकता के साथ चुभते हुए छोटे छोटे वाक्यों में अपने मन की दशाओं का चित्रण करता है। उसकी पात्रों के साथ जो बात चीत होती है, उसमें भी स्वाभाविकता और संयम होता है। सम्पूर्ण संवाद छोटे छोटे और मार्मिक होते हैं। वे इधर उधर न जाकर सीधे चरित्र पर अपना प्रकाश डालते हैं, और कहानी के भीतर आभा उत्पन्न करते हैं।

कहानी की संक्षिप्त विशेषताएँ — संक्षिप्त रूप में श्रेष्ठ कहानी में निम्नांकित विशेषताएँ होनी चाहिए:—

क—कहानी के शीर्षक में उत्सुकता और रहस्यात्मकता होनी चाहिए। शीर्षक तीन शब्दों का छोटा, और प्रभावोत्पादक होना चाहिए।

ख—भाषा सरस और सरल होनी चाहिए। व्यंजकता और स्पष्टता का गुण उसमें मुख्य रूप से होना चाहिए। शैली में प्रवाह, और ओजस्विता होनी चाहिए।

ग—कहानी के आन्तरिक स्वरूप का गठन जीवन के तत्त्वों और अंतर्द्वंदों को लेकर होना चाहिए।

घ—घटनाओं की बहुलता न होनी चाहिए। जितनी घटनाएँ हों, उन सब का मुख्य घटना से सम्बन्ध हो। छोटी छोटी घटनाओं का समावेश मुख्य घटना को प्रभावित और प्रोत्साहित करने के ही उद्देश्य से किया गया हो।

च—वर्णन में आवश्यकता, और उपयोगिता का महत्त्व दिया गया हो। वर्णन का अधिक विस्तार कहानी की श्रेष्ठता को नष्ट कर देता है।

छ—कहानी में उसके तथ्यों का विकास हो। तथ्यों का विकास कहानी के पात्रों के चरित्रों से ही पूर्ण हुआ हो। कहानी के तत्त्व अपने आप शनैः शनैः विकसित होकर पूर्ण हुए हों।

ज—कहानी का आरंभ उत्सुकता के वातावरण में हुआ हो। उत्सुकता आदि से लेकर अन्त तक ज्यों की त्यों बनी हुई हो।

झ—घटनाएँ कम हों। घटनाओं की अपेक्षा जीवन के तत्त्वों पर प्रकाश डालने वाले साधन अधिक हों। एक एक तत्त्व सीप की भाँति खुलते हों, और अपने भीतर से मुक्ता निकाल निकाल कर सामने उपस्थित करते हों।

त—चरित्रों के विकास में स्वाभाविकता, और प्रभावोत्पादकता हो।

थ—संवाद स्वाभाविक, और आवश्यक हों। पात्रों की बात चीत मन के द्वन्दों

को प्रगट करने वाली हो। शब्द शब्द से अन्तर्दशाओं पर प्रकाश पड़ता हो, और मनः स्थिति के मार्मिक चित्र प्रस्तुत होते हों।

द—कहानी के सम्पूर्ण पात्र समय, स्थिति, और समाज के अनुकूल हों। नायक प्रभाव पूर्ण हो और उसके चरित्र में यथार्थवादिता हो। उसका चरित्र मानव समाज, मानव हृदय, और मानव जीवन का प्रतीक हो। उसके चरित्र में हर्ष, विषाद, और दुख सुख आदि अपने अपने स्थान में आदर्श रूप में हों।

हिन्दी कहानी और उसका विकास

साहित्य के आचार्यों के मतानुसार कहानी अपने भाई-बन्धुओं की अग्रजा है। विश्व के साहित्य में सर्व प्रथम कहानी का ही जन्म हुआ है। कुछ विद्वानों का मत है, कि मनुष्य की दृष्टि स्थूल से सूक्ष्म की ओर जाती है; इसलिए सर्व प्रथम उपन्यासों और नाटकों का जन्म हुआ होगा। कहानी और एकांकी नाटकों की सृष्टि वे उपन्यासों और नाटकों की सृष्टि के पश्चात् मानते हैं। पर वे यह भूल जाते हैं, कि विकासवाद का सिद्धांत, जो कहानी और उपन्यासों के बीच में स्थित है, उनके मत के विरुद्ध है। कहानी और उपन्यासों के प्राचीन इतिहास, उनके स्वरूप, और उनके गठन-साधनों पर जब हम दृष्टिपात करते हैं, और साथ ही विकासवाद के सिद्धांत पर भी विचार करते हैं, तो यही पाते हैं, कि कहानी ने उपन्यासों और नाटकों से बहुत पूर्व जन्म धारण किया होगा। कहानी मानव जीवन की सहचरी है। वह मानव-जीवन के साथ ही साथ प्रारम्भ हुई है। उसका प्राचीन इतिहास उसके सर्वाग्रजा होने का जीवित प्रमाण है।

हिन्दी में भी कहानी ने सर्व प्रथम जन्म धारण किया। यों तो हमारे देश में कहानी का उद्भव बहुत पूर्व हो चुका था। लोक कथाओं और नीति कथाओं के रूप में कहानी सर्व साधारण के अधरों पर थी। पर उसने अभी हिन्दी-साहित्य में प्रवेश नहीं किया था। हिन्दी भाषा जब अपने अस्तित्व में आई, तब उसके साथ ही साथ कहानी ने भी उसके आँगन में प्रवेश किया। लोक कथाओं और नीति कथाओं के रूप में पहले ही से कहानी सर्व साधारण में विद्यमान थी। जातक और बृहत्कथाएँ भी समाज में परिव्याप्त थीं। हिन्दी के अस्तित्व में आने पर सर्व प्रथम इन्हीं कथाओं ने हिन्दी में प्रवेश किया। यह सच है, कि इन कथाओं में साहित्यिक वैभव नाम मात्र के लिये भी नहीं था, पर उसके साथ ही साथ यह भी सत्य है, कि सर्व प्रथम कहानी के रूप में उन्हीं कथाओं का हिन्दी में उद्भव हुआ। चैरासी वैष्णवों की वार्ता से भी हिन्दी की प्रारंभिक कहानी-कला को प्रोत्साहन और जीवन प्राप्त हुआ है। यद्यपि यह गद्य का ग्रन्थ है, पर उसके भीतर कहानी के तत्त्व विद्यमान हैं। जटमल की गोरा बादल की कथा, लल्लूलालजी का प्रेम सागर और सुख सागर, श्री सदल मिश्र का नासिकेतोपाख्यान, और इन्शाअल्लाह खाँ की रानी केतकी की कहानी इत्यादि ऐसी रचनाएँ हैं, जो हिन्दी-कहानी के प्रारंभिक इतिहास पर प्रकाश

डालती है। इन रचनाओं से यह भली भाँति विदित हो जाता है, कि हिन्दी के जन्म के साथ ही साथ कहानी की अभिरुचि भी उत्पन्न हो गई थी। सर्व प्रथम उसने कब जन्म धारण किया, यह तो अंधकार में है, किन्तु उक्त रचनाओं में उसकी गति का विकास अवश्य विद्यमान है।

हिन्दी कहानी का जन्म

कुछ लोगों के मतानुसार इन्शाअल्लाह खाँ हिन्दी के प्रथम कहानी लेखक हैं। यदि हम इस बात को सत्य मान लें तो हम यह कहे बिना न रहेंगे, कि हिन्दी में इन्शाअल्लाह खाँ की केतकी की कहानी के बहुत पूर्व कहानी का जन्म हो चुका था। केतकी की कहानी तो उस कहानी का विकसित स्वरूप है। पर उन कहानियों में साहित्यिकता नहीं थी। कला की दृष्टि से उन कहानियों का कुछ भी मूल्य नहीं था। वे धर्म, प्रेम, नीति और सत्य के प्रचार के उद्देश्य से लिखी जाती थीं, और अपने उद्देश्य की भली भाँति संपूर्ति करती थीं। यही उनकी सबसे बड़ी सफलता थी। हिन्दी में साहित्यिक कहानी का जन्म सर्व प्रथम १९वीं शताब्दी में हुआ। हिन्दी की पहली मौलिक कहानी 'इन्दुमती' मानी जाती है, जो १९०० ई० में सरस्वती में प्रकाशित हुई थी। श्री किशोरी लाल गोस्वामी उसके रचयिता थे। 'इन्दुमती' के प्रकाशन के पूर्व और भी बहुत सी कहानियाँ सरस्वती में प्रकाशित हो चुकी थीं, जो या बँगला से अनुवादित हुई थीं, या अँगरेजी से। कुछ दिनों तक 'सरस्वती' और 'इन्दु' में अनुवादित कहानियों की धूम सी थी। इन अनुवादित कहानियों से सबसे बड़ा लाभ यह हुआ, कि उनके द्वारा हिन्दी में साहित्यिक कहानियों को प्रोत्साहन प्राप्त हुआ, और वे एक के पश्चात् एक अस्तित्व में आने लगीं।

मैं यह लिख चुका हूँ, कि हिन्दी की सर्व प्रथम मौलिक कहानी 'इन्दुमती' है। कुछ लोग 'इन्दुमती' को बँगला, और अँगरेजी का अनुवाद कहते हुए नहीं हिचकते। वे उसके लिए जो प्रमाण देते हैं, उसमें कुछ विशेष तत्त्व नहीं है। 'इनुमती' मौलिक कहानी है, और उसमें भारतीयता का विशुद्ध वातावरण है। उसकी भाषा, उसकी शैली, उसका स्वरूप, और उसकी आत्मा सब पर लेखक का आधिपत्य है। 'इनुमती' के पश्चात् और अनेक कहानियाँ अस्तित्व में आईं, जिनमें शुक्लजी द्वारा रचित 'ग्यारह वर्ष का समा' और 'बंग महिला' की 'दुलाई वाली' का विशेष स्थान है। 'दुलाई वाली' का एक आकस्मिक घटना के रूप में ही हिन्दी में प्रादुर्भाव हुआ, पर उसके द्वारा हिन्दी के कहानी साहित्य को जो स्फूर्ति प्राप्त हुई, वह चिरस्मरणीय रहेगी।

हिन्दी के प्रारंभिक कहानी साहित्य को 'सरस्वती' और काशी के 'इन्दु' से अधिक प्रोत्साहन प्राप्त हुआ। 'सरस्वती' और 'इन्दु' में अँगरेजी, और बँगला से अनूदित बहुत सी कहानियाँ प्रकाशित हुईं। 'सरस्वती' और 'इन्दु' ने मौलिक कहानियों को भी जन्म और प्रोत्साहन प्रदान किया। 'सरस्वती' के सम्पादक स्वर्गीय पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी और 'इन्दु' के सम्पादक स्वर्गीय जयशङ्कर प्रसादजी थे।

महावीर प्रसाद द्विवेदी यथार्थवादी, और जयशङ्कर प्रसादजी आदर्शवादी थे। अतः 'इन्दु' और 'सरस्वती' के प्रोत्साहन से कहानी के दो भिन्न-भिन्न स्रोत फूटे, जिनमें एक को हम आदर्शवादी और दूसरे को यथार्थवादी स्रोत कह सकते हैं। आदर्शवादी स्रोत के सहायक जयशङ्कर प्रसाद, चंडी प्रसाद हृदयेश, और राधिकारमणसिंह इत्यादि हैं। यथार्थवाद के स्रोत को श्री प्रेमचन्द, सुदर्शन, विश्वम्भरनाथ शर्मा कौशिक, ज्वालादत्त शर्मा, और चन्द्रधर शर्मा गुलेरी इत्यादि से अधिक बल प्राप्त हुआ है। आदर्शवादी कहानियाँ बराबर 'इन्दु' में प्रकाशित होती रही हैं, १६११ ई० में प्रसादजी की 'ग्राम' शीर्षक कहानी 'इन्दु' में ही प्रकाशित हुई थी। जिसे लोग हिन्दी की प्रथम मौलिक कहानी बताते हैं। इसी प्रकार 'सरस्वती' में यथार्थवादी कहानियाँ बराबर प्रकाशित होती रहीं। स्वर्गीय प्रेमचन्दजी इस प्रकार की कहानियों के जन्मदाता माने जाते हैं।

हिन्दी कहानी का विकास

हिन्दी की कहानी का विधान युग और उसकी गति के विकास के साथ ही साथ हुआ है। इस विकास पर बँगला, और पाश्चात्य कला का स्पष्टतः प्रभाव है। ज्यों ज्यों हिन्दी गद्य, प्रगति की ओर बढ़ा है, त्यों त्यों हिन्दी की कहानी ने भी नवजीवन प्राप्त किया है। एक दिन था, जब बँगला और अँगरेजी की अनूदित कहानियों की हिन्दी में बहुलता थी। अनूदित होने के कारण यद्यपि इन कहानियों का साहित्य में कुछ भी स्थायित्व नहीं था, पर इनसे एक सबसे बड़ा लाभ यह हुआ, कि इनके द्वारा हम बँगला और अँगरेजी की कहानी-कला के संपर्क में आये। यह कहना असत्य न होगा, कि इस संपर्क से, हमारे भीतर मौलिक कहानियाँ लिखने की प्रेरणा उत्पन्न हुई और मौलिक कहानियाँ लिखी जाने लगीं। मौलिक कहानियों की सृष्टि में आर्य समाज, वंगभंग और सनातन धर्म के आंदोलनों से भी अधिक सहायता प्राप्त हुई। प्रथम महायुद्ध ने भी हिन्दी के प्रारम्भिक कहानी साहित्य को अग्रसर करने में अधिक योग प्रदान किया। असहयोग और क्रांति पूर्ण आंदोलनों से हिन्दी की कहानी ने एक नई दिशा प्राप्त की। प्रेमचन्द जी की कहानियों में इस नई दिशा का प्रशंसनीय चित्रण हुआ है।

हिन्दी के कहानी विकास को हम तीन युगों में विभक्त करते हैं—प्रारम्भिक, सचेतन कला का युग, और आधुनिक। प्रारंभिक युग में कहानी कला का विकास दैवी घटनाओं और संयोगों के द्वारा हुआ है। इस युग के सफल कहानीकार स्वर्गीय विश्वम्भरनाथ शर्मा 'कौशिक' और ज्वालादत्त शर्मा इत्यादि हैं। श्री ज्वालादत्त शर्मा की 'विधवा,' तस्कर और कौशिक के 'रक्षाबन्धन' में दैवी घटनाओं और संयोगों के द्वारा ही कहानी-कला को पूर्णता प्रदान की गई है। सर्व प्रथम स्वर्गीय प्रेम चन्द जी ने हिन्दी की कहानी को दैवी घटनाओं, और संयोगों के मोहक जाल से मुक्त किया। १६१३ ई० में उनकी 'पञ्च परमेश्वर' कहानी 'सरस्वती' में प्रकाशित हुई, जिसमें सर्व प्रथम हिन्दी की कहानी में मनोवैज्ञानिक विश्लेषणों के दर्शन हुए। इस रूप में हम प्रेमचन्द जी को ही हिन्दी की आधुनिक कहानी का वास्तविक जन्म-

दाता कह सकते हैं। प्रेमचन्दजी ने हिन्दी की कहानी के प्रवाह को एक नई दिशा की ओर मोड़ा। वह दिशा मनोविज्ञान की दिशा थी—जन जीवन की दिशा थी। अभी तक हिन्दी की जो कहानी दैवी घटनाओं के मोहक जाल में उलझी हुई थी, वह अब जन-जीवन के आँगन में आकर उसके मन के द्वन्द्वों के साथ खेलने लगी।

प्रेमचन्दजी ने मनोवैज्ञानिक कहानियों को जन्म ही नहीं दिया, वरन् उन्हें पूर्ण रूप से विकसित भी किया। 'पंच परमेश्वर' के पश्चात् उनकी जो कहानियाँ प्रकाशित हुईं, उनमें विकास के तत्व पूर्ण मात्रा में विद्यमान हैं। कहानी के विकास का द्वितीय युग, जिसे सचेतन कला का युग कहते हैं, स्वर्गीय प्रेमचन्दजी से ही प्रारम्भ हुआ है। स्वर्गीय प्रसाद जी भी इस युग के उन्नायक हैं। इस युग में कहानी कला ने बाह्य जगत से हट कर अन्तर्गत में प्रवेश किया है। मानव-हृदय की अनुभूतियों और संवेदनाओं का चित्रण करना ही इस युग की कहानी कला का परम उद्देश्य है। कहानी का यह युग एक उद्गम की भाँति है। इससे दो स्रोत फूटे हैं। एक को हम प्रेमचन्द स्रोत, और दूसरे को प्रसाद स्रोत कह सकते हैं। प्रेमचन्द स्रोत ने बड़ी मार्मिकता के साथ यथार्थवाद और आदर्शवाद का समन्वय किया है। इस स्रोत के यशस्वी कलाकारों ने जहाँ रूढ़ि की अभिव्यंजना की है, वहाँ उन्होंने समाज को आदर्शवाद की ओर उन्मुख किया है। इस स्रोत के उत्कृष्ट कलाकार ज्वालादत्त शर्मा, प्रेमचन्द, चन्द्रधर शर्मा गुलेरी, सुदर्शन, और विश्वम्भरनाथ शर्मा इत्यादि हैं। प्रसाद स्रोत भावात्मक और आदर्शवादी है। उनके आदर्शवाद में यथार्थवाद कम, किन्तु भावना की प्रचुरता है। इस स्रोत के कलाकारों ने जहाँ भारत की प्राचीन संस्कृति का चित्रांकन किया है, वहाँ गरीबों, झोपड़ियों, और उपेक्षितों के मर्म-चित्रों का भी उन्होंने अवलोकन किया है। इस स्रोत के कलाकारों को ही पूर्ण रूप से उन छोटी-छोटी कहानियों को जन्म देने का गौरव प्राप्त है, जो अधिक कलात्मक हैं, और जिनमें मानव के मन का विश्लेषण बड़ी सूक्ष्मता के साथ हुआ है। इस स्रोत के उन्नायक प्रसादजी हैं। प्रसादजी की कला पर लोग अँगरेजी और बँगला का प्रभाव बताते हैं। संभव है युग के कारण अँगरेजी और बँगला की कहानी कला ने प्रसाद जी की कला को अनुप्राणित किया हो, और करना स्वाभाविक भी है, पर हम प्रसाद जी की कहानी कला को सर्वथा मौलिक मानते हैं। श्री विनोद शंकर व्यास, श्री रायकृष्णदास, और श्री चण्डीप्रसाद हृदयेश इत्यादि प्रसाद स्रोत के सफल कलाकार हैं।

आधुनिक युग विशुद्ध भौतिकवादी युग है। इस युग की दृष्टि मानव हृदय के उस शाश्वत और अक्षय सौन्दर्य की ओर नहीं है, जो चिरंतन और सत्य है। आज के भौतिक वादी युग का सत्य और धर्म सिमट कर रोटी और अर्थ में केंद्रित हो गया है। आज वह रोटी और अर्थ की पुकार में ही 'सत्य' का दर्शन करता है। अतः आज की कहानी में रोटी और अर्थ की पुकार की ही चीत्कार है। आज का कहानीकार उस चीत्कार के चित्रण को ही अपनी कला की सफलता समझता है।

वह इसे प्रगतिशीलता की संज्ञा देता है। इसीलिए आज की कहानी को प्रगतिवादिनी, और विशुद्ध यथार्थवादिनी कहते हैं। कोई भी संवेदनशील मानव हृदय रोटी और अर्थ की पुकार की उपेक्षा नहीं कर सकता, किन्तु कोई भी विचारशील विवेचक इस बात से सहमत नहीं हो सकता, कि रोटी और अर्थ की पीड़ा से भयातुर होकर मानव को दानवता की परिधि के भीतर बैठाल दिया जाय। आज की प्रगतिवादिनी कहानी कला के भीतर यही सबसे बड़ा दोष है। इस कला के उन्नायक यशपाल और अनुवर्ती पहाड़ी, श्री अमृतलाल नागर, और अचल इत्यादि हैं।

प्रगतिवादिनी कहानी कला का एक और भी स्वरूप है, जिसे हम इस कला का श्रेष्ठ और सुन्दर स्वरूप कह सकते हैं। इस श्रेष्ठ और सुन्दर स्वरूप के निर्माता श्री जैनेन्द्र जी हैं। श्री जैनेन्द्रजी ने अपनी कहानी-कला के द्वारा मानव के भौतिक अभावों और उसके जीवन के 'सत्य' का चित्रण बड़ी कुशलता के साथ किया है। उनकी कहानी-कला वस्तुतः प्रगति के अर्थ में प्रगतिवादिनी है। श्री अज्ञेय, श्री भगवतीचरण वर्मा, और श्री भगवती प्रसाद वाजपेयी इत्यादि इस कला के पोषक हैं। 'प्रसाद' और 'प्रेमचन्दजी' की कला के पश्चात् ही इस कला का उद्भव हुआ है। इसमें स्थापित्व और प्राण है। इस कला के द्वारा जो कहानियाँ अब तक सामने आ चुकी हैं, उनमें अधिकांश ऐसी हैं, जिनमें मानव-हृदय के चिरन्तन सत्य का विकास हुआ है। हमारा पूर्ण विश्वास है, कि श्री जैनेन्द्र जी की यह कला हिन्दी-साहित्य के लिए अमूल्य, और गौरवमयी प्रमाणित होगी।

हिन्दी कहानी की कलाएँ

आज हिन्दी-साहित्य अपनी उन्नति की दिशा की ओर उन्मुख है। उपन्यास, कहानी, नाटक इत्यादि क्षेत्रों में उसने एक स्वर्णिम युग की स्थापना की है। दासता के मोह के प्रतिफल स्वरूप हम भले ही कुछ दिनों तक अंगरेजी की अभ्यर्थना कर ले, पर वह दिन दूर नहीं, जब हिन्दी का शृङ्गार इस देश के निवासियों को ही नहीं, वरन् विश्व के मानव-हृदय को भी विमुग्ध किए बिना न रहेगा। आज हिन्दी-साहित्य की गोद में, उसके अभाव ग्रस्त कलाकारों के द्वारा, जिन रचनाओं का उद्भव हो रहा है, वे विश्व-साहित्य के आँगन में अपना अधिकार स्थापित किए बिना न रहेंगी। कहानी कला ने तो अभूत पूर्व उन्नति की है। यद्यपि अभी उसके जन्म के थोड़े ही दिन व्यतीत हुए हैं, और एक प्रकार से अभी वह अपने शैशव काल को ही पार कर रही है, पर इन थोड़े ही दिनों में उसके भीतर जो गति संचरित हुई है, उसे देख कर हम यह निश्चय पूर्वक कह सकते हैं, कि वह विश्व के उच्च से उच्च साहित्य के अधिक सन्निकट है। आज उसमें जिस चिरंतन सत्य, अनुभूति, वेदना, और पीड़ा का चित्रण हो रहा है, वह युग के ऊपर अपनी अमिट छाप अङ्कित किए बिना कदापि न रहेगा।

हिन्दी कहानी का संसार दिनों दिन अधिक विस्तृत और विशाल होता जा रहा है। मानव के हृदय का सत्य आज उसमें मुखरित होने के लिए जन-जन के हृदय में स्पंदित हो रहा है। भाँति-भाँति की संवेदनशील अनुभूतियाँ आज उसके आँगन में अपना पङ्ख फैलाने के लिए छटपटा रही हैं। प्राचीनता के विरुद्ध—रूढ़ियों के विरुद्ध आज उसमें हुंकार हो रहा है। व्यक्ति समाज की ईकाई का आज उसके भीतर डङ्का पीट रहा है, और ताल ठोंक-ठोंक कर यह घोषित कर रहा है, कि समाज व्यक्ति की उपेक्षा करके जीवित नहीं रह सकता, तात्पर्य यह, कि आज हिन्दी की कहानी में सभी प्रकार की अनुभूतियों और संवेदनाओं का चित्रण हो रहा है। इन समस्त अनुभूतियों और संवेदनाओं द्वारा सुगठित कहानियों की कलाओं का निर्द्धारण करना कुछ सरल काम नहीं। फिर भी हम यहाँ विद्यार्थियों की सुविधा के लिए हिन्दी के कहानी-जगत को, जो एक गम्भीर सागर की भाँति है, कुछ कलाओं में विभक्त करने का प्रयत्न कर रहे हैं।

हिन्दी की सम्पूर्ण कहानियाँ कई वर्गों में विभक्त हैं। यदि सम्पूर्ण कहानियों का मन्थन करके उनका वर्गीकरण किया जाय तो उन्हें निम्नांकित कक्षाओं में विभक्त किया जा सकता है:—

क—समन्वयात्मक कक्षा
ख—भावात्मक कक्षा
ग—विद्रोहात्मक कक्षा
घ—मनोवैज्ञानिक कक्षा
च—प्रगतिवादी कक्षा

मैं यह नहीं कह सकता, कि मेरा किया हुआ यह वर्गीकरण हिन्दी की कहानियों का सर्व श्रेष्ठ और अन्तिम वर्गीकरण होगा; क्योंकि हिन्दी का कहानी-जगत एक गंभीर पयोधि के सदृश है। सम्भव है वर्गीकरण करते समय कुछ कहानियों का स्वरूप नेत्रों के संमुख न उपस्थित हो सका हो, पर इस अभाव को स्वीकार करते हुए भी मैं यह कह सकता हूँ, कि इस वर्गीकरण में हिन्दी की अधिकांश कहानियों का समावेश हो चुका है। इस वर्गीकरण में मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण को ही प्रधानता दी गई है। कहानियों की कक्षाओं का निर्द्धारण करते समय उनके गुण और धर्म पर ही ध्यान को केन्द्रित रक्खा गया है।

समन्वयात्मक कक्षा हिन्दी कहानी की प्रथम और सर्वश्रेष्ठ कक्षा है। इस कक्षा का नाम समन्वयात्मक कक्षा इसलिए रक्खा गया है, कि इसमें यथार्थवाद और आदर्शवाद का समन्वय बड़े कौशल के साथ किया गया है। यह कक्षा मुख्य रूप से यथार्थवाद की ओर उन्मुख है, पर आदर्शवाद उसका अन्तिम लक्ष्य है। 'सत्य' की अभिव्यंजना करने में ही वह अपनी इयत्ता नहीं समझती, वरन् उस सत्य को जीवन और समाज के लिए उपयोगी भी बना देती है। इस कक्षा का परम उद्देश्य है। सत्य की अभिव्यंजना के साथ-साथ जीवन, समाज, और राष्ट्र के अन्तर्गत मानवी गुणों, और आदर्शों की स्थापना करना। इस कक्षा की कहानियों ने समाज के पोषक तत्त्वों की ओर सर्वाधिक ध्यान दिया है, इसलिए इस कक्षा की कहानियों का समाज में सबसे अधिक आदर भी हुआ है। हिन्दी के पाठकों में इस कक्षा की कहानियों का अधिक प्रचार और प्रसार है।

कहानी की इस कक्षा के निर्माता स्वर्गीय प्रेमचन्दजी हैं। सर्व प्रथम स्वर्गीय प्रेमचन्दजी ने ही हिन्दी की कहानी को दैवी घटनाओं, और चमत्कारों के जाल से छुड़ाया और उसे एक ऐसा सुन्दर स्वरूप प्रदान किया, जो उसके लिए सर्वथा नवीन था। सर्व प्रथम प्रेमचन्दजी ने ही हिन्दी-कहानी में मानव हृदय के सत्य का चित्रण किया, और उसके मन के भीतर प्रवेश करके एक वैज्ञानिक की भाँति उसके द्वन्द्वों का विश्लेषण किया। यद्यपि वह विश्लेषण अधूरा, और अपूर्ण था, किन्तु पूर्ण नवीन होने के कारण वह हिन्दी के पाठकों को पूर्ण सा ज्ञात हुआ। उस मनोवैज्ञानिक विश्लेषण, और मानव-हृदय के सत्य का हिन्दी के पाठकों ने समुचित

समादर किया, और उसने विकसित होकर हिन्दी जगत को आच्छादित सा कर लिया।

इस कक्षा की प्रथम कहानी 'पञ्च परमेश्वर' है, जो सन् १९१६ ई० में प्रकाशित हुई थी। 'पंच परमेश्वर' के पश्चात् प्रेमचन्दजी की 'आत्माराम' सामने आई। स्वर्गीय प्रेमचन्दजी की इन दोनों कहानियों ने हिन्दी की कहानी को नवीनता के साँचे में ढाला, और उसके भीतर एक क्रांति सी उत्पन्न कर दी। इस क्रांति और नवीन प्रेरणा के परिणाम स्वरूप हिन्दी में अनेक कहानीकारों का जन्म हुआ, जिनमें श्री गुलेरी, पं० विश्वम्भरनाथ शर्मा कौशिक, और 'सुदर्शन' इत्यादि का नाम मुख्य है। श्री 'गुलेरीजी' की 'उसने कहा था' कहानी समन्वयात्मक कक्षा की श्रेष्ठ कहानी समझी जाती है। उसमें प्रेम के यथार्थ और आदर्श स्वरूप का प्रशंसनीय चित्रण हुआ है। पं० विश्वम्भरनाथ शर्मा 'कौशिक' के 'रक्षा बन्धन' में आदर्शवाद अपनी पूर्ण पराकाष्ठा पर है। सुदर्शन की 'हारजीत' ने भी इस दिशा में अपना चमत्कार प्रगट किया है। स्वर्गीय प्रेमचन्दजी की 'नशा' और 'आत्माराम' में आदर्शवाद की जीवित, और जागृत छाया विद्यमान है।

कहानी कला की दृष्टि से इस कक्षा की कहानियों को हम चरित्र प्रधान कहानियाँ कहेंगे। चरित्र प्रधान कहानियाँ उन कहानियों को कहते हैं, जिनमें चरित्र की प्रधानता होती है। स्वर्गीय प्रेमचन्दजी चरित्र-प्रधान कहानियों के सर्व श्रेष्ठ लेखक हैं। उनकी 'आत्माराम', 'बड़े घर की बेटी', 'बाँका गुमान', 'दफ्तरी', 'बूढ़ी काकी', 'सारंधा', 'दुर्गम मार्ग', और 'अग्नि समाधि' इत्यादि में चरित्र-चित्रण का अतीव सुन्दरता और मार्मिकता के साथ विकास हुआ है। चन्द्रधर शर्मा गुलेरी की सुप्रसिद्ध कहानी 'उसने कहा था' में लहनासिंह के चरित्र का विकास अपने आदर्श रूप में हुआ है। सुदर्शन की कहानियों में भी चरित्र-चित्रण की उत्कृष्टता है।

समन्वयात्मक कक्षा की कहानियाँ समाज में अधिक प्रिय हैं। उनकी लोक प्रियता का कारण जहाँ सत्य की अभिव्यंजना के साथ आदर्श की स्थापना है, वहाँ उनकी भाषा, और शैली की सरलता तथा सरसता ने भी उनके प्रसार में अधिक प्रोत्साहन प्रदान किया है। स्वर्गीय प्रेमचन्दजी इस कक्षा की कहानियों की भाषा और शैली के उन्नायक हैं। उनके परवर्ती कहानीकारों ने उन्हीं की भाषा और शैली का अनुसरण किया है। यह भाषा अधिक सरल, व्यावहारिक, और सरस है। इसमें संस्कृत के तत्सम और तद्भव शब्दों के साथ ही साथ उर्दू के प्रचलित शब्दों का भी प्रयोग हुआ है। मुहावरों के प्रयोग ने इस भाषा को और भी अधिक प्रवाह मयी बना दिया है।

भावात्मक कक्षा का

भावात्मक कक्षा के नाम से ही इसकी कहानियों की विशेषता प्रगट है। इस कक्षा की कहानियों का आधार शिला भावना और अनुभूति है। भावनाओं और अनुभूतियों में संवेदना और करुणा का अटूट प्रभाव है। वे अन्तस्तल के छोरों को स्पर्श करती हुई निकलती हैं, और कल्पना के द्वारा

मानव-हृदय को विमुग्ध करने का प्रयत्न करती हैं। वे भावनाएँ और अनुभूतियाँ कोरी भावनाएँ और अनुभूतियाँ ही नहीं हैं, उनमें संस्कृति और इतिहास का संचरण भी है। वे अंतस्तल के छोरों से संस्कृति और इतिहास के गीत गाती हुई निकलती हैं, और सत्य को कल्पना से रंजा कर उसका चित्रण करती हैं। भावात्मक और कल्पनात्मक होने के कारण इस कक्षा की कहानियाँ काव्यात्मक भी हैं। इस कक्षा की कहानियों की सबसे बड़ी विशेषता यह है, कि वे संवेदन शील हैं, और अंतस्तल के छोरों को स्पर्श करती हैं। उनकी शैली कलात्मक, और संकेतात्मक है। सीधी-सादी बात को भी, इन कहानियों में कलात्मक ढंग से प्रगट किया गया है। इन कहानियों में रसात्मकता, और मनोवैज्ञानिकता भी है।

इस कक्षा की कहानियों के उन्नायक स्वर्गीय 'प्रसाद' जी हैं। स्वर्गीय प्रसादजी महा कवि थे। उनके हृदय में जो कवि था, वह विविध क्षेत्रों का नायक था। उसने काव्यकला की भाँति ही कहानी, नाटक, और उपन्यास कला के क्षेत्र में भी अपनी प्रतिभा का प्रशंसनीय प्रदर्शन किया। प्रसादजी की कला में मुख्य रूप से काव्य के ही तत्व थे। अतः उनकी कहानियों, नाटकों, और उपन्यासों में भी सर्वत्र वे तत्व उमड़ पड़े हैं। प्रसाद जी की कहानियाँ भावना और अनुभूतिमयी हैं। उन्होंने अपनी कहानियों में भावना और अनुभूति को कल्पना से सुसज्जित किया है। उनकी कहानियों में संस्कृति और इतिहास का संचरण भी है। जहां संस्कृति और इतिहास का संचरण है, वहाँ भी भावना, अनुभूति, और कल्पना का वेग है। भावना, अनुभूति, और कल्पना को आधार मानकर और भी कहानीकारों ने कहानियाँ लिखी हैं, जिनमें रायकृष्णदास, विनोद शंकर व्यास, हृदयेश, पन्त, और महादेवी वर्मा का नाम विशेष उल्लेखनीय है।

कहानी कला की दृष्टि से इस कक्षा की कहानियों को हम चरित्र प्रधान और वातावरण-प्रधान कहेंगे। इस कक्षा की अधिकांश कहानियों में वातावरण की प्रधानता है। वातावरण-प्रधान कहानियों में किसी एक प्रमुख भावना को कथानक का आधार मान कर कहानी कला को विकसित किया जाता है। स्वर्गीय प्रेमचन्दजी की 'शतरंज के खिलाड़ी' में वातावरण का सुन्दर विकास हुआ है। स्वर्गीय प्रसादजी की कहानियाँ वातावरण-प्रधान कहानियों में सर्वश्रेष्ठ समझी जाती हैं। राधिकारमण सिंह की 'कानों में कँगना' में वातावरण पूर्णरूप से प्रतिफलित हुआ है। सुदर्शन, चंडी प्रसाद हृदयेश, और गोविंद वल्लभ पन्त की कहानियाँ भी वातावरण की दृष्टि से सर्वश्रेष्ठ समझी जाती हैं।

विद्रोहात्मक कक्षा की अधिकांश कहानियाँ सामयिक हैं। इनमें समाज और समाज की रूढ़ियों तथा उसके कदाचारों के प्रति एक ललकार है—एक विद्रोह

विद्रोहात्मक कक्षा है। यह विद्रोह ध्वंसात्मक है। उसमें सृष्टि और निर्माण की भावना का समावेश बहुत कम है। यही कारण है कि इस कक्षा की कहानियाँ पाठकों में स्थायित्व न पा सकीं। वे आँधी की भाँति सामने आईं और समाज को

आंदोलित करके आँधी की भाँति ही विलीन भी हो गईं। एक हलचल—एक आंदोलन इन्होंने समाज के भीतर अवश्य पैदा कर दिया। पर समाज के भीतर स्थायित्व इन्हें न मिल सका। इसका एक मात्र कारण यही था, कि उनमें समाज के पोषक तत्त्वों का पूर्णतः अभाव था। 'उग्र' जी इस कक्षा की कहानियों के उन्नायक हैं। श्री ऋषभ चरण जैन, और चतुरसेन शास्त्री इत्यादि ने इस कक्षा की कहानियों के प्रचार और प्रसार में अधिक सहायता प्रदान की है।

कहानी कला की दृष्टि से इन कहानियों को हम प्रकृतिवादी कहानियाँ कहेंगे। प्रकृतिवादी कहानियाँ उन्हें कहते हैं, जो समाज सुधार की भावना से समाज के लज्जास्पद और घृणास्पद चित्रों के आधार पर लिखी जाती हैं। हिन्दी में इन कहानियों की सर्व प्रथम सृष्टि उग्र जी के द्वारा हुई है। श्री ऋषभ चरण जैन और श्री चतुर सेन शास्त्री इत्यादि ने भी प्रकृतिवादी कहानियां लिखी हैं। इन कहानियों में समाज के घृणित और लज्जास्पद कृत्यों का चित्रण बड़ी सुन्दरता के साथ किया गया है। इसमें संदेह नहीं, कि उनकी चित्रण शैली बड़ी आकर्षक, प्रभावपूर्ण, और कलात्मक है, पर उनमें मंगल की भावना का अभाव है। उनके कथानक उन स्थानों से लिए गए हैं, जो समाज की दृष्टि में अधिक हेय और तुच्छ हैं। यही कारण है, कि इस कक्षा की कहानियाँ कला युक्त होने पर भी, समाज के भीतर अधिक सम्मान न पा सकीं।

मनोवैज्ञानिक कक्षा

हिन्दी कहानी-जगत में मनोवैज्ञानिक कक्षा अपना विशेष स्थान रखती है। इस कक्षा की कहानियों के कई विशेषताएँ हैं। उनमें यथार्थवाद है, आदर्शवाद हैं। उनमें सत्य का चित्रण है, और मनोवैज्ञानिक विश्लेषण भी है। इस कक्षा की कहानियों की सबसे बड़ी विशेषता यह है, कि वे मनुष्य के मन के साथ खेलती हैं—उसके हृदय के द्वन्दों के साथ संचरण करती हैं। केवल खेलती और संचरण ही नहीं करतीं, उसकी गाँठों को भी खोलती हैं, और उसके उलझाव को दूर करती हैं। उनमें चेतना है, विचार है, संयम शीलता है, और जागरूकता है। वे विद्रोह भी करती हैं, पर उसके साथ ही साथ उनमें सृष्टि की मंगल मयी भावना भी है। वे समाज की रूढ़ियों और उसके कदाचारों के प्रति भीषण ज्वार भी उत्पन्न करती हैं, पर उनमें उस ज्वार को सुन्दर और आकर्षक तरंगों के रूप में परिवर्तित कर देने की बलवती कामना भी है। वे हृदय के तारों को छूकर केवल उनमें झनझनाहट ही नहीं उत्पन्न कर देतीं, वरन् उनके भीतर से एक राग भी उत्पन्न करती हैं। ऐसा राग, जो मंगलमयी भावनाओं और आशाओं से पूर्ण होता है।

इस कक्षा की कहानियों का मुख्य उद्देश्य मनोवैज्ञानिक ढंग पर समाज की स्थितियों और अवस्थाओं का चित्रण करना है। समाज की वर्तमान अवस्थाओं का उसकी ईकाई—व्यक्ति के मन पर क्या प्रभाव पड़ता है, उनके कारण उसके मन के भीतर किस किस प्रकार के चित्र उत्पन्न होते हैं—इस कक्षा की कहानियां उन्हें

जानने और समझने में अत्यन्त सफलता प्राप्त कर सकी हैं। इस रूप में हम यह कह सकते हैं, कि इस कक्षा की कहानियाँ विशुद्ध यथार्थवादिनी हैं। पर उनमें जो मङ्गलमयी भावना और कामना है, इससे उनमें आदर्शवाद का भी संमिश्रण हो गया है। समन्वयात्मक कक्षा की कहानियों से ये कहानियाँ पृथक हैं। इनकी पृथकता की सबसे बड़ी पहचान यह है, कि ये मनोवैज्ञानिक हैं। समन्वयात्मक कक्षा की कहानियाँ जहाँ बाह्य जगत में अपना अभिसार करती है, वहाँ ये मानव के मन के भीतर अपना संसार बनाती हैं। इनका स्वरूप, इनकी भाषा, इनकी शैली—सब कुछ मनोवैज्ञानिक है। इनकी कला में मनोवैज्ञानिकता का प्रशंसनीय विकास हुआ है। तर्क वितर्क व्याख्या, और विवेचना ही इनकी कला का आधार है।

श्री जैनेन्द्रजी इस कक्षा के उन्नायक हैं। श्री जैनेन्द्रजी गाँधीवाद से प्रभावित हैं। गाँधीवाद की ठोस भूमि पर स्थित हो करके ही उन्होंने अपने साहित्य की रचना की है। उन्होंने समाज की त्रुटियों, और अभावों को आध्यात्मिकता की दृष्टि से देखा है। उन्होंने समाज की त्रुटियों और अभावों को देखने में अपने अहम्—अपने अस्तित्व को खो दिया है। उनके बलिदान में—उनके त्याग में तन्मयता है। उनका सत्य—उनकी कला आदर्शवाद की पृष्ठभूमि पर स्थित है। वास्तविकता उनकी कला का आधार है। उनकी वास्तविकता में आदर्शवाद, और मङ्गलमयी आशाएँ तथा कामनाएँ हैं। यही कारण है, कि श्री जैनेन्द्रजी की कहानियाँ समाज में अधिक समादृत हैं। समाज के पोषण के लिए उनमें जो तत्त्व है, उनसे समाज अपने को संतृप्त पाता है। श्री अज्ञेय, श्री भगवतीचरण वर्मा, और इलाचन्द्र जोशी इत्यादि ने श्री जैनेन्द्रजी के पथ को प्रशस्त करने में प्रशंसनीय कार्य किया है।

कहानी कला की दृष्टि से इस कक्षा की कहानियों को हम चरित्र-प्रधान कहानियाँ कहेंगे। स्वर्गीय प्रेमचन्दजी ने भी चरित्र प्रधान कहानियाँ लिखी हैं। पर इन कहानियों में सबसे बड़ी विशेषतता है, उनका मनोवैज्ञानिक विश्लेषण। इन कहानियों में चरित्र-चित्रण मनोवैज्ञानिकता को पृष्ठभूमि मान कर किया गया है। श्री जैनेन्द्रजी ने इस प्रकार की कहानियों की रचना में प्रशंसनीय सफलता प्राप्त की है। उन्होंने ही कहानी की इस नवीन दिशा की ओर संकेत किया है, और वे ही इस दिशा के सफल और श्रेष्ठ कलाकार भी हैं। श्री अज्ञेय की कहानियाँ भी इस दिशा में अपना महत्त्व पूर्ण स्थान रखती हैं। उनकी कहानियों में कहीं कहीं सूक्ष्म चित्रण मनोवैज्ञानिकता की सर्वोच्च सीमा पर पहुँच गया है। श्री भगवतीचरण वर्मा, और श्री इलाचन्द्र जोशी ने भी इस दिशा में कार्य किया है।

प्रगतिवादी कक्षा

प्रगति चिरपरिचित शब्द है। अपने रूप में अपना यह मौलिक अर्थ रखता है, किन्तु कुछ दिनों से उसका एक नवीन अर्थ हिन्दी साहित्य में किया जाने लगा है, और उसी की वाचकता में उसका प्रयोग भी होता है; अर्थात् जो कुछ भी प्राचीन है, जो कुछ भी रूढ़ि, नियम, और आचार-विचार तथा निष्ठा के नाम पर प्रचलित है, उस पर आघात करना और

उसके प्रति विद्रोह करना ही प्रगति है। आज प्रगति का अर्थ इसी रूप में ग्रहण किया जा रहा है। हिन्दी के जो कवि अथवा कहानी लेखक 'प्रगति' के इस नवीन अर्थ में विश्वास रखते हैं, वे ही आज प्रगतिशील, और प्रगतिवादी के नाम से पुकारे जाते हैं। आज प्रगतिवादियों और प्रगति शीलों का एक बहुत बड़ा वर्ग हिन्दी साहित्य के भीतर तैयार हो गया है। यह वर्ग रूसी राजनीति से प्रभावित है। यह किसानों, गरीबों, और मजदूरों की सहानुभूति की ओट में भारतीय पद्धति का मूलोच्छेद करना ही अपना मुख्य धर्म समझता है।

हिन्दी कहानी जगत में भी इस प्रगति शीलता ने अपना पाँव फैला दिया है। ज्यों ज्यों भारत में गरीबी, दरिद्रता और अभाव बढ़ता जा रहा है, त्यों त्यों कहानी की यह कक्षा भी विस्तृत होती जा रही है। इस कक्षा की कहानियों में राजनीतिकवाद का पुट रहता है। यद्यपि ये कहानियाँ संवेदनात्मक होती हैं, पर हिंसात्मक और विद्रोहात्मक होने के कारण ये हमारे समाज के लिए अधिक उपयोगी नहीं सिद्ध हो रही हैं। यह सत्य है, कि समाज में दीनता है, अभाव है, दयनीयता है, शोषण है, पर दीनता और अभाव को मिटाने के लिए समाज अपने रूप को विकृत नहीं करना चाहता। वह इनके विरुद्ध विद्रोह अवश्य करना चाहता है, पर विद्रोह के पश्चात् वह सृष्टि चाहता है। इस कक्षा की कहानियों में विद्रोह और विध्वंस के लिए प्रेरणा तो है, किन्तु सृष्टि और रचना के लिए बिलकुल स्थान नहीं है। यही कारण है, कि इस कक्षा की कहानियां समाज के लिए कल्याणकारी नहीं हैं। भले ही उनमें सत्य हो, भले ही उनमें वास्तविकता हो, और भले ही वे कलात्मक भी हों, परलोकोपकारी न होने के कारण उनका समाज में स्थायित्व नहीं हो सकता। साहित्यिक दृष्टि से भी इस कक्षा की कहानियों का कोई विशेष मूल्य नहीं है। क्योंकि वे एक विशेष राजनीतिकवाद से प्रभावित हैं, और उसी के प्रचार तथा प्रसार के निमित्त उनकी रचना भी की जाती है।

इस कक्षा के उन्नायक श्री यशपालजी हैं। श्री यशपालजी की कहानियों का मुख्य उद्देश्य प्राचीनता, रूढ़ियों, और शोषण के प्रति विद्रोह करना है। उनकी कहानियों के चरित्र केवल विद्रोह और विध्वंस करना जानते हैं। समाज में जो कुछ है, सब विकृत है—उनकी कहानियों के पात्र यही प्रगट करने के लिए सामने आते हैं। इसमें संदेह नहीं, कि उनकी बहुत सी कहानियों में कहानी कला का सुन्दरता के साथ विकास हुआ है, और वे कला की दृष्टि से सर्वोत्तम हैं, पर लोक कल्याण के विपरीत होने के कारण उनकी वह उपयोगिता भी निःसार सी प्रतीत होती है। इस कक्षा की कहानियों के प्रसारकों में श्रीअमृत लाल नागर, श्री पहाड़ी, और श्री अमृत राय इत्यादि का नाम विशेष उल्लेखनीय है।

कक्षा की दृष्टि से हिन्दी की कहानियों का ऊपर मैंने जो वर्गीकरण किया है, उनके अतिरिक्त हिन्दी की कहानियों की एक और भी कक्षा है, जिसे हम मिश्रित

मिश्रित कक्षा कक्षा कह सकते हैं। इस मिश्रित कक्षा में वे कहानी-लेखक

हैं, जिन्होंने विभिन्न विषयों की रचना करते हुए कहानियाँ भी लिखी हैं। जैसे गोपालराम गहमरी, दुर्गा प्रसाद खत्री, जी० पी० श्रीवास्तव, श्री अन्नपूर्णानन्द, श्री वृन्दावनलाल वर्मा, और श्रीपदुमलाल पुन्नालाल बख्शी इत्यादि। श्री गोपालराम गहमरी और श्री दुर्गाप्रसाद खत्री जासूसी कहानियों के रचयिता हैं। एक युग था, जब हिन्दी में जासूसी कहानियों की धूम थी। दुर्गाप्रसाद खत्री के 'चन्द्रकान्ता' नामक उपन्यास से हिन्दी कहानी और उपन्यास की प्रगति में प्रशंसनीय सहायता प्राप्त हुई है। श्री जी० पी० श्रीवास्तव और श्री अन्नपूर्णानन्द हास्य-रसमयी कहानियों के उत्कृष्ट लेखक हैं। बेढबजी ने भी हास्यरसमयी कहानियाँ लिखी हैं। हास्यरसमयी कहानियों के लेखकों में श्री अन्नपूर्णानन्द, और बेढ़बजी में विशेष स्थायित्व है। इनकी कहानियों में हास्य और विनोद की कलात्मक छटा के साथ ही साथ संयमशीलता भी है। श्री वृन्द्रावनलाल वर्मा ने ऐतिहासिक कहानियों की रचना में अधिक ख्याति प्राप्त की है। श्री पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी भावात्मक कहानियों के अच्छे लेखक हैं।

कहानी कला की दृष्टि से मिश्रित कक्षा की अधिकांश कहानियाँ कार्य-प्रधान कहानी की श्रेणी में आती हैं। गोपालराम गहमरी, और श्री दुर्गाप्रसाद खत्री की कहानियाँ इस कक्षा की पूर्ति निधि कहानियाँ हैं। श्री वृन्दावनलाल वर्मा की कहानियों में ऐतिहासिक तत्त्वों का चित्रण कलात्मक ढङ्ग से हुआ है। श्रीपदुमलाल पुन्नालाल की कहानियों में कथानक की प्रधानता है। कथानक-प्रधान कहानियों में उनकी कहानियों का सर्वश्रेष्ठ स्थान है।

समन्वयात्मक कला

समन्वयात्मक कला हिन्दी कहानी की प्रथम कला है। इसी कला से हिन्दी-कहानी ने साहित्य और जीवन की ओर अपना चरण बढ़ाया है। इस कला के उन्नायक स्वर्गीय प्रेमचन्दजी हैं। प्रेमचन्दजी के अतिरिक्त और भी कई कहानी-कारों ने इस कला की कहानियों के प्रचार में योग दिया है। यहाँ हम उनकी कहानी कला पर प्रकाश डालकर यह दिखाने की चेष्टा करेंगे, कि उनकी कहानियां किस प्रकार की हैं, और उनमें क्या विशेषताएँ हैं।

किसी कहानीकार की कला की परख करने के लिए हमें कुछ विशेष निर्धारित बातों पर विचार करना चाहिए। वे विशेष निर्धारित बातें इस प्रकार हैं—चरित्र की प्रधानता, वातावरण की प्रधानता, कथानक की प्रधानता, और कार्य की प्रधानता। अब हम यहाँ कला के इन्हीं मुख्य आधारों को सामने रख कर सर्व प्रथम प्रेमचन्दजी की कहानी-कला की समीक्षा करेंगे, और यह देखेंगे, कि उनमें कला का कितना और किस रूप में विकास हुआ है।

प्रेमचन्द

कहानी में चरित्र की प्रधानता से तात्पर्य यह है, कि उसमें आकर्षक ढङ्ग से किसी सुन्दर और प्रभाव पूर्ण चरित्र का चित्रण किया गया हो। चित्रण में चरित्र के सम्पूर्ण अंगों और पक्षों की विशदता पर ध्यान न देकर उसके केवल एक विशेष और महत्त्व पूर्ण पक्ष पर ही ऐसी मार्मिकता के साथ प्रकाश डाला गया हो, कि उसके संपूर्ण चरित्र का चित्र सामने आ गया हो। चरित्र का चित्रण जिन साधनों के द्वारा होता है, उसमें उनका विकास हो। कला की दृष्टि से चरित्र चित्रण के चार साधन हैं—संकेत, वर्णन, वार्तालाप, और घटनाओं का विकास। जिन कहानियों में इन साधनों के द्वारा अपने आप चरित्र का विकास होता है, उनमें चरित्र की प्रधानता रहती है। प्रेमचन्दजी की कहानियों में चरित्र की प्रधानता मुख्य रूप से पाई जाती है। उन्होंने अपनी कहानियों में पात्रों के चरित्र का चित्रण उक्त साधनों के द्वारा बड़ी अलौकिकता के साथ किया है। चरित्र को प्रगट करने वाले उनके संकेत बड़े प्रभाव पूर्ण हैं। उनके संकेतों में चित्रमयता और ओजस्विता है। उन्होंने वर्णन, वार्तालापों, और घटनाओं के द्वारा ही अपने पात्रों के चरित्रों का एक चित्र-सा खड़ा कर दिया है। उनके चरित्र चित्रण में एक तथ्यता, और एक रूपता

है। उन्होंने चरित्र के जिस पक्ष का चित्रण किया है, उसमें प्रभावोत्पादकता, और ओजस्विता है।

प्रेमचन्दजी चरित्र-प्रधान कहानियों के सर्वश्रेष्ठ लेखक हैं। उनकी कहानियों में चरित्र का विकास मनोवैज्ञानिकता के आधार पर हुआ है। उनके चरित्र चित्रण में जहाँ तथ्यवाद है, वहाँ वह आदर्शवाद की ओर उन्मुख है। उन्होंने अपने चरित्र चित्रण में तथ्य और आदर्शवाद का समन्वय बड़ी मार्मिकता के साथ किया है। उनकी कहानियों के चरित्र सभी वर्गों के हैं; अर्थात् पूँजी पति, किसान, मजदूर, जमींदार, ब्राह्मण, चमार, नाई, धोबी, मेहतर, पंडित, अध्यापक, विद्यार्थी, वकील इत्यादि सभी उनकी कहानियों के पात्र हैं। उनके पात्रों का व्यक्तिगत रूप से कोई महत्त्व नहीं है। उनके पात्र व्यक्तिगत होते हुए भी अपने समूह का—अपने वर्ग का प्रति निधित्व करते हैं। उनके सम्पूर्ण पात्र यथार्थवाद की नींव पर खड़े होते हैं, किन्तु उनका लक्ष्य आदर्शवाद होता है। प्रेमचन्दजी ने अपने चरित्र चित्रण में भारतीयता का मुख्य रूप से ध्यान रक्खा है। यथार्थवाद का चित्रण करते हुए उन्होंने भारतीयता की रक्षा पूर्ण रूप से की है। उनके सम्पूर्ण चरित्र भारतीयता के वातावरण में ही यथार्थवाद और आदर्शवाद का समन्वय करते हुए कहानी में कला की सृष्टि करते हैं। चरित्र-प्रधानता की दृष्टि से प्रेमचन्दजी की 'आत्माराम' 'बड़े घर की बेटी', 'बाँका गुमान', 'बूढ़ी काकी', 'सारंग्रा', और 'अग्नि समाधि' इत्यादि कहानियाँ विशेष उल्लेखनीय हैं।

कहानी में वातावरण की प्रधानता का अर्थ यह है, कि उसमें कहानी की परिस्थितियों में से किसी एक विशेष अंग या पक्ष पर अधिक बल दिया गया हो; अथवा किसी एक भावना की प्रधानता रक्खी गई हो। कथानक के विकास का मुख्य कारण केवल एक भावना, या स्थिति को निश्चित किया गया हो, और उसी स्थिति या भावना के द्वारा कहानी को अनुप्राणित किया गया हो। जिन कहानियों में इस प्रकार एक स्थिति या भावना के ऊपर अधिक बल दिया जाता है, और कथानक के विकास का उसे मुख्य आधार माना जाता है, उन कहानियों को वातावरण प्रधान कहानी कहते हैं। कहानी कला की दृष्टि से चरित्र प्रधान और वातावरण प्रधान कहानियाँ सर्व श्रेष्ठ समझी जाती हैं। इन कहानियों में चरित्र, और वातावरण के द्वारा ही कथावस्तु का विकास होता है।

प्रेमचन्दजी की कहानियों में जिस प्रकार चरित्र की प्रधानता उच्चतर रूप में है, उसी प्रकार उनकी कहानियों में वातावरण का विकास पर्याप्त रूप में हुआ है। उन्होंने अपनी कहानियों में स्थितियों और वातावरण का चित्रण बड़ी मार्मिकता के साथ किया है। उनके वातावरण चित्रण से ही उनके पात्रों के चरित्र विकसित होते हैं। उनके चित्रण में सजीवता है—प्रभावोत्पादकता है। वे एक मर्मज्ञ की भाँति वातावरण या स्थिति के उस पक्ष को पकड़ लेते हैं, जो अधिक प्रभाव पूर्ण है। उसी के चित्रण में—उसी के अंकन में उनकी कला अपनी पूर्ण आत्म शक्ति

का परिचय देती है। उनकी कला को उसके चित्रण में पूर्ण सफलता प्राप्त हुई है। उनकी 'शतरंज का खिलाड़ी' नामक कहानी में वातावरण का श्रेष्ठतर विकास हुआ है। यह कहानी वातावरण प्रधान कहानियों में सर्व श्रेष्ठ समझी जाती है। 'शतरंज का खिलाड़ी' की भाँति उनकी और भी कहानियाँ हैं, जिनमें वातावरण का विकास आदर्श रूप में हुआ है।

जिन कहानियों में चरित्र चित्रण और वातावरण पर विशेष बल नहीं दिया जाता; बल्कि चरित्रों और परिस्थितियों के संबंध पर बल दिया जाता है, उनमें कथानक की प्रधानता होती है। कहानी कला की दृष्टि से इस कोटि की कहानियाँ निम्नकोटि की समझी जाती हैं। प्रेमचन्दजी की कहानियों में कथानक की प्रधानता बहुत कम पाई जाती है। उन्होंने अपनी कहानियों के कथानक व्यक्ति, परिवार, समाज, नगर, किसान, और मजदूर इत्यादि के जीवन-स्थल से लिए हैं, जो घटनात्मक न होकर समस्या मूलक हैं। उन्होंने कथा के विकास की ओर उतना ध्यान नहीं दिया है, जितना समस्या के समाधान की ओर। यही कारण है, कि उनकी कहानियों में चरित्र, और वातावरण प्रधान रूप से उत्पन्न हो गया है, और यही उनकी कहानी कला की श्रेष्ठता का कारण भी है।

कहानी में कार्य की प्रधानता का अर्थ यह है, कि उसमें सबसे अधिक बल कार्य पर ही दिया गया हो। ऐसी कहानियाँ जासूसी और तिलिस्मी होती हैं, जो कहानी कला की दृष्टि से हेय समझी जाती हैं। प्रेमचन्दजी ने इस कोटि की कहानियाँ कभी लिखी ही नहीं। अतः उनकी कहानी कला 'कार्य-प्रधानता' को स्पर्श नहीं कर पाई है।

प्रेमचन्दजी की कहानी कला चरित्र प्रधान और वातावरण प्रधान है, उनकी कला की सबसे बड़ी विशेषता यह है, कि वह चरित्र और वातावरण के विकास के द्वारा ही अपने को पुष्ट करती है। उसमें यथार्थवाद और आदर्शवाद का प्रशंसनीय समन्वय हुआ है। वह पाश्चात्य कहानी कला से प्रभावित होने पर भी पूर्ण रूप से भारतीय है। भारतीयता ही प्रेमचन्दजी की कला का लक्ष्य है। उनकी कहानियों में यथार्थवाद, जो आदर्शवाद की ओर उन्मुख है, भारतीय संस्कृति और आत्मा से संबंधित है। उन्होंने अपनी कहानियों में पग-पग पर भारतीय संस्कृति की रक्षा की है। उनकी कहानियों में चरित्र और वातावरण सब कुछ भारतीय जीवन के अनुकूल है। उनके पात्रों के कथनोपकथन भारतीय संस्कृति का समर्थन करते हैं। कला की दृष्टि से उनका कथनोपकथन अत्यन्त स्वाभाविक, और सजीव है। वे एक कुशल सवार की भाँति पात्रों के कथनोपकथन पर अपना नियन्त्रण रखते हैं। उनकी कहानी कला की सफलता और श्रेष्ठता में उनका कथनोपकथन अधिक सहायक सिद्ध हुआ है।

चन्द्रधर शर्मा गुलेरी ने कुल तीन कहानियाँ लिखी हैं—'सुखमय जीवन', 'बुद्धू का काँटा, और 'उसने कहा था'। इन्हीं तीनों कहानियों को सामने रख कर हम

चन्द्रधर शर्मा गुलेरीजी की कहानी कला की समीक्षा करेंगे। 'सुखमय गुलेरी जीवन' में एक ऐसे युवक का चित्र खींचा गया है, जो विद्वान तो है, किन्तु अनुभवहीन होने के कारण उसे जगत में जीवन का सुख प्राप्त नहीं होता। 'बुद्धू का काँटा' भी इसी प्रकार के अनुभवहीन युवक की कहानी है। 'उसने कहा था' में प्रथम महायुद्ध के एक सिक्ख सैनिक की वीरता, धीरता, कर्त्तव्य-परायणता, और उसके साथ ही साथ जीवन की मधुर स्मृतियों का भी चित्रण किया किया है।

गुलेरीजी की 'उसने कहा था' सर्वश्रेष्ठ कहानी है। कहानी कला की दृष्टि से गुलेरीजी की इस कहानी में चरित्र की प्रधानता का प्रमुख रूप से विकास हुआ है। उन्होंने लहनासिंह के चरित्र के एक पक्ष के द्वारा ही, जो अधिक दृढ़ और शक्ति शाली है, उसके सम्पूर्ण चरित्र को हमारे सामने उपस्थित कर दिया है। लहना का आत्म त्याग और बलिदान प्रशंसनीय है। इस कहानी की सफलता का सबसे बड़ा कारण लहना का आत्म त्याग और बलिदान ही है। इसी प्रकार गुलेरीजी की 'सुखमय जीवन' और 'बुद्धू का काँटा' में भी चरित्र के एक पक्ष द्वारा ही पात्र का सम्पूर्ण चरित्र प्रतिफलित हुआ है। अतः हम यह कहेंगे, कि गुलेरीजी चरित्र प्रधान कहानियों के सर्व श्रेष्ठ रचयिता थे।

चरित्र-प्रधान कहानीकारों में गुलेरीजी का सर्वश्रेष्ठ स्थान है। यदि वे कुछ दिनों तक और जीवित रहते, तो उनका स्थान सर्वोपरि होता। प्रेमचंदजी भी चरित्र प्रधान कहानियों के उत्कृष्ट रचयिता हैं, किन्तु जो रस गुलेरीजी की कला में है, वह प्रेमचंदजी की कला में नहीं उपलब्ध होता। गुलेरीजी की चरित्र प्रधान कहानियाँ रस से ओत प्रोत हैं। गुलेरीजी की कला की सबसे बड़ी विशेषता यह है, कि वह कहानी के भीतर 'रस' उत्पन्न करने में बड़ी प्रवीण है। 'उसने कहा था' में रस का जैसा सुन्दर परिपाक हुआ है, वह आदर्श और अद्वितीय है। कहानी के प्रारम्भ में जो मधुर भाव उत्पन्न होते हैं, वे अन्त में बिना किसी स्वार्थ के पूर्ण पराकाष्ठा को प्राप्त हो जाते हैं। उन मधुर भावों की स्मृति स्वर्गोपम स्मृति है। उनमें संकीर्णता नहीं, हृदय की विशालता है। वे लहनासिंह के हृदय से निकल कर संपूर्ण मानव-जगत को देवलोक की भाँति पावन बना देते हैं। एक ओर उनमें जहाँ यह पावनता है, दूसरी ओर वहीं मधुर स्रोत छल छला रहे हैं। विशेषता तो यह है, कि कहानी में प्रारम्भ से लेकर अन्त तक कहीं भी चरित्र और भावों के विकास में शिथिलता नहीं आने पाई। शैशव काल की घटना अन्त में युवती का रूप धारण कर लेती है, और संपूर्ण कथानक को रसमय बना देती है।

गुलेरीजी की कहानी का 'रस' शास्त्रीय होते हुए भी आधुनिक काल के अनुरूप है। आधुनिक काल की प्रभाव पूर्णता ही गुलेरीजी की कहानी में रस के रूप में विद्यमान है। उसकी विशेषता यह है, कि उसमें मधुर व्यंजनाओं का विकास हुआ है। इसका कारण गुलेरीजी का वह व्यक्तित्व है, जिसमें संस्कृत का प्रकांड पांडित्य

था। गुलेरीजी संस्कृत साहित्य के महारथी थे। उन्होंने संस्कृत साहित्य के विभिन्न अंगों का मंथन किया था। वे संस्कृत साहित्य के रस में डूबे हुए थे। अतः उनकी रचनाओं में शास्त्रीय रस का परिपाक होना स्वाभाविक ही है। पर गुलेरीजीने अपनी कहानी कला के रस को बड़े कौशल के साथ शास्त्रीयता से बचाया है। उनकी कहानियों में जो रस है, वह संस्कृत के एक प्रकांड विद्वान का नहीं, वरन् ऐसे कलाकार का रस है, जो मानव जीवन का ज्ञाता होने के साथ ही साथ मानव प्रकृतियों का पूर्ण पारखी है।

गुलेरीजी की कहानी कला का आधार मानव जीवन है। वह मानव-जीवन के केवल बाह्य रूप तक ही नहीं रहती, वरन् उसके अंतर में भी प्रवेश करती है—और दूर तक प्रवेश करती है। मानव जीवन के आंतरिक दृश्यों का चित्रण करना ही उनकी कला का परम उद्देश्य है। गुलेरीजी की कहानी कला आंतरिक सौन्दर्य पर मुग्ध है। उसकी सबसे बड़ी विशेषता यही है, कि वह रोटी और कपड़े की चिन्ता में न उलझ कर मानव हृदय के उन भावों के साथ खेलती है, जो उसके जीवन को देवोपम बनाने की सामर्थ्य रखते हैं। गुलेरी जी की कहानियों के पात्र और कथानक उसी समाज के हैं, जो दुर्बलताओं और बुराइयों से परिव्याप्त है। किन्तु वे आदर्शवादी हैं—अद्वितीय हैं। वे मनुष्य से घृणा नहीं, बल्कि प्यार करते हैं। वे अपने सुखों और दुखों की चिन्ता में मानवता का संहार नहीं करते, अपितु दूसरों के कष्टों को दूर करने के लिए—उनके प्राणों को बचाने के लिए प्राणों पर भी खेल जाते हैं। वे जहाँ समाज, स्थिति और जीवन का वास्तविक चित्र उपस्थित करते हैं, वहाँ उनका संपूर्ण आकर्षण आदर्श की ही ओर रहता है। अतः हम कह सकते हैं, कि गुलेरीजी की कहानी कला तथ्यवाद के ऊपर आदर्शवाद की स्थापना करती है।

गुलेरीजी की कहानी कला के ऊपर हास्य और व्यंग्य का झीना पट भी पड़ा हुआ है, जिसके परिणाम स्वरूप उनकी कला में अपने आप रस की सृष्टि हो गई है। किन्तु उनका हास्य, और व्यंग्य वह हास्य और व्यंग्य नहीं है, जिसका मूल्य बहुत अल्प होता है और जो एक छिछले स्रोत से निकलता है। गुलेरीजी के हास्य और व्यंग्य में अपूर्व गंभीरता और संयम शीलता है। उनका हास्य-प्रवाह दो सुदृढ़ किनारों से बँधा हुआ है। वह कहीं भी रंचमात्र उमड़ने नहीं पाता। उसकी सबसे बड़ी विशेषता यही है, कि वह अपने कूलों के ही भीतर रहता है। उसका गुण घृणा, आघात, और मनोविकारों की विकृति नहीं है; वरन प्रेम, सहानुभूति, और संवेदना है। उससे हृदय में तिलमिलाहट नहीं उत्पन्न होती; वरन् प्रेम के भाव जाग्रत होते हैं। इसका प्रधान कारण गुलेरीजी का व्यक्तित्व है। गुलेरीजी संस्कृत के पंडित थे, और उनमें उदारता कूट-कूट कर भरी थी। अतः उनका हास्य भी विद्वान की भाँति गंभीर और उदार की भाँति सहानुभूति पूर्ण है।

कुछ लोगों का कथन है, कि गुलेरीजी की कहानी कला केवल कला की सृष्टि के लिए है, उसका जन जीवन से कोई सम्बन्ध नहीं है। वे गुलेरीजी पर 'कुर्सुआपन'

का दोष भी लगाते हैं, और उसका कारण यह बताते हैं, कि गुलेरीजी साधन-संपन्न व्यक्ति थे और उनके जीवन का अधिकांश भाग बड़े-बड़े राजाओं के साथ व्यतीत हुआ था। ऐसे लोगों के सम्बन्ध में हमारा केवल इतना ही कहना है, कि वे जन-जीवन की विशेषताओं को नहीं जानते। जन-जीवन केवल अभावों के चित्रण तक ही सीमित नहीं होता। उसका एक और पक्ष होता है, जो बाह्य पक्ष से—अभावों से अधिक प्रबल और आकर्षक होता है। गुलेरीजी ने उसी पक्ष का चित्रण अपनी कहानियों में किया है। उनकी कहानियों में रोटी और कपड़े का राग नहीं—समाज के अभावों का क्रन्दन नहीं, उस आंतरिक सौन्दर्य का चित्रण है जो जन-जन के हृदय में देवोपम भावों की सृष्टि करके समाज को आदर्श और उन्नत बनाता है। इसलिए हम यह कह सकते हैं, कि गुलेरी जी की कला जनवादिनी भी है।

सुदर्शन प्रेमचन्द युग के सुप्रसिद्ध कहानीकार हैं। प्रेमचन्दजी ने हिन्दी में कहानी के जिस नवीन युग की स्थापना की है, सुदर्शनजी उसी की सीमा के भीतर श्री सुदर्शन विचरण करते हैं; बल्कि यह कहना अधिक न्याय संगत होगा कि सुदर्शनजी ने भी उसी युग का शृंगार किया है। प्रेमचन्दजी की कला से सुदर्शन की कला प्रभावित है – इस बात से तो असहमति नहीं प्रगट की जा सकती, पर इसके साथ ही साथ यह भी बलपूर्वक कहा जायगा, कि सुदर्शनजी पूर्णरूप में मौलिक हैं। उनकी कला प्रभावित अवश्य है, पर वह सर्वथा मौलिक है। उसका स्वरूप प्रेमचन्दजी की कला से भिन्न है। प्रेमचन्दजी की कला उस चिरतन सत्य को स्पर्श नहीं करती, जो मनुष्यता के मध्य में से झाँकता रहता है। प्रेमचन्दजी की कला का अधिकतर सम्बन्ध अभावों से उत्पन्न दुःखों से है। पर सुदर्शनजी की कला अभावों से उत्पन्न दुःखों को लाँघती हुई चिरंतन सत्य से ही अपना सम्बन्ध स्थापित करती है। वह अभावों और दुखों में भी उसी की खोज में व्याकुल रहती है। मनुष्य के मनोवेगों में पड़ कर वह इधर-उधर भटकती नहीं, वरन् दृढ़ता पूर्वक उन्हें दबाती हुई सत्य' के निकट पहुँचने का प्रयत्न करती है। सुदर्शनजी की 'हार जीत' कहानी उनकी शाश्वत और सत्य अन्वेषिणी कला को बड़ी दृढ़ता के साथ हमारे सामने उपस्थित करती है। यह कहानी यद्यपि सुदर्शनजी की बहुत पहले की कहानी है, पर उसमें उनकी सत्य-अन्वेषिणी कला का प्रचुर रूप में विकास हुआ है।

सुदर्शनजी की कला में वातावरण को विकसित करने की प्रचुर शक्ति है। यही कारण है, कि सुदर्शनजी की कहानियों में वातावरण की प्रधानता है। वातावरण प्रधान कहानीकारों में सुदर्शनजी का प्रमुख स्थान है। वातावरण की सृष्टि करने में उन्होंने स्वाभाविकता को ही अधिक महत्त्व दिया है। उनकी कहानियों का वातावरण यथार्थवादी भावनाओं की पृष्ठभूमि पर जन्म लेता है, और उन्हीं की छाया में पलता तथा पुष्ट भी होता है। वातावरण की सृष्टि करने के साथ ही साथ उनकी कला जीवन की व्याख्या भी करती है। व्याख्या में वह अपनी मनोवैज्ञा-

निकता प्रदर्शित करती है। उसकी मनोवैज्ञानिकता में तीव्रता है—प्रभाव शालीनता है। वह एक सूक्ष्म दर्शी की भाँति जीवन से सम्बन्ध रखने वाले तथ्यों को देखती है, और उनके पारस्परिक वैषम्य को दूर करने के लिए एक हल—एक समाधान खोजती है।

सुदर्शनजी आदर्शवादी हैं। अतः उनकी कला आधुनिक काल के व्यक्ति तक ही सीमित नहीं रहती। वह पुराणों, और उपनिषदों के युग में प्रवेश करती है, और तत्कालीन मानव-हृदय में प्रविष्ट होकर, वहाँ भी सत्य का अनुसंधान करती है। सत्य के लिए—नैतिक आदर्शों की खोज के लिए वह दूर—सुदूर का रास्ता तै करती है। वह उपदेश नहीं देती, नैतिक आदर्शों के चित्र सामने उपस्थित करती है। उसे किसी से घृणा नहीं है—किसी से वैर नहीं है, पर नैतिक आदर्शों से दृढ़ प्रेम है। उनकी 'हार जीत' में अपूर्व नैतिक आदर्श की स्थापना हुई है।

कौशिकजी की कहानी कला कथानक प्रधान है। वह पात्र, संवाद, और चरित्र के द्वारा कथानक के ही विकास में संलग्न रहती है। कथानक के विकास से कौशिक विश्वम्भरनाथ शर्मा कौशिक जी को कला को इतना प्रेम है, कि कहीं कहीं इस प्रेम के कारण वह अव्यावहारिक और अस्वाभाविक हो गई है। किन्तु इस अस्वाभाविकता के होते हुए भी उसे कथानक के विकास में प्रशंसनीय सफलता प्राप्त हुई है। कौशिकजी की कला कथोपकथन में भी बड़ी प्रवीण है। वह कथोपकथनों में रस, प्रवाह, और स्वाभाविकता की सृष्टि करने में अद्वितीय है। उसमें हृदय ग्राहकता और स्पष्टता के प्रचुर गुण हैं।

कौशिकजी की कला की सबसे बड़ी विशेषता उसका नाटकत्व है। उन्होंने अपने पात्रों का चरित्र चित्रण नाटकीय ढङ्ग पर किया है। उनके वार्तालापों, और पात्रों के क्रिया कलापों में नाटकीय कला का विकास हुआ है। उनकी कला को इस दिशा में सबसे अधिक सफलता हुई है। इस दिशा में कौशिकजी प्रेमचन्द और प्रसादजी से भी आगे निकल गए हैं। कौशिकजी की कला यद्यपि यथार्थवादिनी है, पर उसमें यथार्थवाद की अपेक्षा कल्पना और भावुकता का अंश अधिक है। भावुकता से कौशिकजी की कला को अधिक मोह है। इस मोह के कारण कहीं कहीं वह अव्यावहारिक भी हो गई है।

कौशिकजी की कला चरित्र चित्रण की ओर से उदासीन है। चरित्र चित्रण की अपेक्षा वह कथानक को ही विशेष महत्त्व प्रदान करती है। चरित्र चित्रणों के विकास में उसने पात्रों की रहन-सहन और वार्तालापों का ही आश्रय लिया है, जिसमें उसे अधिक सफलता प्राप्त हुई है। कौशिकजी की कला अपनी इस सफलता के ही कारण हिन्दी-साहित्य में सर्व मान्य है।

—:o:—

भावात्मक कला

भावात्मक कला भावना, और अनुभूति पर आधारित है। इस कला की कहानियों में अनुभूति की प्रधानता है। अनुभूति की प्रधानता होने के कारण इस कला की कहानियों में मानव हृदय के सुख दुख, हर्ष विषाद और उत्थान पतन का चित्रण समवेदना और सहानुभूति के वातावरण में हुआ है। स्वर्गीय प्रसादजी इस कला के उन्नायक हैं। चण्डीप्रसाद हृदयेश, श्री रायकृष्णदास, और श्री विनोदशंकर व्यास इत्यादि ने इस कला की कहानियों के विस्तार में योग प्रदान किया है।

स्वर्गीय जयशंकर प्रसाद की कहानी कला विविध रंगी है। कहीं वह ऐतिहासिकता की पृष्ठभूमि पर विहार करती है, तो कहीं सामाजिक तत्वों के साथ खेलती है। जयशङ्कर प्रसाद कहीं वह मानव की प्रवृत्तियों के साथ नृत्य करती है तो कहीं-हृदय के द्वन्द्वों के साथ उलझती है। उस के विविध स्वरूप हैं। जिस प्रकार उस के विविध स्वरूप हैं, उसी प्रकार उन स्वरूपों में झिलमिलाने वाली उसकी भाव ज्योतियों में भी विविधता है। कहीं उसकी भाव-ज्योतियाँ अपने प्रकाश से प्रेम उत्पन्न करती हैं, तो कहीं औदार्य को सामने लाती हैं। कहीं हर्ष के वैभव बिखेरती हैं, तो कहीं उल्लास के। कहीं संयोग को सामने लाती हैं, तो कहीं वियोग को। कहीं करुण और समवेदना के चित्र बनाती हैं, तो कहीं सत्य और आदर्श के। इस प्रकार प्रसादजी की कला में भावों की विविधता और चित्रों की बहुरंगता है। प्रसाद जी की कला चाहे जितनी ही विविध, और बहुरंगी क्यों न हो, किन्तु उसने अपने हर एक प्रकार और रंग में कल्पना तथा काव्यत्व की रक्षा की है। अतः यह कहना ही पड़ेगा, कि प्रसाद जी की कला कल्पना, और काव्यमय है। कल्पना और काव्यमय होने के कारण उनकी कला की प्रवृत्ति स्वच्छंदता की ओर है। उनकी कला किसी बन्धन, और सीमा को स्वीकार नहीं करती। यहाँ तक, कि ऐतिहासिक पृष्ठभूमि पर भी वह स्वच्छंदता के साथ विहार करती है।

प्रसादजी की कला में चेतनता, और तीव्रता का प्रधान गुण है। वह अपनी तीव्र शक्ति के द्वारा अंधकार पूर्ण अतीत में प्रवेश करती है, और वहाँ रत्न तथा मणियाँ बटोरने में सफल सिद्ध होती है। वह अतीत के गर्भ से निकाल कर ऐसे-ऐसे मनोरम चित्रों को हमारे सामने लाती है, जिन्हें देख कर हृदय-विमुग्ध हो जाता है। अतीत के वे चित्र भावनाओं से उल्लसित हैं। कहीं तो वे अतीत की सामाजिकता

का चित्र अंकित करते हैं, और कहीं ऐतिहासिक पात्रों के हृदय की सुकोमल भावनाओं को व्यक्त करते हैं। कहीं समवेदना की झाँकी से झाँकते हुए दृष्टिगोचर होते हैं, तो कहीं करुणा के मनोरमहारों से सुसज्जित दिखाई देते हैं। उनका अतीत संबंधी ज्ञान, और उनकी अनुभूतियाँ प्रशंसनीय हैं। ऐसा ज्ञात होता है, मानो उनका चितेरा स्वयं चित्रस्थ भावों का प्रमुख अभिनेता रहा हो।

प्रसादजी की कला मानव हृदय के द्वन्द्वों का चित्रण करने में अधिक कुशल है। वह जिस किसी भी वर्ग के व्यक्ति के हृदय में प्रविष्ट होती है, वृहत दूर तक उसके क्षेत्र को देखती है। उसका क्षेत्र किसी वर्ग विशेष के व्यक्ति का हृदय नहीं है। वह राजा के हृदय में भी प्रविष्ट होती है, और भिखारिणी के हृदय-पटल पर भी नृत्य करती है। वह शराबी का भी साथ करती है, और समाज के आदर्श व्यक्ति के साथ भी विचरण करती है। उसका विशेष रूप से किसी से भी सम्बन्ध नहीं है, किन्तु सबसे है। वह किसी एक विशेष व्यक्ति के प्रति अपनी ममता न प्रदर्शित करके संपूर्ण मानव के हृदय को ही अपना क्षेत्र समझती है। यही कारण है, कि प्रसादजी के पात्र किसी वर्ग विशेष के नहीं हैं। उन्होंने अपने पात्र समाज के भिन्न-भिन्न वर्गों से चुने हैं। उनके पात्रों में शराबी, और गूदड़ साँई भी हैं। प्रसादजी की कला की सबसे बड़ी विशेषता यही है, कि वह मानव-हृदय के साथ विहार करती है। मानव-हृदय के द्वन्द्वों का चित्रण करना ही प्रसादजी की कला का मुख्य कार्य है। उसने जहाँ जिस मनोवेग का चित्रण किया है, बड़ी मार्मिकता के साथ किया है। मनोवेगों पर प्रसादजी की कला का पूर्ण राज्य है। वह प्रत्येक मनोवेग को सहानुभूति, और करुणा के साथ देखती है। उसका संपूर्ण व्यापार संवेदना के ऊपर आधारित है।

प्रसादजी की कला में वातावरण की प्रधानता है। अंतर्द्वन्द्वों के द्वारा चरित्र और वातावरण का विकास करने में वह अधिक कुशल है। कहानी में ज्यों ज्यों संवादों और संभाषणों का क्रम अग्रसर होता है, त्यों त्यों पात्रों का चरित्र और वातावरण भी अपने आप विकसित होता जाता है। प्रसादजी की कहानी कला यद्यपि ऐतिहासिक तत्त्वों को ढूँढ़ती है, पर उसमें घटनाओं का विस्तार बहुत कम पाया जाता है। घटनाओं के स्थान पर उसमें कल्पनाओं और मनोवैज्ञानिक विश्लेषणों का ही अधिक प्रसार हुआ है। हाँ वह दृश्यों का वर्णन करने में संकोच नहीं करती। प्रसादजी की कहानियों में नगरों, ग्रामों, प्रकृति-स्थलों, समुद्रों, और द्वीपों का भी वर्णन हुआ है। अतः यह कहना ही पड़ेगा, कि प्रसादजी की कला चरित्र और वातावरण का चित्रण करने के साथ ही साथ दृश्यों का अंकन करने में भी अधिक कुशल है।

प्रसादजी की कला अधिक भावुक और कल्पनामयी है। भावुकता और कल्पनाओं के प्रति उसके भीतर अधिक मोह है। कहीं कहीं इस मोह के कारण वह उलझ भी गई है, और उसका रूप अस्पष्ट हो गया है। किन्तु वह इसकी चिन्ता नहीं

करती। भावुकता और कल्पना के साथ कहानी के भीतर सौन्दर्य उत्पन्न करना ही वह अपनी विशेषता समझती है। कहीं कहीं प्रसादजी की कला ध्वन्यात्मक और सांकेतिक भी हो गई है।

प्रसादजी की कहानियाँ कई प्रकार की हैं। उनकी संपूर्ण कहानियाँ निम्नांकित वर्गों में विभक्त की जा सकती हैं—ऐतिहासिक कहानियाँ, यथार्थवादी कहानियाँ, भावात्मक कहानियाँ, प्रेम मूलक कहानियाँ, रहस्यवादी कहानियाँ, प्रतीकात्मक कहानियाँ, समसामयिक कहानियाँ, चरित्र प्रधान कहानियाँ, आदर्शवादी कहानियाँ, और प्रागैतिहासिक कहानियाँ। जिस प्रकार प्रसादजी की कहानियों के विविध रूप हैं, उसी प्रकार उनकी कला भी विविध रूप-रंगिनी है। जहाँ जैसी आवश्यकता पड़ी है, उसने वहाँ वैसा अपना स्वरूप निश्चित किया है। अपने स्वरूप निर्धारण में सर्वत्र वह केवल दो ही बातों पर विशेष रूप से ध्यान देती है—संवेदना का, और काव्यमयी कल्पना का। 'प्रसाद' जी की कला प्रत्येक क्षेत्र में कल्पनामयी और संवेदन शील है। सुकोमल कल्पना, और संवेदना की जैसी बहार प्रसादजी की कहानियों में मिलती है, वैसी अन्यत्र बहुत कम मिलती है। प्रसादजी की कला की सर्व प्रियता का मुख्य कारण यही है, कि वह सब को सहानुभूति और संवेदना की दृष्टि से देखती है। प्रसादजी ने मानव-हृदय को जीतने वाले गुणों की शक्ति से अपनी कहानियों में स्वर्ग की सृष्टि की है।

श्रीराय कृष्णदास वर्तमान कहानीकारों में अपना प्रमुख स्थान रखते हैं। कहानी के क्षेत्र में यद्यपि यह प्रसाद कला के हैं, और प्रायः इन्हीं के मार्ग का अनुसरण

रायकृष्णदास भी करते हैं, किन्तु फिर भी एक विशेष दृष्टि से इनका अधिक महत्त्व है। प्रसाद कला के होते हुए भी इन्होंने कला के क्षेत्र में अपना मौलिक दृष्टिकोण रक्खा है। कहानी का सम्बन्ध कला से स्थापित करने में यह सबसे अधिक अग्रगण्य है। इन्हीं को यह श्रेय प्राप्त है, कि इनकी रचनाओं में कहानी और कला—दोनों अविच्छिन्न रूप से एक साथ ही दृष्टि गोचर होती हैं। प्रसादजी ने भी कहानी का सम्बन्ध कला के साथ स्थापित करने का सफल प्रयास किया है, किन्तु कला और कहानी की जो अभिन्नता राय साहब की कृतियों में प्राप्त होती है, उसका दर्शन प्रसाद जी की कृतियों में नहीं होता। प्रसादजी का ध्यान कला और कहानी का सम्बन्ध स्थापित करने के साथ ही साथ विषयों की ओर भी है, किन्तु रायसाहब ने अपनी सम्पूर्ण प्रतिभा का प्रयोग केवल एक इसी कार्य में किया है। यही कारण है, कि उनकी कहानियों में सबसे अधिक कलात्मकता है।

रायसाहब की कला भावना प्रधान है। अन्यान्य क्षेत्रों की तो बात ही नहीं, ऐतिहासिक क्षेत्र में भी उसका संपूर्ण व्यापार भावना के ही आधार पर संचालित होता है। उनकी कला का उद्देश्य आनन्द और स्वांतः सुखाय है। वह राष्ट्रीय और सामाजिक समस्याओं की ओर से आँखें बन्द करके मानव-हृदय के राग-विराग, हर्ष-विषाद, और दुख-सुख से ही अपना शृंगार करती है। मनोभावों के कारण

मानव-हृदय में जो द्वन्द उठते हैं, उसी का चित्रण करना उसका लक्ष्य है। अंतर्द्वंदिनी होने के कारण उसमें मनोवैज्ञानिकता भी है। किन्तु उसकी मनोवैज्ञानिकता में मस्तिष्क का अंश कम, और हृदय का अंश अधिक है। उसमें एक तार्किक की तर्कना नहीं, एक कवि की कल्पना है। कल्पना और भावनामय होने के कारण वह सरस और हृदयहारिणी भी है।

रायकृष्णदासजी की कला वातावरण प्रधान है। आदि से लेकर अन्त तक वह वातावरण का विकास करने में ही अपनी सम्पूर्ण शक्ति का उपयोग करती है। प्रसादजी की भाँति रायसाहब का वातावरण भी कवित्व पूर्ण और नाटकीय ढङ्ग का है। उनकी कला में नाटकत्व की प्रचुरता है। इनकी कला भावना, और कल्पना की शक्ति से आदर्श की सृष्टि करना ही अपनी सार्थकता समझती है। चरित्र चित्रण और घटना की ओर वह बिलकुल ध्यान नहीं देती। यही कारण है, कि इनकी कहानियों में चरित्र चित्रण और घटनाओं का पूर्ण अभाव है। घटनाओं का पूर्ण अभाव होने के कारण कहीं कहीं इनकी कला कहानी के क्षेत्र से पृथक हो गई है, और उसने गद्य-काव्य का रूप धारण कर लिया है। चरित्र चित्रण के अभाव में कहीं कहीं उलझ कर वह अस्वाभाविक भी हो गई है। यह होते हुए भी रायसाहब की कला का रूप प्रभाव पूर्ण है। रायसाहब की कहानी कला अपने ढंग की अकेली कला है। उसके द्वारा हिन्दी कहानी जगत में एक विशेष प्रकार की कहानियों की सृष्टि हुई है। सरसता, आनन्द, और मनोरंजन इन कहानियों का उद्देश्य है। इनके द्वारा एक रहस्य का उद्घाटन होता है। उस रहस्य का उद्घाटन होता है, जिसे जानने, और समझने में ही मनुष्य अपना जीवन समाप्त कर देता है। इन कहानियों की रहस्यात्मकता ही उनकी विशेषता है। उनका आनन्द और उनका मनोरंजन अलौकिक आनन्द और मनोरंजन है। अलौकिक और अपरोक्ष सत्ता का नाटकीय ढंग से उद्घाटन करके आनन्द की सृष्टि करने में यह कहानियाँ अधिक कुशल हैं।

स्वर्गीय चण्डी प्रसाद 'हृदयेश' और श्री विनोद शंकर व्यास ने भी भावना-प्रधान कहानियाँ लिखकर इस कक्षा के विस्तार में योग प्रदान किया है।

—:o:—

विद्रोहात्मक कला

विद्रोहात्मक कला की कहानियाँ विद्रोह पर आधारित हैं। इस कला की संपूर्ण कहानियों में समाज की रूढ़ियों और कदाचारों के प्रति एक विद्रोह का भाव पाया जाता है। यद्यपि इस कला की कहानियों में स्थायित्व नहीं है, पर इस बात से अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि उनमें नवचेतना और जागृति का भाव है। कहानी कला की दृष्टि से इस कला की कहानियों को महत्त्व नहीं प्रदान किया जा सकता, किन्तु इस बात में संदेह नहीं किया जा सकता, कि इस कला की कहानियों से समाज के कदाचारों पर प्रकाश पड़ा है, और उनके विरुद्ध लोगों के हृदय में घृणा का भाव उत्पन्न हुआ है। श्री पाण्डेय बेचन शर्मा 'उग्र' इस कला के उन्नायक हैं। श्री ऋषभ चरण जैन, और श्री चतुर सेन शास्त्री इत्यादि ने भी इस कला की कहानियों के प्रचार-प्रसार में योग प्रदान किया है।

पांडेय बेचन शर्मा 'उग्र' की कहानी-कला घोर यथार्थवादिनी है। यथार्थवाद के क्षेत्र में भी वह समाज के उन्हीं तत्त्वों को ढूँढती है, जिन्हें हम समाज की विकृति कह सकते हैं। उसने वेश्यालय, मदिरालय, जुए के अड्डों और वीभत्स कृत्यों से ही अपना अभिसार किया है। उसमें इन कृत्यों के प्रति आसक्ति-सी उत्पन्न हो गई है। उसकी दृष्टि में समाज के भीतर इन्हीं तत्त्वों की प्रचुरता है, और वह उन्हीं का ढिंढोरा पीटने में अपनी सार्थकता समझती है। ढिंढोरा पीटने में उसका ध्यान परिणाम की ओर रचमात्र भी नहीं रहता।

पांडेय बेचन शर्मा 'उग्र'

उग्र जी की कला कुरूपता प्रधान है। वह कहीं भी सत्य, और सौन्दर्य का चित्रण करने की अपनी प्रवृत्ति नहीं दिखाती। समाज की कुरूपताओं में ही उसकी आसक्ति है। कुरूपताएँ भी कैसी, जो सम-सामयिक हैं। यही कारण है, कि उग्रजी की कला का क्षेत्र संकीर्ण हो गया है। यद्यपि प्रेम चन्द और प्रसाद ने भी अपनी कला के शृङ्गार के लिए समाज की विकृतियों को ही अपना साधन बनाया है, पर उनकी 'कला' में जो 'शिवत्व' और 'मंगल' की भावना है, उसके कारण उनकी कला का क्षेत्र अधिक विस्तृत हो गया है। किन्तु 'उग्र' जी की कला इसके विपरीत है। 'शिवत्व' और मंगल की भावना का पूर्ण अभाव होने के कारण वह एक युगीन बन गई है। उसका क्षेत्र भी किसी विशेष समय का ही है। 'उग्र' जी की रचनाओं

का जो आज आदर नहीं हो रहा है, उसका कारण उनकी कला की सम सामयिकता है।

उग्रजी की कला घटना प्रधान है। वह घटनाओं की ओर जितना ध्यान देती है, उतना चरित्रों के विकास की ओर ध्यान नहीं देती। वह अपने भीतर पात्रों के चरित्रों का विकास घटनाओं, और पात्रों के क्रिया-कलापों के ही द्वारा करती है। यों तो चरित्र चित्रण की ओर उसकी सजगता नहीं है, पर जहाँ कहीं उसने इस ओर ध्यान दिया है, वहाँ चरित्र चित्रण की मनोवैज्ञानिक और मार्मिक शक्ति का उसमें अभाव है। उग्रजी की कला बड़ी प्रगतिशील है। वह अपने विषय का चित्रण बड़ी दृढ़ता और सजगता के साथ करती है। उसमें ओजस्विता और प्राण-प्रतिष्ठा का अपूर्व गुण है। सामाजिक विकृतियों के चित्रण में उसने जो ओजस्विता और साहसिकता प्रदर्शित की है, वह हिन्दी के किसी भी आधुनिक कहानी-लेखक में दृष्टि गोचर नहीं होती। तेज और ओज की दृष्टि से, निस्संदेह उग्रजी की कला प्रशंसनीय है। उग्र जी की कहानी कला में नाटक के तत्व भी पाये जाते हैं। मार्मिक कथनोपकथनों के द्वारा वह अपने को प्रभाव पूर्ण बनाना भली भाँति जानती है। उसके कथनोपकथन नाटकीय ढङ्ग के होते हैं, जो मर्म स्थल को बेधड़क स्पर्श करते हैं।

मनोवैज्ञानिक कक्षा

मनोवैज्ञानिक कक्षा में हिन्दी कहानी ने मन के भीतर प्रवेश किया है। इस कक्षा के अंतर्गत जिन कहानियों की रचना हुई है, उनमें मन के द्वन्दों का विश्लेषण है। इस कक्षा की कहानियों में कहानी कला ने अधिक सूक्ष्म स्वरूप भी धारण किया है। सूक्ष्म स्वरूप धारण करने के कारण इस कक्षा की कहानी कला 'सत्य' और 'शिवम्' के अधिक निकट जान पड़ती है। मनोवैज्ञानिक ढग से मन के भावों का विश्लेषण करना ही इस कक्षा की कहानियों का ध्येय है। विश्लेषण के द्वारा ही इस कक्षा की कहानियों में चरित्र, और वातावरण का विकास हुआ है। श्री जैनेन्द्र कुमार इस कक्षा के उन्नायक हैं। श्री भगवतीप्रसाद वाजपेयी, श्री भगवतीचरण वर्मा, और श्री इलाचन्द जोशी इत्यादि ने भी इस कक्षा की कहानियों के विस्तार में योग प्रदान किया है।

मानव अपने आप में पूर्ण होता है। वह एक होते हुए भी अनेक होता है। वह व्यक्ति होते हुए भी समष्टि होता है। उसमें विकास की संपूर्ण शक्तियाँ सन्निहित होती

श्री जैनेन्द्रकुमार

हैं। वह अकेले ही विश्व के संपूर्ण गुणों, दोषों, मंगल, और अमंगल मयी भावनाओं का केन्द्र होता है। विश्व का संपूर्ण विज्ञान, विश्व की संपूर्ण राजनीति, और विश्व का संपूर्ण साहित्य उसी की देन है। उसका हृदय और उसका मन अनन्त स्रोत की भांति है। उसके मन के भीतर कितनी कामनाएँ उत्पन्न होती हैं, कितनी शंकाएँ उठती हैं, और कितनी पृच्छाएँ जाग्रत होती हैं—यह कोई नहीं कह सकता। वह स्वयं भी अपनी शंकाओं, पृच्छाओं, और कामनाओं का इतिहास नहीं जानता। वह उसे जानने में ही अपना जीवन घुला देता है। पर फिर भी नहीं जान पाता! श्री जैनेन्द्रजी की कला मानव के मन की इन्हीं शङ्काओं, और पृच्छाओं का हल खोजने में नितांत व्यस्त रहती है, और इसीलिए वह व्यक्ति को अधिक महत्व भी देती है। इस रूप में हम कह सकते हैं, कि वह सत्य अन्वेषिणी है। भारतीय जीवन और दर्शन, जो हमारे समाज का गुरु है, उसे सामने रख कर जब हम जैनेन्द्रजी की कला की समीक्षा करते हैं, तब हम उनकी कला को इसी रूप में पाते हैं। जैनेन्द्रजी की कला का यह स्वरूप अधिक स्थायी है। इसमें राजनीतिकवादों की अपेक्षा चिरंतन सत्य के अनुसन्धान के लिए व्याकुलता है। यह एक उस वायु के झोंके की भाँति नहीं है, जो आता है, और थोड़ी देर तक

दुर्बल तरुओं को झकझोर कर चला जाता है। जैनेन्द्रजी की कला में वायु के झोंके की भाँति झकझोरने की नहीं, किन्तु हिला देने की शक्ति है। वह व्यक्ति के हृदय से निकलती है, और व्यक्ति के हृदय पर अपना पूर्ण प्रभाव डालती है। वह एक समाधान की पीड़ा के रूप में—चिंताओं की विकलता के रूप में सत्य को स्पर्श करती हुई सामने उपस्थित होती हैं और अपनी मनोवैज्ञानिकता से हृदय को विमुग्ध कर लेती है।

जैनेन्द्रजी की कला का गठन दार्शनिकता की पृष्ठभूमि पर होता है। इसका कारण कदाचित् यही हो सकता है, कि वह सनातन सत्य अन्वेषिणी है। सत्य अन्वेषिणी होने के कारण उस पर मनोवैज्ञानिकता की पूर्ण छाप है। उसका आदि, मध्य, और अन्त—सब कुछ मनोवैज्ञानिक है। वह कथानक और घटनाओं की ओर बिलकुल ध्यान नहीं देती। व्यक्ति के समाकुल मन का विश्लेषण करना ही उसका मुख्य धर्म है। वह अपनी सम्पूर्ण शक्ति केवल एक इसी कार्य में लगाती है। विश्लेषणों के द्वारा ही वह कथानक का विकास करती है, और पात्रों के चरित्र की सृष्टि करके उसे प्रभाव पूर्ण बनाती है। अन्तरवादिनी होने के कारण पात्रों की ओर उसका अधिक झुकाव है। वह पात्र के ही मन को लेकर खेलती है, और उसी के भीतर सामाजिक अथवा राष्ट्रीय प्रगतियों का अवलोकन करती है। इस रूप में हम कह सकते हैं, कि श्री जैनेन्द्रजी की कला हिन्दी-साहित्य के लिए सर्वथा मौलिक, और नवीन है।

जैनेन्द्रजी की कला अधिक गम्भीर और प्रभाव पूर्ण है। वह शुद्ध दार्शनिकहै, और दार्शनिक तत्वों की विवेचना में ही आदि से लेकर अन्त तक व्यस्त रहती है। वह समाज की विकृतियों और बुराइयों को भी दार्शनिक दृष्टि से ही देखती है। भौतिकता को वह कहीं भी स्पर्श नहीं करती। यही कारण है, कि उसमें मनोरंजन के लिए स्थान नहीं है। पर इसका यह तात्पर्य नहीं है, कि उसमें शुष्कता है। वह प्रभाव डालने में अधिक क्षमताशालिनी है। इसलिए हम यह कह सकते हैं, कि भले ही उसमें मनोरंजन के तत्व न हों, पर उसमें मानव-हृदय को विमुग्ध करने वाले तत्व अवश्य हैं। भले ही बाजारू मनोरंजन की उत्कंठा रखने वाले मन के ऊपर जैनेन्द्रजी की कला का प्रभाव न पड़े, पर वह एक सचेतक मन को विमुग्ध किए हुए बिना न रहेगी, और यही उसका परम उद्देश्य भी है।

श्री भगवतीप्रसाद वाजपेयी की कला यथार्थवाद पर अवलंबित है। वह समाज की अपेक्षा व्यक्ति की ही ओर अधिक देखती है। व्यक्ति के जीवन में जो उद्दाम वासनाएँ होती हैं, उन्हीं का चित्रण करना उसका ध्येय है। अपने चित्रण में वह सत्य क' अनुसन्धान नहीं करती, और आदर्शों की कल्पना के लिए भी व्यग्र नहीं होती। वह केवल वास्तविकता के ही पीछे दौड़ती है। पर उसकी वास्तविकता उग्रजी की वास्तविकता की भाँति नग्न नहीं है। 'उग्रजी' की वास्तविकता में 'शिवम्' का पूर्ण रूप से अभाव

श्री भगवतीप्रसाद वाजपेयी

है। पर वाजपेयीजी की कला अपने यथार्थवाद में 'शिवम्' की भी कल्पना करती है। उनकी कला अपने व्यक्ति को—अपने पात्र को पंक में ही नहीं छोड़ देना चाहती। उसमें उसे पङ्क से बाहर निकालने की व्यग्रता भी है। कहीं कहीं वाजपेयीजी की कला भी पूर्ण भौतिकवादिनी बन गई है। जहाँ कहीं इनकी कला में भौतिकवाद अपनी पराकाष्ठा पर है, वहाँ इनकी भी कला में 'शिवम्' का अभाव उपस्थित हो गया है।

वाजपेयीजी की कला मानव-हृदय की वासनाओं का चित्रण करने में अधिक निपुण है। उनकी कला सौन्दर्य की उपासिका है। पर उसका सौन्दर्य वह सौन्दर्य नहीं है, जिसे हम अक्षय और 'सूक्ष्म' की संज्ञा से अभिहित करते हैं। उनकी कला का सौन्दर्य वासनाओं, और लालसाओं से ही संबंधित है। उसका सम्बन्ध आत्मा से बहुत कम, और शरीर से बहुत अधिक है। शारीरिक सौन्दर्य का अधिक मोह होने ही के कारण उनकी कला का क्षेत्र संकीर्ण हो गया है। यद्यपि उनकी कला का क्षेत्र संकीर्ण हो गया है, किन्तु उसमें सुकुमारता, सरसता और तारुण्य है। अपने इन्हीं गुणों के कारण वाजपेयीजी की कहानी-कला हिन्दी-साहित्य में मान्य है।

वाजपेयीजी की कहानी कला आधुनिक राजनीतिकवादों से रहित है। उसका अपना एक मार्ग है—एक दृष्टिकोण है। वह बाह्य को अन्तर में देखती है। उसकी दृष्टि में सौन्दर्य के लिए मानव-हृदय में एक अतृप्त प्यास है। उसने मानव हृदय की उस प्यास का चित्रण करने में ही अपनी सम्पूर्ण शक्ति लगायी है। मानव-हृदय की प्यास का चित्रण करने में कहीं कहीं वह नग्न भी हो गई है। चित्रण में वह पूर्ण रूप से मनोवैज्ञानिक है। उसकी मनोवैज्ञानिकता में कवि की सरसता, और सुकुमारता है। प्रेम और सौन्दर्य को लेकर मानव-हृदय में जो द्वन्द उत्पन्न होते हैं, उनके चित्रण पर उनकी मनोवैज्ञानिकता अपना अधिकार रखती है।

वाजपेयीजी की कहानी कला अपनी पृष्ठभूमि एक विशेष अवस्था, या एक विशेष घटना, या एक विशेष मानव-प्रकृति के आधार पर निर्मित करती है। उसका ध्यान कथा के विकास की ओर कम, किन्तु चरित्र के विकास की ओर ही अधिक रहता है। वह व्यक्ति की किसी एक विशेष घटना, स्थिति या प्रवृत्ति को ही अपना आधार मान कर उसका संपूर्ण व्यक्तित्व सामने उपस्थित कर देती है उसे व्यक्ति के द्वारा समष्टि का चित्रण करने में अपूर्व सफलता प्राप्त हुई है। वह व्यक्ति के चरित्र के बिखरे हुए अंशों को बड़ी चतुराई के साथ जोड़ती है। बिखरे हुए अंशों के द्वारा वह एक ऐसा चरित्र उपस्थित करती है, जो अधिक प्राणमय, और जाग-रूक होता है। चरित्र उपस्थित करने के उसके दो अपने साधन हैं—एक पात्रों के कार्य कलाप, और दूसरा उनका कथनोपकथन। पात्रों के कथनोपकथन, और कार्य कलापों के द्वारा ही उनके चरित्रों को उपस्थित करने में उनकी कला ने असाधारण योग्यता प्रदर्शित की है।

वाजपेयीजी की कला अपने लिए मध्य श्रेणी के पात्र चुनती है। उसके पात्र शक्तिशाली और सक्षम होते हैं। वे बातचीत करने में अधिक पटु और प्रभाव शाली होते हैं। उनके कार्य-कलापों में यद्यपि आदर्श-हीनता होती है, पर वे अपनी बात प्रभाव पूर्ण ढंग से सामने उपस्थित करते हैं। आदर्श-हीन होने पर भी वे सीमा और मर्यादा का उलंघन नहीं करते। वे प्रत्येक अवस्था में तरुण दिखाई देते हैं। जीवन से संघर्ष करने में उन्हें विफलता नहीं प्रतीत होती। वे संघर्षों के मध्य से—द्वन्दों के बीच से अपने लिए मार्ग निकालते हैं। किन्तु वे घोर भौतिकवादी हैं। वे इस संसार में ही सब कुछ प्राप्त करने के लिए विकल रहते हैं। वे द्रष्टा होकर नहीं रहना चाहते, उनमें उपभोग की आकुलता है।

श्री भगवतीचरण वर्मा की कहानी कला पूर्ण रूप से स्वच्छन्द है। प्रेमचन्दजी से लेकर अज्ञेय तक—कला की जो परिभाषाएँ निश्चित हुई हैं, श्री भगवतीचरण

श्री भगवतीचरण वर्मा वर्मा उनमें से एक को भी स्वीकार नहीं करते। श्री प्रेमचन्दजी चरित्र और वातावरणवादी थे। उनकी कहानियों में वातावरण के द्वारा ही चरित्रों का विकास हुआ है। अज्ञेय, और जैनेन्द्रजी की कला ने केवल चरित्र चित्रण पर ही अधिक बल दिया है। पर वर्माजी की कला ने सबसे पृथक अपना मार्ग चुना है। वह प्रेमचन्दजी की कला की भाँति न तो वातावरण के द्वारा चरित्रों का विकास करती है, और न अज्ञेय तथा जैनेन्द्रजी की कला की भाँति चरित्र चित्रण पर ही गंभीर दृष्टि रखती है। इसके विपरीत उसकी दृष्टि घटना, और चरित्र चित्रण दोनों पर ही रहती है। किन्तु घटना और चरित्र चित्रण में भी वह गंभीरता का स्वरूप नहीं प्रदर्शित करती। वह घटना और चरित्र चित्रण में भी केवल किनारे पर ही रहती है, और हलकी-हलकी तरंगें उठाया करती है।

वर्माजी की कला घोर यथार्थवादिनी है। यथार्थवाद का चित्रण करने में वह पूर्ण रूप से नग्न है। 'उग्रजी' को छोड़ कर यथार्थवाद की ऐसी नग्नता और किसी कहानीकार में नहीं पाई जाती। इस रूप में हम कह सकते हैं, कि वर्माजी की कला अधिक साहसमयी है। यद्यपि समाज और राष्ट्र के कल्याण की दृष्टि से हम इस प्रकार के साहस का समर्थन नहीं कर सकते, किन्तु जिस प्रश्न को वर्माजी की कला सामने उपस्थित करती है, वह विचारणीय अवश्य है। वर्माजी की कला ने समाज के भीतर छिपे हुए प्रश्नों को हमारे सामने उपस्थित करके अपनी साहसिकता, और तेजस्विता का परिचय अवश्य दिया है। वर्माजी की कला पूर्ण रूप से समाज, और व्यक्ति की कुरूपताओं पर ही केन्द्रित है। उसे समाज और व्यक्ति में कुरूपताओं के अतिरिक्त और कुछ दिखाई नहीं देता। उसमें व्यक्ति का जीवन असफलताओं, और निराशाओं का जीवन है। वह अपने लिए कुरूपताओं से पूर्ण, और असफलताओं के दुखों से भरी हुई किसी एक प्रभाव पूर्ण घटना को चुनती है, और उसी को आधार मान कर अपने चरित्र का विकास करती है। चरित्र को विकसित करने में वह मनोवैज्ञानिकता से काम लेती है। चरित्र का विश्लेषण करने में भी उसका

ध्येय यही रहता है, कि व्यक्ति के भीतर छिपी हुई कुरूपताओं का वह अधिक से अधिक सफलता के साथ चित्रण कर सके।

वर्माजी की कला केवल अपनी ओर देखती है। उसका कार्य, उसका स्वरूप दूसरों के लिए सुख कर होगा, या दुख कर—इस ओर वह ध्यान भी नहीं देती। वह केवल कार्य करना—कुछ कहना जानती है। क्या कहना है—इस ओर ध्यान देना उसका काम नहीं है। क्या अश्लील है, क्या श्लील है, क्या सत् है, क्या असत् है, और क्या पाप है, क्या पुण्य है—इसकी व्याख्या करना उसका काम नहीं। उसकी दृष्टि में कहानी के अन्तर्गत कोई भी विषय, जो श्लील है, वह अश्लील हो सकता है, और कोई भी अश्लील विषय श्लीलता का रूप धारण कर सकता है। अपनी इस स्वच्छन्द प्रवृत्ति के कारण वर्माजी की कला कहीं कहीं अधिक असंयत हो गई है। कहीं कहीं उसकी असंयतता इतनी बढ़ गई है, कि वह अधिक अस्वाभाविक बन गई है। कहीं कहीं इस अस्वाभाविकता ने अश्लीलता और अनैतिकता का भी रूप धारण कर लिया है। वर्माजी की कला अश्लीलता को अश्लीलता नहीं मानती। वह इतनी ढीठ है, कि जो उस पर अश्लीलता का दोष लगाता है, वह स्वयं उसे अश्लील और दोषी सिद्ध करने का दावा करती है। वर्माजी की कला के इस दावे को कोई स्वीकार करे या न करे, पर उसे केवल इतने से ही सन्तोष है, कि वह इस प्रकार का दावा उपस्थित करती है।

मनुष्य के भीतर उसकी अपनी एक विशेष शक्ति होती है। मनुष्य अपनी उस शक्ति का अनुभव, कभी बुद्धि के द्वारा करता है, और कभी भाव के द्वारा करता है। जब कभी वह उसका अनुभव बुद्धि के द्वारा करता है, तो वह तर्कशील बन जाता है, और उसका झुकाव विज्ञान की ओर हो जाता है। विज्ञान की शक्ति उसके मन में 'अहम्' को जागृत करती है। किन्तु इसके विपरीत जब वह भाव के द्वारा उस शक्ति का अनुभव करता है, तब वह अनुभूतिमय, और भावुक बन जाता है। ऐसी दशा में उसका झुकाव काव्य, नाटक, कहानी और उपन्यासों की ओर होता है। भावमय होने के कारण उसके हृदय में सुकुमार शक्तियाँ जागृत होती हैं। उसका मन 'अहम्' से दूर—आस्था के अञ्चल की छाया में खेलता है। श्री अज्ञेयजी की कला का इस आस्था से रंचमात्र भी परिचय नहीं है। उसने मानव के मन के उस 'अहम्' को देखा है, जिसका अनुभव मानव को बुद्धि और तर्क से होता है। श्री जैनेन्द्रजी ने भी मानव के उसी 'अहम्' का चित्रण किया है। पर उनके और श्री अज्ञेयजी के दृष्टिकोण में अधिक अन्तर है। श्री जैनेन्द्रजी की कला मानव के मन में 'अहम्' की सत्ता को स्वीकार तो करती है, किन्तु उसे प्रणव बनाती है। श्री अज्ञेयजी उसके 'अहम्' की रक्षा करते हैं, और उसे विद्रोह की ओर मोड़ते हैं। जैनेन्द्रजी की कला में भारतीय दर्शन है, पर श्री अज्ञेयजी की कला भारतीय दर्शन को स्वीकार नहीं करती। श्री जैनेन्द्रजी की कला यथार्थवाद को आदर्श की ओर ले जाती है, पर श्री अज्ञेयजी को केवल यथार्थ ही

प्रिय है। श्री जैनेन्द्रजी यथार्थवाद में किसी चिर सत्य की खोज करते हैं, किन्तु अज्ञेय यथार्थवाद के नग्न रूप में ही परिलिप्त रह जाते हैं। श्री जैनेन्द्रजी के यथार्थवाद की पृष्ठभूमि आध्यात्मिकता है। किन्तु अज्ञेयजी की कला भौतिकता की दृष्टि से ही यथार्थवाद को देखती है। श्री अज्ञेयजी की कला पूर्ण रूप से भौतिकवादिनी है। वह मानव-हृदय के चिर सत्य की खोज में व्याकुल न होकर उसके अभावों के चित्रण में ही अपनी सार्थकता समझती है।

श्री अज्ञेयजी की कहानियाँ दो प्रकार की हैं – राजनीतिक और संवेदना मूलक। कला की दृष्टि से उनकी राजनीतिक कहानियों का कोई विशेष महत्त्व नहीं है। उनकी सम्पूर्ण राजनीतिक कहानियाँ रूसी विचार धारा से प्रभावित हैं। उन पर रूसी कलाकारों की छाप भी है। एक प्रकार से वे अभारतीय हैं। उनकी दूसरी प्रकार की कहानियों में, जिनमें सामाजिक जीवन के सकरुण और मार्मिक चित्र हैं, कला का अच्छा विकास हुआ है। इन कहानियों में उनकी कला भौतिक पदार्थों की पूर्ति में न भटक कर अन्तर्द्वन्द्विनी बन गई है। वह राजनीतिकवाद के पङ्क से निकल कर मानव-हृदय में विहार करती है। मानव-हृदय के प्रेम, और कर्त्तव्य की भाव-लहरियों को गिनना ही इन कहानियों में उनकी कला का उद्देश्य है। रोज, हरसिंगार, दुःख, और तितलियाँ इत्यादि कहानियों में उनकी कला के द्वारा प्रेम और कर्त्तव्य के अन्तर्द्वन्द्वों का प्रशंसनीय मनोवैज्ञानिक विश्लेषण हुआ है। अज्ञेय की कला पूर्ण रूप से मनोवैज्ञानिक है। किन्तु उसकी मनोवैज्ञानिकता का पूर्ण विकास उन्हीं कहानियों में हुआ है, जिनमें भारतीय सामाजिक जीवन के सकरुण चित्र हैं। उन्हीं कहानियाँ में अज्ञेय की कला अधिक संवेदनशील भी है।

श्री अज्ञेयजी की कला जैनेन्द्रजी की कला की भाँति व्यक्ति को ही अधिक महत्त्व देती है। पर जैनेन्द्र और अज्ञेय के व्यक्तित्व में बहुत बड़ा अन्तर है। जैनेन्द्रजी का व्यक्तित्व पूर्ण रूप से आध्यात्मिक है। वह भारतीय वातावरण में ही यथार्थवाद की सृष्टि करता है, और उसके भीतर किसी चिर सत्य की खोज करता है। यही कारण है, कि हम उसे आदर्शवादी कहते हैं। किन्तु अज्ञेयजी का व्यक्तित्व पूर्ण रूप से भौतिक है। उसकी अभारतीयता ही उनकी विशेषता है। अज्ञेयजी की कला में अभारतीयता का अंश अधिक है। वह अभारतीय वातावरण में ही चरित्रों की सृष्टि करती है। अज्ञेयजी की कला में चरित्रों की प्रधानता रहती है, इसीलिए हम उसे चरित्र-प्रधान कहते हैं। कथानक और घटनाओं का विकास बहुत अल्प रूप में उनकी कहानियों में हुआ है। उनकी कला मनोवैज्ञानिक रीति से चरित्रों के चित्रण में ही अपनी सार्थकता समझती है। कहीं कहीं मनोवैज्ञानिकता से उसे इतना मोह हो जाता है, कि उसके कारण उसका रूप भी अस्पष्ट हो जाता है। कथानक, और घटनाओं का पूर्ण अभाव होने के कारण कहीं कहीं अज्ञेय की कला साधारण पाठकों के लिए अत्यधिक दुरूह बन गई है। उनके 'शेखर' उपन्यास में यह दुरूहता पग-पग पर दृष्टिगोचर होती है।

अज्ञेयजी की कला जहाँ मनोवैज्ञानिक है, वहाँ उसमें नाट्यात्मकता भी है। नाटकीय ढंग से प्रभाव उत्पन्न करने मे वह अधिक कुशल है। उसमें जो प्रभावोत्पादकता है, उसका कारण उसकी नाटकीय संयोजना ही है। कहीं कहीं यह नाटकीय संयोजना कुशलता की सीमा को पार कर गई है। नाटकीय संयोजना के साथ ही साथ उसमें मार्मिकता भी है। वह छिप कर शब्द-शब्द में झनझनाहट उत्पन्न करने का प्रयत्न करती है। मर्म स्थलों को स्पर्श करने में, यही कारण है. कि वह बड़ी तीव्र है।

प्रगतिवादी कला

प्रगतिवादी कला की कहानियों का आधार भौतिक अभाव है। इस कला की कहानियों में किसानों, मजदूरों, और शोषितों के दयनीय जीवन का चित्रण हुआ है। चित्रण में जहाँ अभावों पर प्रकाश डाला गया है, वहाँ उनके प्रति विद्रोह का भाव भी है, जिनके कारण गरीबों, किसानों, और मजदूरों के जीवन में अभावों की सृष्टि होती है। द्वन्द और संघर्ष ही इस कला की कहानियों का उद्देश्य है। यशपाल इस कला के उन्नायक हैं। श्री अमृतलाल नागर पहाड़ी, और श्री अमृतराय इत्यादि ने भी इस कला की कहानियों के प्रचार में योग दिया है।

यशपाल की कला तथ्यवादिनी है। वह समाज के संघर्ष में ही तथ्य का दर्शन करती है। समाज में जो श्रेणियाँ हैं, उसकी दृष्टि में वे सब अभिशाप हैं। समाज में आज जो दीनता, बेबसी, और दारिद्रय है, उसकी दृष्टि में इन सबका कारण समाज का श्रेणी-विभाजन है। अतः वह उस श्रेणी-विभाजन को ध्वस्त करने में अधिक सजग रहती है। श्रेणी विभाजन के सर्वनाश को ही वह अपना आधार मानती है। वह अपने इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए गरीबों और मजदूरों के बीच से पात्र चुनती है। इसके साथ ही साथ वह ऐसे भी पात्र चुनती है, जो उच्च श्रेणी के होते हैं। उच्च और दलित पात्रों के चरित्र को सामने रख कर दलितों और शोषितों के हृदय में विद्रोह उत्पन्न करना ही यशपाल की कला का मुख्य कार्य है। शोषितों के हृदय के भीतर उच्च वर्ग के विरुद्ध जितने भी अधिक मनोविकार वह उठा सकती है, उठाती है। शोषितों के हृदय में मनोविकार उत्पन्न करने में वह समाज, और राष्ट्र के कल्याण की ओर रंचमात्र भी ध्यान नहीं देती। उसका संपूर्ण ध्यान केवल व्यक्ति की ओर ही केन्द्रित रहता है। यद्यपि यह सच है, कि वह व्यक्ति में ही समष्टि को देखती है, किन्तु उसके द्वारा जो कार्य होता है, उससे समष्टि का नहीं, व्यक्ति का ही अधिक कल्याण होता है।

यशपाल

यशपाल की कहानी कला घोर भौतिकवादिनी है। 'रोटी' और 'वस्त्र' ही उसका सत्य है। उसी में वह 'शिवम्' और 'सौंदर्य' का भी दर्शन करती है। 'रोटी' और 'वस्त्र' के लिए अपने पात्रों के मन में वह जो विकार उत्पन्न करती है, उन विकारों को ही वह 'सत्य' समझती है। मनोविकारों को दबाकर मनुष्य को देवता बनाना उसका काम नहीं; उसका काम है देवता के मन में मनोविकार उत्पन्न करके उसे

मनुष्य के धरातल पर लाना। चरित्र, नैतिकबल, और धार्मिक आदर्शों को वह हेय समझती है। वह अपना सम्पूर्ण व्यापार अपने पात्रों के भौतिक अभावों को आधार मान कर गठित करती है। उसे चिन्ता नहीं कि कहानी कला की दृष्टि से उसके भीतर संकीर्णता उत्पन्न हो गई है। उसे केवल इस बात की चिन्ता है, कि वह अपने पात्रों को मार्क्सवाद के साचे में सफलता पूर्वक ढाल रही है, या नहीं! यशपाल की कला अपने भीतर मार्क्सवाद की सृष्टि करने में अधिक सजग है। उसकी इस सजगता की प्रशंसा कोई भी समीक्षक खुले शब्दों में कर सकता है।

यशपाल की कला राजनीतिकवादों के चक्र में उलझी हुई है। यही कारण है, कि उसमें सरसता, और व्यंजकता का अभाव है। चरित्रों के चित्रण में भी उसमें उस मनोवैज्ञानिकता का विकास नहीं पाया जाता, जिसका दर्शन हम जैनेन्द्रजी की कला में कर चुके हैं। अज्ञेय की कला भी यद्यपि भौतिक वादिनी ही है, पर अज्ञेय की कला ने मनोवैज्ञानिक विश्लेषण में बहुत दूर का रास्ता पार किया है, और यही उसकी विशेषता भी है। यशपाल की कला में उस विशेषता का भी अभाव है। यशपाल की कला का मनोवैज्ञानिक क्षेत्र बहुत ही सीमित है, अपने 'वाद' को पूर्ण रूप से विकसित करने के लिए उसने 'चरित्र' की अपेक्षा 'कथावस्तु' पर कुछ अधिक ध्यान दिया है। वह कथा वस्तु के द्वारा ही अपने चरित्र को विकसित करती हुई दृष्टि-गोचर होती है। यद्यपि वह व्यक्ति को प्रधानता देती है, पर चरित्र चित्रण में वह 'वाद' के जाल में इस प्रकार फँस जाती है, कि चरित्र की ओर विशेष ध्यान न देकर उसका ध्यान कथा वस्तु की ओर चला जाता है। यशपाल की कई कहानियाँ ऐसी हैं, जिनमें चरित्र का भी अच्छा विकास हुआ है।

साहित्य और उपन्यास

मनुष्य भाव मय प्राणी है। अनुभव करना, और सोचना उसका प्रकृत स्वभाव है। अनुभव, और विवेचन के साथ ही साथ संग्रह करना भी उसकी प्रकृति का एक

साहित्य क्या है ?

अंग है। संग्रह करके रक्षा करना भी उसके स्वभाव की मुख्य बात है। जिस प्रकार मनुष्य आदि काल से चल और अचल वस्तुओं का संग्रह करता चला आ रहा है, उसी प्रकार वह अपनी अनुभूतियों और विचारों को भी, वाणी के द्वारा व्यक्त करके उसका संग्रह करता चला आ रहा है। उसके उस अनुभूति और विचार-कोष में कितने ही प्रकार की अनुभूतियाँ और विचार संगृहीत हैं। इन अनुभूतियों और विचारों के संग्रह में उसने कितने ही युगों की सीमाएँ पार की हैं। उसने कितने ही उत्थान पतन, और सुख दुख की प्राचीरों को लाँघा है। युगों की सीमाओं को पार करके तथा दुख सुख की प्राचीरों को लाँघ करके उसने अनुभूतियों और विचारों का जो कोष एकत्र किया है, और जिसकी वह युगों से रक्षा करता चला आ रहा है, उसके उसी कोष का नाम 'साहित्य' है।

साहित्य के अंग

मानव के साहित्य रूपी भंडार में उसकी विभिन्न प्रकार की अनुभूतियाँ और विचार संगृहीत हैं। साहित्य के आचार्यों ने साहित्य के भंडार में संगृहीत मानव की अनुभूतियों, और उसके विचारों का मंथन करके उन्हें छः वर्गों में विभक्त किया है—कविता, नाटक, निबन्ध, गद्य काव्य, उपन्यास और कहानी। यद्यपि इनके नाम पृथक पृथक हैं, और इनके स्वरूप तथा शैलियों में भी विभिन्नता है, पर इन के सृजन का आधार एक ही है, और वह है मानव के हृदय की अनुभूति और उसकी कल्पना तथा उसका विचार। इस रूप में यह कहा जा सकता है, कि कविता, नाटक, गद्य काव्य, उपन्यास और कहानी इत्यादि साहित्य के अंग स्वरूप और शैली में परस्पर पृथक होते हुए भी अपने मूल में साम्य रखते हैं। स्वरूप और शैलियों में विभिन्नता होते हुए भी, मानव-हृदय की अनुभूति उन्हें अपने सूत्र में एक ही भाव से पिरोए रहती है।

उपन्यास क्या है ?

कथा और कहानी मानव की प्रकृति के मूल में निवास करती हैं। सृष्टि में मानव के जीवन का इतिहास जहाँ से आरम्भ होता है, वहीं से कथा और कहानी के इतिहास का आदि स्रोत भी छल छलाता हुआ दृष्टि-गोचर होता है। 'इतिहास' के नाम पर आज मनुष्य के पास जो संपदा है, उसका

७

उपन्यास

विषय सूची

१—साहित्य और उपन्यास ५२४

(अ) साहित्य क्या है? (आ) साहित्य के अंग, (इ) उपन्यास क्या है? (ई) उपन्यास का ध्येय।

२—उपन्यास के अवयव ५२७

(उ) कथावस्तु, (ऊ) पात्र, (ए) कथोपकथन, (ऐ) देश और काल, (ओ) जीवन की व्याख्या।

३—उपन्यासों के भेद ५३७

(अं) उपन्यास साहित्य का वर्गीकरण, (अः) तिलिस्मी उपन्यास, (क) साहसिक उपन्यास, (ख) प्रेमाख्यान उपन्यास, (ग) चरित्र प्रधान, (घ) घटना-चरित्र सापेक्ष्य, (ङ) ऐतिहासिक।

४—कथा कहानी का प्राचीन स्वरूप ५४६

(च) कथा कहानी और मानव अवृत्ति, (छ) ऋग्वेद में कथा का स्वरूप, (ज) रामायण, महाभारत, और पुराणों में कथा का स्वरूप, (झ) हितोपदेश और अन्यान्य रचनाओं में कथा का स्वरूप, (ञ) उपन्यास का प्रारम्भिक रूप—तोता, मैना इत्यादि, (ट) कादंबरी इत्यादि में कथा का स्वरूप, (ठ) अपभ्रंश काल में कथा का स्वरूप, (ड) हिन्दी में कथा का स्वरूप—वीर गाथा काल, भक्ति काल, शृंगार काल।

५—हिन्दी उपन्यास—आदि काल ५५०

(ढ) आदि काल के उपन्यास पर प्रकाश, (ण) आदि काल के उपन्यासकार, (त) इन्शा अल्लाह खाँ, (थ) भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, (द) श्री निवासदास, (ध) बालकृष्ण भट्ट, (न) देवकीनन्दन खत्री, (प) गोपालराम गहमरी, (फ) किशोरी लाल गोस्वामी, (ब) पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय, (भ) मेहता लजाराम शर्मा, (म) ब्रजनन्दन सहाय, (य) अनूदित उपन्यास, (र) आदि काल के उपन्यास पर एक दृष्टि।

६—हिन्दी उपन्यास—आधुनिक काल ५५७

(ल) आधुनिक काल के उपन्यास की एक झलक, (व) आधुनिक काल के उपन्यासकार (श) स्वर्गीय प्रेमचन्द, (ष) स्वर्गीय जयशङ्कर प्रसाद, (स) विश्वम्भरनाथ शर्मा कौशिक, (ह) चण्डी प्रसाद हृदयेश, (क्ष) चतुरसेन शास्त्री, (त्र) वृन्दावन लाल वर्मा, (ज्ञ) पांडेय बेचन शर्मा उग्र, (आ) श्री ऋषभचरण जैन, (इ) जैनेन्द्र कुमार, (ई) इलाचन्द्र जोशी, (उ) श्री सियारामशरण गुप्त, (ऊ) श्री प्रतापनारायण श्री वास्तव, (ए) श्री भगवतीचरण वर्मा, (ऐ) राधिकारमण-सिंह, (ओ) भगवती प्रसाद वाजपेयी।

—:o:—

मन्थन करने पर पता चलता है, कि कथा और कहानी का सम्बन्ध मनुष्य के जीवन के आदि काल से है। मनुष्य आदि काल से ही कथा और कहानियों के द्वारा अपने दुख सुख, हर्ष विषाद, और उत्थान पतन की घटनाओं तथा स्थितियों को व्यक्त करता चला आ रहा है। ज्यों ज्यों मनुष्य के जीवन में परिवर्तन हुआ है, त्यों त्यों उसकी कथा और कहानियों में भी परिवर्तन होता चला आ रहा है। आज प्राचीन कथा और कहानियों का जो साहित्य हमारे समक्ष है, उसका जब हम मंथन करते हैं, तो यह देखते हैं, कि उसके विभिन्न स्वरूप हैं, और उसकी विभिन्न शैलियाँ हैं। इसका एक मात्र कारण मानव के जीवन की वह झँकोर है, जो समय-समय पर उसके जीवन में उठी है। मानव ने अपने जीवन में उठी हुई झँकोर के परिणाम स्वरूप ही अपनी कथा-कहानियों के स्वरूपों और शैलियों में भी परिवर्तन किया है।

हमारा आज का उपन्यास मानव-प्रवृत्ति और उसके जीवन में उठे हुए परिवर्तन के झँकोरों का ही एक परिणाम है। एक दिन था, जब मनुष्य जानवरों की कहानियों में उलझा हुआ था। शनैः शनैः वह नीति और धर्म की कथाओं के धरातल पर आया। इसके पश्चात् वह चमत्कारिक कथाएँ लिखने लगा। वहाँ से जब आगे चला, तब तिलिस्मी और जासूसी कहानियों तथा कथाओं के जाल में उलझ गया। आज उसकी कहानियों और कथाओं ने ही उपन्यासों का स्वरूप धारण कर लिया है। आज वह उपन्यास के जिस सोपान पर बैठा हुआ है, वहाँ तक पहुँचने में उसे उपन्यास की कई सीढ़ियाँ पार करनी पड़ी हैं। आज वह उपन्यास के क्षेत्र में सूक्ष्म दर्शी, और मनोवैज्ञानिक है, पर एक दिन था, जब वह चमत्कारिक घटनाओं के ही चित्रण में अपना समय व्यतीत करता था। उपन्यास का जो इतिहास हमारे सामने है, उसके आधार पर हम यह कह सकते हैं, कि मनुष्य ने चमत्कारिक घटनाओं को ले करके ही उपन्यास की रचना प्रारंभ की है। उसके पश्चात् ज्यों ज्यों मानव-प्रवृत्ति में विज्ञान का संचार होता गया है, त्यों त्यों उसके उपन्यास में भी मनोवैज्ञानिकता प्रवेश करती गई है। आज उपन्यास पूर्ण रूप से मनोविज्ञान और विश्लेषण की गोद में विराजमान है। आज उपन्यास में घटनाओं का कोई महत्व शेष नहीं रह गया है। आज उसमें चरित्र के मनोवैज्ञानिक विश्लेषण पर ही अधिक बल दिया जाता है, और यही उसकी सफलता की कसौटी भी समझी जाती है।

उपन्यास रचना का मुख्य ध्येय मनोरंजन है। आज भले ही मनोरंजन उपन्यास-रचना का ध्येय न माना जाय, पर इसमें रंचमात्र भी संदेह नहीं किया जा सकता, कि

उपन्यास का ध्येय अपने आदि काल में उपन्यास की रचना मनोरंजन को ही आधार मान कर प्रारंभ की गई थी। उपन्यास का आज जो इतिहास उपलब्ध है, उससे यही प्रगट होता है, कि उपन्यास अपने प्रारंभ काल में 'मनोरंजन' को ही लक्ष्य मान कर अपने पथ पर अग्रसर हुआ था। प्राचीन उपन्यासों में मनोरंजन के ही तत्व अधिक मिलते हैं। कुछ हिन्दी ही नहीं, संसार की प्रत्येक भाषा के प्राचीन

उपन्यासों में मनोरंजन के तत्त्वों की ही प्रचुरता मिलती है। यद्यपि आज का युग विज्ञान के स्वर में बोल रहा है, और विज्ञान के स्वर में बोलने के कारण आज का साहित्य भी अधिक मनोवैज्ञानिक और विश्लेषणात्मक हो गया है, जिसका प्रभाव उपन्यास के जीवन पर स्पष्ट रूप से पड़ा है, पर यदि उपन्यास के जीवन में घुस कर अवलोकन किया जाय तो आज भी मनोरंजन के तत्त्व उसकी मूल में जमे हुए दिखाई देते हैं। यह सच है, कि आज के उपन्यास का ध्येय केवल मनोरंजन ही नहीं है, पर यह भी सच है, कि आज जहाँ वह जीवन की व्याख्या में निरत है, वहाँ उसमें मनोरंजन के तत्व भी मुख्य रूप में पाए जाते हैं। उपन्यास की लोकप्रियता आज भी मनोरंजन के तत्त्वों पर ही आधारित है।

आज के उपन्यास का ध्येय प्राचीन काल के उपन्यासों के ध्येय से बदला हुआ दृष्टिगोचर होता है। प्राचीन काल में जहाँ उपन्यासों का ध्येय मनोरंजन मात्र था, वहां आधुनिक काल में उपन्यास मनोरंजन के साथ ही साथ जीवन के विश्लेषण को अपना मुख्य ध्येय मानता है। आज उसकी सफलता मनोरंजन के तत्वों पर नहीं, विश्लेषण के तत्त्वों पर आधारित है। यद्यपि वह मनोरंजन के तत्त्वों की उपेक्षा नहीं करता, पर आज उसका पूरा-पूरा ध्यान जीवन की ग्रन्थियों को खोलने की ही ओर रहता है। आज वह कथानक और घटनाओं के विस्तार की ओर भी अधिक ध्यान नहीं देता, आज उसका ध्यान मुख्य रूप से चरित्र के विश्लेषण की ओर रहता है, दूसरे शब्दों में हम यह कह सकते हैं, कि आज के उपन्यास का ध्येय उस मानव जीवन की व्याख्या करना है, जो विभिन्न घटनाओं, भावनाओं, स्थितियों, और अवस्थाओं की समष्टि होता है।

—:o:—

उपन्यास के अवयव

उपन्यास जीवन की एक प्रतिकृति है। जीवन ही उपन्यास के साँचे में ढल कर हमारे समक्ष प्रस्तुत होता है। जिस प्रकार जीवन के विभिन्न अवयव या तत्त्व होते हैं, उसी प्रकार उपन्यास का संगठन भी कई अवयव या तत्त्वों के आधार पर किया जाता है। उपन्यास के अवयवों को हम निम्नांकित नामों से संबोधित कर सकते हैं—कथावस्तु, पात्र, कथोपकथन, देश काल, और जीवन व्याख्या। उपन्यास अपने इन्हीं अवयवों से मिल कर सम्पूर्ण होता है। उपन्यास के यह तत्त्व जितनी ही दृढ़ता, और वास्तविकता के साथ आपस में मिलते हैं, उपन्यास अपने उतने ही अधिक वास्तविक स्वरूप में सृजित होता है। अतः उपन्यास की मार्मिकता को समझने के लिए उसके अवयवों का ज्ञान-प्राप्त करना अधिक आवश्यक है।

कथावस्तु

सृष्टि में जो कुछ है, मानव-जीवन का ही खेल है। मानव-जीवन का ही खेल विभिन्न रूपों में सृष्टि के कोने-कोने में फैला हुआ है। उपन्यास भी मानव-जीवन का ही एक प्रतिबिम्ब है। उपन्यासकार अपनी रचना प्रारम्भ करने के पूर्व उस मानव जीवन की ही ओर देखता है, जो विभिन्न घटनाओं, और कार्य कलापों का केन्द्र है। जीवन देखने में छोटा-सा, और सीमा-बद्ध जान पड़ता है, पर वस्तुतः देखा जाय, तो वह सीमा रहित है। उसमें कितनी ही घटनाएँ घटती हैं। उसका कार्य-व्यापार कितना विस्तृत और रहस्यमय है। उसमें कितनी विचित्रताएँ समाविष्ट हैं। उपन्यासकार मानव जीवन के इन्हीं क्रिया कलापों, इन्हीं घटनाओं, और इन्हीं विचित्रताओं को अपने उपन्यास के लिए प्रथम सामग्री रूप में ग्रहण करता है। इसी प्रथम सामग्री को, जिसमें मानव जीवन के विभिन्न कार्य-व्यापार, विभिन्न घटनाएँ, और विभिन्न विचित्रताएँ समाविष्ट होती हैं, 'कथावस्तु' कहते हैं। जीवन की इन घटनाओं और कार्य-व्यापारों में साम्य नहीं होता। इनमें परस्पर प्रतिकूलताएँ और अनुकूलताएँ भी होती हैं। पर उपन्यासकार अपने उपन्यास में इनकी संयोजना एक निश्चित योजना के अनुसार करता है। यद्यपि यह जीवन में अस्त-व्यस्त और विशृंखलित होती हैं, पर उपन्यासकार उन्हें अपने उपन्यास में एक क्रम, और शृंखला से सजाता है। जीवन की विभिन्न घटनाओं, और असम कार्य-कलापों को शृंखला बद्ध सजाने में ही उपन्यासकार की सफलता आँकी जाती है। जो उपन्यासकार अपनी रचना में जीवन की असम स्थि-

तियों, और उसके कार्य-कलापों का चित्रण जितनी ही अधिक शृंखला, और क्रम-बद्धता के साथ करता है, वह अपने क्षेत्र में उतना ही अधिक सफल, और महत्व पूर्ण समझा जाता है।

जीवन विभिन्न घटनाओं, स्थितियों, और कार्य कलापों का केन्द्र होता है। जीवन की घटनाओं, स्थितियों और कार्य कलापों में परस्पर अधिक विभिन्नताएँ और असमताएं होती हैं। अतः उपन्यासकार को इनकी संयोजना में अधिक कुशलता के साथ काम लेना चाहिए। क्योंकि उनकी संयोजना के औचित्य पर ही उनके औपन्यासिक जीवन की सफलता निर्भर करती है। उपन्यासकार को जीवन की घटनाओं, स्थितियों, और कार्य-कलापों की संयोजना में निम्नांकित बातों पर ध्यान देना परमावश्यक है—(१) विभिन्न घटनाओं, कार्य कलापों, और असंयमित स्थितियों में संतुलन हो। (२) घटनाओं, कार्य-व्यापारों, और स्थितियों का चित्रण स्वाभाविकता की परिधि के भीतर किया जाय। (३) पात्रों का चित्रण करते हुए उनकी स्थिति, और देश काल पर भी ध्यान रक्खा जाय। (४) स्त्री और पुरुष पात्रों के चित्रण में मुख्य रूप से उनके प्रकृत मनोविकारों को अपनी दृष्टि में रक्खा जाय। (५) घटनाओं की सबद्धता पर ध्यान दिया जाय। जो उपन्यासकार अपने कथावस्तु की संयोजना उक्त बातों को आधार मान कर करता है, इसमें संदेह नहीं, कि उसकी औपन्यासिक कला कसौटी पर खरी उतरती है। संभव है, कि किसी-किसी आचार्य को दृष्टि में कथा वस्तु की संयोजना में और दो-एक बातों का होना आवश्यक समझा जाय। पर कथा वस्तु की संयोजना और उसके सुगठन के लिए ऊपर जिन बातों की ओर निर्देश किया गया है, उनकी उपयोगिता को कोई अस्वीकार नहीं कर सकता। कथा वस्तु की संयोजना के लिए, ऊपर जिन बातों की चर्चा की गई है, उनकी उपयोगिता को विश्व के बड़े-बड़े साहित्य मर्मज्ञों ने मुक्त कण्ठ से स्वीकार किया है।

उपन्यासकार अपने उपन्यास में जीवन की जिन स्थितियों, घटनाओं और कार्य-कलापों को संयोजना कथा वस्तु के रूप में करता है, उन स्थितियों, घटनाओं, और पात्र कार्य-कलापों का सूत्रधार कौन होता है। इस प्रश्न के उत्तर में सहज में ही यह कहा जा सकता है, कि मनुष्य या व्यक्ति। उपन्यासकार अपने उपन्यास में जो सृष्टि करता है, उसका एक मात्र आधार मनुष्य ही होता है। मनुष्य के ही जीवन की घटनाएँ, स्थितियाँ, और उसके कार्य व्यापार उपन्यासकार की रचना का, जिसे हम उपन्यास कहते हैं, रूप धारण करते हैं। उपन्यास में यही मनुष्य या व्यक्ति पात्र के नाम स अभिहित किया जाता है। आधुनिक भाषा में इसी को चरित्र की भी संज्ञा दी गई है। आजकल प्रायः लोग पात्र को 'चरित्र' के ही अर्थ में व्यवहृत करते हैं। आजकल पात्र के स्थान पर 'चरित्र' शब्द इतना प्रचलित हो गया है, कि 'पात्र' शब्द उसके प्रचलन के आवरण में छिप सा गया है।

उपन्यास में मुख्य रूप से चरित्र की ही प्रधानता होती है। उपन्यास की संपूर्ण सृष्टि चरित्र के ही ऊपर निर्भर करती है। उपन्यास में आदि से लेकर अन्त

तक चरित्र से संबंधित घटनाओं, स्थितियों, और कार्य-व्यापारों का ही चित्रण होता है। अतः यह कहा जा सकता है, कि उपन्यासकार की रचना की श्रेष्ठता चरित्र-चित्रण के ही ऊपर आधारित रहती है। जो उपन्यासकार अपने चरित्र-चित्रण में जितना ही अधिक सजग और सतर्क रहता है, उसकी रचना उतनी ही अधिक सफल और प्रभाव पूर्ण होती है, कारण, कि उपन्यास चरित्र का ही एक अनुकृति होता है, और वास्तविक अनुकृति उस समय तक नहीं बन सकती, जब तक, कि उसके उतारने या ढालने में सजगता तथा सतर्कता के काम न लिया जाय। अतः उपन्यासकार को चाहिए, कि वह चरित्र-चित्रण में पग-पग पर सजग और सतर्क रहे।

सजीव और प्रभाव पूर्ण चरित्र उपन्यास को अधिक आकर्षक और प्रभाव पूर्ण बनाते हैं। अत उपन्यासकार को चाहिए, कि वह अपने चरित्र में सजीवता और प्रभाव पूर्णता उत्पन्न की, अथवा जीवन-संसार से उसे ऐसे चरित्रों का चुनाव करना, चाहिए, जिनमें सजीवता, स्फूर्ति, और प्रभाव पूर्णता हो। उपन्यासकार का काम केवल सजीव और प्रभाव पूर्ण चरित्र चुनने से ही काम नहीं चलता, उसकी कुशलता तो इस बात में है, कि अपने चरित्र की सजीवता, और प्रभाव पूर्णता की पग-पग पर रक्षा करे। इसे अपने चरित्र को इस प्रकार प्रस्तुत करना चाहिए, कि आदि से लेकर अन्त तक उसमें किसी प्रकार का व्याघात न उपस्थित हो। उपन्यासकार को अपने चरित्र के मनोवेगों की स्वाभाविकता पर विशेष रूप से ध्यान देना चाहिए। उसे अपने चरित्र के हर्ष, शोक, सुख, दुख, और क्रोध तथा विक्षोभ इत्यादि के चित्रण में अधिक सावधानी से काम लेना चाहिए। उसे अपने चरित्र के मन की इन दशाओं का चित्रण इस प्रकार करना चाहिए, कि पाठकों के मन से उनका संतुलन स्थापित हो सके। पाठक उन्हें पढ़ कर ऐसा अनुभव करे, कि जैसे ये स्थितियाँ और दशाएँ उसके ही मन के भीतर उत्पन्न हो रही हैं।

उपन्यासकार का चरित्र चित्रण का कार्य अधिक दुरूह होता है। उसे एक ऐसे व्यक्ति का चरित्र सामने उपस्थित करना होता है, जिसका वह केवल अनुभव मात्र करता है। प्रश्न उठता है, कि ऐसे व्यक्ति का चरित्र, जिसका उपन्यासकार केवल अनुभव मात्र करता है, किस प्रकार सफलता के साथ चित्रण कर सकता है। चरित्र चित्रण के लिए मुख्य रूप से दो बातों पर ध्यान देना चाहिए। एक तो पात्र की वेश-भूषा, रहन-सहन, आचार विचार और खान पान, तथा दूसरा पात्र का कार्य कलाप, उसका विचार, तथा उसका विचार करने का ढङ्ग। उपन्यासकार को चरित्र चित्रण के लिए अपने पात्र की एक-एक गति पर सूक्ष्म रूप से ध्यान देने की आवश्यकता है। उसे जहाँ उसकी बाह्य दशाओं पर दृष्टिपात करना चाहिए, वहाँ उसकी अन्तर्दशाओं का भी सूक्ष्मता के साथ अध्ययन करना चाहिए। अपने चरित्र के सम्बन्ध में उपन्यासकार जो अनुभव प्राप्त करता है। तथा वह जो अध्ययन करता है,

उसकी अभिव्यक्ति के लिए उसके पास केवल एक ही साधन होता है—उसकी वर्णन प्रणाली। उपन्यासकार के चरित्र चित्रण की संपूर्ण सफलता उसकी वर्णन-प्रणाली पर ही निर्भर करती है। अतः उपन्यासकार को चाहिए कि वह अपनी वर्णन-प्रणाली को अधिक से अधिक सक्षम और प्रभाव पूर्ण बनाए। सक्षम और प्रभाव पूर्ण वर्णन शैली के द्वारा उपन्यासकार को चरित्र के कार्य कलापों, उसके जीवन सम्बन्धी घटनाओं, और उसके मन की दशाओं को इस प्रकार प्रस्तुत करना चाहिए, कि उनके द्वारा पात्र के चरित्र पर भली भाँति प्रकाश पड़ जाए। पात्र के चरित्र के सम्बन्ध में उपन्यासकार को अपनी ओर से कुछ भी न कहना चाहिए, वरन् उसके कार्यों, और उसके मन की स्थितियों के द्वारा ही उसके संपूर्ण चरित्र पर प्रकाश डालना चाहिए।

यदि हम विश्व के बड़े बड़े उपन्यासकारों की कृतियों का मंथन करते हैं, तो उनमें चरित्र चित्रण की विभिन्न शैलियाँ पाते हैं। उन सभी शैलियों को हम दो वर्गों में विभक्त कर सकते हैं। एक वर्ग को हम विश्लेषणात्मक कह सकते हैं, और दूसरे को हम कार्य कारण सापेक्ष की संज्ञा दे सकते हैं। विश्लेषणात्मक वर्ग में उन शैलियों का समावेश है, जिनमें विश्लेषण की प्रधानता होता है। इनके द्वारा उपन्यासकार अपने पात्र के क्रिया कलापों, उसकी गति विधियों और उसकी अन्तर्दशाओं का विश्लेषण करता हुआ चलता है। वह इस विश्लेषण में स्वयं भी भाग लेता है, और अपना निर्णय भी सामने उपस्थित करता है, दूसरे रूप में यह कहा जा सकता है, कि विश्लेषण शैलियों के द्वारा उपन्यासकार जो चरित्र सामने उपस्थित करता है, उसमें उसकी भी रुचि होती है। दूसरे वर्ग की शैलियों के द्वारा प्रस्तुत किया हुआ चरित्र, जिसे कार्य कारण सापेक्ष वर्ग कहते हैं, अपने ही आप में पूर्ण होता है। इस वर्ग की शैलियों के द्वारा जो चरित्र सामने उपस्थित किया जाता है उसमें उपन्यासकार पूर्ण रूप से तटस्थ होता है। वह पात्र के चरित्र चित्रण में अपनी ओर से कुछ न कह कर उसके कार्यों और कार्यों के कारण ही को पाठकों के सम्मुख कुशलता पूर्वक सामने रख देता है। यद्यपि चरित्र-चित्रण की यह प्रणाली सुगम नहीं है, पर इसमें संदेह नहीं, कि यह सर्वोत्तम है, और इसके द्वारा लेखक की कुशलता, और उसके चातुर्य की भी परीक्षा होती है।

चरित्र चित्रण की यह दूसरी प्रणाली ही आधुनिक तम प्रणाली कही जाती है। आज का श्रेष्ठ उपन्यासकार चरित्र को उपस्थित करने में, प्रायः इस दूसरी प्रणाली से ही काम लेता है। वह चरित्र चित्रण में अपनी ओर से कुछ न कह कर पात्रों के कार्यों, और उनकी मनः स्थितियों के चित्रों को ही सामने उपस्थित कर देता है। आज का उपन्यासकार चरित्र चित्रण के लिए मन के विचारों और द्वन्दों की ओर अधिक उन्मुख दिखाई देता है। आज वह चरित्र चित्रण के लिए पात्र की बाह्यस्थितियों, घटनाओं, वेश भूषा, और रीति नीतियों पर ध्यान नहीं देता।

चरित्र चित्रण में आज उसकी दृष्टि एक मात्र उसके मन के द्वन्द्वों पर केन्द्रित रहती है। वह पात्र के विचारों के द्वन्द्वों को सामने प्रस्तुत करता हुआ ही आज उसके चरित्र को हमारे सामने प्रस्तुत कर देता है। इस बात को सामने रखते हुए हम यह कह सकते हैं, कि आज के उपन्यासकार की दृष्टि अधिक सूक्ष्म और अन्तर्भेदिनी है। आज वह अपनी सूक्ष्म और अन्तर्भेदिनी दृष्टि के द्वारा सहज में ही पात्रों के मन के भीतर प्रवेश कर जाता है, और उसके विचारों द्वन्द्वों को उसके भीतर से निकाल कर उसके चरित्र की झाँकी सामने प्रस्तुत करता है।

चरित्र चित्रण में कथोपकथन से अधिक सहायता मिलती है, वरन् कहना यह चाहिए, कि चरित्र चित्रण के लिए कथोपकथन का अत्यधिक महत्व होता है।

कथोपकथन — कथोपकथन उसे कहते हैं, जो पात्र परस्पर आवश्यकता के वशीभूत होकर करते हैं। कथोपकथन को ही 'संवाद', और 'वार्तालाप' भी कहते हैं। 'कथोपकथन' और 'संवाद' एक बहुत बड़ी कला है। यही वह साधन है, जिसके द्वारा मनुष्य अपने मन के विचारों, और भावों को एक दूसरे पर प्रगट करते हैं। मनुष्य की सारी बुद्धिमानी और उसका सारा चातुर्य उसके कथोपकथन और संवाद में ही छिपी रहती है। मनुष्य के मुख से जो बात निकलती है, वह पग-पग पर उसके चरित्र का अंकन करती है, अतः उपन्यासकार के लिए यह अधिक आवश्यक है, कि वह अपने पात्रों की बात चीत पर मुख्य रूप से अपने ध्यान को केन्द्रित रक्खे। उसे प्रत्येक स्थिति, और प्रत्येक अवसर पर अपने पात्रों की पारस्परिक बातचीत पर अपना कठोर नियन्त्रण रखना चाहिए। क्योंकि पात्रों की पारस्परिक बातचीत पर ही उसकी कला की सफलता पूर्ण रूप से निर्भर करती है।

पात्रों की पारस्परिक बातचीत देश, काल, और प्रसंग के ही अनुसार होनी चाहिए। जिस प्रसंग क्रम चल रहा हो, बातचीत उसी के भीतर होनी चाहिए। बातचीत में आवश्यकता पर पूर्ण रूप से ध्यान रखना चाहिए। बातचीत उतनी ही होनी चाहिए, जितनी आवश्यकता हो। आवश्यकता से अधिक बातचीत करने के लिए पात्रों को जो लोग अवसर देते हैं, वे 'कला' की सूक्ष्मता और श्रेष्ठता से हाथ धो बैठते हैं। बातचीत में 'आवश्यकता' का अर्थ एक दूसरे रूप में भी समझना चाहिए, अर्थात बातचीत में उन्हीं शब्दों को प्रगट करना चाहिए, जिनकी आवश्यकता हो। ऐसा कदापि न करना चाहिए, कि माँग तो किन्ही दूसरे शब्दों की हो, और मुख से निकल रहे हों दूसरे शब्द। ऐसा करने से कथोपकथन की स्वाभाविकता और रमणीयता नष्ट हो जाती है। कथोपकथन में प्रसंग के साथ ही साथ स्थिति पर भी ध्यान रखना चाहिए। पात्रों के मुख से निकली हुई प्रत्येक बात स्थिति पर प्रकाश डालती हो, और उसके द्वारा देश और काल का भी चित्र निर्मित होता हो। कथोपकथन में संयम और मर्यादा का पूर्ण रूप से ध्यान रखना चाहिए। बातचीत करते समय पात्र की दृष्टि सदैव अपनी मर्यादा के ही ऊपर रहनी चाहिए। यदि बातचीत में कभी क्रोध, द्वेष, उद्वेग, और चिन्ता की स्थिति उत्पन्न हो जाय,

तो वहाँ भी पात्रों को संयम की सीमा से बाहर नहीं जाने देना चाहिए। ऐसे अवसरों पर भी उपन्यासकार को अपने पात्रों को अपने नियन्त्रण में रखना चाहिए।

कथोपकथन में सादगी और सरलता होनी चाहिए। अर्थात कथोपकथन के लिए जिस भाषा और जिन शब्दों को प्रयोग किया जाय, उनमें अलंकारिकता न होनी चाहिए। अलंकारिक भाषा और शब्दों के द्वारा किए हुए कथोपकथन में स्वाभाविकता का अभाव होता है। किन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं, कि कथोपकथन नीरस और शुष्क हो। कथोपकथन को अलंकारिकता और कृतिमता से बचाते हुए उसमें भरसक सरसता का संचार करना चाहिए। कथोपकथन में सरसता का संचार करने के लिए उसमें सरस और आकर्षक शब्दों का प्रयोग तो करना ही चाहिए, साथ ही साथ कथोपकथन की शैली पर भी ध्यान देना चाहिए। कथोपकथन की शैली ऐसी होनी चाहिए, जिससे कथोपकथन में आकर्षक तत्वों का प्रचुर रूप से समावेश हो सके। कथोपकथन को आकर्षक बनाने के साथ ही साथ उसे प्रभावशाली और मार्मिक भी बनाना चाहिए। कथोपकथन को प्रभावशाली और मार्मिक बनाने के लिए पात्रों को प्रत्येक शब्द को अपने नियन्त्रण में रखना चाहिए। पात्रों के मुख से निकला हुआ प्रत्येक शब्द भावों में ढला हुआ हो। पात्रों के मुख का प्रत्येक शब्द सँभल-सँभल कर बाहर निकलता हो, और एक-एक पग पर भावों का चित्र आंकित करता हो। प्रत्येक शब्द में सार्थकता हो, और प्रत्येक शब्द के लिए आवश्यकता की व्याकुलता हो।

उपन्यास में जिन पात्रों का इतना अधिक महत्व होता है, और जिनके चरित्र चित्रण के ही ऊपर उपन्यास की सृष्टि की सफलता पूर्ण रूप से निर्भर करती है, वे देश और काल देश और काल से सम्बन्धित होते हैं। सम्बन्धित ही नहीं होते। वरन् वे देश और काल से पूर्ण रूप से प्रभावित भी होते हैं। पात्रों के चरित्र में समय समय पर जो परिवर्तन होता है, अथवा समय-समय पर उनके जीवन में जो घटना-चक्र निर्मित होता है, उसके मूल में देश और काल का ही प्रभाव होता ही है। अतः उपन्यास की रचना में देश और काल का भी अधिक महत्व होता है। देश और काल के भीतर वे सभी बातें आ जाती हैं, जिन्हें हम सामाजिकता और राष्ट्रीयता की संज्ञा देते हैं; अर्थात देश काल के रूप में हम उपन्यास में उन बातों का चित्रण करते हैं, जो मनुष्य की संस्कृति, रीति-नीति, आचार विचार, प्रकृति सम्बन्ध और रहन सहन से सम्बन्ध रखते हैं। इन बातों को दृष्टि में रखते हुए हम देश-काल के चित्रण को दो वर्गों में विभक्त कर सकते हैं—सामाजिक वर्ग, और भौतिक वर्ग सामाजिक वर्ग में जीवन के भिन्न-भिन्न अंगों को लेकर उपन्यास की रचना की जाती है, अर्थात इस वर्ग में हम अपनी कथा समाज के भिन्न-भिन्न स्रोतों से ग्रहण करते हैं। जैसे, पूँजी पति, किसान, मजदूर, दलित वर्ग, शराबी और व्यभिचारी इत्यादि। इसी वर्ग में उन उपन्यासों का भी समावेश हो जाता है, जिनकी

रचना भौगोलिक वैभवों के आधार पर की जाती है। दूसरे वर्ग का सम्बन्ध, जिसे भौतिक या प्राकृतिक वर्ग कहते हैं, कृत्य रूप से प्रकृति अथवा जगत के उस रूप से होता है, जिसे हम जगत का भौतिक स्वरूप कहते हैं। इस वर्ग में हम जीवन के विशाल क्षेत्र में उपस्थित होते हैं, और उसका चित्रण विभिन्न रूपों में मार्मिकता के साथ करते हैं। इस वर्ग के चित्रण में हम इस बात को प्रगट करने का प्रयत्न करते हैं, कि जीवन और जगत क्या वस्तु है, तथा दोनों का परस्पर क्या और कितना सम्बन्ध है? जीवन और जगत के पारस्परिक सम्बन्धों के चित्रण में हम विभिन्न शैलियों से काम लेते हैं। कभी तो हम जीवन और जगत का सम्बन्ध-चित्र खींचते हुए भावना से अधिक विह्वल हो उठते हैं, और कभी एक तथ्यवादी के रूप में जीवन के सुख-दुख, तथा हर्ष और विषाद का सम्बन्ध में प्रकृति के साथ जोड़ने लगते हैं, अर्थात कभी तो हमारा चित्रण भावनामय होता है, और कहीं तथ्यवाद के सोपानों पर खड़े होकर हम अपनी रंग-साजी करते हैं।

देश काल के इन दोनों ही चित्रणों में उपन्यासकार को अधिक सजग रहने की आवश्यकता है। वह अपनी कथा का स्रोत चाहे जिस वर्ग से आरम्भ करे, सामाजिक वर्ग से या भौतिक वर्ग से, उसमें स्वाभाविकता और जीवन की अनुकूलता होनी चाहिए। उसके दृश्य-विधानों, और वर्णनों में साम्य होना अधिक आवश्यक है। उसे अपने दृश्य-विधानों और वर्णनों को इस प्रकार उपस्थित करना चाहिए, कि उनमें साम्य और सामंजस्य स्थापित हो सके। दृश्य-विधानों और वर्णनों पर दृष्टि रखने के साथ ही साथ उसे वातावरण और स्थिति पर भी ध्यान रखना चाहिए। वातावरण और स्थिति के चित्र को स्पष्ट करने के लिए उसे छोटी छोटी घटनाओं, और बातों पर भी ध्यान देना होगा, तात्पर्य यह, कि उपन्यासकार को अपने चारों ओर की स्थितियों और वातावरण का अध्ययन करना होगा। उसके अध्ययन की दो प्रणालियाँ होंगी—बाह्य और आन्तरिक। अपनी बाह्य प्रणाली से वह उन बातों का ज्ञान प्राप्त करेगा, जो पात्र के जीवन से सम्बन्ध रखती हैं, और स्पष्ट रूप से सामने दिखाई देती हैं। आंतरिक प्रणाली के द्वारा वह पात्र की उस प्रकृति के भीतर प्रवेश करेगा, जो रागात्मक हैं, और जिसमें विभिन्न भावों के द्वन्द प्रतिक्षण सागर के फेन की भाँति उठा करते हैं। जहाँ तक अध्ययन की प्रारम्भिक प्रणाली का प्रश्न है, वह अधिक सरल और पृथुल है। सामाजिक वर्ग के उपन्यासों में, इस प्रणाली के द्वारा प्राप्त अनुभवों से ही काम चल जाता है; किन्तु द्वितीय वर्ग के उपन्यासों में, जिसे भौतिक या प्रकृति वर्ग के उपन्यास कहते हैं, इन अनुभवों से काम नहीं चलता। इस वर्ग के उपन्यासों के लिए उन अनुभवों की आवश्यकता होती है, जो आन्तरिक प्रणाली के द्वारा प्राप्त किया जाते हैं। यह प्रणाली अधिक दुरूह और मर्ममेदिनी है। उपन्यासकार को इस प्रणाली के द्वारा मनुष्य की प्रकृति के भीतर प्रवेश करना होता है। उस प्रकृति के भीतर प्रवेश करना होता है, जो रागात्मक है, और जिसमें विभिन्न भावों के तूफान प्रतिक्षण उठा करते

हैं। उपन्यासकार को अपनी सृष्टि के लिए मानव की इसी प्रकृति में प्रवेश करके सामग्री चयन करना पड़ता है। जो उपन्यासकार जितना ही अधिक सूक्ष्म दर्शी होता है, अथवा जिसकी दृष्टि जितनी ही अधिक मर्मभेदिनी होती है, वह मानव प्रकृति के भीतर से उतनी ही अधिक प्रभाव पूर्ण, और इसीलिए सामग्री चयन कर पाता है। सामग्री चयन करने में उपन्यासकार को संवेदनशीलता से काम लेना चाहिए। उपन्यासकार की सृष्टि में जितना ही अधिक संवेदन शीलता के तत्त्व होंगे, उसकी सृष्टि उतनी ही अधिक मनोरम और आकर्षक होगी।

जीवन की व्याख्या

उपन्यास जीवन का प्रतिबिम्ब होता है। उपन्यास-साहित्य का जब हम मन्थन करते हैं, तो उसमें आदि से लेकर अन्त तक जीवन के ही घात-प्रतिघातों का चित्रण पाते हैं। उपन्यास साहित्य का मन्थन करने पर हम उसमें जितने परिमाण में जीवन के तत्व पाते हैं, उसके आधार पर यदि हम यह कहें, कि उपन्यास की सृष्टि जीवन के ही घात-प्रतिघातों और घटना चक्रों से होती है, तो कोई अत्युक्ति की बात न होगी। उपन्यास साहित्य में जीवन के तत्वों की प्रचुरता को देख करके ही हम इस परिणाम पर पहुँचते हैं, कि उपन्यास में जीवन की व्याख्या के लिए महत्व पूर्ण स्थान होता है। उपन्यास—साहित्य में जीवन की व्याख्या अपने किस रूप में होती है—यहाँ इसी प्रश्न पर प्रकाश डाला जायगा।

जीवन की व्याख्या से तात्पर्य है, जीवन की आलोचना, अर्थात् यह जीवन क्या है, उसका उद्देश्य क्या है, और वह किस प्रकार अपने लक्ष्य तक पहुँच सकता है। उपन्यासकार यदि अपनी रचना में स्पष्ट रूप से जीवन को लेकर इन प्रश्नों की विवेचना करने लगे, और इन प्रश्नों की विवेचना करता हुआ नैतिक तथ्यों और आदर्शों पर प्रकाश डालने लगे, तो इसमें सन्देह नहीं, कि उसकी रचना दर्शन शास्त्र का ग्रन्थ बन जाय। अतः वह जीवन की व्याख्या में नैतिक तथ्यों और आदर्शों की ओर से पूर्ण रूप से उदासीन रहता है। इसके प्रतिकूल वह जीवन की व्याख्या के लिए जीवन के विभिन्न स्थलों से विभिन्न कथाओं को चुनता है, और उन कथाओं में जीवन से सम्बन्ध रखने वाली विभिन्न घटनाओं, विभिन्न दशाओं, और विभिन्न कार्य-कलापों को जोड़ कर उनके द्वारा भिन्न-भिन्न ढङ्ग से जीवन की व्याख्या करता है। यह सच है, कि उपन्यासकार के इस प्रयत्न से जीवन की पूर्ण रूप में विवेचना नहीं हो पाती, पर उसके साथ ही साथ यह भी सच है, कि उसके इस प्रयत्न के द्वारा जीवन की किसी न किसी दिशा पर प्रकाश अवश्य पड़ता है, दूसरे शब्दों में उसके इस प्रयत्न के द्वारा जीवन की कोई न कोई ग्रन्थि अवश्य सुलझ जाती है। उपन्यासकार को केवल इतना ही उद्देश्य भी है। उपन्यासकार दर्शन और काव्यकार की भाँति जीवन के सम्पूर्ण तत्वों की विवेचना में अपने को नहीं खपा देता, वरन् वह उसके एक तत्व को ही सम्पूर्ण जीवन की परिधि मान कर उसकी ही आलो-

चना अप्रत्यक्ष रूप से करता है। वह विभिन्न घटनाओं, स्थितियों, और कार्य कलापों को मनोरंजक ढंग से उपस्थित करके जीवन के एक तत्व पर प्रकाश डालने में ही अपनी सम्पूर्ण शक्ति लगा देता है। वह केवल प्रकाश ही नहीं डालता, वरन् अपने ढंग से समस्याओं का समाधान भी करता है। समस्याओं के समाधान में वह एक उपदेशक की भाँति अपनी ओर से कुछ नहीं कहता, इसके प्रतिकूल वह सर्वत्र स्वयं तो मौन दिखाई देता है, पर वह जो चाहता है, उसकी इच्छाओं को उसके पात्र पूर्ण करते चलते जाते हैं। वह पात्रों के कार्य कलापों, घटना चक्रों, संवादों, और स्थितियों को इस प्रकार सामने प्रस्तुत करता है, कि उसके द्वारा जीवन की समस्याओं के समाधान का चित्र अपने आप बनता चलता है। इस प्रकार उपन्यासकार के कौशल और चातुर्य से उसकी रचना में जीवन की व्याख्या का चित्र तो स्पष्ट हो ही जाता है, साथ ही उसकी रचना भी अधिक सुन्दर, आकर्षक और मनोरंजक बन जाती है।

उपन्यासकार न तो उपदेशक है, और न जीवन-सूत्रों का विवेचक। वह अपनी रचना में न तो किसी बात के लिए उपदेश करता है, और न किसी सिद्धान्त और आदर्श का ही प्रतिपादन करता है। वह सिद्धान्तों और आदर्शों को लेकर खंडन मंडन में भी संलग्न नहीं होता। वह केवल जीवन के व्यापारों और कार्य कलापों को एकत्र करता है। उसकी दृष्टि केवल मानव जीवन के विभिन्न तत्वों के निरीक्षण में ही संलग्न रहती है। वह अपने इस निरीक्षण के द्वारा केवल जीवन के विविध छाया-चित्रों को ही हमारे सामने प्रस्तुत करता है। ऐसी बात नहीं, कि उसके द्वारा उपस्थित किए हुए ये चित्र वास्तविकता से दूर होते हैं, सच बात तो यह है, कि वह इन छाया-चित्रों के द्वारा ही उस सत्य को अभिव्यक्त करता है, जो जीवन के मूल में निहित होता है। यह वही सत्य है, जिसकी अभिव्यक्ति के लिए दर्शनकार सम्पूर्ण जीवन की व्याख्या करता है, और तर्कों तथा सिद्धान्तों का मन्थन करता हुआ विचारों के महापयोधि में डुबकियाँ लगाता है।

उपन्यासकार के द्वारा जिस सत्य की अभिव्यक्ति होती है, उसके लिए वह दो रीतियों से कार्य कर सकता है—एक नाट्य प्रणाली के द्वारा, और दूसरी आलोच्य प्रणाली के द्वारा। नाट्य प्रणाली के द्वारा वह उन घटनाओं, स्थितियों, और कार्य कलापों का संचयन करके उन्हें संयोजित करता है, जिनके द्वारा पात्र के चरित्र पर प्रकाश पड़ता है। अपनी इस सामग्री के द्वारा वह उस सत्य पर केवल प्रकाश डालता है, जिसकी अभिव्यक्ति वह अपनी रचना में करना चाहता है। पूर्ण रूप से 'सत्य' की अभिव्यक्ति वह आलोच्य प्रणाली के द्वारा करता है। आलोच्य प्रणाली के द्वारा वह अपनी कथा सामग्री की विशृंखलित वस्तुओं को एकत्र करके सँजोता है, और उनके बीच में प्रवेश करके उस सत्य को ढूँढ़ता है, जिसका ढूँढ़ना उसे अभीष्ट होता है। 'सत्य' को प्रगट करने में अपनी कथा सामग्री की एक एक वस्तु को खोल खोल कर सामने रखता है। कथा-सामग्री

की वस्तुओं को खोल-खोल कर सामने रखने में वह संयम और सन्तुलन का ध्यान रखता हैं। इस प्रकार वह सब को संयम और सन्तुलन की डोरी में कस कर अपने नियन्त्रण में रखता हुआ चलता है। उसके इस प्रयत्न से उसका वह 'सत्य' अपने आप आविर्भूत हो जाता है, जिसके लिए उसका प्रयत्न होता है।

उपन्यासों के भेद

ज्यों-ज्यों मानव जीवन उन्नति की ओर बढ़ता जा रहा है, त्यों त्यों साहित्य के अन्तर्गत उपन्यास की अभिवृद्धि भी होती जा रही है। इसी बात को हम दूसरे शब्दों में इस प्रकार भी कह सकते हैं, कि ज्यों ज्यों मानव जीवन भौतिकता के क्षेत्र की ओर अग्रसर हो रहा है। त्यों त्यों जीवन के प्रतिबिंब—साहित्य में कथा कहानियों और उपन्यासों की बाढ़ सी आती जा रही है। इसके दो कारण हो सकते हैं—(१) आज के मानव में विभिन्न प्रकार से मनोरंजन की प्रवृत्ति बढ़ती जा रही है। (२) मानव आधुनिक काल में अपने मनोरंजन को सरल से सरल ढंग से प्राप्त करना चाहता है, कहना न होगा, कि कथा-कहानी और उपन्यास आधुनिक मानव की इन दोनों इच्छाओं की पूर्ति करते हैं। साहित्य के और जितने अन्यान्य अंग है। उन सब की अपेक्षा कथा कहानी और उपन्यास की शैली अधिक सरल और आकर्षक होती है। जीवन जितनी अधिक सरलता, रोचकता, और मनोरंजता के साथ कथा-कहानी और उपन्यासों में अभिव्यक्त होता है, उतनी सरलता और रोचकता के साथ साहित्य के और किसी अंग में नहीं होता। यही कारण है, कि आज मानव प्रवृत्ति कथा कहानी और उपन्यासों की रचना की ओर अधिक है। विश्व के साहित्य में आज उपन्यासों की जो सबसे अधिकता दिखाई पड़ती है, उसके मूल में मानव की यही प्रवृत्ति सन्निहित है।

उपन्यास साहित्य का वर्गीकरण

आज विश्व के साहित्य में उपन्यास के नाम पर जो अतुल सम्पत्ति पाई जाती है, उनका जब हम मन्थन करते हैं, तो यह देखते हैं, कि उपन्यासों की कई श्रेणियाँ हैं, दूसरे शब्दों में उपन्यासों के कई भेद और विभेद हैं। उपन्यास साहित्य के ठीक ठीक प्रकार को निश्चित करने के लिए हमें कुछ मुख्य-मुख्य आधारों को सामने रखना होगा। उन आधारों में कुछ के नाम इस प्रकार हो सकते हैं—तत्त्व, चरित्र, और वर्ण्य वस्तु इत्यादि। इन बातों को आधार मान कर जब हम उपन्यास के भेद-विभेद को निश्चित करते हैं, तो उसे कई वर्गों में विभक्त पाते हैं। जैसे तत्व की दृष्टि से घटना प्रधान, चरित्र की दृष्टि से चरित्र प्रधान, और घटना चरित्र प्रधान, और वर्ण्य वस्तु की दृष्टि से धार्मिक, सामाजिक, राजनीतिक, प्राकृतिक, ऐतिहासिक, प्रागैतिहासिक इत्यादि। उपन्यास के इन सम्पूर्ण वर्गों पर जब हम सूक्ष्म दृष्टिपात करते हैं, और सरलता

पूर्वक उन्हें समझने का प्रयत्न करते हैं, तो अधिक सरलता और स्पष्टता के लिए हम उन्हें मुख्य रूप से चार वर्गों में विभक्त कर सकते हैं—घटना प्रधान, चरित्र प्रधान, घटना-चरित्र, सापेक्ष्य, और ऐतिहासिक। आधुनिक उपन्यास-जगत में उपन्यास के इन भेदों के अतिरिक्त कुछ और भी भेद पाए जाते हैं। जैसे आदर्शवादी उपन्यास, और यथार्थवादी उपन्यास इत्यादि। आज का सम्पूर्ण उपन्यास-साहित्य अपने इन्हीं भेदों बँटा हुआ है। अतः उपन्यास-साहित्य का सम्यक् ग्रास करने के लिए प्रथम उसके भेदों-विभेदों का ज्ञान प्राप्त करना अधिक आवश्यक है।

सर्व प्रथम हम उपन्यास के उस वर्ग को लेते हैं, जिसे घटना प्रधान वर्ग कहते हैं। इस वर्ग के नाम से ही उसकी विशेषता का चित्र हमारे सामने उपस्थित हो

घटना-प्रधान जाता है। इस वर्ग में उन उपन्यासों की गणना की जाती है, जिसमें मुख्य रूप से घटनाओं के वर्णन की ही प्रधानता होती है। इस वर्ग के उपन्यासों का समाज, मानव जीवन, तथा चरित्र विकास से कोई सम्बन्ध नहीं होता। इस वर्ग के उपन्यासों के लेखक समाज, मानव जीवन, और चरित्र विकास से अपने को पृथक रख कर अपनी रचना में केवल अलौकिक घटनाओं का ही चित्रण करते हैं। उनका एक मात्र ध्येय मनोरंजन, कुतूहल और मन के भीतर चमत्कार उत्पन्न करना होता है। वे मनोरंजन, कुतूहल और चमत्कार उत्पन्न करने में स्वाभाविकता, और अस्वाभाविकता पर भी विचार नहीं करते। वे अपनी रचना के लिए चमत्कारिक घटनाओं का ही चुनाव करते हैं, और उसकी चमत्कारिकता की रक्षा तथा उसकी अभिवृद्धि के लिए आदि से लेकर अन्त तक उसमें चमत्कारिक घटनाओं की संयोजना करते जाते हैं। उनके पात्र केवल घटनाओं के वशी भूत होते हैं। वे घटनाओं पर आधिपत्य नहीं रखते, वरन् घटनाएँ ही उन्हें पुतली की भाँति नचाती रहती हैं। उनके पात्र यद्यपि मानव समाज के ही अंग होते हैं, पर वे पूर्ण रूप से निर्जीव होते हैं। उनकी सारी सजीवता, उनसे संबंधित घटनाओं में ही समाविष्ट होती है।

घटना प्रधान उपन्यास के कई रूप होते हैं—जैसे तिलिस्मी, साहसिक, जासूसी प्रेमाख्यानक, और पौराणिक इत्यादि। ऐतिहासिक उपन्यास भी प्रायः घटना प्रधान होते हैं, पर ऐतिहासिक उपन्यासों पर हम पृथक से प्रकाश डालेंगे। कारण, कि उनमें घटना के अतिरिक्त उपन्यास के और भी तत्व पाए जाते हैं।

तिलिस्मी उपन्यास—'तिलिस्मी' शब्द तिलिस्म से बना है। 'तिलिस्म' शब्द अरबी का है, जिसका अर्थ है जादू और चमत्कार। इस शब्द के अर्थ के अनुसार

तिलिस्मी उपन्यास 'तिलिस्मी' उपन्यास उन उपन्यासों को कहते हैं, जिनमें जादू, ऐय्यारी और चमत्कारिक घटनाओं का मुख्य रूप से वर्णन होता है। सर्व प्रथम 'फारसी' में तिलिस्मी कहानियाँ और उपन्यासों की रचना हुई। 'अलीबाबा और चालिस चोर' इसी प्रकार की रचना है, जिसमें जादू और ऐय्यारी को पृष्ठभूमि

मान कर चमत्कारिक घटनाओं का जाल बिछाया गया है। 'फारसी' के द्वारा 'उर्दू' में तिलिस्मी कहानियों और उपन्यासों का प्रचलन आरम्भ हुआ, और उर्दू में भी तिलिस्मी कहानियाँ तथा उपन्यास लिखे जाने लगे। उर्दू से तिलिस्मी कहानियों और उपन्यासों का प्रचार हिन्दी में हुआ। हिन्दी में सर्व प्रथम बाबू देवकीनन्दन खत्री ने इस दिशा में प्रयत्न किया। उन्होंने 'चंद्रकांता' और 'चन्द्रकांता संतति' लिख कर हिन्दी के उपन्यास-जगत को तिलिस्म भावनाओं से भर दिया है। यद्यपि उन्होंने उर्दू और फारसी से तिलिस्म शब्दों को ग्रहण किया था, किन्तु उन्होंने इस शब्द को ग्रहण करके इसकी अर्थ की छाया में हिन्दी में जो प्रयत्न किया, उनका वह प्रयत्न उर्दू और फारसी के प्रयत्न से कहीं अधिक श्रेयस्कर और कौशल पूर्ण है, जो तिलिस्म को लेकर अब तक उसमें हो चुका था। बाबू देवकीनन्दन खत्री के तिलिस्मी उपन्यासों ने हिन्दी पाठकों को अचम्भे में डाल दिया, और वे उनके उपन्यासों की ओर बाढ़ के पानी की भाँति दौड़ पड़े। बाबू देवकीनन्दन खत्री के उपन्यासों ने हिन्दी में तिलिस्मी उपन्यासों का एक युग सा उत्पन्न कर दिया। कितने ही लेखकों ने उनके पथ का अनुगमन किया। कितने ही तिलिस्मी उपन्यास लिखे गए। हिन्दी का सम्पूर्ण उपन्यास-साहित्य तिलिस्मी उपन्यासों से भर गया। इतना ही नहीं, पाठकों का मन भी तिलिस्मी भावनाओं से भर गया, और उन्हें चारों ओर 'तिलिस्म' ही दिखाई देने लगे।

तिलिस्मी उपन्यासों के विकास पर जब हम ध्यान देते हैं, तो यह देखते हैं, कि उनका विकास शनैः शनैः हुआ है। 'तिलिस्मी' भावना उपन्यासों में उत्तरोत्तर विकसित होती गई है, और अन्तिम लेखकों में वह पूर्ण पराकाष्ठा को पहुँच गई है। प्रारम्भ में 'तिलिस्म' केवल 'कौशल' और 'बुद्धि चातुर्य' पर आधारित था। उसमें अति प्राकृत भावनाओं का समावेश न था। उनका सारा व्यापार अनोखी सूझ-बूझ के ही द्वारा होता था। किन्तु बाबू देवकीनन्दन खत्री के पश्चात् के लेखकों की रचनाओं में वह बुद्धि-चातुर्य नहीं दिखाई देता। इन लेखकों ने कौशल और 'बुद्धि चातुर्य' को ताक पर रख कर केवल अति प्राकृत भावनाओं से ही काम लिया है। स्वयं बाबू देवकीनन्दन खत्री के उपन्यासों में भी अति प्राकृत भावनाओं का संचार हुआ है। उनके पश्चात् की रचनाओं में तो केवल 'जादू का महल' ही दिखाई देता है। अंतिम काल के लेखकों में तो 'तिलिस्मी' भावनाओं का सबसे अधिक विकास मिलता है। अंतिम काल के लेखकों ने पूर्ण रूप से जादू, और चमत्कारिक घटनाओं के ही आधार पर अपने व्यापार की सृष्टि की है। इन लेखकों की रचनाएँ अति प्राकृत भावनाओं से पूर्ण रूप से भरी हुई हैं। इन लेखकों की रचनाओं में ऐसे ऐसे चमत्कार पूर्ण अद्भुत कार्यों का वर्णन मिलता है, जो व्यावहारिक दृष्टि से अधिक अस्वाभाविक तो लगते ही हैं, साथ ही अधिक विस्मयप्रद भी हैं।

साहित्यिक और औपन्यासिक दृष्टि से इन तिलिस्मी उपन्यासों का विशेष महत्व

न होते हुए भी इस बात से अस्वीकार नहीं किया जा सकता, कि उनमें स्फूर्ति, मनोरंजन और उत्साह के तत्वों का अधिक समावेश हुआ है। आदि से लेकर अंत तक जितनी घटनाएँ पाई जाती हैं, सब स्फूर्ति और उत्साह की सृष्टि करती हैं। अतः यदि यह कहा जाय, कि तिलिस्मी उपन्यासों से मनोरंजन के तत्व मिलने के साथ ही साथ उत्साह, वीरता, कुशलता और स्फूर्ति के भी तत्व मिलते हैं, तो कुछ अत्युक्ति की बात न होगी। चरित्र-चित्रण की दृष्टि से यद्यपि तिलिस्मी उपन्यासों का कुछ विशेष महत्व नहीं होता, पर इस बात से अस्वीकार नहीं किया जा सकता, कि उनके पात्रों में जीवन है। जीवन होने के साथ ही साथ उनके पात्रों में वीरता और कौशल है, तथा उनके द्वारा नैतिक आदर्शों की सृष्टि भी होती है।

साहसिक उपन्यास उन उपन्यासों को कहते हैं, जिनमें साहस पूर्ण घटनाओं का चित्रण किया जाता था। साहसिक उपन्यासों की तीन श्रेणियाँ होती हैं।

साहसिक उपन्यास प्रथम श्रेणी में वे उपन्यास आते हैं, जिनमें साहस पूर्ण चरित्र अपने मुख से अपने अतीत जीवन पर प्रकाश डालता है। उसके जीवन का उद्देश्य सत् होता है। यद्यपि वह डाके डालता है, षड्यन्त्र करता है, और हत्याओं में भी प्रवृत होता है, पर उसके इन कार्यों के मूल में परोपकार, दीन-दलितों की सहायता, और नीचे गिरे हुए व्यक्तियों को ऊपर उठाने की भावना होती है, द्वितीय श्रेणी में वे उपन्यास आते हैं, जिनके नायक प्रथम श्रेणी के उपन्यासों से सर्वथा विपरीत होते हैं। वे वस्तुतः लुटेरे, हिंसक और आततायी होते हैं। पुलिस, और गुप्तचर उनका पीछा करते हैं। दोनों ओर से कौशल और अय्यारी के जाल बिछाए जाते हैं। इन उपन्यासों में अय्यारी, और लोम संयक घटनाओं का संयोग बड़ी चमत्कार पूर्ण स्थिति में किया जाता है। द्वितीय श्रेणी के ये उपन्यास दो प्रकार के होते हैं। एक प्रकार के उपन्यास तो वे होते हैं, जिनमें डाकुओं और लुटेरों की हत्याओं, वीरता पूर्ण घटनाओं, और रहस्यमय डाकों का चित्रण किया जाता है, और दूसरे प्रकार के उपन्यास वे हैं, जिनमें किसी की किसी के द्वारा रहस्यमय मृत्यु, और या किसी कामिनी की प्राप्ति के लिए विविध षड्यन्त्रों का चित्रण किया जाता है, और तृतीय प्रकार के साहसिक उपन्यास वे हैं, जिनकी रचना सिंहात्मक राष्ट्रीय आंदोलनों के आधार पर की जाती है। इस प्रकार के उपन्यासों के नायक देश भक्त होते हैं, जो गुप्त समितियों का संगठन करते हैं।

जासूसी उपन्यास उन उपन्यासों को कहते हैं, जिनमें जासूसों और गुप्तचरों के द्वारा डाका 'मृत्यु' और रहस्यमय घटनाओं की ग्रन्थियों को सुलझाने का प्रयत्न किया जाता है। जासूसी उपन्यास साहसिक उपन्यासों की भाँति ही मृत्यु, डाका, और षड्यन्त्र के रोमांचकारी कृत्यों से परिपूर्ण होते हैं। साहसिक उपन्यासों से इनमें अधिक विशेषता यह होती है, कि इनमें बुद्धि का कौशल अधिक पाया जाता है। इनमें जहाँ विस्मय पूर्ण घटनाओं का जाल रहता है, बुद्धि का अद्भुत प्रदर्शन भी होता है, वरन् कहना तो यह चाहिए, कि जासूसी उपन्यासों की रचना पूर्ण रूप से

बुद्धि कौशल को ही आधार मान कर की जाती है। जासूसी उपन्यासों में बुद्धि कौशल के अपूर्व और सूक्ष्म से सूक्ष्म चित्र देखने को मिलते। जासूसी उपन्यासों की सफलता पूर्ण रूप से विषय घटना स्थिति, और वस्तु के सूक्ष्म निरीक्षण पर ही आश्रित रहती है। जिस जासूसी उपन्यास में जितना ही अधिक सूक्ष्म निरीक्षण और परीक्षण होता है, वह उतना ही अधिक उत्तम और सफल समझा जाता है।

प्रेमाख्यानक उपन्यास उन उपन्यासों को कहते हैं, जिनकी रचना प्रेम की कथाओं को आधार मान कर की जाती है। प्रेम की कथाओं के चित्रण में दो

प्रेमाख्यान उपन्यास

रीतियों से काम लिया जाता है। एक रीति तो वह है, जिसमें हम रीति काल के कवियों की परम्परा पाते हैं। इस रीति के द्वारा चित्रित प्रेम कथाओं में नायक नायिकाओं के प्रेम, उनके मन की उत्कंठा, और उनके प्रेम पूर्ण क्रिया कलापों का वर्णन मिलता है। इस कोटि के उपन्यासों में 'रसात्मकता' पूर्ण रूप में पाई जाती है। बुद्धि-चातुर्य और चमत्कारिक उक्तियों का समावेश भी इस कोटि के उपन्यासों में अधिक मिलता है। प्रेमाख्यानक उपन्यासों की रचना की दूसरी रीति वह है, जिसमें फारसी काव्य के परम्परागत प्रेम का अनुकरण किया जाता है। इस कोटि के उपन्यासों में नायक-नायिका के वियोग का चित्रण करते हुए नायक के उन दुस्साहसिक कार्यों पर प्रकाश डाला जाता है, जिन्हें वह नायिका के मिलन के प्रयास में पूर्ण करता है।

पौराणिक उपन्यास उन उपन्यासों को कहते हैं, जिनकी रचना पौराणिक कथाओं के आधार पर की जाती है। इन उपन्यासों की विशेषता केवल इतनी ही है, कि पौराणिक कथाओं को साहित्यिकता के साँचे में ढाला जाता है। एक समय था, जब स्त्रियों और समाज में धार्मिक प्रवृत्ति को जाग्रत करने के लिए पौराणिक उपन्यासों की रचना की जाती थी, किन्तु आज कल पौराणिक उपन्यासों की ओर बहुत कम लेखकों का ध्यान जाता है। अँगरेजी और वैज्ञानिक शिक्षा में प्रचार ने पौराणिक उपन्यासों के प्रति लोगों में उदासीनता उत्पन्न कर दी है।

उपन्यास के द्वितीय वर्ग में वे उपन्यास आते हैं, जिन्हें 'चरित्र प्रधान' उपन्यास कहते हैं। जिस प्रकार 'घटना प्रधान' उपन्यास के नाम से ही यह प्रगट हो जाता

चरित्र-प्रधान

है, कि इस वर्ग के उपन्यासों में घटना की प्रधानता होती है, उसी प्रकार 'चरित्र प्रधान' संज्ञा से भी इस वर्ग के उपन्यासों का चित्र स्पष्ट हो जाता है, अर्थात् चरित्र प्रधान उपन्यास उन उपन्यासों को कहते हैं, जिनमें चरित्र की प्रधानता होती है। 'घटना प्रधान' उपन्यासों में सम्पूर्ण व्यापार घटनाओं को ही आधार मान कर किया जाता है। उपन्यास की रचना में 'आदि से लेकर अंत तक' घटनाओं का ही जाल बिछाया जाता है। चरित्र प्रधान उपन्यासों में 'घटना' का स्थान चरित्र ग्रहण करता है। घटना प्रधान उपन्यासों में जिस प्रकार घटना प्राणमय और आकर्षक होती है, उसी प्रकार चरित्र प्रधान उपन्यासों में चरित्र को पूर्णता और प्रधानता प्रदान की जाती है। चरित्र प्रधान उपन्यासों में लेखक की

दृष्टि पूर्ण रूप से चरित्र की ही ओर केंद्रित रहती है। वह रचना की सफलता के लिए अपने चरित्र में संभवित विशेषताओं और शक्तियों का समावेश करता है। वह अपने चरित्र को प्रत्येक प्रकार से दृढ़, पूर्ण, और कर्त्तव्यनिष्ठ बनाता है। उसका चरित्र अपने आप में पूर्ण होता है। वह प्रत्येक स्थिति का विजेता होता है, और सदा एक रस रहता है। घटनाओं, स्थितियों, और दशाओं का उसके ऊपर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। वह घटनाओं, स्थितियों, और दशाओं के वशीभूत न होकर उन्हें अपनी इच्छाओं के अनुसार चलाता रहता है। वह कथावस्तु का भाग होते हुए भी अपनी स्वतन्त्र और पृथक सत्ता रखता है। उपन्यास में आदि से लेकर अंत तक उसकी सत्ता अपने आप आभासित होती रहती है।

हिन्दी साहित्य में कई लेखकों ने चरित्र प्रधान उपन्यासों की सृष्टि में योग दिया है। स्वर्गीय प्रेमचन्दजी के उपन्यासों में भी चरित्र-चित्रण की प्रधानता देखने को मिलती है। जैनेन्द्रजी की 'सुनीता' इस वर्ग के उपन्यासों में सर्वश्रेष्ठ रचना है। 'सुनीता' के चरित्र बड़े प्रभाव पूर्ण, और स्थितियों, पर विजय प्राप्त करने वाले हैं। हैं। 'सुनीता' के चरित्रों की पूर्णता का परिचय उसके प्रारंभिक पृष्ठों में मिल जाता है, जो आदि से लेकर अंत तक ज्यों का त्यों बना रहता है। जैनेन्द्रजी की भाँति ही उग्र, श्री ऋषभचरण जैन, और श्री चतुरसेन शास्त्री इत्यादि के उपन्यासों में भी इस प्रकार के चरित्र पाए जाते हैं, जिन्होंने घटनाओं, दशाओं, और स्थितियों को दबाकर अपने अस्तित्व को ऊपर उठाया है।

घटना-चरित्र सापेक्ष्य उपन्यास उन उपन्यासों को कहते हैं, जिनमें घटना और चरित्र का अन्योन्याश्रय संबंध होता है। इस वर्ग के उपन्यासों को नाटकीय उपन्यास भी कहते हैं, अर्थात इनमें घटना और चरित्र का पारस्परिक सम्बन्ध नाटकीय ढङ्ग से स्थापित किया जाता है। इस वर्ग के उपन्यास घटना, प्रधान, और चरित्र प्रधान उपन्यासों से सर्वथा पृथक होते हैं। इस वर्ग के उपन्यासों में घटना और चरित्र का पृथक रूप से अस्तित्व नहीं होता, वरन् दोनों ही अभेद्य रूप से एक-दूसरे से मिले रहते हैं। दोनों के मिलन में संतुलन और स्वाभाविकता होती है। दोनों स्वाभाविक परिमाण में एक दूसरे के साथ मिल कर रचना के विस्तार में सहायता प्रदान करते हैं।

घटनाओं और चरित्र का वास्तविक संयोग ही इस कोटि के उपन्यासों की विशेषता है। जिस उपन्यास में दोनों का संयोग जितनी ही अधिक कुशलता और मनोरमता के साथ किया जाता है, उसमें उतने ही अधिक सफलता को तत्व उद्भावित होते हैं। घटना और चरित्र का संयोग-सम्बन्ध मनोवैज्ञानिकता के आधार पर स्थापित किया जाता है। संबन्ध-स्थापन में नाटकीय कौशल से भी काम लिए जाता है। इस कोटि में उपन्यासों में घटना और चरित्र का पृथक अस्तित्व नहीं होता, अतः घटना और चरित्र परस्पर मिल करके ही उस कार्य को पूर्ण करते हैं, जो उन्हें इष्ट होता है, अर्थात वे मिल करके ही कथा-वस्तु का विस्तार करते हैं,

और अपनी छाप छोड़ते जाते हैं। इस कोटि के उपन्यास आदि से लेकर अंत तक परिवर्तन शील होते हैं। उनकी घटनाओं और स्थितियों में बराबर परिवर्तन हुआ करता है। घटनाओं और स्थितियों में परिवर्तन होने के कारण उनके पात्रों के आज भी घटते-बढ़ते रहते हैं। चरित्र प्रधान उपन्यासों के पात्रों की भाँति इनके पात्रों के गुण स्थिर नहीं रहते। यद्यपि उनके गुणों में परिवर्तन नहीं होता, पर घटनाओं और स्थितियों में परिवर्तन होने के कारण वे घटते-बढ़ते अवश्य हैं। घटनाओं और स्थितियों की परिवर्तन शीलता ही इस कोटि के उपन्यासों के पात्रों के गुणों को स्पष्ट करती हुई चलती है। घटनाओं और स्थितियों की परिवर्तन शीलता के कारण उनके गुण भी परिवर्तित जान पड़ते हैं।

इस कोटि के उपन्यास अधिक निगूढ़ और मनोवैज्ञानिक होते हैं। निगूढ़ इस अर्थ में, कि उनकी कथा-वस्तु के भीतर जो 'सत्य' निहित होता है, उसकी अभिव्यक्ति उनमें अधिक सूक्ष्मता के साथ होती है। 'सत्य' की अभिव्यक्ति के लिए इस कोटि के उपन्यासों में दो साधनों से काम लिया जाता है, जिन्हें हम आंतरिक और बाह्य साधन कह सकते हैं। आंतरिक साधनों के द्वारा सत्य की अभिव्यक्ति के लिए कथावस्तु के भीतर प्रवेश करके उसकी ग्रन्थियों को खोल कर सामने प्रस्तुत किया जाता है, और विचार पूर्ण तत्वों के द्वारा चरित्र पर प्रकाश डाला जाता है। बाह्य साधन घटना क्रम को अपने संयम में रखते हैं, और उसे उचित रूप में विकास की ओर उन्मुख करते हैं। इस प्रकार हम यह कह सकते हैं कि इस कोटि के उपन्यासों की कथावस्तु में एक साथ ही दो दो तत्वों का समावेश होता है—विवेचना और वर्णन विवेचना के तत्वों के द्वारा पात्रों के पारस्परिक संलाप में छिपे हुए रहस्य खुलते हैं, और उनसे चरित्र पर प्रकाश पड़ने के साथ ही साथ सत्य की अभिव्यक्ति भी होती है। वर्णन के द्वारा घटनाओं और स्थितियों का विकास होता है, जिनसे चरित्र को विकसित होने में सहायता मिलती है। कथा वस्तु के भीतर, इन दोनों ही प्रकार के तत्वों का संचालन अधिक नाटकीय कौशल के साथ किया जाता है। अर्थात एक दूसरे की सापेक्षता में ही, दोनों तत्वों को रख कर 'कथा वस्तु' को रखकर अपने मूल सत्य की ओर अभिप्रेरित किया जाता है।

इस कोटि के उपन्यासों में जीवन की गति शीलता मुख्य रूप से देखी जाती है। जिस प्रकार जीवन परिवर्तित होता रहता है, उसी प्रकार इस कोटि के उपन्यासों के पात्रों में भी परिवर्तन होता रहता है। घटनाओं और स्थितियों से इनके पात्रों में परिवर्तन तो होता ही है, समय के परिवर्तन का भी उन पर अधिक प्रभाव पड़ता है। जिस प्रकार समय-चक्र में उलटफेर होता है, उसी प्रकार इनकी घटनाओं और चरित्रों में भी परिवर्तन होता जाता है। अर्थात समय की गति के साथ ही साथ घटनाओं और चरित्रों का भी विकास होता जाता है। चरित्र प्रधान उपन्यासों में समय की गति का प्रभाव घटनाओं और चरित्रों के विकास पर नहीं पड़ता। चरित्र प्रधान उपन्यासों में समय तो अपरिवर्तनशील रहता है, किन्तु स्थान में परिवर्तन होता रहता

है। यही कारण है, कि चरित्र प्रधान उपन्यासों में, उनका अंत अधिक साधारण ढंग से होता है। किन्तु कार्य-कारण सापेक्ष्य उपन्यास समय सापेक्षी होने के कारण उनके अन्त में अपूर्वता होती है। उनकी घटनाओं और चरित्रों का अंत एक ऐसी स्थिति और वातावरण में होता है, जिसके द्वारा घटनाओं और चरित्रों की संपूर्ण समस्या पर अपने आप ही प्रकाश पड़ जाता है। जिस समस्या को लेकर आदि में घटनाओं और चरित्रों की सृष्टि की गई थी, वह समस्या 'अंत' में अपने आप सुलझी हुई दिखाई देती है। उपन्यासकार घटनाओं और चरित्रों का इस प्रकार अंत करता है, कि समस्या का समुचित रूप में समाधान हो जाता है।

कार्य कारण सापेक्ष्य उपन्यास अनुभूति-प्रधान होते हैं। इन उपन्यासों में सम्पूर्ण व्यापार अनुभूतियों के ही आधार पर चलता है। सभी पात्र अनुभूतियों के ही द्वारा भिन्न-भिन्न दृश्यों का अङ्कन करते है। अतः यह कहा जा सकता है, कि इस कोटि के उपन्यासों में घटना स्थल की पूर्ण रूप से सङ्कीर्णता होती है। जिस प्रकार चरित्र प्रधान उपन्यासों में एक विस्तृत सीमा के भीतर घटनाओं का विस्तार किया जाता है, जिस प्रकार इन उपन्यासों में जीवन के विभिन्न रूपों को लेकर भाँति-भाँति के रूप चित्रित किये जाते हैं, उस प्रकार का चित्रण कार्य कारण सापेक्ष्य उपन्यासों में नहीं मिलता, इन उपन्यासों में 'घटना स्थल' के विस्तार की उपेक्षा विचारों के के घात प्रतिघात, और द्वन्दों का ही चित्रण विशेष रूप से मिलता है। यही कारण है, कि इस कोटि के उपन्यासों के पात्रों के सम्पूर्ण कार्य-कलाप एक निश्चित सीमा के ही भीतर होते हैं। सम्पूर्ण व्यापार विचारों, के घात प्रतिघात, और भावनाओं के द्वन्दों पर ही आधारित रहता है। आदि से लेकर अंत तक विचारों का द्वन्द ही इस कोटि के उपन्यासों में मुख्य रूप से देखने को मिलता है।

ऐतिहासिक उपन्यास उन उपन्यासों को कहते हैं, जिनकी रचना इतिहास के तत्वों के आधार पर की जाती है। यद्यपि यह उपन्यास मुख्य रूप से घटना प्रधान ऐतिसासिक होते हैं, पर इनकी विशेषता यह होती है, कि इनमें देश और काल का चित्रण विशेष रूप से किया जाता है। देश और काल का चित्रण करना ही इस कोटि के उपन्यासों का मुख्य ध्येय होता है। देश और काल के चित्रण के रूप में इनमें किसी विशेष काल या युग की राजनीति, अर्थनीति, समाज नीति और जीवन विधि पर भी प्रकाश डाला जाता है। ऐतिहासिक उपन्यास दो प्रकार के होते हैं। एक प्रकार के ऐतिहासिक उपन्यास वे होते हैं, जिनकी कथा वस्तु मुख्य रूप से देश और काल से संबंधित होती है, और जिनके पात्र भी ऐतिहासिक होते हैं। इस कोटि के उपन्यास विशुद्ध रूप से ऐतिहासिक कहे जाते हैं। द्वितीय कोटि के ऐतिहासिक उपन्यासों में कथा वस्तु तो देश और काल से संबंधित होती है, किन्तु उनके पात्रों में कल्पना का समिश्रण होता है। इस कोटि के उपन्यासों को हम ऐतिहासिक प्रेमाख्यान कह सकते हैं। दृष्टांत के लिए श्री वृन्दावनलाल वर्मा, के गढ़ कुंडार और विराटा की पद्मिनी को लीजिए। गढ़ कुंडार शुद्ध ऐतिहासिक

उपन्यास है, किन्तु विराट की पद्मिनी उस कोटि में नहीं आती। कारण, कि उसके पात्रों में कल्पना का योग है। अतः हम उसे ऐतिहासिक प्रेमाख्यानक ही उपन्यास की संज्ञा देंगे।

ऐतिहासिक उपन्यास ऐतिहासिक तत्त्वों के आधार पर निर्मित होने पर भी इतिहास नहीं होते। इतिहास और ऐतिहासिक उपन्यासों में अधिक अंतर होता है। इतिहासकार के वर्णन में जहाँ बुद्धि की प्रधानता होती है, वहाँ ऐतिहासिक उपन्यासकार अपनी रचना में बुद्धि के तत्त्वों के साथ ही साथ हृदय के तत्त्वों का भी उपयोग करता है। हृदय के तत्त्वों का उपयोग करने के कारण उसकी सृष्टि सरस और आनन्दमयी होती है। इतिहासकार की भाँति वह केवल वास्तविक वस्तुओं और तथ्यों का वर्णन ही नहीं करता, वरन् उन पर अपनी कल्पना का रंग भी छिड़कता है। वह इतिहासकार के तथ्यों और वर्णनों को अपनी कल्पना के साँचे में ढालता है, और उन्हें एक नवीन ढंग से सजा कर सामने प्रस्तुत करता है। किन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं, कि उपन्यासकार इतिहास के तथ्यों की अवहेलना करता है, या अपनी रुचि के अनुसार उनमें परिवर्तन करता है। ऐतिहासिक उपन्यासकार अपनी सृष्टि में कल्पना का आश्रय ग्रहण करने पर भी ऐतिहासिक तथ्यों के चित्रण में स्वच्छंदता से काम नहीं लेता। यही ऐतिहासिक उपन्यासकार की सबसे बड़ी विशेषता भी है। नीरस और शुष्क ऐतिहासिक पात्रों को सजीव तथा आनन्दमय बना देना ही ऐतिहासिक उपन्यासकार का मुख्य काम है। ऐतिहासिक उपन्यासकार सजीव, सरस और आनन्दमय तथा मनोरंजक वातावरण में ही उस सत्य की अभिव्यक्ति करता है, जो इतिहासकार के पृष्ठों में निहित होता है।

उपन्यास के इन प्रमुख प्रकारों के अतिरिक्त कुछ और भी प्रकार के उपन्यास मिलते हैं। जैसे प्राकृतवादी उपन्यास, और भाव-प्रधान उपन्यास इत्यादि। प्राकृतवादी उपन्यास उन उपन्यासों को कहते हैं, जिनमें वास्तविकता और यथार्थ को आधार मान कर नग्न चित्रण किया जाता है। इन उपन्यासों में उपन्यासकार का ध्येय मुख्य रूप से वास्तविक चित्रण की ओर रहता है। चित्रण करते हुए इस बात पर किंचित् मात्र भी ध्यान नहीं दिया जाता, कि उससे जीवन और समाज का हित होगा या नहीं। नग्न और यथार्थ चित्रण ही इस कोटि के उपन्यासों का ध्येय होता है। हिन्दी-साहित्य में 'उग्र', श्री इलाचन्द्र जोशी, श्री चतुरसेन शास्त्री, और श्रीचन्द्रशेखर पाठक इत्यादि ने इस प्रकार के उपन्यासों की रचना में प्रसिद्धि प्राप्त की है। भाव-प्रधान उपन्यासों में मुख्य रूप से भाव की प्रधानता होती है। इस कोटि के उपन्यासों में आदि से लेकर अंत तक भावों की ही व्यंजना पाई जाती है। स्वर्गीय जयशङ्कर प्रसाद और चण्डीप्रसाद 'हृदयेश' के उपन्यास इसी कोटि के उपन्यास हैं।

कथा-कहानी का प्राचीन स्वरूप

मनुष्य अपने जीवन के आदिकाल से ही कथा-कहानियों को कहता चला आ रहा है। कथा कहानी का इतिहास अधिक प्राचीन है। कथा-कहानी के इतिहास की प्राचीनता पर जब हम विचार करते हैं, तो उसका मूल स्रोत मानव-जाति की प्रवृत्ति में छिपा हुआ पाते हैं। दूसरे शब्दों में उसका इतिहास उतना ही प्राचीन है, जितना मानव का जीवन। जिस प्रकार मानव के जीवन का इतिहास अधिक प्राचीन होने के कारण अधिक अस्पष्ट और अज्ञात है, उसी प्रकार कथा-कहानी का इतिहास भी अधिक अस्पष्ट और अज्ञात है। प्राचीन कथा कहानी का जो इतिहास हमारे सामने उपस्थित है, उससे दो बातों का पता चलता है। एक तो यह ज्ञात होता है, कि कथा कहानी का इतिहास अधिक प्राचीनतम है, और दूसरी बात यह मालूम होती है, कि मानव जीवन की उन्नति के साथ ही साथ कथा कहानी की भी उन्नति हुई है। जिस प्रकार उन्नति की दिशा की ओर बढ़ने में मानव जीवन ने कई मंजिलें पार की हैं, उसी प्रकार प्राचीन कथा-कहानी को भी, अपने आज के स्वरूप को धारण करने में विभिन्न रूप धारण करने पड़े हैं। विश्व की सभी भाषाओं के साहित्य में कथा कहानी की उन्नति का यही क्रम दिखाई देता है। प्रायः सभी भाषाओं के साहित्य में कथा-कहानी की उन्नति एक ही क्रम से हुई है। कथा-कहानी की उन्नति के क्रम में संसार की भाषाओं के साहित्य में जितना साम्य है, उतना साम्य साहित्य के किसी और अंग के विकास क्रम में नहीं है। जिस प्रकार पश्चिमी भाषाओं के साहित्य में कथा कहानी का प्राचीन स्वरूप दंत कथाओं को लेकर गठित हुआ है, उसी प्रकार पूर्वी भाषाओं के साहित्य में भी कथा-कहानी का प्राचीन स्वरूप दंत कथाओं, और लोक कथाओं के रूप में मिलता है। पश्चिमी, और पूर्वी दोनों ही देशों की भाषाओं के साहित्य में कथा कहानी की उन्नति भी एक ही क्रम से हुई है। इससे ज्ञात होता है, कि कथा-कहानी के तत्त्व मानव प्रकृति के भीतर विद्यमान हैं।

कथा कहानी और मानव-प्रवृत्ति

जिस प्रकार विश्व की भाषाओं के साहित्य में कथा कहानी का प्राचीनतम स्वरूप मिलता है, उसी प्रकार भारतवर्ष के प्राचीन साहित्य में भी कथा-कहानी का अति प्राचीनतम स्वरूप देखने को मिलता है। विश्व के अन्यान्य देशों की अपेक्षा भारतवर्ष की सभ्यता अधिक

ऋग्वेद में कथा का स्वरूप

प्राचीन है। अतः यदि यह कहा जाय तो अत्युक्ति की बात न होगी, कि विश्व के अन्यान्य देशों की कथा-कहानी के इतिहास की अपेक्षा भारतवर्ष की कथा-कहानी का इतिहास अधिक प्राचीनतम है। भारतीय जीवन का शृंखला बद्ध इतिहास वेदों से प्रारंभ होता है। वेदों में भी ऋग्वेद भारतीय जीवन का मूल स्रोत माना जाता है। अतः भारतीय कथा कहानी का इतिहास भी ऋग्वेद से ही प्रारंभ मानना चाहिए। ऋग्वेद में कहानी अपने मूल तत्व के रूप में पाई जाती है, अर्थात् ऋग्वेद में कई ऐसे संवाद, और पारस्परिक वार्तालाप मिलते हैं, जिनके संबंध में हम यह कह सकते हैं, कि उनमें कथा के मूल तत्त्व निहित हैं। इन संवादों में यम, यमी, और सरमा इत्यादि के संवाद मुख्य हैं। ऋग्वेद के पश्चात् वह युग आता है, जिसे हम ब्राह्मण-ग्रंथों का युग कह सकते हैं। ब्राह्मण-ग्रंथों के युग के कई ऐसे ग्रंथ मिलते हैं, जिनमें कथाओं का विकसित स्वरूप देखने को मिलता है। स्वयं ब्राह्मण-ग्रंथों में भी ऐतरेय, और शत पथ इत्यादि में कथाएँ मिलती हैं। उपनिषदों में भी कई कथाएँ मिलती हैं, जिनमें विकसित कथा-तत्त्व पाए जाते हैं।

रामायण, महाभारत और पुराणों में कथा का स्वरूप

ऋग्वेद और ब्राह्मण ग्रंथों के पश्चात् ज्यों ज्यों जीवन में शिक्षा, और सभ्यता का आलोक उत्पन्न होता गया, त्यों त्यों कहानी का स्वरूप भी परिवर्तित होता गया; अर्थात् ज्यों ज्यों जीवन विकास की ओर अग्रसर होता गया, त्यों त्यों कहानी में भी विकास के तत्त्व प्रविष्ट होने लगे। विकास के तत्त्वों से संयुक्त इन कथा-कहानियों को स्पष्ट रूप से रामायण, महाभारत और पुराणों में देखा जा सकता है। रामायण, महाभारत और पुराणों की इन कथा कहानियों को हम कई वर्गों में विभक्त कर सकते हैं। जैसे—वीरता मूलक, धार्मिक, चरित्र और नीति संबंधी। इन कथा-कहानियों में जहाँ मानव के चरित्र का विकास हुआ है, वहाँ उनमें उसके हृदय की उच्चकोटि की भावनाएँ भी मिलती है। जैसे—उच्चकोटि का चरित्र, सदाचार, त्याग, परोपकार, कल्याण, सहिष्णुता, कर्त्तव्य निष्ठा, और पर दुख कातरता इत्यादि। रामायण, महाभारत, और पुराणों की कथा-कहानियों में मानव-हृदय के उक्त गुणों का सर्वोच्च विकास मिलता है। इन कथा-कहानियों से सहज ही इस बात का अनुमान लगाया जा सकता है, कि जिस युग में इन कथा-कहानियों का निर्माण हुआ है, उस युग का मानव आज के मानवों की अपेक्षा अधिक मानवता के निकट था।

हितोपदेश और अन्यान्य रचनाओं में कथा का स्वरूप

पुराणों के युग के आस पास ही, या उसके पश्चात् एक और प्रकार की कथा-कहानियाँ मिलती हैं। यह कथा कहानियाँ हितोपदेश, बैताल पचीसी, सिंहासन बत्तीसी, और 'कथा सरित्सागर' इत्यादि पुस्तकों में संग्रहीत मिलती हैं। इन कथा कहानियों में भी मानव-हृदय की विभिन्न प्रवृत्तियों का विकास हुआ है। इन कथा-

कहानियों में कुछ तो ऐसी हैं, जो मानव की कौतूहल-प्रिय प्रकृति पर प्रकाश डालती हैं, कुछ ऐसी हैं, जो गाथाओं के रूप में हैं, और कुछ ऐसी हैं, जिनमें नीति और आदर्शों का प्रतिपादन किया गया है। इन कथा-कहानियोंमें सबसे अधिक विस्मय की बात यह है, कि इनके पात्र मनुष्य के अतिरिक्त पशु और पक्षी भी हैं। इन कथा कहानियों में मनुष्य, और पशु-पक्षियों के जीवन का अपूर्व संयोग स्थापित किया गया है। इन कथा-कहानियों से जहाँ नीति, और ऊँचे ऊँचे मानवी आदर्शों पर प्रकाश पड़ता है, वहाँ यह बात भी विदित होती है, कि मनुष्य के समान पशु-पक्षियों में भी दुख सुख के अनुभव की शक्तियाँ, और विवेक तथा विचार के तत्त्व होते हैं।

इन कथा-कहानियों में कुछ ऐसी हैं, जो गाथाओं के रूप में हैं। इन बड़ी बड़ी गाथाओं को हम आदि काल का उपन्यास कह सकते हैं। जैसे—तोता मैना, बैताल पचीसी, और सिंहासन बत्तीसी इत्यादि। इन गाथाओं में यद्यपि आज के उपन्यासों की भाँति द्वन्द्वात्मक और मनोवैज्ञानिक चित्रण नहीं मिलता, पर इस बात से अस्वीकार नहीं किया जा सकता, कि उनमें उपन्यास के तत्त्व निहित हैं। इन गाथाओं का स्वरूप उन छोटी-छोटी कहानियों से भिन्न है, जिन्हें हम नीति और उपदेश की कहानियाँ कहते हैं। इन गाथाओं का मंथन करने से ज्ञात होता है, कि जिस युग में इन गाथाओं का निर्माण हुआ है, उस युग के मनुष्य ने अपनी उपन्यास लिखने की प्रवृत्ति इन गाथाओं को लिख कर पूर्ण की है।

उपन्यास का प्रारंभिक रूप—तोता मैना, इत्यादि

इन गाथाओं के पश्चात् के कथा-साहित्य पर जब हम विवेचना करते हैं, तो इस बात का प्रतिपादन और भी दृढ़ता के साथ होता है। इन गाथाओं के पश्चात् कादम्बरी इत्यादि में कथा का स्वरूप

का कथा साहित्य दो वर्गों में विभक्त है। एक वर्ग तो वह है, जिसमें छोटी छोटी कथाएँ और कहानियाँ हैं। द्वितीय वर्ग में ऐसी कथाएँ हैं, जो साहित्यिक शैली में लिखी गई हैं। यद्यपि इन कथाओं की शैली साहित्यिक और अलंकारिक है, पर उनमें औपन्यासिक कला के समुज्वल स्वरूप प्राप्त होते हैं। दशकुमार चरित, वासव दत्ता, और कादम्बरी इत्यादि ऐसी ही कथात्मक रचनाएँ हैं। आज के उपन्यास का स्वरूप इन रचनाओं में निश्चय पूर्वक नहीं मिलता, पर इसमें संदेह नहीं किया जा सकता, कि इनकी रचना में औपन्यासिक कला अधिक मात्रा में काम कर रही है। 'कादम्बरी' को पढ़ कर इस बात को कोई भी व्यक्ति अस्वीकार नहीं कर सकता, कि उसमें औपन्यासिक कला नहीं है। कोई स्वीकार भले ही न करे, पर इन रचनाओं से इस बात पर निश्चय रूप से प्रकाश पड़ता है, कि आज के हिन्दी उपन्यास का आदि स्रोत इन्हीं रचनाओं के मूल में विद्यमान है।

यह सभी रचनाएँ संस्कृत भाषा में हैं। क्योंकि संस्कृत ही भारत की प्राचीन भाषा है। संस्कृत भाषा जब पतनोन्मुखी हुई, और उसके स्थान पर प्राकृत तथा

अपभ्रंश काल में कथा का स्वरूप

अपभ्रंश भाषाओं का काल आया, तब कथा-कहानी के जीवन में भी पलटा आया। प्राकृत और अपभ्रंश भाषाओं में सर्व प्रथम पद्य की सृष्टि होने के कारण कथा कहानियाँ भी पद्य के रूप में ही लिखी गईं। क्योंकि इन नवीन भाषाओं में गद्य का विकास समुचित रूप से न हो सका था। इन भाषाओं में पद्य-बद्ध जो कथा-कहानियाँ मिलती हैं, उनमें ऐतिहासिक, धार्मिक, और प्रेम मूलक हैं। हिन्दी का जन्म अपभ्रंश से हुआ है। हिन्दी में भी गद्य का जन्म बहुत पश्चात् हुआ है। अतः हिन्दी साहित्य में भी कथा और कहानियों का प्रारम्भिक स्वरूप पद्य के ही रूप में मिलता है।

हिन्दी-साहित्य का प्रारम्भ वीर गाथा काल से होता है। वीर गाथा काल में मुख्य रूप से दो प्रकार की प्रवृत्तियाँ पाई जाती हैं—वीरता मूलक, और शृंगार

हिन्दी में कथा का स्वरूप – वीर गाथा काल, भक्ति काल, और शृंगार काल

मूलक। वीर गाथा काल में इन प्रवृत्तियों को लेकर कई कथात्मक काव्यों की रचना की गई। इन कथात्मक काव्यों में प्रबन्ध काव्य और मुक्तक दोनों ही हैं। यद्यपि यह नहीं कहा जा सकता, कि यह कथात्मक काव्य उपन्यास हैं, पर यह अवश्य कहा जा सकता है, कि इन काव्यों के भीतर जो कथाएँ सञ्चरित हो रही हैं, उनमें उपन्यास के तत्त्व अवश्य विद्यमान हैं। 'भक्ति काल' में भी इसी प्रकार के कथात्मक काव्यों की रचना हुई है। 'भक्ति काल' के प्रेम आख्यानक काव्य अपना महत्व पूर्ण स्थान रखते हैं। यदि इन प्रेम आख्यानक काव्यों को गद्य के साँचे में ढाल दिया जाय, तो उनमें स्पष्टतः उपन्यास के तत्व निहित दिखाई देते हैं। रीति काल भी पद्य का ही युग था। रीति काल में भी कथा कहानियाँ पद्यों के रूप में ही लिखी गई हैं।

हिन्दी उपन्यास का वास्तविक इतिहास उस समय से प्रारम्भ होता है, जब से उसमें गद्य का आविर्भाव हुआ है। गद्य के जन्म के साथ ही साथ हिन्दी-साहित्य में उपन्यास का भी जन्म हुआ है। पर इस बात से अस्वीकार नहीं किया जा सकता, कि उपन्यास की प्रवृत्ति हिन्दी में उसके जन्म के समय से ही विद्यमान है।

हिन्दी उपन्यास—आदि काल

हिन्दी उपन्यास का वास्तविक इतिहास हिन्दी में गद्य के जन्म के साथ से प्रारंभ होता है। हिन्दी में गद्य का जन्म होने पर जिस प्रकार साहित्य के अन्यान्य अंगों का उद्भव और विकास हुआ है, उसी प्रकार उपन्यास का भी जन्म और उसका विकास हुआ है। गद्य और उपन्यास का अधिक संबंध है। साहित्य के अंगों में कथा और कहानी एक ऐसा अंग है, जिसका उद्भव और विकास गद्य के अभाव में सर्वथा असंभव है। कथा कहानी और उपन्यास का गठन जिन तत्त्वों, और अवयवों के आधार पर होता है, उन्हें गद्य की सबसे अधिक अपेक्षा रहती है। गद्य के अभाव में उनके पनपने को कौन कहे, उनका जन्म तक नहीं हो सकता। यही कारण है, कि किसी भी भाषा के साहित्य में उपन्यास का आविर्भाव उसी समय होता है, जब उस में गद्य का उद्भव होता है। हिन्दी में भी उपन्यास का आविर्भाव इसी सिद्धांत के आधार पर हुआ है। आविर्भाव ही नहीं हुआ है, वरन् विकास में भी इसी सिद्धांत की प्रधानता देखने को मिलती है, अर्थात् जन्म की भाँति ही हिन्दी उपन्यास का विकास भी गद्य के विकास के साथ ही साथ हुआ है।

हिन्दी उपन्यास के जन्म से लेकर और आज तक उपन्यास की जो सामग्री प्राप्त होती है, और जन्म से लेकर आज तक जो समय व्यतीत हुआ है, उसे हम हिन्दी उपन्यास के इतिहास के अंतर्गत लेते हैं। सुविधा और समीक्षा की दृष्टि से हम उसे दो कालों में विभक्त करते हैं—आदि काल और आधुनिक काल। आदि काल सन् १८०० से प्रारंभ होता है, और सन् १९१८ तक चलता है। आधुनिक काल सन् १९१८ से प्रारंभ हुआ माना जाता है, जो अभी अपनी गति पर है। सर्व प्रथम हम हिन्दी उपन्यास के आदिकाल पर दृष्टि डालेंगे, और यह देखेंगे, कि उसके भीतर किस प्रकार के उपन्यासों की रचना, और किनके द्वारा हुई है।

आदि काल के उपन्यास पर प्रकाश

हिन्दी उपन्यास का आदि काल वह काल है, जब हिन्दी उपन्यास का जन्म हुआ है। इस काल में हिन्दी उपन्यास ने जन्म लेकर डगमगाते तथा लड़खड़ाते हुए चलना सीखा है। इसी काल में उसकी कुछ गति भी हुई है। इस काल में जिन उपन्यासों की रचना हुई है, उन्हें हम दो भागों में विभक्त कर सकते हैं—मौलिक और अनुवादित। मौलिक उपन्यासों में अधिकतर ऐसे उपन्यास लिखे गये हैं, जिनमें

घटनाओं की प्रधानता है; दूसरे रूप में जिन्हें हम घटना प्रधान उपन्यास कह सकते हैं। इन उपन्यासों में तिलिस्मी, जासूसी, मनोरंजक, चमत्कारिक, और कौतुक प्रिय भावनाओं का अधिक समावेश है। चमत्कारिक और विस्मय पूर्ण घटनाओं से ही इन उपन्यासों का गठन हुआ है। विस्मय और चमत्कार उत्पन्न करना ही इन उपन्यासों का एक मात्र लक्ष्य है। इन चमत्कारिक उपन्यासों के बीच में कोई कोई ऐसे भी उपन्यास मिलते हैं, जिन्हें हम ऐतिहासिक और पौराणिक उपन्यास कह सकते हैं। पर इन उपन्यासों की संख्या बहुत ही अल्प है। आदिकाल के उपन्यासकारों की प्रवृत्ति मुख्य रूप से तिलिस्मी, जासूसी, चमत्कारिक, और कौतुक प्रिय उपन्यास लिखने की ओर ही रही है। अनुवादित रचनाओं में भी इसी प्रकार के उपन्यास अधिक मिलते हैं। इस युग में बंगला, और अँगरेजी से अधिकतर ऐसे ही उपन्यासों का अनुवाद हिन्दी साहित्य में हुआ है, जिन्हें हम तिलिस्मी और जासूसी उपन्यास कह सकते हैं। कुछ अनुवादकों ने ऐतिहासिक और पौराणिक उपन्यासों को भी सामने उपस्थित करने का प्रयत्न किया है।

आदि काल के उपन्यासकार

आदि काल में हिन्दी उपन्यास ने जन्म लेकर बड़ी द्रुत गति से विकास की ओर अपना चरण बढ़ाया है। हिंदी गद्य के विकास के साथ ही साथ उपन्यास ने भी बड़ी तीव्रता के साथ ऊन्नति की है। ज्यों ज्यों गद्य परिपुष्ट हुआ है, त्यों त्यों लोगों का ध्यान उपन्यास की रचना में प्रवृत्त होता गया है। आदिकाल के प्रारंभ से लेकर अंत तक सैकड़ों ऐसे उपन्यासकार हुए हैं, जिन्होंने उपन्यास की रचना में योग दिया है। यहाँ हम उनमें से कुछ प्रमुख उपन्यासकारों, और उनकी कृतियों पर समीक्षात्मक ढंग से प्रकाश डालने की चेष्टा करेंगे—

इंशाअल्लाहखाँ

इंशाअल्लाहखाँ ने सर्व प्रथम हिन्दी में 'रानी केतकी की कहानी' लिखी। इसके पूर्व लल्लू लाल, और सदल मिश्र ने संस्कृत की कई कथात्मक पुस्तकों का अनुवाद हिन्दी में किया था, पर मौलिक कहानी उपस्थित करने का श्रेय इंशा अल्लाहखाँ को ही है। उनकी यह कहानी प्रेम के तत्त्वों पर आधारित है। यद्यपि उसकी भाषा बहुत ही साधारण, और विशृंखलित है, किन्तु उसके भीतर कथात्मक गुण निहित हैं। अतः 'केतकी की कहानी' को ही यदि हम हिन्दी का प्रथम उपन्यास मान लें, तो अत्युक्ति न होगी। इसके पश्चात् उर्दू और फारसी की कई कथा-कहानियों का हिन्दी में प्रचार हुआ, जिनमें 'चहार दर्वेश', 'किस्सा साढ़े तीन यार' और 'बागो बहार' इत्यादि का मुख्य स्थान है। इन कथा कहानियों में किसी में प्रेम की प्रधानता थी, तो किसी में मनोरंजन की। किसी किसी का गठन चमत्कारिक और विस्मय पूर्ण तत्त्वों के आधार पर हुआ था। हिन्दी में जासूसी और तिलिस्मी उपन्यासों का स्रोत इन्हीं कथा-कहानियों से उद्भवित हुआ है।

भारतेंदु हरिश्चंद

भारतेंदु हरिश्चंद हिन्दी गद्य के जन्मदाता हैं। उपन्यास की ओर भी उनका पूर्ण ध्यान था। यद्यपि उनके द्वारा किसी मौलिक उपन्यास की रचना नहीं हो सकी

भारतेंदु हरिश्चंद्र हैं, पर उन्होंने उपन्यास-रचना के लिए लोगों को प्रोत्साहित अवश्य किया है। उनके प्रोत्साहन से उनके ही समय में कई मौलिक और अनूदित उपन्यासों की रचना विभिन्न लेखकों के द्वारा हुई है। उन्होंने अपने 'कविवचन सुधा' में, प्रोत्साहन की दृष्टि से ही उपन्यासों का प्रकाशन प्रारंभ किया था। उनके द्वारा मराठी और बँगला से अनूदित दो उपन्यास मिलते हैं, जिनका नाम 'पूर्ण प्रकाश-चन्द्र प्रभा' और 'राजसिंह' है।

श्री निवासदास ने 'परीक्षा गुरु' की रचना की है। 'परीक्षा गुरु' की कथा-वस्तु में जीवन के विविध अंगों और मन की विभिन्न प्रवृत्तियों का समावेश पाया जाता

श्री निवासदास है। यह पहला उपन्यास है, जिसमें कथावस्तु, चरित्र चित्रण, और वर्णन-शैली के क्षेत्र में परम्परा से आगे बढ़ने का प्रयत्न किया गया है। इसकी प्रमुख विशेषता यही है, कि इसमें प्रगति के तत्त्व पाए जाते हैं।

बालकृष्ण भट्ट ने दो उपन्यासों की रचना की है—नूतन ब्रह्मचारी, और सौ अजान एक सुजान। इनके यह दोनों ही उपन्यास उपदेशात्मक हैं। उनका लक्ष्य

बालकृष्ण भट्ट सद्वृत्ति, और नैतिकता का एक मात्र प्रचार है। इनमें उपन्यास के तत्त्व बहुत कम, किन्तु उपदेश के तत्त्व बहुत अधिक हैं।

देवकीनन्दन खत्री हिन्दी-साहित्य के प्रसिद्ध उपन्यासकार हैं। इनके पूर्व जिन उपन्यासों की रचना हुई है, उनमें औपन्यासिकता का अधिक अंशों में अभाव पाया

देवकीनंदन खत्री जाता है। सर्व प्रथम देवकीनंदन खत्री ने ही ऐसे उपन्यासों की रचना की, जिनमें सुन्दर और स्पष्ट औपन्यासिक तत्त्व देखने को मिलते हैं। देवकीनंदन खत्री के उपन्यासों के पश्चात् ही हिन्दी में उपन्यासों के निर्माण की धारा भी वेगवती रूप से प्रवाहित हुई है। देवकीनंदन खत्री के उपन्यासों ने हिंदी-साहित्य में एक क्रांति सी उपस्थित कर दी। उनकी 'चंद्रकांता' के द्वारा निर्माण और पठन-दोनों ही क्षेत्रों में महान् परिवर्तन उपस्थित हुआ है।

देवकीनंदन खत्री ने कई उपन्यासों की रचना की है, जिनमें चंद्रकांता और 'चंद्रकांता संतति' का महत्त्व पूर्ण स्थान है। यह दोनों ही उपन्यास चमत्कारिक और तिलिस्मी हैं। यद्यपि इन दोनों ही उपन्यासों का जीवन से कोई संबंध नहीं है, किन्तु हिंदी-साहित्य में इनका सबसे अधिक प्रचार हुआ है। कहा यह जाता है, कि कितने ही लोगों ने केवल इन उपन्यासों को पढ़ने के लिए ही हिंदी सीखी। इन उपन्यासों के द्वारा हिंदी के पाठकों की इच्छाओं में महान् परिवर्तन हुआ है। इनकी रचना से ही हिंदी-साहित्य में उपन्यास की वह धारा प्रवाहित हुई है, जिसे हम तिलिस्मी और जासूसी धारा कहते हैं। जीवन की व्यावहारिकता से इन उपन्यासों का कोई संबंध नहीं है। चरित्र चित्रण की दृष्टि से भी इनका स्थान निम्न-कोटि का है। इनमें केवल चमत्कारिक और ऐयारी पूर्ण घटनाओं का ऐसा व्यवस्थित और कौशल पूर्ण जाल बिछा हुआ मिलता है, जिसमें रह रह कर संयमी मन भी उलझ जाता है।

गोपालराम गहमरी की औपन्यासिक सम्पत्ति दो वर्गों में विभक्त की जा सकती है—मौलिक, और अनुवादित। देवकीनंदन खत्री ने अपने तिलिस्मी उपन्यासों के

गोपालराम गहमरी

द्वारा ऐयारी की जो धारा बहाई थी, उसमें गोपालराम गहमरी ने अपने जासूसी उपन्यासों के द्वारा एक और धारा मिलाई है। देवकीनंदन खत्री की धारा जहाँ ऐयारी की भावनाओं से परिपूर्ण है, वहाँ गहमरीजी के प्रवाह में बुद्धि के तत्व पाए जाते हैं। खत्री का प्रवाह एक मात्र चमत्कारिकता के ऊपर निर्भर है, पर गहमरी के प्रवाह में चमत्कारिकता और मनोरंजकता के साथ ही साथ बुद्धि के कौशल पूर्ण तत्व भी हैं। गहमरी के प्रवाह में बुद्धि के सूक्ष्म और विस्मय पूर्ण तरंगों का खेल सुंदरता के साथ देखने को मिलता है। गहमरीजी ने दर्जनों जासूसी उपन्यासों की रचना की है। उनके जासूसी उपन्यासों पर अँगरेजी जासूसी उपन्यासों की छाप है। उन्होंने अँगरेजी जासूसी उपन्यासों का अनुवाद भी हिंदी में उपस्थित किया है। उन्होंने जासूसी उपन्यासों के प्रचार के लिए 'जासूस' नाम का एक पत्र भी प्रकाशित किया था।

किशोरीलाल गोस्वामी ने छोटे बड़े मिला कर ६५ उपन्यासों की रचना की है, जिनमें कुछ के नाम इस प्रकार हैं—त्रिवेणी, स्वर्गीय कुसुम वा कुसुम कुमारी,

किशोरीलाल गोस्वामी

हृदयहारिणी वा आदर्श रमणी, लवंगलता वा आदर्श बाला तारा, रजिया बेगम, लीलावती वा आदर्शसती, राजकुमारी, तपस्विनी वा कुटीरवासिनी, और जिंदे की लाश। उनके उपन्यासों के विषय को देखते हुए हम उन्हें तीन भागों में विभक्त कर सकते हैं—सामाजिक, ऐतिहासिक और तिलिस्मी। ऐतिहासिक उपन्यासों की अपेक्षा सामाजिक उपन्यासों की रचना में उन्हें अधिक सफलता प्राप्त हुई है। उन्होंने अपने सामाजिक उपन्यासों में समाज की विकृतियों का चित्रण करते हुए उसे आदर्श की ओर ले जाने का प्रयत्न किया है। उनके ऐतिहासिक उपन्यास साधारण कोटि के हैं। तिलिस्मी उपन्यासों में उन्होंने अपने पूर्व की परम्परा का पालन किया है।

हिन्दी साहित्य में किशोरीलाल गोस्वामी पहले उपन्यासकार हैं, जिनकी रचनाओं में सामाजिक चित्रण के रूप में जीवन की अभिव्यक्ति हुई है। सर्व प्रथम उनकी ही रचनाओं में, किसी न किसी बहाने जीवन की ग्रंथियों को सुलझाने का प्रयत्न किया गया है। इस दृष्टि से किशोरीलाल गोस्वामी का स्थान उनके पूर्ववर्ती उपन्यासकारों में सर्वश्रेष्ठ है। उन्होंने उपन्यास के क्षेत्र में, पूर्ण रूप से उस परंपरा का उल्लङ्घन किया है, जो अब तक चली आ रही थी। यद्यपि प्रेम कथाओं के क्षेत्र में वे भी अपने पूर्ववर्ती उपन्यासकारों की भाँति ही हीन वासनाओं को ही लेकर उलझे हुए दिखाई देते हैं, पर इसमें संदेह नहीं, कि उनकी अभिव्यक्ति में नवीनता के तत्व मिलते हैं। उनकी कथावस्तु, उनकी वर्णन शैली, उनके पात्र और उनके पात्रों के संलाप—सबका सङ्गठन एक नवीन वातावरण में हुआ है।

उस वातावरण में हुआ है, जिसमें जीवन का स्वर गुंजित होता हुआ सुनाई देता है।

पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय यद्यपि उपन्यासकार नहीं थे, पर उन्होंने इस क्षेत्र में भी प्रयत्न किया है। उनके तीन उपन्यास अधिक प्रसिद्ध हैं—ठेठ हिंदी का ठाट, पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय बेनिस का बाँका और अधखिला फूल। इन उपन्यासों में उन्होंने जितना अधिक ध्यान भाषा की विलक्षणता पर दिया है, उतना औपन्यासिक तत्वों के विकास पर नहीं। अतः औपन्यासिक कला की दृष्टि से उनकी इन रचनाओं का अधिक महत्व नहीं है।

मेहता लजाराम शर्मा ने कई उपदेशात्मक उपन्यासों की रचना की है, जिनमें हिन्दू गृहस्थ, आदर्श दम्पति, और बिगड़े का सुधार का अधिक महत्व पूर्ण स्थान मेहतालजाराम शर्मा है। इन उपन्यासों में औपन्यासिक गुणों की अपेक्षा उपदेश के तत्व ही अधिक मिलते हैं। अतः उपन्यास कला की दृष्टि से इनका स्थान निम्न कोटि का ही ठहरता है।

ब्रजनंदनसहाय ने 'सौंदर्योपासक', 'राधाकांत' और 'राजेन्द्रमालती' इत्यादि उपन्यासों की रचना की है। इनके उपन्यासों में भावों की प्रधानता है। इन्होंने ब्रजनंदन सहाय चरित्र, और घटना की ओर ध्यान न देकर केवल भावों को ही अपने उपन्यासों का आधार बनाया है। अतः इनके उपन्यासों में भी औपन्यासिक कला के तत्व बहुत कम मिलते हैं।

आदिकाल के उपन्यास के द्वितीय भाग में वे रचनाएँ आती हैं, जो दूसरी भाषाओं से अनुवादित होकर हिंदी साहित्य में उपस्थित की गई हैं। अनुवादित अनूदित उपन्यास कृतियों को हम तीन वर्गों में विभक्त कर सकते हैं—ऐतिहासिक, सामाजिक, और तिलिस्मी तथा जासूसी। इन रचनाओं की मूल भाषाएँ संस्कृत, अँगरेजी, बङ्गला, और मराठी इत्यादि हैं। भारतेंदुजी के समकालीन उपन्यासकारों ने अधिकतर संस्कृत, और मराठी भाषाओं की पुस्तकों का अनुवाद किया है। भारतेंदुजी के पश्चात्, देवकीनंदन खत्री के समय में बङ्गाली और अँगरेजी उपन्यासों का अनुवाद हुआ है। अनुवाद कर्त्ताओं में बाबू गदाधरसिंह, राधाकृष्णदास, प्रताप नारायणमिश्र, अयोध्यासिंह उपाध्याय, कार्तिक प्रसाद खत्री, गोपालराम गहमरी, रामकृष्णवर्मा, और लजाराम शर्मा इत्यादि का महत्त्वपूर्ण स्थान है।

आदिकाल में अन्यान्य भाषाओं की जिन कृतियों का हिंदी में अनुवाद हुआ है, उनके द्वारा हिंदी के उपन्यास साहित्य को दो लाभ हुआ है। एक तो यह, कि उनके द्वारा हिंदी-साहित्य में औपन्यासिक प्रवृत्ति उत्पन्न हुई है। लेखकों और पाठकों में भी उपन्यास के संबंध में विभिन्न दृष्टिकोण बने हैं, और दूसरा यह, कि उनसे भाषा के परिमार्जन, गठन, और प्रचार में अधिक सहायता प्राप्त हुई है। इन दोनों ही दृष्टियों से उक्त अनुवादित कृतियों का महत्व पूर्ण स्थान है। हिंदी के उस आदि काल

में जब हिन्दी उपन्यास का पौदा अंकुरित हो रहा था, उक्त अनुवादित कृतियों के द्वारा, उसे विकास के तत्त्व प्राप्त हुए हैं। अतः साहित्यिक दृष्टि से इन अनूदित कृतियों का अधिक मूल्य न होते हुए भी इनका प्रचारात्मक मूल्य अधिक आदर करने के योग्य है।

आदि काल के उपन्यास साहित्य पर जब हम दृष्टिपात करते हैं, तो उसमें चार प्रकार के उपन्यास पाते हैं—सामाजिक, चमत्कारिक, ऐतिहासिक और भावात्मक।

आदि काल के उपन्यास साहित्य पर एक दृष्टि

सामाजिक उपन्यास के लेखकों में श्री निवासदास, श्री बालकृष्ण भट्ट, और पंडित प्रतापनारायण मिश्र इत्यादि का नाम विशेष रूप से लिया जा सकता है। इन उपन्यासकारों ने अपनी रचनाओं के लिए समाज की सामयिक विकृतियों को ही ग्रहण किया है। जैसे—अँगरेजी शिक्षा के दोष, विधवा विवाह, बाल विवाह, दुर्व्यसन, और वेश्या प्रेम इत्यादि। उन्होंने अपनी कथा वस्तुओं का सङ्गठन समाज की इन्हीं विकृतियों को आधार मान कर किया है। कथावस्तु के वर्णन में इनका ध्यान मुख्य रूप से विकृतियों के चित्रण और उनके निवारण की ही ओर दिखाई पड़ता है। अतः इनकी रचनाओं में कथावस्तु के विकास का अभाव पाया जाता है। यद्यपि इन लेखकों ने चरित्र-चित्रण की ओर कुछ कुछ ध्यान दिया है, पर उपदेश की ओर अधिक प्रवृत्ति होने के कारण चरित्र का विकास भी उनकी रचनाओं में नहीं हो सका है। जहाँ तक उपदेश और शिक्षा का प्रश्न है, इनकी रचनाएँ एक महत्व का स्थान रखती हैं, पर औपन्यासिकता की दृष्टि से इनका स्थान निम्नकोटि का ही माना जा सकता है। यह होते हुए भी इन रचनाओं से आदि काल में उपन्यास के युग निर्माण में अधिक सहायता प्राप्त हो सकी है।

चमत्कारिक उपन्यासों में वे उपन्यास आते हैं, जिन्हें हम तिलिस्मी, जासूसी, और ऐयारी के उपन्यास कहते हैं। आदि काल में इन उपन्यासों की रचना में जिन्होंने अधिक भाग लिया है, उनमें देवकीनंदन खत्री, गोपालराम गहमरी, कार्तिक प्रसाद खत्री, और रामकृष्ण वर्मा इत्यादि का महत्व पूर्ण स्थान है। चमत्कारिक उपन्यासों के दो वर्ग हैं—तिलिस्मी और जासूसी। तिलिस्मी उपन्यासों के प्रवर्तक देवकीनंदन खत्री हैं। इन उपन्यासों की सृष्टि चमत्कारिक घटनाओं के आधार पर हुई है। इनमें प्रेम, साहस और वीरता इत्यादि भावों का चित्रण विस्मयकारी ढंग से किया गया है। विस्मय और चमत्कार उत्पन्न करना ही इन उपन्यासों का एक मात्र लक्ष्य है। विस्मय और चमत्कार उत्पन्न करने के लिए, इन उपन्यासों में ऐसी युक्तियों से काम लिया गया है, जिन्हें हम अस्वाभाविक और अव्यावहारिक कह सकते हैं।

ऐतिहासिक उपन्यासों की रचना प्रायः ऐसे कथानकों के आधार पर की गई है, जिनमें हिंदू जीवन का उत्कर्ष पाया जाता है। पात्रों में हिंदू और मुसलमान दो वर्गों के पात्र हैं। पात्रों के चित्रण में यवन पात्रों का चरित्र चित्रण करते हुए

उन पर कीचड़ डालने का प्रयत्न दिखाई देता है। इसके विपरीत हिंदू पात्रों का उत्कर्ष पग-पग पर दिखाई पड़ता है। ऐसा लगता है, कि इन उपन्यासों का एक ध्येय यवन शासकों के अत्याचारों, और उनके कदाचारों का एक मात्र चित्रण करना ही था; परिणाम स्वरूप उपन्यासकारों का ध्यान केवल एक इसी बात के चित्रण में केंद्रित दिखाई पड़ता है। कथावस्तु और चरित्र का विकास इन उपन्यासों में भी नहीं मिलता। पंडित किशोरीलाल गोस्वामी ने आदि काल में इस कोटि के उपन्यासों के निर्माण में विशेष संलग्नता दिखाई है। ब्रजनंदसहाय ने 'भाव प्रधान' उपन्यास लिखे हैं। ठाकुर जगमोहनसिंह के 'श्याम स्वप्न' में भी भाव की ही प्रधानता मिलती है। इन उपन्यासों में चरित्र के प्रति पूर्ण रूप से उदासीनता दिखाई पड़ती है।

हिन्दी उपन्यास—आधुनिक काल

हिन्दी उपन्यास के द्वितीय युग को आधुनिक काल कहते हैं। आधुनिक काल को १९१८ ई० से प्रारम्भ हुआ मानते हैं, जो अब तक चल रहा है। आधुनिक काल को हम हिन्दी-उपन्यास की उन्नति का काल भी कह सकते हैं। आदि काल में हिन्दी के जिस उपन्यास ने जन्म धारण किया था, उसने आधुनिक काल में प्रत्येक प्रकार से पूर्ण उन्नति की है। आदि काल में हिन्दी उपन्यास का प्रारम्भिक युग था। आदि काल में, उसने जन्म धारण किया था, और जन्म धारण करके चलने तथा आगे बढ़ने का अभ्यास किया था। उसकी गति केवल घटना-प्रधान उपन्यासों तक ही सीमित थी। उसका लक्ष्य एक मात्र मनोरंजन था। विस्मय और चमत्कार पूर्ण घटनाओं का संसार बसा कर मनुष्य के मन में कुतूहल और विस्मय उत्पन्न करना ही उसे प्रिय था। कुतूहल उत्पन्न करने में वह स्वाभाविक और अस्वाभाविक—सभी रीतियों से काम लेता था। यह बात नहीं, कि वह मनुष्य के मन के विकारों से दूर था—हर्ष, प्रेम, वियोग, उत्साह, निराशा, और आशा इत्यादि का चित्रण उसमें भी मिलता है, किन्तु मिलता है अस्वाभाविकता, और अव्यावहारिकता की छाया में। अतः जीवन के लिए उसका कोई मूल्य नहीं है। मनुष्य के मन के इन विकारों, और उद्वेगों का उसमें जितना संबंध विस्मय पूर्ण घटनाओं से है, उतना जीवन से नहीं; वरन् वास्तविक बात तो यह है, कि जीवन से उनका संबंध किंचित मात्र भी नहीं है। परिणाम स्वरूप आदि काल के उपन्यासों में जीवन की झलक कहीं भी देखने को नहीं मिलती। आदि काल के उपन्यासों में या तो उपदेश की तरंगे उठती हुई दिखाई देती हैं, या तिलिस्मी, ऐयारी और जासूसी का जाल बिछा हुआ मिलता है। आदि काल की रचनाएँ उपदेश और तिलिस्मी तक ही सीमित हैं।

आधुनिक काल के उपन्यास की एक झलक

आदि काल हिन्दी-उपन्यास का शैशव काल था। शैशव काल की भाँति ही आदि काल में रचनाएँ भी हुई हैं। आदि काल की रचनाओं पर स्पष्टतः शैशवत्व की छाप दिखाई पड़ती है। आधुनिक काल हिन्दी उपन्यास का युवा और प्रौढ़ काल है। इस युग में हिन्दी उपन्यास प्रत्येक प्रकार से परिपुष्ट हुआ है। आदि काल की सीमा से निकल कर, इस युग में उसने पूर्ण रूप से जीवन के क्षेत्र में प्रवेश किया

है। हिन्दी-उपन्यास को जीवन के क्षेत्र में लाने का श्रेय स्वर्गीय प्रेमचंदजी को है। सर्व प्रथम प्रेमचंदजी ने ही जीवन और हिन्दी-उपन्यास का परिचय एक-दूसरे से कराया। यद्यपि वे हिन्दी उपन्यास को जीवन के क्षेत्र में लाकर केवल उसके बाह्य सतह पर ही गए, और सामाजिक तथा राष्ट्रीय समस्याओं के चित्रण में ही उन्होंने अपना युग समाप्त कर दिया, किन्तु उन्होंने इस रूप में जो कुछ भी किया, वह महान् और प्रशंसनीय है। आज के मनोवैज्ञानिक उपन्यासकार उनकी रचनाओं के संबंध में जो भी धारणा बनाएँ, पर यह निर्विवाद रूप से कहा जा सकता है, कि हिन्दी उपन्यास का भवन आज जिस नींव पर खड़ा है, उसके भीतर स्वर्गीय प्रेमचंदजी की रचनाएँ ही जुटी हुई हैं।

स्वर्गीय प्रेमचन्द और उनके सहयोगियों ने सामाजिक समस्याओं को ही अपनी रचनाओं का आधार बनाया है। उनकी कथा-वस्तु में सामाजिक समस्याओं के ही तत्व अधिक मिलते हैं। चरित्र और घटनाओं का विकास उनकी रचनाओं में प्रमुख रूप से मिलता है। उनकी रचनाओं में चरित्र के द्वारा ही कथा-वस्तु का विकास हुआ है। घटनाएँ बहुत ही अप्राधान्य हैं। चरित्र को विकसित करने में प्रेमचंदजी और उनके सहयोगी मन के भीतर अधिक दूर तक नहीं प्रवेश कर सके हैं, पर उन्होंने पथ का प्रदर्शन अवश्य किया है। प्रेमचन्द और उनके सहयोगियों के पश्चात् जब स्वर्गीय प्रसाद जी रंग मंच पर आए, तब उन्होंने हिन्दी उपन्यास को भाव के साँचे में ढाल दिया। उन्होंने हिन्दी उपन्यास पर भाव की तूलिका फेरते हुए उसमें आदर्श और यथार्थ का समन्वय किया है। स्वर्गीय प्रसादजी के पश्चात् हिन्दी उपन्यास में महान् परिवर्तन दिखाई पड़ता है। इस परिवर्तन का एक मात्र कारण नवीन जीवन का प्रभाव है। अपने इस परिवर्तित युग में, हिन्दी उपन्यास पूर्ण रूप से जीवन के क्षेत्र में उतरा हुआ दिखाई पड़ता है। पहले जहाँ वह सामाजिक समस्याओं को लेकर व्यस्त रहता था; वहाँ अब वह व्यक्तिगत जीवन की समस्याओं का समाधान खोजने में व्यस्त है। आज उसकी दृष्टि में समष्टि की महत्ता नहीं, व्यष्टि का गौरव है। आज वह व्यक्ति के जीवन की समस्याओं को ही प्रमुखता प्रदान करता है। इतना ही नहीं, आज उसका लक्ष्य मनुष्य का मन, और उसका अंतर्जगत है। आज वह चरित्र चित्रण में मन के द्वन्द्वों को अपना आधार बनाता है। आज उसके चित्रण की शैली भी बदली हुई है। आज उसके चित्रण में वर्णन की नहीं, मनोवैज्ञानिकता की प्रधानता है। आज वह मनोवैज्ञानिक ढंग से मन के द्वन्द्वों और विचारों को देखता है, और मन के द्वन्द्वों तथा विचारों को ही आधार मान कर जीवन की समस्याओं को सुलझाने का प्रयत्न करता है।

आधुनिक युग के उपन्यास साहित्य की रचना में दर्जनों यशस्वी लेखक योग दे रहे हैं। इन लेखकों में कई ऐसे लेखक हैं, जिन्होंने हिन्दी उपन्यास की रगों में

आधुनिक काल के उपन्यासकार

जीवन और प्राण का संचार किया है। आधुनिक युग स्वर्गीय प्रेमचन्दजी से प्रारम्भ होता है। स्वर्गीय प्रेमचन्द

जी ने ही आधुनिक युग की नींव डाली है। आधुनिक युग के उपन्यास में जितनी प्रवृत्तियाँ पाई जाती हैं, उनकी सर्व प्रथम झलक स्वर्गीय प्रेमचन्दजी की रचनाओं में ही दिखाई पड़ती है। अतः आधुनिक उपन्यासों की प्रवृत्तियों का जन्मदाता हम स्वर्गीय प्रेमचन्दजी को ही मानते हैं।

स्वर्गीय प्रेमचन्द आधुनिक युग के स्रष्टा हैं। आधुनिक युग के उपन्यासों में जो विशेषताएँ दिखाई पड़ती हैं, उनकी सृष्टि प्रेमचन्दजी के ही द्वारा हुई है।

स्वर्गीय प्रेमचन्द प्रेमचन्द जी ही हिन्दी उपन्यास को उस धारा को जीवन की ओर मोड़ने में समर्थ हुए हैं, जो उनके पूर्व चमत्कार और विस्मय तक ही सीमित थी। प्रेम चंद जी के पूर्व हिन्दी में जितने उपन्यास लिखे गए थे, उनका जीवन की व्यावहारिकता से कोई संबन्ध नहीं था। उनमें जीवन के उन द्वन्दों का नितांत अभाव है, जिनके कारण जीवन निरंतर मुखरित रहा करता है। उनके पूर्व के उपन्यासों में कल्पना की एक ऐयाशी—एक विलास दिखाई पड़ता है, जिसका न तो कोई अर्थ है, और न कोई उपयोगिता है। प्रेमचंदजी के पूर्व के उपन्यासों के पात्र या तो बड़े बड़े अमीर हैं, या राजा और रईस हैं। ऐतिहासिक और उपदेशात्मक उपन्यासों में भी राजा रईसों और धनिकों का ही चित्रण मिलता है। राजा रईसों, और धनिकों के अतिरिक्त समाज में इतर वर्ग के लोग भी रहते हैं, इसकी झलक तक आदि काल के उपन्यासों में नहीं मिलती।

सर्व प्रथम प्रेमचंदजी ने ही हिन्दी उपन्यास का संबन्ध सामाजिकता के साथ स्थापित किया। सर्व प्रथम उन्होंने ही मानव जीवन का चित्रण हिन्दी उपन्यास में किया। सर्व प्रथम उन्होंने ही समाज के उस वर्ग का चित्रण हिन्दी उपन्यास में किया जिसे हम दलित, और उपेक्षित वर्ग कहते हैं, दूसरे शब्दों में सर्व प्रथम उन्होंने ही उपन्यास में किसानों, गरीबों, मजदूरों, और उपेक्षितों के दुख-सुख का चित्रण किया। उन्होंने चित्रण के साथ ही उन परिस्थितियों पर भी विचार किया, जिनके कारण समाज में पीड़ितों और बुभुक्षितों की सृष्टि हुई है। उन्होंने केवल विचार ही नहीं किया है, वरन् उनके दुखों के निवारण के लिए युक्तियाँ भी ढूँढ़ी हैं। एक ओर उन्होंने किसानों, गरीबों, मजदूरों, और पीड़ितों के दुख-सुख का चित्रण किया है, दूसरी ओर उन्होंने राजा, रईसों, पूँजीपतियों, सेठ साहुकारों, और जमींदारों के विलास पूर्ण जीवन पर भी प्रकाश डाला है। इस प्रकार उन्होंने पीड़ितों और पीड़कों-दोनों ही वर्गों के पात्रों को लेकर अपने उपन्यासों का संगठन किया है। उन्होंने दोनों ही वर्गों के मनुष्यों के जीवन पर प्रकाश डाल कर बड़ी कुशलता के साथ उन विकारों, और विकृतियों को सामने उपस्थित किया है, जिनके कारण समाज की जर्जरता, और निर्बलता अपनी सीमा को पार कर गई है। उन्होंने विकारों, और विकृतियों पर प्रकाश डालते हुए समाज को आदर्श की ओर ले जाने का प्रयत्न किया है। उनके उपन्यासों में एक ओर वास्तविकता और तथ्य का चित्रण है, दूसरी ओर आदर्श की पुकार है। उनकी वास्तविकता और उनके तथ्य में आदर्श सन्निहित

है। उन्होंने जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में वास्तविकता, तथ्य और आदर्श का समन्वय बड़े कौशल के साथ किया है।

प्रेमचंदजी के उपन्यासों में सेवा सदन, वरदान, प्रेमाश्रम, रंगभूमि, काया कल्प, कर्मभूमि, निर्मला, प्रतिज्ञा, गबन, और गोदान इत्यादि अधिक प्रसिद्ध हैं। उपन्यासों के अतिरिक्त प्रेमचंदजी ने सैकड़ों कहानियों की भी रचना की है। उनकी कहानियों के भी कई संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं, जिनमें 'पंच परमेश्वर, प्रेमद्वादशी, प्रेमपूर्णिमा, प्रेमचतुर्थी, मानसरोवर ५ भाग, अग्नि समाधि, प्रेमगंगा, सप्त सुमन, और शुभ्र सरोज इत्यादि अधिक प्रसिद्ध हैं।

'सेवा सदन' प्रेमचंदजी का पहला उपन्यास है। इसके पूर्व उनका एक छोटा उपन्यास 'प्रेम' प्रकाशित हुआ था, जिसमें विधवाओं की दयनीय स्थिति का चित्रण था। 'प्रेम' का विकसित और परिमार्जित स्वरूप 'सेवा सदन' है। 'सेवा सदन' का निर्माण सामाजिकता की पृष्ठभूमि पर किया गया है। इसकी कथावस्तु दहेज की प्रथा पर आधारित है। कथावस्तु में ऐसे तत्वों का समावेश है, जिनसे दहेज की कुप्रथाओं के प्रभाव पूर्ण और मार्मिक चित्र बनते हैं। पात्रों में कृष्णचंद्र, सुमन, विट्ठलदास, और शांता इत्यादि मुख्य हैं। प्रमुख पात्र के रूप में 'सुमन' का ही नाम लिया जा सकता है। सुमन के ही जीवन को केन्द्र-बिंदु मान कर उपन्यास की रचना की गई है। आदि से लेकर अंत तक 'सुमन' के जीवन के मार्मिक चित्र मिलते हैं। पात्रों का चरित्र चित्रण सजीवता की स्थिति, और वातावरण में किया गया है। सभी पात्र प्रभाव पूर्ण हैं, और प्रभाव पूर्ण वातावरण में प्रभाव पूर्ण तथा यथार्थ चित्रों की सृष्टि करते हैं।

'वरदान' प्रेमचंदजी का द्वितीय उपन्यास है। 'वरदान' की रचना 'सेवा सदन' के पहले हुई थी। किन्तु प्रकाशन 'सेवा सदन' के पश्चात् हुआ। 'वरदान' में उपन्यास कला के वे तत्व नहीं मिलते, जो 'सेवा सदन' में प्राप्त होते हैं। 'वरदान' में 'सेवा सदन' से निम्नकोटि की कला देखने को मिलती है। 'वरदान' का यह अभाव 'प्रेमाश्रम' में भली भाँति पूर्ण हो जाता है। 'प्रेमाश्रम' प्रेमचंदजी की वह कृति है, जिसमें उनकी प्रतिभा और औपन्यासिक कला का पूर्ण विकास देखने को मिलता है। 'प्रेमाश्रम' की रचना के पश्चात् ही प्रेमचंदजी को वह ख्याति प्राप्त हुई, जिसके कारण वे हिन्दी-साहित्य में युग-युगों के लिए अमर बन गए हैं। 'प्रेमाश्रम' का निर्माण किसानों की समस्याओं को लेकर हुआ है। जैसे—किसानों की गरीबी, जमींदारों के उन पर अत्याचार, पुलिस के हथकंडे, और वकीलों की लूट इत्यादि। आदि से लेकर अन्त तक कथावस्तु का निर्माण इन्हीं तत्वों से हुआ है। कथावस्तु को बनाने वाले सभी तत्व अधिक प्रभाव पूर्ण और मार्मिक हैं। परिणाम स्वरूप कथावस्तु अधिक मार्मिक, और प्रभाव पूर्ण है। पात्रों में माधा-शङ्कर, प्रभाशङ्कर, ज्ञानशङ्कर, और प्रेमशङ्कर इत्यादि मुख्य हैं। स्त्री पात्रों में भी कई स्त्रियों का बार-बार नाम आता है। जैसे—विद्यावती, रानी और गायत्री

इत्यादि। यों तो सभी पात्र प्रभाव पूर्ण हैं, और उनके चरित्रों के द्वारा यथार्थ चित्र बनते हैं, पर अधिकांश पात्र ऐसे हैं, जो एक ही स्थिति में रहते हैं। इन पात्रों पर न तो घटनाओं का ही प्रभाव पड़ता है; और न वे किसी विशेष परिस्थिति से प्रभावित होते हैं। आदि से लेकर अंत तक वे एक ही स्थिति में दिखाई देते हैं। अतः उनमें सजीवता का अभाव दिखाई पड़ता है। 'प्रेमाश्रम' में एक और बात खटकती है, और वह है, आत्म हत्या संबंधी घटनाओं की अधिकता आदि से लेकर अंत तक कई स्त्री पात्रों ने आत्म हत्याएँ की हैं। इसमें उनकी विवशता' और दयनीयता पर प्रकाश अवश्य पड़ता है, पर साथ ही चरित्र की निर्बलता भी ज्ञात होती है। सामाजिक दृष्टिकोण से भी इस प्रकार की घटनाओं के आधिक्य का समर्थन नहीं किया जा सकता।

'प्रेमाश्रम' के पश्चात् रंगभूमि सामने उपस्थित हुई है। 'रंगभूमि' में प्रेमचंद जी अपने परिवर्तित स्वरूप में है। अभी तक उनका क्षेत्र समाज था, जो किसी अर्थ में 'संकीर्ण' और 'संकुचित' कहा जा सकता है। 'प्रेमाश्रम' तक उनकी प्रतिभा की पहुँच सामाजिक समस्याओं ही तक थी। किन्तु 'रंगभूमि' में उनकी औपन्यासिक प्रतिभा सामाजिक समस्याओं के संकीर्ण घेरे को तोड़ कर राष्ट्र के विशाल प्रांगण में विचरण करती हुई दिखाई देती है। 'रंगभूमि' की कथा वस्तु का संगठन विशालता, आदर्श और मानवता के आधार पर किया गया है। यद्यपि कथावस्तु के संगठन में ऐसे तत्वों का भी समावेश है, जो स्वेच्छाचारी अधिकारियों के अत्याचारों पर प्रकाश डालते हैं, पर वीभत्स और घृणा की अपेक्षा उसमें मानवता और उदारता के ही तत्व अधिक मिलते हैं। 'रंगभूमि' की कथावस्तु सामयिक है। उसमें युग का चित्र है। अतः यह नहीं कहा जा सकता, कि उसके प्रभाव की अखंडता सदा बनी रहेगी, पर इसमें संदेह नहीं कि उसमें युग का प्रभाव पूर्ण चित्र है। हिन्दू मुसलिम ऐक्यता, किसानों की दयनीयता, स्वेच्छाचारी अधिकारियों के अत्याचार की नृशंसता, भारतीय नरेशों का अँगरेजों के हाथ में कठपुतली की भाँति नाचना, सत्याग्रहियों की वीरता, अत्याचार को सहन करने में उनकी धीरता, और कष्ट सहिष्णुता इत्यादि के चित्र रंगभूमि की कथावस्तु में मार्मिकता के साथ उभड़ पड़े हैं, जिससे 'रंगभूमि' की कथा वस्तु अधिक मार्मिक रोचक, और आकर्षक बन गई है। कथावस्तु पर युग का प्रतिबिम्ब होने के कारण उसकी उपादेयता में पंख लग गए हैं। पात्रों में खरे, भिटुआ, और सोफिया का महत्व पूर्ण स्थान है। रंगभूमि के आदर्श पात्र गांधीवाद के साँचे में ढले हुए हैं। एक ओर उनमें पार्थिव जीवन के लिए उत्साह, है, और दूसरी ओर अध्यात्म के प्रति उनके हृदय में निष्ठा है, इसी बात को हम इस रूप में भी कह सकते हैं, कि उन्होंने अध्यात्म की पृष्ठभूमि पर स्थित हो करके ही जीवन की ओर दृष्टिपात किया है। 'रंगभूमि' के सभी पात्र आदर्शवादी हैं। उनमें सजीवता, और स्फूर्ति है। त्याग और प्रेम ही उनके जीवन का व्रत है। सोफिया में उच्चकोटि की भावना है। उसका जीवन सेवा, त्याग, और देश प्रेम का जीवन है। ईसाई

हो करके भी वह भारतीय संस्कृति से अधिक प्रेम करती है। पूरे उपन्यास में, उसका चरित्र प्रेम, त्याग, और सेवा के ही चिह्न बनाता है।

'रंगभूमि' के पश्चात् 'कायाकल्प' के दर्शन होते हैं। 'कायाकल्प' की कथा-वस्तु के प्राचीनतम विश्वासों, और अवस्थाओं के तत्त्व हैं। उसकी कथा के मूल में पुनर्जन्म की भावना है। विकासवाद के सिद्धांत का भी कायाकल्प में प्रतिपादन हुआ है। अध्यात्मवाद के चित्र भी कायाकल्प की कथावस्तु में मिलते हैं। पात्रों में देव प्रिया, ख्वाजा महमूद, और यशोदानंद का महत्त्व पूर्ण स्थान है। अपने इस उपन्यास में भी प्रेमचन्दजी ने 'आदर्शवाद' को ही अपना लक्ष्य माना है। कायाकल्प में उनका लक्ष्य अधिक विस्तृत दिखाई देता है। कायाकल्प में उन्होंने ईश्वरता, और अध्यात्मवादी के द्वारा हिन्दू मुसलिम ऐक्य को सुदृढ़ बनाने का प्रयत्न किया है। हिन्दू और मुसलमानों को ऐक्यता तथा मानवता के सूत्र में ग्रथित करने के उद्देश्य से ही उन्होंने अपनी कथावस्तु में पुनर्जन्म के सिद्धांत को ग्रहण किया है।

'कायाकल्प' के पश्चात् 'निर्मला' और 'प्रतिज्ञा' के दर्शन होते हैं। यह दोनों ही लघु काम हैं, और सामाजिक विकृतियों को मान कर लिखे गए हैं। 'निर्मला' में विधुर विवाह के दुष्परिणाम का और 'प्रतिज्ञा' में प्रेम तथा कर्त्तव्य का संमिलित चित्र है। इसके पश्चात् 'गबन' का निर्माण हुआ है। 'गबन' प्रेमचंदजी मूल्यवान कृति है। 'गबन' में प्रेमचंदजी की प्रतिभा और उनकी औपन्यासिक कला का विकास सुन्दरता के साथ हुआ है। 'गबन' की कथावस्तु अधिक सुगठित, नई युक्ति, और व्यवस्थित है। कथावस्तु का आधार मानव चरित्र की दुर्बलता है। कथावस्तु में परिस्थितियों की प्रबलता, और मानव चरित्र की दुर्बलता दोनों के ही तत्त्व साथ साथ लगे हुए हैं। दोनों का ही संतुलन कथावस्तु में बड़ी विधि के साथ किया गया है। पात्रों में जालपा, रमानाथ, और देवीदीन इत्यादि का प्रमुख स्थान है। 'जालपा' और रमानाथ के चरित्र चित्रण में स्वाभाविकता फूट उठी है। अन्यान्य उपन्यासों की भाँति ही 'गबन' का लक्ष्य भी आदर्श है। 'गबन' में यथार्थवादी दृष्टिकोण भी पर्याप्त रूप में मिलता है, जो आदर्श की ओर उन्मुख है।

'कर्मभूमि' में भी आदर्शवाद का ही पृष्ठ-पोषण किया है। 'कर्मभूमि' की कथा वस्तु में भी सामाजिक और राष्ट्रीय तत्त्वों का समावेश हुआ है। 'प्रेमचंदजी' का अंतिम उपन्यास 'गोदान' है। 'गोदान' की कथावस्तु में ग्रामीण जीवन के तत्त्व लगे हुए हैं। ग्रामीण जीवन के साथ ही साथ उसमें नागरिक जीवन के तत्त्व भी लगे हुए हैं। 'गोदान' की कथावस्तु का संगठन उदारता और संवेदना के वातावरण में हुआ है। सहानुभूति और संवेदना के मार्मिक चित्रों की, गोदान की कथावस्तु में अधिकता है। पात्रों में होरी, धनिया और मुनिया इत्यादि का महत्त्व पूर्ण स्थान है। पात्रों का चरित्र चित्रण यथार्थता के वातावरण में हुआ है। सभी चरित्र-चित्रों में मार्मिकता और यथार्थता है। इस उपन्यास में भी प्रेमचन्दजी ने यथार्थवाद की

पृष्ठभूमि पर खड़े होकर आदर्शवाद का ही प्रतिपादन किया है। 'गोदान' का गरीब पात्र भी, रोटी, वस्त्र, और अभावों की चर्चा करता हुआ आदर्श की ही बातें करता है। गरीबी दीनता, और अभावों के हाहाकार में वह मानवता उसे याद रहती है। गोदान में पग-पग पर मानवता और मार्मिकता के अपूर्व चित्र मिलते हैं।

प्रेमचंदजी के उपन्यासों का संक्षेप रूप में दिग्दर्शन कराने के पश्चात् अब हम उनकी औपन्यासिक कला पर विचार करेंगे। प्रेमचन्दजी का आविर्भाव उस समय हुआ था, जब हिन्दी में उपन्यास-कला का जन्म हो रहा था। अतः प्रेमचंदजी के सामने अपनी कला के पथ प्रदर्शन के लिए ऐसे साधनों का अभाव था, जिन्हें ग्रहण करके वे आगे बढ़ सकते थे। प्रेमचन्दजी स्वयं ही अपनी कला के विधायक हैं। उन्होंने उसमें निर्माण और अभिसार के लिए स्वयं ही प्रयत्न किया है। उन्होंने उसके संगठन के लिए स्वयं ही उन तत्वों को एकत्र किया है, जिनके कारण वह अधिक महत्व पूर्ण हों। प्रेमचंदजी के उपन्यासों में उनकी 'कला' दिखाई पड़ती है, दूसरे शब्दों में उन्होंने अपने उपन्यासों की रचना में जिस कला का प्रयोग किया है, उसकी समीक्षा हम चार बातों को ध्यान में रख कर करेंगे—कथावस्तु, कथोपकथन, चरित्र चित्रण, और वातावरण का चित्रण, क्योंकि प्रेमचन्दजी की कला के संगठन में, मुख्य रूप से यही तत्व सन्निहित हैं।

सर्व प्रथम हम कथावस्तु पर विचार करेंगे, प्रेमचंदजी के उपन्यासों की कथावस्तु पर जब हम दृष्टिपात करते हैं, तो यह देखते हैं, कि उनकी कथावस्तु का विकास क्रम-क्रम से हुआ है। सर्व प्रथम उन्होंने जिस उपन्यास की रचना की है, उसकी कथा में व्यक्ति के जीवन की प्रधानता है। व्यक्ति से जब वे आगे बढ़े हैं, तब परिवार के क्षेत्र में गए हैं। इसी प्रकार परिवार से समाज, समाज से ग्राम, ग्राम से नगर नगर से प्रांत, और प्रांत से देश की सीमा के भीतर वे बढ़ते गए हैं। उन्होंने इन क्षेत्रों में प्रवेश करके क्रम-क्रम से ही उनकी समस्याओं को सुलझाने की चेष्टा की है। उन्होंने अपनी कथावस्तु में सबसे अधिक सामाजिक समस्याओं की ओर ही अधिक ध्यान दिया है। कहीं कहीं उनकी कथावस्तु में राजनीति और इतिहास का समावेश भी हुआ है, पर समाज के तत्वों की ही प्रधानता है। उनकी कथावस्तु का लक्ष्य समाज के विकास की ओर ही दिखाई पड़ता है। अतः उनकी कथावस्तु को सामाजिक समस्या प्रधान ही मानना चाहिए। उनकी सम्पूर्ण कथावस्तु को हम चार वर्गों में विभक्त कर सकते हैं—घटना प्रधान, चरित्र प्रधान, भाव प्रधान, और मिश्रित। घटना प्रधान कथावस्तु वह है, जिसमें घटनाओं की प्रधानता है। प्रेमचंद जी ने अपनी इस प्रकार की कथाओं में घटनाओं का सन्निवेशन अधिकता के साथ किया है। उन्होंने कथावस्तु में मूल कथा के अतिरिक्त उसमें और भी कई कथाएँ जोड़ी हैं, जिनमें परिणाम स्वरूप कथावस्तु को सौन्दर्य हत-सा हो गया है, और उसमें मन्दता उत्पन्न हो गई है। चरित्र प्रधान कथावस्तु में चरित्र की प्रधानता

है। प्रेमचन्दजी को इस क्षेत्र में अधिक सफलता प्राप्त हुई है। उन्होंने एक कुशल मनोवैज्ञानिक की भाँति ही अपनी चरित्र प्रधान कथावस्तु का सङ्गठन किया है। चरित्र प्रधान कथावस्तु का संगठन करते हुए उन्होंने मनुष्य के मन की आंतरिक और वाह्य दोनों ही स्थितियों को ध्यान में रक्खा है। यही कारण है, कि उनकी इस प्रकार की कथावस्तु में प्रभावोत्पादकता स्पष्ट रूप से परिलक्षित होती है। भाव प्रधान कथावस्तु वह है, जिसमें भाव की प्रधानता है। प्रेमचन्दजी ने स्वतन्त्र रूप से भाव प्रधान कथावस्तु के आधार पर उपन्यासों की रचना नहीं की है। उनके घटना प्रधान और चरित्र प्रधान कथा वस्तुओं में ही कहीं-कहीं भावों की प्रधानता आ गई है। कहीं कहीं ऐसे भी स्थल मिलते हैं, जहाँ घटना, चरित्र, और भाव-तीनों का ही समन्वय कुशलता के साथ हुआ है।

प्रेमचन्दजी की कला का दूसरा तत्व कथोपकथन है। प्रेमचन्दजी कथोपकथन की कला में अधिक प्रवीण थे। वे मानव स्वभाव और प्रकृति के अच्छे पारखी थे। उनके उपन्यासों में विविध वर्गों के विविध पात्र हैं। प्रेमचन्दजी की सबसे अधिक जान-पहचान और निकटता है। उनके इन पात्रों में जो कथोपकथन हुआ है, वह अधिक स्वाभाविक, संयमित, और स्थिति तथा मर्यादा का अनुकूल है। पात्रों के पारस्परिक कथोपकथन की स्वाभाविकता को देख कर सहज में ही इस बात का आभास हो जाता है, कि प्रेमचन्दजी की दृष्टि बड़ी दूर गामिनी थी। उनकी दृष्टि की छाया में विविध वर्ग के विविध प्रकृति वाले मनुष्य निवास करते थे। प्रेमचंदजी सबमें घुले-मिले थे, और सबके रंग ढङ्ग तथा मनोभाव की गति से परिचित थे। उनके उपन्यासों के कथोपकथन में उनकी यह कुशलता बहुशता स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होती है। स्वाभाविकता, और सुसबद्धता उनके कथोपकथन की विशेषता है। कहीं कहीं आवेग की स्थिति में उनके कथोपकथन का प्रवाह उमड़ कर, तट से बाहर निकल गया है। कहीं कहीं आवेग में ही संयम भी उनके हाथ से छूट गया है। जिन स्थलों पर ऐसा हुआ है, वहाँ कथोपकथन के प्रवाह में मन्दता उत्पन्न हो गई है, और चरित्र के विकास में भी अवरोध उपस्थित हो गया है।

चरित्र चित्रण के क्षेत्र में प्रेमचन्दजी अपने ढङ्ग के अकेले उपन्यासकार हैं। उनके उपन्यासों की प्रमुख विशेषता उनका चरित्र चित्रण ही है। चरित्रों का विकास

चरित्र चित्रण उनकी रचनाओं में अधिक कलात्मकता के साथ हुआ है। उनके चरित्र सभी वर्गों के हैं, जो अधिक ईमानदार, संयमी, और आदर्शवादी हैं। ऐसे भी चरित्र हैं, जिन्हें समाज की विकृतियों का आदर्श चित्र कहा जा सकता है। पर इन चरित्रों को उपस्थित करने का ध्येय सत् है। अतः इनकी उपस्थिति भी मन में आदर्शवाद की पुष्टि करती है। प्रेमचन्दजी ने अपने चरित्रों के चित्रों को उपस्थित करने में भारतीय परम्परा का ही पालन किया है, अर्थात् उन्होंने चरित्रों के चित्रांकन में 'आदर्श' की सृष्टि यथार्थ की पृष्ठभूमि पर ही किया है। 'आदर्श' की सृष्टि करते हुए वे कहीं भी यथार्थ का विस्मरण नहीं करते। उनके पात्र यथार्थ

वाद के मार्ग से ही आदर्शवाद की मंजिलें समाप्त करते हैं। उनके चरित्रों में स्वाभाविकता और अनुकूलता है। उनके पात्र समय और स्थिति का अधिक ध्यान रखते हैं। वातावरण का प्रभाव अमिट रूप से उनके सम्पूर्ण चरित्रों पर दिखाई देता है। उनके चरित्र वातावरण के अनुसार ही अपने व्यापार की रचना करते हैं। यही कारण है, कि उनमें स्वाभाविकता, रोचकता और अनुकूलता प्रचुर मात्रा में दिखाई देती है।

प्रेमचंदजी की कहीं भी अपने पात्रों को अनुरक्ति नहीं दिखाई देती। उन्होंने अपने किसी भी प्रकार अथवा वर्ग के पात्र में अपनी अनुरक्ति नहीं प्रगट की है। यद्यपि उनके पात्रों में सभी वर्गों के प्रतिनिधि हैं, पर उनकी आसक्ति और अनुरक्ति किसी में नहीं है। उन्होंने एक वास्तविक कलाकार की भाँति सब का चित्रण एक ही धरातल पर स्थित होकर किया है। उन्होंने जिस पात्र को जिस रूप में जाना और समझा है, उसका चित्रण उन्होंने उसी रूप में किया है। यही कारण है, कि वे अपने चरित्र चित्रण में कई रूपों में दिखाई पड़ते हैं, अर्थात कहीं उन्होंने विचारक के रूप में चरित्र पर प्रकाश डाला है, कहीं निर्देशक के रूप में, कहीं पथ प्रदर्शक के रूप में और कहीं गुरु तथा उपदेशक के रूप में भी। इस प्रकार चरित्र-चित्रण में उन्होंने अपने विभिन्न रूप प्रदर्शित किए हैं। चरित्र के विकास के लिए उन्होंने जिस युक्तियों से काम लिया है, उनमें चार मुख्य हैं—संकेत, वर्णन, वार्तालाप, और घटनाओं का विकास। संकेत को छोड़ कर शेष तीनों युक्तियों का उन्होंने अधिक आश्रय ग्रहण किया है। उन्होंने अपने चरित्र का विकास वर्णन, वार्तालाप और घटनाओं के पारस्परिक संयोग तथा चित्रण के द्वारा ही किया है। संकेत उनके चरित्र के विकास में बहुत कम सहायक हुआ है। जहाँ कहीं उन्होंने चरित्र के विकास में संकेत से काम लिया है, वहाँ उनके चरित्र में अस्पष्टता उत्पन्न हो गई है।

वातावरण का विकास प्रेमचंदजी की कला की मुख्यता है। प्रेमचंदजी की कला वातावरण के विकास के ओर ही देखती है। उनकी रचनाओं में वातावरण के विकास की चिन्ता पग-पग पर दिखाई देती है। वे जितना अधिक वातावरण और स्थिति पर ध्यान देते हैं, उतना और किसी भी बात पर ध्यान नहीं देते। उनके चरित्रों और घटनाओं का विकास बहुत कुछ वातावरण के ही आधार पर हुआ है। चरित्र के विकास में तो पूर्ण रूप से वातावरण के तत्त्व निहित हैं। यही कारण है, कि उन्होंने वातावरण के निर्माण में बड़ी सजगता और कुशलता से काम लिया है। कहीं कहीं अनावश्यक रूप से भी उन्होंने वातावरण का विस्तार किया है। जहाँ कहीं उन्होंने वातावरण के विस्तार में अपनी आसक्ति प्रदर्शित की है, वहाँ उनके चरित्रों के विकास में अवरोध आ गया है, जिससे उनके चरित्र धुँधले, और अस्पष्ट हो गए हैं।

स्वर्गीय जयशङ्कर प्रसाद का हिन्दी साहित्य में अप्रतिम स्थान है। उन्होंने कविता, और नाटक के क्षेत्र में एक नवीन युग की स्थापना की है। कविता और

स्वर्गीय जयशङ्कर प्रसाद

नाटक के क्षेत्र में, उनके द्वारा संस्थापित किया हुआ युग ही आज हिन्दी साहित्य में अपना वैभव बिखेर रहा है। उनमें सर्वतोमुखी प्रतिभा थी। जिस प्रकार उन्होंने काव्य और नाटक के क्षेत्र में अपनी युगांतरकारिणी प्रतिभा-शक्ति का परिचय दिया है, उसी प्रकार उन्होंने कहानी और उपन्यास के क्षेत्र में भी अपनी प्रतिभा के अमर-चिह्न निर्मित किए हैं। यद्यपि उपन्यासकार के रूप में उनकी साधना का क्षेत्र अधिक विस्तृत नहीं है, पर उन्होंने जो कृतियाँ उपस्थित की हैं, औपन्यासिक दृष्टि से उनका मूल्य कम नहीं कहा जा सकता। उन्होंने अपनी अल्प संख्यक रचनाओं के ही द्वारा हिन्दी के उपन्यास-साहित्य में महत्व पूर्ण स्थान प्राप्त कर लिया है।

'प्रसादजी' ने तीन उपन्यासों की रचना की है– कङ्काल, तितली, और इरावती। हम क्रम क्रम से तीनों की समीक्षा करेंगे। 'कङ्काल' की कथावस्तु का निर्माण जीवन की पृष्ठभूमि पर ही हुआ है। कंकाल की कथावस्तु को हम सामाजिक कह सकते हैं, पर उसमें जीवन के विभिन्न जुटे हुए हैं। अपनी एक ही कथावस्तु में प्रसादजी ने जीवन के विभिन्न दृश्यों का समावेश किया है। इसी बात को हम इस रूप में भी कह सकते हैं, कि 'कंकाल' की कथावस्तु ने जीवन के विभिन्न क्षेत्रों से होते हुए अपने ध्येय की ओर पहुँचने का प्रयत्न किया है। कंकाल की कथावस्तु में एक ओर जहाँ भौतिकता के लिए राग है, जहाँ उसमें अध्यात्म के प्रति अनुराग भी मिलता है, उसमें जहाँ सामाजिक विकृतियाँ और दुर्बलताएँ हैं, वहाँ उसमें सुधारवादी दृष्टिकोण का भी समावेश है। उसमें जहाँ मानव की मानव के प्रति घृणा है, वहाँ उसमें मानव का मानव के प्रति प्रेम और उदारता के चित्र भी हैं। हिन्दू-मुसलिम ऐक्यता के चित्र भी, मानवता, और ईश्वरता के आधार पर 'कंकाल' की कथावस्तु में पाए जाते हैं। इस प्रकार 'कङ्काल' की कथावस्तु में कई तत्वों का समावेश हुआ है, जिससे कथावस्तु रोचक और आकर्षक ज्ञात होती है। मनोविकारों का उत्थान-पतन भी 'कंकाल' की कथावस्तु में देखने को मिलता है। हर्ष, विषाद, शोक, प्रेम, विक्षोभ, और करुणा इत्यादि मनोविकार कंकाल की कथावस्तु में स्वाभाविकता के साथ जुटे हुए दिखाई पड़ते हैं। कथावस्तु का विकास स्वाभाविक ढंग से हुआ है। विकास में गति और क्रम है; परिणाम स्वरूप आदि से लेकर अन्त तक कथावस्तु के प्रवाह की अखंडता ही दृष्टिगोचर होती है।

'कंकाल' के पात्रों में तारादेव निरंजन, राम, विजय, गाला, घंटी, नन्दो, और किशोरी इत्यादि मुख्य हैं। अपने इन्हीं पात्रों को विभिन्न स्थितियों में डाल कर, लेखक ने अपनी रचना का निर्माण किया है। जो पात्र जिस स्थिति में है, वह उसका ज्ञाता दृष्टिगोचर होता है। सभी पात्र अपनी अपनी स्थितियों, और वातावरण का ठीक ठीक चित्रण करते हुए दिखाई देते हैं। लेखक के ध्येय प्रति पात्रों की पूर्ण रूप से सहानुभूति है। सभी पात्र मिल कर उस लक्ष्य की ओर बढ़ते हुए दिखाई देते हैं। जिसकी ओर बढ़ना लेखक का इष्ट है। कङ्काल के सभी पात्र प्रगति

वादी हैं। उनमें व्यक्तिगत स्वातंत्र्य की भावना है। वे विवाह ऐसे महत्व पूर्ण सामाजिक समस्या पर भी खुले हुए हृदय से विचार करते हैं। वे समाज की समस्याओं पर विचार करते हुए एक नये मार्ग-एक नई दिशा का अवलंबन करते हैं। वे उन सम्पूर्ण कुरीतियों और विकृतियों के प्रति आक्रोश प्रगट करते हैं, जिनके कारण सामाजिक जीवन की गति में अवरोध उत्पन्न हो गई हैं, अथवा जिनके कारण समाज के जीवन की धार कुंठित हो गई है। इस रूप में हम कह सकते हैं, कि कंकाल नए विचारों और नवीन चेतनाओं का केन्द्र है। किन्तु इसका यह कदापि तात्पर्य नहीं, कि उसमें अभारतीय की भावना है। लेखक की यह सबसे बड़ी विशेषता है, कि उसने भारतीयता के क्षेत्र के भीतर ही रह कर नवीन चेतनाओं, और नए विचारों की कंकाल में स्थापना की है।

'कङ्काल' विभिन्न मनोविकारों के केन्द्र है। उसमें हर्ष, विषाद, शोक, प्रेम, विक्षोभ, और सहानुभूति—आदि विकार स्थान-स्थान पर उभड़ पड़े हैं। व्यंग्य और कटाक्ष के चित्र भी कङ्काल मे स्थान-स्थान पर मिलते हैं। व्यंग्य और कटाक्ष के चित्र तो इतने अधिक मिलते हैं, कि उनके कारण कङ्काल को व्यंग्य मूलक उपन्यास मान लिया जाय तो अत्युक्ति न होगी। सुधार और संवेदना के चित्रों की भी कंकाल में कमी नहीं है। स्थान-स्थान पर विक्षोभ के चित्र भी कंकाल के पृष्ठों में मिलते हैं। समाज के पापों और उसकी विकृतियों के प्रति स्थान-स्थान पर चेतावनी, और घटकार के चित्र भी दिखाई पड़ते हैं। इस प्रकार आदि से लेकर अन्त तक विभिन्न प्रकार के मनोविकारों के चित्र कंकाल में मिलते हैं। इन्हीं चित्रों ने मिल कर कङ्काल की रोचकता, और उसकी उपयोगिता को सर्व मान्य बना दिया है।

विचारों की दृष्टि से 'कङ्काल' के सम्बन्ध में दो मत स्थिर किए जा सकते हैं। कुछ लोग 'कङ्काल' की गणना 'घटना प्रधान' उपन्यासों में कर सकते हैं, और कुछ लोग उसे 'चरित्र प्रधान' उपन्यासों की कोटि में ले सकते हैं। वास्तव में यदि देखा जाय तो 'कङ्काल' में घटना, और चरित्र दोनों का ही समुचित रूप में विकास हुआ है। कंकाल की मुख्य घटना में दो-दो और तीन-तीन घटनाओं तक का समावेश किया गया है। यद्यपि लेखक ने मूल कथावस्तु में उपकथाओं को मिलाने और जोड़ने में अधिक चातुरी प्रदर्शित की है, पर फिर भी उपकथाओं के आधिक्य के कारण ऐसे स्थलों पर मूल कथा के प्रवाह में शैथिल्य उत्पन्न हो गया है। जिन स्थलों पर मूल कथावस्तु अपने वास्तविक रूप में है, वहाँ उसके विकास का स्वाभाविक गति से चलता हुआ दिखाई पड़ता है। 'कंकाल' में भिन्न भिन्न पात्र भिन्न भिन्न स्थितियों के हैं, दूसरे शब्दों में कंकाल के पात्र एक विशिष्ट स्थिति के हैं। 'कंकाल' के कलाकार को कुछ विशिष्ट प्रकार के पात्रों का चरित्र चित्रण करना ही इष्ट मालूम होता है। यही कारण है, कि कंकाल में पात्रों के चरित्रों का विकास प्रमुख रूप से हुआ है। यद्यपि 'कंकाल' में घटनाओं का भी आधिक्य है, पर लेखक मुकाख्य रूप से झुकाव चरित्र के विकास की ओर ही दिखाई पड़ता है। अतः

'कंकाल' को चरित्र प्रधान ही उपन्यास मानना उचित होगा। कंकाल के पात्र आदर्शवादी हैं, या तथ्यवादी—यह भी विचारणीय विषय है। 'कंकाल' के पात्रों को पूर्ण रूप से न तो आदर्शवादी कहा जा सकता है, और न तथ्यवादी। क्योंकि उनके चरित्रों में आदर्श और तथ्य-दोनों का ही समन्वय हुआ है। अतः पात्रों के चरित्र पर ध्यान रखते हुए, 'कंकाल' को आदर्श और तथ्य दोनों का ही पृष्टपेषण करने वाला उपन्यास कहना चाहिए। किन्तु आदर्श और तथ्य दोनों दृष्टि से कंकाल की समीक्षा करने पर उसमें तथ्य के तत्त्व अधिक पाए जाते हैं।

'प्रसादजी' का दूसरा उपन्यास 'तितली' है। 'तितली' की कथावस्त ग्रामीण जीवन पर आधारित है। कथावस्तु का संगठन दाम्पत्य जीवन के तत्त्वों से किया गया है। कथावस्तु को सुदृढ़ बनाने में नारी के 'नारीत्त्व' और उसके सत्तीत्त्व के भी तत्त्व लगे हुए हैं। कथावस्तु अधिक प्रभाव पूर्ण और आकर्षण है। उसका विकास स्वाभाविकता के साथ हुआ है। कथावस्तु में घटनाओं का भी संयोग स्थापित हुआ है। पर वह इस प्रकार हुआ है, कि उनसे कथावस्तु की प्रधानता पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। जिस प्रकार 'कंकाल' में कथावस्तु पर घटनाओं का प्रभाव पड़ता है, उस प्रकार 'तितली' में घटनाएँ कथावस्तु को प्रभावित नहीं करतीं। इसके विपरीत 'तितली' में घटनाएँ कथावस्तु से स्वयं प्रभावित होती हुई जान पड़ती हैं, परिणाम स्वरूप कथावस्तु की अखंडता और उसकी गतिमयता सर्वत्र एक सी बनी हुई दिखाई देती है।

'तितली' के पात्रों में बंजो, 'तितली' और मधुबन इत्यादि मुख्य हैं। पात्रों का चरित्र चित्रण मनोवैज्ञानिकता के आधार पर हुआ है। चरित्र चित्रण के पात्रों के मन के द्वन्दों, और उनके हृदय में होने वाले घात-प्रतिघातों को ही अपना आधार बनाया गया है। यही कारण है, तितली में स्थान-स्थान पर मन के द्वन्दों, और घात प्रतिघातों के चित्र मिलते हैं, सभी चित्र भावना मूलक हैं। लेखक ने अपने चित्रों का निर्माण करने के लिए हृदय में में डूब करके ही उनके लिए साधन एकत्र किया है। लेखक ने अपने चित्रों के निर्माण में जिन साधनों का उपयोग किया है, वे अधिक प्रभाव पूर्ण, और आकर्षक हैं। तितली के पात्रों की अपने कलाकार से पूर्ण सहानुभूति है। वे कलाकार की इच्छा के अनुसार ही उसके उद्देश्य और लक्ष्य की पूर्ति करते हुए दिखाई देते हैं। 'तितली' के पात्रों में परस्पर सहानुभूति और सगठन की भावना भी है। वे सब एक साथ मिल कर, पूर्ण सहयोग से लेखक के लक्ष्य की ओर बढ़ते जान पड़ते हैं।

'तितली' के पात्रों में अपना व्यक्तित्व है। प्रायः अधिकांश पात्र एक विशिष्ट व्यक्तित्व को लेकर जीवन के संघर्ष-स्थल में उतरते हैं, और आदि से लेकर अन्त तक अपने व्यक्तित्व की रक्षा में जुटे रहते हैं। तितली के बनजरिया बाबा एक निराले व्यक्ति हैं। उनके व्यक्तित्व में कई प्रकार की विशेषताएँ हैं। वे अपने चरित्र के द्वारा जो चिह्न बनाते हैं, वे तितली के गौरव को बढ़ाते हैं, और उसे आदरणीय

बनाने में सहायक होते हैं। 'तितली' जो उपन्यास की मुख्य पात्री है, अपने पास महान् व्यक्तित्व रखती है। उसके चरित्र में दृढ़ता, और सहिष्णुता के तत्वों की प्रचुरता है। 'मधुबन' का चरित्र भी विशेषताओं से संयुक्त है। सभी पात्रों के चरित्रों पर ध्यान पूर्वक विचार करने से 'तितली' में आदर्शवाद का ही समर्थन मिलता है। 'तितली' के सभी पात्र अपने-अपने क्षेत्र में आदर्श की ही सृष्टि करते हैं। यद्यपि वे 'तथ्य' को भी ग्रहण करते हैं, किन्तु उनका 'तथ्य' आदर्श की ओर उन्मुख दिखाई पड़ता है।

प्रसादजी का तीसरा उपन्यास ईरावती है, जो उनकी मृत्यु के पश्चात् प्रकाशित हुआ है, यह अधूरा है। अतः इसके सम्बन्ध में यथोचित रूप से विचार व्यक्त नहीं किया जा सकता। यह जिस रूप में सामने है, उसमें वर्णन की प्रधानता मिलती है। उसकी कथावस्तु गुप्त काल की है, और आकर्षक है।

प्रसादजी के पूर्व प्रेमचंदजी का आविर्भाव हो चुका था। प्रेमचंदजी की उपन्यास कला हिन्दी-साहित्य के ऊपर अखंड रूप से अपना आधिपत्य स्थापित कर चुकी थी। यद्यपि प्रसादजी प्रेमचंदजी के ही समकालीन थे, पर प्रेमचंदजी का रचनाकाल उनसे पहले का है। अतः प्रेमचंदजी की कला का प्रभाव प्रसादजी की रचनाओं पर पड़ना स्वाभाविक ही है। प्रेमचंदजी की कला आदर्श वादिनी है। उसने अपनी कथावस्तु में सामाजिक तत्वों को जोड़कर, उनकी विकृतियों को दूर करने की चेष्टा की है। यद्यपि वह प्रत्यक्ष रूप से समष्टि का ही चित्रण करती है, पर यह नहीं माना जा सकता, कि समष्टि का चित्रण करते हुए वह व्यक्ति को पूर्ण रूप से भूल बैठी है। वास्तविक बात तो यह है, कि उसने समाज की समस्याओं, और दुख-सुख के चित्रण के रूप में व्यक्ति की समस्याओं, और उसके दुख-सुख का चित्रण किया है। प्रसादजी की कला प्रेमचंदजी के मार्ग का अनुगमन तो नहीं करती, किन्तु उससे कुछ ग्रहण अवश्य करती है। प्रेमचंदजी की कला जहां समष्टिवादिनी है, वहाँ प्रसाद की कला व्यक्ति-स्वातंत्र्य की ही ओर अधिक ध्यान देती है। प्रेमचंदजी की कला जहां सामाजिक समस्याओं को सुलझाने में ही अधिक व्यस्त दिखाई पड़ती है, वहां प्रसादजी की कला व्यक्ति के जीवन के सुखों और दुखों पर अधिक ध्यान देती है। प्रसादजी की कला ने मानवीय दुर्बलताओं के ही चित्र अधिक खींचे हैं। प्रेमचंदजी की कला में औपन्यासिकता के तत्त्व अधिक हैं, पर प्रसादजी की कला नाट्य और कवित्व की ओर उन्मुख दिखाई पड़ती है। प्रेमचंदजी के कथानक, वार्तालाप, और वातावरण में जहाँ औपन्यासिकता है, वहाँ प्रसादजी के वार्तालाप और कथानक में कवित्व की झलक मिलती है। प्रेमचंदजी के पात्र साधारण व्यक्ति की भाँति वार्तालाप करते हैं, पर प्रसादजी के पात्रों के वार्तालाप में एक कवि और नाटककार की विशिष्टता पाई जाती है। प्रसादजी के पात्र प्रेमचंदजी के पात्रों की अपेक्षा अधिक सूक्ष्म दर्शी और तत्व दर्शी भी ज्ञात होते हैं। वे कवि और नाटककार के अतिरिक्त दार्शनिक भी हैं। प्रसादजी के पात्र

वस्तु की अपेक्षा अन्तर्जगत की ओर अधिक दृष्टि रखते हैं। वे अपना व्यापार अन्तर्जगत के भावों से ही सजाते हैं। यही कारण है, कि प्रेमचंदजी की अपेक्षा प्रसादजी के उपन्यासों में अन्तर्जगत के द्वन्दात्मक चित्र अधिक पाये जाते हैं। यह होने पर भी प्रसादजी की कला प्रेमचंदजी की कला से बहुत कुछ दान ग्रहण करती हुई दिखाई देती है।

प्रसादजी की कला में उनकी अपनी विशेषताएँ हैं। उनकी कला की विशेषताओं की समीक्षा हम निम्नांकित अवयवों को आधार मानकर करेंगे कथानक, पात्र, मानसिक द्वन्द, दृश्य वर्णन, भाव प्रवणता, और भाषा की सरलता प्रसादजी के उपन्यासों की कथा वस्तु मौलिक है, उसका चयन और संघटन स्वाभाविकता को दृष्टि में रख कर किया गया है। उसका प्रवाह एक एक गति से आगे चलता हुआ दिखाई देता है। उसके विकास में एक क्रम और एक क्रममयता है। न तो उसमें कहीं अधिक विस्तार पाया जाता है, और न कल्पना। कथावस्तु का विकास, और उसका उत्थान-पतन सर्वत्र एक क्रम से ही हुआ है। प्रसादजी ने कथा वस्तु के विकास में वैज्ञानिकता से काम लिया है। उनकी कथा वस्तु में नाटकीय तत्वों का भी योग है। प्रसादजी के उपन्यासों की कथावस्तु का संबन्ध प्रत्यक्ष रूप से मानव जीवन से है। उनकी कथावस्तु जीवन की एक प्रतिकृति है, जिसमें विभिन्न मनोविकारों के स्पष्ट चित्र पाए जाते हैं। उन्होंने अपनी कथावस्तु में जीवन की समस्याओं पर स्वतंत्र ढंग से विचार किया है। वे अपने विचार किसी सिद्धांत को आधार मान कर प्रगट नहीं करते। उनकी कथावस्तु में उस एक मानवता के ही तत्व लगे हुए हैं, जिसकी दृष्टि अधिक तीव्र और दूर गामिनी है।

प्रसादजी के पात्र अधिक स्पष्टवादी हैं। यद्यपि वे उच्च वर्ग के हैं, पर उनकी दृष्टि में विशालता और समता ही भावना है। वे अपने व्यापार की रचना मानवता की ही पृष्ठ भूमि पर करते हैं। उनके क्रिया-कलापों में औचित्य, और सामंजस्य है। वे सहानुभूति, समता, और समवेदना के भावों से उल्लसित हैं। वे अपने भीतर उदारता, और विशालता रखते हैं। पाप पुण्य, नीति अनीति और घृणा प्रेम का निर्णय वे उदारता की ही दृष्टि से करते हैं। वे दूसरों के पापों और कुकृत्यों को कौन कहें, अपने पापों पर भी आवरण नहीं डालते अपने पापों और कुकृत्यों पर प्रकाश डालते हुए उन्हें संतोष का अनुभव होता है। प्रसादजी ने अपने पात्रों के अंतर्द्वंदों का चित्रण बड़ी मनोहरता, और कुशलता के साथ किया है। उन्होंने अपने पात्रों के चरित्र चित्रण के लिए, उनके मानसिक द्वन्दों को ही आधार माना है। चरित्र के विकास के लिए उनकी दृष्टि मन के द्वन्दों पर ही स्थिर दिखाई देते हैं। परिणाम स्वरूप उनके उपन्यासों में मानसिक द्वन्दों का चित्रण बड़ी मार्मिकता के साथ हुआ है।

प्रसादजी की कला दृश्यों के वर्णन में अधिक निपुण है। उनके उपन्यासों में दो प्रकार के दृश्य मिलते हैं। एक प्रकृति संबंधी, और दूसरे मानव संबंधी। प्रकृति

सम्बन्धी दृश्यों में प्राकृति, ग्राम और नगर इत्यादि के दृश्य हैं। मानवीय दृश्यों में जीवन, और समाज के दृश्यों को समझना चाहिए। दोनों ही प्रकार के दृश्यों का चित्रण उनकी कला के द्वारा स्वाभाविकता के साथ हुआ है। यद्यपि प्रसादजी नगर के रहनेवाले थे, किन्तु उनके द्वारा जो ग्रामीण चित्र बने हैं, उनमें उनका अनुभव साफ साफ झलकता है। प्रसादजी की कला विविध भावों का सृजन करने में बड़ी निपुण है। उनके भावों में काल और नाटक के तत्त्व हैं। उन्होंने जीवन की विभिन्न समस्याओं की आलोचना भावों में डूब करके ही की है। यही कारण है, कि उनके चित्र अधिक आकर्षक, और हृदय ग्राह्य है।

प्रसादजी के उपन्यासों की भाषा भी अधिक सरल और सुकोमल है। यद्यपि उपन्यासों में भी उनकी भाषा कल्पनाओं के पङ्ख लगा कर उड़ती है, पर उसमें वह क्लिष्टता नहीं है, जो नाटकों की भाषा में है। प्रसादजी ने अपने उपन्यासों की भाषा को बहुत कुछ औपन्यासिकता के साँचे में ढालने का प्रयत्न किया है। उनके प्रयत्नों का परिणाम साफ-साफ उनकी भाषा में दिखाई देता है। उनकी भाषा अधिक सरल तो है ही, साथ ही वह अधिक ओज पूर्ण और प्रवाहमयी भी है। उन्होंने अपनी भाषा में मुहाविरों का भी प्रयोग किया है।

विश्वम्भरनाथ शर्मा 'कौशिक' आधुनिक काल के सुप्रसिद्ध उपन्यास और लेखक थे। प्रेमचंदजी ने उपन्यास रचना के लिए जो मार्ग निश्चित किया था, दूसरे शब्दों में प्रेमचन्दजी ने उपन्यास-जगत में जिन आदर्शों की स्थापना की थी, कौशिकजी बहुत कुछ उन्हीं आदर्शों के पथ पर चलते हुए दिखाई देते हैं। भाषा, शैली कथानक और चरित्र चित्रण इत्यादि उपन्यास के सम्पूर्ण अवयवों की परिपुष्टि उन्होंने प्रेमचन्दजी के सिद्धान्तों को आधार मान कर की है। यही कारण है, कि उनके उपन्यासों और कहानियों की विवेचना करते हुए लोग उन्हें प्रेमचंदजी की कक्षा का लेखक मानते हैं। किन्तु इससे यह अर्थ कदापि न निकालना चाहिए, कि कौशिकजी अपनी सूझ बूझ नहीं थी। कौशिकजी अपनी रचनाओं में प्रेमचंदजी के सिद्धांतों और उनके आदर्शों की रक्षा अवश्य की है; पर उनमें कई मौलिक विशेषता भी हैं। कौशिकजी हृदय को संयमित करने में बड़े निपुण थे। हृदय का स्पंदन जितना अधिक उनकी रचनाओं में मिलता है, उतना प्रेमचंदजी की रचनाओं में नहीं है। प्रेमचंदजी की रचनाओं में पात्रों की बहुलता है; और विस्तृत कथानक भी उनकी रचनाओं में पाया जाता है। पर कौशिकजी थोड़े से पात्रों से ही अपनी रचना का संसार बसाते हुए दिखाई देते हैं। कौशिकजी प्रेमचन्दजी की भाँति देश और समाज की विभिन्न समस्याओं के जाल में नहीं उलझते, वे जीवन के धरातल पर दिखाई देते हैं, और उसके एक विशिष्ट अंग को लेकर, मोहक ढङ्ग से औपन्यासिकता के मार्ग पर चलते हैं।

विश्वम्भरनाथ शर्मा 'कौशिक'

कौशिकजी ने दो उपन्यासों की रचना की है—'माँ' और भिखारिणी। 'माँ'

की कथावस्तु पारिवारिक जीवन से सम्बन्ध रखती है। उसमें पारिवारिक जीवन के प्रभाव पूर्ण, और आकर्षक जुटे हुए हैं। उन तत्त्वों में माँ की वात्सल्य वेदना, और कर्त्तव्य निष्ठा इत्यादि मुख्य है। कथावस्तु का लक्ष्य है, माँ के आदर्श जीवन को सामने उपस्थित करना। लेखक को कथावस्तु के लक्ष्य में सफलता प्राप्त हुई है। कथावस्तु का विकास भी स्वाभाविकता के साथ हुआ है। पात्रों में श्यामू, सुलोचना, सावित्री, और शम्भू इत्यादि मुख्य हैं। सभी पात्र आदर्शवादी हैं, और लेखक के लक्ष्य में सहायक हैं। पात्रों के चरित्र चित्रण में स्वाभाविकता के साथ किया गया है। सावित्री और सुलोचना के चरित्र-विकास में आदर्श की पराकाष्ठा दिखाई पड़ती है। वेश्याओं का चरित्र-चित्रण भी, स्वाभाविक और वास्तविक स्थिति में हुआ है।

कौशिकजी का दूसरा उपन्यास 'भिखारिणी' है। 'भिखारिणी' की कथावस्तु एक भिखारिणी के जीवन से सम्बन्ध रखती है। जिसमें त्याग, करुणा और अनुराग के तत्त्व जुटे हुए हैं। कथावस्तु यद्यपि एकांगी है, पर वह अधिक आकर्षक और प्रभाव पूर्ण है। कथावस्तु का विकास स्वाभाविकता, और क्रममयता के साथ हुआ है। कथावस्तु में स्थान-स्थान पर ऐसे चित्र मिलते हैं, जो अधिक आकर्षक, और रोचक हैं। पात्रों में 'जस्सो' और रामनाथ आदि का मुख्य स्थान है। 'जस्सो' उपन्यास की नायिका है, जो एक भिखारिणी है। 'जस्सो' के चरित्र में नारी हृदय की विवशताओं के साथ ही साथ त्याग और करुणा के चित्र हैं। 'रामनाथ' आधुनिक काल का युवक है, उसके चरित्र में उद्दाम प्रेम की भावनाएँ हैं।

कौशिकजी अपने ढङ्ग के अकेले उपन्यासकार हैं। उनकी उपन्यास कला उस पारिवारिक जीवन को अपना आधार बनाती है, जो सभी प्रकार की उन्नतियों का केन्द्र है। कौशिकजी ने अपनी अधिकांश कहानियों में पारिवारिक जीवन के ही चित्र अंकित किये हैं। उनकी पारिवारिक कहानियों में पारिवारिक जीवन के विविध चित्र मिलते हैं, जो बड़े प्रभाव पूर्ण, रोचक, और हृदयग्राही हैं। उनके 'माँ' नामक उपन्यास में भी पारिवारिक जीवन का ही आदर्श चित्र मिलता है। यद्यपि 'भिखारिणी, पारिवारिक जीवन के बाहर की वस्तु है, पर उसमें भी जीवन के वे मनोरम चित्र मिलते हैं, जिन्हें हम त्याग, अनुराग, और करुणा की संज्ञा से अभिहित करते हैं।

कौशिकजी अपनी कथावस्तु के चुनाव में अधिक सजग और सतर्क दिखाई देते हैं। वे अपनी कथावस्तु के लिए ऐसे विषयों का चुनाव करते हैं, जिनसे उनका पूर्ण परिचय है। उनके विषय और उनकी कथावस्तु पर उनका पूर्ण एकाधिपत्य जान पड़ता है। वे अपनी कथावस्तु को अपने नियन्त्रण में रखते हैं। उसके सँवारने सजाने में उनकी पटुता और कुशलता दिखाई पड़ती है। उनकी कथावस्तु का विकास एक गति और क्रम से होता है। वे अपनी कथावस्तु में प्रासंगिक घटनाओं का समावेश नहीं करते। उनकी कथावस्तु अपने आप में पूर्ण होकर चलती है।

यही कारण है, कि उनकी कथावस्तु के प्रवाह में कहीं शिथिलता नहीं दिखाई पड़ती। उनकी कथावस्तु का प्रवाह अखंड रूप से ही बहता हुआ चलता है।

कथावस्तु के प्रवाह को अखंडित रखने के लिए कौशिकजी कुछ युक्तियों से भी काम लेते हैं। उनकी एक युक्ति तो यह है, कि वे उसमें प्रसंगिक घटनाओं का समावेश नहीं करते, और दूसरी युक्ति यह है, कि वे पात्रों के लम्बे-चौड़े वर्णनों को उपस्थित करके कथा-प्रवाह के मार्ग में अवरोध उपस्थित नहीं करते, उनकी रचनाओं में पात्र भी सीमित संख्या में ही मिलते हैं। वे अल्प पात्रों से ही अपनी रचना का व्यापार चलाते हैं। उनके पात्र जीवन के धरातल पर खड़े होकर उसकी समीक्षा करते हैं। यद्यपि उनके पात्रों का सम्बन्ध जीवन के किसी विशिष्ट अंग से होता है, पर वे उस विशिष्ट अंग के द्वारा ही सम्पूर्ण जीवन की छवि काढ़ते हैं। उनके पात्रों में सादगी और सरलता का अंश अधिक है। उनके पात्र कृत्रिमता से दूर—सरलता और सादगी की स्थिति में ही जीवन के चित्र बनाते हैं। उनके द्वारा बने हुए जीवन के चित्र अधिक मार्मिक और प्रभावोत्पादक हैं।

कौशिकजी के उपन्यासों में पात्रों का चरित्र चित्रण अधिक स्वाभाविकता के साथ हुआ है। चरित्र चित्रण में इन्होंने स्वाभाविकता पर ही अपने ध्यान को केंद्रित रक्खा है। उन्होंने चरित्र चित्रण में कई प्रणालियों से काम लिया है। सभी प्रणालियों में उन्हें अधिक सफलता प्राप्त हुई। चरित्र के विकास के लिए उन्होंने दो साधनों से काम लिया है—पात्रों की बात चीत, और उनकी रहन सहन। उन्होंने पात्रों की बात चीत और उनकी रहन सहन द्वारा ही उनके चरित्रों के चित्र उपस्थित किए हैं। स्त्री और पुरुष दोनों ही प्रकार के पात्रों के चरित्र-चित्र अधिक आकर्षक और प्रभाव पूर्ण हैं। पुरुष चरित्रों की अपेक्षा स्त्रियों के चरित्र अधिक अंशों में आदर्शोन्मुख हैं। पुरुष पात्रों के चरित्रों पर परिस्थितियों का प्रभाव लक्षित होता है। पात्रों के पारस्परिक वार्तालाप, और संवादों में सामयिकता कथा अनुकूलता है। वार्तालाप में आवश्यकता और संयम का ध्यान रक्खा गया है। वार्तालाप और संवाद छोटे छुटे तथा सुगठित हैं। वार्तालाप और संवादों में सुरुचि तथा व्यावहरिकता पर भी अधिक बल दिया है।

कौशिकजी के उपन्यासों के गणना नाटकीय उपन्यासों के अन्तर्गत की जाती है। इसका कारण यह है, कि उनके उपन्यासों में आदि से लेकर अन्त तक नाटकीय कला का ही ढङ्ग देखने को मिलता है। उनके उपन्यास नाटकीय ढग से प्रारम्भ होते हैं, और नाटकीय ढंग से उनकी समाप्ति भी होती है। उनके पात्रों के वार्तालापों और संवादों में भी नाटकीय ढंग का समावेश है। उनके पात्र नाटक के से पात्र ज्ञात होते हैं, जो अपनी बातचीत को अधिक सीमित और संयमित रखते हैं। इस प्रकार उनके उपन्यासों में नाटकीय तत्त्व प्रचुर रूप में पाए जाते हैं। कौशिकजी ने एक नाटक की भी रचना की है, जो कई बार अभिनीत हो चुका है।

चण्डी प्रसाद 'हृदयेश' सफल उपन्यासकार थे। उनका निधन असमय में ही हो

गया। उनकी जो कृतियाँ हमारे समक्ष हैं; उनसे उनकी मौलिकता और शक्ति सम्पन्नता प्रगट होती है। उनकी कृतियों से दो बातों का पता चलता है—एक तो यह, कि वे भारतीय संस्कृति के पोषक थे, और दूसरा यह, कि वे नवीन वर्णनप्रणाली के साथ ही साथ उस अलंकारिक प्रणाली के भी पक्षपाती थे, जिसे हम भारत की प्राचीन प्रणाली कह सकते हैं, और जिसका उद्भव तथा विकास संस्कृत की आख्यायिकाओं में हो चुका है। हृदयेशजी के पूर्व प्रेमचंदजी का आविर्भाव हो चुका था। चरित्र चित्रण, घटना, वातावरण और वर्णन इत्यादि क्षेत्रों में प्रेमचंदजी की कला की मान्यताएँ स्थापित हो चुकी थीं। पर हृदयेशजी पर उन मान्यताओं का प्रभाव नहीं दिखाई देता। उन्होंने उपन्यास के रूप में जो कृतियाँ उपस्थित की हैं, उनसे यही पता चलता है, कि वे प्रेमचंदजी की कला की मान्यताओं से पृथक ही अपने संसार की रचना कर रहे थे। उनके रचना संसार की सबसे अधिक विशेषता उसका अलंकारिक पन है। उसमें भारतीय संस्कृति के अनूठे और आदर्श चित्र बड़ी अलंकारिकता के साथ चित्रित किए गए हैं।

चण्डी प्रसाद 'हृदयेश'

'हृदयेशजी' की तीन पुस्तकें मिलती हैं—'नन्दन निकुंज', मंगल प्रभात, और मनोरमा। 'नन्दन निकुंज' उनकी कहानियों का संग्रह है। 'मंगल प्रभात' और 'मनोरमा' उपन्यास है। 'मंगल प्रभात' की कथावस्तु धार्मिक और नैतिक तत्वों के आधार पर संगठित हुई है। उसके पात्रों में सुभद्रा, और राजेन्द्र इत्यादि मुख्य हैं। 'सुभद्रा' और राजेन्द्र के चरित्र में आदर्श की भावना है। संग्रामसिंह, राधा, चम्पा, और यदुनन्दनसिंह इत्यादि ऐसे पात्र हैं, जो कुरूपता के चित्र उपस्थित करते हैं। पात्रों की बात चीत अधिक अलंकारिक और कवित्व पूर्ण है। सीधे सादे वर्णनों को भी अलंकारिकता के ही साँचे में ढाला गया है। अलंकारिकता ही मंगल प्रभात की कथावस्तु की मुख्य विशेषता है। स्थान स्थान पर धार्मिकता और नैतिकता को पुष्ट करने वाले अलंकारिक वाक्य मिलते हैं। कहीं कहीं अलंकारिक वाक्यों का विस्तार अधिक बढ़ गया है, जो ऊब और उचाट का कारण बनता है। 'हृदयेश' जी का दूसरा उपन्यास 'मनोरमा' है। मनोरमा की कथावस्तु को हम दाम्पत्य जीवन की कथावस्तु कह सकते हैं। उसमें दाम्पत्य जीवन में बँधे हुए स्त्री और पुरुष के मन के द्वन्दों का समावेश है। पात्रों में मनोरमा, शांत, मनोरमा के पति, और युवक प्रोफेसर का महत्त्व पूर्ण स्थान है। पात्रों में दो प्रकार के पात्र हैं—एक प्रकार के पात्र आदर्श चित्र उपस्थित करते हैं। जैसे—राधा, और दूसरे प्रकार के पात्र कुरूपता के चित्र सामने लाते हैं, जैसे मनोरमा और युवक प्रोफेसर। दोनों ही प्रकार के पात्र अधिक भावनामय है, और भावना की स्थिति में ही अपने सम्पूर्ण क्रिया कलाप, प्रदर्शित करते हैं। उपन्यास का लक्ष्य आदर्श है, जिसकी पूर्ति में लेखक को सफलता प्राप्त हुई।

चतुरसेन शास्त्री ने चार उपन्यासों की रचना की है—हृदय की परख, हृदय की

प्यास, अमर अभिलाषा और आत्मदाह। 'हृदय की परख' कल्पना प्रधान। 'हृदय

चतुरसेन शास्त्री

की प्यास' में नारी सौंदर्य के वासनामय रूप पर लुब्ध एक युवक की मूर्खताओं के चित्र हैं। अमर अभिलाषा की रचना सामाजिक तत्वों के आधार पर की गई है। 'विधवा विवाह की मीमांसा' अमर अभिलाषा की रचना का मुख्य ध्येय है। 'आत्म दाह' की कथावस्तु में भिन्न भिन्न तत्वों का योग है, जिनके कारण उसका लक्ष्य धुँधला और स्पष्ट प्रतीत होता है।

वृन्दावनलाल वर्मा हिन्दी-साहित्य के ऐतिहासिक उपन्यासकार हैं। उन्होंने उपन्यास के क्षेत्र में एक नवीन युग की स्थापना की है। अतः हम उन्हें युगांतर-

वृन्दावनलाल वर्मा

कारी उपन्यासकार भी कह सकते हैं। प्रेमचंदजी ने उपन्यास जिस युग का प्रवर्तन किया था, वर्मा जी उसे बीच में रोक कर एक नवीन युग की स्थापना करते हुए दिखाई पड़ते हैं। वर्माजी की कृतियों में न तो समाज की विकृतियों का चित्रण है, और न उन्होंने सामाजिक समस्याओं पर ही विचार किया है। उन्होंने अपने उपन्यासों के लिए इतिहास के उन पृष्ठों से सामग्री ली है, जो अधिक गौरव पूर्ण होने के साथ ही साथ अभी धुँधले और स्पष्ट हैं। वर्माजी ने उन धुँधले पृष्ठों पर, प्रकाश भी डालने की चेष्टा की है। उन्होंने उन गौरव पूर्ण धुँधले पृष्ठों पर प्रकाश डालकर, उन्हीं के भीतर से अपने उपन्यासों के लिए कथा वस्तु के रूप में जगमगाती हुई मणियां निकाली हैं। उनके प्रत्येक उपन्यास का कथानक भारतीय इतिहास और जीवन का गौरवपूर्ण चित्र है। उन्होंने बड़ी कुशलता के साथ इतिहास के धुँधले और गौरवपूर्ण पृष्ठों से, कथावस्तु ग्रहण करके उसमें जीवन के सभी अंगों का सामंजस्य स्थापित किया है। यद्यपि उन्होंने अपने इस कार्य में कल्पना से भी काम लिया है, पर उनकी कल्पना पूर्ण रूपेण वास्तविकता की ही पृष्ठ भूमि पर ही होकर चलती है।

वर्माजी के उपन्यास दो प्रकार के हैं, एक प्रकार के उनके उपन्यास वे हैं, जिनका संबन्ध अतीत के जीवन से है, जैसेः—गढ़ कुन्डार, विराटा की पद्मिनी, मुसाहबजू, झाँसी की रानी और कचनार। उनके दूसरे प्रकार के उपन्यास वर्तमान जीवन से सम्बन्धित है, जैसेः—लगन, कुन्डलीचक्र, कभी न कभी, प्रेम की भेंट, प्रत्यागत, और अचल मेरा कोई। 'गढ़ कुन्डार' वर्मा जी का ऐतिहासिक उपन्यास है। इसकी कथावस्तु बुन्देल खण्ड के इतिहास से ली गई है। कथावस्तु में मुख्य रूप से दो प्रकार के तत्त्व जुटे हुए हैं—युद्ध सम्बन्धी, और प्रेम सम्बन्धी। युद्ध सम्बन्धी तत्वों में ऐतिहासिक तथ्यों का समावेश है, किन्तु प्रेम के तत्त्वों में ऐतिहासिक तथ्यों के साथ ही साथ कल्पना का भी समावेश है। कथा वस्तु में दोनों ही तत्त्वों का विकास स्वाभाविकता के साथ हुआ है। कथावस्तु में युद्ध के अशांत और कोलाहल पूर्ण वातावरण में प्रेम के चित्रों की सृष्टि करना लेखक की कुशलता को प्रगट करता है। युद्ध के अशांत और कोलाहल पूर्ण स्थितियों में प्रेम के दृश्यों का प्रादुर्भाव मनोहारी ढङ्ग से हुआ है। कथावस्तु के

प्रवाह में गति और क्रममयता है। यद्यपि मुख्य कथावस्तु में कई घटनाओं का समावेश किया गया है, पर सभी घटनाएँ मुख्य कथावस्तु का अंग सी ज्ञात होती हैं। अतः कथावस्तु के प्रवाह में कहीं भी शिथिलता नहीं दिखाई पड़ती। पात्रों की दो श्रेणियाँ हैं। पात्रों की एक श्रेणी तो वह है, जो किसी विशेष वर्ग का प्रतिनिधित्व करते हैं, और दूसरी श्रेणी के पात्र वे हैं, जिनमें अपनी विशेषताएँ हैं। प्रथम श्रेणी के पात्रों में सोहनपाल, पुण्यपाल, दलपति, और सहजेन्द्र इत्यादि बुंदेले हैं। द्वितीय श्रेणी के पात्रों में किशुनसिंह और दुश्मनसिंह इत्यादि खँगार आते हैं। बुंदेले वीर और स्वाभिमानी हैं। उनमें जात्याभिमान और मानापमान की भावना की प्रबलता है। खँगारों में छिछली भावनाएँ हैं। उनके चरित्रों से उनका हलकापन प्रतीत होता है। स्त्री पात्रों में तारा, हेमवती, और मानवती का स्थान मुख्य है। तारा आदर्श स्त्री है। प्रेम के क्षेत्र में उसका त्याग स्तुत्य और स्मरणीय है।

वर्माजी का दूसरा उपन्यास 'विराटा की पद्मिनी' है। विराटा की पद्मिनी की कथावस्तु ऐतिहासिक होते हुए भी ऐतिहासिक नहीं है। इसका कारण यह है, कि इसकी कथा वस्तु में कई कालों की घटनाओं का समावेश किया गया है। अर्थात् कई कालों की घटनाओं को लेकर उन्हें एक सूत्र में गूँथा गया है। अतः इसकी कथावस्तु में ऐतिहासिक तथ्यों का अभाव पाया जाता है। इसकी कथावस्तु का पूर्ण कल्पना को आधार मानकर संगठित की गई है। कल्पना के सूत्र में, विभिन्न काल की घटनाओं का संगठन बड़ी कलात्मकता के साथ किया गया है। घटनाओं का संगठन ऐसी ऐसी चतुराई और कलात्मकता के साथ किया गया है, कि कथावस्तु के प्रवाह में कहीं भी अवरोध उपस्थित नहीं होता। यद्यपि कथावस्तु का संगठन विभिन्न काल की घटनाओं से हुआ है, पर चातुर्य और कलात्मकता के कारण कथा-वस्तु एक काल की प्रतीत होती है। कथावस्तु में प्रेम, त्याग और युद्ध के तत्व जुटे हुए हैं। प्रेम के तत्व अधिक मात्रा में पाए जाते हैं। शेष तत्व उसमें सहचर और सहायक से ज्ञात होते हैं।

पुरुष पात्रों में कुंजरसिंह, अलीमदान, देवीसिंह, लोचनसिंह, जनार्दन शर्मा, और नायकसिंह इत्यादि का नाम आता है। पुरुष पात्र में कुंजरसिंह का प्रमुख स्थान है। कुंजर ही इसका प्रधान नायक है। स्त्री पात्रों में 'कुमुद' के चरित्र की प्रधानता है। 'कुमुद' और कुंजर-दोनों के आदर्श प्रणय गाथा के चित्र 'विराटा की पद्मिनी में मिलते हैं। शेष संपूर्ण घटनाएँ इन दोनों के प्रेम-चित्रों से ही संबंध रखती हैं। प्रेम-चित्रों का चित्रण बड़ी कलात्मकता और स्वाभाविकता के साथ हुआ है। स्थान स्थान पर त्याग और कर्त्तव्य कर्म के मनोरम चित्र मिलते हैं। यद्यपि कथा का अंत दुःख की स्थिति में हुआ है, पर कथा के भीतर जो आदर्श चित्र बने हैं, उनसे हृदय में आनन्द, सुख और संतोष का ही संचार होता है।

वर्माजी का तृतीय उपन्यास झाँसी की रानी लक्ष्मीबाई है। इस उपन्यास में वर्माजी के दो रूप दिखाई पड़ते हैं—इतिहासकार के, और उपन्यासकार के इति-

हासकार के रूप में उन्होंने अतीत के अंधकार पूर्ण सागर के भीतर प्रवेश किया है, और उसके भीतर से वास्तविक ऐतिहासिक तथ्यों को बाहर निकालने का स्तुत्य प्रयास किया है। उन्होंने लक्ष्मी बाई के जीवन के संबन्ध में जो तथ्य सामने उपस्थित किए हैं, उनसे इतिहास के पृष्ठों पर एक नया आलोक पड़ता है। 'झांसी की रानी' को इतिहास के तथ्यों से ही सजाने का प्रयत्न किया गया है। इसमें इतिहास के तथ्य इतने प्रभाव के साथ ऊपर आ गए हैं, कि उनके समक्ष उपन्यास के तत्व दब से गए हैं। यही कारण है, कि इस उपन्यास में वर्माजी की औपन्यासिकता प्रभाव हीन सी ज्ञात होती है। उनके इस उपन्यास को यदि हम चरित्रात्मक कहें तो उपयुक्त ही होगा। क्योंकि आदि से लेकर अंत तक लक्ष्मीबाई का चरित्र चित्रण करना ही उनका ध्येय है। उपन्यास की मुख्य पात्री झाँसी की रानी लक्ष्मीबाई हैं। लेखक ने अपनी इस कृति में लक्ष्मीबाई के चरित्र-चित्रों को बड़े प्रभावपूर्ण ढंग से अंकित किया है। चरित्र-चित्रों में विभिन्न प्रकार के भाव गुंफित हैं, जिनमें आकर्षण और हृदय को आंदोलित करने वाले मुख्य तत्व हैं।

'मुसाहिब जू' भी वर्माजी का ऐतिहासिक उपन्यास है। इसकी कथा वस्तु का आधार यद्यपि इतिहास है, पर इसके अधिकांश पात्र काल्पनिक हैं। कथावस्तु में 'मुसाहिब जू' अधिकांश ऐसी घटनाओं का समावेश किया गया है, जो जन-श्रुतियों पर आधारित हैं। अतः कथावस्तु ऐतिहासिक होते हुए भी कल्पित ज्ञात होती है। कथावस्तु का संगठन स्वामि भक्ति, उदारता, और वीरता के तत्वों से किया गया है। कथा वस्तु में उदारता, और वीरता के प्रशंसनीय चित्र हैं, जिनके कारण कथा वस्तु में ओजस्विता, और प्रभावमयता उत्पन्न हो गई है। पात्रों में विजय बहादुर सिंह, दलीपसिंह, रमू और लल्ला इत्यादि का प्रमुख स्थान है। मुसाहिब जू, उनकी पत्नी, रमू और लल्ला इत्यादि चरित्रों के चित्रांकन में लेखक की कला-कुशलता छिपी हुई है। 'कचनार' की रचना भी ऐतिहासिक वृत्तों के ही आधार पर हुई है। कचनार की कथावस्तु में कई मर्मस्पर्शी तत्व जुटे हुए हैं, जिनमें करुणा, प्रेम, साहस, और त्याग मुख्य हैं। कथा वस्तु रोचक और प्रभावपूर्ण है। उसके विकास में प्रवाह और स्वाभाविकता है। पात्रों में दिलीपसिंह, गोसाई अचलपुरी, डरू, कलावती और कचनार का प्रमुख स्थान है। 'कचनार' मुख्य चरित्र है, जिसके चित्रण में लेखक की प्रतिभा की कुशलता और तीव्रता प्रगट होती है। पुरुष पात्रों में मानसिंह, दिलीपसिंह और डरू के चरित्र चित्रण में भी लेखक की प्रतिभा की सक्षमता प्रगट होती है।

वर्माजी के द्वितीय कोटि के उपन्यास सामाजिक हैं, जिनके नाम इस प्रकार हैं—लगन, प्रत्यागत, प्रेम की भेंट, कुण्डलीचक्र, कोतवाल की करामात, और अचल मेरा कोई। इन उपन्यासों की रचना का आधार सामाजिक समस्याएँ हैं। किसी में 'प्रेम' की समस्या को सुलझाने का प्रयत्न किया गया है, तो किसी में दाम्पत्य जीवन की समस्या को औपन्यासिकता का आधार बनाया गया है। यद्यपि इन सामाजिक

उपन्यासों में भी वर्माजी की औपन्यासिक कला के चमत्कार देखने को मिलते हैं, किन्तु उनकी कला का जितना अधिक विकास उनके ऐतिहासिक उपन्यासों में हुआ है, उतना सामाजिक उपन्यासों में नहीं। सामाजिक उपन्यासों में उनकी कला में वह ओजस्विता नहीं दिखाई पड़ती, जो ऐतिहासिक उपन्यासों में दिखाई पड़ती है। ऐसा लगता है, कि सामाजिक समस्याओं के चित्रण में उनकी कला की अभिरुचि नहीं है। उनकी 'कला' तो बुन्देल खंड के खंडहरों में विहार करती है, और उन्हीं खंडहरों में गूँजती हुई अलबेले और बाँके बुन्देलों के वीरतापूर्ण कथाओं और कहानियों के चित्रण में ही उसका मन लगता है।

वर्माजी ऐतिहासिक उपन्यासकार हैं। उनकी कला ऐतिहासिक वृत्तों से ही अपना अभिसार करती है। ऐतिहासिक वृत्तों से अपना अभिसार करने में उनकी कला अधिक प्रवीण है। उनकी कला ने अपनी कथावस्तु के लिए बुन्देलखंड के खंडहरों में परिभ्रमण करके उसके भीतर से मणि-राशियाँ निकाली हैं। वर्माजी की कला ने, बुन्देल खंड के खंडहरों में युगों से धरती के नीचे पड़ी हुई मणि-राशियों को बाहर निकाला है, और उन्हें धो धोकर स्वच्छ किया है। उनकी कला ने उन मणियों के प्रकाश को—उनके आलोक को, अपने साँचे में ढाल कर संसार के समक्ष उपस्थित किया है। उनका प्रकाश गौरव पूर्ण है, मार्मिक है, और जीवन तथा जागृति से भरा हुआ है। वे मणियाँ हैं—बुन्देल खंड के वीरों की कथाएँ जिनमें वीरता, साहस, देश प्रेम, पुरुषार्थ त्याग, और प्रेम के ओजस्वी चित्र हैं। वर्माजी ने बुन्देलखंड के धुँधले और अस्पष्ट इतिहास के पृष्ठों में प्रवेश करके बड़े परिश्रम से इन कथाओं का पता लगाया है। यह कथाएँ ऐसी कथाएँ हैं, जो अपने युग के जीवन, समाज, और देश के गौरव को प्रगट करती हैं। हमारे वर्तमान जीवन, समाज, और देश के लिए भी यह कथाएँ अधिक गौरव पूर्ण हैं। यह हमारी रगों में जीवन और जागृति का संचार करती हैं, तथा देश और समाज के सामने उसके अतीत का गौरव पूर्ण चित्र रख कर उसे वीरता की ओर बढ़ने के लिए संकेत करती हैं।

वर्माजी की कला केवल इतिहास के एक विशिष्ट युग पर ही ध्यान नहीं देती, उसकी दृष्टि अतीत के पर्दे पर बड़ी विशालता के साथ घूमती है। उसे अतीत के अतल-सिंधु में जहाँ कहीं रत्न राजियाँ मिलती हैं, दूसरे शब्दों में उसे जहाँ कहीं गौरव पूर्ण चित्र मिलते हैं, वह उन्हें रचना के रूप में सँजोती है। उसने प्राचीन काल के इतिहास से भी अपने लिए कथाएँ चुनी हैं, और मध्य काल के गौरव पूर्ण चित्रों को भी उसने ग्रहण किया है। आधुनिक काल से भी उसने वीरता पूर्ण चित्र लिए हैं। इस प्रकार कथावस्तु को सँजोने में उनकी कला की दृष्टि अधिक दूरगामिनी दिखाई पड़ती है। यद्यपि उनकी कथावस्तु ऐतिहासिक प्रांगणों में ही विहार करती है, पर उनकी कला ने उसमें कल्पना का संमिश्रण करके उसे अधिक सरस, सकरुण, और हृदय द्रावक बना दिया है। एक ओर उनकी कथावस्तु में जहाँ ऐतिहासिक तथ्य हैं, वहाँ दूसरी ओर उसमें कल्पना के तत्त्व भी जुटे हुए हैं। इस प्रकार उनकी

कला ने अपनी कथावस्तु में ऐतिहासिक तथ्यों, और साहित्यिक विशिष्टताओं का संयोग बड़ी कुशलता के साथ स्थापित किया है। यही कारण है, कि उनकी कृतियों की कथावस्तु में अधिक आकर्षक और रोचक तत्वों का समावेश हो सका है।

वर्माजी की कला ने अपनी कथावस्तु का अभिसार कई प्रकार के भाव-तत्वों से किया है। उनकी कथावस्तु में वीरता, पराक्रम, साहस, और उत्साह के चित्र अधिक मिलते हैं। त्याग, उत्सर्ग और देश प्रेम के चित्रों से भी उनकी कथावस्तु उल्लसित है। कर्म और धर्म के चित्र भी उनकी कथावस्तु में मिलते हैं। वर्माजी की कला ने अपने ऐतिहासिक वीर-वृत्तों में प्रेम की उद्भावना भी बड़ी मर्म स्पर्शिता के साथ की है। वीरता, त्याग और पराक्रम की गोद में उनकी प्रेम की सुकोमल कल्पनाएँ अधिक मनोहर ज्ञात होती हैं। उनकी कला में जहाँ वीरता और पराक्रम के ओजस्वी चित्रों के अंकन का गुण है, वहाँ वह प्रेम के सुकोमल और मार्मिक चित्रों को उपस्थित करने में भी अधिक दक्ष है। उनकी औपन्यासिक कला की यह सबसे बड़ी विशेषता है। इस प्रकार के प्रेम पूर्ण भावनाओं के मार्मिक चित्र ऐतिहासिक उपन्यासों के कथानकों में बहुत कम उपलब्ध होते हैं। वर्माजी की कला अपने दूसरे प्रकार के उपन्यासों में, जिन्हें सामाजिक उपन्यास कहते हैं, सामाजिक समस्याओं से अपनी कथावस्तु का अभिसार करती है। सामाजिक समस्याओं के साथ ही उसमें राष्ट्रीय चेतनाएँ भी मिलती हैं।

वर्माजी की औपन्यासिक कला जहाँ कथावस्तु के निर्वाचन और संगठन में प्रवीण है, वहाँ चरित्र चित्रण में भी उसकी अधिक कुशलता देखने को मिलती है। उनके दोनों ही प्रकार के उपन्यासों में सीमित संख्या में ही पात्र पाए जाते हैं। उन्होंने अपने उपन्यासों में उतने ही पात्रों को स्थान दिया है, जितने पात्रों की उनकी कथावस्तु को आवश्यकता है। यही कारण है, कि उनके चरित्र चित्रण में स्वाभाविकता है। उन्होंने पात्रों के चरित्र चित्रण पर मुख्य रूप से अपने ध्यान को केन्द्रित रक्खा है। उनके पात्र दो प्रकार के हैं। उनके एक प्रकार के पात्रों को हम सत् प्रवृत्ति पोषक और दूसरे प्रकार के पात्रों को कुप्रवृत्ति पोषक कह सकते हैं। उनके पात्र एक ओर आदर्शवाद के चित्र उपस्थित करते हैं, और दूसरी ओर यथार्थवाद के। उन्होंने अपने पात्रों के दोनों प्रकार के चित्रों को स्वाभाविकता के साँचे में ढाला है। उनका प्रत्येक चित्र स्वाभाविक, हृदय ग्राही, और अधिक आकर्षक है। यद्यपि उनकी कला को पुरुष पात्रों के चरित्रांकन में भी अत्यधिक सफलता प्राप्त हुई है, पर स्त्री पात्रों के चरित्रांकन में उसका अधिक विकास देखने को मिलता है। स्त्री पात्रों के चरित्रांकन में वर्माजी की कला की मर्मज्ञता टपकती है।

वर्माजी की कला बड़ी शक्तिशालिनी है। वह अपने पात्रों पर पूरा पूरा अपना अधिकार रखती है। कोई भी पात्र, चाहे वह अधिक प्रभावशाली ही क्यों न हो, संयम की सीमा से बाहर नहीं जाता। पात्रों की बात चीत, और कथनोपकथन पर भी उनकी कला का पूर्ण अधिकार है। बात चीत करते हुए पात्रों को अपनी मर्यादा

और स्थिति का पूरा-पूरा ध्यान रहता है। बात चीत में वे समय, और अनुकूलता का भी ध्यान रखते हैं। वे उतनी ही बात चीत करते हैं, जितनी उन्हें आवश्यकता होती है। उनकी बात चीत में लक्ष्य का पूर्ण रूप से समावेश होता है। उनके वार्तालाप का प्रत्येक शब्द लक्ष्य को ही दृष्टि में रख कर बाहर निकलता है। उनके वार्तालाप में एक विशेष 'कला' देखने को मिलती है। उसे हम नाटकीय 'कला' कह सकते हैं। पात्रों के वार्तालाप में 'नाटकीय कला' होने के कारण उसकी रोचकता, और प्रभावोत्पादकता अधिक सजीव बन गई है।

इस प्रकार वर्माजी की कला सभी औपन्यासिक अवयवों से भली प्रकार परिपुष्ट है। अपनी परिपुष्टता ही के कारण वह दिनों दिन हिन्दी के उपन्यास-जगत में यशपाताकिनी बनती जा रही है। कला की इस परिपुष्टता ही के कारण समीक्षक गण वर्माजी को हिन्दी का 'वाल्टर स्काट' कहते हैं।

पांडेय बेचन शर्मा 'उग्र' सामाजिक कथाकार हैं। उन्होंने कई उपन्यासों की रचना की है, जिनमें चंदहसीनों के खुतूत, दिल्ली का दलाल, बुधुआ की बेटी, शराबी, और जीजीजी अधिक प्रसिद्ध हैं। उन्होंने समाज, की विकृतियों को ही लेकर अपने उपन्यासों की कथावस्तु का शृङ्गार किया है। उनकी औपन्यासिक कला सामाजिक विकृतियों के चित्र उपस्थित करने में ही अपनी वास्तविकता समझती है। उनकी 'कला' को 'यथार्थवाद' से अधिक प्रेम है। यथार्थवाद का चित्र उपस्थित करने में वह प्रायः व्यक्ति, समाज और राष्ट्र के निर्माण के प्रश्न की उपेक्षा कर जाती है। सजीवता, और स्फूर्तिमयता उनकी कला की प्रधान विशेषता है।

पांडेय बेचन शर्मा 'उग्र'

भगवतीचरण जैन ने सामाजिक विकृतियों को ही आधार मान कर अपने उपन्यासों की रचना की है। उनके उपन्यासों में दिल्ली का व्यभिचार, दिल्ली का कलङ्क, वेश्या पुत्र, मास्टर साहब, रहस्यमयी और भाई इत्यादि अधिक प्रसिद्ध हैं।

भगवतीचरण जैन

जैनेन्द्रकुमार सुप्रसिद्ध कथाकार हैं। प्रेमचंदजी के पश्चात् यही वह कथाकार हैं, जिन्होंने हिन्दी-उपन्यास जगत में एक नई दिशा को स्पष्ट किया है। वह नई दिशा है, भाव को मनोवैज्ञानिकता के साँचे में भली प्रकार ढालना। यद्यपि प्रेमचंदजी बहुत पहले भाव-जगत में मनोवैज्ञानिकता की स्थापना कर चुके थे, पर सामाजिक समस्याओं के सुधार में अधिक व्यस्त होने के कारण उनकी मनोवैज्ञानिकता अधिक स्पष्ट न हो सकी थी। इस कार्य को श्री जैनेन्द्रजी ने ही पूर्ण किया है। अतः जैनेन्द्रजी को ही हम भाव-जगत में मनोवैज्ञानिकता की स्थापना का श्रेय देते हैं। श्री जैनेन्द्रजी की मनोवैज्ञानिकता का आधार व्यक्ति की समस्याएँ हैं। वे अपने उपन्यासों में व्यक्ति की समस्याओं को ही अधिक महत्व देते हैं। अभी तक हिन्दी की उपन्यास कला समष्टि के जीवन को ही लेकर व्यस्त थी, पर श्री जैनेन्द्रजी उसे व्यक्ति के जीवन-धरातल पर लाए हैं। व्यक्ति के जीवन-धरा-

जैनेन्द्रकुमार

तल पर आने के कारण उसका रूप पहले से अधिक व्यापक, विस्तार पूर्ण और सुव्यवस्थित बन गया है। उसने अपने इस नवीन रूप में जो चित्र सामने उपस्थित किए हैं, उनमें जीवन, और समाज का द्वन्द मुखरित हो उठा है।

श्री जैनेन्द्रजी ने कई उपन्यासों की रचना की है, जिनमें परख, तपोभूमि, सुनीता, कल्याणी, त्याग पत्र, और अनाम स्वामी इत्यादि अधिक प्रसिद्ध हैं। 'परख' जैनेन्द्र जी का प्रथम उपन्यास है। 'परख' की कथावस्तु बड़े कौशल के साथ संगठित की गई है। उसका लक्ष्य तो आध्यात्मिकता है, पर वह सामाजिक और प्राकृतिक समस्याओं के धरातल से होती हुई अपने लक्ष्य की ओर आगे बढ़ती है। समाज और प्रकृति सम्बन्धी अनेक समस्याओं के चित्र उसमें बने हैं। ऐसा लगता है, मानों वह प्रकृति और समाज सम्बन्धी अनेक समस्याओं को जन्म देकर उनका निदान आध्यात्मिकता में ही खोजती है। कथावस्तु अधिक प्रभाव पूर्ण, और आकर्षक है। उसमें हृदय और बुद्धि के अनेक तत्त्व जुटे हुए हैं। हृदय और बुद्धि के द्वन्दात्मक चित्रों के कारण कथावस्तु की मार्मिकता अधिक बढ़ गई है। पात्रों में कट्टो, सत्य धन, और बिहारी इत्यादि का प्रमुख स्थान है। पात्रों का चरित्र चित्रण विचारों के आधार पर किया गया है। पात्रों के विचारों में मनोवैज्ञानिकता का पूर्ण समावेश है। दार्शनिकता और आध्यात्मिकता ही उनके विचारों का लक्ष्य है। उनके सम्पूर्ण कार्य कलापों, और व्यापारों में दार्शनिकता की भावना है। उनके संलाप के एक एक वाक्य दार्शनिकता के चिह्न बनाते हैं। वे अपने क्रिया कलापों, और व्यापारों में किसी चिरंतन सत्य, और सौन्दर्य की खोज में तन्मय दिखाई पड़ते हैं।

'तपोभूमि' श्री जैनेन्द्रजी का दूसरा उपन्यास है। इसकी रचना उन्होंने श्री ऋषभ चरण जैन के साथ संमिलित रूप में की है। इसमें जैनेन्द्रजी का अधिक अंश नहीं है। इसलिए इसमें उनकी उस कला के दर्शन नहीं होते, जिसने 'परख' में समीक्षकों को मुग्ध कर लिया था। 'सुनीता' श्री जैनेन्द्रजी की तीसरी कृति है। सुनीता की कथावस्तु अटपटी, और उलझी हुई है। कथावस्तु का संगठन कई तत्त्वों से किया गया है, जिनमें राष्ट्र प्रेम, व्यक्तिगत प्रेम, स्त्री का स्त्रीत्व, और आध्यात्मिक तत्व मुख्य हैं। सभी तत्त्वों में आध्यात्मिक तत्वों की ही प्रधानता मिलती है। अतः सुनीता की कथावस्तु को पूर्ण रूप से आध्यात्मिक मान लिया जाय तो अत्युक्ति न होगी। कथावस्तु में आध्यात्मिक तत्वों की प्रधानता होने ही के कारण कथावस्तु एक समस्या सी दिखाई पड़ती है। पात्रों में सुनीता, हरिप्रसन्न, और श्रीकांत इत्यादि मुख्य हैं। पात्रों का चरित्र चित्रण दार्शनिकता को आधार मान कर किया है। पात्रों के चरित्र चित्रण में दार्शनिकता का अधिक समावेश होने के कारण पात्र अधिक अलौकिक से बन गए हैं। पात्रों के चरित्र चित्रण, और कथावस्तु के विकास में विश्लेषण की प्रधानता दिखाई पड़ती है; परिणाम स्वरूप 'सुनीता' में चरित्र, और कथावस्तु का विकास स्वाभाविक रूप में नहीं हो सका है।

'कल्याणी' में आधुनिक नारी की समस्याएँ हैं। कल्याणी की कथावस्तु वास्त-

विकता को आधार मान कर अग्रसर हुई है। इसकी कथावस्तु में वह आध्यात्मिकता और मनोवैज्ञानिकता नहीं है, जिसे हम 'सुनीता' में देख चुके हैं। इसके विपरीत इसमें जीवन की वास्तविकता है। 'त्याग पत्र' में भी जीवन की वास्तविकता के ही चित्र मिलते हैं। 'अनाम स्वामी' में विचारों के तत्व उभड़ पड़े हैं। 'अनाम स्वामी' में उनकी कला का दार्शनिक रूप पुनः दिखाई पड़ता है। अनाम स्वामी में दार्शनिकता ने उनकी औपन्यासिकता को आक्रांत-सा कर लिया है।

श्री जैनेन्द्रजी की उपन्यास कला अधिक संयमित और प्रभाव पूर्ण है। वह अपनी कथावस्तु के लिए समाज के भीतर प्रवेश करती है। समाज के भीतर व्यक्ति उसे अधिक प्रिय है। उसने व्यक्ति की समस्याओं से ही अपनी कथावस्तु का अभिसार किया है। उसने व्यक्ति की समस्याओं को हृदय, और बुद्धि—दोनों की ही सहायता से परखने का प्रयत्न किया है। उसके प्रयत्न में हृदय और बुद्धि-दोनों के ही तत्वों का संघर्ष साथ साथ दिखाई देता है; परिणाम स्वरूप उसके प्रयत्न में जहाँ बुद्धि की तीव्रता और शुष्कता का समावेश हुआ है, वहाँ उसमें हृदय की सरलता और कोमलता भी है। इस प्रकार जैनेन्द्रजी की कला ने अपनी कथावस्तु में हृदय और बुद्धि के तत्वों का संयोग बड़ी कुशलता के साथ स्थापित किया है। उनकी कला में विचार-प्रवृत्ति है। वह घटनाओं और कथावस्तु के विस्तार की ओर ध्यान न देकर चिंतन और विश्लेषण की ओर ही अधिक ध्यान देती है। यही कारण है कि उनके उपन्यासों में घटनाओं का अभाव पाया जाता है। केवल एक मूल कथा का चित्रण करना ही उनकी कला को इष्ट है। वह कथा के विकास और विस्तार के लिए मूल कथा में प्रासंगिक कथाओं का समावेश नहीं करती। वह अपनी कथावस्तु के विकास में चिंतन और विश्लेषण के तत्वों को ही अधिक महत्व देती है। वह कथावस्तु के विकास के लिए जीवन के अतल महासिंधु में प्रवेश करती है, और क्षुद्र से क्षुद्र कणों के प्रति आदर भाव रखती हुई अमूल्य रत्नों को एकत्र करती है। वह जीवन की पूर्णता को क्षुद्रतम संकेतों और गतियों की झाँकी से ही देखती है। वह अपनी कथावस्तु के विकास के लिए जीवन के क्षुद्रतम संकेतों पर ही अपने ध्यान को केन्द्रित रखती है। उसकी कथावस्तु में जीवन के क्षुद्रतम संकेतों ने ही जीवन की पूर्णता का रूप धारण किया है।

श्री जैनेन्द्रजी की कला क्षुद्रता में ही महानता का दर्शन करती है। वह कणों में ही अनंतता का आभास पाती है। यही कारण है, कि उसने अपने लिए—अपने व्यापार के लिए व्यक्ति को चुना है। उसके पात्र यद्यपि समाज के ही प्राणी हैं, पर वे ऐसे प्राणी हैं, जिनके ऊपर समाज आधारित है—जिनकी ओर समाज आशा-उत्कंठा से देखता है। श्री जैनेन्द्रजी की कला व्यक्ति के महत्व की पुजारिणी है। पात्रों के रूप में उन्होंने व्यक्ति के जीवन की समस्याओं पर ही प्रकाश डाला है। समस्याओं पर प्रकाश डालने की उनकी शैली मनोवैज्ञानिक है। उन्होंने अपनी मनोवैज्ञानिकता में दार्शनिक तथ्यों का भी समावेश किया है। उन्होंने व्यक्ति के

जीवन की समस्याओं को दार्शनिकता के दर्पण से ही देखने का प्रयत्न किया है। उनका प्रत्येक व्यक्ति दार्शनिक है। उनका प्रत्येक व्यक्ति दार्शनिक स्वर में बोलता है, और दार्शनिक दृष्टि से ही समस्याओं का निदान करता है।

श्री जैनेन्द्रजी की कला पात्रों के चरित्र चित्रण में अधिक कुशल है। उनकी कला ने पात्रों का चरित्र-चित्रण विचारों को ही आधार मान कर किया है। उन्होंने चरित्र चित्रण में विश्लेषणात्मक और अभिनयात्मक प्रणाली का प्रयोग किया है। कहीं कहीं चरित्र चित्रण में उन्होंने पात्रों के अंगों, और उनकी चेष्टाओं के वर्णन से भी काम लिया है। उनके चरित्र चित्रण में सांकेतिकता और रहस्यात्मकता है। उनके पात्र सांकेतिक और रहस्यात्मक ढङ्ग से अपने चरित्र के चिह्न बनाते हैं। पात्रों के कथनोपकथन, और वार्तालाप में भी सांकेतिकता दिखाई पड़ती है। वार्तालाप भाव पूर्ण, और समय तथा स्थिति के अनुकूल है। वार्तालाप में प्रायः सभी पात्र छोटे-छोटे और भाव पूर्ण वाक्यों का ही प्रयोग करते हैं। पात्रों का वार्तालाप और उनका कथनोपकथन उनकी रुचि तथा प्रकृति के अनुकूल है। पात्रों के वार्तालाप में जहाँ यह विशेषताएँ हैं, वहाँ उनमें कुछ अभाव भी दिखाई पड़ते हैं। पात्रों के वार्तालाप में स्पष्टता का अभाव है। ऐसा लगता है, जैसे वे अपने भीतर की बात को दबा रहे हों। पात्रों में निर्भीकता और उच्चकोटि की चारित्र्यिकता भी नहीं दिखाई पड़ती, परिणामतः अनेक स्थलों पर पात्रों के चरित्र चित्रण में अस्वाभाविकता दिखाई पड़ती है। विचारों की अस्पष्टता के कारण रोचकता का अभाव भी उनकी कृतियों में मिलता है।

श्री इलाचन्द्र जोशी यथार्थवादी कथाकार हैं। उनका यथार्थवाद सिद्धांत की पृष्ठभूमि पर आधारित है, जिसमें मनोविश्लेषणात्मक तत्व सन्निहित हैं। उन्होंने कई

श्री इलाचन्द्र जोशी उपन्यासों की रचना की है, जिनमें संन्यासी, पर्दे की रानी, प्रेत की छाया, निर्वासिता, और लज्जा इत्यादि मुख्य हैं। संन्यासी में स्त्री-पुरुष के प्रेम को आधार बनाया गया है। उसकी कथावस्तु में दो स्त्रियों और एक व्यक्ति का द्वन्द्वात्मक चित्र है। पात्रों में नन्दकिशोर, शांति, और जयन्ती का प्रमुख स्थान है। पात्रों के चरित्र चित्रण पर ही मुख्य रूप से 'संन्यासी' में ध्यान दिया गया है। चरित्र चित्रण में विश्लेषणात्मक और मनोवैज्ञानिक प्रणाली का प्रयोग हुआ है। जोशीजी का दूसरा उपन्यास 'पर्दे की रानी' है। 'पर्दे की रानी' की कथावस्तु का आधार एक व्यक्ति का चरित्र है, जिसके कार्य-व्यापारों पर उसके पूर्वार्जित संस्कारों का प्रभाव प्रमुख रूप से पड़ता है। पात्रों में निरंजना, मनमोहन, और इन्द्र मोहन का प्रमुख स्थान है। तीसरा उपन्यास प्रेत की छाया है। 'प्रेत की छाया' की रचना कुछ सिद्धान्तों के प्रतिपादन के लिए हुई है। अतः इसमें लेखक का ध्यान सिद्धान्तों को प्रभाव पूर्ण ढङ्ग से सामने उपस्थित करने की ओर ही विशेष रूप से दिखाई पड़ता है, परिणाम स्वरूप कथावस्तु और चरित्र का विकास स्वाभाविक ढङ्ग से नहीं हो सका है। इसके प्रतिकूल 'सिद्धान्त' प्रबल वेग से उभड़ पड़ा है, और औपन्यासिक

कला को उसने अपने आवरण से ढँक लिया है। 'निर्वासिता' में भी सिद्धान्तों का ही प्रतिपादन किया गया है। 'लज्जा' में प्रेम की समस्याओं के चित्र हैं।

श्री सियारामशरण गुप्त ने चार उपन्यासों की रचना की है—गोद, अन्तिम आकांक्षा, नारी, और झूठ सच। गोद उनका प्रथम उपन्यास है। इसकी कथावस्तु श्री सियाराम शरण गुप्त ग्रामीण जीवन से सम्बन्ध रखती है। कथावस्तु में नारी हृदय के वात्सल्य स्नेह के मनोरम चित्र हैं। पात्रों में शोभाराम, दयाराम, पार्वती और किशोरी का प्रमुख स्थान है। दूसरा उपन्यास अन्तिम आकांक्षा है, जिसकी कथावस्तु का संगठन विभिन्न व्यक्तियों के मन के भावों से किया गया है। कथावस्तु में प्रेम त्याग, मानवता, घृणा और हिंसा तथा षड्यन्त्र इत्यादि के भाव-तत्व जुटे हुए हैं। पात्रों में 'रमला' और रामलाल का प्रमुख स्थान है। 'नारी' गुप्तजी की तीसरी कृति है, जिसमें उन्हें सर्वाधिक सफलता प्राप्त हुई है। 'नारी' की कथावस्तु में नारी हृदय के मार्मिक चित्र हैं। पात्रों में जमुना का मुख्य स्थान है।

प्रतापनारायण श्रीवास्तव सामाजिक कथाकार हैं। इन्होंने अपने उपन्यासों का निर्माण समाज के उन व्यक्तियों से किया है, जिन्हें हम नई सभ्यता के व्यक्ति कह सकते हैं, और जो बँगलों में निवास करते हैं। इनके प्रायः सभी उपन्यास इन्हीं व्यक्तियों के जीवन की घटनाओं, और इन्हीं के द्वारा बने हुए समाज की समस्याओं को लेकर ग्रथित हुए हैं। इनके उपन्यासों में विदा, विजय, विकास, अशीर्वाद, और पाप की ओर मुख्य हैं। 'विदा' की कथावस्तु परिवार के तत्वों के आधार पर तैयार की गई है। कथावस्तु में तीन परिवारों के विभिन्न भाव तत्व जुटे हुए हैं, जो बड़े आकर्षक, रोचक, और मार्मिक हैं। भाव-तत्वों के संगठन में वैज्ञानिकता से काम लिया गया है। यद्यपि भाव-तत्व विभिन्न परिवारों के हैं, पर उनकी संयोजना कथावस्तु में इस प्रकार की गई है, कि वे एक सूत्र में गुँथ गए हैं, और एक कथा का रूप धारण कर लिया है। पात्रों में माधव बाबू, कुमुदिनी, कुमुद, मुरारी, मिस्टर माथुर, शांता, वर्मा, चपला, और निर्मल इत्यादि का मुख्य स्थान है। पात्र प्रायः नवीन सभ्यता के हैं, पर वे भारतीय सभ्यता के प्रति भी आस्था रखते हैं। पात्रों के चरित्र चित्रण में आदर्श को प्रधानता दी गई है। सभी पात्र सजीव हैं, और आदर्श की ओर विशेष रूप से उन्मुख दिखाई पड़ते हैं।

श्रीवास्तवजी का दूसरा उपन्यास 'विजय' है। विजय की कथावस्तु का संगठन सामाजिक समस्याओं को आधार मान कर किया गया है। 'विधवा विवाह' की समस्या 'विजय' की कथावस्तु की मुख्य समस्या है। 'विधवा विवाह' की समस्या से सम्बन्धित चित्र ही कथावस्तु में पाए जाते हैं। 'विकास' श्रीवास्तवजी की तीसरी कृति है। विकास की कथावस्तु का संगठन दो कहानियों को जोड़ कर किया गया है, जिनमें आधुनिक जीवन की जटिलताओं के चित्र हैं। दोनों कहानियों के पारस्परिक सम्बन्धों

में अभाव है, जिससे कथावस्तु के प्रवाह में शिथिलता दिखाई पड़ती है। पात्रों में 'अमी लिया' का चरित्र अधिक कलात्मकता के साथ चित्रित किया गया है।

श्रीभगवतीचरण वर्मा यथार्थवादी कथाकार हैं। उनके तीन उपन्यास प्रकाशित हुए हैं—चित्र लेखा, टेढ़े मेढ़े रास्ते, और तीन वर्ष। 'चित्र लेखा' की कथावस्तु

श्रीभगवतीचरण वर्मा

इतिहास के पृष्ठों से ली गई है, पर लेखक ने उसे नवीन ढंग से सामने प्रस्तुत किया है। अतः उसमें ऐतिहासिक तथ्यों का अभाव, किन्तु कल्पना की स्वतंत्रता अधिक है। कथावस्तु रोचक और प्रवाह पूर्ण है। उसमें पाप-पुण्य के प्रश्न का विवेचन कड़ी मार्मिकता के साथ किया गया है। पात्रों में चित्र लेखा, कुमारगिरि, और बीज गुप्त का चरित्र मुख्य है। पात्रों के चरित्र चित्रण में विचारों को ही प्रधानता दी गई है। लेखक का ध्यान चरित्र-विकास की ओर प्रमुख रूप से पाया जाता है। 'तीन वर्ष' वर्माजी की दूसरी कृति है। इसकी कथा वस्तु का संगठन आधुनिक जीवन के कई तत्वों से किया गया है, जिनमें पाश्चात्य सभ्यता का प्रभाव, विश्वविद्यालय और रेस्ट्राँ इत्यादि के तत्व मुख्य हैं। लेखक ने कथावस्तु का आधार पाश्चात्य सभ्यता के प्रभाव को ही मुख्य रूप से माना है, पर वह प्रभाव अच्छा है या बुरा—इसका स्पष्टीकरण कथावस्तु में नहीं हो सका है। कथावस्तु रोचक और प्रभाव पूर्ण है। उसमें जीवन और स्फूर्ति के तत्व हैं। पर पात्रों में जीवन और स्फूर्ति का अभाव है। पात्रों में अस्वाभाविकता की मात्रा भी अधिक है। पात्रों के चरित्र चित्रण में स्थिति की वास्तविकता का भी बहुत कम ध्यान रक्खा गया है। कई पात्र ऐसे हैं, जो अपनी स्थिति से दूर-सुदूर अपना कार्य-कलाप करते हुए दृष्टिगोचर होते हैं। 'टेढ़े मेढ़े रास्ते' वर्माजी की नवीनतम कृति है। इसकी कथावस्तु में आधुनिक जीवन के तत्व लगे हुए हैं, जिनमें कुछ का संबन्ध समाज से और कुछ का राजनीति से है। आधुनिक जीवन के विशृंखलित तत्वों को जोड़ कर कथावस्तु को रोचक बनाने का प्रयत्न किया गया है। कथावस्तु में आधुनिक जीवन की एक झलक दिखाई पड़ सकी है, पर पात्रों में वास्तविकता का अभाव है। 'तीन वर्ष' के पात्रों की भाँति ही 'टेढ़े मेढ़े रास्ते' के पात्र भी अस्वाभाविक और अवास्तविक दिखाई पड़ते हैं।

राधिकारमणसिंह आदर्शवादी कथाकार हैं। इनके द्वारा कई उपन्यास लिखे गए हैं—रामरहीम, सूरदास, पुरुष और नारी, टूटातारा, सावनी समा, और गाँधी टोपी। 'रामरहीम' की कथावस्तु में जीवन के कई तत्वों का समन्वय है। लेखक के शब्दों में ही रोजमर्रे की एक दिलचस्प कहानी का टेक लेकर धर्म और समाज के तमाम कच्चे चिट्ठे खोलकर रख देने की कोशिश की गई है। वास्तव में 'राम रहीम' की कथावस्तु कुछ इसी प्रकार की है। कथावस्तु में आधुनिक जीवन, आधुनिक समाज, और आधुनिक धर्म से सम्बन्ध रखनेवाले विभिन्न तत्व सन्निहित हैं, जो दो स्त्रियों के चरित्र-दर्पण से दिखाई देते हैं। कथावस्तु के संघटन में लेखक की कलात्मकता दिखाई पड़ती है। कथावस्तु में स्थान-स्थान पर ऐसे मार्मिक

राधिकारमणसिंह

चित्र मिलते हैं, जो हृदय में कोलाहल उत्पन्न करते हैं। पात्रों में वेला और बिजली प्रमुख हैं। शेष पात्रों की अवतारणा 'वेला' और बिजली के चरित्र-विकास के लिए की गई है। 'वेला' और 'बिजली'—दोनों का चरित्र अधिक द्वन्दात्मक और तुलनात्मक है। 'पुरुष और नारी' में प्रेम की समस्या का चित्रण किया गया हैं। यह प्रेम की समस्या कई राजनीतिक और सामाजिक तत्त्वों को स्पर्श करती हुई चलती है। प्रेम की समस्या के चित्रण के मार्ग में पुरुष और नारी के जीवन और उसके प्रेम सम्बन्धी अनेक मार्मिक चित्र मिलते हैं, जो हृदय को आंदोलित कर देते हैं। पात्रों में 'सुधा और अजीत इत्यादि का प्रमुख स्थान है। 'सुधा' के चरित्र का विकास अत्यधिक स्वाभाविकता के साथ हुआ है। उसके चरित्र में गंभीरता, वास्तविकता, संयम, और आदर्श है।

श्रीभगवतीप्रसाद वाजपेयी यथार्थवादी कथाकार हैं। उन्होंने अपने जीवन, और संसार में चारों ओर जो कुछ देखा है, और जो कुछ जाना है, उसी को अपने कथा-

श्री भगवती प्रसाद वाजपेयी

सूत्र में ग्रथित किया है। उनकी अब तक जो कृतियाँ सामने आ चुकी हैं, उनसे यहीज्ञात होता है, कि उनकी कला भौतिकता के आँगन में लालसाओं और आकांक्षाओं के साथ खेलना ही अधिक पसंद करती है। उनकी 'कला' व्यक्ति को सुखोपभोग की ओर प्रबल वेग से मोड़ती है। इस रूप में हम यह कह सकते हैं, कि उनकी कला वासनाओं को उत्तेजित करती है। अब तक उनकी कई कृतियाँ सामने आ चुकी हैं, जिनमें प्रेम पथ, लालिमा, पिपासा, पतिता की साधना, निमन्त्रण, और गुलधन इत्यादि मुख्य हैं।

इनके अतिरिक्त और भी कई श्रेष्ठ कथाकार हैं, जो इस समय उपन्यास साहित्य की संवर्द्धना में लगे हुए हैं। इन कथाकारों में श्री अज्ञेय, श्रीयशपाल, श्रीसूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला', श्रीगोविंद वल्लभ 'पन्त' श्रीठाकुर श्रीनाथसिंह, श्रीगिरिजादत्त शुक्ल 'गिरीश', श्रीसर्वदानन्द वर्मा, श्रीअनूपलाल मंडल, श्रीनरोत्तम प्रसाद 'नागर', श्री उपेन्द्रनाथ 'अश्क', श्री यज्ञदत्तत्रिपाठी, और श्रीओंकारनाथ 'शरद' इत्यादि का मुख्य स्थान है।

८

नाटक

विषय सूची

१—नाटक और उसका विकास ५८७
(अ) नाटक का जन्म, (आ) नाट्यकला का विकास
२—प्राचीन नाट्यकला का स्वरूप ५९४
(इ) दृश्य काव्य, (ई) उपकरण और रूपक, (उ) नाटक, (ऊ) प्रकरण, (ए) भाण, (ऐ) प्रहसन, (ओ) डिम, (औ) व्यायोग, (अं) समवकार, (अः) अङ्क, (क) वीथी, (ख) ईहामृग, (ग) उपरूपक के भेद, (घ) नाटिका, (ङ) त्रोटक, (च) प्रकरणिका, (छ) सट्टक। (ज) रूपक के तत्त्व-वस्तु, (झ) अर्थ प्रकृति और उसके भेद, (ञ) सन्धि और उसके भेद, (ट) दृश्य वस्तु और सूच्य वस्तु, (ठ) अर्थोपक्षेपक और उसके भेद, (ड) पात्र, (ढ) रस, (ण) अभिनय, (त) वृत्ति, (थ) रूपक का प्रारम्भ।

३—हिन्दी नाट्यकला का इतिहास ६०५
(द) वीर गाथा काल, (ध) भक्ति काल, (न) रीति काल, (प) आधुनिक काल, (फ) हिन्दी नाटक के इतिहास का वर्गीकरण, (ब) भारतेन्दु काल के पूर्व, (भ) भारतेन्दु काल, (म) उत्तर काल, (य) प्रसाद काल, (र) आधुनिक काल ।

४—हिन्दी नाट्यकला का वर्तमान स्वरूप ६१४
(ल) स्वरूप विधायक तत्व, (व) विषय, (श) उद्देश्य, (ष) शैली, (स) नाटक के तत्त्व, (ह) सुखांत और दुखांत, (क्ष) दुखांत या वियोगांत ।

५—हिन्दी नाटक—भारतेन्दु के पूर्व ६२०
(त्र) भारतेन्दु के पूर्व का नाट्य साहित्य, (अ) अनूदित, (आ) समयसार, (इ) हनुमान नाटक, (ई) प्रबन्ध चन्द्रोदय, (उ) शकुंतला, (ऊ) मौलिक, (ए) रामायण महानाटक, (ऐ) करुणाभरण, (ओ) जानकी रामचरित, (औ) आनन्द रघुनन्दन ।

६—हिन्दी नाटक—भारतेन्दु काल ६२३
(अं) भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, (अः) भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की नाट्यकला, (क) भारतेन्दुजी की नाट्यकला के तत्त्व, (ख) श्री निवासदास, (ग) प्रेमघन, (घ) राधाचरण गोस्वामी, (ङ) बालकृष्ण भट्ट, (च) प्रतापनारायण मिश्र, (छ) राधाकृष्णदास, (ज) ग्रहसन ।

७—हिन्दी नाटक—उत्तर काल ६३२
(झ) नवीनता का उदय, (ञ) उत्तर काल के नाटककार, (ट) जयशङ्कर प्रसाद, (ठ) बद्रीनाथ भट्ट, (ड) वृन्दावन लाल वर्मा, (ढ) शालिग्राम ।

८—हिन्दी नाटक—प्रसाद काल ६३५
(ण) युग का परिवर्तन, (त) प्रसादजी का नाट्य-साहित्य, (थ) प्रसादजी की नाट्यकला, (द) प्रसादजी की रचनाएँ और नाटक के तत्त्व, (ध) श्री वृन्दावन लाल वर्मा, (न) वर्माजी की नाट्यकला, (प) वर्माजी के नाटक और नाटक के तत्त्व, (फ) सेठ गोविन्ददास, (ब) सेठजी की नाट्यकला, (भ) सेठजी के नाटकों में नाटक के तत्त्व ।

९—हिन्दी नाटक—आधुनिक काल ६६०
(म) आधुनिक काल, (य) आधुनिक काल के नाटककार, (र) गोविन्द वल्लभ पन्त, (ल) पन्तजी की नाट्यकला, (व) पन्तजी के नाटक और नाटक तत्त्व, (श) श्री उदयशङ्कर भट्ट, (ष) भट्टजी की नाट्यकला, (स) भट्टजी के नाटकों में नाटक के तत्त्व, (ह) श्री लक्ष्मीनारायण मिश्र, (क्ष) मिश्रजी की नाट्य सम्पत्ति, (त्र) मिश्रजी की नाट्यकला, (ज्ञ) मिश्रजी के नाटक और नाटक के तत्त्व, (आ) श्री हरिकृष्ण प्रेमी, (इ) प्रेमीजी की नाट्य-साधना, (ई) प्रेमीजी की नाट्यकला, (उ) प्रेमीजी के नाटकों में नाटक के तत्त्व ।

—०—

नाटक, और उसका विकास

नाटक और नाट्य में 'नट' शब्द समाहित है। 'नट' शब्द संस्कृत 'नट' धातु से बना है। 'नट' धातु का अर्थ है नृत्य करने वाला। 'नट' की ही भाँति 'नाटक'

नाटक क्या है ?

और 'नाट्य' शब्द भी 'नट' धातु से ही बना है, जिसका अर्थ है सात्विक भावों का प्रदर्शन। प्राचीकाल में सात्विक भावों के प्रदर्शनकारी ही 'नट' कहलाते थे। फलतः जिस साहित्य का सम्बन्ध इन नटों से होता था, अथवा जिसमें सात्विक भावों के प्रदर्शन की बात होती थी, उसे नाटक कहते थे। 'नाटक' नवीन शब्द है। अति प्राचीनकाल में 'नाटक' के स्थान पर 'रूपक' शब्द का ही अधिक प्रयोग होता था, और 'नाटक' को 'रूपक' का ही एक भेद माना जाता था। संस्कृत के नाट्य साहित्य में, जिसकी प्राचीनता श्लाघनीय है, रूपकों की ही अधिकता मिलती है। 'रूपक' के कई भेद हैं। प्राचीन काल में 'नाटक' को गणना भी 'रूपक' के भेदों के अंतर्गत ही की जाती थी, किन्तु नाटक रूपक का एक ऐसा अंग है, जिसका स्वरूप उससे बहुत मिलता जुलता है। अतः नाटक 'रूपक' का भेद होने पर भी उसी के समान माना जाता रहा है। आज तो 'नाटक' का प्रयोग 'रूपक' के ही अर्थ में स्वतन्त्र रूप से किया जा रहा है, वरन् कहना तो यह चाहिए, कि आज साहित्य के अन्तर्गत नाटक ही नाटक है, और उसका स्रोत 'रूपक' विलुप्त सा हो गया है।

'रूपा रोपात्तु रूपकं' को रूपक कहते हैं; दूसरे शब्दों में 'रूपक' वह है, जिसमें रूप का आरोप किया जाता है। 'नट' जब अभिनय करता था, तब वह किसी व्यक्ति का रूप बना करके उसके अनुसार ही आचरण करता था, और उसी के समान चेष्टाएँ भी किया करता था। उसके रूप और उसकी चेष्टाओं में इतनी कुशलता होती थी, कि वह अत्यधिक स्वाभाविक सी ज्ञात होती थी। जो नट अनुकरण करने में जितना ही अधिक कुशल होता था, उसके अभिनय में उतनी ही अधिक स्वाभाविकता उत्पन्न होती थी। 'रूपक' में अनुकरण की ही विशेषता थी। नाटक का आधार भी अनुकरण ही था। अतः मौलिक परिभाषा के आधार पर 'नाटक' और 'रूपक' में किसी प्रकार का अन्तर नहीं है।

प्राचीन काल में साहित्य में 'रूपक' की महत्त्व पूर्ण अवतारणा हुई थी। संस्कृत का प्राचीन नाट्य-साहित्य रूपकों की रचना से भरा पड़ा है। संस्कृत साहित्य के

प्राचीन आचार्यों ने 'रूपक' का मन्थन करके उसकी विद्वत्ता पूर्ण व्याख्याएँ की हैं। उन्होंने 'रूपक' के कई भेद और उपभेद निश्चित किए हैं, तथा उनकी परिभाषाएँ देकर उनके स्वरूपों का निश्चित आकार-प्रकार बतलाया है। प्राचीन काल में 'रूपकों' में सङ्गीत और काव्य का विधान भी होता रहा है। 'रूपक' की प्रवृत्ति का अध्ययन करके प्राचीन आचार्यों ने उसे काव्य के अन्तर्गत ही माना है। आचार्यों के मतानुसार काव्य के दो भेद होते हैं—दृश्य, और श्रव्य। दृश्य काव्य में कवि स्वयं कुछ न कह कर, अपनी रचना का सम्पूर्ण व्यापार पात्रों के द्वारा चलाता है। दृश्य काव्य में पाठक अपनी आँखों के सामने कवि की रचना का व्यापार देखते हैं, और उसके पात्रों द्वारा उसकी रचना के रहस्य पूर्ण तथ्यों को सुन कर आनंदित होते हैं, किन्तु श्रव्य काव्य में कवि स्वयं अपनी वस्तु का वर्णन करता है, और पाठक उसके वर्णन को सुन कर तथा पढ़ कर आनन्द लाभ करते हैं। रूपक और नाटक की गणना दृश्य काव्य के अन्तर्गत की जाती है।

नाटक और मानव जाति का अधिक घनिष्ठ सम्बन्ध है। नाटक मानव के आदि काल से, उसके साथ उसके जीवन सहचर के रूप में है। नाटक की प्रवृत्ति, जिसे

नाटक का जन्म

अनुकरण करते हैं, मानव के हृदय के भीतर है। मानव अपने जन्म से ही अनुकरण प्रिय होता है। यदि सूक्ष्म दृष्टि से विचार किया जाय तो यह ज्ञात होगा, कि मानव के जीवन का सम्पूर्ण व्यापार ही अनुकरण पर आधारित है। वह खाने, पीने, हँसने-बोलने, लिखने पढ़ने, और पहनने-ओढ़ने इत्यादि सब में अनुकरण ही करता है। उसकी विद्या और कलाओं में भी अनुकरण की ही प्रधानता है। अतः यह कहना पड़ेगा, कि नाटक की प्रवृत्ति मानव-हृदय के भीतर है।

किन्तु मानव-जगत में नाटक का जन्म कब से हुआ—यह बताना अत्यधिक कठिन है। नाटक के जन्म के सम्बन्ध में लोगों के अपने विभिन्न मत हैं। एक प्रकार का मत तो उन लोगों का है, जो विकासवाद में विश्वास करते हैं, और दूसरा मत उन लोगों का है, जो पौराणिक विचारों में आस्था रखते हैं। विकासवादियों का कहना है, कि आज का मानव आदि काल में वनमानुष रहा होगा। उस समय उसका मुख्य कार्य था क्षुधा की ज्वाला शांत करना। क्षुधा की ज्वाला को शांत करने में वह कितना संघर्ष करता रहा होगा। निश्चय वह संघर्षों से समाकुल होकर, एकाकी जीवन को त्याग कर सामूहिक जीवन बिताने लगा होगा। सामूहिक रूप से जीवन व्यतीत करने में उसे कभी युद्ध करने पड़े होंगे, और कभी कभी उसने शान्ति के सुखों का उपभोग भी किया होगा। कभी वह विजयी हुआ होगा, और कभी पराजय की नैराश्य भावना से उसका हृदय कम्पित हो उठा होगा। कभी कभी उसने सामाजिक उत्सवों की भी व्यवस्था की होगी। उत्सवों में, उसके हृदय के भीतर के आनन्द ने उसे नृत्य करने के लिए बाध्य किया होगा। उसने दाम्पत्य जीवन भी व्यतीत किया होगा। प्रेम और विरह का अनुभव भी उसने किया होगा। प्रेम और

विरह की अवस्थाओं में, उसके हृदय के भीतर से संगीत के रूप में भाव-लहरियाँ भी निकली होंगी। कहा नहीं जा सकता, कि उसने अपने जीवन-अंचल में कितनी अनुभूतियों का संचयन किया होगा। विकासवादियों का कहना है, कि उन्हीं अनुभूतियों के आधार पर नाटक का जन्म हुआ है।

विकासवादियों के मत के अनुसार ज्यों ज्यों मानव सभ्यता की सीढ़ी पर ऊपर चढ़ता गया है, त्यों त्यों उसकी प्रवृत्तियाँ भी परिष्कृत, और उन्नतिशील बनती गई हैं। प्रवृत्तियों के परिष्करण के परिणाम स्वरूप उसने जहाँ नाना क्षेत्रों में अपने जीवन का मनोरम शृंगार किया, वहाँ नाट्यकला के क्षेत्र में भी महत्व पूर्ण मर्यादा की स्थापना की। इसमें सन्देह नहीं, कि आदि काल में नाट्यकला मानव के जीवन तक ही सीमित थी, किन्तु जब अपनी प्रगति के पथ में उसने भाषा का आविष्कार किया और वह लिखने-पढ़ने लगा, तथा अपनी अनुभूतियों को साहित्य के कोष में संचित करने लगा, तब नाटक का संबंध साहित्य से भी स्थापित हो गया। साहित्य के अन्यान्य अंगों की उन्नति के साथ ही साथ नाट्यकला का भी अभ्युदय हुआ, और आज वह अपनी प्रगति शीलता से ही विश्व के साहित्य में इस गौरव पूर्ण पद पर आसीन है।

किन्तु जिनकी आस्था पौराणिक विचारों में है, वे विकासवादियों की इस कल्पित और आधार हीन कथा को स्वीकार नहीं करते। पौराणिक विचारों में आस्था रखने वाले नाटक को भी एक वेद मानते हैं। भरतमुनि नाटक रूपी वेद के मन्त्र-द्रष्टा ऋषि हैं। उन्होंने नाट्यकला के ऊपर लक्षण-ग्रन्थों की रचना की है। उनका लक्षण-ग्रन्थ अधिक प्राचीनतम है, दूसरे शब्दों में उसे लक्षण-ग्रन्थों का आदि ग्रन्थ कहा जा सकता है। भरतमुनि ने अपने लक्षण ग्रन्थ में नाटक की उत्पत्ति दैवी बताई है। उन्होंने इस सम्बन्ध में एक पौराणिक कथा का भी उल्लेख किया है, जो इस प्रकार है—'सत्य युग के व्यतीत होने, और त्रेता के प्रारम्भ में एक बार देवताओं ने ब्रह्माजी के पास जाकर प्रार्थना की, कि वे देवताओं के मनोरंजन के लिए ऐसे साधन उपस्थित करें, जिनसे देवगण दुःख के दिनों में भी अधिक आनन्द प्राप्त कर सकें। देवताओं की प्रार्थना पर, अधिक सोच-विचार के पश्चात् ब्रह्माजी ने एक वेद की रचना की, जिसे नाट्यवेद कहते हैं। इस नवीन वेद की रचना में उन्होंने सभी वेदों से सहायताएँ ली हैं। उन्होंने ऋग्वेद से कथोपकथन, सामवेद से गायन, यजुर्वेद से अभिनय कला, और अथर्ववेद से रस लेकर नाट्यवेद की निष्पत्ति की है। विश्वकर्मा ने इसके लिए रंग मंच का निर्माण किया। भगवान आशुतोष ने तांडव, और माँ पार्वती ने लास्य नृत्य प्रदान किया। इसी प्रकार भगवान विष्णु ने भी चार नाट्य शैलियाँ दीं। इस प्रकार दैवी कलाओं, और गुणों से परिपूर्ण होकर नाट्यवेद लोगों के कल्याणार्थ, और मनोरंजन के लिए पृथ्वी पर अवतीर्ण हुआ। भरतमुनि इस पंचम वेद के प्रथम आचार्य माने जाते हैं। सर्व प्रथम उन्होंने ही अपने सौ-सौ पुत्रों को नाट्यवेद की शिक्षा दी और उनके द्वारा उसका अभिनय भी कराया।

नाटक के जन्म के सम्बन्ध में ऊपर जिस पौराणिक कथा का उल्लेख किया गया है, उसका कोई ऐतिहासिक महत्व नहीं है। उससे केवल इतना ही पता चलता है,

नाट्यकला का विकास

कि नाट्यकला का इतिहास अति प्राचीन है। क्योंकि उस कथा के द्वारा उसका सम्बन्ध वेदों से जोड़ा गया है। वेद भारतीय जीवन के आदि स्रोत हैं। भारतीय विद्याएँ और कलाएँ वेदों से ही निःसृत हुई हैं। नाट्यकला के बीज भी वेदों में पाए जाते हैं। ऋग्वेद में यम, यमी, और पुरुरवा तथा उर्वशी के ऐसे कथोपकथन मिलते हैं, जिनमें नाटकत्व है। इन्द्र, अग्नि, सूर्य, उषस्, और मरुत इत्यादि देवताओं के रूप में ऐसे स्तोत्र भी ऋग्वेद में मिलते हैं, जिनमें नाटकत्व का उभार है। सामवेद संगीत विद्या से पूर्ण है। अथर्ववेद में संगीत वाद्य के साथ ही साथ नृत्य का भी उल्लेख है। वेदों से स्पष्ट पता चलता है, कि वैदिक काल में भारतीय आर्य देव पूजोत्सव, धार्मिक पर्वों, और ऋतु-परिवर्तन के समय बड़े-बड़े यज्ञ करते थे, और आपस में मिल कर नाचते गाते तथा अभिनय किया करते थे। मैक्समूलर, लेवी, डा० हर्टेल, और डा० रिजवे इत्यादि पश्चिमी विद्वानों ने भी इसी मत का प्रतिपादन किया है।

डाक्टर रिजवे के मतानुसार प्रारम्भिक काल में मृत आत्माओं को प्रसन्न करने तथा उनकी सन्तुष्टि के लिए संगीत और नाटक इत्यादि का विशेष रूप से आयोजन किया जाता था। प्रोफेसर 'कोनों' ने भी एक स्थान पर इस बात का उल्लेख किया है, कि प्राचीन काल में लोकरंजन के लिए संगीत, वाद्य, और अभिनय के विशेष आयोजन हुआ करते थे। उनके विश्वास के अनुसार नाटक की उत्पत्ति उन्हीं संगीतों और वाद्यों के परिणाम स्वरूप हुई है। इन विदेशी विद्वानों के विचारों में कहाँ तक सार है, यह कुछ कहा नहीं जा सकता। इसी सम्बन्ध में यहाँ आचार्यपिशाल के मत का भी उल्लेख कर देना आवश्यक है। आचार्यपिशाल के मतानुसार भारतीय नाटकों का उदय कठ-पुतलियों के नृत्य से हुआ है। इसमें सन्देह नहीं, कि बृहत्कथा, और राजशेखर की बाल-रामायण से यह प्रमाणित होता है, कि प्राचीन काल में भारत में कठ-पुतलियों का नृत्य होता था। महाभारत में भी कठ-पुतलियों के नृत्य का उल्लेख मिलता है। पर भारतीय नाटकों का उदय कठ-पुतलियों के नृत्य से हुआ है—यह बात समझ में नहीं आती। वास्तविक बात तो यह है, कि भारतीय नाटकों के उदय और उसके विकास की मूल भित्ति में न तो लौकिक और सामाजिक कृत्यों की प्रधानता है, और न कठ पुतलियों के नृत्य की ही भावना है। हमारा देश आदि काल से धार्मिक और कर्मकांडी के रूप में विख्यात रहा है। हमारे देश के जीवन का प्रत्येक क्षेत्र धार्मिक भावनाओं से ओत-प्रोत है। अतः भारतीय नाटकों के उदय और विकास में भी धार्मिक भावों, और वैदिक कर्म काण्डों की ही प्रधानता है। वेदों से यह बात प्रगट भी होती है।

रामायण, महाभारत, और पुराणों से भी भारतीय नाट्यकला की प्राचीनता विदित होती है। रामायण के कई स्थलों पर नटनर्तकों का उल्लेख मिलता है।

'महाभारत' में भी 'नट' शब्द का प्रयोग कई बार हुआ है। 'हरिवंश पुराण' में रामजन्मोत्सव के उपलक्ष्य में 'कौवेर रंभाभिसार' नाटकों के खेले जाने का वर्णन है। 'अग्निपुराण' में भी श्रव्य और दृश्य काव्यों की विवेचना मिलती है। इन बातों का कोई ऐतिहासिक महत्त्व नहीं है, क्योंकि इनके काल के संबंध कोई ऐतिहासिक निश्चित तथ्य अब तक नहीं उपलब्ध हो सका है। इनसे तो केवल इतना ही ज्ञात होता है, कि भारतीय नाट्यकला चिर प्राचीन है, और वेदों में स्पष्ट रूप से उसका बीज मिलता है।

किन्तु वैदिक काल में नाटकों की रचना भी हुई थी, इस बात का कोई प्रमाण नहीं मिलता। भारतीय नाट्य साहित्य की आज जो ऐतिहासिक सामग्री उपलब्ध है, उससे इस बात का पता चलता है, कि सर्व प्रथम भारतीय नाटकों की रचना पाणिनि के समय में हुई। पाणिनि का समय ई० से पूर्व प्राय. ५०० वर्ष माना जाता है। पाणिनि ने अपने व्याकरण में दो नट सूत्रों के सम्बन्ध में चर्चा की है, जिनके नाम कृशाश्व और शिलालिन हैं। पाणिनि के लगभग डेढ़ शताब्दी पहले पातंजलि ने अपने महाभाष्य में नाट्यकला का उल्लेख करते हुए 'कंसवध' और 'बलिबंधन' की चर्चा की है।

किन्तु विद्वानों ने अधिक छानबीन करने के पश्चात् यह निश्चय किया है, कि भारतीय नाट्यकला का विकास उसके बहुत पूर्व ही हो चुका था। पुराणों में स्पष्ट रूप से नाटकों के अभिनय की बात का उल्लेख है। रामायण में भी अभिनय और अभिनेताओं के कई प्रसंग मिलते हैं। सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण बात तो ईसवी शताब्दी के आस पास कालिदास, अश्वघोष, हर्ष, और भवभूति इत्यादि नाट्यकारों का आविर्भाव है। इन नाटककारों की रचनाओं में नाट्यकला का जो विकसित और उज्वल स्वरूप मिलता है, उससे यह स्पष्ट रूप से आभासित होता है, कि भारतीय नाट्यकला का विकास इसके बहुत पूर्व हो चुका था। बौद्धधर्म ग्रन्थों में भी नाट्यकला के सम्बन्ध में महत्त्वपूर्ण बातें मिलती हैं। चुल्लवग्ग के 'विनय पिटक' में एक रंगशाला का उल्लेख किया गया है, जो 'कीटागिरि' में बनी हुई थी, इसी ग्रन्थ में दो भिक्षुओं के, जिनका नाम अश्वजित, और पुनर्वसु था, नर्तकियों से बात करने और नाटक देखने के अपराध में प्रवाजकीय दंड की कथा लिखी गई है। जैन कल्प-सूत्रों में भी, जिनका समय ईसा से ३०० वर्ष पूर्व है, एक साधु के नाटक देखने की बात का उल्लेख है। भरत मुनि के लक्षण-ग्रन्थों से भी इस बात का पता चलता है, कि उनके पूर्व भारतीय साहित्य में कई महत्त्व पूर्ण नाटकों की रचना हो चुकी थी। क्योंकि उन नाटकों का मन्थन करने के पश्चात् ही भरत मुनि ने अपने लक्षण-ग्रन्थों की रचना की थी। भरत मुनि ने अपने नाटक शास्त्र में स्वयं 'अमृतमन्थन' और 'त्रिपुरदाह' नामक दो नाटकों का उल्लेख किया है।

इन सब बातों से स्पष्ट रूप से यह आभासित होता है, कि भारतीय नाट्यकला का

इतिहास चिर प्राचीन है। आज जो ऐतिहासिक तथ्य हमारे संमुख हैं, वे इस बात पर पूर्ण प्रकाश डालते हैं, कि आज से लगभग ढाई सहस्र वर्ष पूर्व हमारे देश में नाट्य कला का भली भाँति विकास हो चुका था।

किन्तु कुछ विदेशी विद्वानों की धारणा इसके विपरीत है। उनका कथन है, कि भारतीय नाट्यकला का उद्भव और उसका विकास यूनानी नाट्यकला की प्रेरणा से हुआ है। वे अपने इस कथन के प्रमाण में भारतीय नाटकों में व्यवहृत 'यवनिका' शब्द उपस्थित करते हैं। वे इस शब्द को सामने उपस्थित करके यह कहते हैं, कि 'यवनिका' यवनों अर्थात् ग्रीकों से भारतीय नाट्यकला में ग्रहण की गई है। किन्तु स्वर्गीय प्रसादजी ने अपने 'रंगमन्च' शीर्षक निबन्ध में विदेशी विद्वानों के इस मत का खंडन किया है। उनका खंडन उन्हीं के शब्दों में इस प्रकार है—"कुछ लोगों का कहना है, कि भारतवर्ष में यवनिका यवनों अर्थात ग्रीकों के नाटकों से ली गई है, किन्तु मुझे यह शब्द शुद्ध रूप से व्यवहृत 'जवनिका' भी मिला। अमरकोष में 'प्रति सीरा जवनिका स्यात्तिरस्करिणी वसा' तथा हलायुध में 'अपटीकांड पटःस्याम् प्रति सीरा जवनिका तिरस्करिणी'। इसमें 'य' से नहीं, किन्तु 'ज' से ही 'जवनिका' का उल्लेख है। 'जवनिका' से शीघ्रता का द्योतन होता है। 'जव' का अर्थ वेग और त्वरा से है। तब 'जवनिका' उस पट को कहते हैं, जो शीघ्रता से उठाया या गिराया जा सके।'

इतिहास से भी इस बात का प्रतिपादन होता है, कि भारतीय नाट्यकला पर यूनानी कला का कुछ भी प्रभाव नहीं है। भारतीय नाट्यकला अपनी मौलिक कला है। उसका उद्भव अपने ही क्षेत्र में हुआ है और अपने ही क्षेत्र के साधनों तथा उपकरणों से उसका पूर्ण विकास हुआ है। आज जो ऐतिहासिक तथ्य मिलते हैं, उनसे पता चलता है, कि भारत पर सिकंदर का आक्रमण ईसा के पूर्व सन् ३२६-२७ में हुआ था। इससे पूर्व भारतीयों और ग्रीकों के संपर्क तथा जीवन-व्यवहार की कोई बात इतिहास में नहीं मिलती। किन्तु उन्हीं ऐतिहासिक तथ्यों से इस बात का भी पता चलता है, कि सिकंदर के आक्रमण के बहुत पूर्व भारतीय साहित्य में नाट्यकला का विकास हो चुका था, भारतीय नाट्यकला और ग्रीक कला में अधिक मौलिक मतभेद भी है। ग्रीक नाट्यकला में ग्रीक संस्कृति का बीज निहित है। पर भारतीय नाट्यकला भारतीय संस्कृति और सभ्यता से प्रभावित है। यूनानी नाट्यकला जीवन को दूर रख करके अपने व्यापार का सृजन करती है। मानव जीवन कैसा होना चाहिए—यूनानी नाट्यकला इस ओर ध्यान नहीं देती। भारतीय नाट्यकला मानव जीवन को ही लक्ष्य मानकर अपने व्यापार का सृजन करती है। यूनानी नाटकों में चरित्र की प्रधानता होती है। उनके चरित्रों में दुःख और निराशा की भावना मुख्य रूप से पाई जाती है। पर भारतीय नाटक प्रकृति और रस-प्रधान होते हैं। भारतीय नाटकों में 'दुःख' और निराशा के लिए कोई स्थान नहीं होता। भारतीय नाटकों की दृष्टि 'सुख' और

आनन्द की ही ओर रहती है। यूनानी नाटक जहाँ यथार्थवादी होते हैं, वहाँ भारतीय नाटक आदर्श की ओर उन्मुख होते हैं।

इस प्रकार भारतीय नाटक पूर्ण रूपेण मौलिक है। उसका जन्म और उसका विकास अपने ही देश के तत्त्वों के आधार पर हुआ है। अपने ही देश के तत्त्वों से उसका पालन पोषण हुआ है। उसके प्रसाधन में भी, अपने ही देश के तत्त्वों की छटा सन्निहित है।

प्राचीन नाट्यकला का स्वरूप

पहले इस बात का उल्लेख किया जा चुका है, कि प्राचीन आर्यों के मतानुसार काव्य के दो भेद हैं—श्रव्य काव्य और दृश्य काव्य। श्रव्य का सम्बन्ध केवल श्रवणेन्द्रिय से होता है। श्रव्य काव्य के भीतर जो लोकोत्तर आनंद छिपा रहता है, वह पढ़ और सुन करके ही प्राप्त किया जा सकता है। किन्तु दृश्य काव्य का संबंध श्रवणेन्द्रिय और चक्षुरिन्द्रिय—दोनों से ही होता है। विशेषतः उसका अधिक सम्बन्ध चक्षुरिन्द्रिय से ही अधिक होता है। चक्षुरिन्द्रिय और दृश्य काव्य का पारस्परिक अधिक घनिष्ठ सम्बन्ध है। चक्षुरिन्द्रिय का संपूर्ण व्यापार 'रूप' पर ही आधारित होता है। दृश्य काव्य में भी रूप की भावना की मुख्यता होती है। दृश्य काव्य में दर्शक-'रंगमंच' के द्वारा 'रूप' का ही अनुभव करता है। इस रूपानुभव में पात्रों और पात्रियों की अनुकृति की प्रधानता होती है। अनुकृति में दृष्टि को केन्द्रित और प्रसन्न रखने के लिए ही पात्रों के 'रूप' की व्यवस्था की जाती है। दृश्य काव्य में 'रूप' की भावना की प्रधानता होने ही के कारण उसे 'रूपक' की संज्ञा दी गई है। किन्तु इससे यह न समझ लेना चाहिए, कि रूपक में केवल अनुकृति की प्रधानता होने से ही वह संपूर्ण हो जाता है। वास्तव में बात यह है, कि रूपक में अनुकृति के साथ ही साथ वास्तविकता और स्वाभिकता होनी भी चाहिए। इसका तात्पर्य यह है, कि रंगमंच पर अभिनेता के द्वारा जिस 'रूपक' की संयोजना की जाय; दूसरे शब्दों में जो अभिनय किया जाय, उसे देख कर दर्शक के हृदय में यह प्रतीति उत्पन्न हो जाय, कि वह जो कुछ देख रहा है, सत्य है—वास्तविक है। इस प्रतीति से ही दर्शक के हृदय में उस रस की निष्पत्ति होती है, जो दृश्य काव्य के भीतर समाविष्ट रहता है।

दृश्य काव्य और रूपक

रस दृश्य काव्य का एक उपकरण है। 'नृत' और 'नृत्य' भी दृश्य काव्य के उपकरण हैं। प्राचीन आचार्यों ने नाट्य शास्त्र को तीन भागों में विभाजित किया था—नाट्य, नृत और नृत्य। कहा जाता है, कि तदनंतर भगवान शिव ने उसके दो भेद और बढ़ा दिए—तांडव, और लास्य। हम पहले कह चुके हैं, कि नाटक दृश्य काव्य के अंतर्गत है। दृश्य काव्य सात उपकरणों में विभक्त है—(१) अभिनय, (२) वास्तविकता की प्रतीति, (३) रस का उद्रेक, (४) नृत्य, (५) नृत, (६) संगीत, और (७) कथोपकथन। प्राचीन

उपकरण, और रूपक

नाट्यकारों ने दृश्य काव्य के उक्त उपकरणों को दृष्टि में रखकर उसके दो भेद किए हैं—रूपक, और उपरूपक। रूपक में रस की प्रधानता होती है, रूपक वही सर्वश्रेष्ठ और सफल समझा जाता है, जो रसमय होता है। रूपक में रस की निष्पत्ति 'नृत' और 'नृत्य' इत्यादि उपकरणों के ही द्वारा होती है। जिस प्रकार विभाव-अनुभाव रस की परिपुष्टि में सहायक होते हैं, उसी प्रकार 'नृत' और 'नृत्य' की सहायता से ही 'रूपक' में रस की निष्पत्ति होती है। उपरूपक की प्रकृति रूपक से पृथक होती है। 'रूपक' में जहाँ रस की प्रधानता होती है, वहाँ उपरूपक 'अनुकृति' प्रधान होता है।

रूपक का गठन वस्तु, पात्र, और रस के आधार पर किया जाता है। भरतमुनि ने वस्तु, पात्र, और रस की दृष्टि से ही रूपक के दस भेद बताए हैं, जिनके नाम इस

रूपक के भेद

प्रकार हैं—(१) नाटक, (२) प्रकरण, (३) भाण, (४) प्रहसन, (५) डिम, (६) व्यायोग, (७) समवकार (८) वीथी, (९) अंक, और (१०) ईहामृग।

यह रूपक का एक भेद है। नाट्य शास्त्र के सभी लक्षण, नियम, और रस नाटक में समाविष्ट होते हैं। इसकी महत्त्व पूर्ण प्रकृति के ही कारण नाट्याचार्यों

नाटक

ने 'नाट्य प्रकृति' इसकी संज्ञा दी है। इसका निर्माण ऐतिहासिक कथाओं के आधार पर किया जाता है। नायक इसका धीरोदात्त होता है। इसमें पाँच से दस तक अंक होते हैं। प्रथम पाँच अंकों की अपेक्षा छठा अंक छोटा होता है।

इसका निर्माण लौकिक और काल्पनिक कथाओं से किया जाता है। नायक धीर शांत होता है। नायिका कुल कन्या, और वेश्या होती है। आचार्यों ने

प्रकरण

इसके तीन भेद बताए हैं, जिनके नाम शुद्ध, विकृत और संकीर्ण हैं।

इसका सृजन कल्पित कथा के आधार पर किया जाता है। पात्र एक या दो होते हैं। पात्र अपने या दूसरों द्वारा धूर्तता पूर्ण संपादित कार्यों पर स्वयं

भाण

प्रश्नोत्तर के रूप में प्रकाश डालते हैं। इसका नायक शृङ्गार की सृष्टि करता है, जिसका आधार 'शूरता' और सौंदर्य का वर्णन होता है।

यह एक ही अंक का होता है। कथा कल्पनात्मक और रस मुख्य रूप से हास्य

प्रहसन

होता है।

इसकी कथा का आधार इतिहास और पुराण होता है। यह चार अंकों का होता है। 'शृङ्गार' और 'हास्य' के साथ ही साथ शेष रस भी इसमें समाविष्ट

डिम

रहते हैं।

कथा ऐतिहासिक और पौराणिक तथा नायक कोई दिव्य पुरुष होता है। यह

व्यायोग

अपने स्वरूप में बहुत कुछ डिम से मिलता-जुलता है।

इसकी कथा ऐतिहासिक होती है, जिसका सम्बन्ध देवताओं और

दानवों से होता है। इसमें तीन अंक होते हैं। 'वीररस' की इसमें प्रमुखता समवकार रहती है।

इसकी कथा ऐतिहासिक होती है, किन्तु कल्पना का भी संमिश्रण होता है।

अंक इसका रस 'करुण रस' है। इसमें एक ही अंक होता है।

यह कल्पनात्मक और एक ही अंक का होता है। पात्र भी एक ही से होते हैं। हिन्दी-साहित्य के अंतर्गत इसीने 'एकांकी' का रूप धारण वीथी किया है।

इसकी कथा में इतिहास और कल्पना का संमिश्रण होता है। यह चार अंकों ईहामृग का होता है।

रूपक की भाँति उपरूपक के भी कई भेद होते हैं। आचार्यों के मतानुसार उपरूपक के अठारह प्रकार होते हैं, जिनके नाम इस तरह हैं—(१) नाटिका, (२) उपरूपक के त्रोटक, (३) गोष्ठी, (४) सट्टक, (५) नाट्य रासक, (६) प्रस्थान भेद (७) उल्लाप्य, (८) काव्य, (९) रासक, (१०) प्रेखण, (११) संलापक, (१२) श्रीगदित, (१३) शिल्पक, (१४) विलासिका, (१५) दुर्मल्लिका, (१६) प्रकरणिका, (१७) हल्लीश, और (१८) भाणिका। इन भेदों में नाटिका, त्रोटक, प्रकरणिका, और सट्टक का मुख्य स्थान है।

नाटिका और नाटक में प्रायः एक समानता होती है। 'नाटक' रूपक का एक भेद है, जो उसके ही अनुरूप होता है। 'नाटिका' उपरूपक के अठारह भेदों में प्रथम नाटिका भेद है। इसकी मुख्यता यह है कि इसमें 'नाटक' और 'प्रकरण' का मिश्रण रहता है। इस मिश्रण के कारण इसके दो पृथक पृथक नाम भी हैं। 'नाटिका' जहाँ 'प्रकरण' से मिलती है, वहाँ इसका नाम 'प्रकरणिका' और जहाँ 'नाटक' से मिलती है, वहाँ 'नाटिका' होता है। इसकी कथा कल्पित और चार अंकों में विभाजित होती है। इसका नायक कोई नृपति होता है, जो 'धीर ललित' होता है। नायिका भी राजकुल की ही होती है। कभी कभी इसकी नायिका ऐसी भी कोई प्रेमवती सुन्दरी स्त्री होती है, जिसका सम्बन्ध रनिवास से होता है। 'नाटिका' में पुरुष पात्रों की अपेक्षा स्त्री पात्रों की संख्या अधिक होती है। स्त्री पात्रों में नायिका—महारानी का आतङ्क नायक के हृदय पर सदा छाया रहता है। महारानी के भय के कारण नायक सदा अपने प्रणय में शङ्कित रहता है। शृंगार रस नाटिका का मुख्य रस है।

त्रोटक और नाटक में कुछ बातों में समानता, और कुछ बातों में असमानता होती है। पात्र, अंक, और विदूषक के सम्बन्ध में त्रोटक में नाटक से असमानता त्रोटक पाई जाती है। त्रोटक में पाँच से लेकर नौ अङ्क तक होते हैं। पात्र देवता तथा मनुष्य होते हैं। त्रोटक के प्रत्येक अंक में विदूषक के क्रिया-कलापों का चित्रण मिलता है। इनके अतिरिक्त शेष सम्पूर्ण बातों में त्रोटक नाटक के ही समान होता है।

प्रकरणिका और प्रकरण में बहुत कम अन्तर होता है। इसे प्रकरण का ही एक रूप समझना चाहिए। इसका नायक कोई व्यापारी होता है। नायिका भी नायक के ही वर्ग और जाति की होती है। शेष बातों में इसमें प्रकरण से समानता होती है।

प्रकरणिका

सट्टक और नाटिका एक दूसरे से मिलते-जुलते हैं। इसमें अद्भुत रस मुख्य रूप से होता है। इसके अंकों को 'जवनिका' कहते हैं। प्रायः प्राकृत में ही इसका निर्माण होता है।

सट्टक

रूपक और उपरूपक के मुख्य रूप से तीन तत्त्व हैं—वस्तु, पात्र, और रस। अभिनय और वृत्ति को भी इसमें स्थान दे देने से इसके तत्त्वों की संख्या पाँच हो जाती है—वस्तु, पात्र, रस, अभिनय और वृत्ति। वस्तु को कथावस्तु और प्लाट भी कहते हैं। रूपक की सफलता बहुत अंशों में कथावस्तु की ही ओर देखती है। आधार की दृष्टि से यह तीन प्रकार की होती है—प्रख्यात, उत्पाद्य, और मिश्र। प्रख्यात वह कथावस्तु है, जो इतिहास, पुराण, और जन-श्रुतियों पर आधारित रहती है। उत्पाद्य में कल्पना की प्रधानता रहती है। मिश्र कथावस्तु वह है, जिसमें कल्पना और इतिहास का संमिश्रण होता है। संगठन की दृष्टि से भी इसके दो भेद हैं—आधिकारिक, और प्रासंगिक। आधिकारिक उस कथावस्तु को कहते हैं, जो मूल कथानक को सहायता प्रदान करने के लिए चुनी जाती है। इसका सम्बन्ध मुख्य रूप से मूल कथा से ही होता है। मूल कथा को सहायता प्रदान करने वाली और भी छोटी-छोटी कथाएँ होती हैं, जिन्हें प्रासंगिक वस्तु कहते हैं। 'आधिकारिक' की भाँति इसका सम्बन्ध मूल कथा से मुख्य रूप से नहीं होता, किन्तु इससे पात्रों का सम्बन्ध होता है। प्रासंगिक कथाएँ दो प्रकार की होती हैं—पताका और प्रकरी। पताका में प्रासंगिक कथा का सम्बन्ध अन्त तक आधिकारिक कथावस्तु के साथ बना रहता है। किन्तु प्रकरी में प्रासंगिक कथा कुछ ही दूर आगे चल कर आधिकारिक कथा का साथ छोड़ देती है।

रूपक के तत्त्व-वस्तु

कथनोपकथन की दृष्टि से भी वस्तु के तीन भेद होते हैं—श्राव्य, अश्राव्य, और नियत श्राव्य। श्राव्य वह वस्तु है, जो सम्पूर्ण पात्रों के सुनने के योग्य हो। अश्राव्य वह है, जो सुनने के योग्य न हो। अश्राव्य को स्वगत भी कहते हैं। नियत श्राव्य वह है, जो केवल कुछ ही पात्रों के सुनने के योग्य हो। नियत श्राव्य के दो रूप हैं—अपवारित और जनांतिक। छिपाने और रहस्य पूर्ण ढङ्ग से कटाक्ष करने को अपवारित कहते हैं। जनांतिक उस गुप्त सम्भाषण को कहते हैं, जो रंग मंच पर अनामिका को छोड़ कर तीन उँगुलियों की ओट से किया जाता है।

वस्तु का अभीष्ट उसका फल है, अर्थात् अर्थ, धर्म, और काम की प्राप्ति। वस्तु के अभीष्ट की प्राप्ति के लिए वस्तु के भीतर कुछ ऐसे साधन छिपे रहते हैं, जो अधिक चमत्कार पूर्ण होते हैं। वस्तु के उन चमत्कार पूर्ण साधनों को अर्थ प्रकृति कहते हैं। प्राचीन आचार्यों

अर्थ प्रकृति और उसके भेद

ने इसके पाँच भेदों का उल्लेख किया है, जिनके नाम इस प्रकार हैं—बीज, बिन्दु, पताका, प्रकरी, और कार्य। बीज नाटक का प्रमुख अंश होता है। नाटक के फल की सम्भावना बीज के ही भीतर अन्तर्निहित रहती है। जिस प्रकार बीज में फल छिपा रहता है, उसी प्रकार बीज में 'नाटक का फल' तिरोहित रहता है। संक्षेप रूप में बीज उसे कहते हैं, जो कथा के फल का मुख्य हेतु होता है, और जिसका विस्तार क्रम क्रम से कथा की व्यापार-शृंखला के साथ होता जाता है। 'बिन्दु' उसे कहते हैं, जो 'बीज' के अंकुरित होने और कथावस्तु के अग्रसर होने पर, उपस्थित अप्रासंगिक, और विरोधी तत्वों को अविच्छिन्न रखता है। 'आधिकारिक' के साथ साथ अन्त तक चलने वाले प्रासंगिक कथा के प्रसंग को 'पताका' कहते हैं। प्रासंगिक कथा जब कुछ ही दूर चल कर शांत हो जाती है, तब उसे 'प्रकरी' की संज्ञा दी जाती है। 'कार्य' उस प्रधान साध्य को कहते हैं, जिसकी पूर्णता के निमित्त आधिकारिक वस्तु के विधानों, सम्पूर्ण प्रयत्नों के आरम्भ और साधनों का एकत्री करण किया जाता है। कार्य की शृंखला को व्यवस्थित रखने के लिए प्रत्येक रूपक में कार्य की पाँच अवस्थाएँ होती हैं—आरंभ, प्रयत्न, प्राप्त्याशा, नियताप्ति, और फलागम। आरंभ उसे कहते हैं, जिसमें किसी अभीप्सित फल की प्राप्ति के लिए उत्कंठा होती है। अभीप्सित फल की प्राप्ति के निमित्त किए जाने वाले यत्न को 'प्रयत्न' कहते हैं। फल प्राप्ति की आशा या संभावना का नाम प्राप्त्याशा है। फल-प्राप्ति के पूर्ण निश्चय को 'नियताप्ति' और फल हस्तगत होने की अवस्था को 'फलागम' कहते हैं।

ऊपर इस बात का उल्लेख किया जा चुका है, कि मूल वस्तु-कथा के साथ ही साथ और भी उससे संबंधित दूसरी कथाएँ उसके अंग की भाँति होती हैं। मूल कथा और इन दूसरी संबंधित कथाओं के युक्ति-पूर्वक मेल को सन्धि कहते हैं। रूपक का अभीष्ट फल होता है। उस फल-प्राप्ति के लिए रूपक में विविध घटनाओं और कथाओं का संयोजन किया जाता है। यद्यपि वे घटनाएँ और कथाएँ पृथक होती हैं, पर सब का प्रयोजन एक ही होता है। रूपक में जो सूत्र प्रयोजन की सिद्धि के लिए सम्पूर्ण घटनाओं, और कथांशों का मूल कथा से संबंध स्थापित करता है, वही सन्धि के नाम से विख्यात है। सन्धि के पाँच भेद हैं—मुख, प्रतिमुख, गर्भ, विमर्श, और निर्वहण। किसी कथा की प्रारंभ नामक अवस्था के संयोग से जब जहाँ ऐसे बीज की उत्पत्ति होती है, जो अनेक रसों, और अर्थों का व्यंजक होता है, तो वहाँ 'मुख सन्धि' होती है। 'प्रतिमुख' सन्धि वह है, जिसमें बीज अंकुरित होता है। प्रतिमुख सन्धि में बीज की अवस्था कुछ प्रगट, और कुछ अप्रगट रहती है। गर्भ सन्धि उस स्थिति का नाम है, जिसमें बीज का विस्तार और भी अधिक बढ़ जाता है। 'गर्भ' सन्धि में प्राप्त्याशा और पताका नामक कार्यावस्थाओं का मेल रहता है; दूसरे शब्दों में उन प्रयत्नों की संघर्ष शीलता दिखाई पड़ती है, जो फल-प्राप्ति की ओर अग्रसर होने के लिए किए

जाते हैं। गर्भ सन्धि में इन प्रयत्नों का विकास, और ह्रास मुख्य रूप से विद्यमान रहता है। 'विमर्श' सन्धि में बीज का और भी अधिक विस्तार होता है। इसमें 'नियताप्ति' और प्रकरी का मेल होता है। इस सन्धि में फल-प्राप्ति के मार्ग में शाप, क्रोध, भय, और दुःख इत्यादि बाधाएँ सामने आती हैं। इन बाधाओं के कारण फल प्राप्ति की आशा नष्ट हो जाती है। इसे 'अवकर्ष' सन्धि भी कहते हैं। 'निर्वहण' सन्धि उसे कहते हैं, जिसमें अन्तिम फल की प्राप्ति हो जाती है, और सम्पूर्ण विघ्नबाधाएँ शांत हो जाती हैं। निर्वहण सन्धि में ऊपर की चारों सन्धियों में वर्णित सभी बातों का मेल मिल जाता है।

वस्तु में दो प्रकार की सामग्री रहती है। एक को 'दृश्य वस्तु' और दूसरे को 'सूच्य वस्तु' कहते हैं। जिस सामग्री का प्रदर्शन मंच पर किया जाता है, और जिसका विस्तार करना आवश्यक होता है, उसे 'दृश्य वस्तु' कहते हैं। 'सूच्य वस्तु' उस सामग्री को कहते हैं, जिसकी मंच पर सूचना मात्र दी जाती है। दृश्य वस्तु के अन्तर्गत जो बातें आती हैं, वे अंकों में दिखाई जाती हैं। किसी भी नाटक में पाँच से लेकर दस तक अंक हो सकते हैं। अङ्क घट-बढ़ कर होते हैं। सभी अंक परस्पर संबद्ध और जुड़े हुए से होते हैं। दो अंकों के बीच में एक वर्ष तक का समय सन्निहित रहना चाहिए। यदि नाटककार इससे अधिक का समय दिखाना चाहता हो, तो उसे चाहिए, कि वह घटा कर एक वर्ष या उससे कम कर दे, और दर्शकों को इससे सूचित कर दे।

दो अंकों की घटनाओं के बीच में जो समयान्तर होता है, उसकी वास्तविक सूचना देने के लिए प्राचीन आचार्यों ने एक विधान प्रचलित किया है। उस विधान को 'अर्थोपक्षेपक' कहते हैं। अर्थोपक्षेपक पाँच प्रकार का होता है—(१) विष्कंभक, (२) प्रवेशक, (३) चूलिका, (४) अंकावतार, (५) अंकास्य। 'विष्कंभक' उस संक्षिप्त रीति या दृश्य को कहते हैं, जिसके द्वारा पूर्व घटित और भविष्य में होने वाली घटनाओं की सूचना दी जाती है। इस सूचना का आधार दो पात्रों का कथोपकथन होता है। 'विष्कंभक' कभी तो नाटक के प्रारंभ में आता है, और कभी दो अंकों के मध्य में भी आ सकता है। 'प्रवेशक' वह है, जिसके द्वारा विष्कंभक की भाँति ही पूर्व घटित और भविष्य में घटने वाली घटनाओं की सूचना दी जाती है। विष्कंभक और 'प्रवेशक' में यह अन्तर है, कि प्रवेशक में जो सूचना दी जाती है, उसकी भाषा निम्नकोटि की होती है, और सूचना देने वाला पात्र भी निम्नश्रेणी का होता है। प्रवेशक में सूचना प्रारंभ में न देकर दो अंकों के मध्य में दी जाती है। चूलिका के द्वारा नेपथ्य के भीतर से किसी रहस्य की सूचना दी जाती है। कभी कभी एक अंक के पात्र, उसकी समाप्ति पर बाहर चले जाते हैं, और जब दूसरा अङ्क प्रारंभ होता है, तो पुनः आकर उसमें सम्मिलित हो जाते हैं। इसे 'अङ्कावतार' कहते हैं। अंकावतार में रंग मंच पर पात्रों में परिवर्तन किए बिना अगले अंक की कथा चलाई जाती है। अंकास्य में

दृश्य वस्तु और सूच्य वस्तु

अर्थोपक्षेपक और उसके भेद

अंक के अन्त में बाहर जाने वाले पात्रों के द्वारा अंक की कथा की सूचना दी जाती है।

रूपक में पात्र का अधिक महत्व पूर्ण स्थान है। रूपक पात्रों के द्वारा ही अपने वास्तविक स्वरूप को प्राप्त होता है। 'रूपक' में पात्र उन्हें कहते हैं, जो किसी का पात्र स्वरूप धारण करके उसकी अवस्था या अवस्थाओं का अनुकरण करते हैं। पात्रों के चुनाव में अधिक सजगता से काम लेना चाहिए। पात्र जिसका अनुकरण करते हों, उसका संपूर्ण व्यक्तित्व उनके अनुकरण में आना चाहिए। अनुकरण करने वाले पात्र के कार्य और उसकी वाणी तथा वेष भूषा इत्यादि में सादृश्य उत्पन्न होना चाहिए। सादृश्य रूपक का प्राण है—जिस रूपक के पात्रों में जितना ही अधिक सादृश्य होता है, उसमें उतना ही अधिक रस और सौन्दर्य उत्पन्न होता है।

पात्र के दो प्रकार होते हैं—प्रधान, और सहायक। प्रधान पात्र को ही 'नायक' भी कहते हैं। नायक का सर्वाधिक महत्व पूर्ण स्थान होता है। 'रूपक' की कथा आदि से लेकर अन्त तक नायक के ही द्वारा अग्रसर होती है। नायक को ही फल प्राप्ति होती है, और वही संपूर्ण फलों का उपभोक्ता होता है। नायक कथावस्तु का मुख्य अंग होता है। उसमें विनीतता, मधुरता, दक्षता, प्रियवादिता, त्याग, साहसिकता, कलाकारिता, शूरता, दृढ़ता, तेजस्विता, शास्त्र निपुणता, स्थिरता, लोकप्रियता, और बुद्धिमत्ता इत्यादि गुणों का होना परमावश्यक माना जाता है।

स्वभाव की दृष्टि से नायक के चार भेद होते हैं—धीरोदात्त, धीर ललित, धीर शांत, और धीरोद्धत। 'धीरोदात्त' नायक में उदारता प्रमुख रूप से होती है। वह अधिक क्षमाशील, विनयी, दृढ़व्रती, निरभिमानी, और हर्ष-शोक में एक सा रहने वाला होता है। श्रीरामचन्द्र और युधिष्ठिर 'धीरोदात्त' नायक हैं। धीर ललित कलाविद् होता है। कोमल भावनाएँ मुख्य रूप से उसमें पाई जाती हैं। वह सुखान्वेषी और निश्चित मत वाला होता है। 'दुष्यंत' इसका दृष्टांत है। 'धीर शांत' में संतोष की भावना होती है। वह या तो ब्राह्मण या वैश्य होता है। 'मालती माधव' का 'माधव' इसका दृष्टांत है। 'धीरोद्धत' का गुण उसके नाम से ही स्पष्ट है। वह आत्म प्रशंसक, धृष्ट, चपल, गर्विष्ठ, छली, शूर, और असहिष्णु होता है। गुण की अपेक्षा उसमें दोष अधिक होते हैं। 'भीम' और 'मेघनाद' इसके दृष्टांत हैं।

प्राचीन आचार्यों ने शृङ्गार और स्त्रियों के प्रति व्यवहार आदि को दृष्टि में रख कर नायक के भी चार भेद बताए हैं—अनुकूल, दक्षिण, शठ, और धृष्ट। अनुकूल नायक उसे कहते हैं, जो एक 'पत्नीव्रत' होता है। 'दक्षिण' इसके प्रतिकूल होता है। वह कई पत्नियों वाला होता है। नवीन पत्नी के प्रति उसका सर्वाधिक आकर्षण होता है; किन्तु शेष पत्नियों के प्रति भी उसका प्रेम पूर्ववत् बना रहता है। 'शठ' गुप्त प्रेम का व्यसनी होता है। दिखाने के लिए वह एक पत्नी में अनुरक्त रहता है,

किन्तु गुप्त रूप से अन्य नायिकाओं से भी उसका सम्बन्ध होता है। 'धृष्ट' लज्जाहीन होता है। वह प्रगट रूप से शठ के कर्मों को कार्यान्वित करता है।

नाट्याचार्यों ने इन्हें भी तीन-तीन भेदों में विभक्त किया है—ज्येष्ठ, मध्यम, और अधम। इनके भी तीन-तीन भेद बताए गए हैं—दिव्य, अदिव्य, और दिव्यादिव्य। इस प्रकार नायक के कुल १४४ भेद होते हैं। रूपक में नायक के अतिरिक्त उसकी सहायता के लिए कुछ और भी पात्र होते हैं। जैसे—प्रतिनायक, और पीठ मर्द नायक। नायक के प्रति द्वन्दी को 'प्रतिनायक' कहते हैं। 'पीठ मर्द' उसे कहते हैं, जो प्रासंगिक कथा का नायक होता है। यह नायक का मित्र होता है। इनके अतिरिक्त नायक के कार्य व्यापार में सहायता देने वाले और भी नायक होते हैं, जिनके छः भेद किए गए हैं—शृंगार सहाय, अर्थ चिन्ता सहाय, संवाद सहाय, धर्म सहाय, अन्तःपुर सहाय, और दंड सहाय। शृंगार सहाय के तीन भेद हैं—विट्, चेट, और विदूषक। विट् नायक का सेवक होता है। 'चेट' उसका दास और विदूषक उसका मनोरंजनकारी होता है। 'अर्थ चिन्ता सहाय' राजा होता है। 'दंड सहाय' दुष्टों के विनाश में सहायता प्रदान करता है। 'धर्म सहाय' तपस्वी और पुरोहित इत्यादि होते हैं। 'अन्तःपुर सहाय' हिंजड़े होते हैं। संवाद सहाय दूत होते हैं। कभी कभी पुरुष पात्र स्त्री का रूप धारण करके उसके समान ही हाव भाव और कोमलता के साथ नाट्य करता है। ऐसे पुरुष पात्र को 'त्रिगूढ़' कहते हैं।

रूपक में नायक की भाँति नायिका का भी महत्व पूर्ण स्थान होता है। नाट्याचार्यों ने नायिका के भी कई भेद और उपभेद किए हैं। 'नायिका' नायक की पत्नी को कहते हैं। यह तीन प्रकार की होती है—स्वकीया, परकीया, और सामान्या। स्वकीया उसे कहते हैं, जो चरित्र निष्ठा, और लज्जालु होती है। वह अपने पति को ही अपना सर्वस्व समझती है। 'परकीया' उसे कहते हैं, जो दूसरे पुरुष से प्रेम करती है। सामान्या किसी एक से प्रेम नहीं करती। वह वेश्या होती है। स्वकीया, परकीया, और सामान्या की प्रकृति और उसके गुणों के अनुसार अनेक भेद और उपभेद भी किए गए हैं।

'रस' नाटक का तीसरा तत्व है। यह एक ऐसा तत्व है, जो रूपक में प्राण का संचार करता है, अतः रूपक के क्षेत्र में इसका अधिक महत्व है। नाट्याचार्यों ने रस इसकी परिभाषा इस प्रकार बताई है—'स्थायी भाव जब विभाव, अनुभाव, और संचारी भावों से पुष्ट होकर अपनी परिपक्वावस्था को पहुँचता है, तब उसके रसास्वादन से सुहृदजनों, और रसिकों के हृदय में जो आनन्द-स्रोत उमड़ पड़ता है, उसे 'रस' कहते। रस को वास्तविक रूप में समझने के लिए भाव, विभाव, अनुभाव और संचारी भाव का समझना अधिक आवश्यक है।

मनुष्य के मन में तरह तरह के विकार उत्पन्न होते हैं। मन के विकार को ही भाव कहते हैं। स्थायी भाव वह है, जो आदि से लेकर अन्त तक मन के भीतर बना रहता है। स्थायी भाव के अतिरिक्त मन में और भी भाव होते हैं, जो उठते,

चलते, और विलीन होते रहते हैं। इन भावों को संचारी अथवा व्यभिचारी भाव कहते हैं। इनकी संख्या तैंतीस है, जिनके नाम इस प्रकार हैं—निर्वेद, ग्लानि, शङ्का, भ्रम, धृति, जड़ता, हर्ष, दैन्य, उग्रता, चिन्ता, त्रास, असूया, अमर्ष, गर्व, स्मृति, मरण, मद, स्वप्न, निद्रा, विबोध, व्रीड़ा, अपस्मार, मति, आलस्य, आवेग, तर्क, अवहित्था, व्याधि, उन्माद, विषाद, औत्सुक्य, और चपलता। मन के भीतर जिनके द्वारा भाव जागृत होते हैं, उन्हें विभाव कहते हैं। विभाव दो प्रकार के होते हैं—आलम्बन, और उद्दीपन। जिनके द्वारा स्थायी भाव जागृत होते हैं, उन्हें आलंबन विभाव और जिनसे जागृत विभाव उद्दीप्त होते हैं, उन्हें उद्दीपन विभाव कहते हैं। जिसके हृदय में भाव जागृत होता है, वह आश्रय कहलाता है। जिसको देखने से भाव उत्थित होता है, उसका नाम 'आलंबन' है। भावों के उदय होने पर यदि आश्रय हृदय उनका बाह्य जगत में प्रदर्शन करता है, तो उसे अनुभाव कहते हैं। 'अनुभाव' तीन प्रकार के होते हैं—मानसिक, कायिक, और सात्त्विक। स्थायी भाव के कारण मन में उत्पन्न होने वाले विकार को मानसिक अनुभाव कहते हैं। मन में उत्पन्न अनुभूतियों का जब बाह्य प्रदर्शन किया जाता है, तब वह कायिक अनुभाव कहलाता है। मन की आनन्दमय स्थिति में उत्पन्न होने वाले अनुभावों को 'सात्त्विक अनुभाव' कहते हैं।

स्थायी भावों से ही रसों की उत्पत्ति होती है। स्थायी भाव नौ होते हैं, जिनके नाम इस प्रकार हैं—रति, हास, शोक, क्रोध, उत्साह, भय, जुगुप्सा, विस्मय, और निर्वेद। प्रत्येक स्थायी भाव एक रस का जनक है। अतः रस भी नौ होते हैं, जो इस प्रकार हैं—शृंगार, हास्य, करुण, रौद्र, वीर, भयानक, बीभत्स, अद्भुत, और शांत। प्रेमियों के मन में संस्कार रूप से वर्तमान रति रसावस्था को पहुँच कर जब आस्वाद योग्यता को प्राप्त करता है, तब उसे शृंगार रस कहते हैं। शृंगार का स्थायी भाव रति है। यह दो प्रकार का होता है—विप्रलंभ, और संयोग। विप्रलंभ में वियोग, और संयोग में संयोग की भावनाएँ होती हैं। जहाँ विकृत वेश भूषा, रूप, वाणी और अंग भङ्गी आदि के देखने-सुनने से हास्य स्थायी भाव परिपुष्ट हो, वहाँ हास्य रस होता है। हास्य इसका स्थायी भाव है। जहाँ उत्साह भाव का परिपोष हो, वहाँ वीर रस होता है। वीर रस का स्थायी भाव उत्साह है। विचित्र वस्तुओं के देखने और सुनने से जब आश्चर्य का परिपोष होता है, तब अद्भुत रस की प्रतीति होती है। विस्मय इसका स्थायी भाव है। घृणित वस्तुओं के देखने वा सुनने से जहाँ घृणा या जुगुप्सा का भाव परिपुष्ट हो, वहाँ बीभत्स रस होता है। जुगुप्सा अथवा घृणा इसका स्थायी भाव है। भयानक वस्तु के देखने वा सुनने से अथवा प्रबल शत्रु के विद्रोह आदि करने से जब हृदय में वर्तमान 'भय' स्थायी भाव होकर परिपुष्ट होता है, तब भयानक रस उत्पन्न होता है। भय इसका स्थायी भाव है। जहाँ विरोधी दल की छेड़खानी, अपमान, अपकार, गुरुजन निंदा, तथा देश और धर्म के अपमान आदि से परिशोध की भावना जागृत होती है, वहाँ रौद्र रस होता है। इसका स्थायी

भाव क्रोध है। इष्ट वस्तु की हानि, अनिष्ट वस्तु का लाभ, प्रेम पात्र का चिर वियोग, और अर्थ हानि इत्यादि से जहाँ शोक भाव की परिपुष्टि होती है, वहाँ करुण रस होता है। 'शोक' इसका स्थायी भाव है। जब तत्व ज्ञान द्वारा वैराग्य उत्पन्न हो जाता है, तब शांत रस की प्रतीति होती है। 'निर्वेद' अथवा 'शम' इसका स्थायी भाव है।

नाटक में नाटकीय वस्तु अंतर्निहित रहती है। अभिनय एक ऐसी कला है, जिसके द्वारा नाटकीय वस्तु की अभिव्यक्ति होती है। दूसरे शब्दों में अभिनय उस

अभिनय साधन को कहते हैं, जिसके द्वारा नाटकीय वस्तु वास्तविक अर्थाभिव्यक्ति की ओर पहुँचाई जाती है। प्राचीन आचार्यों ने अभिनय के चार प्रकार बताए हैं—आंगिक, वाचिक, आहार्य, और सात्विक। 'आंगिक' अभिनय उसे कहते हैं, जो अंगों की भंगिमा के द्वारा संपादित किया जाता है। वाणी के द्वारा पूर्ण किया जाने वाला अभिनय 'वाचिक' कहा जाता है। वेश-भूषा के द्वारा प्रतिपाद्य अभिनय का नाम 'आहार्य' है। स्तम्भ, रोमांच, कंप, स्वेद, अश्रु, और हास्य इत्यादि अवस्थाओं का अनुकरण 'सात्विक' अभिनय है।

वृत्ति का शाब्दिक अर्थ बरताव अथवा ढंग है। रूपक में पात्र इत्यादि जो विशेष बरताव, अथवा काम करते हैं, उनके उन्हीं बरतावों अथवा कामों के करने के ढंग

वृत्तिः को 'वृत्ति' कहते हैं। नाट्य क्षेत्र में वृत्ति का अधिक महत्त्व पूर्ण स्थान है। 'वृत्ति' के ही द्वारा रूपक में 'रस' उत्पन्न होता है। साहित्य-दर्पण के टीकाकार के कथनानुसार वृत्ति ही रसास्वाद का प्रमुख कारण है। भरतमुनि ने वृत्तियों को नाट्य की माताओं के नाम से संबोधित किया है। वृत्तियाँ चार प्रकार की होती हैं—भारती, सात्वकी, आरभटी, और कौशिकी। 'भारती' के संबंध में लोगों के भिन्न भिन्न मत हैं। पंडित राजजगन्नाथ के कथनानुसार 'भारती' वृत्ति में सभी रस आ सकते हैं। भरत मुनि इसमें केवल 'करुण' और 'अद्भुत' का संचार मानते हैं। भारतेन्दु हरिश्चंद्रजी केवल 'बीभत्स' रस पूर्ण स्थलों में ही 'भारती' वृत्ति का व्यवहार होना मानते हैं। आचार्यों के कथनानुसार इसकी उत्पत्ति ऋग्वेद से हुई है। इसमें ऐसी बातें होती हैं, जो मन-मुग्ध कर और श्रवण-सुखद होती हैं। इसकी भाषा भी परिमार्जित होती है। इसका सम्बन्ध 'नटों' अथवा 'भरतों' से होता है। इसीलिए इसको 'भारती' वृत्ति कहते हैं। इसमें स्त्रियाँ वर्जित रहती हैं। प्रलोचना, वीथी, प्रहसन, और आमुख इसके चार भेद हैं। 'सात्विकी' की उत्पत्ति यजुर्वेद से है। इसमें शौर्य, दया, दाक्षिण्य, और दान इत्यादि सात्विक भावों का वर्णन विशेष रूप से रहता है। 'वीर' रस इसका प्रमुख रस है। पर 'रौद्र' और 'अद्भुत' का भी कुछ-कुछ पुट रहता है। आंशिक रूप में शृङ्गार भी पाया जाता है। अधिकतर ऐसे ही कार्यों की अधिकता रहती है, जो वीरोचित होते हैं। उत्थापक, सांघात्य, और परिवर्तक उसके भेद हैं। 'आरभटी' का संबंध सामवेद से है। उसमें युद्ध, वध, क्रोध, माया, इंद्रजाल मारपीट, छल कपट, और संघर्ष इत्यादि बातें दिखाई जाती हैं।

इसका रस रौद्र है। वस्तुत्थापन, संफेट, संक्षिप्त, और अवपात इसके चार भेद हैं। कौशिकी का सम्बन्ध अथर्व वेद से है। इसमें नृत्य, गीत, शृङ्गार, हास्य, और रति की अधिकता है। स्त्रियों के व्यापार और उनकी संख्या भी इसमें अधिक होती है। इसमें अधिकतर विलास वर्द्धक, और आनन्ददायक व्यापारों का ही अधिक वर्णन किया जाता है। 'शृङ्गार' और 'हास्य' इसका मुख्य रस है। नर्म, नर्म स्फूर्ज, नर्म-स्फोट, और नर्म गर्भ इसके चार भेद हैं। नर्म में प्रिय को प्रसन्न करने के निमित्त हास-परिहास जनक ऐसी क्रीड़ाएँ की जाती हैं, जो शिष्ट होती हैं, और जिनसे प्रिय के हृदय को दुःख पहुँचने की आशंका नहीं होती। 'नर्म स्फूर्ज' उसे कहते हैं, जब नायक नायिकाओं का प्रथम मिलन सुख और प्रेम की स्थिति में होकर अंत भय की दशा में होता है। जहाँ कहीं ऐसा किंचित रस उत्पन्न हो जाता है, जिसके उद्रेक का कारण कुछ थोड़े से भाव हों, वह नर्म स्फोट' कहलाता है। नायक के गुप्त व्यवहार को नर्म गर्भ कहते हैं।

रूपक जिस स्थान में अभिनीत किया जाता है, उसे रंगशाला कहते हैं, और जिस विशेष स्थान पर अभिनीत किया जाता है, उसे रंगमंच कहते हैं। रंगमंच' पर

रूपक का प्रारम्भ नाटकीय कथा को अभिनीत करने के पूर्व प्राचीन आचार्यों ने कुछ कृत्यों का विधान स्थापित किया है, जिन्हें पूर्व रंग कहते हैं। पूर्वरंग के कई अंग होते हैं, जिनमें सूत्रधार, नांदी, रंग द्वार, स्थापक, और मारिष का मुख्य स्थान है। नाटक के प्रधान परिचालक को सूत्रधार कहते हैं। सूत्रधार अधिक दक्ष, कुशल, और विद्वान होता है। क्योंकि नाटक के संचालन का सूत्र उसी के हाथ में होता है। इसीलिए उसे सूत्रधार कहते हैं। सर्व प्रथम नगाड़ा बजा कर नाटकारंभ की सूचना दी जाती है। इसके बाद वादक और गायक रंग मंच पर पधारते हैं, जो अपने वाद्य-यंत्रों के स्वरताल को ठीक करते हैं। वाद्य-ध्वनि आरंभ होने के साथ ही साथ सूत्रधार उपस्थित होता है, और रंग मंच के ऊपर पुष्प बिखेरता है। उसके साथ ही साथ उसका एक भृत्य भी रहता है, जो जल पात्र और इन्द्रध्वजा लिए रहता है। सूत्रधार अपने को जल से पवित्र करता है और इन्द्र ध्वजा धारण करके टहलता हुआ स्तुति पाठ करता है। उस स्तुति पाठ' को नांदी' कहते हैं। इसके पश्चात् नाटकारंभ कृत्य होता है। इसे रंगद्वार' कहते हैं। रंगद्वार नामक कृत्य में सूत्रधार इन्द्रध्वजा की वंदना करता है। फिर शिव पार्वती को प्रसन्न करने के लिए नृत्य किया जाता है। तदनन्तर सूत्रधार विदूषक से बातें करता हुआ प्रस्थान करता है। इसके पश्चात् नाटक की वास्तविकता को सूचित करने के लिए 'स्थापक' उपस्थित होता है। वह देवताओं की वंदना के साथ नाटक प्रारंभ कराता है। 'मारिष' सूत्रधार का पार्श्ववर्ती होता है।

—:o:—

हिन्दी नाट्यकला का इतिहास

हिन्दी साहित्य में नाट्यकला का प्रारंभ कब से हुआ—इस प्रश्न का उत्तर ठीक ठीक जानने के लिए हमें हिन्दी-साहित्य की प्रगति और उसके क्रम-विकास पर ध्यान देना होगा। हिन्दी साहित्य के विकास को दृष्टि में उसे चार कालों में विभक्त किया गया है—वीर गाथा काल, भक्तिकाल, रीतिकाल, और आधुनिक काल। इन्हीं चारों कालों के समय-चक्र में प्रवेश करके हमें हिन्दी नाटकों के जन्म का पता लगा कर उसके विकास पर विहंगम दृष्टि डालनी है।

वीर गाथा काल

हिन्दी साहित्य का उदय वीरगाथा काल से होता है। वीर गाथाकाल का समय सं० १०५० से सं० १३७५ तक माना जाता है। वीरगाथा काल से पूर्व संस्कृत और प्राकृत का जोर था। ईसा की सातवीं शताब्दी में हर्ष वर्द्धन के शासन काल में संस्कृत का अभ्युदय काल समाप्त हो गया था। देश की राजनीतिक परिस्थिति में अस्त-व्यस्तता उपस्थ हो चली थी। हर्षवर्द्धन के शासन की समाप्ति के पश्चात् देश छोटे-छोटे स्वतंत्र राज्यों में विभक्त था। इन राज्यों में पारस्परिक द्वेष और कलह की अग्नि बराबर प्रज्वलित रहा करती थी। देश की इस अनैक्यता से लाभ उठाकर इसी समय मुसलमानों के आक्रमण भी हुए। मुसलमानों के आक्रमण के कारण देश की स्थिति और भी अधिक विपन्न हो गई; फल स्वरूप मुसलमानों का आधिपत्य और आतंक चारों ओर स्थापित हो गया।

देश की राजनीतिक परिस्थिति का प्रभाव साहित्य के ऊपर भी पड़ा, जो अधिक स्वाभाविक ही था। प्राकृत और संस्कृत का यह पतन काल था। हिन्दी और डिंगल चारणों की बोली में जन्म धारण कर रही थी। हिन्दी का उस समय जो स्वरूप था, वह चारणों तक ही सीमित था। हिन्दी भाषा का साहित्य उस समय अपने शैशव में प्रवेश कर रहा था। राजपूत राजाओं के दरबारों में, चारण कवियों के द्वारा वह सृजित किया जा रहा था। चारण कवि अपने आश्रयदाताओं के वीरता पूर्ण कार्यों की प्रशंसा किया करते थे। कभी-कभी वे युद्ध स्थलों में जाकर भी उत्साह बढ़ाया करते थे। वीर गाथा काल में साहित्य के नाम पर जो कुछ सृजित किया गया, वह गीत और काव्य के रूप में था। चन्द्रबरदाई का पृथ्वीराज रासो इस काल का एक प्रधान काव्य है। नाट्यकला की दृष्टि से इस काल का कुछ भी महत्व नहीं है।

इस काल में नाटक और उसकी कला को किसी प्रकार का कुछ भी प्रोत्साहन प्राप्त नहीं हो सका।

वीर गाथा काल के पश्चात् उस युग का आविर्भाव हुआ, जो अपनी अनुभूतियों के कारण 'भक्ति काल' के नाम से विख्यात है। भक्ति काल सं० १३७५ से

भक्ति काल

सं० १७०० तक माना जाता है। भक्ति काल में राजनीतिक अस्त-व्यस्तता पूर्ण आवेश पर थी। मुसलमानों के आक्रमण की आँधी देश के कोने-कोने में फैल गई थी। हिन्दू जनता एक प्रकार से निराश्रित और निरावलंब बन गई थी। इससे हिन्दू जनता के भीतर नैराश्य, और दुःख की भावना उमड़ पड़ी थी। इसका परिणाम यह हुआ, कि जनता ईश्वरोन्मुख हो उठी, और उसमें भक्ति का संचार हुआ। परिणाम स्वरूप हिन्दी साहित्य में भक्ति सम्बन्धी रचनाओं की बाढ़ सी आ गई। कबीर, जायसी, सूर, और गोस्वामी तुलसीदास इसी काल के अमर कवि हैं। इसी काल में सुप्रसिद्ध महाकाव्य 'श्रीरामचरित मानस' की रचना हुई, किन्तु नाटक की ओर फिर भी किसी का ध्यान न गया। यद्यपि श्रीरामचरित मानस में नाटक के तत्त्व स्पष्ट रूप से पाए जाते हैं, किन्तु यह तो सत्य है, कि इस स्वर्ण काल में भी किसी स्वतन्त्र नाटक की रचना नहीं हो सकी।

भक्ति काल के पश्चात् रीति काल सामने उपस्थित हुआ। रीति काल को शृङ्गार काल भी कहते हैं। रीति काल बहुत कुछ शांति का युग था। आक्रमणकारी

रीति काल

मुसलमानों की युद्ध-लिप्सा इस युग में शांत हो चुकी थी। मुगल सम्राटों की छाया में, देश में शान्ति की स्थापना की जा रही थी। राजाओं, और मुगल शासकों के दरबारों में विलास प्रियता डोल रही थी। दरबारों में कवियों और शायरों का रंग जम रहा था। राजाओं और विलास प्रिय शासकों को प्रसन्न करने के लिए कामोद्दीपक रचनाओं की सृष्टि की जा रही थी। इस युग की साहित्यिक विशेषता शृङ्गारिक रचनाओं तक ही सीमित है। इसमें सन्देह नहीं, कि बिहारी मतिराम, और देव इत्यादि महाकवि इसी युग में उत्पन्न हुए और उनके द्वारा शृंगारिक साहित्य की अभूत पूर्व उन्नति हुई, पर इस युग में भी नाट्य-रचना की ओर किसी का ध्यान आकर्षित न हुआ। मुगल शासकों के द्वारा सङ्गीत और चित्रकला इत्यादि ललित कलाओं को प्रश्रय अवश्य दिया गया, किन्तु नाट्यकला को किसी प्रकार का प्रोत्साहन प्राप्त न हुआ। उर्दू के क्षेत्र में भी जो अभी अपने शैशव काल में थी, नाट्य-रचना की ओर से पूर्ण उदासीनता थी। किन्तु नाटक के तत्त्व जनता के भीतर विद्यमान थे। संस्कृत साहित्य में तो नाटकों की रचना हो ही चुकी थी, और इस काल में भी किसी न किसी रूप में उस परम्परा की रक्षा हो रही थी। हिन्दी के रीति काल में ही मैथिली के कई संस्कृत प्रेमियों ने संस्कृत में नाटकों की रचना की, जिनमें विद्यापति ठाकुर, लालझा, भानुनाथ, और हर्षनाथ झा नाम विशेष उल्लेखनीय है। जनता के भीतर लीलाओं के रूप में हीन कोटि के रूपकों का प्रचार था, पर साहित्यिक दृष्टि से यह युग भी नाट्य-रचना की ओर से पूर्ण उदास ही रहा।

इस युग में भी नाट्य-रचना की ओर किसी का ध्यान न गया। यह युग भी नाट्यकला से अछूता ही रह गया।

रीति काल के पश्चात् नवीन काल का उदय हुआ, जिसे आधुनिक काल कहते हैं। आधुनिक काल का उदय सं० १९०० से माना जाता है। इस युग में देश की

आधुनिक काल

राजनीतिक परिस्थिति ने पुनः करवट बदली। इस युग में मुसलमानों के शासन का अन्त हुआ, और उनका स्थान अँगरेजों ने ग्रहण किया। ज्यों ज्यों अँगरेजों का प्रभाव देश में बढ़ने लगा, त्यों त्यों अँगरेजी भाषा और पाश्चात्य संस्कृति का प्रभाव भी देश की जनता के ऊपर छाने लगा। अँगरेजी शिक्षा का शनैः शनैः प्रचार होने लगा, फल स्वरूप अँगरेजी साहित्य का मनन, और अनुशीलन किया जाने लगा। अँगरेजी साहित्य और सभ्यता के प्रचार के कारण देश में एक नई भावना और चेतना का उदय हुआ। कहना न होगा, कि अँगरेजी साहित्य में नाटकों की रचना बहुत पहले हो चुकी थी। अतः जब प्रान्तीय भाषाएँ अँगरेजी के संपर्क में आईं, तब उनमें भी नाटकों की रचना की जाने लगी। सर्व प्रथम मराठी और गुजराती में नाटकों की रचना की गई। उसके पश्चात् बँगला में नाटक लिखे गए। बँगला से नाट्य रचना की प्रवृत्ति ने हिन्दी साहित्य के क्षेत्र में प्रवेश किया, और हिन्दी में भी नाटकों की रचना की जाने लगी। सर्व प्रथम हिन्दी-साहित्य में जो नाटक लिखे गए, वे बँगला के नाटकों के अनुवाद थे। इसके पश्चात् संस्कृत के नाटकों के अनुवाद भी हिन्दी में हुए। इस प्रकार हिन्दी-साहित्य में नाट्य कला का जन्म हुआ, और समय के साथ ही साथ वह विकसित होने लगी। आज हिन्दी-साहित्य में नाट्यकला का भी अपना विशिष्ट क्षेत्र है, और उसमें एक से एक अधिक महत्व पूर्ण मौलिक रचनाएँ हो रही हैं।

कुछ लोग हिन्दी नाटकों का जन्म रामलीलाओं, और रासलीलाओं से ही मानते हैं, पर यह लोगों की भ्रांति है। रासलीलाओं और रामलीलाओं से हिन्दी नाट्यकला को प्रोत्साहन अवश्य प्राप्त हुआ, पर यह निर्विवाद सत्य है, कि उसका जन्म अँगरेजी शिक्षा और सभ्यता के प्रचार और प्रसार के ही कारण हुआ है। हिन्दी नाटकों के जन्म के मूल में अँगरेजी साहित्य की नवीन चेतना है। अँगरेजी साहित्य की प्रेरणा से हिन्दी नाटकों का तो जन्म हुआ, पर उसके विकास के मार्ग में कई बाधाएँ सामने थीं, जिनके कारण कुछ दिनों तक हिन्दी नाट्यकला का विकास यथोचित रूप में न हो सका। हिन्दी नाटकों के विकास में सबसे बड़ी बाधा रंग मंचों का अभाव था। संस्कृत नाटकों के उत्थान-युग में देश के भीतर जो प्रेक्षागृह बने थे, वे मुसलिम आक्रमणों से ध्वस्त हो चुके थे। अँगरेजों के आगमन पर पुनः प्रेक्षा-गृह स्थापित किए गए। सर्व प्रथम कलकत्ते में एक प्रेक्षागृह का निर्माण हुआ। इसके पश्चात् बम्बई, और कलकत्ते में कई प्रेक्षागृह बनाए गए। भारतेन्दु हरिश्चन्द्रजी ने कलकत्ते के प्रेक्षागृहों का अवलोकन किया था। कलकत्ते के प्रेक्षागृहों को देख कर हिन्दी की विपन्नावस्था पर उन्हें अधिक दुःख हुआ था, और उन्होंने उसी से

प्रेरित होकर हिन्दी के क्षेत्र के भीतर रंगशालाएँ स्थापित करने का प्रयत्न किया था।

दूसरी बाधा, जो हिन्दी-नाटकों के विकास-मार्ग में थी, योग्य और सदाचारी अभिनेताओं तथा अभिनेत्रियों का अभाव था। यह बात नहीं थी, कि समाज में ऐसे लोगों का अभाव था, किन्तु सच बात तो यह है, कि उस समय समाज की स्थिति ऐसी थी, कि उच्च कुल और उच्च विचार के लोग रंग मंचों पर आना हीन कोटि का काम समझते थे। फलतः हीन कोटि के ही पात्र रामलीलाओं, और रासलीलाओं में अभिनय कला का प्रदर्शन करते थे। उच्चकोटि के अभिनेताओं, और अभिनेत्रियों के अभाव के ही कारण भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के पूर्व किसी साहित्यिक नाटक का अभिनय नहीं हुआ। हिन्दी में जब नाटकों का जन्म हुआ, तो भारतेन्दु हरिश्चंद्र जी ने स्वयं अग्रसर होकर, समाज की इस संकीर्णता को दूर किया। उन्होंने स्वयं कई नाटकों में पात्र के रूप में अभिनय किया। इस प्रकार उन्होंने लोगों को सक्रिय रूप से प्रोत्साहन प्रदान किया। इन्हीं दिनों पारसी कंपनियों का जन्म हुआ। पारसी कंपनियों में भी, यद्यपि हीन कोटि के ही पात्रों की अधिकता थी, पर उनसे लोगों के मन में आकर्षण अवश्य जाग्रत हुआ, और लोग शनैः शनैः अभिनय कला की ओर आकर्षित होने लगे।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्रजी के पूर्व हिन्दी नाटकों का जन्म हो चुका था। उनके जन्म के पूर्व संस्कृत के नाटक 'शकुन्तला' का अनुवाद हिन्दी में हो चुका था। पर उन नाटकों का नाट्यकला की दृष्टि से अधिक महत्व नहीं है। शकुन्तला ही एक ऐसा नाटक था, जो सर्वोत्कृष्ट कहा जा सकता है। पर वह अनुवाद था। वास्तव में हिन्दी नाटकों का विकास भारतेन्दु काल से ही प्रारंभ होता है। भारतेंदु हरिश्चन्द्रजी को ही हिन्दी नाटकों के प्रवर्तन, विकास, और अभ्युदय का गौरव प्राप्त है। हम हिन्दी-नाटकों के विकास-क्रम को ध्यान में रख कर उसके विकास-इतिहास को पाँच भागों में विभक्त कर सकते हैं:—

(१) भारतेंदुकाल के पूर्व	[१६४३–१८६६]
(२) भारतेंदुकाल	[१८६७–१९०४]
(३) भारतेंदुकाल के उत्तर	[१९०५–१९१५]
(४) प्रसादकाल	[१९१५–१९२०]
(५) आधुनिकलाल	[१९२०–.....]

भारतेंदुकाल के पूर्व का समय १८४३ से लेकर १८६६ तक माना जाता है। इस काल का महत्व इसलिए है, कि हिन्दी नाट्यकला ने इसी काल में जन्म धारण किया। इस काल में मौलिक और अनूदित दोनों ही प्रकार के नाटकों का सृजन हुआ। इस काल की अनूदित रचनाओं में बनारसीदास जैन का समयसार, और हृदयराम उपनाम 'राम' का 'हनुमन्नाटक' का महत्वपूर्ण स्थान है। मौलिक नाटकों में प्राणचंद का रामायण महानाटक और

भारतेंदुकाल के पूर्व

कृष्ण जीवन तथा लछीराम कृत 'करुणाभरण' का नाम उल्लेखनीय है। किन्तु इन नाटकों में नाटकीय तत्त्वों का अभाव है। नाट्यकला की दृष्टि से उत्कृष्ट इस काल के मौलिक और अनूदित नाटकों का नाम 'प्रबन्ध चन्द्रोदय', 'आनन्द रघुनन्दन', और 'शकुन्तला' है। 'प्रबन्ध चन्द्रोदय' संस्कृत नाटक है। इसका अनुवाद सन् १६४३ के लगभग जोधपुर नरेश स्वर्गीय महाराज जसवंतसिंहजी ने किया था। 'आनन्द रघुनन्दन' मौलिक कृति है। हिन्दी-साहित्य का यही प्रथम मौलिक नाटक है। इसकी रचना सन् १७०६ में रीवाँ नरेश स्वर्गीय शिवसिंह जू द्वारा हुई थी। 'शकुन्तला' संस्कृत को नाटक है, जिसका अनुवाद राजालक्ष्मणसिंहजी ने सन् १८६१ में किया था। इसके पूर्व सन् १८४१ में भारतेंदु हरिश्चन्द्र जी के पिता गोपाल चंदजी ने 'नहुष' की रचना की थी।

इन नाटकों में संस्कृत नाट्य शैली का अनुसरण किया गया था। अतः आधुनिक नाट्यकला की दृष्टि से इनका स्थान महत्वपूर्ण नहीं माना जा सकता। इनमें उन तत्त्वों का अभाव है, जो आज नाटकीय कला के प्राण कहे जाते हैं।

भारतेंदुकाल हिन्दी नाटकों के अभ्युदय का प्रमुख काल है। वास्तव में नाट्यकला की दृष्टि से इसी काल में हिन्दी-नाटकों का जन्म हुआ, और इसी काल में उनका चरण विकास के क्षेत्र की ओर भी अग्रसर हुआ। भारतेंदु हरिश्चंद्रजी ही हिन्दी में नाटकों के जन्मदाता हैं। सर्व प्रथम उन्हीं के द्वारा ऐसे नाटकों का निर्माण हुआ, जो युग की भावनाओं को प्रगट करने के साथ ही साथ नाट्यकला की दृष्टि से भी सर्वोत्तम कहे जा सकते हैं। उन्होंने जब बँगला और अँगरेजी के नाटकों का अध्ययन किया, तब उन्हें हिन्दी में नाटकों का अभाव खलने लगा। उन्होंने बँगला और अँगरेजी के नाटकों से प्रभावित होकर नाटकों का निर्माण करना आरंभ कर दिया। नाटकों का निर्माण करने के साथ ही साथ उन्होंने रंग मंचों की भी व्यवस्था की। उन्होंने स्वयं पात्र के रूप में अभिनय किया। इस प्रकार उन्होंने नाटकों की रचना करने के साथ ही साथ अभिनय कला को भी प्रोत्साहन प्रदान किया।

भारतेन्दुजी के नाटक दो प्रकार के हैं—मौलिक और अनूदित। भारतेन्दुजी के मौलिक नाटकों में सत्य हरिश्चन्द्र, चन्द्रावली, भारत दुर्दशा, और नीलदेवी का प्रमुख स्थान है। अनूदित नाटकों में मुद्राराक्षस सबसे अधिक प्रसिद्ध है। भारतेन्दु हरिश्चन्द्रजी के नाटकों पर नवीनता की छाप है। पुराणों और इतिहासों पर उनके नाटक आधारित तो हैं ही, राजनीति, सामाजिकता, धार्मिकता, और आर्थिक समस्याओं का भी उनमें चित्रण हुआ है। अपनी रचनाओं में उन्होंने उदारता, समता, और प्रेम की भावनाओं को अधिक महत्व दिया है। अपने नाटकों में वे एक समन्वयवादी से प्रतीत होते हैं। उन्होंने उदारता को केन्द्र-विन्दु मान कर विभिन्न विषम परिस्थितियों को एकता के सूत्र में ग्रथित करने का प्रयत्न किया है।

विकास और उत्थान की दृष्टि से भारतेन्दु काल अधिक महत्व पूर्ण है। भार-

तेन्दु काल में कई उन्नतमना नाटककारों का जन्म हुआ, और उनके द्वारा श्रेष्ठ नाटकों का प्रणयन भी हुआ। भारतेन्दु काल को जिन नाटककारों ने अपनी रचनाओं से गौरवान्वित बनाने का प्रयत्न किया है, उनमें श्री निवासदास, बद्रीनारायण चौधरी, प्रताप नारायण मिश्र, राधाकृष्णदास, केशवराम भट्ट, हरिऔध, और राधाचरण गोस्वामी इत्यादि का मुख्य स्थान है। श्री निवासदास, बद्रीनारायण चौधरी, प्रताप नारायण मिश्र, और केशवराम भट्ट उनके समकालीन थे। यद्यपि भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के समकालीन कलाकारों के द्वारा उत्कृष्ट नाटकों की रचना नहीं हो सकी, पर इसमें सन्देह नहीं, कि उन्होंने भारतेन्दुजी की नाट्य परम्परा को अग्रसर करने में प्रशंसनीय सहायता प्रदान की। इस युग की रचनाओं में 'हरिऔधजी' के प्रद्युम्न विजय और 'रुक्मिणी परिणय' का महत्व पूर्ण स्थान है। राधाचरण गोस्वामी का अीदामा भी इस युग की श्रेष्ठ कृति है।

भारतेन्दु काल के नाटकों को सुविधा की दृष्टि से हम निम्नांकित कक्षाओं में विभक्त करते हैं—सामाजिक, प्रेम प्रधान, देश प्रेम सम्बन्धी, प्रतीकवादी, प्रहसन और अनूदित। सामाजिक रचनाओं में पाखंड विडंबन, और दुःखिनी बाला का महत्व पूर्ण स्थान है। इस काल में जो सामाजिक नाटक लिखे गए, वे बाल-विवाह, वृद्ध विवाह, पाखंड, और स्त्री जीवन की समस्याओं पर आधारित हैं। इन नाटकों में नाटक के तत्त्वों का विकास अल्पांश में ही पाया जाता है, पर इन पर नवीन युग के विचारों की छाप है। नाट्यकला की दृष्टि से अधिक महत्व पूर्ण न होते हुए भी विचारों की दृष्टि से वे अधिक उपयोगी हैं। भारतेन्दु काल में प्रेम प्रधान नाटकों की रचना मुख्य रूप से हुई है। भारतेन्दु हरिश्चन्द्रजी स्वयं प्रेम मार्गी थे। उनकी रचनाओं में प्रेम के तत्त्व स्पष्ट रूप से पाये जाते हैं। नाट्यकला के क्षेत्र में भारतेन्दुजी ही प्रेम पंथ के प्रवर्तक हैं। उनके 'विद्यासुन्दर' नाटक में प्रेम के तत्त्वों का विकास अधिक सुन्दरता के साथ हुआ है। चन्द्रावली नाटिका भी परमोज्वल प्रेम का सुन्दर दृष्टांत है। श्री निवासदास की 'रणधीर मनमोहिनी' में भी प्रेम की भावनाएँ छलकती हुई मिलती हैं। प्रेम प्रधान नाटकों में 'सुखान्त' और 'दुखान्त' दोनों ही प्रकार के नाटक मिलते हैं। 'रणधीर मनमोहिनी' सुखान्त है। 'दुखान्त' नाटकों में अधिकतर आकस्मिक घटनाओं का ही आश्रय लिया गया है।

देश प्रेम सम्बन्धी नाटकों में 'भारत दुर्दशा' का मुख्य स्थान है। भारतेन्दुजी ने अपने कई नाटकों में देश प्रेम सम्बन्धी भावनाओं का चित्रण किया है। उनकी इस प्रकार की भावनाओं ने साहित्य के अन्तर्गत एक नई दिशा का निर्माण किया है। प्रतीकवादी रचनाओं में कमलाचरण का 'अद्भुत नाटक' उल्लेखनीय है, जो सब प्रकार से मौलिक है। भारतेन्दु काल में कई ऐसे कलाकार हुए हैं, जिन्होंने प्रहसनों और व्यंग्य साहित्य की सुन्दरता के साथ रचना की है। भरतेन्दुजी ने स्वयं प्रहसन साहित्य की रचना की है। अधिकतर प्रहसनों की रचना सामाजिक विषयों

पर हुई है। प्रहसनों में देवकीनन्दन का 'एक एक के तीन तीन', बालकृष्ण भट्ट का 'जैसा काम, वैसा परिणाम' प्रतापनारायण मिश्र का 'कलिकौतुक रूपक' किशोरीलाल गोस्वामी का 'चौपट चपेट' और विजयानन्द का 'महाअन्धेर नगरी' अपना महत्व पूर्ण स्थान रखता है।

भारतेन्दुकाल अनूदित रचनाओं के लिए भी अधिक प्रसिद्ध है। इस काल में बँगला, अँगरेजी, और संस्कृत के कई नाटकों का हिन्दी में अनुवाद हुआ।

भारतेन्दुकाल हिन्दी नाट्य-रचना का प्रथमकाल है। इस काल के उन्नत मना कलाकार भारतेन्दु हरिश्चन्द्र जी ही हैं। भारतेन्दु हरिश्चन्द्रजी नाट्य-रचना के क्षेत्र में एक मिलन-विन्दु पर खड़े प्रतीत होते हैं, जहाँ दो धाराएँ आकर मिलती हैं—एक संस्कृत नाट्य शास्त्र के सिद्धांतों की, और दूसरी पाश्चात्य नाट्य शास्त्र के सिद्धांतों की। भारतेन्दुजी की नाट्य रचनाओं में दोनों ही सिद्धांतों का एक समन्वय सा दृष्टिगोचर होता है। उन्होंने अपनी रचनाओं में पूर्ण रूपेण न तो भारतीय नाट्य परम्परा का पालन किया है, और न आँखें बन्द करके पाश्चात्य विधि का ही अनुसरण किया है। इसके प्रतिकूल उनकी रचनाओं में दोनों के समन्वय से उत्पन्न एक नवीन पद्धति अग्रसर होती हुई दृष्टि गोचर होती है। उनके अनुवर्ती लेखकों ने भी उनके विधि-मार्ग पर चल कर उनके पद-चिह्नों का अनुसरण किया है। भारतेन्दुकाल में मौलिक और अनूदित-दोनों ही प्रकार के नाटकों की रचना हुई। मौलिक नाटकों में कई ऐसे नाटक हैं, जो नाट्य कला की दृष्टि से सुन्दर कहे जा सकते हैं, पर फिर भी यह बात सच है, कि इस युग में किसी ऐसे नाटक की रचना नहीं हुई, जिन्हें प्रत्येक दृष्टि से सर्वोत्तम कहा जा सके। अनूदित नाटकों में कई ऐसे नाटक अवश्य सामने उपस्थित किए गए, जिनका नाट्य साहित्य में महत्व पूर्ण स्थान है। इन मौलिक और अनूदित नाटकों ने हिन्दी साहित्य को एक गति प्रदान की। इनके द्वारा लोगों की प्रवृत्ति सुसंस्कृत हुई, और लोग नाट्य-रचना के क्षेत्र में एक नवीन दिशा का निर्माण करने लगे। यह सत्य है, कि इस युग में सर्वोत्तम मौलिक नाटकों की रचना नहीं हुई, पर उसके साथ ही साथ यह भी सत्य है, कि इस युग में ही हिन्दी के सर्वोत्तम मौलिक नाटकों की नींव पड़ी। उसी नींव के परिणाम स्वरूप ही तो 'प्रसाद युग' की सृष्टि हुई है।

उत्तरकाल १९०५ से प्रारंभ होता है। उत्तर काल अस्त व्यस्तता और आंदोलनों का युग है। इस काल में 'वंगभङ्ग' आंदोलन हुआ, और स्वाधीनता के लिए नवीन ढंग से राजनीतिक आंदोलन का सूत्र पात हुआ। इसका प्रभाव देश की स्थिति और जनता के विचारों पर भी अधिक पड़ा। साहित्य भी इन आंदोलनों से प्रभावित हुए बिना न रहा; परिणाम स्वरूप नाट्य-जगत में भारतेन्दुजी ने जो परम्परा स्थापित की थी, उसमें परिवर्तन उपस्थित हुआ। यह परिवर्तन उत्तर काल के ऐतिहासिक, प्रेम प्रधान, और समस्या मूलक नाटकों में स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होता है। उत्तरकाल में मुख्य रूप

उत्तरकाल

से तीन प्रकार के नाटकों का प्रणयन हुआ—पौराणिक, ऐतिहासिक, और समस्या मूलक। पौराणिक नाटकों में 'महावीर चरित,' नलदमयन्ती, प्रसादजी कृत करुणालय, और बद्रीनाथ भट्टजी द्वारा रचित 'कुरुवन दहन' का महत्त्वपूर्ण स्थान है। पौराणिक नाटकों में कई ऐसे भी नाटक लिखे गए, जिनमें राम, और कृष्ण शाखा की भावनाएँ हैं। ऐतिहासिक नाटकों में शालिग्राम का 'कुरुविक्रम', श्री वृन्दावन लाल का सेनापति उदाल, बद्रीनाथ भट्ट का चन्द्रगुप्त, और तुलसीदास अधिक प्रसिद्ध हैं। समस्या प्रधान नाटकों में मिश्र बन्धुओं का 'नेत्रोन्मीलन' अपना विशेष स्थान रखता है।

उत्तरकाल में मौलिक नाटकों के अतिरिक्त संस्कृत, बँगला, और अँगरेजी आदि भाषाओं से अनूदित रचनाएँ भी सामने आई हैं। अनूदित रचनाओं में उत्तर रामचरित, 'मृच्छकटिक', और 'नागानन्द' अधिक महत्त्वपूर्ण हैं।

'प्रसादकाल' सन् १९१६ से प्रारंभ होता है। प्रसादकाल झंझावात का युग था। द्वितीय महायुद्ध समाप्त हो गया था। अँगरेज शासकों की नीति के कारण देश 'प्रसादकाल' के भीतर विक्षोभ की भावना जाग्रत हो उठी थी। राजनीतिक चेतना का, देश के कोने कोने में, उदय हो रहा था। इसका प्रभाव साहित्य के ऊपर भी पड़ा। साहित्य के अंतर्गत भी राष्ट्रीय चेतना का विकास हुआ। नई समस्याओं, नवीन विचारों, और नवीन आदर्शों ने साहित्य के भीतर प्रवेश किया; फल स्वरूप छायावाद, रहस्यवाद, और प्रगतिवाद ने जन्म धारण किया। नाट्य जगत में भी विस्मयकारी परिवर्तन उपस्थित हुआ। अँगरेजी साहित्य के अधिक संपर्क में आने के कारण नाट्य-जगत में नई कला ने जन्म धारण किया। यह नई कला बहुत कुछ पाश्चात्य कला से प्रभावित थी। इसके फलस्वरूप ऐसे नाटकों की सृष्टि हुई, जिनमें बुद्धि की प्रधानता थी। प्रसादकाल में मुख्य रूप से ऐतिहासिक और समस्या मूलक नाटकों की रचना हुई है।

नाट्यकला की दृष्टि से प्रसाद काल अधिक महत्व पूर्ण है। हिन्दी की नाट्य कला ने इस युग में अपने को अधिक व्यापक बनाने का प्रयत्न किया है। एक ओर तो उसने भारतेन्दु हरिश्चन्द्रजी की परंपरा का निर्वाह किया है, और दूसरी ओर उसने पाश्चात्य कला के साथ मिल कर अपने भीतर नवीनता को जन्म दिया है। इस दृष्टि से यह कहना असङ्गत न होगा, कि प्रसाद काल विभिन्न प्रकार की नाट्य शैलियों का संगम है। प्रसाद काल में नई और पुरानी शैलियों ने एक साथ मिल कर हिन्दी नाट्यकला का अभिसार प्रशंसनीय ढङ्ग से किया है। प्रसाद काल की रचनाओं को चार वर्गों में विभक्त किया जा सकता है—पौराणिक, ऐतिहासिक, समस्या मूलक, और अनूदित। पौराणिक नाटकों में वियोगीहरिजी की 'छध्योगिनी', श्री मैथिलीशरण की 'तिलोत्तमा', और गोविन्द वल्लभ पन्त की 'वरमाला' का प्रमुख स्थान है। ऐतिहासिक नाटकों में प्रसादजी के नाटक महत्व पूर्ण स्थान रखते हैं। उनके अतिरिक्त 'उग्र' का महात्मा ईसा, प्रेमचन्दजी का 'कर्बला', मिलिंद का 'प्रताप

प्रतिज्ञा', उदयशङ्कर भट्ट का विक्रमादित्य, और सेठ गोविन्ददासजी का 'हर्ष' अपना विशिष्ट स्थान रखता है। समस्या मूलक नाटकों में श्री लक्ष्मीनारायण मिश्र के नाटक अधिक महत्व पूर्ण हैं। प्रहसनों की रचना में श्री जी० पी० श्रीवास्तव, उग्र और श्री सुदर्शन की रचनाओं ने अधिक सुख्याति प्राप्त की है। अनूदित रचनाओं में द्विजेन्द्रलालराय, शेक्सपियर, भवभूति और गाल्सवर्दी इत्यादि कलाकारों की कृतियों का अनुवाद अधिक महत्व पूर्ण है।

आधुनिक काल

आधुनिक काल १९३४ ई० से प्रारम्भ होता है। विचारों की दृष्टि से यह काल अधिक महत्व पूर्ण है। इस काल में देश की राजनीतिक जागृतियों ने विप्लव का रूप धारण किया, और इसी काल में देश की स्वराज्य प्राप्ति की वह अभिलाषा भी पूर्ण हुई, जो सदियों से देश के हृदय में आकुलता का ज्वार उत्पन्न कर रही थी। देश की इस राजनीतिक परिस्थिति का प्रभाव हिन्दी-साहित्य पर भी पूर्ण रूप से पड़ा है। हिन्दी का नाट्य क्षेत्र भी उससे पूर्ण रूप से प्रभावित हुआ है। इस काल में जो नाटक लिखे गए, उनमें विचारों और समस्याओं की प्रधानता है।

आधुनिक काल के नाटकों को भी हम चार वर्गों में विभक्त कर सकते हैं—पौराणिक, ऐतिहासिक, प्रेम मूलक, और समस्या मूलक। पौराणिक नाटकों में सेठ गोविन्ददासजी का कर्त्तव्य, उदयशङ्कर भट्ट का 'राधा', अंबा, सगर विजय, मत्स्य गंधा, और विश्वामित्र का प्रमुख स्थान है। ऐतिहासिक नाटकों में उदयशङ्कर भट्ट द्वारा रचित दाहर या सिंधु पतन, गोविन्द वल्लभ द्वारा रचित राजमुकुट, अन्तःपुर का छिद्र, उपेन्द्रनाथ द्वारा रचित जयपराजय, हरिकृष्ण प्रेमी द्वारा रचित रक्षा बन्धन, शिवा साधना, प्रतिशोध, और स्वप्न भङ्ग इत्यादि उल्लेखनीय हैं। प्रेम मूलक नाटकों में कमला कान्त के 'प्रवासी' और प्रतीकवादी नाटकों में 'पन्त' की 'ज्योत्स्ना' का महत्व पूर्ण स्थान है। समस्या मूलक नाटकों में श्री लक्ष्मीनारायण मिश्र, श्री 'उग्र', श्री गोविन्द वल्लभ पन्त, श्री वृन्दावनलाल वर्मा, और उपेन्द्रनाथ 'अश्क' के नाटकों की गणना की जाती है।

आधुनिक काल में एकांकी नाटकों की भी महत्व पूर्ण रचना हुई है। हिन्दी में एकांकी नाटकों का जन्म अँगरेजी और बँगला के ही संपर्क के कारण हुआ है। आधुनिक एकांकी नाटककारों में श्री भुवनेश्वर, श्री रामकुमार वर्मा, श्री उदयशङ्कर भट्ट, श्री पृथ्वीनाथ शर्मा, श्री लक्ष्मी नारायण मिश्र, और श्री चतुरसेन शास्त्री इत्यादि का महत्व पूर्ण स्थान है।

—:o:—

हिन्दी नाट्यकला का वर्तमान स्वरूप

पिछले पृष्ठों में हम नाट्यकला के प्राचीन स्वरूप का विवेचन कर चुके हैं। अब हम यहाँ हिन्दी नाट्यकला के वर्तमान-स्वरूप के चित्र को स्पष्ट करने का प्रयत्न करेंगे। हिन्दी नाट्यकला का वर्तमान स्वरूप, प्राचीन स्वरूप से अधिक भिन्न है। हिन्दी नाट्यकला के इतिहास पर दृष्टिपात करने से यह विदित होता है, कि ज्यों-ज्यों युग प्रगति की ओर अग्रसर हुआ, त्यों-त्यों हिन्दी नाट्यकला के स्वरूप में भी परिवर्तन होता गया है। हिन्दी नाट्यकला का वर्तमान स्वरूप युग की आकांक्षाओं से पूर्ण रूप से प्रभावित है। युग की प्रवृत्तियों में ही आधुनिक नाट्यकला का स्वरूप ढल कर तैयार हुआ है; दूसरे शब्दों में हम यह भी कह सकते हैं, कि आधुनिक नाट्यकला का वर्तमान रूप युग की आकांक्षाओं का ही एक प्रतिबिंब है, जिस प्रकार आज भारतीय युग की आकांक्षाओं में कई देशों की संस्कृतियों, और उसकी मुख्य विशिष्टताओं का समावेश हुआ है, उसी प्रकार हिन्दी नाट्यकला के वर्तमान स्वरूप के गठन में कई देशों की नाट्यकलाओं ने अपना प्रभाव डाला है। इसमें सन्देह नहीं, कि हिन्दी नाट्यकला के वर्तमान स्वरूप के मूल में प्राचीन भारतीय नाट्यकला की ही भावना है, पर इसमें भी सन्देह नहीं, कि आज हिन्दी नाट्यकला का जो भवन खड़ा हुआ है, उसके निर्माण और अभिसार में विविध देशों की नाट्यकलाओं ने महत्व पूर्ण योग प्रदान किया है।

हिन्दी नाट्यकला के वर्तमान स्वरूप को जानने के लिए हमें नाट्यकला के उन अंगों पर विचार करना होगा, जो स्वरूप का सङ्गठन करते हैं। यों तो नाट्यकला के

स्वरूप विधायक तत्त्व

स्वरूप का संगठन करने वाले कई तत्त्व हैं, किन्तु उनमें जो प्रमुख और सर्वमान्य हैं, उनके नाम इस प्रकार हैं—विषय, उद्देश्य, शैली, और नाटकीय तत्त्व। हिन्दी नाट्यकला के वर्तमान स्वरूप के सङ्गठन में इन्हीं तत्त्वों का अधिकाधिक योग है। अतः हिन्दी नाट्यकला के वर्तमान स्वरूप को जानने के लिए हमें स्वरूप का संगठन करने वाले तत्त्वों पर सावधानी के साथ प्रकाश डालना होगा। इन्हीं तत्त्वों के दर्पण में हम यह देख सकेंगे, कि हिन्दी नाट्यकला का वर्तमान स्वरूप किस प्रकार का है, और उसके भीतर कितनी कांति तथा कितना प्रकाश है।

आज हम जिस युग में निवास करते हैं, वह अधिक परिवर्तित है। आज के

युग पर विज्ञान की पूर्ण रूप से छाप है। आज के मनुष्य की प्रवृत्तियाँ पूर्ण रूप से विज्ञान की ही ओर उन्मुख ज्ञात होती हैं। अतः आज का साहित्य भी विज्ञान से अधिक प्रभावित है। आज के साहित्य में जिन नवीन प्रवृत्तियों ने जन्म धारण किया है, उनके जन्म का एक मात्र कारण विज्ञान ही है। कविता, कहानी, उपन्यास, और नाटक इत्यादि साहित्य के सभी अंगों को विज्ञान ने प्रभावित और आंदोलित किया है। यहाँ हम केवल नाटक को ही लेंगे, क्योंकि यही हमारा इष्ट विषय है। आज का नाट्य-साहित्य युग की ही आकांक्षाओं में ढला हुआ है। आज इसका विषय प्राचीन नाट्य-साहित्य की भाँति केवल पौराणिक कथाओं तक ही सीमित नहीं रह गया है; वरन् आज उसके भीतर युग की आकांक्षाओं के अनुरूप विविध विषयों का समावेश हो रहा है। आज की नाट्यकला के विषयों को हम निम्नांकित वर्गों में विभक्त कर सकते हैं—पौराणिक, ऐतिहासिक, सामाजिक, राजनीतिक, दार्शनिक, धार्मिक, और प्रतीकात्मक इत्यादि। पौराणिक विषय वे हैं, जो पुराणों से लिए जाते हैं। पौराणिक विषय दो प्रकार के होते हैं। एक तो वे हैं, जिनका सम्बन्ध श्रीरामचन्द्रजी की जीवन-कथाओं से है, और दूसरे प्रकार के पौराणिक विषय वे हैं, जो श्रीकृष्ण के जीवन से सम्बन्धित हैं। प्राचीन काल में पौराणिक विषयों पर ही नाटकों की रचना की जाती थी। आज कल बहुत कम लोग पौराणिक आख्यानों को नाटकों की रचना के लिए ग्रहण करते हैं। यही कारण है, कि आज कल पौराणिक नाटकों का सृजन बहुत अल्प मात्रा में होता है।

विषय

ऐतिहासिक नाटक उन्हें कहते हैं, जिनकी कथावस्तु इतिहास से ली जाती है। अधिकतर कथावस्तु ऐसे काल से ली जाती है, जिसे हम अभ्युदय की दृष्टि से राष्ट्र का स्वर्ण काल कहते हैं। कभी-कभी राष्ट्र के अन्धकार युग से भी उन कथाओं को चुना जाता है, जो उस अन्धकार युग में प्रकाश का काम करती हैं, अथवा पतनावस्था में जिनके द्वारा राष्ट्र के गौरव का चित्र सामने उपस्थित होता है। आधुनिक काल में, अधिक संख्या में ऐतिहासिक नाटकों की रचना हुई है। स्वर्गीय जयशङ्कर प्रसाद, श्री वृन्दावनलाल वर्मा, और श्री हरिकृष्ण प्रेमी इत्यादि ने ऐतिहासिक नाटकों के सृजन में अधिक सुख्याति प्राप्त की है। सामाजिक नाटकों में समाज की समस्याओं का चित्रण होता है। समाज की समस्याओं के रूप में आज समाज के भीतर अनेक कुरीतियाँ प्रचलित हैं। जैसे—गरीबी, वृद्ध-विवाह, बाल-विवाह, वेश्या वृत्ति, और मद्यपान इत्यादि। इनके अतिरिक्त आज समाज के भीतर और भी कई महत्व पूर्ण समस्याएँ उत्पन्न हो गई हैं। जैसे—विवाह की समस्या, नारी जीवन की समस्या, दाम्पत्य जीवन की समस्या, शिक्षा की समस्या, और किसान तथा मजदूर की समस्या। सामाजिक नाटकों में इन्हीं समस्याओं का चित्रण किया जाता है, और उनका एक हल—एक निदान खोजने का प्रयत्न किया जाता है। इन नाटकों में समाज की समस्याओं का ही चित्रण होता है, इसलिए इन्हें 'समस्या प्रधान' नाटक भी कहते हैं। राजनीतिक नाटक उन्हें कहते हैं, जिनकी रचना आधुनिक राजनीति

के क्षेत्र में प्रचलित 'वादों' को लेकर की जाती है। उन वादों में कुछ के नाम इस प्रकार हैं—गाँधीवाद, पूँजीवाद, साम्यवाद, समाजवाद, और संस्कृतिवाद इत्यादि। दार्शनिक नाटकों में जीवन और जगत की व्याख्या की जाती है। धार्मिक नाटकों की रचना धर्म से सम्बन्ध रखने वाली कथाओं को लेकर की जाती है। प्रतीकात्मक नाटकों में मानव हृदय के भावों-प्रेम, ममता, क्रोध, लोभ, और इत्यादि का चित्रण द्वन्द्वात्मक ढङ्ग से किया जाता है।

उद्देश्य का नाटक में महत्त्व पूर्ण स्थान होता है। नाटककार अपने उद्देश्य को ही दृष्टि में रख कर अपने नाटकों के लिए कथावस्तु का चयन करता है, और उसकी उद्देश्य पूर्ति के लिए पग-पग पर सचेष्ट रहता है। आधुनिक काल में, उद्देश्य को दृष्टि में रख कर तीन प्रकार के नाटकों की रचना की जाती है; दूसरे शब्दों में उद्देश्य की दृष्टि से आधुनिक काल के नाटकों को तीन वर्गों में विभक्त किया जा सकता है—सांस्कृतिक, नैतिक, और समस्या प्रधान। सांस्कृतिक नाटकों में भारतीय संस्कृति के उत्कर्ष को प्रगट करने वाले चित्र अंकित किए जाते हैं। सेठ गोविन्द दास, और स्वर्गीय जयशंकर प्रसादजी ने सांस्कृतिक नाटकों के प्रणयन में अधिक सुख्याति प्राप्त की है। नैतिक नाटकों में सदाचार, नीति, धर्म, चरित्र, राष्ट्र प्रेम, मानवीय सहानुभूति, और न्याय इत्यादि भावों का उत्कर्ष प्रगट किया जाता है। समस्या प्रधान नाटकों में समाज की उन समस्याओं पर प्रकाश डाला जाता है, जिनके कारण आज जीवन सर्वाधिक आंदोलित हो रहा है। श्री लक्ष्मीनारायण मिश्र, और सेठ गोविंददास इत्यादि ने समस्या प्रधान नाटकों के निर्माण में अधिक कुशलता प्रदर्शित की है।

आधुनिक काल में नाट्य रचना का क्षेत्र अधिक विस्तृत हो गया है। आधुनिक काल की नाट्य कला पर पश्चिम की नाट्यकला ने अधिक प्रभाव डाला है। अँग्रेजी, फ्रेंच, और रशियन इत्यादि भाषाओं के संपर्क में आने के कारण हिन्दी के नाटककारों की प्रवृत्तियों में अधिक परिवर्तन हुआ है, और वे नाट्य रचना के क्षेत्र में अपनी विविधता का परिचय देने लगे हैं। जिस प्रकार आज विषय, और उद्देश्य की दृष्टि से विविध प्रकार के नाटकों की रचना हो रही है, उसी प्रकार आज नाट्य-रचना के क्षेत्र में विविध प्रकार की शैलियाँ भी उद्भावित हो रही हैं। शैली की दृष्टि से आधुनिक नाट्यकला को हम आठ वर्गों में विभक्त कर सकते हैं—(१) वस्तु प्रधान, (२) चरित्र प्रधान, (३) व्यापार प्रधान, (४) संवाद प्रधान, (५) उद्देश्य प्रधान, (६) प्रतीक प्रधान, (७) भावनाट्य, और (८) गीति नाट्य। वस्तु प्रधान नाटक उन्हें कहते हैं, जिनमें वस्तु या घटना पर अधिक बल दिया जाता है। चरित्र प्रधान नाटकों में चरित्र चित्रण की मुख्यता होती है। व्यापार प्रधान नाटकों में घटना और क्रिया कलापों की ओर विशेष ध्यान दिया जाता है। संवाद प्रधान नाटकों में नाटकीय कला को संवादों के द्वारा ही मुखरित और स्पष्ट किया जाता है। भाषा और शैली की विशिष्टता ही संवाद प्रधान नाटकों की

विशेषता होती है। उद्देश्य प्रधान नाटकों में उद्देश्य की सिद्धि की ओर ही ध्यान केंद्रित रहता है। प्रतीक प्रधान नाटकों में मानव हृदय की भावनाओं के चित्र चित्रित किये जाते हैं। गीतिनाट्य पद्य-बद्ध होते हैं। भाव-नाट्य में भावना की प्रधानता होती है।

नाटक के तत्त्व

जिस प्रकार शरीर की सार्थकता प्राण से है, उसी प्रकार नाटक की सार्थकता नाटक के तत्त्वों में ही निहित होती है। नाटक के तत्त्व नाटक के प्राण के ही समान होते हैं। प्राण के ही समान नाटक के तत्त्व नाटक के भीतर शक्ति संचरित करते हैं, और उसे सफल तथा सजीव बनाते हैं। नाटक के तत्त्वों की इन विशेषताओं को ध्यान में रखते हुए हम यह कह सकते हैं, कि नाटक के तत्त्व उन विशेषताओं को कहते हैं, जो प्राण और शक्ति के समान नाटक के भीतर संचरित होते हैं, तथा जिनके द्वारा उसके कार्य-व्यापार में सिद्धि प्राप्त होती है। आधुनिक नाट्यकला की विवेचना करने पर हम उसके तत्त्वों को छः भागों में विभक्त कर सकते हैं—(१) कथानक, (२) वस्तु विधान, (३) चरित्र चित्रण, (४) कथोपकथन, (५) देश काल, और (६) उद्देश्य। कथानक वह वस्तु है, जिसके आधार पर नाटक की रचना की जाती है। कथानक कई प्रकार के होते हैं। जैसे—पौराणिक, ऐतिहासिक, काल्पनिक, वास्तविक, प्रतीकात्मक, और आनुश्रौतिक इत्यादि। वस्तु विधान वह विधि है, जिसके द्वारा कथानक की घटनाओं को सजा कर उन्हें एक क्रम में बद्ध किया जाता है। इसकी पाँच शैलियाँ निर्धारित की गई हैं, जिनके नाम इस प्रकार हैं—नायक प्रधान वस्तु विधान, घटना प्रधान वस्तु विधान, मनोवैज्ञानिक वस्तु विधान, कौतूहल प्रधान वस्तु विधान, और दृश्यानुकूल वस्तु विधान। चरित्र चित्रण नाटक का मुख्य तत्त्व है। आधुनिक काल में चरित्र चित्रण पर अधिक बल दिया जाता है। पात्र के चरित्र चित्रण के ही द्वारा आधुनिक काल के नाटकों में नाटकीय कला का विकास किया जाता है। आधुनिक काल में, नाटकों की सफलता पूर्ण रूप से चरित्र चित्रण पर ही निर्भर करती है। जो नाटककार चरित्र चित्रण की कला में जितना ही अधिक कुशल होता है, उसकी रचना में सफलता के उतने ही अधिक तत्त्व मिलते हैं। चरित्र चित्रण में छः रीतियों से काम लिया जाता है—आकृति द्वारा चरित्र चित्रण, वाणी द्वारा चरित्र चित्रण, अन्य पात्रों द्वारा चरित्र चित्रण, आत्म-भाषण द्वारा चरित्र चित्रण, स्वगत भावण द्वारा चरित्र चित्रण अन्यान्य पात्रों से सम्बन्धित बातों द्वारा चरित्र चित्रण और कार्य व्यापार द्वारा चरित्र चित्रण। चरित्र चित्रण के पश्चात् नाटक का वह तत्त्व सामने आता है, जिसे कथोपकथन कहते हैं। पात्रों में परस्पर जो बात चीत होती है, उसी का नाम कथोपकथन है। कथोपकथन में दो रीतियों से काम लिया जाता है, जिनमें एक को उपयोगिनी, और दूसरी को अनुपयोगिनी कहते हैं। कथोपकथन की उपयोगिनी रीति वह है, जिससे कथावस्तु को गति प्राप्त होती है। कथोपकथन की अनुपयोगिनी रीति से दर्शकों की रुचि में विकास होता है। कथोपकथन के द्वारा कथावस्तु में गति प्रदान

करने की भी दो रीतियाँ हैं, जिनमें एक को सहकारी और दूसरी को सूच्य कहते हैं। सहकारी रीति के द्वारा रंग मंच पर प्रदर्शित कार्य-व्यापार के प्रति दर्शकों के मन में विश्वास पैदा किया जाता है। सूच्य रीति के द्वारा दर्शकों को उस कार्य व्यापार की सूचना दी जाती है, जिनका प्रदर्शन रंग मंच पर नहीं किया जाता। देश काल-विधान नाटक का पाँचवाँ तत्त्व है। इसके द्वारा देश की वर्तमान राजनीतिक, सांस्कृतिक, और सामाजिक परिस्थिति पर प्रकाश डाला जाता है। उद्देश्य नाटक के ध्येय को कहते हैं। इस तत्त्व के द्वारा नाटक के ध्येय की पूर्ति की जाती है। नाटक के सम्पूर्ण तत्त्व उसके इस अन्तिम तत्त्व की पूर्ति में सहायता प्रदान करते हैं। शेष सभी तत्त्वों का कार्य व्यापार केवल इसी तत्त्व की सिद्धि के लिए होता है। अतः नाट्य-रचना में इस तत्त्व का अधिक महत्व पूर्ण स्थान है।

नाटक के तत्त्वों की विवेचना करने के पश्चात् अब हम नाटक के निष्कर्ष पर विचार करेंगे, जिसे नाटक का अन्त भी कहते हैं। नाटक का अन्त दो स्थितियों में किया जाता है, जिनमें एक को दुख और दूसरे को सुख की स्थिति कहते हैं। इन्हीं को 'दुखान्त', और 'सुखान्त' नाटकों की भी संज्ञा दी गई है। 'दुखान्त' नाटक उन्हें कहते हैं, जिनका अन्त दुख की स्थिति में होता है। 'दुखान्त' नाटकों को कुछ लोग 'वियोगान्त' भी कहते हैं। कारण, कि उनका अन्त वियोग की स्थिति में होता है। 'दुखान्त' या वियोगान्त नाटक भारतीय परम्परा के विरुद्ध हैं। भारतीय परम्परा के अनुसार ऐसे नाटक दोष पूर्ण समझे जाते हैं, जिनका अन्त 'दुख' या वियोग की स्थिति में किया जाता है। 'साहित्य दर्पणकार' के मतानुसार नाटक में दूर से पुकारना, वध, युद्ध, राज्य तथा देश का विप्लव, विवाह, भोजन, शाप, उत्सर्ग, मृत्यु, रति, शयन, चुम्बन, और स्नान इत्यादि क्रियाएँ वर्जनीय हैं। अन्य आचार्यों ने भी इसी बात का पिष्ट पेषण किया है। संस्कृत के नाट्यकला साहित्य का मन्थन करने पर भी यही बात विदित होती है, कि भारतीय नाट्य परम्परा नाटक का अन्त दुख या वियोग की स्थिति में करने के विपरीत है। कालिदास, भास, श्री हर्षदेव, भवभूति, विशाखदत्त, शूद्रक, और राजशेखर प्रभृति संस्कृति के जितने नाटककार हुए हैं, उनकी रचनाओं में जीवन के उसी अंश का अधिक चित्रण मिलता है, जो उल्लास और आनंद पूर्ण होने के साथ ही साथ राष्ट्र और समाज के लिए अधिक मङ्गलमय भी है, इसका प्रधान कारण भारतीय संस्कृति की वह विशेषता है, जिसमें ब्रह्मानन्द की भावना का ही प्राबल्य है। भारतीय संस्कृति का आधार आनन्द और शिवत्त्व है। आनन्द और शिवत्त्व की ही नींव पर भारतीय संस्कृति का विशाल और सुदृढ़ भवन खड़ा किया गया है। यही कारण है, कि भारतीय संस्कृति के भीतर आनन्द और शिवत्त्व की ही भावना मुख्य रूप से पाई जाती है। भारतीय जीवन पूर्ण रूप से 'आनन्द' और 'शिवत्त्व' की ही ओर उन्मुख है। जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में, भारत ने सदा से आनन्द, सुख, और मङ्गल की ही कल्पना की है। साहित्य जीवन का प्रतिबिंब होता है, अतः भार-

सुखान्त और दुखान्त

तीय साहित्य में भी आनन्द, सुख, और मङ्गल की ही भावना की प्रधानता है। कविता, कहानी, नाटक, और उपन्यास इत्यादि साहित्य के सभी क्षेत्रों में भारतीय कल्पना आनन्द, सुख और शिवत्व के साथ ही विचरण करती हुई दिखाई देती है।

'दुखान्त' या 'वियोगान्त' नाटक पाश्चात्य संस्कृति की देन हैं। पाश्चात्य संस्कृति 'उपभोग' और भौतिकता पर आधारित है। उपभोग और भौतिकता पर आधारित होने के कारण उसमें दुःख, अशांति, हिंसा, क्षुब्धता, और कामनाओं तथा लालसाओं की प्रधानता है। 'उपभोगवादी' और भौतिकवादी होने के कारण पाश्चात्य जीवन अधिक अशांतिमय और कोलाहल पूर्ण है। पाश्चात्य जीवन का केन्द्र बिन्दु हैं भौतिक लालसाएँ। पाश्चात्य जीवन भौतिक लालसाओं को ही जीवन का केन्द्र बिन्दु मान कर, जीवन के पथ पर अग्रसर होने का प्रयत्न कर रहा है। परिणाम स्वरूप उसमें प्रतिद्वन्दिता है, संघर्ष है, हिंसा है, दुःख है, और पर हरण की भावना भी है। पश्चिम का यही जीवन उसके साहित्य में भी प्रतिबिंबित हुआ है, और हो रहा है। भारतीय साहित्य में जहाँ मानव हृदय की कोमल प्रकृतियों का विकास हुआ है, वहाँ पश्चिम के साहित्य में भौतिक आकांक्षाओं की तृप्ति के लिए हिंसा, द्रोह, दुःख, अपहरण, मृत्यु, आत्मघात, और लूट तथा आक्रमण इत्यादि का ही प्राबल्य देखने को मिलता है। काव्य, उपन्यास, नाटक, कहानी, और एकांकी इत्यादि साहित्य के सभी क्षेत्रों में दुःख, हिंसा, और पीड़न की भावनाएँ ही देखने को मिलती हैं। पश्चिम के प्रायः सभी नाटककारों ने दुःख, वियोग, पीड़ा, मृत्यु, आक्रमण, और हिंसा की भावनाओं को ही मुख्य रूप से अपनी रचनाओं में स्थान दिया है। उनके नाटकों का अन्त भी प्रायः दुःख और वियोग की ही स्थिति में हुआ है। आदि से लेकर अन्त तक उनकी रचनाओं में 'दुःख' और वियोग की ही भावनाएँ मिलती हैं। हिन्दी की आधुनिक नाट्यकला पर पश्चिम की नाट्यकला का अखण्ड रूप से प्रभाव पड़ा है। एक ओर पश्चिम की नाट्यकला का प्रभाव जोर पकड़ता गया है, और दूसरी ओर दासता के कारण भारतीय संस्कृति का प्रभाव अपने ही देश में क्षीण होता गया है। परिणाम स्वरूप हिन्दी में अब ऐसे नाटकों की भी सृष्टि होने लगी है, जो भारतीय नाट्यकला के ही नहीं, भारतीय जीवन के भी परंपरा में नहीं आते। इस प्रकार के नाटकों का हिन्दी साहित्य में क्या भविष्य होगा, यह कुछ कहा नहीं जा सकता, किन्तु यह सत्य है, कि यथार्थवादिता के नाम पर वे जिस रूप में इस समय हमारे समक्ष हैं, वह भारतीय जीवन और नाट्य परम्परा के विपरीत है। उनमें आदि से लेकर अन्त तक, पाश्चात्य ढङ्ग से ही जीवन पर विचार किया गया है। पाश्चात्य नाटककारों की शैली और उनकी कला का भी उनमें अनुगमन और अनुसरण मिलता है।

—:o:—

हिन्दी नाटक— भारतेन्दु के पूर्व

भारतेन्दुजी के पूर्व के हिन्दी-नाटक का काल १६४३ से लेकर १८६६ ई० तक माना जाता है। विद्वानों ने छान बीन करने के पश्चात् हिन्दी नाटक का प्रारम्भ सत्रहवीं शताब्दी के अन्तिम पूर्वार्द्ध में माना है। हिन्दी नाटक अपने प्रारम्भ से लेकर भारतेन्दु काल तक उस अँखुए की भाँति दिखाई देता है, जो पृथ्वी के भीतर से निकल रहा हो। इस काल के नाटकों को दो वर्गों में विभक्त किया जा सकता है— अनूदित और मौलिक। अनूदित नाटकों में अधिकतर नाटक संस्कृत के ही हैं, जिनके विषय या तो पौराणिक हैं, या ऐतिहासिक और काल्पनिक। इन नाटकों में भारतीय नाट्य परम्परा का परिपालन किया गया है। मौलिक नाटकों के विषय भी पौराणिक ही हैं। कुछ ऐसे भी मौलिक नाटक इस काल में लिखे गए हैं, जो सामयिक हैं, और जिनमें सुधार की भावना की प्रधानता मिलती है। नाट्यकला की दृष्टि से इन नाटकों को विशेष महत्व नहीं प्रदान किया जा सकता। इनका महत्व तो केवल इतना ही है, कि यह अपने उद्भव से हिन्दी नाट्य इतिहास की धुँधली रेखा को स्पष्ट बनाते हैं, और उसके चित्र को पूर्ण होने में सहायता प्रदान करते हैं।

भारतेन्दुजी के पूर्व के हिन्दी-नाटक

हिन्दी में नाटक का जन्म संस्कृत से ही हुआ है। जिस प्रकार हिन्दी का जन्म अप्रत्यक्ष रूप में संस्कृत से हुआ है, उसी प्रकार हिन्दी नाटक का प्रारंभ भी संस्कृत नाटकों के ही आधार पर हुआ है। नाट्य रचना के नाम पर सर्वप्रथम हिन्दी में जो नाट्य साहित्य सामने आया है, वह संस्कृत से अनूदित है। सर्व प्रथम संस्कृत के ही नाटकों का हिन्दी में रूपांतर हुआ है। बँगला और अँगरेजी के नाटकों का अनुवाद उसके बहुत पीछे हुआ है। अतः हम हिन्दी के नाटकों का प्रारंभ संस्कृत से ही हुआ मानते हैं। भारतेन्दु काल के पूर्व हिन्दी में कई नाटकों का अनुवाद हुआ था, जो भाव, भाषा, और कला की दृष्टि से सर्वोत्तम कहे जा सकते हैं।

अनूदित

यह कुंदकुंदाचार्य के ग्रन्थ का अनुवाद है, जो संवत् १६६३ में बनारसी

दास जैन के द्वारा अनूदित हुआ है। यह रीति संबन्धी जैन काव्य है, जिसमें नाटक
समयसार के भी तत्त्व मिलते हैं।

हनुमान नाटक संस्कृत के हनुमन्नाटक का अनुवाद है, जो हृदयराम उपनाम 'राम' द्वारा संवत् १६२० में अनूदित हुआ है। यह पद्यमय है। अनुवाद में संस्कृत
हनुमान नाटक का मूल सम्यक रूप से नहीं आ सका है।

प्रबन्ध चन्द्रोदय संस्कृत के प्रबन्ध चन्द्रोदय का अनुवाद है। इसका अनुवाद कई व्यक्तियों के द्वारा हुआ है। सर्वश्रेष्ठ अनुवाद जोधपुर नरेश महाराज यशवंत सिंह
प्रबंध चंद्रोदय कृत है, जो सम्वत् १७०७ के आस पास हुआ है। प्रबन्ध चन्द्रोदय गद्य-पद्य मय नाटक है। कुछ लोगों ने इसका अनुवाद केवल काव्य के रूप में ही किया है।

शकुन्तला संस्कृत के शाकुंतलम् का अनुवाद है। इसका अनुवाद राजालक्ष्मण
शकुन्तला सिंह जी के द्वारा सन १८६३ ई० में हुआ था।

अनूदित नाटकों के अतिरिक्त भारतेन्दु काल के पूर्व कई मौलिक नाटक भी लिखे गए थे। यद्यपि नाट्यकला की दृष्टि से मौलिक नाटकों में विशेषता नहीं दृष्टि-
मौलिक गोचर होती, पर इसमें सन्देह नहीं, कि इनके द्वारा हिन्दी नाट्यकला के इतिहास पर महत्त्वपूर्ण प्रकाश पड़ता है, और वे उस लड़ी को सुदृढ़ बनाते हैं, जिनसे हिन्दी नाट्यकला की जंजीर बन सकी है। यहाँ हम उनमें से, कुछ पर प्रकाश डालने का प्रयत्न करेंगे।

रामायण महानाटक की रचना कथोपकथन के रूप में रामचरितमानस के आधार पर की गई है। इसके रचयिता का नाम प्राणचंद चौहान है। यह विशेष रूप से
रामायण महानाटक चौपाइयों में है। इसका रचना काल सम्वत् १६६७ के आस पास माना जाता है।

करुणाभरण की रचना सम्वत् १७७२ के आस पास हुई थी। इसकी रचना कृष्ण जीवन लछीराम ने श्री कृष्णलीला के आधार पर की है। यह काव्य के रूप में है।
करुणाभरण इसमें दोहे और चौपाइयाँ विशेष रूप से पाई जाती हैं।

जानकीरामचरित नाटक के रचयिता हरिरामजी हैं। इसकी रचना का काल ईसवी उन्नीसवी शताब्दी के मध्य में बताया जाता है। इसमें सीता स्वयंबर और श्रीराम
जानकी रामचरित चन्द्रजी के विवाह का वर्णन है।

आनन्द रघुनन्द रीवाँ नरेश स्वर्गीय शिवसिंह जू का लिखा हुआ है। इसका रचनाकाल सन् १७०० ई० के आस पास माना जाता है। यह राम चरित्र पर
आनन्द रघुनन्दन आधारित है, और गद्य-पद्य मिश्रित है।

इस प्रकार भारतेन्दुकाल के पूर्व कई मौलिक नाटकों की भी रचना हुई थी। यह बहुत ही निम्नकोटि के नाटक थे। नाट्यकला की दृष्टि से इनका स्थान अधिक साधारण और हीन था। नाटक की इनमें एक भी ऐसी विशेषता नहीं दिखाई पड़ती, जिस पर विवेचन किया जा सके। यह अधिकांश पद्य में ही हैं। कुछ ऐसे भी

हैं, जो गद्य में लिखे गए हैं। किन्तु इनका गद्य व्रजभाषा का गद्य है, जो पद्य के ही समान ज्ञात होता है। अतः भाषा और शैली की दृष्टि से भी इन नाटकों का कोई महत्व नहीं है। इनका महत्व तो केवल इतना ही है, कि इनसे हिन्दी नाट्य-साहित्य के इतिहास पर प्रकाश पड़ता है, और हिन्दी नाट्य साहित्य की उस लड़ी को जोड़ने में यह सहायता भी प्रदान करते हैं, जो अपने क्षेत्र में चारों ओर बिखरी हुई है।

हिन्दी नाटक—भारतेन्दु काल

भारतेन्दु काल १८६७ से १९०४ ई० तक माना जाता है। इस काल विशेष के निर्माता या संस्थापक स्वयं भारतेन्दु हरिश्चन्द्रजी ही हैं। इस काल विशेष में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ही हिन्दी नाटक कला ने वह स्वरूप धारण किया है, जिसे हम नाट्यकला का वास्तविक स्वरूप कह सकते हैं। सर्व प्रथम भारतेन्दु हरिश्चन्द्रजी ने ही ऐसे नाटक उपस्थित किये, जिनमें नाट्यकला का वास्तविक स्वरूप देखने को मिलता है। अतः हम भारतेन्दु हरिश्चन्द्रजी को ही हिन्दी नाट्यकला का वास्तविक जन्मदाता मानते हैं। भारतेन्दुजी के पूर्व हिन्दी में जो नाटक लिखे गए थे, उनमें संस्कृत नाट्य परम्परा का पालन किया गया था। पर भारतेन्दु के आविर्भाव के पूर्व युग बदल चुका था। अँगरेजों का शासन भारतवर्ष में स्थापित हो चुका था। अँगरेजी भाषा और साहित्य का भी प्रचार शनैः शनैः होने लगा था। अँगरेजी नाट्यकला के प्रभाव का प्रकाश भी हिन्दी-साहित्य के ऊपर पड़ने लगा था। उधर बँगला की नाट्यकला ने भी हिन्दी साहित्य को प्रभावित करना प्रारम्भ कर दिया था। बँगला में माइकेल मधु सूदनदत्त, और दीनबन्धु इत्यादि कई एक ऐसे नाटककारों का जन्म हो चुका था, जिन्होंने नाटक-जगत में अधिक सुख्याति प्राप्त की थी, और जिनकी नाट्य कला के हिन्दी-साहित्य को अधिक प्रभावित भी किया था। भारतेन्दुजी, नाट्य रचना के क्षेत्र में पदार्पण करने पर अँगरेजी और बँगला दोनों ही नाट्यकलाओं से अधिक प्रभावित हुए थे। उनके पूर्व हिन्दी नाटक जगत में संस्कृत की जो नाट्य परम्परा प्रचलित थी, इसमें सन्देह नहीं कि उसी को आधार मान कर उन्होंने अपनी नाट्यकला के भवन का निर्माण किया, पर इसमें भी सन्देह नहीं, कि उनके भवन निर्माण में अँगरेजी और बँगला की कलाओं का सहयोग है। इस प्रकार उन्होंने हिन्दी की उस नाट्यकला में, जो अभी तक संस्कृत की नाट्य परंपरा की जंजीरों में ही आबद्ध थी, महत्व पूर्ण परिवर्तन किया। उन्होंने उसमें अँगरेजी और बँगला की नाट्यकलाओं का समावेश करके उसे नए साँचे में ढाला, और गति प्रदान की। उन्होंने कला के साथ ही साथ भाव और कथावस्तु के चुनाव में भी युग की आकांक्षाओं को महत्व दिया। उन्होंने विषयों में भी परिवर्तन किया, और अपने नाटकों के पात्रों के मुख से ऐसे वाक्य निकलवाए, जो नवीन जीवन, और नवीन चेतना का सन्देश देते हैं।

भारतेन्दुजी ने कुल अठारह नाटकों की रचना की है, जिनमें उनके दस मौलिक नाटक हैं, और शेष अनुवादित हैं। उनके मौलिक नाटकों के नाम इस प्रकार हैं—प्रवास, वैदिकी हिंसा-हिंसा न भवति, सत्य हरिश्चन्द्र, प्रेमयोगिनी, विषस्य विष मौषधम्, श्री चन्द्रावली, भारत जननी, भारत दुर्दशा, नीलदेवी, अन्धेर नगरी, सती प्रताप, और नवमल्लिका। अनूदित नाटकों के नाम इस प्रकार हैं—रत्नावली, पाखंड विडंबन, धनंजय विजय, कर्पूर मंजरी, मुद्राराक्षस, दुर्लभ बन्धु, और मृच्छकटिक। प्रवास की रचना सं० १९२५ में हुई थी, जो अभी तक अप्रकाशित है। 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' एक प्रहसन है, जो कल्पनामय है। इसकी रचना का काल सम्वत् १९३० है। 'सत्य हरिश्चन्द्र' भारतेन्दुजी की सर्वश्रेष्ठ मौलिक कृति है। इसकी रचना एक पौराणिक आख्यान के आधार पर हुई है, जो अधिक करुणात्मक है। प्रेम योगिनी एक नाटिका है, जिसकी रचना का प्रारम्भ सं० १९३२ में किया गया था। 'विषस्य विष मौषधम्' एक भाण है, जो रूपक के एक भेदों में से है। चन्द्रावली एक नाटिका है, जो सर्वोत्कृष्ट है। इसकी रचना श्री कृष्ण और चन्द्रावली के प्रेम को आधार मान कर की गई है। इसमें प्रेम की प्रवृत्तियों का विकास सुन्दरता के साथ हुआ है। 'भारत जननी' की रचना सम्वत् १९२४ में हुई थी। इसमें देश की दशा का चित्रण किया गया है। 'भारत दुर्दशा' एक रूपक है, जो छः अंकों में विभक्त है। इसमें भारत के प्राचीन गौरव के साथ ही साथ देश की वर्तमान दुरवस्थाओं के चित्र बड़ी मार्मिकता के साथ खींचे गए हैं। नीलदेवी ऐतिहासिक नाटक है। इसकी रचना सं० १९२७ में की गई थी। अन्धेर नगरी प्रहसन है। 'सती प्रताप' के कुछ दृश्य सं० १९४१ में लिखे गए थे। उसके शेष दृश्य राधाकृष्णदास के द्वारा पूर्ण किए गए हैं।

भारतेन्दुजी हिन्दी-साहित्य के प्रथम नाटककार हैं। उनके पूर्व हिन्दी नाट्यकला का कोई निश्चित स्वरूप नहीं पाया जाता। संस्कृत नाट्यकला का विकास अवश्य हुआ था, पर वह संस्कृत भाषा के क्षेत्र में थी। हिन्दी साहित्य के क्षेत्र में, नाट्यकला के नाम पर चारों ओर शून्य ही शून्य था। अतः भारतेन्दु बाबू को अपनी नाट्यकला के लिए स्वयं ही मार्ग तैयार करना पड़ा। उनके सामने संस्कृत की नाट्यकला अवश्य थी, पर अब युग बदल चुका था। भारत में कई विदेशी जातियों का आगमन हो चुका था, और उनके साथ उनकी नाट्यकला भी भारतीय जीवन में प्रविष्ट हो चुकी थी। अतः अब संस्कृत की प्राचीन नाट्यकला से ही काम चलने को नहीं था। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र दूर दर्शी और तीव्र प्रतिभाशाली थे। उन्होंने युग और उसकी प्रवृत्तियों का बड़ी गम्भीरता के साथ अध्ययन किया। युग की प्रवृत्तियों को देख करके ही उन्होंने अँगरेजी, बँगला, और फारसी इत्यादि नाट्यकलाओं का अध्ययन किया, और उनके आवश्यक तत्त्वों को संस्कृत की नाट्यकला में स्थान देकर अपने लिए एक नवीन नाट्यकला का निर्माण किया। उनकी नाट्यकला में जहाँ संस्कृत की प्राचीनता है,

वहाँ बँगला और अँगरेजी साहित्य की नाट्यकलाओं की नवीनताएँ भी मिश्रित हैं। इस प्रकार उन्होंने अपनी नाट्यकला को युग के साँचे में ढाल कर उसे प्राणमय, और जीवन के अनुकूल बनाने का प्रशंसनीय प्रयत्न किया है।

भारतेन्दुजी ने नाटकों की रचना करने के पूर्व एक पुस्तिका का निर्माण किया, जिसका नाम 'नाटक' है। इस पुस्तिका में उन्होंने नाटक के स्वरूप, और उसके सिद्धांतों की विवेचना अपने ढंग से की है। यह पुस्तिका उनके नाट्य सिद्धान्तों, और उनकी नाट्यकला पर समुचित रूप से प्रकाश डालती है। अतः उनकी नाट्यकला को समझने के लिए इस पुस्तिका में वर्णित सिद्धांतों, और कला के स्वरूपों पर ही ध्यान देना होगा। उन्होंने अपनी इस पुस्तिका में जीवन से सम्बन्ध रखने वाले विषयों और घटनाओं को ही नाटकीय वस्तु के रूप में स्वीकार किया है। उन्होंने इन्द्र सभा, रास, और भाँड़ इत्यादि को व्यर्थ प्रमाणित किया है। कठ-पुतलियों के खेल, भूत प्रेतों की नकल, और बाजीगरी तथा घोड़ों के तमाशों को उन्होंने शुद्ध कौतिक माना है। उन्होंने उन्हीं नाटकों को काव्य मिश्र में स्थान दिया है जो नाटकीय कलाओं से संपन्न हैं। काव्य मिश्र को उन्होंने दो वर्गों में विभक्त किया है। एक वर्ग में उन्होंने उन नाटकों को रक्खा है, जिनमें प्राचीन संस्कृत नाट्य परम्परा के अनुसार अंकों की विधि है, और दूसरे वर्ग में उन्होंने उन नवीन नाटकों को रक्खा है, जिनमें दृश्यों की प्रणाली का पालन किया गया है। गीतों की दृष्टि से भी उन्होंने नाट्यकला के दो वर्ग किए हैं। एक वर्ग में तो उन्होंने उन नाटकों को लिया है, जिनमें अल्प मात्रा में गीत पाए जाते हैं। ऐसे नाटकों को ही वे 'नाटक' की संज्ञा देते हैं। द्वितीय वर्ग में वे उन नाटकों को लेते हैं, जिनमें प्रचुर मात्रा में गीत होते हैं। ऐसे नाटकों को वे 'गीति-रूपक' की संज्ञा देते हैं। नाटकों के अंत की दृष्टि से भी उन्होंने नाट्यकला को तीन वर्गों में विभक्त किया है—संयोगांत, वियोगांत, और मिश्र। संयोग की स्थिति में समाप्त होने वाली कथा को वे संयोगांत मानते हैं। इसी प्रकार जिस कथा का अंत वियोग की स्थिति में होता है, उसे वे वियोगांत कहते हैं। जिसमें दोनों दशाओं का मिश्रण होता है, वे उसे 'मिश्र' की संज्ञा देते हैं। उन्होंने प्राचीन परम्परा के नांदी पाठ, प्रस्तावना, विष्कंभक, प्रवेशक, अंकावतार, और अंकमुख इत्यादि से अपनी नाट्यकला को दूर ही रक्खा है। प्राचीन परम्परा के गर्भांक को उन्होंने दृश्य के रूप में स्वीकार किया है। उन्होंने नाटकों की शैली, भाषा, और कथोपकथन में भी परिवर्तन किया है। इस प्रकार उन्होंने प्राचीनता में नवीनता को मिला कर एक नई कला को जन्म दिया। उनके मौलिक नाटकों में इसी नई कला का विकास देखने को मिलता है। उनके युग के सभी लेखकों ने भी उन्हीं की कला का अनुसरण और अनुगमन किया है।

भारतेन्दुजी की नाट्यकला पर विचार करने के पश्चात् अब हम उनकी नाट्य-कला के तत्त्वों पर विचार करेंगे, और यह देखेंगे, कि नाट्यकला के मार्ग में उन्हें

भारतेन्दुजी की नाट्यकला के तत्त्व

कितनी सफलता प्राप्त हुई है। नाट्यकला के मूल तत्त्वों में जिन उपकरणों को मुख्य रूप से स्थान दिया जाता है, उनके नाम इस प्रकार हैं—कथा, वस्तु, पात्र, संवाद, देशकाल, अभिनय, और रस। सर्व प्रथम हम नाटक के मूल तत्त्व-कथा पर विचार करेंगे। भारतेन्दुजी ने दो प्रकार के नाटकों की रचना की है। अनूदित, और मौलिक। उनके अनूदित नाटकों में उनकी अपनी कथा की मौलिकता नहीं है। अतः उनकी कथा पर विचार करते हुए उन पर ध्यान देना ठीक न होगा। उनकी कथा की मौलिकता उनके मौलिक नाटकों में ही पाई जाती है। कथा की दृष्टि से उनके मौलिक नाटकों पर जब हम विचार करते हैं, तो उनमें तीन प्रकार की कथाएँ पाते हैं—पौराणिक, ऐतिहासिक, और काल्पनिक। सत्य हरिश्चन्द्र की कथा पौराणिक है, जो अधिक करुणात्मक, और चित्ताकर्षक है। नील देवी की कथा में इतिहास के तत्त्व हैं। भारत दुर्दशा काल्पनिक है। चन्द्रावली की कथा को हम 'भावात्मक कह सकते हैं। भारतेन्दुजी ने कथा को दो रूपों में ग्रहण किया है—घटनाओं की अधिकता के रूप में, और भावों की अधिकता के रूप में। सत्य हरिश्चन्द्र, नील देवी, अंधेर नगरी, और विषस्य विष-मौषधम् की कथा में घटनाओं की अधिकता है। 'चन्द्रावली' भाव प्रधान नाटिका है। प्रभाव की दृष्टि से भारतेन्दुजी के सभी नाटकों की कथाएँ बड़ी तीव्रता और दृढ़ता के साथ हृदय को स्पर्श करती हैं, उनकी कथाओं में जहाँ प्रभावमयता है, वहाँ मनोरंजकता भी है। उनकी कथाएँ जीवन के विस्तृत क्षेत्रों से होकर चलती हैं। अमीरी, गरीबी, मूर्खता, विद्वत्ता, और धर्मज्ञता तथा नीतिज्ञता आदि के चित्र उनकी कथाओं में मिलते हैं। उन्होंने अपनी कथाओं में विविध प्रकार के जीवन के तन्वों का समन्वय बड़ी सुन्दरता के साथ किया है।

भारतेन्दुजी ने वस्तु का सङ्गठन अपने ढङ्ग से किया है। यद्यपि वस्तु संगठन में उन्होंने प्राचीन संस्कृत परम्परा का पालन किया है, पर उसमें उन्होंने नवीनता का भी समावेश किया है। प्राचीन संस्कृत परंपरा के अनुसार उनकी कथावस्तु के संगठन में तीन प्रणालियों से काम लिया गया है—प्रख्यात, उत्पाद्य, और मिश्र। सत्य हरिश्चन्द्र की वस्तु योजना प्रख्यात प्रणाली के अनुसार की गई है। चन्द्रावली, भारत दुर्दशा, अन्धेर नगरी, और 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' आदि में उत्पाद्य प्रणाली का पालन किया गया है। नीलदेवी में मिश्र प्रणाली है। भारतेन्दुजी ने अपनी वस्तु योजना में जहाँ प्राचीन प्रणाली से काम लिया है, वहाँ उन्होंने उसमें नवीन विधियों का भी समावेश किया है। उन्होंने नीलदेवी और 'भारत दुर्दशा' इत्यादि में अङ्कों के स्थान में दृश्यों से काम लिया है। सत्य हरिश्चन्द्र और चन्द्रावली इत्यादि में जहाँ उन्होंने अंकों की प्रणाली से काम लिया है, वहाँ उन्होंने अपनी स्वतन्त्रता का परिचय दिया है। अङ्कों की प्रणाली में उन्होंने प्राचीन परंपरा का पालन न करके 'अङ्कों' की छोटाई बड़ाई के निश्चय में स्वतन्त्रता से काम लिया है। प्राचीन परम्परा को पुष्ट करने वाली अर्थ प्रकृतियों, कार्यावस्थाओं, और संधियों की विधियों

की उन्होंने सर्वतः उपेक्षा की है। इस प्रकार उन्होंने अपनी वस्तु योजनाओं में प्राचीन और नवीन-दोनों ही विधियों का पालन किया है। उनकी वस्तु योजना अधिक सरल और आकर्षक है। वे अपनी वस्तु योजना में मूल कथा पर ही अधिक बल देते हुए दिखाई पड़ते हैं। उनकी वस्तु योजना में उनकी मूल कथा सर्वत्र प्रभाव पूर्ण रूप में दिखाई पड़ती है। वे अपनी मूल कथा में प्रासंगिक कथाओं को बहुत कम स्थान देते हैं। यही कारण है, कि उनकी मूल कथा का प्रवाह सर्वत्र अविच्छिन्न और अखंड रूप से बहता हुआ दिखाई पड़ता है। उनकी मूल कथा में गति और ओजस्विता है। वह 'फल' की प्राप्ति के लिए बड़ी कुशलता के साथ वातावरण तैयार करती हुई आगे बढ़ती है। फल प्राप्ति के उचित साधनों को सँजोने, और एकत्र करने में भी उसकी दक्षता दिखाई पड़ती है।

भारतेन्दुजी के नाटकों को दो वर्गों में विभक्त किया जा सकता है। एक वर्ग में उनकी वे कृतियाँ आती हैं, जिन्हें हम नाटक कहते हैं। दूसरे वर्ग में हम उनकी उन कृतियों को लेंगे, जिन्हें प्रहसन कहते हैं। नाटक और प्रहसन-दोनों के पात्रों में अधिक भेद है। उनके नाटकों के पात्र या तो राजा हैं, या देवता हैं, या सन्त और ऋषि मुनि हैं। उच्चवर्गीय शिक्षित मनुष्य भी उनके नाटकों में पात्र के रूप में मिलते हैं। प्रहसनों में उनके सभी पात्र साधारण स्थिति के हैं, जो प्रजा वर्ग के हैं, और सामाजिक विकृतियों से ग्रस्त हैं। इस प्रकार हम यह कह सकते हैं, कि उनके पात्रों की दो श्रेणियाँ हैं। एक को हम उच्च श्रेणी की, और दूसरे को साधारण श्रेणी की संज्ञा दे सकते हैं। उनके उच्च श्रेणी के पात्र सत्य हरिश्चन्द्र, चन्द्रावली, भारत दुर्दशा, कर्पूर मंजरी, और वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति इत्यादि में पाए जाते हैं। साधारण श्रेणी के पात्र अन्धेर नगरी इत्यादि प्रहसनों में पाए जाते हैं। भारतेन्दुजी ने अपने पात्रों का चरित्र चित्रण भारतीय परंपरा की ही दृष्टि से किया है। प्रायः उनके सभी पात्र आदर्शवादी हैं, और भारतीय संस्कृति के ही चिह्न बनाते हैं। उनके पात्र धर्म, नीति, और सत्य की ओर जितना उन्मुख दिखाई देते हैं, उतना उनमें जीवन के अन्यान्य तत्त्वों की ओर आकर्षण नहीं पाया जाता। इस रूप में हम यह कह सकते हैं, कि उनके पात्र आदि से लेकर अन्त तक जीवन की एक ही दिशा में संचरण करते हैं। भारतेन्दुजी ने अपने पात्रों के चरित्र-चित्रण में तन्मयता से काम नहीं लिया है। उनकी दृष्टि पात्रों के चरित्र-चित्रण में केवल बाह्य रूप तक ही सीमित रह गई है। उनकी दृष्टि पात्रों के उस अन्तर्लोक में प्रविष्ट नहीं हो सकी है, जिसे भावों का लोक कहते हैं। यही कारण है, कि उनके चरित्र चित्रण में अन्तर्द्वन्द का अभाव पाया जाता है। यह होते हुए भी उनका चरित्र चित्रण अधिक प्रभावमय, और आकर्षक है। उनके चरित्र चित्रण में पग-पग पर धर्म और संस्कृति निष्ठता मिलती है। उनके सभी पात्र धर्म और संस्कृति के प्रतीक हैं।

भारतेन्दुजी के पात्रों को हमने दो श्रेणियों में विभक्त किया है—उच्च और साधारण। उनकी उच्च श्रेणी में भी कई वर्ग के पात्र हैं। जैसे—राजा, रईस,

ऋषि, मुनि, साधु और पंडित तथा विद्वान इत्यादि। इसी प्रकार साधारण श्रेणी के पात्रों में भी कई वर्ग के पात्र मिलते हैं। भारतेन्दुजी के सभी पात्र अपनी ही सीमा, और मर्यादा के भीतर रहते हैं। उनके संलापों, और संवादों में उनकी यह मर्यादा साफ साफ दिखाई पड़ती है। उनका प्रत्येक पात्र अपनी मर्यादा, और स्थिति के ही अनुसार बात चीत करता है। उनके पात्रों को बात चीत करते हुए इस बात का पूर्ण ध्यान रहता है, कि वे क्या हैं, और उनकी बात चीत किसके साथ हो रही है। उनके पात्र बात चीत करने की कला में अधिक पटु जान पड़ते हैं। वे एक ही ढङ्ग से अपने हृदय के भावों को व्यक्त नहीं करते; वरन् वे इसके लिए विविध युक्तियों से काम लेते हैं। किन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं है, उनके पात्रों के संवादों में जटिलता और रहस्यात्मकता पाई जाती है। उनके पात्र अपने संलापों में जहाँ विविध शैलियों से काम लेते हैं, वहाँ वे सरलता और सादगी का भी अधिक ध्यान रखते हैं। अलङ्कारिक, चमत्कारिक, और दार्शनिक स्थलों पर भी उनके पात्र अपने संलापों को सरलता के ही साँचे में ढालते हैं।

भारतेन्दुजी के नाटकों में देश और काल का पूर्ण रूप से चित्रण पाया जाता है। उन्होंने अपने नाटकों में एक ओर पौराणिक कथाओं का चित्रण करके भारत के प्राचीन आदर्शों की याद दिलाई है, और दूसरी ओर उन्होंने अपने युग के समाज की विकृतियों पर प्रकाश डाल कर उसे अपने वास्तविक स्वरूप को पहचानने की प्रेरणा प्रदान की है। उन्होंने धर्म, इतिहास, और नीति का चित्रण भी अपनी रचनाओं में किया है। उनकी रचनाओं में वर्तमान राजनीति और संस्कृति के चित्र भी मिलते हैं। उन्होंने अपनी रचनाओं में अपने समय की उन सभ्यताओं पर भी प्रकाश डाला है, जिन्हें हम विदेशी सभ्याता कहते हैं। इस प्रकार हम यह कह सकते हैं, उनकी रचनाएँ देश और काल का प्रतिबिंब हैं।

अभिनय की दृष्टि से भारतेन्दु के सभी नाटक सर्वोत्तम कहे जा सकते हैं। उनके नाटकों में अभिनय के तत्त्व प्रचुर मात्रा में मिलते हैं। भारतेन्दुजी अभिनय कला के मर्मज्ञ थे। वे नाटककार के साथ ही साथ कुशल अभिनेता भी थे। अभिनय कला में उनकी अत्यधिक रुचि थी। उन्होंने बंगाली और पारसी रंग मंचों का भली भाँति अध्ययन किया था। उन्होंने अभिनय सम्बन्धी पुस्तकीय और व्यवहारिक ज्ञान द्वारा यह बात अच्छी तरह समझी थी, कि किसी नाटक को रंग मंच पर सफलता पूर्वक किस प्रकार दिखाया जा सकता है। अभिनय को सामने रख करके ही उन्होंने अपने सभी नाटकों की रचना की है। उनके सभी नाटकों की कथाएँ अधिक गतिशील और प्रवाहमयी हैं। उन्होंने अपनी मूल कथाओं में प्रासंगिक कथाओं का समावेश नहीं किया। उनकी कथाओं को अग्रसर करने वाले उनके पात्र भारतीय जीवन और संस्कृति के अनुकूल हैं। उनके पात्रों की भाव भंगिमाएँ ऐसी हैं, जिनका सरलता पूर्वक रंग-मंच पर अभिनय किया जा सकता है। समय की दृष्टि से भी उनके नाटक अधिक लम्बे नहीं कहे जा सकते। फिर भी उनके किसी-किसी नाटक में संवादों, कार्य-व्यापारों और

कविताओं की अधिकता पाई जाती है। 'सत्य हरिश्चन्द्र' इसका प्रमाण है। 'सत्य हरिश्चन्द्र' का अभिनय 'काट छाँट' के बिना नहीं हो सकता। इसी प्रकार उनके कुछ और नाटकों में भी अभिनय की दृष्टि से काट-छाँट की आवश्यकता प्रतीत होती है।

भारतेन्दुजी ने अपने नाटकों में रस की योजना भी सफलता पूर्वक की है। उनके नाटकों में भक्ति, प्रेम, सख्य, वात्सल्य, और आनन्द इत्यादि रसों की भी कल्पनाएँ मिलती हैं। उनके नाटक काव्य के नौ रसों से ओत प्रोत हैं। 'चन्द्रावली' में शृंगार रस की सरसता है। सत्य हरिश्चन्द्र में वीर, अद्भुत, करुण, और रौद्र इत्यादि रसों का सचार हुआ है। 'नीलदेवी' की रचना वीर रस में हुई है। भारत दुर्दशा में वीर और करुण का संचार मिलता है। अन्धेर नगरी और 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' में हास्य और व्यंग्य का परिपाक मिलता है।

भारतेन्दु काल में कई अन्य नाटककार भी हुए हैं, जिन्होंने भारतेन्दुजी के पथ पर चल कर नाट्य साहित्य की अभिवर्द्धना में प्रशंसनीय योग प्रदान किया है। उन नाटककारों में श्री निवासदास, श्री प्रेमघन, श्री शीतला प्रसाद, राधाचरण गोस्वामी, गोप, तोताराम, बालकृष्ण भट्ट, श्रीशरण, दामोदर शास्त्री, पंड्याजी, प्रतापनारायण मिश्र, कार्तिक प्रसाद, लालिग्राम, राधाकृष्णदास, रामकृष्ण वर्मा, गदाधर भट्ट, अंबिकादत्त व्यास, और 'हरिऔधजी' इत्यादि का मुख्य स्थान है। यहाँ भारतेन्दु काल के कुछ प्रमुख नाटककारों की नाट्य-रचना और उनकी कला पर प्रकाश डालने की हम चेष्टा करेंगे।

श्री निवासदासजी ने चार नाटकों की रचना की है। उनके नाटकों के नाम इस प्रकार हैं—प्रह्लाद चरित, तप्ता संवरण, संयोगिता स्वयंवर, और रणधीर प्रेम मोहिनी। प्रह्लाद चरित पौराणिक कथा के आधार पर लिखा गया है। इसमें कथोपकथन की अधिकता और कथा के प्रवाह में शैथिल्य है। भाषा और शैली भी इसकी निर्बल है। तप्तासंवरण की रचना भी पौराणिक कथा के ही आधार पर हुई है। इसमें भी कथा और चरित्र का शैथिल्य देखने को मिलता है, पर उतना नहीं, जितना प्रह्लाद चरित में। इसे 'प्रह्लाद चरित' से अच्छा कहा जा सकता है। 'रणधीर प्रेम मोहिनी' प्रेम प्रधान नाटक है। इसके कथानक में शृंगार के साथ ही साथ वीर रस की भी योजना मिलती है। कथोपकथन और चरित्र चित्रण में लेखक की कुशलता दिखाई पड़ती है। इसका अन्त दुःख की स्थिति में हुआ है। इसलिए हम इसे 'दुखान्त' प्रेम प्रधान नाटक कहेंगे। 'संयोगिता स्वयंवर' की कथा इतिहास से ली गई है। कथा चरित्र चित्रण, और भाषा-तीनों ही दृष्टि से इसमें शैथिल्य पाया जाता है।

प्रेमघनजी ने चार नाटकों की रचना की है। उनके नाटकों के नाम इस प्रकार हैं—भारत सौभाग्य, प्रयाग रामागमन, वारांगना रहस्य, और वृद्ध विलाप। 'भारत सौभाग्य' की रचना भारतेन्दुजी के 'भारतदुर्दशा' के आधार पर की गई है। इसकी कथावस्तु में सामाजिक और राष्ट्रीय तत्वों का समावेश किया प्रेमघन

गया है। कथावस्तु, भाषा, चरित्र चित्रण, और अभिनय इत्यादि की दृष्टि से इसमें दुर्बलता के ही तत्त्व मिलते हैं। रस का भी निर्वाह इसमें नहीं हो सका है। 'प्रयाग रामागन' की कथा रामायण से ली गई है। कथा रोचक है, और आकर्षक है। कथोपकथन में ब्रजभाषा का प्रयोग किया गया है, जो खटकता है।

राधाचरण गोस्वामी ने सात-आठ छोटे-छोटे रूपकों की रचना की है। उनकी रचनाओं में सती चंद्रावली, अमरसिंह राठौर, और श्री दामाका महत्व पूर्ण स्थान है।

राधाचरण गोस्वामी

'सती चंद्रावली' की रचना ऐतिहासिक कथा के आधार पर हुई है। इसकी प्रमुख पात्री चंद्रावली है, जिसमें वीरता और साहस की भावनाएँ हैं। चन्द्रावली का चरित्र चित्रण वीरता, त्याग और साहस की स्थिति में हुआ है। अंत में दुःख का वातावरण छा जाता है। अतः यह दुःखान्त नाटक है। अमरसिंह राठौर में भी ऐतिहासिक कथा का ही संचरण हुआ है। अमरसिंह इसका प्रमुख चरित्र है, जो अधिक वीर, साहसी, और त्यागी है। श्रीदामा की रचना सुदामा की कथा को लेकर की गई है।

बालकृष्ण भट्ट के नाटक दो वर्गों में विभक्त हैं—अनुवादित और मौलिक। उनके अनुवादित नाटकों के नाम इस प्रकार हैं—एचावती, और शर्मिष्ठा। यह दोनों

बालकृष्ण भट्ट

ही बँगला से अनूदित हैं। मौलिक नाटकों के नाम इस प्रकार हैं—दमयन्ती स्वयंवर, वेणु संहार, और जैसा काम, वैसा परिणाम। दमयंती स्वयंवर की रचना पौराणिक कथा के आधार पर की गई है। इसकी रचना में संस्कृत की प्राचीन नाट्य परम्परा का पालन किया गया है। कथा और संवाद योजना अधिक रोचक तथा आकर्षक है। 'वेणु संहार' की कथा भी पुराण से ही ली गई है; किन्तु उसमें तत्कालीन सामाजिक और राजनीतिक स्थितियों का समावेश भी कुशलता के साथ किया गया है।

प्रतापनारायण मिश्र ने कई नाटकों और प्रहसनों की रचना की है। इनके नाटकों और प्रहसनों में भारत दुर्दशा, कलि कौतुक, कलिप्रभाव, जुआरी खुआरी,

प्रतापनारायण मिश्र

और हठी हमीर का महत्व पूर्ण स्थान है। 'भारतदुर्दशा' साधारण कोटि का एक रूपक है। इसकी रचना उन्होंने भारतेन्दु हरिश्चन्द्रजी के 'भारत दुर्दशा' नामक नाटक के आधार पर की थी। 'कलिकौतुक' एक नाटक है, जिसमें तत्कालीन सामाजिक और राजनीतिक स्थिति के विकृत चित्र मिलते हैं। इसमें कपटी साधुओं, और विलंडावादियों की लीलाएँ भी देखने को मिलती है। 'गो संकट' में गायों की दुर्दशाओं के मार्मिक चित्र हैं। 'कलिप्रभाव' में कलियुग के प्रभाव का चित्र खींचा गया है। 'जुआरी खआरी' व्यंगात्मक प्रहसन है। 'हठी हमीर' की कथा इतिहास से ली गई है।

राधाकृष्णदास ने तीन नाटकों की रचना की है—दुःखिनी बाला, पद्मावती, और महाराणा प्रताप। दुःखिनी बाला एकांकी नाटक है। इसकी कथा सामाजिक

राधाकृष्णदास तत्त्वों को पृष्ठभूमि मानकर तैयार की गई है। इसमें एक हिन्दू विधवा के मार्मिक और दुःखमय जीवन के चित्र हैं। 'पद्मावती' की कथा इतिहास के पृष्ठों से ली गई है। 'पद्मावती' उस कथा की प्रमुख पात्री है। 'पद्मावती' के चरित्र का चित्रण त्याग, वीरता, प्रेम, और उत्साह की स्थिति में हुआ है, जो कथा के अनुरूप है। अन्यान्य पात्रों की स्थिति और उनकी बातचीत में भी अनुकूलता और सरलता दिखाई पड़ती है। 'महाराणा प्रताप' इनकी सर्व श्रेष्ठ रचना है। इसकी कथा इतिहास के पृष्ठों से ली गई हैं, किन्तु कथा में कल्पना का भी समावेश हुआ है। इसकी प्रमुख विशेषता यही है, कि इसमें ऐतिहासिक और काल्पनिक कथा साथ-साथ चलती है। कथा अधिक विस्तृत होने पर भी श्रृंखलित और प्रवाह पूर्ण है। पात्रों के चरित्र में स्वाभाविकता, और अनुकूलता है। कई प्रकार के चरित्र हैं, जो अपने अनुकूल ही कार्य-व्यापार करते हैं। त्याग, उत्साह, प्रेम, देश प्रेम और बलिदान के मार्मिक चित्रों ने नाटक को प्राणवान बना दिया है। भाषा और शैली भी ओजमयी तथा प्राण संचारिणी है।

प्रहसन

भारतेन्दुकाल में नाटकों के अतिरिक्त प्रहसनों की रचना भी हुई है। प्रहसनों की रचना के लिए प्रायः सामाजिक और राजनीतिक बुराइयों को ही ग्रहण किया गया है। सामाजिक बुराइयों में बहु विवाह, बाल विवाह, मादक द्रव्य सेवन, वृद्ध विवाह, सूद खोरी, अँगरेजी फैशन, ढोंगी साधुओं की लीलाओं, और वेश्या गमन इत्यादि को लेकर हास्य रसात्मक और व्यङ्गात्मक रचनाएँ की गई हैं। इसी प्रकार राजनीतिक विषयों पर भी प्रहसन लिखे गए हैं। स्वयं भारतेन्दु बाबू ने भी प्रहसनों की रचना की है। उनके युग के लेखकों में पं० प्रताप नारायण मिश्र, पं० बालकृष्ण भट्ट और देवकी नन्दन त्रिपाठी इत्यादि ने प्रहसन और व्यंगात्मक रचनाएँ लिखने में अधिक सुख्याति प्राप्त की है।

—:*:—

हिन्दी नाटक—उत्तर काल

भारतेन्दुजी के पश्चात् के इस काल को हम उत्तरकाल कहते हैं। कुछ लोगों ने इसे 'संधिकाल' के नाम से भी अभिहित किया है। यह काल १९०३ से १९१५ ई० तक माना जाता है। यद्यपि इस काल की अवधि बहुत अल्प है, पर हिन्दी नाट्यकला के इतिहास में यह समय अधिक महत्व का समय माना जा सकता है। यही वह समय है, जिसकी सीमा पर पहुँच कर हिन्दी नाट्यकला ने सर्वथा एक नवीन रूप धारण किया है। इसमें संदेह नहीं, कि भारतेन्दुजी ने नई नाट्यकला को जन्म दिया था, और उसके विकास के लिए उन्होंने प्रयत्न भी किया था, पर यह नहीं कहा जा सकता, कि उनकी नाट्यकला प्राचीन परम्परा से सर्वथा मुक्त हो सकी थी। उनके 'सत्य हरिश्चन्द्र' में प्राचीन परंपरा की झलक साफ-साफ देखने को मिलती है। उन्होंने अपनी नाट्य कला में प्राचीनता के साथ ही साथ नवीनता को भी अवश्य स्थान दिया था। अँगरेजी और बँगला साहित्य की नाट्यकलाओं का अध्ययन करने के पश्चात् ही उन्होंने अपनी कला के स्वरूप का संगठन किया था। उनकी कला में अँगरेजी और बँगला की कलाओं का संमिश्रण साफ-साफ दिखाई पड़ता है। उन्होंने नाट्यकला के जिस स्वरूप का संगठन किया था, उनके पश्चात् उनके युग के लेखकों ने भी उसी का अनुगम किया। उन्होंने भी भारतेन्दुजी के द्वारा प्रवर्तित मार्ग पर चलकर अपनी रचनाओं का अभिसार किया।

भारतेन्दुजी के आविर्भाव-काल से ही देश में परिवर्तन की लहरें उठने लगी थीं, और उस परिवर्तन के परिणाम स्वरूप देश के कोने कोने में एक नवीन जीवन का अँखुआ फूटने लगा था। इस नवीन जीवन के परिणाम स्वरूप ही भारतेन्दु हरिश्चंद्र जी ने साहित्य के प्रत्येक क्षेत्र में नवीनता को जन्म दिया। भारतेन्दुजी के पश्चात् तो देश में चारों ओर जीवन जागृति का ज्वार सा उत्पन्न हो गया। राजनीति और समाज दोनों ही क्षेत्रों में नवीन-विचारों की आँधियाँ उठ पड़ीं। राजनीतिक क्षेत्र में वंगभंग, और देश की स्वाधीनता को लेकर देश के कोने-कोने में आन्दोलनों का सूत्र पात हुआ। आंदोलनों के परिणाम स्वरूप देश में चारों ओर नवीन विचारों की आँधियाँ चलने लगीं। सामाजिकता के क्षेत्र में भी क्रांति उठ खड़ी हुई।

अँगरेजी सभ्यता, और शिक्षा के कारण समाज के भीतर नए नए विचार उत्पन्न हुए। ईसाई मिशनरियों ने भी नवीन विचारों के प्रचार में सहायताएँ पहुँचाईं; परिणाम स्वरूप प्राचीन परंपराओं के प्रति समाज के भीतर विक्षोभ उत्पन्न हो उठा। आर्य समाज, ब्रह्म समाज और कांग्रेस इत्यादि संस्थाओं ने अस्तित्व में आकर समाज को नवीन प्रेरणाएँ प्रदान कीं। समाज के भीतर प्रत्येक क्षेत्र में, जीवन का एक नया आलोक दिखाई पड़ने लगा।

राजनीतिक और सामाजिक क्षेत्र में नवीन विचारों की जो आँधियाँ उठीं, उसका प्रभाव साहित्य के ऊपर भी पड़ा। जीवन में उत्पन्न नवीन विचारों के ज्वारों के कारण साहित्य के भीतर भी नवीन विचारों ने प्रवेश किया। अँगरेजी, और बँगला इत्यादि भाषाओं के संपर्क में आने के कारण हिन्दी साहित्य में भी नवीन प्रवृत्तियों ने जन्म लिया। कविता, कहानी, नाटक और उपन्यास—इत्यादि सभी क्षेत्रों में प्राचीन परंपराओं, और शैलियों के स्थान पर नवीन परंपराओं और शैलियों ने जन्म धारण किया। विषय, उद्देश्य, और भाव के साथ ही साथ अभिव्यक्ति की शैलियाँ भी बदलीं। भाषा के गठन, और स्वरूप में भी परिवर्तन उपस्थित हुआ। इस परिवर्तन के परिणाम स्वरूप ही कविता के क्षेत्र में छायावाद और रहस्यवाद का जन्म हुआ। कविता, उपन्यास, और कहानी की भाँति ही नाटक के क्षेत्र में भी नए विचारों ने समावेश किया। नए विचारों के परिणाम स्वरूप नाटक के विषयों में परिवर्तन हुआ। पहले जहाँ पौराणिक नाटक विशेष रूप से लिखे जाते थे, वहाँ अब नाट्य रचना के लिए जीवन की विविधता की ओर दृष्टिपात किया जाने लगा। इतना ही नहीं, अब लोग विषय के भीतर भी प्रवेश करने का प्रयत्न करने लगे। पहले जहाँ नाटकों में वर्णनों, और घटनाओं के चित्रणों की प्रधानता रहती थी; वहाँ अब लोग अन्तर्द्वन्द्वों की ओर ध्यान देने लगे। विश्लेषण, और मनोवैज्ञानिकता की ओर भी शनैः शनैः लोगों का ध्यान आकृष्ट होने लगा। भाषा, और शैली अब भाव के अनुसार ही नवीनता के साँचे में ढलने लगी। इस प्रकार नए विचारों के परिणाम स्वरूप नाटक के क्षेत्र में आमूल परिवर्तन हुआ। इस परिवर्तन का एक मात्र कारण अँगरेजी साहित्य का संपर्क है। ज्यों-ज्यों हिन्दी साहित्य अँगरेजी साहित्य के संपर्क में आता गया है, त्यों त्यों उसमें नवीन भावनाओं का प्रसार होता गया है। हिन्दी की इस नवीन और परिवर्तित नाट्यकला को अँगरेजी नाटककारों की कलाओं ने अधिक प्रभावित किया है। कई ऐसे नाटककार हैं, जो अँगरेजी नाटककारों की कलाओं से अधिक प्रभावित जान पड़ते हैं।

उत्तर काल के नाटककार

भारतेन्दुजी के पश्चात् के काल में, जिसे हम उत्तर काल कहते हैं, कई स्वनाम धन्य नाटककारों का आविर्भाव हुआ है। इन नाटककारों में स्वर्गीय जयशङ्कर प्रसाद, बद्रीनाथ भट्ट, शालिग्राम, श्री वृन्दावनलाल वर्मा, और मिश्र बन्धुओं का नाम विशेष उल्लेखनीय है। इस काल में मौलिक नाटकों के अतिरिक्त अनूदित रचनाएँ भी सामने आई हैं। अनूदित

रचनाओं को उपस्थित करने वालों में लाला सीताराम, सत्य नारायण कविरत्न, और सदानन्द का नाम विशेष उल्लेखनीय है। लाला सीताराम ने संस्कृत और अँगरेजी के कई नाटकों का अनुवाद किया है। सत्य नारायण 'कविरत्न' के द्वारा संस्कृत के नाटक अनुवादित हुए हैं। सदानन्द अवस्थी के द्वारा भी संस्कृत के ही नाटकों का अनुवाद हुआ है। अनूदित नाटकों में सत्यनारायण 'कविरत्न' के नाटक सर्व श्रेष्ठ समझे जाते हैं।

स्वर्गीय जयशङ्कर प्रसादजी का आविर्भाव उत्तर काल में हो चुका था। शनैः शनैः उनकी नाट्यकला विकास की ओर बढ़ रही थी। उत्तरकाल में उनकी एक ही

जयशङ्कर प्रसाद

रचना सामने आ सकी थी, जिसका नाम करुणालय है। अतः प्रसादजी के नाटकों की पूर्ण विवेचना यहाँ न हो सकेगी, क्योंकि प्रसादजी स्वयं एक काल-विशेष के, जिसे प्रसाद काल कहते हैं, विधायक हैं। 'करुणालय' उनकी प्रारंभिक कृति है। इसमें प्रसादजी की उस नाट्य शक्ति और प्रतिभा की झलक दिखाई पड़ती है, जिसमें उन्नति के तत्त्व निहित हैं।

बद्रीनाथ भट्ट यशस्वी कलाकार थे। उन्होंने कविता और नाटक के क्षेत्र में यशार्जन किया है। उ॰ का दो नाटक अधिक प्रसिद्ध है, जिसका नाम 'कुरुवन दहन',

बद्रीनाथ भट्ट

और तुलसीदास' है। कुरुवन दहन की कथा पौराणिक है। नाटक में आदि से लेकर अन्त तक कथा के प्रवाह का संचरण स्वाभाविकता के साथ हुआ है। पात्रों के चरित्र चित्रण में भी कथा की मर्यादा, और उसके आदर्शों की रक्षा की गई है।

श्री वृन्दावनलाल वर्मा सुप्रसिद्ध नाटककार हैं। उत्तर काल में उनका भी आविर्भाव हो चुका था। उत्तर काल में उनकी एक ही रचना सामने आ सकी थी, जिसका नाम 'सेनापति उदाल' है। सेनापति उदाल ऐतिहासिक कृति है, उसकी कथा में इतिहास के तत्त्वों के साथ ही साथ कल्पना के भी तत्त्व मिलते हैं। यद्यपि यह वर्मा जी की प्रारंभिक कृति है, पर इसमें उनकी नाट्य प्रतिभा साफ-साफ झलकती हुई दिखाई पड़ती है।

शालिग्राम ने 'कुरुविक्रम' की रचना की है। इसकी कथा पौराणिक है। कथा में स्वाभाविकता के तत्त्व हैं। चरित्र चित्रण में कथा के आदर्श की रक्षा की गई है। मिश्र बन्धुओं ने 'नेत्रोन्मीलन' की रचना की है। 'नेत्रोन्मीलन' की कथा काल्पनिक है, जिसमें सामाजिक तत्त्व हैं। उत्तर काल में नाटकों के अतिरिक्त प्रहसनों की भी रचना हुई है। प्रसनों की रचना करने वालों में बद्रीनाथ भट्ट का नाम विशेष उल्लेखनीय है। उत्तर काल के प्रहसनों में उनका 'चुंगी की उम्मेदवारी' नामक प्रहसन अपना महत्व पूर्ण स्थान रखता है।

—:o:—

हिन्दी नाटक—प्रसाद काल

प्रसाद काल १९१६ ई० से १९४२ ई० तक माना जाता है। उत्तर काल में हिन्दी की जो नाट्यकला विकास की ओर अग्रसर हुई थी, वह प्रसाद काल में पूर्ण युग का परिवर्तन रूप से विकसित दिखाई पड़ती है। प्रसाद काल की नाट्य रचना को समझने के लिए इस युग की राजनीतिक और सामाजिक स्थितियों पर भी ध्यान देना होगा। प्रसादकाल के प्रारम्भ के पूर्व ही द्वितीय महासमर समाप्त हो चुका था। द्वितीय महासमर के कारण संपूर्ण विश्व में दुःख और दैन्य छा उठा था। गरीबी और बेकारी कोने-कोने में दौड़ रही थी; परिणाम स्वरूप कोने कोने में नवीन चेतनाओं का उदय हो रहा था। लोग नए ढंग से जीवन और युद्ध पर विचार करने लगे थे। भारतवर्ष में भी विचारों की क्रांतियां उठ पड़ी थीं। युद्ध के दिनों में अँगरेजी सरकार ने जो वायदे किए थे, उसे उसने विजय के मद में भुला दिया था; परिणाम स्वरूप देश के कोने कोने में असंतोष की आँधियाँ उठ पड़ी थीं। जन जन के हृदय में देश की स्वाधीनता के लिए पौरुष और साहस हुंकार रहा था। देश प्रेम और देश-भक्ति की तरंगें घर-घर में उमड़ने लगी थीं। साहित्य में भी यह उमड़ा, और उफनाता हुआ जीवन तरंगायित होने लगा। कविता, कहानी, नाटक, और उपन्यास इत्यादि सभी क्षेत्रों में नई भावनाओं ने जन्म लिया। कविता में छायावाद और रहस्यवाद का उद्भव हुआ। उपन्यास और कहानी के क्षेत्र में जीवन प्रतिबिंबित होने लगा। नाटकों के क्षेत्र में अतीत के स्वर्ण युगों की याद दिलाकर वर्तमान को दृढ़ और पुष्ट बनाने का प्रयत्न किया जाने लगा। तात्पर्य; यह कि युग की पुकार पर जीवन के अनुरूप ही साहित्य का सृजन किया जाने लगा। नाटक के क्षेत्र में प्रसाद जी इस नई सृष्टि के नायक हैं। उन्होंने युग के अनुसार ही जीवन की पुकार सुनी। उन्होंने अतीत के स्वर्ण युगों से कथाएँ लेकर उन्हें नाट्य-रचना के साँचे में ढालना प्रारंभ कर दिया। उन्होंने इस रूप में अतीत के स्वर्ण चित्रों को सामने रख कर उन्हें आगे बढ़ने के लिए प्रोत्साहित किया, जो देश और समाज के हित के लिए आगे बढ़ रहे थे। विषय की दृष्टि से जहाँ उनका चुनाव राष्ट्र और समाज के लिए मंगल जनक था, वहाँ साहित्यिक दृष्टि से उनकी 'कला' भी अधिक प्रभाव पूर्ण थी। उन्होंने अपने नवीन विषयों के साथ ही साथ जिस नाट्यकला को सामने उप-

स्थित किया, वह समाप्त हो नहीं हुई, वरन हिन्दी के नाट्य-साहित्य में उसका सदा के लिए एक स्थायी स्थान बन गया।

प्रसादजी हिन्दी-साहित्य के सुप्रसिद्ध नाटककार हैं। उनके नाटकों के नाम इस प्रकार हैं—सज्जन, करुणालय, राज्यश्री, अजात शत्रु, जनमेजय का नागयज्ञ, एक घूँट, कल्याणी परिणय, प्रायश्चित्त, विशाख, कामना, स्कंद गुप्त, और चंद्रगुप्त। 'सज्जन' प्रसादजी की प्रारम्भिक कृति है। इसकी रचना महाभारत की एक कथा के आधार पर की गई है। इसके निर्माण में प्राचीन नाट्य विधि का पालन किया गया है। इसमें नांदी और सूत्रधार को भी स्थान दिया गया है। 'प्रायश्चित' प्रसादजी का दूसरा एकांकी रूपक है। इसमें प्रसादजी की कला परिवर्तित दिखाई पड़ती है। इसमें नान्दी पाठ, सूत्रधार और प्रस्ताव की योजना नहीं है। इसके विपरीत इसमें नवीन तत्त्व मिलते हैं। इसकी कथा भी पौराणिक न होकर ऐतिहासिक ही है। इसके पात्रों के संलापों, और भाषा में भी परिवर्तन के चिह्न मिलते हैं। 'कल्याणी परिणय' एकांकी नाटक है। इसकी कथा इतिहास के उस काल की है, जिसे हम चन्द्रगुप्त काल कहते हैं। चाणक्य और चंद्रगुप्त इसके प्रमुख पात्रों में से हैं। यद्यपि इसकी भाषा, शैली, और संवादों में नवीनता के तत्त्व मिलते हैं, किन्तु यह नहीं कहा जा सकता, कि यह प्राचीन नाट्य परम्परा से बिलकुल मुक्त है। क्योंकि सत्य हरिश्चंद्र की भाँति इसका भी प्रारम्भ नांदी पाठ और अंत भरत वाक्य के साथ किया गया है। 'करुणालय' एक गीति नाट्य है, जो पाँच दृश्यों में विभक्त है। इसकी कथा भी पुराण से ही ली गई है।

राज्यश्री की कथा इतिहास से ली गई है। इसके दो संस्करण प्रकाशित हुए हैं—एक प्रारंभ में नाटिका शैली में और दूसरा उसके पश्चात्। प्रारम्भ के संस्करण में प्राचीन नाट्य शैली के सिद्धांतों का पालन किया गया है। क्योंकि उसमें भी नान्दीपाठ, और भरत वाक्य है। उसके पश्चात् के संस्करण में नवीनता का आश्रय लिया गया है। उसके पात्रों में राज्यश्री, हर्ष वर्द्धन और प्रभाकर वर्द्धन इत्यादि हैं। नाटक की कथा आदर्श की ओर उन्मुख है। कथा को दृष्टि में रख करके ही पात्रों का चरित्र चित्रण किया गया है। कथा प्रभाव पूर्ण, और विविध भावों से परिपूर्ण है। इतिहास के विविध ओजस्वी चित्र कथा में मार्मिकता के साथ मिलते हैं। एक ओर जहाँ पात्रों के चरित्र चित्रण में नाट्यकला का विकास हुआ है, वहाँ दूसरी ओर कथा में ऐतिहासिक तत्त्वों की भरपूर रक्षा की गई है। चरित्र चित्रण की स्वाभाविकता, कथा की ऐतिहासिकता, और उद्देश्य की प्राप्ति—सबने मिलकर 'राज्य श्री' पर सफलता की छाप लगाई है। 'विशाख' की रचना बौद्ध विहार, और चैत्य की घटनाओं के आधार पर की गई है। विशाख की कथावस्तु में बौद्ध विहारों और चैत्यों की घटनाओं के ही अधिक चित्र मिलते हैं। कथावस्तु में जिन घटनाओं के चित्र हैं, वे बौद्ध भिक्षुओं और भिक्षुणियों के वासनात्मक प्रेम से सम्बन्ध रखती

हैं। यद्यपि कथा ऐतिहासिक है, पर उसमें कल्पना के तत्त्व बड़ी कुशलता के साथ सँजोए गए हैं। कथा को इस प्रकार प्रस्तुत किया गया है, कि उससे तत्कालीन राजनीति, और समाज पर भी प्रकाश पड़ता है। कथा में प्रवाह और आकर्षण है। पात्रों के चरित्र चित्रण में भी स्वाभाविकता से काम लिया गया है। पात्रों में 'प्रेमानन्द' का चरित्र अधिक प्रभाव पूर्ण, और आकर्षक है। 'विशाख' में नवीन शैली के आविर्भाव के लिए भर पूर चेष्टा की गई है। इसके कथानक, चरित्र चित्रण गीत और संवाद इत्यादि सब में नवीनता के तत्त्व मिलते हैं, पर फिर भी किसी न किसी रूप में 'विशाख' में प्राचीनता झाँकती हुई दिखाई पड़ती है। 'हास्य रस' की सर्वाधिक अवतारणा इसका प्रमाण है।

'अजात शत्रु' में पूर्ण रूप से नवीन विधि का पालन किया गया है। यही वह नाट्य कृति है, जिसमें पूर्ण रूप से प्राचीनता का अन्त दिखाई पड़ता है। अजात शत्रु में ही नाटक की नवीन विधियाँ नाटक के रंग मंच पर प्रतिष्ठित हुई हैं। इसका पूर्ण श्रेय स्वर्गीय प्रसादजी को ही है। प्रसादजी ने ही सर्व प्रथम ऐसे नाटकों की रचना की, जिनमें नाट्यकला की नवीन विधियों का विकास हुआ है। प्रसादजी ने स्वयं नाट्यकला की नवीन विधियाँ निश्चित कीं, और उन्हीं के अनुसार उन्होंने अपने नाटकों का निर्माण किया। सर्व प्रथम नवीन विधियों के पूर्ण रूप से दर्शन उनके 'अजात शत्रु' में होते हैं। अजात शत्रु की कथा इतिहास के पृष्ठों से ली गई है। कथा का क्षेत्र अधिक विस्तृत है। उसमें विविध घटनाएँ और ग्रन्थियाँ हैं। फिर भी लेखक ने कथा की संयोजना बड़ी कुशलता के साथ की है। यद्यपि कथा में विविध घटनाएँ और भाव-ग्रन्थियाँ हैं, पर कथा का प्रवाह अटूट रूप से चलता हुआ दिखाई पड़ता है। पात्रों में अजात शत्रु मुख्य है। अजात शत्रु के अतिरिक्त और भी स्त्री-पुरुष कई पात्र हैं, जो अपने प्रभाव पूर्ण चरित्रों से कथा की नाट्यात्मकता को बढ़ाते हैं। पात्रों के चरित्र चित्रण में अन्तर्द्वन्दिनी कला का समावेश हुआ है। पात्रों के भावों, और भाषा में भी रहस्यात्मकता है। सभी पात्र हृदय के स्वर में बोलते हैं, और किसी गूढ़ रहस्य का उद्घाटन करते हुए दिखाई पड़ते हैं। 'जनमेजय' की कथा महाभारत से ली गई है। कथा विद्रोह, षड्यन्त्र, ज्ञान, उदारता और प्रेम के भावों से उल्लसित है। कथा का विकास और विस्तार अनुकूलता की स्थिति में हुआ है। कथा अपने मूल उद्देश्य और लक्ष्य की ओर जिस गति से अग्रसर होती है, उसमें स्वाभाविकता, और अनुकूलता है। पात्रों में जनमेजय, वासुकि, सरमा, और मणिमाला इत्यादि का महत्त्व पूर्ण स्थान है। मणिमाला नाटक की प्रमुख नायिका है, जो शील और सौजन्य की प्रति मूर्ति है। 'जनमेजय' में प्रसादजी दार्शनिक तत्त्वों के विकास की ओर अधिक तन्मय दिखाई देते हैं। जनमेजय में उनकी दृष्टि जितनी दार्शनिक तत्त्वों के विकास की ओर केन्द्रित दिखाई देती है, उतनी कथावस्तु और चरित्र के विकास की ओर नहीं है। यही कारण है, कि पूर्व के नाटकों की अपेक्षा जनमेजय की कथावस्तु और चरित्र चित्रण में शैथिल्य

पाया जाता है। दृश्यों की योजना में भी अस्वाभाविकता से काम लिया गया है।

'कामना' स्वतन्त्र और मौलिक कृति है। इसकी कथावस्तु कल्पना पर आधारित है। कथावस्तु का गुंफन युग के तत्त्वों से किया गया है। कथावस्तु के गुंफन में ऐसे तत्त्व जुटे हैं, जिनसे ज्ञात होता, कि कथावस्तु पर गाँधीजी का आंदोलनों का अधिक प्रभाव है। गाँधीजी और उनके आंदोलनों से सम्बन्ध रखने वाले तत्त्व कथा में अधिक परिमाण में मिलते हैं। कथा प्रभाव पूर्ण और दार्शनिकता की ओर उन्मुख है। पात्रों में सन्तोष, विनोद, लीला, लालसा और करुणा इत्यादि मुख्य हैं। इस नाटक में सबसे बड़ी विशेषता यह है, कि इसमें मनोवृत्तियों को पात्र बना कर उन्हीं के द्वारा कथा के तत्त्व और उसके अन्तिम उद्देश्य को प्रगट करने की चेष्टा की गई है। नाटक में आदि से लेकर अन्त तक मनोवृत्तियों के ही कार्य-व्यापारों का चित्रण किया गया है। मनोवृत्तियों के रूप में पात्रों का एक उद्देश्य है, और वह उद्देश्य है सत्य का चिन्तन करना। सभी पात्र अपने इस उद्देश्य को ही सामने रख कर रहस्य का उद्घाटन करते हुए लक्ष्य की ओर बढ़ते हुए दिखाई पड़ते हैं। पात्रों के चरित्र चित्रण और कथा की संयोजना-गति को देखते हुए इसे प्रतीकात्मक नाटक की संज्ञा दी जा सकती है। इसकी भाषा, इसके संलाप, और इसके चरित्र चित्रण आदि सब में प्रतीक शैली का ही अनुगमन किया गया है। जहाँ तक विचारों की गम्भीरता, भाषा की मधुरता, और संगीतमयता का प्रश्न है, कामना उच्चकोटि की रचना है, पर चरित्र-चित्रण की दृष्टि से 'कामना' को सफल नहीं कहा जा सकता। 'कामना' के चरित्र चित्रण में प्रवृत्तियों का उलझाव है। अभिनय की दृष्टि से भी 'कामना' के चरित्र स्वाभाविकता से दूर हैं।

'स्कन्द गुप्त' ऐतिहासिक कृति है। इसकी कथावस्तु में इतिहास के तत्त्व हैं। कथावस्तु के संयोजन में कुशलता से काम लिया गया है। कथावस्तु का संयोजन इस रीति से किया गया है, कि उसमें पश्चिम और पूर्व—दोनों ही की कलाओं का समन्वय हो गया है। कथा प्रभाव पूर्ण और विविध घटनाओं से परिपूर्ण है। विविध घटनाओं से परिपूर्ण होने पर भी कथा-प्रवाह की अखंडता आदि से लेकर अन्त तक ज्यों की त्यों बनी रहती है। कथा में मार्मिक चित्र हैं, जो हृदय को आंदोलित कर देते हैं। कथा का विकास भारतीय लक्षण ग्रन्थों के अनुसार हुआ है। आदि से लेकर अन्त तक पूरा नाटक भारतीय लक्षण ग्रन्थों के साँचे में ही ढला हुआ दिखाई देता है। कार्यावस्था, अर्थ प्रकृति, संधियों का निर्वाह और रस की योजना स्कन्द गुप्त में भली प्रकार से हुई है। अंकों के निर्धारण में भी लक्षण ग्रन्थों के सिद्धांतों से ही काम लिया गया है। 'स्कन्द गुप्त' में एक ओर जहाँ भारतीय लक्षण ग्रन्थों के सिद्धांत जुटे हुए हैं, वहाँ दूसरी ओर उसमें पाश्चात्य शैली के विधान भी पाए जाते हैं। कथा, पात्र, संवाद, अङ्क, और रस की योजना में भारतीय लक्षण ग्रन्थों के सिद्धांतों पर चलने के साथ ही साथ पाश्चात्य शैली का भी प्रयोग किया गया है। इस प्रकार

'स्कन्द गुप्त' में पूर्व और पाश्चात्य—दोनों ही नाट्यकलाओं का समन्वय सुन्दरता के साथ हुआ है। 'स्कन्द गुप्त' का मुख्य पात्र स्कन्द गुप्त है, जो विविध सामाजिक और राजनीतिक घटनाओं का एक केन्द्र बिन्दु सा है। प्रसादजी ने 'स्कन्द गुप्त' के चरित्र को ही केन्द्र बिन्दु मान कर 'स्कन्द गुप्त' की नाटकीय वस्तुओं का विकास किया है। 'चन्द्रगुप्त' की कथा इतिहास के पृष्ठों से ली गई है। इसकी कथा में इतिहास के तत्त्वों के साथ ही साथ काव्य के भी तत्त्व हैं। पात्रों में 'चन्द्रगुप्त', चाणक्य, और कार्नेलिया का महत्व पूर्ण स्थान है। चन्द्रगुप्त और चाणक्य के चरित्र में जहाँ स्पष्टता है, वहाँ कार्नेलिया के चरित्र में जटिलता दिखाई पड़ती है। अतः यह कहा जा सकता है, कि प्रसादजी को चन्द्रगुप्त में, चरित्र चित्रण में स्कन्द गुप्त की अपेक्षा कम सफलता प्राप्त हुई है। चन्द्रगुप्त का कथा प्रवाह भी स्कन्द गुप्त की अपेक्षा शिथिल दिखाई पड़ता है। 'ध्रुव स्वामिनी' एक नाटिका है, जिसकी कथा इतिहास के पृष्ठों से ली गई है। कथा में मोक्ष और पुनर्विवाह की समस्याओं के चित्र हैं। पात्रों में ध्रुव स्वामिनी, चन्द्रगुप्त और रामगुप्त इत्यादि का महत्व पूर्ण स्थान है। 'ध्रुव स्वामिनी' के चरित्र में अन्तर्द्वन्दों का विकास हुआ है। चन्द्रगुप्त के चरित्र का चित्र सदाशयता की स्थिति में खींचा गया है।

प्रसादजी के नाट्य साहित्य पर प्रकाश डालने के पश्चात् अब हम प्रसादजी की नाट्यकला पर प्रकाश डालेंगे। प्रसादजी की नाट्यकला पर प्रकाश डालने के लिए हमें पुनः उनके नाट्य साहित्य पर दृष्टि डालना होगा।

प्रसादजी की नाट्यकला

प्रसाद के नाट्य साहित्य का चित्र जब हम देखते हैं, तो यह पाते हैं, कि उनकी नाट्यकला का विकास क्रम क्रम से हुआ है। उनकी कला उन रचनाओं में, जिन्हें हम प्रारंभ काल की रचना कहते हैं, एक परीक्षण के रूप में पाई जाती है। ऐसी रचनाओं में सज्जन, कल्याणी परिणय, प्रायश्चित्त, करुणालय, और राज्य श्री का नाम लिया जा सकता है। इन रचनाओं में उनकी कला का अंकुर उगता हुआ दिखाई पड़ता है। राज्य श्री की रचना करने के पश्चात् प्रसादजी ने छः वर्ष तक किसी नाटक की रचना नहीं की। ऐसा ज्ञात होता है, कि प्रसादजी की वह कला जो राज्य श्री में अंकुरित हुई थी, छः वर्षों में अधिक पुष्ट और विकसित हुई है। उसकी पुष्टता और विकास का स्वरूप विशाख, और अजात शत्रु में साफ़ साफ़ दिखाई पड़ता है। राज्य श्री की रचना करने के पश्चात् छ वर्षों तक मौन रहने पर प्रसाद जी ने विशाख की रचना की है। विशाख में हम उनकी कला का बदला हुआ स्वरूप पाते हैं। विशाख से ही इनकी रचना का वह काल प्रारंभ होता है, जिसे हम उनकी रचनाओं का विकास काल कहते हैं। इस विकास काल में ही उन्होंने वे नाटक लिखे हैं, जिनके कारण उन्हें हिन्दी की नाट्यकला के क्षेत्र में अमरता प्राप्त हुई है।

प्रसादजी के नाट्य साहित्य में उनकी अपनी मौलिक कला दिखाई पड़ती है। उन्होंने अपने नाटकों में सर्वत्र अपनी मौलिकता का प्रदर्शन किया है। यद्यपि उनकी

कला भारतीय नाट्यकला को ही अपना मूल मानती है, पर उसमें पाश्चात्य बँगला, और पारसी नाट्य कलाओं का भी समावेश पाया जाता है। सूक्ष्म रूप में उनकी रचनाओं में निम्नांकित चार कलाओं का समन्वय पाया जाता है—संस्कृत की प्राचीन नाट्यकला, पश्चिम की नाट्यकला, बँगला की नवीन नाट्यकला, और पारसी कंपनियों की नाट्यकला। प्रसादजी की प्रारंभिक रचनाओं में, जिन्हें हम परीक्षण काल की रचनाएँ कहते हैं, संस्कृत की प्राचीन नाट्यकला का आविर्भाव हुआ है। इन रचनाओं में सज्जन, प्रायश्चित्त, कल्याणी परिणय, और करुणालय का उल्लेख किया जा सकता है। प्राचीन संस्कृत नाटकों की भाँति इन रचनाओं में भी नांदी, सूत्रधार, आकाश वाणी, और नटी इत्यादि की योजना की गई है। इनमें किसी किसी में प्राचीन योजनाओं का निषेध भी मिलता है। 'प्रायश्चित' में प्राचीन विधियों का बहिष्कार पूर्ण रूप में किया गया है। यह नहीं कहा जा सकता, कि प्रारंभिक काल की रचनाओं में प्रसादजी की कला पूर्ण रूप से प्राचीन विधियों से रहित हो सकी है, पर यह अवश्य कहा जा सकता है, कि उनकी प्रारंभिक काल की रचनाओं की कला नवीनता की ओर उन्मुख है। 'कल्याणी परिणय' और 'प्रायश्चित्त' की कथा-योजना में उगती हुई नवीन कला साफ साफ देखने को मिलती है।

परीक्षण काल के के नाटकों में संस्कृत की प्राचीन नाट्यकला के साथ ही साथ पाश्चात्य देशों की नाट्यकला का भी समन्वय हुआ है। उन्होंने पाश्चात्य कला के अनुसार ही अपनी कथावस्तु में ऐसी घटनाओं का समावेश किया है, जिनमें परिस्थितियों का संघर्ष है। उन्होंने आदर्श पात्रों की कल्पना तो की है, पर उनके आदर्श पात्र यथार्थता के ही स्वर में बोलते हैं। इस प्रकार पाश्चात्य नाट्यकला-शैली को दृष्टि में रख करके ही उन्होंने यथार्थवाद को जन्म देने का प्रयत्न किया है। उनके पात्रों के कथोपकथन और संवादों में पारसी नाट्य शैली का प्रभाव भी दिखाई देता है। पारसी नाट्यकला के अनुसार उनके गद्यात्मक, और पद्यात्मक संवादों में तुकों का आग्रह देखने को मिलता है। यह बात सच है, कि परीक्षण काल के इन नाटकों में प्रसादजी की नई कला को अधिक सफलता नहीं मिल सकी है, पर उसके साथ ही साथ यह भी सच है, कि उनके इन नाटकों में ही उनकी उस कला का जन्म हो चुका था, जिसका विकास अजात शत्रु, और चंद्रगुप्त इत्यादि में देखने को मिलता है।

परीक्षण काल के पश्चात् प्रसादजी ने जब अपने विकास युग में प्रवेश किया है, तब उनकी कला में प्रशंसनीय परिवर्तन हुआ है। उनकी यह परिवर्तित कला अजात शत्रु, स्कन्द गुप्त, चंद्रगुप्त और कामना में दिखाई पड़ती है। उनकी इस कला को हम उनके विकास युग की कला कह सकते हैं। उनकी यह कला अधिक पुष्ट, और प्रभावमयी है। उनकी यह कला प्राचीन परम्परा से युक्त है। कहीं कहीं 'स्वकथन' के रूप में उसकी झलक मात्र देखने को मिलती है। उनकी यह कला

सर्वथा नवीन है। उनकी इस कला में पाश्चात्य नाट्यकला के तत्त्व अधिक संख्या में मिलते हैं। उनकी यह कला अधिक अन्तर्द्वन्दिनी, और संघर्षमय है। उनकी यह कला अन्तर्द्वन्दों के द्वारा ही अपने चरित्रों का विकास करती है। उनकी यह कला परिस्थितियों और भावों के द्वन्दों से ही आगे निकलती है, और द्वन्दों तथा स्थितियों के संघर्ष में ही अपना कार्य व्यापार करती है। प्रसादजी के विकास काल के नाटकों में आदि से लेकर अन्त तक द्वन्दात्मक स्थितियों के ही चित्र मिलते हैं। उनके यह नाटक द्वन्दात्मक वातावरण में ही प्रारम्भ होते हैं, और द्वन्दात्मक वातावरण में ही उनकी समाप्ति भी होती है। उनके इन नाटकों को न बिलकुल सुखांत कहा जा सकता है, और न 'दुखांत' नाटकों में ही उनकी गणना की जा सकती है। उनके नाटकों का अन्त भी 'सुखांत' और 'दुखांत' के ही द्वन्द में हुआ है। उनके नाटकों के अन्त में 'सुखांत' और 'दुखांत' का एक अनुपम द्वन्द दिखाई पड़ता है। इस प्रकार इन नाटकों में आदि से लेकर अन्त तक उनकी कला अन्तर्द्वन्दिनी है।

प्रसादजी की नाट्यकला पूर्ण रूप से मौलिक है। यद्यपि उन्होंने अपनी कला के निर्माण में संस्कृत की प्राचीन, पाश्चात्य, और बंगाली तथा पारसी नाट्यकलाओं से सहायताएँ ली हैं, पर उनकी कला में कई ऐसी विशिष्टताएँ हैं, जो उनकी अपनी हैं। उनकी कला की विशिष्टताओं में सबसे बड़ी विशेषता यह है, कि उनकी कला आदि से लेकर अन्त तक अन्तर्द्वन्दिनी है। नाटक के अन्त में भी उनकी कला का अन्तर्द्वन्द अपनी एक प्रमुख विशेषता रखता है। अंकों और दृश्यों के विभाजन में भी उनकी कला की मौलिकता देखने को मिलती है। रसों की योजना में भी उन्होंने मौलिकता से ही काम लिया है। रसों की योजना में एक ओर जहाँ भारतीय परम्परा का पालन किया गया है, वहीं दूसरी ओर पाश्चात्य विधियाँ भी मिलती हैं। भारतीय परम्परा और पाश्चात्य विधियों के पालन में भी उन्होंने अपनी स्वतन्त्र सूझ-बूझ और कल्पना शक्ति से काम लिया है।

अब हम प्रसादजी के नाटकों के उन तत्त्वों पर विचार करेंगे, जिन्हें नाटक का तत्त्व कहते हैं। नाटकों के तत्त्वों में प्रमुख रूप से निम्नांकित बातों का समावेश होता है—कथावस्तु, वस्तु विन्यास, चरित्र, चित्रण, कथोपकथन, देश काल, और रस। अब हम यह देखेंगे, कि प्रसादजी की रचनाओं में इन तत्त्वों का विकास कितना और किस प्रकार हुआ है; दूसरे शब्दों में इन तत्वों की कसौटी पर प्रसादजी की रचनाएँ कितनी खरी उतरती हैं!

प्रसादजी की रचनाएँ और नाटक के तत्त्व

प्रसादजी भारतीय संस्कृति के अनन्य पुजारी थे। भारतीय संस्कृति का प्रेम उनके मन में अतुल रूप में समाया हुआ था। भारतीय संस्कृति में भी पुरातन संस्कृति उन्हें अधिक प्रिय थी। अतः उन्होंने अपनी रचनाओं के लिए भारतीय संस्कृति के अतीत काल के पृष्ठों में डूब करके ही कथाएँ निकाली हैं। उन्होंने अपनी रचनाओं के लिए कथाएँ ढूँढने में वैदिक काल से लेकर बारहवीं शताब्दी तक के भारतीय

इतिहास का मंथन किया है। इस कार्य में उन्होंने अधिक परिश्रम किया है। उन्हें इस लंबी अवधि काल में, जो सामग्री प्राप्त हो सकी है, उसी से उन्होंने अपने काव्य, कहानी, और नाटकों का अभिसार किया है। नाटकों की रचना के लिए उन्होंने प्रायः अशोक, और चंद्रगुप्त के शासन काल की कथाओं को ही ग्रहण किया है। भारतीय इतिहास में चन्द्रगुप्त और अशोक के शासन का काल भारत के अभ्युदय और उसकी उन्नति का स्वर्ण काल कहा जाता है। प्रसादजी ने इस काल के इतिहास के पयोधि में डूबकर ऐसी ऐसी कथाएँ बाहर निकाली हैं, जिनसे तत्कालीन भारत की सामाजिक और राजनीतिक स्थिति पर प्रकाश तो पड़ता ही है, इतिहास के नवीन तथ्यों का भी उद्घाटन होता है। प्रसादजी ने उन कथाओं को नाट्य सूत्र में गूँथ कर उनमें रस पैदा करने के साथ ही साथ उन्हें अधिक सजीव और आकर्षक बना दिया है।

प्रसादजी ने इतिहास के पृष्ठों में डूब कर जो कथाएँ निकाली हैं, वे इतिहास के पृष्ठों में इस रूप में नहीं मिलतीं, जिन्हें सम्बद्ध कहा जा सके। उन कथाओं को जोड़ने वाली जो घटनाएँ हैं, उनमें भी अस्त व्यस्तता, और असामंजस्य मिलता है। प्रसादजी ने इतिहास की इन कथाओं को, अपनी रचनाओं में एक नवीन रूप मे उपस्थित किया है। उन्होंने कथाओं की असंबद्धता को दूर करके उनके तारतम्य को ठीक किया है। उन्होंने घटनाओं की असामंजस्यता को दूर करके उनमें संतुलन स्थापित किया है। इस कार्य में उन्होंने अपनी कल्पना शक्ति से काम लिया है। उन्होंने अस्त व्यस्त ऐतिहासिक तन्तों में ऐसे तत्त्व मिलाए हैं, जिनके कारण वे शृंखलित और संयमित तो हो ही गए हैं, साथ ही उनमें सरसता और मधुरता भी उत्पन्न हो गई है। प्रसादजी ने नवीन पात्रों की भी योजना की है, यह योजना बड़ी व्यवस्थित और कुशलता पूर्वक हुई है। उन्होंने वास्तविक कथा, घटना और पात्रों में काल्पनिक घटना, कथा, और पात्रों का समन्वय इस प्रकार किया है, कि वे उनके साथ मिल कर एक लड़ी सी ज्ञात होते हैं।

कथानक की दृष्टि से प्रसादजी की रचनाओं को हम तीन श्रेणियों में विभक्त कर सकते हैं— पौराणिक, ऐतिहासिक, और भावात्मक। करुणालय में वैदिक काल की कथा है। 'अजन' की कथा महाभारत काल से ली गई है। जनमेजय के नागयज्ञ में उपनिषद काल की कथा है। अजातशत्रु की कथा ऐतिहासिक है, जो बुद्ध काल की है। विशाख की कथा भी बुद्ध काल से ही सम्बन्ध रखती है। स्कन्दगुप्त इतिहास पर आधारित है। 'राज्यश्री' की रचना में हर्ष काल की कथा लगी हुई है। चन्द्रगुप्त ऐतिहासिक कृति है। कामना की कथा दार्शनिकता की पृष्ठभूमि पर तैयार हुई है। इस प्रकार प्रसादजी ने अपनी रचना के लिए वैदिक काल से लेकर बारहवीं शताब्दी तक के इतिहास से कथाएँ ग्रहण की हैं। उनकी अधिकांश कथाएँ इतिहास से ही सम्बन्धर खती हैं। उनकी सभी कथाएँ भारतीय जीवन और संस्कृति के चित्रों को स्पष्ट करती हैं। उनकी कथाओं में जीवन के दोनों ही चित्र

मिलते हैं; अर्थात् उनकी कथाओं में वे चित्र भी मिलते हैं, जिन्हें हम आदर्श चित्र कहते हैं, और इसके साथ ही साथ वे भी चित्र मिलते हैं, जिन्हें हम आधुनिक भाषा में यथार्थवादी चित्र कहते हैं। इस बात को दृष्टि में रख कर हम यह कह सकते हैं, कि कथाओं के ग्रहण में उनका दृष्टिकोण अधिक विस्तृत और लक्ष्य अधिक ऊँचा है।

वस्तु विन्यास में प्रसादजी ने दो रीतियों से काम लिया है। उन्होंने वस्तु विन्यास के लिए, अपनी कला में भारतीय और पश्चात्य—दोनों ही शैलियों को स्थान दिया है। उन्होंने भारतीय शैली के द्वारा जहाँ कार्य की अवस्थाओं, अर्थ प्रकृतियों, और सन्धियों का यथोचित प्रयोग किया है, वहाँ नाटक के भीतर अन्तर्द्वन्दों, संघर्षों, और स्थितियों के उत्थान-पतन की सृष्टि करके पाश्चात्य शैली का भी स्वागत किया है। चन्द्रगुप्त, ध्रुवस्वामिनी, और स्कन्दगुप्त में स्पष्ट रूप से उनकी वस्तु-योजना में दोनों ही शैलियाँ जुटी हुई हैं। एक ओर उन्होंने भारतीय शैली के द्वारा घटनाओं, स्थितियों, और व्यापारों पर नियन्त्रण स्थापित करके उनके भीतर सौन्दर्य को जगाने का प्रयत्न किया है, और दूसरी ओर पाश्चात्य शैली के द्वारा क्रोध, संघर्ष, हिंसा, और युद्ध तथा अशांति के द्वारा उनमें गतिशीलता उत्पन्न की है। इस प्रकार उनकी वस्तु योजना में एक ओर शांति, प्रेम, सौन्दर्य और क्षमा के तत्त्व हैं, और दूसरी ओर उसमें हिंसा, द्वेष, षड्यन्त्र, और ईर्षा के बीज भी मिलते हैं। इस प्रकार प्रसाद जी ने अपने वस्तु-विन्यास में दो विरोधी तत्त्वों का समावेश करके अपनी वस्तु-योजना को अधिक प्रभाव पूर्ण और आकर्षक बना दिया है।

प्रसादजी ने अपने नाटकों के कथानक उस काल से लिए हैं, जिसे हम भारतीय इतिहास का अभ्युदय काल कहते हैं। भारतीय इतिहास में चन्द्रगुप्त, अशोक, और स्कन्दगुप्त का शासन काल प्रत्येक दृष्टि से उन्नत और प्रगतिशील माना जाता है। इस काल-विशेष में भारतीय जीवन ने धर्म, राजनीति, समाज, और अर्थ इत्यादि क्षेत्रों में अभूतपूर्व उन्नति की थी। इस काल के भारतीय जीवन में जीवन का विकास उच्चस्वर पर हुआ था। प्रसादजी के पात्रों के चरित्र में जीवन का यह विकास स्पष्ट रूप से देखने को मिलता है। प्रसादजी के पात्र, चाहे वे स्त्रियाँ हों, और चाहे पुरुष जीवन की सर्वोच्च सतह पर स्थित दिखाई देते हैं। उनके व्यवहारों, और कार्यों में उच्चता है। हिंसा, क्रोध, ईर्षा, और युद्ध में भी वे मानवता का परित्याग नहीं करते। वे जो कुछ सोचते हैं, जो कुछ करते हैं—उसमें उच्च भावना और कामना पाई जाती है। वे प्रत्येक स्थिति में अपने संबंध में अधिक न सोचकर दूसरों के संबंध में ही अधिक सोच विचार किया करते हैं। उन्हें अपने स्वार्थों का उतना अधिक ध्यान नहीं रहता, जितनी चिन्ता उन्हें दूसरों के हितों की रहती है। दुखियों और पीड़ितों के प्रति उनके हृदयों में सहानुभूति और दया की तरंगें उठा करती हैं। पतितों को उठाना और निराशा के अंधकार में गिरे हुए व्यक्तियों को जीवन का संदेश देना ही वे अपना धर्म समझते हैं। वे पग-पग पर जीवन और कल्याण

का चित्र निर्मित करते हैं। कल्याण का चित्र निर्मित करने में वे समाज और देश की सीमा से बाहर निकल कर विश्व के क्षेत्र में भी विचरण करते हैं; दूसरे शब्दों में देश और समाज की मङ्गल की चिन्ता के साथ ही साथ उनके हृदयों में विश्व के कल्याण की भी कामना मिलती है।

प्रसादजी के सभी पात्र पूर्ण रूप से आदर्शवादी हैं। किन्तु उनका आदर्शवाद व्यवहारिकता की पृष्ठभूमि पर आधारित है। उनके पात्र जहाँ आदर्श चित्रों की सृष्टि करते हैं, वहाँ वे वास्तविकता की ओर भी देखते हैं। उनके पात्र वास्तविकता को दृष्टि में रखते हुए आदर्श चित्रों का निर्माण करते हैं। उनके पात्रों का चरित्र आदर्श और यथार्थ चित्रों की एक समष्टि है। उनके पात्रों के चरित्र में जहाँ पुण्य है, वहीं पाप भी है। जहाँ देवत्व है, वहीं दानवता भी है, जहाँ विराग है, वहीं आशक्ति भी है। जहाँ दुख है, वहीं सुख भी है। इस प्रकार उनके पात्रों में स्थितियों, दशाओं, मनोवेगों, और व्यापारों का अद्भुत समन्वय पाया जाता है। उनके पात्र बड़े साहसी और पुरुषार्थी भी हैं। वे शत्रुओं का दमन तो करते ही हैं, मनोवेगों का दमन करने में भी अधिक कुशल हैं। वे जहाँ दूसरों की दुर्बलताओं पर दृष्टि रखते हैं, वहाँ उनकी दृष्टि उन कमजोरियों पर भी पड़ती है, जो स्वयं उनके हृदय में हलचल मचाया करती हैं। वे दूसरों की दुर्बलताओं को भले ही छिपा लें, पर अपनी दुर्बलताओं पर बड़े साहस के साथ प्रकाश डालते हैं।

प्रसादजी के पात्रों में दो प्रकृति के पात्र हैं। एक तो सरल प्रकृति के हैं, और दूसरे गूढ़ प्रकृति के हैं। उनके सरल प्रकृति के पात्र सीधे सादे हैं, जो बड़ी सादगी से अपने विचारों को व्यक्त करते हैं। किन्तु उनके दूसरे प्रकार के पात्र जो गूढ़ प्रकृति के हैं, बड़े रहस्यमय हैं। वे अपने मन के विचारों को बड़ी चतुराई के साथ छिपाते हैं। वे मन के द्वन्दों से खेलते हैं, और अपने द्वन्दात्मक विचारों से द्वन्दात्मक चित्र भी बनाते हैं। उनके द्वन्दात्मक विचारों के कारण ही उनके व्यक्तित्व की महानता ढप-कती है। प्रसादजी के सभी प्रकार के पात्रों को हम तीन वर्गों में विभक्त कर सकते हैं—देवता, दानव, और मनुष्य। 'विशाख' के प्रेमानन्द, जनमेजय के नागयज्ञ के वेद व्यास, राज्यश्री के सुयेनच्यांग, अजात शत्रु के भगवान बुद्ध और चन्द्रगुप्त के दाम्भ्यायन आदि ऐसे पात्र हैं, जो देवता की श्रेणी में आते हैं। काश्यप देवदत्त, विजय और शान्ति भिक्षु इत्यादि पात्रों की गणना दानव वर्ग में की जा सकती है। इनके देवता वर्ग के सभी पात्र दार्शनिक, चिंतक, कल्याणकारी और परहित भावना के पोषक हैं। राक्षस वर्ग के पात्र पतनोन्मुख हैं, जो अपने ही स्वार्थों की सिद्धि में तत्पर रहते हैं।

प्रसादजी के पात्रों का तीसरा वर्ग वह है, जिसे मनुष्य वर्ग कहते हैं। उनके मनुष्य वर्ग के पात्रों में पुरुष और स्त्रियाँ दोनों ही हैं। पुरुष पात्रों में चंद्रगुप्त, अजात शत्रु, भटार्क, शर्ववर्मा, चाणुक्य, नन्द, राक्षस, रामगुप्त, शकराज, और देवगुप्त इत्यादि का मुख्य स्थान है। स्त्री पात्रों में ध्रुव स्वामिनी, देवसेना, राज्यश्री,

मल्लिका, देवकी, वपुष्टमा, कार्नेलिया, सुरमा, विजया, दामिनी, और मागधी इत्यादि का नाम उल्लेखनीय है। प्रसादजी के पुरुष पात्रों को चार श्रेणियों में विभक्त किया जा सकता है। उनके पुरुष पात्रों की एक श्रेणी तो वह है, जो आदर्शवादी है, और अपनी विशिष्टताओं के कारण विशेष वर्ग का प्रतिनिधित्व करती है। स्कन्दगुप्त, चन्द्रगुप्त, और अजातशत्रु इत्यादि इसी श्रेणी में आते हैं। दूसरी श्रेणी के पात्रों में उनकी गणना की जाती है, जिनमें तप, और त्याग की विशेषताएँ हैं। चाणक्य इसी वर्ग का पात्र है। तीसरी श्रेणी में वे पात्र आते हैं, जो प्रारम्भ में आदर्शों के विरोध में आचरण करते हैं, किन्तु फिर संभल जाते हैं, और आदर्श पन्थानुयायी बन जाते हैं। जैसे—भटार्क, शर्वनाग, और तक्षक इत्यादि। चतुर्थ श्रेणी उन पात्रों की है, जो आदि से लेकर अन्त तक आदर्शों के विरुद्ध आचरण करते हैं। जैसे—नन्द, रामगुप्त, शकराज, और देवगुप्त इत्यादि। प्रसादजी के इन सभी पुरुष पात्रों में उनके आदर्श पात्र ही मुख्य हैं। प्रसादजी के नाटकों का महत्व उनके आदर्श पात्रों के ही कारण है। उनके आदर्श पात्रों ने अपने देवोपम चरित्रों से उनके नाटकों को अधिक महत्व पूर्ण बना दिया है।

पुरुष पात्रों की भाँति ही उनके स्त्री पात्र भी दो प्रकार के हैं, जिनमें एक को हम सतोगुण मूलक और दूसरे को वासना मूलक कह सकते हैं। उनके सतोगुण मूलक नारी पात्रों में राज्यश्री, ध्रुव स्वामिनी, मल्लिका, देवसेना, देवकी, वपुष्टमा और कार्नेलिया इत्यादि का महत्व पूर्ण स्थान है। वासना मूलक नारी पात्रों में सुरमा, विजया, दामिनी, मागधी, और अनंतदेवी इत्यादि का नाम लिया जा सकता है। उनके सतोगुण मूलक नारी पात्रों में सदाशयता, त्याग, प्रेम, और उदारता की भावनाएँ हैं। वासना मूलक नारी पात्रों में उद्दाम लालसाएँ पाई जाती हैं। इनके चरित्र-हीन कोटि के हैं, जो मानवता के अंचल पर धब्बे बनाते हैं।

संवाद और कथोपकथन का नाटक में अधिक महत्व होता है। संवाद और कथोपकथन के द्वारा ही नाटक का विकास होता है, तथा वह अपनी सिद्धि और लक्ष्य के निकट भी पहुँचता है। जो नाट्यकार संवाद और कथोपकथन की कला में जितना ही दक्ष होता है, वह नाट्य रचना के क्षेत्र में उतनी ही तीव्रता के साथ सफलता के निकट पहुँचता है। संवाद और कथोपकथन के द्वारा नाटक में दो प्रमुख उद्देश्यों की पूर्ति होती है। एक तो यह, कि संवाद और कथोपकथन के द्वारा नाटक की कथा में गति उत्पन्न होती है, और दूसरा यह, कि चरित्र चित्रण में सहायता मिलती है। प्रसादजी ने अपने नाटकों में इन्हीं दोनों उद्देश्यों को दृष्टि में रख कर कथोपकथन और संलाप योजना की है। उन्होंने कथोपकथन की योजना में एक ऐसी कला से काम लिया है, जिसके द्वारा उक्त दोनों उद्देश्यों की भली भाँति पूर्ति होती हुई दिखाई पड़ती है। प्रसादजी के पात्रों के कथोपकथन जहाँ नाटक की कथा को प्राणवान बना कर उसे आगे बढ़ाते हैं, वहाँ वे अपने पात्रों के चरित्र को ठीक ठीक व्यक्त करते हैं। उनके संवाद और कथोपकथन पात्रों के केवल स्वरूप पर ही प्रकाश नहीं

डालते, वरन् वे उनके उस अन्तर्लोक पर भी प्रकाश डालते हैं, जिसमें उनके व्यक्तित्व को निर्माण करने वाले विचार छिपे रहते हैं। प्रसादजी के संवादों में जहाँ दृष्टि की तीव्रता है, वहाँ उसमें स्थिति और वातावरण की अनुकूलता भी पाई जाती है। प्रसादजी के कथोपकथनों में स्थिति, और वातावरण के अनुसार ही गति की संचरण शीलता पाई जाती है। स्थिति और वातावरण के कारण कहीं उनमें मन्दता दिखाई पड़ती है, तो कहीं उसी के कारण उसमें तीव्रता का वेग फूटता हुआ दृष्टि-गोचर होता है। कहीं उसमें ओज, और आवेग दिखाई पड़ता है, तो कहीं भावुकता और मधुरता के दर्शन होते हैं।

प्रसादजी ने अपनी संवाद योजना में जिस भाषा से काम लिया है, वह अधिक कलात्मक है। 'विशाख' के संवादों में व्यावहारिक भाषा मिलती है; किन्तु उसमें मुहा-विरों की अधिकता खिलती है। 'विशाख' की सी व्यावहारिक भाषा उनके अन्य नाटकों के संवादों में नहीं मिलती। उन्होंने अपने अधिकांश नाटकों की संवाद योजना में कलात्मक भाषा का ही प्रयोग किया है। ध्रुव स्वामिनी और राज्यश्री के संवादों की योजना एक ऐसी भाषा में हुई है, जिसे हम स्थिति, और नाट्य-व्यापार के अनुकूल भाषा कह सकते हैं। किन्तु अजातशत्रु, चन्द्रगुप्त, और स्कन्दगुप्त इत्यादि की संवाद योजनाओं में भाषा की अनुकूलता पर ध्यान नहीं रक्खा गया है। इन नाटकों के संवादों में ऐसी भाषा का प्रयोग किया गया है, जिसे हम क्लिष्ट भाषा कह सकते हैं। भाषा की क्लिष्टता के अतिरिक्त कहीं कहीं उनके संवादों में चिन्तन शैली का भी प्रयोग मिलता है। जहाँ उन्होंने चिंतन शैली का प्रयोग किया है, वहाँ उनकी संवाद योजना और भी अधिक कठिन हो गई है। कहीं कहीं उनकी संवाद योजनाओं में लम्बी-लम्बी वक्तृताएँ भी पाई जाती हैं। कहीं कहीं उन्होंने प्राचीन नाटकों के ढङ्ग पर स्वगतोक्ति का भी प्रयोग किया है।

प्रसादजी के नाटकों में देश काल का चित्रण सफलता पूर्वक किया गया है। उनके सभी नाटक ऐतिहासिक हैं। उन्होंने जिस नाटक की कथा इतिहास के जिस काल से ली है, उसमें उस काल की राजनीतिक, सामाजिक, और उत्थान पतन की स्थितियों का चित्रण किया है। इस प्रकार का चित्रण उनके सभी नाटकों में मिलता है। रस की योजना भी उनके नाटकों में सुचारुता के साथ मिलती है। रस की योजना में उन्होंने भारतीय परम्परा का पालन किया है। उनके नाटकों में वीर रस की प्रधानता मिलती है। शृङ्गार की योजना उसके सहायक के रूप में की गई है। वीर और शृङ्गार के अतिरिक्त उनके नाटकों में शांत, अद्भुत, और वीभत्स इत्यादि रस भी कहीं कहीं मिलते हैं।

प्रसादजी के नाटक संगीतमय हैं। उनके संगीतों में काव्य की छटा है। उन्होंने अपने संगीतों में काव्य, और गीत दोनों के ही तत्त्व भरने की चेष्टा की है। नाट्य कला की दृष्टि से उनकी संगीत योजना दोष पूर्ण है। उन्होंने अपने नाटकों में आवश्यकता से अधिक संख्या में गीतों को स्थान दिया है, जो नाट्यकला की दृष्टि से

अच्छा नहीं समझा जाता। कहीं कहीं उनके गीत अधिक लम्बे हो गए हैं। कहीं कहीं नेपथ्य के भीतर भी लंबे लंबे गीतों की योजना की गई है। अभिनय की दृष्टि से भी प्रसादजी के नाटकों को सफल नहीं कहा जा सकता। प्रसादजी के नाटक इतने बड़े हैं, कि दो-तीन घंटे में उनका अभिनय नहीं किया जाता। उनके नाटकों में संवादों की योजना अधिक विस्तार के साथ की गई है। गीतों की भी उनके नाटकों में अधिकता है। प्रायः उनके सभी संवाद द्वन्द्वात्मक, और रहस्यात्मक है। उन्होंने अपने संवादों में जिस भाषा का प्रयोग किया है, वह अधिक काव्यात्मक है। उनकी भाषा में संकेतिकता और रहस्यात्मकता भी मिलती है। अङ्कों और दृश्यों का विभाजन भी उनके नाटकों में यथोचित रूप से नहीं हुआ है।

प्रसाद काल हिन्दी नाट्य-रचना का स्वर्ण काल है। इस काल में प्रसादजी के अतिरिक्त और कई ऐसे कलाकार हुए हैं, जिन्होंने अपनी रचनाओं से हिन्दी नाट्य-कला को अधिक धनी और गौरव पूर्ण बनाया है। इन कलाकारों में श्री वृन्दवन लाल वर्मा, और श्री गोविन्द-दासजी का अधिक महत्व पूर्ण स्थान है। वर्माजी ने कई नाटकों की रचना की है। उनके नाटकों के नाम इस प्रकार हैं—सेनापति उदाल, राखी की लाज, फूलों की बोली, बाँस की फाँस, झाँसी की रानी, हंसमयूर, पायल, मङ्गल सूत्र, खिलौने की खोज, पूर्व की ओर, बीरबल, और नील कंठ आदि। वर्माजी ने एकांकी के क्षेत्र में भी अपनी प्रतिभा का प्रदर्शन किया है। उनकी एकांकी रचनाओं के नाम इस प्रकार हैं—काश्मीर का काँटा, सगुन, जहाँदरशाह, लो भाई पंचोलो, पीले हाथ, कनेर, टंटागुरु, और शासन का डंडा इत्यादि। वर्माजी की अधिकांश रचनाओं के कथानक इतिहास के पृष्ठों से ही लिए गए हैं। वर्माजी कथानक के लिए इतिहास के विस्तृत क्षेत्र में परिभ्रमण करते हुए दिखाई पड़ते हैं। उन्होंने अपनी रचनाओं के लिए जहाँ मध्य काल से कथावस्तु ग्रहण की की है, वहाँ वे कथावस्तु के लिए मौर्य और शुंग काल के इतिहास के पृष्ठों को भी उलटते हुए दिखाई पड़ते हैं। अतीत काल के इतिहास के पृष्ठों के उलटने में वे वर्तमान को भूल नहीं गए हैं। उन्होंने वर्तमान काल के जीवन से भी कथावस्तु ग्रहण की है। इस प्रकार उन्होंने इतिहास के विस्तृत क्षेत्र से, गौरवमयी, सांस्कृतिक और वीरता मूलक कथाएँ निकाल कर उन्हीं के सूत्र में अपनी रचनाओं का गुंफन किया है। उन्होंने ऐतिहासिक कथाओं के द्वारा जहाँ अतीत के गौरव पूर्ण चित्रों को उपस्थित किया है, वहाँ वर्तमान जीवन से कथाएँ लेकर उनकी समस्याओं पर प्रकाश भी डाला है। इस प्रकार उन्होंने आदर्श को उपस्थित करके उसी के द्वारा आधुनिक समस्याओं के हल को खोजने की प्रशंसनीय चेष्टा है।

वर्माजी हिन्दी साहित्य के कुशलकार नाटककार और उपन्यासकार हैं। उपन्यास के क्षेत्र में उन्होंने अमरता प्राप्त की है। नाट्यकला के क्षेत्र में भी उनकी कीर्ति कम

वर्माजी की नाट्यकला

नहीं है। ऐतिहासिक उपन्यासों की भाँति ही उन्होंने ऐतिहासिक नाटक उपस्थित करके हिन्दी-नाट्यकला के विकास में सहायता प्रदान की है। नाट्यकला के क्षेत्र में पहले पहल उनकी जो रचना सामने आई, उसका नाम सेनापति उदाल है। सेनापति उदाल का प्रकाशन सम्वत् १९६६ में हुआ था। यह एक ऐतिहासिक कृति है। इसमें वर्माजी की नाट्यकला अंकुरित होती हुई दिखाई पड़ती है। यद्यपि नाट्यकला की दृष्टि से इसमें ऐसे तत्त्व नहीं हैं, जिसकी अधिक प्रशंसा की जा सके, पर इसमें उन्नति और विकास के तत्त्व अवश्य मिलते हैं। 'सेनापति उदाल' के पश्चात् वर्माजी नाट्य-रचना के क्षेत्र से पृथक हो गए। लगभग ३६ वर्षों तक वे इस क्षेत्र से अलग रह कर उपन्यासों की रचना करते रहे। इसके पश्चात् उनका ध्यान पुनः नाट्य रचना की ओर आकृष्ट हुआ, और वे पुनः नाट्य रचना में प्रवृत्त हुए। 'सेनापति उदाल' को छोड़ कर उनकी शेष सभी रचनाएँ इसी काल की हैं। यही कारण है, कि बहुत से लोग वर्माजी को प्रसाद काल का कलाकार नहीं मानते, और उनका स्थान वर्तमान काल में निश्चित करते हैं।

वर्माजी जब दूसरी बार नाट्य रचना के क्षेत्र में आए, तब युगपूर्ण रूप से बदल चुका था। हिन्दी नाट्य क्षेत्र में नई कला, नई शैली, और नई भाषा जन्म लेकर विकसित हो चुकी थी। प्रसादजी की विकसित नाट्य कला सामने आ चुकी थी। नाटक और एकांकी के रूप में उनकी रचनाएँ उपस्थित होकर हिन्दी नाटक-जगत को आंदोलित कर चुकी थी। प्रसादजी के अतिरिक्त और कई नाटककारों का प्रादुर्भाव हो चुका था, जिनमें सेठ गोविंददास और पं० लक्ष्मीनारायण मिश्र इत्यादि का नाम उल्लेखनीय है। अतः वर्माजी की कला को मार्ग ढूँढ़ना नहीं पड़ा। उसके सामने प्रशस्त मार्ग और प्रशस्त क्षेत्र था। उसने इससे लाभ उठाया। उनकी कला ने, उन नवीन विधियों को ग्रहण किया, जो हिन्दी नाटक जगत में प्रचलित थीं। यह होते हुए भी उनकी कला ने अपनी रुचि के अनुसार ही विषय का चुनाव किया। उनके सभी नाटकों के विषय ऐतिहासिक हैं। उनकी कला ने इतिहास के पृष्ठों से ही कथाएँ लेकर अपना अभिसार किया है। उनकी कला का स्वरूप ऐतिहासिक होने के कारण अधिक घटना प्रधान है।

वर्माजी के सभी नाटकों का अभिनय किया जा सकता है। उन्होंने अभिनय को दृष्टि में रख करके ही अपने नाटकों की रचना की है। अंकों और दृश्यों की योजना में भी उन्होंने अभिनयात्मकता का पूर्ण रूप से ध्यान रक्खा है। उनके नाटकों में चार पाँच से अधिक अंक नहीं मिलते। उनके दृश्य छोटे छोटे हैं। जो दृश्य बड़े हैं, उनका स्थापन इस रीति से किया गया है, कि कथा प्रवाह की अखण्डता में बाधा नहीं उपस्थित होती। पात्रों की भाव भंगिमा, और उनके संवादों में भी अभिनयात्मकता की रक्षा की गई है। इन बातों को देखते हुए हम यह कह सकते हैं, कि वर्माजी की नाट्यकला अधिक व्यावहारिक है। कथा, पात्र, संवाद, और भाषा इत्यादि

प्रत्येक क्षेत्र में उन्होंने अपनी कला को व्यावहारिकता के साँचे में ढाला है। उन्होंने अपनी कला को जहाँ व्यावहारिकता के साँचे में ढाला है, वहाँ उसे दुरुहता से बचाने का प्रयत्न किया है। उनकी कला दुरुहता से बचती हुई वर्तमान जीवन के अनुरूप ही चलती हुई दिखाई पड़ती है। वह पूर्ण रूप से अपना सम्बन्ध उस वर्तमान जीवन से ही जोड़ती है, जो नए विचारों से प्रभावित है। अँगरेजी नाट्यकला का प्रभाव उस पर पूर्ण रूप से है। जहाँ वह अँगरेजी नाट्यकला से प्रभावित है, वहाँ उसने भारतीय प्राचीन परम्परा से अपने को सर्वत्र दूर ही रक्खा है। न तो उसमें रस की व्यवस्था है, और न गर्भांक, विष्कंभक तथा अर्थ प्रकृति इत्यादि की विधियों का ही पालन किया गया है। इसके प्रतिकूल पाश्चात्य शैली का रंग संकेत उसमें अधिक मात्रा में मिलता है।

वर्माजी का प्रमुख क्षेत्र उपन्यास है। उपन्यास रचना में ही उनकी अधिक प्रवृत्ति दिखाई पड़ती है। उपन्यास रचना के क्षेत्र में उनके भीतर जो उत्सुकता और जागरूकता है, वह नाट्य रचना के क्षेत्र में नहीं दिखाई पड़ती। उपन्यास रचना के क्षेत्र में वे एक विशिष्टता के साथ अग्रसर होते हुए दिखाई पड़ते हैं। नाट्य रचना के क्षेत्र में उनकी गति में वह विशिष्टता नहीं दिखाई पड़ती, जो किसी नाटककार को विश्व के रंग मंच पर यशस्वी बनाती है। इसका पता हमें नाटक के उन तत्वों से साफ साफ चल जाता है, जो वर्माजी की नाट्य रचनाओं में पाए जाते हैं। यहाँ हम उनहीं नाटक तत्वों की विवेचना करके यह देखेंगे, कि वर्माजी के नाटकों में उनका कितना और किस प्रकार विकास हुआ है!

वर्माजी की नाट्य रचनाओं पर जब हम दृष्टिपात करते हैं, तो उन्हें दो वर्गों में विभक्त पाते हैं—ऐतिहासिक और सामाजिक। उनकी ऐतिहासिक रचनाओं की कथाएँ इतिहास के पृष्ठों से ली गई हैं। हंसमयूर, पूर्व की ओर फूलों की बोली, बीरबल, और झाँसी की रानी इत्यादि में ऐतिहासिक कथाएँ लगी हुई हैं। कथात्मक की दृष्टि से वर्माजी की ऐतिहासिक कथाएँ आकर्षक और प्रभावपूर्ण हैं। यह कथाएँ इतिहास के विविध कालों पर प्रकाश डालती हैं, और तत्कालीन सामाजिक तथा राजनीतिक स्थितियों के चित्रों को सामने उपस्थित करती हैं। इन ऐतिहासिक कथाओं में ऐतिहासिक तथ्यों की भरपूर रक्षा की गई है। उन पर कहीं कहीं कल्पना का भी रंग है। उन्होंने ऐतिहासिक कथाओं को अपनी कल्पना शक्ति से अधिक सुव्यवस्थित, शृंखलित और प्रभाव पूर्ण बनाने का प्रयत्न किया है। ऐतिहासिक तथ्यों के साथ कल्पना-शक्ति ने मिल कर उनकी कथा योजना को अधिक प्रभाव पूर्ण और आकर्षक बना दिया है।

वर्माजी की द्वितीय वर्ग की रचनाएँ सामाजिक हैं। इन रचनाओं में राखी की लाज, बाँस की फाँस, और खिलौने की खोज इत्यादि उल्लेखनीय हैं। इन रचनाओं में जिन कथाओं का उपयोग किया गया है, उनका निर्माण सामाजिक तत्वों से किया गया

नाटक और नाटक के तत्व

है। किन्तु वे तत्त्व अधिक दुर्बल और शिथिल हैं। उनमें न स्थितियों का संघर्ष है, और न विचारों की द्वन्दता, परिणाम स्वरूप वर्माजी की सामाजिक कथाओं में प्रभाव पूर्णता नहीं है।

वर्माजी के नाटकों में अभिनयात्मकता के तत्त्व प्रचुर रूप में मिलते हैं। उन्होंने अभिनय की दृष्टि से ही अपने नाटकों का निर्माण किया है। उनकी वस्तु योजना अभिनय की अनुकूलता में ही प्रतिष्ठित की गई है। उन्होंने वस्तु विधान में पाश्चात्य नाट्यकला का अनुसरण किया है। पाश्चात्य शैली के अनुसार ही उन्होंने अपने नाटकों में अङ्कों, और दृश्यों की स्थापना की है। पाश्चात्य शैली के अनुसार ही उनके नाटकों में रंग-संकेतों की व्यवस्था भी की गई है। उन्होंने यथाशक्ति अपनी वस्तु योजना को सरलता के साँचे में ढालने का प्रयत्न किया है। उन्होंने अपनी वस्तु योजना को आकर्षक, और प्रभाव पूर्ण बनाने का भी प्रयत्न किया है। एतदर्थ उन्होंने अपनी वस्तु-योजना में आकस्मिक, और रोमांचकारी घटनाओं का समावेश किया है।

वर्माजी के नाटकों की दो श्रेणियाँ हैं—ऐतिहासिक और सामाजिक। अतः उनके पात्र भी दो प्रकार के हैं। उनके एक प्रकार के पात्र तो वे हैं, जो उनकी ऐतिहासिक कथाओं में मिलते हैं। उनके दूसरे प्रकार के पात्र उनकी सामाजिक कथाओं में पाए जाते हैं। ऐतिहासिक कथाओं के पात्र विभिन्न वर्गों के हैं। जैसे—राजा, न्यायाधीश, अधिकारी, धर्माचार्य, गायक, पहरेदार, डाकू, और धोबी चमार इत्यादि। इन ऐतिहासिक पात्रों में जो उच्च वर्ग के पात्र हैं, उनके चरित्रों का विकास वास्तविक ढङ्ग से हुआ है। उनमें दृढ़ता, और चरित्र शीलता है। वे परिस्थितियों से जूझना जानते हैं, और संसार को अपने अनुकूल बनाते हैं। संसार और जीवन की स्थितियों को अनुकूल बनाने में ही वे अपनी शक्तियों की पूर्णता पाते हैं। ऐतिहासिक पात्रों में जो हीन वर्ग के पात्र हैं, वे चरित्र-विकास में भी हीनता की गोद से आगे नहीं निकलते। उनके वर्ग के अनुसार ही उनका चरित्र भी है। इसी प्रकार सामाजिक कथाओं में भी दो प्रकार के पात्र मिलते हैं, जिनमें हम एक प्रकार के पात्रों को उच्च वर्ग का, और दूसरे प्रकार के पात्रों को निम्न वर्ग का पात्र कह सकते हैं। सामाजिक कथाओं के उच्च वर्ग के पात्रों में भी गतिशीलता नहीं दिखाई पड़ती। ऐतिहासिक पात्रों की भाँति उनमें सजीवता नहीं मिलती। निम्न वर्ग के पात्रों में किसी प्रकार का आकर्षण नहीं है।

वर्माजी के नाटकों में पुरुष पात्रों की भाँति नारी पात्र भी मिलते हैं। उनके नारी पात्र भी पुरुष पात्रों की भाँति ही दो वर्ग के हैं, जिनमें हम एक को उच्च वर्ग का, और दूसरे को निम्न वर्ग का कह सकते हैं। उनके उच्च वर्ग के नारी पात्रों में अधिकांश का सम्बन्ध राज्य वंशों से है। उनके पुरुष पात्रों में जिस प्रकार संघर्ष शीलता दिखाई पड़ती है, ठीक इसके विपरीत उनके स्त्री पात्रों में कोमलता, सरसता, और मधुरता मिलती है। उन्होंने अपने स्त्री पात्रों के चरित्रों में भारतीयता की पूर्ण रूप

से रक्षा की है। भारतीय संस्कृति के अनुसार ही उनके नारी पात्र मधुर, और सुकोमल होते हुए भी समय पर पुरुषों का पथ प्रदर्शन करते हैं, और जीवन की स्थितियों से संघर्ष करने के लिए उन्हें प्रोत्साहित करते हैं। वर्माजी के पुरुष या स्त्री-दोनों ही प्रकार के पात्र अधिक सरल हैं। उनमें न किसी प्रकार का रहस्य है, और न अधिक आंतरिक द्वन्द ही। उनके पात्र अन्तर्जगत के अधिक पुजारी न बन कर वाह्य जगत में ही रहते हैं। उनकी आसक्ति वाह्य जगत से ही अधिक दिखाई पड़ती है। जीवन की स्थितियों से संघर्ष करने की उनमें जो भावना है, उसका एक मात्र कारण उनकी यह सांसारिक आसक्ति ही है।

वर्माजी ने अपने पात्रों के संवादों और उनके कथोपकथन पर दृढ़ता के साथ अपने ध्यान को केन्द्रित रक्खा है। उन्होंने पात्रों के संवादों, और कथोपकथनों को कहीं भी सीमा और मर्यादा से बाहर नहीं जाने दिया है। संवादों में सदैव उनका लक्ष्य उनके सामने रहता है। संवादों के द्वारा उन्होंने अपने चार उद्देश्यों की पूर्ति की है—पात्रों के चरित्र पर प्रकाश पड़ता है, आंतरिक भाव ज्ञात होते हैं, कथा गतिशील बनती है, और घटना तथा स्थिति का भी पता चलता है। इन्हीं उद्देश्यों को सामने रख कर उन्होंने संवादों की योजना की है, और अपनी योजनाओं में उन्हें अधिक सफलता भी प्राप्त हुई है। उन्होंने अपनी संवाद योजना को अधिक से अधिक सरल बनाने की चेष्टा की है। सरलता के साथ ही साथ उनकी योजना में सरसता और मधुरता भी मिलती है। उनके पात्र आपस में बात चीत करते हुए एक दूसरे की मीठी चुटकियाँ भी लेते हैं। उनमें वाद-विवाद भी होता है। एक दूसरे के विरुद्ध तर्क भी उपस्थित करता है। इस प्रकार उनकी संवाद योजना में आकर्षक तत्त्वों का समावेश हुआ है। उनकी संवाद योजना में भावों की विविधता भी मिलती है। कहीं उसकी प्रकृति उत्तेजक है, तो कहीं शांत है। कहीं उसमें उत्साह के लिए प्रेरणा है, तो कहीं प्रेम की सरसता। उन्होंने अपनी संवाद योजना के अनुकूल ही भाषा का भी प्रयोग किया है। उन्होंने जहाँ जिस भाव की प्रतिष्ठापना की है, वहाँ उसके अनुकूल ही भाषा का भी प्रयोग किया है। उनके प्रत्येक प्रकार के भाव की भाषा सरल, गठी हुई और स्वाभाविक है।

वर्माजी ने दो प्रकार के नाटकों की रचना की है—ऐतिहासिक और सामाजिक। पूर्व की ओर, हंस मयूर, बीरबल, और झाँसी की रानी इत्यादि ऐतिहासिक नाटक हैं। ऐतिहासिक नाटकों में पूर्व की ओर और हंस मयूर अधिक महत्व पूर्ण हैं। 'पूर्व की ओर' का मन्थन करने पर ज्ञात होता है, कि उसमें तत्कालीन राजनीति, समाजनीति, अर्थनीति, और धर्मनीति का भली भाँति चित्रण हुआ है। आदि से लेकर अन्त तक इस प्रकार की घटनाएँ मिलती हैं, जो तत्कालीन जीवन पर भली भाँति प्रकाश डालती हैं। इसी प्रकार 'हंस मयूर' की घटनाएँ भी तत्कालीन जीवन का चित्र उपस्थित करती हैं। इन बातों को सामने रख कर हम यह कह सकते हैं, कि वर्माजी के ऐतिहासिक नाटकों में देश और काल की योजना सुचारुता के साथ

की गई है। उनके ऐतिहासिक नाटकों में, तत्कालीन जीवन के कुछ राजनीतिक और और धार्मिक चित्र ही नहीं मिलते, वरन् उनमें ऐसे भी चित्र मिलते हैं, जिन्हें आचार विचार, शिक्षा, वेश भूषा, और व्यवहार से सम्बन्ध रखने वाले चित्र कह सकते हैं। ऐतिहासिक नाटकों की भाँति ही सामाजिक नाटकों में भी देश और काल की योजना स्वाभाविकता के साथ की गई है। उनके सामाजिक नाटकों में जहाँ सामाजिक और राजनीतिक समस्याओं पर प्रकाश डाला गया है, वहाँ उनमें सामाजिक रीतियों, नीतियों, और विषमताओं के चित्र भी मिलते हैं। यद्यपि इन चित्रों के निर्माण में गंभीरता से काम नहीं लिया गया है, पर इसमें सन्देह नहीं कि वे सामाजिक स्थितियों को सामने प्रस्तुत करते हैं।

वर्माजी के नाटकों में अभिनय के तत्व प्रचुर परिमाण में मिलते हैं। अभिनय की दृष्टि से ही उन्होंने अपने नाटकों की रचना की है। उनके नाटकों की कथा अधिक सरल, व्यावहारिक, और प्रवाहमयी है। उन्होंने अपनी मूल कथा में प्रासंगिक कथाओं का समावेश बड़ी चतुराई के साथ किया है। उनकी आधिकारिक और प्रासंगिक कथाओं में पूर्ण सहयोग सा है। उनकी दोनों ही कथाएँ एक दूसरे से मिल कर अनुकूलता का वातावरण उत्पन्न करती हैं। उनकी कथा में सर्वत्र एक सा प्रवाह पाया जाता है। उनके अङ्क और दृश्य सभी छोटे छोटे हैं। अंकों की संख्या अधिक नहीं है। दृश्यों के स्थापन में दुरूह शास्त्रीय नियमों का विधान नहीं है। इसके प्रतिकूल दृश्य विधान को अधिक से अधिक सरल, और संक्षिप्त बनाने की चेष्टा की है। पात्रों के चरित्रों में द्वन्द नहीं है। अधिकांश चरित्र सरल, और स्पष्ट हैं। बात चीत और कथोपकथन में भी स्पष्टता और सरलता का ध्यान रखा गया है। कथोपकथन की भाषा भी अधिक सरल और अनुकूल है। आवश्यकतानुसार गीत की व्यवस्था की गई है। गीतों की योजना में भी अनुकूलता का ध्यान रक्खा गया है। स्थिति और वातावरण का प्रभाव 'गीतों' पर दिखाई पड़ता है। गीत बड़े नहीं, छोटे-छोटे हैं। गीतों के शब्द अपने भावों को स्पष्ट करने वाले हैं। 'रसों' की योजना में शास्त्रीयता को दूर रक्खा गया है। रसों की योजना पाश्चात्य शैली के अनुसार की गई है। रसों में शृङ्गार और हास्य रस ही वर्माजी के नाटकों में मुख्य रूप से पाया जाता है।

सेठ गोविन्ददास सुप्रसिद्ध नाटककार हैं। उन्होंने निम्नांकित नाटकों की रचना की है—कर्त्तव्य, हर्ष, शशिगुप्त, शेरशाह, कुलीनता, प्रकाश, सेवा पथ सिद्धांत

सेठ गोविन्ददास स्वातंत्र्य, दलित कुसुम, हिंसा या अहिंसा, महत्व किसे, बड़ा पापी कौन, दुःख क्यों, त्याग या ग्रहण, पाकिस्तान, भूदान, पतित सुमन, प्रेम या पाप, गरीबी या अमीरी, असन्तोष कहाँ, सुख किसमें, नवरस, विकास, षट दर्शन, और स्नेह या स्वर्ग। 'कर्त्तव्य' दो भागों में विभक्त है—कर्त्तव्य पूर्वार्द्ध और कर्त्तव्य उत्तरार्द्ध। यह पौराणिक नाटक है। पूर्वार्द्ध श्रीरामचन्द्र जी की कथा के आधार पर लिखा गया है, और उत्तरार्द्ध में श्री कृष्ण के जीवन की

झाँकिया हैं। 'कर्ण' की रचना पौराणिक कथा के आधार पर हुई है। इसका मुख्य चरित्र कर्ण है, जिसमें त्याग, दान और वीरता के चित्र हैं। हर्ष, शशि गुप्त, शेरशाह, और कुलीनता की रचना ऐतिहासिक वृत्तों के आधार पर हुई है। हर्ष की कथा का मुख्य नायक हर्षवर्द्धन और राज्यश्री है। कथा आदर्शोन्मुख है, और हृदय की परमोज्वल वृत्तियों से उल्लसित है। शशिगुप्त की कथा मौर्य काल की है। शशिगुप्त, जिसे चन्द्रगुप्त भी कहते हैं, इसका मुख्य नायक है। 'शेरशाह' मुसलमान बादशाह शेरशाह के जीवन से सम्बन्धित है। कुलीनता में कलचुरि राज्य वंश के चित्र हैं। विजयदेव इसका मुख्य पात्र है। दलित कुसुम, हिंसा या अहिंसा, बड़ा पापी कौन, दुःख क्यों, और त्याग या ग्रहण में वर्तमान समाज के भिन्न-भिन्न चित्र हैं। पाकिस्तान और भूदान में राजनीतिक तत्वों का समावेश हुआ है। पतित सुमन, और प्रेम या पाप की रचना में वैयक्तिक जीवन के तत्त्व लगे हुए हैं। गरीबी या अमीरी में आर्थिक विषमताओं का चित्रांकन है। असन्तोष कहाँ, और सुख किसमें में मन के द्वन्दों का विकास हुआ है।

सेठजी की नाट्यकला

सेठ गोविन्ददासजी की नाट्य-सम्पत्ति बहुत अधिक है। उन्होंने जीवन के विविध क्षेत्रों में प्रविष्ट होकर अपने नाटकों के लिए सामग्री ग्रहण की है। उन्होंने पौराणिक नाटकों की रचना की है, और ऐतिहासिक नाटकों की भी। उन्होंने राजनीतिक नाटक भी लिखे हैं, और समस्या प्रधान नाटक भी। विषय की दृष्टि से हम उनकी रचनाओं को पाँच वर्गों में विभाजित कर सकते हैं—पौराणिक, ऐतिहासिक, सामाजिक, राजनीतिक, और समस्या प्रधान। सेठजी की नाट्यकला के वास्तविक स्वरूप को समझने के लिए हमें उनके इन्हीं नाटकों के भीतर प्रवेश करना होगा।

कला का स्वरूप जिन तत्त्वों से गठित होता है, उनमें कथानक, वस्तु योजना, कार्य व्यापार, चरित्र चित्रण, और संवाद इत्यादि का महत्व पूर्ण स्थान होता है। अतः हम इन्हीं के विवेचन द्वारा सेठजी की नाट्यकला के स्वरूप को जानने की चेष्टा करेंगे। सेठजी के नाटकों में दो प्रकार के कथानक पाए जाते हैं। एक प्रकार के कथानक तो ऐतिहासिक हैं, और दूसरे प्रकार के कथानक सामाजिक। उनके दोनों ही प्रकार के कथानकों पर जब हम दृष्टिपात करते हैं, तो उनमें विचारों की मुख्यता पाते हैं। यद्यपि उनके कथानकों में घटनाओं का भी समावेश हुआ है, पर उनकी घटनाएँ भी इस प्रकार की हैं, जो विचारों के साथ ही साथ चलती हैं। इसी प्रकार स्थितियों पर भी विचारों का ही प्रकाश पड़ता है। उनके पात्र भी विचारों का ही अधिक आश्रय ग्रहण करते हैं। इस रूप में हम यह कह सकते हैं, कि कथानक की दृष्टि से उनकी कला विचार मूलक है। इसका कारण यह है, कि उनके नाटकों का कथानक किसी न किसी समस्या को ही लेकर प्रारम्भ होता है, और आदि से लेकर अन्त तक उस समस्या को सुलझाने वाले तत्त्व ही उसमें संचरण किया करते हैं। घटनाएँ, पात्र, स्थितियाँ आदि सभी उस समस्या को ही लेकर व्यस्त रहते हैं, परि-

शामतः उसके विकास में जो कला लगी है, वह विचार प्रधान हो गई है। कर्त्तव्य, सेवा पथ, कुलीनता, और स्पर्धा इत्यादि में उनके विचार-प्रधान कथानकों का विकास अधिक स्वाभाविकता के साथ हुआ है।

वस्तु योजना की दृष्टि से हम सेठजी की कला को अधिक व्यावहारिक कह सकते हैं। उन्होंने अपने नाटकों की वस्तु योजना में अधिक व्यावहारिकता और सरलता से काम लिया है। वस्तु योजना में अभिनयात्मकता की उन्होंने यथाशक्ति रक्षा की है। अभिनयात्मकता को दृष्टि में रख करके ही उन्होंने अपने नाटकों में अंकों, और दृश्यों की योजना की है। दृश्यों की योजना में उन्होंने दो रीतियों से काम लिया है। किसी किसी नाटक में तो उन्होंने अंकों से दृश्यों का काम भी लिया है, अर्थात् उनके किसी किसी नाटक में केवल अङ्क ही अङ्क हैं, दृश्य एक भी नहीं है। दृष्टांत के लिए महत्व किसे, बड़ा पापी कौन, और दुःख क्यों इत्यादि का नाम लिया जा सकता है। जिन नाटकों में उन्होंने दृश्यों का विधान किया है, उनमें अंकों, और दृश्यों में अधिक अनुकूलता पाई जाती है। उनके दृश्य-विधानों में अधिक सरलता, और व्यवस्था पाई जाती है। उन्होंने दृश्यों के विधान में कथानक की गति और उसके प्रवाह पर मुख्य रूप से ध्यान दिया है। उन्होंने दृश्यों का विधान इस प्रकार किया है, कि उनकी कथा की अबाधता निरन्तर जारी रहती है। हर्ष, कुलीनता, शशि गुप्त, कर्ण, प्रकाश, और अमीरी गरीबी इत्यादि में इसी प्रकार के दृश्य विधान मिलते हैं।

सेठजी की कला विचार प्रधान है। वह समस्याओं को ही लेकर चलती है, और अन्त तक समस्याओं को ही लेकर उलझी रहती है। यद्यपि उनकी कला में अभिनयात्मकता के तत्त्व हैं, और वह अपनी वस्तु योजना तथा रंग संकेतों में अपनी इस विशिष्टता का परिचय अधिक दृढ़ता के साथ देती है, पर फिर भी विचारों में व्यस्त रहने के कारण कई आवश्यक बातों की ओर उसका ध्यान नहीं जा सका है। यह तो मानना ही पड़ेगा, कि कथानक की सार्थकता कार्य-व्यापारों के चित्रण में ही दिखाई पड़ती है। सेठजी की चिन्तक नाट्यकला इस ओर से उदासीन दिखाई पड़ती है। उनकी कला का ध्यान कार्य-व्यापारों की ओर नहीं है। महत्व किसे, दुःख क्यों, बड़ा पापी कौन, और सन्तोष कहाँ इत्यादि में कार्य-व्यापारों का पूर्ण रूप से अभाव पाया जाता है। किन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं है, कि सेठजी की कला कार्य व्यापारों की कला में अनभिज्ञ है। कार्य-व्यापारों के प्रति उसमें उदासीनता अवश्य दिखाई पड़ती है, पर यह स्वीकार करना पड़ेगा, कि उसमें कार्य व्यापारों के चित्रण की कुशलता है। दृष्टांत स्वरूप कुलीनता, कर्ण, गरीबी या अमीरी इत्यादि नाटकों को लिया जा सकता है। इन नाटकों में कार्य-व्यापारों के चित्र बड़ी स्वाभाविकता के साथ खींचे गए हैं। शेष नाटकों में कार्य-व्यापारों के प्रति उनकी कला की उदासीनता ही दिखाई पड़ती है।

सेठजी के नाटक दो प्रकार के हैं—ऐतिहासिक और सामाजिक। कथानकों की

ऐतिहासिकता और सामाजिकता को दृष्टि में रखते हुए उनके पात्रों की भी दो श्रेणी की जा सकती है। उनके एक प्रकार के पात्र तो वे हैं, जो ऐतिहासिक हैं। ऐतिहासिक पात्रों में राजा, मन्त्री, दरबारी, सेनापति, और इसी प्रकार के अन्य लोग हैं, जिनका सम्बन्ध या तो राजकुलों से है, और या शासन-व्यवस्थाओं से। दूसरे प्रकार के पात्रों में ऐसे नागरिक हैं, जिनका सम्बन्ध आधुनिक समाज, आधुनिक राजनीति, आधुनिक शिक्षा, और आधुनिक शासन-व्यवस्था से है। जैसे—मिनिस्टर, जमींदार, व्यापारी, और वकील इत्यादि। इस प्रकार के सामाजिक पात्रों में विशिष्ट व्यक्तियों का ही समावेश हुआ है। यद्यपि उनके सामाजिक पात्रों में गरीब और मजदूर भी आए हैं, पर इस प्रकार के पात्रों की उनके सामाजिक नाटकों में बहुत अल्पता है। सेठजी के जीवन और उनके कार्यों को देखते हुए यह तो नहीं कहा जा सकता कि उनकी दृष्टि इस प्रकार के पात्रों की ओर गई ही नहीं; बल्कि इसके विपरीत उनके कार्यों पर दृष्टि डालने से इस बात का पता चलता है, कि वे प्रायः इस प्रकार के पात्रों के ही संपर्क में अधिक रहे हैं। उनके नाटकों में इस प्रकार के पात्रों की जो अल्पता दिखाई पड़ती है, उसका कारण उनकी चिन्तक शैली है। उनके सभी नाटक विचार प्रधान हैं। अतः उन्होंने अपने पात्रों का चुनाव भी इसी दृष्टि से किया है। पात्रों के चरित्र चित्रण की ओर भी सेठजी की कला का ध्यान नहीं जा सका है। उनकी कला इस दोष में भी विचारों को ले करके ही अधिक व्यस्त दिखाई पड़ती है। किन्तु इसका यह पार्थक्य नहीं है, कि उनके पात्रों के चरित्रों का विकास नहीं हुआ है। यद्यपि सेठजी की कला ने चरित्र चित्रण की ओर विशेष रूप से ध्यान नहीं दिया है, पर उनके नाटकों में चरित्रों का विकास यथावत् रूप में हुआ है। इसका कारण उनके पात्रों की सजीवता है। उनके पात्र स्वयं ही अपने चरित्र को उपस्थित करते हैं, और उसे आगे भी बढ़ाते हैं। उनके पात्रों में आदर्शवादी और यथार्थवादी दोनों ही प्रकार के पात्र हैं। उनके दोनों ही प्रकार के पात्र सजीव और कर्मठ हैं। उनके पात्रों की भाषा विभिन्न प्रकार की है, अर्थात् जो जिस वर्ग का पात्र है, वह उसी वर्ग की भाषा में बातें भी करता है। इस प्रकार उनके नाटकों में कई प्रकार की भाषा मिलती है। शुद्ध हिन्दी भी मिलती है, और बहुत ही साधारण हिन्दी भी। साहित्यिक भाषा भी मिलती है, और असाहित्यिक भाषा भी दिखाई पड़ती है। ऐसी भी भाषा उनके नाटकों में मिलती है, जिसे हम मिश्रित भाषा कह सकते हैं। सभी प्रकार की भाषाओं को देखते हुए हम उनकी भाषा को सरल और स्वाभाविक भाषा कह सकते हैं।

सेठजी के नाटकों में नाटक के तत्त्व

अब हम सेठजी के नाटक तत्त्वों पर विचार करेंगे। सर्व प्रथम हम उस तत्त्व को लेते हैं, जिसे कथानक कहते हैं। कथानक की दृष्टि से हम सेठजी के नाटकों को तीन वर्गों में विभक्त कर सकते हैं—पौराणिक, ऐतिहासिक, और सामाजिक। कर्त्तव्य और कर्म में पौराणिक कथा का समावेश हुआ है। पौराणिक कथाओं में उन्होंने ऐसी कथाएँ चुनी

हैं, जिन्हें भारतीय संस्कृति के आदर्शों का प्रतीक कहा जा सकता है। उनके कर्त्तव्य के एक भाग में श्रीरामचन्द्रजी के जीवन से सम्बन्धित कथा है, और दूसरे भाग में श्रीकृष्णजी के जीवन से सम्बन्ध रखने वाली। श्री रामचन्द्रजी के जीवन से संबंधित कथा में कर्त्तव्य और मर्यादा-पालन के मनोरम चित्र हैं। कथानक का उद्देश्य कर्त्तव्य और मर्यादा-पालन के चित्रों को ही स्पष्ट करना है। कथा में ऐसे तत्त्वों का समावेश हुआ है, जो उसके उद्देश्य की पूर्ति में सहायता प्रदान करते हैं। कथा का विकास लक्ष्य और उद्देश्य को दृष्टि में ही रख कर किया गया है। श्रीकृष्णजी के जीवन से सम्बन्ध रखने वाली कथा में मर्यादा-पालन से कर्त्तव्य को उच्चता और मुख्यता प्रदान की गई है। कथा में कर्त्तव्य पालन के मार्ग में मर्यादा की उपेक्षा की गई है। कर्त्तव्य को सर्वोपरि प्रमाणित करना ही कथा का उद्देश्य है। कथा के विकास में उद्देश्य की रक्षा की गई है। 'कर्ण' की कथा भी पुराण से ही ली गई है। कर्ण की कथा समस्यात्मक है। उसमें समाज की कुछ महत्व पूर्ण समस्याओं को सुलझाने की चेष्टा की गई है, जिनमें कुमारी से उत्पन्न सन्तान और निम्न वर्ग में उत्पन्न महावीर की समस्या प्रमुख है।

कथानक की दृष्टि से दूसरे प्रकार के उनके नाटक वे हैं, जिन्हें हम ऐतिहासिक कहते हैं। ऐतिहासिक नाटकों में हर्ष, कुलीनता, शशि गुप्त, और राज्यश्री का महत्व पूर्ण स्थान है। हर्ष की कथा वर्द्धन काल की है। हर्ष स्वयं इस कथा का नायक है। कथा का विकास हर्ष, और राज्यश्री के ही चरित्रों द्वारा हुआ है। राज्यश्री हर्ष की बहन है, जो विधवा है। कथा में आदि से लेकर अन्त तक विधवा विवाह की ही समस्या के ही तत्त्व मिलते हैं। हर्ष की कथा में 'विधवा विवाह' की समस्या को ही सुलझाने का प्रयत्न किया है। 'कुलीनता' में गोड़ काल की कथा का संचरण है। कुलीनता की कथा का विकास 'कुलीनता' और 'अकुलीनता' की समस्याओं को लेकर किया गया है। 'शशिगुप्त' का कथानक चन्द्रगुप्त के शासन काल का है। शशि गुप्त को ही चन्द्रगुप्त भी कहते। 'शशिगुप्त' की कथा द्वन्द्वात्मक है। इसके कथानक में प्रेम, और राष्ट्रीय समस्याओं को सुलझाने की चेष्टा की गई है। 'शेरशाह' की कथा में शेरशाह के जीवन के चित्र हैं, जिसमें विद्रोह की भावना की प्रमुखता है।

कथानक की दृष्टि से इनके तीसरे प्रकार के नाटक वे हैं, जिनकी रचना सामाजिक कथाओं के आधार पर हुई है। इन नाटकों में 'बड़ा पापी कौन, गरीबी या अमीरी, सेवापथ, प्रकाश, दुःख क्यों, और 'महत्व किसे' आदि मुख्य हैं। बड़ा पापी कौन के कथानक में 'पाप' की समस्या पर प्रकाश डाला गया है। 'गरीबी और अमीरी' की कथा में श्रमिक जीवन की समस्याओं के चित्र हैं। 'सेवा पथ' की कथा के विकास में गाँधीवाद का योग है। 'प्रकाश' के कथानक का निर्माण नई और प्राचीन संस्कृतियों के तत्त्वों से हुआ है। नई और प्राचीन संस्कृतियों के संघर्ष द्वारा ही कथानक को आगे बढ़ाया गया है। 'दुःख क्यों' और 'महत्व किसे' की कथा के

विकास में राष्ट्र की वर्तमान समस्याओं के तत्त्व जुटे हुए हैं। इस प्रकार सेठजी के सभी नाटकों की कथाओं में समस्याओं पर ही प्रकाश डाला गया है। उन्होंने समस्या की दृष्टि से ही अपने कथानकों का निर्माण किया है। उनके सभी प्रकार के कथानकों का विकास समस्याओं के ही विवेचन के वातावरण में हुआ है। पर उनका यह विवेचन न तो अधिक द्वन्द्वात्मक है, और न उसमें मनोवैज्ञानिकता का ही समावेश पाया जाता है। समस्याओं के विवेचन में वे उनके भीतर प्रवेश न करके, उनके बाह्य रूप तक ही अपने को केन्द्रित रखते हैं। कुछ अंशों में हम इस बात को उनके कथानकों का गुण मानते हैं। उनके नाटकों के कथानकों में जो सरलता और प्रवाहमयता है, उसका एक मात्र-कारण यही है, कि समस्याओं के विवेचन में उन्होंने अपनी कला को मनोवैज्ञानिकता से कुछ अंशों तक दूर ही रखने का प्रयत्न किया है।

नाटक के तत्त्वों में दूसरा स्थान वस्तु का होता है। वस्तु की दृष्टि से जब हम सेठजी के नाटकों पर विचार करते हैं, तब हम यह देखते हैं, कि इस क्षेत्र में उनकी कला सबसे अधिक सफलता के निकट है। सेठजी ने अपने नाटकों में वस्तु-योजना अधिक कुशलता के साथ की है। उनकी वस्तु-योजना पर पाश्चात्य शैली की छाप है। पाश्चात्य शैली में भी विशेष रूप से वे इब्सेन से अधिक प्रभावित हैं। अङ्कों, दृश्यों, और रंग संकेतों के विधान में इन्होंने प्रायः इब्सेन की शैली को ही ग्रहण किया है। उन्होंने अङ्कों, दृश्यों, और रंग संकेतों के स्थापन में जिस रीति से काम लिया है, उसके कारण उनके अंकों, दृश्यों, और रंग संकेतों में साम्य और अनुकूलता दिखाई पड़ती है। इसी अनुकूलता और साम्य के कारण उनके कथा प्रवाह में कहीं भी बाधा उपस्थित नहीं हो सकी है। एक ओर अंकों, दृश्यों, और रंग संकेतों के व्यवस्थित विधानों ने उनके नाटकों की नाट्यात्मकता की अभिवृद्धि की है, तो दूसरी ओर उनकी कथात्मकता ने उनमें प्राण और जीवन-शक्ति का संचार किया है। कथाओं की कथात्मकता को सुरक्षित रखने के लिए ही उन्होंने अपनी आधिकारिक कथाओं में प्रासंगिक कथाओं का योग बहुत कम अंशों में किया है। जहाँ कहीं आधिकारिक कथाओं में प्रासंगिक कथाएँ मिलती हैं, वहाँ ऐसी कुशलता के साथ मिलती हैं, कि वे एक सी हो गई हैं; परिणाम स्वरूप ऐसे स्थलों में भी उनकी कथात्मकता के विकास में बाधा नहीं उपस्थित हो सकी है। अधिक घटनाओं, द्वन्दों, और विश्लेषणों के अभाव ने भी उनकी कथात्मकता के विकास में सहायता पहुँचाई है। इस प्रकार आदि से लेकर अन्त तक उचित अङ्कों, दृश्यों, और रंग-संकेतों के बीच में उनकी कथात्मकता का उचित रूप से विकास हुआ है।

वस्तु योजना के पश्चात् हम उस तत्त्व पर विचार करेंगे, जिसे पात्र कहते हैं। सेठजी के सभी नाटक समस्या और विचार मूलक हैं। उन्होंने अपने सभी नाटकों में, किसी न किसी समस्या पर ही प्रकाश डालने का प्रयत्न किया है। उनके नाटकों में घटनाओं की नहीं, विचारों की ही प्रधानता है। अपने नाटकों के अनुरूप ही उन्होंने पात्रों की योजना भी की है। उनके सभी नाटकों के पात्र पढ़े लिखे, शिक्षित,

बुद्धिवादी, और उच्च वर्ग के व्यक्ति हैं। उनके सभी पात्रों के पास अपनी सूझ-बूझ और अपनी विवेचना शक्ति है। किसी बात या विषय की विवेचना करते हुए उनके पात्रों को समय, समाज, और राष्ट्र की पूरी पूरी चिन्ता रहती है। वे ऐसी बातों को बड़ी निर्भीकता के साथ मानने से अस्वीकार कर देते हैं, जो युग के विपरीत होती हैं, और युग के विपरीत होने के कारण जिनसे समाज और राष्ट्र की क्षति होने की सम्भावना होती है। उनके सामाजिक और राजनीतिक कथानकों के पात्र तो इस बात का ध्यान रखते ही हैं, पौराणिक और ऐतिहासिक पात्रों में भी युग के अनुसार ही आदर्शों को मानने और न मानने की भावना दिखाई पड़ती है। इन बातों को देखते हुए हम यह कह सकते हैं, कि सेठजी के नाटकों के सभी पात्र बुद्धिवादी और अनुभवी हैं। उनके पात्रों में सिद्धान्तों की दृष्टि से कई प्रकार के पात्र पाए जाते हैं, अर्थात् उनके पात्रों में कुछ ऐसे पात्र हैं, जिन्हें हम आदर्शवादी कह सकते हैं, कुछ ऐसे हैं, जिन्हें यथार्थवादी कहा जा सकता है, और कुछ ऐसे भी हैं, जो समय और अवसर के अनुसार ही अपना रंग भी बदलते हुए दिखाई पड़ते हैं। ऐसे पात्रों को अवसरवादी कहना उचित होगा। स्त्री पात्रों में प्रायः सभी आदर्शवादिनी और कर्त्तव्य-परायण हैं।

सेठजी के सभी पात्रों की अपनी अपनी भाषा है। उन्होंने अपने पात्रों के संवादों और कथोपकथनों में उन्हीं के अनुरूप भाषा का भी प्रयोग किया है; परिणाम स्वरूप उनके नाटकों में कई प्रकार की भाषा मिलती है, जिसे हम हिन्दी, अहिन्दी और मिश्रित भाषा कह सकते हैं। उनकी शुद्ध हिन्दी संस्कृत निष्ठ और काव्य के तत्वों से परिपुष्ट है। संवादों में उन्होंने व्याख्यात्मक शैली से काम लिया है। कहीं संवाद छोटे हैं, और कहीं-कहीं संवादों का विस्तृत रूप भी मिलता है। जहाँ कहीं संवादों ने विस्तृत रूप धारण कर लिया है, वहाँ नीरसता उत्पन्न हो गई है। छोटे छोटे वाक्यों से संयुक्त उनके छोटे संवाद अधिक सरल, सरस, और काव्य के तत्वों से परिपुष्ट हैं।

सेठजी के सभी नाटक समस्या और विचार मूलक हैं। उन्होंने अपने नाटकों के कथानकों में केवल उन्हीं बातों पर बल दिया है, जो समस्यामय हैं, अथवा जिनसे समस्याओं पर प्रकाश डालने में सहायता मिलती है; परिणाम स्वरूप उनके नाटकों के कथानक देश और काल का प्रतिबिंब नहीं बन सके हैं। उनके कथानक संस्कृति और जीवन के केवल एक ही छोर को छूकर रह गए हैं। पौराणिक और ऐतिहासिक नाटकों की अपेक्षा उनके सामाजिक नाटकों में देश और काल का चित्रण सुचारुता के साथ हुआ है। पौराणिक और ऐतिहासिक नाटकों के क्षेत्र में जहाँ उनकी कला देश और काल के एक ही छोर को छूकर रह गई है, वहाँ सामाजिक नाटकों के क्षेत्र में सम्पूर्ण जीवन पर भी दृष्टि डालती है। सामाजिक नाटकों में उनकी कला की दृष्टि विस्तृत क्षेत्र में घूमती हुई दिखाई पड़ती है। सामाजिक नाटकों में वह देश और काल की एक ही स्थिति की समस्या में न उलझ कर सभी प्रकार की समस्याओं पर विचार

करती हैं। अतः हम यह कह सकते हैं, कि उनके सामाजिक नाटकों में देश और काल की योजना सफलता के साथ हुई है।

गीत नाटक का एक प्रमुख तत्त्व है। गीत के ही द्वारा नाटक में काव्य के तत्त्वों की रक्षा होती है। गीत से नाटक में सरसता, और मधुरता भी उत्पन्न होती है। नाटकों में गीत का स्थापन एक कला है। सेठजी इस कला में निपुण दिखाई पड़ते हैं। उन्होंने अपने नाटकों में गीतों की व्यवस्था में समय, अनुकूलता, और स्वाभाविकता को महत्व दिया है। उनके वही पात्र गाते हैं, जिन्हें गाना चाहिए। कहीं कहीं उनके ऐसे भी पात्र गाते हैं, जो अधिक आदर्शवादी हैं। जैसे—सीता और राधा इत्यादि। उनके गीत कहीं तो अधिक बड़े हैं, और कहीं छोटे। बड़े-बड़े गीतों में उतना आकर्षण नहीं है, जितना छोटे गीतों में है। उनके छोटे गीत अधिक सरस और भावमय हैं। गीतों की व्यवस्था में एक ही बात खटकती है, और वह है गीतों की अधिक संख्या। प्रकाश, और 'सुख किसमें' को छोड़ कर उनके सभी नाटकों में अधिक संख्या में गीत मिलते हैं। गीतों की व्यवस्था में उन्होंने समय और अनुकूलता का ध्यान रक्खा है, पर यह होते हुए भी कहीं कहीं गीतों की अधिक संख्या अरुचि कर प्रतीत होती है।

सेठजी ने अपने सभी नाटकों का निर्माण अभिनय की दृष्टि से किया है। यही कारण है, कि उनके नाटकों में अभिनयात्मकता है। उनके सभी नाटक सरलता पूर्वक रंग मंच पर खेले जा सकते हैं। कथानक, वस्तु, पात्र, संवाद, संगीत इत्यादि प्रत्येक दृष्टि से उनके नाटक अभिनेय हैं। रस योजना में सेठजी की कोई निश्चित प्रणाली नहीं है। उनके नाटकों में विभिन्न रस मिलते हैं, जिनमें शृङ्गार, वीर, अद्भुत, शांत, और करुण के नाम का उल्लेख प्रमुख रूप से किया जा सकता है।

हिन्दी नाटक—आधुनिक काल

आधुनिक काल प्रसाद युग के पश्चात् १९३४ ई० से प्रारम्भ होता है। प्रसाद काल में हिन्दी की नाट्यकला अपनी प्रौढ़ता पर पहुँची हुई दिखाई पड़ती है। विषय, उद्देश्य, कथानक, पात्र, चरित्र चित्रण, शैली और भाषा-प्रत्येक क्षेत्र में उसकी अपनी प्रौढ़ता दिखाई पड़ती है। प्रसाद काल में जो रचनाएँ प्रस्तुत हुई हैं, उनमें कला की सूक्ष्मता और निपुणता है। उनमें देश काल और संस्कृति का प्रतिबिंब होने के साथ ही साथ जीवन का भी प्रतिबिंब है। उनके निर्माण में भारतीय नाट्य परम्परा के साथ ही साथ पाश्चात्य शैली को भी स्थान दिया गया है। भावों की विविधता भी उनमें मिलती है। प्रेम, करुणा, साहस, हर्ष, संयोग, वियोग, उत्साह, और वीरता इत्यादि मनोविकारों के उनमें उत्साह वर्द्धक चित्र मिलते हैं। आधुनिक काल प्रसाद-युग की विशिष्टताओं पर ही आधारित है। आधुनिक काल में प्रसाद युग की विशिष्टताएँ तो हैं ही, साथ ही उसकी अपनी कुछ विशेषताएँ भी हैं। आधुनिक काल पाश्चात्य कला से अधिक प्रभावित दिखाई पड़ता है। यद्यपि पाश्चात्य नाट्यकला का प्रभाव प्रसाद युग की रचनाओं पर भी पड़ा था, पर उतना नहीं, जितना आधुनिक काल की रचनाओं पर उसका प्रभाव दिखाई पड़ता है। आधुनिक काल के कई एक ऐसे कलाकार हैं, जिनकी रचनाओं को पाश्चात्य कला ने अधिक प्रभावित किया है। कुछ ऐसे भी कलाकार हैं, जो पाश्चात्य कला को ही अपना आदर्श मान कर नाट्य-रचना के मार्ग पर चल रहे हैं। आधुनिक काल में समस्या प्रधान नाटकों के निर्माण की अधिकता में पाश्चात्य कला का ही अधिक हाथ है। आधुनिक काल में एकांकी नाटकों की भी अधिक रचना हुई है। एकांकी नाटकों की रचना के मूल में भी पाश्चात्य कला का ही प्रभाव अन्तर्निहित है।

आधुनिक काल को हम दो विभागों में विभक्त कर सकते हैं—प्रथम उत्थान और द्वितीय उत्थान। आधुनिक काल के प्रथम उत्थान में तीन प्रकार की रचनाएँ हुई हैं—पौराणिक, ऐतिहासिक, और समस्या मूलक। पौराणिक कलाकारों में सेठ गोविन्ददास और उदयशङ्कर भट्ट इत्यादि का नाम उल्लेखनीय है। ऐतिहासिक नाटकों के प्रणेताओं में सेठ गोविन्ददास, श्री उदयशङ्कर भट्ट, श्री गोविन्द वल्लभ

पन्त, श्री उपेन्द्रनाथ 'अश्क' और श्री हरिकृष्ण प्रेमी इत्यादि का महत्व पूर्ण स्थान है। समस्या मूलक नाटककारों में श्री पं० लक्ष्मी नारायण मिश्र, श्री गोविन्द वल्लभ पन्त, श्री वृन्दावन लाल वर्मा, और श्री उपेन्द्रनाथ अश्क का नाम उल्लेखनीय है। प्रथम उत्थान में एकांकी नाटकों की भी अधिक संख्या में रचना हुई है। एकांकी नाटकों के रचयिताओं में श्री भुवनेश्वर, श्री गणेशप्रसाद द्विवेदी, श्री रामकुमार वर्मा, श्री उदयशङ्कर भट्ट, श्री गोविन्ददास सेठ, और अश्क ने मुख्याति प्राप्त की है।

प्रथम उत्थान की भाँति द्वितीय उत्थान में भी तीन प्रकार के नाटक लिखे गए हैं— पौराणिक, ऐतिहासिक, और समस्या मूलक। द्वितीय उत्थान १६४२ से प्रारंभ हो कर अब तक चल रहा है। द्वितीय उत्थान के भी प्रायः वही कलाकार हैं, जो प्रथम उत्थान के हैं। इन कलाकारों की जो रचनाएँ १६४२ के पश्चात् प्रकाशित हुई हैं, उनकी गणना द्वितीय उत्थान में की जाती है। प्रथम और द्वितीय उत्थान की रचनाओं में बहुत कम अन्तर है। द्वितीय उत्थान में देश को स्वतन्त्रता प्राप्त हुई है। अतः द्वितीय उत्थान में कुछ ऐसी रचनाएँ प्रकाशित हुई हैं, जिनमें राष्ट्रीय समस्याओं पर अधिक स्वतन्त्रता के साथ प्रकाश डाला गया है। द्वितीय उत्थान में अधिकतर समस्या मूलक रचनाओं की ही निर्माण हुआ है। द्वितीय उत्थान में पौराणिक रचनाएँ बहुत कम प्रकाशित हुई हैं। प्रथम उत्थान की भाँति द्वितीय उत्थान में भी एकांकी नाटक अधिक संख्या में लिखे गए हैं।

आधुनिक काल के निर्माण में कई यशस्वी कलाकार योग दे रहे हैं। इन कलाकारों में श्री वृन्दावन लाल वर्मा, सेठ गोविन्ददासजी, श्री गोविन्द वल्लभ पन्त, श्री

आधुनिक काल के नाटककार — उदयशङ्कर भट्ट, श्री पं० लक्ष्मी नारायण मिश्र, श्री डा० रामकुमार वर्मा, श्री हरिकृष्ण प्रेमी, उपेन्द्रनाथ अश्क, माखनलाल चतुर्वेदी, श्री जगन्नाथ प्रसाद मिलिंद, श्री उग्र, श्री सुदर्शन, श्री सुमित्रानन्दन पन्त, श्री वियोगी हरि, श्री पृथ्वीनाथ इत्यादि का महत्व पूर्ण स्थान है। श्री वृन्दावन लाल वर्मा, और श्री गोविन्ददासजी के नाटकों की विवेचना हम प्रसाद काल में कर चुके हैं। यहाँ अब हम उन नाटककारों की नाट्य कृतियों की विवेचना करेंगे, जो आधुनिक काल में अपना महत्व पूर्ण स्थान रखते हैं। डाक्टर रामकुमार वर्मा, श्री उदयशङ्कर भट्ट, और श्री 'अश्क' इत्यादि ने एकांकी नाटकों की रचना में अधिक सुख्याति प्राप्त की है। अतः हम 'एकांकी' स्तम्भ में ही इनकी रचनाओं पर विस्तृत रूप से प्रकाश डालेंगे। यहाँ हम केवल उन्हीं नाटककारों की रचनाओं की समीक्षा करेंगे, जिन्होंने मुख्य रूप से नाट्य रचना के क्षेत्र में ही अपनी प्रतिभा का प्रदर्शन किया है।

श्री गोविन्द वल्लभ पन्त सुप्रसिद्ध नाटककार हैं। उन्होंने निम्नांकित नाटकों की रचना की है—कंजूस की खोपड़ी, राजमुकुट, वरमाला, अंगूर की बेटी, अन्तःपुर

श्री गोविन्द वल्लभ पन्त का छिद्र, सिन्दूर बिन्दी, और ययाति। विषय की दृष्टि से हम इनके नाटकों को तीन वर्गों में विभक्त कर सकते हैं—पौराणिक, ऐतिहासिक, और सामाजिक। 'वरमाला' और ययाति की रचना पौराणिक कथाओं के आधार पर हुई है। 'राजमुकुट' और 'ययाति' का कथानक ऐतिहासिक पृष्ठों से लिया गया है। अंगूर की बेटी, और सिन्दूर-बिन्दी के कथानकों का निर्माण सामाजिक तत्त्वों से हुआ है। रूप और शैली की दृष्टि से भी इनके नाटक तीन वर्गों में विभक्त किये जा सकते हैं—नाटक, भाव नाट्य, और प्रहसन। राजमुकुट, अंगूर की बेटी, सिन्दूर बिन्दी और ययाति नाटक हैं। 'वरमाला' और अन्तःपुर का छिद्र भाव नाट्य है। कंजूस की खोपड़ी प्रहसन है।

पन्तजी की रचनाओं का मन्थन करने पर यह ज्ञात होता है, कि उनकी कला को प्राचीन नाट्य परम्परा के प्रति आसक्ति है। आधुनिक काल में, जब नवीन नाट्य कला ने चारों ओर अपना पङ्ख फैलाया है; तब भी उनकी कला प्राचीनता के मोह का परित्याग नहीं करती। अन्तःपुर का छिद्र, वरमाला और राजमुकुट में उनका यह मोह स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है। उन्होंने अपने इन नाटकों में प्राचीन परम्परा विधि का पालन बड़ी स्वतन्त्रता के साथ किया है। जैसे—अन्तःपुर का छिद्र में मङ्गलाचरण के साथ नाटक का प्रारम्भ, स्वगत कथन, और राजमुकुट तथा अंगूर की बेटी में स्वगत कथन, और भरत वाक्य का कई स्थानों में प्रयोग। पात्रों के चुनाव में भी उनकी कला प्राचीन परम्परा विधि का ही अनुसरण करती हुई दिखाई पड़ती है। पात्रों में जो प्रमुख पात्र हैं, उनके गुणों का निर्धारण उन्होंने प्राचीन सिद्धांतों को ही आधार मान कर किया है। उनके नाटकों के प्रमुख पात्र अधिकतर उच्चकुलों के हैं, दूसरे शब्दों में उनके नाटकों के प्रायः सभी नायक या तो धीर ललित हैं, या धीरोदात्त हैं। जैसे—अन्तःपुर का छिद्र का उदयन, और 'वरमाला' का अवीक्षित इत्यादि। निम्नकोटि के पात्रों के चुनाव में भी उनकी कला प्राचीन परम्परा से अधिक प्रभावित दिखाई पड़ती है।

पन्तजी की कला का तात्पर्य

किन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं है, कि उनकी कला पूर्ण रूप से प्राचीन परंपरा के ही साँचे में ढली हुई है। इसमें सन्देह नहीं, कि उनकी कला अपने निर्माण के लिए प्राचीन परंपरा से सहायता लेती है, किन्तु इसमें भी सन्देह नहीं, कि उनकी कला पर उस नवीन कला का भी प्रभाव है, जो पाश्चात्य कला से अधिक प्रभावित है। उनकी वस्तु योजना पर स्पष्ट रूप से पाश्चात्य कला का प्रभाव दिखाई पड़ता है। रसों, और मनोविकारों के प्रदर्शन में उन्होंने पाश्चात्य शैली से ही काम लिया है। पाश्चात्य कलाके अनुसार ही उनकी कला का झुकाव किसी विशेष रस निष्पत्ति की ओर नहीं है। वह रस के क्षेत्र में 'रस' की चिन्ता न करके अपने उद्देश्य की ओर ही बढ़ती हुई दिखाई पड़ती है। नाटक के भीतर विविध मनोविकारों का संघर्ष पाश्चात्य विधि के ही अनुसार हुआ है। अंकों, और दृश्यों की स्थापना में भी पाश्चात्य शैली

का ही अनुसरण किया गया है। गीतों की योजना पर पारसी रंग मंच का रंग है। इस प्रकार हम यह कह सकते हैं, कि पन्तजी की कला प्राचीन परम्परा, पाश्चात्य नाट्यकला, और पारसी कला की एक समष्टि है।

पन्तजी की नाट्य रचनाओं में नाटक के तत्त्वों का विकास साधारण रूप में हुआ है। इसका यह तात्पर्य नहीं है, कि उनकी रचनाएँ साधारण कोटि की हैं। उनकी रचनाएँ उत्कृष्ट अवश्य हैं, पर उनके द्वारा किसी विशेषता का आविर्भाव नहीं हो सका है। कथानक की दृष्टि से उनकी रचनाओं को हम तीन वर्गों में विभक्त कर सकते हैं—पौराणिक, ऐतिहासिक, और सामाजिक। 'वरमाला' और ययाति की रचना पौराणिक कथा के आधार पर हुई है। वरमाला की कथा मार्कंडेय पुराण की है। कथा का विकास स्वाभाविकता के साथ हुआ है। 'वरमाला' के कथानक में कहीं कहीं ऐसे भी तत्त्व मिलते हैं, जिनके कारण कथा-प्रवाह में शैथिल्य उत्पन्न हो गया है। 'ययाति' की कथा भी पौराणिक है। ययाति' में भी कथा के कथानकत्त्व की रक्षा की गई है। 'राजमुकुट' और अन्तःपुर का छिद्र ऐतिहासिक कथाओं के आधार पर निर्मित हुआ है। राजमुकुट की कथा पन्नाधाय, और राणुउदयसिंह की कथा है। कथा आकर्षक है, उसमें त्याग, और बलिदान के आदर्श चित्र हैं। कथा का सचरण स्वाभाविकता और अनुकूलता की स्थिति में हुआ है। 'अन्तःपुर का छिद्र' की कथा उज्जयिनी के नृपति उदयन के जीवन की कथा है। कथा में ऐतिहासिक तत्त्वों के साथ ही साथ कल्पना के भी तत्त्व हैं। 'अंगूर की बेटी' और 'सिन्दूर बिन्दी' की रचना सामाजिक कथाओं के आधार पर हुई है। 'अंगूर की बेटी' के कथानक में शराब के दुष्परिणामों के चित्र हैं। कथानक के विकास में उद्देश्य की रक्षा की गई है। 'सिन्दूर की बिन्दी' की कथा नारी जीवन की समस्या को लेकर चलती है।

पन्तजी के नाटक अभिनेय हैं। उनके कई नाटकों का सफलता के साथ अभिनय हो चुका है। उनके नाटकों में जो अभिनयात्मकता मिलती है, उसका एक मात्र कारण उनकी वस्तु-योजना है। उनकी वस्तु योजना अधिक सरल और आकर्षक है। उन्होंने अंकों, और दृश्यों का स्थापन पाश्चात्य शैली के अनुसार किया है। अङ्कों और दृश्यों के स्थापन में उनकी चतुरता दिखाई पड़ती है। उन्होंने अकों और दृश्यों का स्थापन कथा की कथात्मकता को दृष्टि में रख कर किया है। अंकों और दृश्यों के स्थापन में उन्होंने जिस रीति से काम लिया है, उसके कारण उनका कथानक अधिक प्रभाव पूर्ण बन गया है। उन्होंने अपने कथानक के जीवित और ओजस्वी तत्त्वों को कई भागों में विभक्त किया है; परिणाम स्वरूप उनका प्रत्येक अंक, और प्रत्येक दृश्य कथानक के जीवित तत्त्वों से प्राणमय बना हुआ दिखाई पड़ता है। इसी प्रकार उनके कथानक के रहस्यात्मक चित्र भी प्रत्येक अंक और दृश्य में सामने आते हैं।

पन्तजी के नाटकों में दो प्रकार के पात्र पाए जाते हैं। उनके एक प्रकार के

पात्रों को हम उच्च श्रेणी का, और दूसरे प्रकार के पात्रों का निम्न श्रेणी का पात्र कह सकते हैं। उच्च श्रेणी के पात्रों में, नायक का चुनाव उन्होंने प्राचीन नाट्य विधि के अनुसार किया है। प्राचीन नाट्य विधि के अनुसार उनके नाटकों में तीन प्रकार के नायक पाए जाते हैं—धीर ललित, धीरोदात्त, और शठ। 'अन्तःपुर का छिद्र' में उदयन धीर ललित की श्रेणी में आता है। 'वरमाला' के अवीक्षित में धीरोदात्त के गुण मिलते हैं। 'राजमुकुट' के बनवीर को 'शठ' कहा जा सकता है। पुरुषों की भाँति ही उनके स्त्री पात्रों की भी उत्तम और मध्यम दो श्रेणियाँ हैं। वैशालिनी, पद्मा, और विन्दु इत्यादि की गणना उत्तम पात्रों में की जा सकती है। मारंगिनी और शीतल सेनी मध्यम कोटि के पात्र हैं। पात्रों के चरित्र का विकास सुचारुता और स्वाभाविकता के साथ नहीं हो सका है। पात्र उच्चकोटि के अवश्य हैं, पर उनके चरित्रों में कोई आदर्श की बात नहीं दिखाई पड़ती। उनके पात्र अपना जो चरित्र सामने उपस्थित करते हैं, उससे उनकी विशेषता नहीं प्रगट होती। वे अधिकतर साधारण रंग मंच पर ही रह जाते हैं। अतः हम उन्हें आदर्शवादी न कह कर यथार्थवादी ही कहेंगे। उनके पात्रों में अन्तर्द्वन्दों और उतार-चढ़ाव का भी अभाव देखने को मिलता है। उनके पात्र अधिकतर उतार चढ़ाव से दूर सरल ढङ्ग से ही अपना कार्य-व्यापार करते हैं।

पन्तजी के पात्रों के संवादों, और कथोपकथनों में भी विशेषता के तत्व नहीं पाए जाते। उनकी संवाद शैली साधारण, और व्यावहारिक है। साधारण होते हुए भी उनके संवादों की शैली को प्रभाव पूर्ण कहा जा सकता है। उन्होंने अपनी संवाद शैली में, चरित्र को स्पष्ट करने के लिए स्वगत कथनों का भी प्रयोग किया है। कई स्थानों में उन्होंने बार बार 'स्वगत कथनों' से काम लिया है। ऐसे स्थलों पर उनकी संवाद शैली अस्वाभाविक बन गई है। गीतों के प्रयोग में भी कहीं कहीं अस्वाभाविकता देखने को मिलती है। संवादों की भाषा सरल, आकर्षक, और भावानुकूल है। वाक्य छोटे छोटे, और भाव पूर्ण हैं।

पन्तजी की रचनाओं में देश काल ही योजना का अभाव है। उनके नाटक तीन प्रकार के हैं—पौराणिक, ऐतिहासिक, और सामाजिक। उनका किसी भी प्रकार का नाटक देश और काल के चित्र को भली भाँति नहीं प्रस्तुत करता। उनके तीनों ही प्रकार के नाटक घटनाओं और स्थितियों में व्यस्त दिखाई पड़ते हैं। उनमें तत्कालीन राजनीति, समाज, अर्थ और संस्कृति के चित्रों का अभाव ही मिलता है। सामाजिक नाटक भी देश और युग को स्पर्श नहीं करते। सामाजिक नाटकों में सुधारवादी भावनाओं की प्रधानता है। 'रस योजना' की ओर भी पंतजी का ध्यान विशेष रूप से नहीं दिखाई पड़ता। वे रस योजना के क्षेत्र में पाश्चात्य शैली का अनुसरण करते हुए जान पड़ते हैं; परिणाम स्वरूप उनके नाटकों में किसी विशेष रस का प्रादुर्भाव नहीं हो सका है। शृंगार, वीर, करुण और हास्य इत्यादि रसों का संचरण उनके नाटकों में सुन्दरता के साथ हुआ है। देशकाल और रसों की दृष्टि से जहाँ

उनके नाटकों में अभाव है, वहाँ उनमें अभिनय के तत्त्व अधिक परिमाण में मिलते हैं। पंतजी ने अभिनय के तत्त्वों की अभिवृद्धि के लिए नाटक के कई तत्त्वों की उपेक्षा की है। उन्होंने अभिनयात्मकता की वृद्धि के लिए ही अपनी कला को अंतर्द्वन्दों से बचाया है, और उसे रस की निगूढ़ता से दूर रक्खा है। अभिनयात्मकता की अभिवृद्धि के लिए ही उन्होंने अपने संवादों और संगीतों को सरलता के साँचे में ढाला है, और उसे काव्यात्मकता के प्रभाव से दूर रखने का प्रयत्न किया है। यही कारण है, कि उनके नाटकों में अभिनय के तत्त्वों की अधिकता है। उनके नाटकों में अभिनयात्मकता का मुख्य कारण उनके कथानक की सरलता है। उनके नाटकों का कथानक अधिक सरल और प्रवाहमय है। उन्होंने मुख्य कथानक में छोटी-छोटी कथाओं का समावेश अधिक परिमाण में नहीं किया है। उन्होंने कथानक में ऐसी घटनाओं की सृष्टि की है, जिनसे कथानक अधिक रोचक और आकर्षक बन गया है। उनके दृश्यों और अंकों के स्थापन में अधिक साम्य और अनुकूलता है। रंग संकेत भी उनके नाटकों में मिलते हैं। पर्दा और प्रकाश के ऊपर भी उन्होंने ध्यान को केन्द्रित रक्खा है। उनके पात्रों के चरित्रों में न तो अधिक रहस्यात्मकता है, और न द्वन्द ही पाया जाता है। इसके विपरीत उनके पात्रों का चरित्र अधिक सरल, और व्यावहारिक है। उन्होंने गीतों की योजना में भी व्यावहारिकता को महत्त्व दिया है।

श्री उदयशङ्कर भट्ट ने कई नाटकों की रचना की है। उनके नाटकों के नाम इस प्रकार हैं—अंबा, सगर विजय, विक्रमादित्य, दाहर, मुक्तिपथ, शक विजय, कमला, अन्तहीन अन्त, और क्रान्तिकारी। भट्टजी ने कई एकांकी नाटकों की भी रचना की है। उनके एकांकी नाटकों के नाम इस प्रकार हैं—मत्स्य गंधा, विश्वामित्र, राधा, एक ला चलो रे, कालिदास, मेघदूत, और विक्रमोर्वशी। उनके एकांकी नाटकों के कई संग्रह भी प्रकाशित हुए हैं, जिनके नाम इस प्रकार हैं—अभिनय एकांकी, स्त्री का हृदय, समस्या का अन्त, आदिम युग, धूम शिखा, अन्धकार और प्रकाश।

श्री उदयशङ्कर भट्ट

भट्टजी की नाट्यकला के मर्म को जानने के लिए हम उनकी इन्हीं कृतियों की समीक्षा करेंगे। विषय की दृष्टि से हम उनकी कृतियों को चार वर्गों में विभक्त कर सकते हैं—पौराणिक, ऐतिहासिक, सामाजिक, और राजनीतिक। अंबा और सगर विजय की रचना पौराणिक कथानकों के आधार पर हुई है। विक्रमादित्य, दाहर, मुक्ति-पथ, और शक-विजय में ऐतिहासिक कथानक लगे हुए हैं। कमला और अन्तहीन-अन्त में सामाजिक तत्त्व हैं। 'क्रान्तिकारी' में राजनीतिक कथा का समावेश है।

भट्टजी की नाट्यकला के हमें दो रूप प्राप्त होते हैं। उनकी नाट्यकला का एक रूप तो वह है, जो उनकी विक्रमादित्य, दाहर, और सगर विजय इत्यादि कृतियों में मिलता है। उनकी कला के इस रूप को हम प्रारंभिक रूप कह सकते हैं। उनकी

भट्टजी की नाट्यकला

कला अपने इस रूप में नाट्य-पथ पर चलना सीखती हुई जान पड़ती है। कथानक, पात्र, चरित्र चित्रण, और संवाद इत्यादि सभी क्षेत्रों में उसके जो कार्य दिखाई पड़ते हैं, उनमें उसका 'अभ्यास' ही जान पड़ता है। उनकी कला का दूसरा स्वरूप वह है, जो कमला, मुक्ति-पथ, और शक्र-विजय इत्यादि नाटकों में मिलता है। इस रूप को हम उनकी कला का विकसित रूप कह सकते हैं। उनकी कला ने इस रूप में जो कार्य प्रस्तुत किए हैं, उनमें उसकी विशेषता दिखाई पड़ती है।

भट्टजी की कला में उनकी अपनी मौलिकता नहीं है। उनकी कला कहीं तो भारतीय परम्परा से प्रभावित है, और कहीं पाश्चात्य कला से। 'विक्रमादित्य' में स्पष्ट रूप से भारतीय परम्परा का पालन किया गया है। 'दाहर' और सगर विजय इत्यादि नाटकों में स्वगत कथन के प्रयोग द्वारा भारतीय विधि के ही प्रति आसक्ति प्रगट की गई है। इसी प्रकार उनके पात्रों पर भी भारतीय परम्परा का ही प्रभाव लक्षित होता है। पात्रों के चरित्र चित्रण में उनकी कला विदेशी पन्थ का अवलम्बन करती है। वस्तु योजना के क्षेत्र में भी उसने विदेशी सिद्धांतों का ही पालन किया है। अंकों और दृश्यों के विधान में उसने विदेशी ही विधि ग्रहण की है। मनोविकारों के चित्रण पर भी विदेशी कला का पुट है। भट्टजी के नाटकों का अन्त भी विदेशी प्रवृत्ति के ही अनुसार हुआ है। उनके अधिकांश नाटक दुखान्त हैं।

भट्टजी के पात्र तीन प्रकार के हैं—पौराणिक, ऐतिहासिक, और सामाजिक। उनके पौराणिक पात्र उच्चवर्गीय हैं, जो चरित्र निष्ठ, और आदर्शवादी हैं। ऐतिहासिक पात्रों में अधिकतर ऐसे लोग हैं, जिनका सम्बन्ध उच्च राज्यवंशों से है। सामाजिक पात्रों में ऐसे भी पात्र मिलते हैं, जिन्हें हम साधारण वर्ग का पात्र कह सकते हैं। विचार की दृष्टि से उनके पात्र दो प्रकार के हैं—आदर्शवादी और यथार्थवादी। पौराणिक और ऐतिहासिक नाटकों में उनके पात्र आदर्शवाद का ही अनुसरण करते हैं। सामाजिक नाटकों में उनके पात्रों में यथार्थवादी रूप का दर्शन होता है। यद्यपि उनके पौराणिक और ऐतिहासिक पात्र आदर्श का पन्थानुसरण करते हैं, पर उनमें अधिक बल नहीं दिखाई पड़ता। उनमें जीवन और प्रगति का भी अभाव है। आदर्शवादी पात्रों की अपेक्षा उनके यथार्थवादी पात्र अधिक जीवन के संनिकट हैं। उनके यथार्थवादी पात्रों में प्रगति शीलता भी पाई जाती है। पात्रों के चरित्र चित्रण में भट्टजी की कला को सफलता प्राप्त हुई है। पात्रों के चरित्र चित्रण के लिए उनकी कला ने जिस रीति का अवलम्बन किया है, उसमें अनुकूलता, और स्वाभाविकता है। उनके पात्रों की वेशभूषा, उनके मनोविकारों का प्रदर्शन, उनके कार्य, और उनके संवाद इत्यादि में अनुकूलता और स्वाभाविकता के तत्त्व अधिक मिलते हैं। भट्टजी की कला को जहाँ पात्रों के चरित्र चित्रण में सफलता प्राप्त हुई है, वहाँ पात्रों के सम्बन्ध में उसकी दो बड़ी-बड़ी भूलें भी दिखाई पड़ती हैं। एक तो यह, कि उनके पात्र स्वगत कथनों का अधिक प्रयोग करते हैं, और दूसरा यह, कि के गाते भी अधिक हैं। जहाँ कहीं उनकी कला इन दोनों भूलों से अपने को बचा

सकी है, वहाँ उसका विकास स्वाभाविकता के तत्वों के साथ अनुकूलता के वातावरण में हुआ है।

अब हम यह देखेंगे, कि भट्टजी के नाटकों में नाटक के तत्वों का विकास किस परिमाण में हुआ है। कथा की दृष्टि से भट्टजी के नाटकों की तीन श्रेणियाँ हैं—

भट्टजी के नाटकों में नाटक के तत्व

पौराणिक, ऐतिहासिक, और सामाजिक। अंबा और सगर विजय में पौराणिक कथा का समावेश है। उनकी यह दोनों कथाएँ आदर्शवाद की पृष्ठभूमि पर होकर चलती हैं, और अन्त तक उसके ही समर्थन में संलग्न रहती हैं। कथाएँ रोचक हैं, और उनका विकास स्वाभाविकता के साथ हुआ है। प्रारम्भ से लेकर अन्त तक मूल कथा का ही अस्तित्व मिलता है। मूल कथा में प्रासंगिक कथाओं का समावेश बहुत कम हुआ है; परिणाम स्वरूप कथा के प्रवाह में अखंडता है। मुक्ति पथ, शक विजय, विक्रमादित्य, और दाहर की कथाएँ ऐतिहासिक पृष्ठों से ली गई हैं। पौराणिक कथाओं की भाँति ऐतिहासिक कथाएँ भी आदर्श का पिष्ट पेषण करती हैं, पर आदर्श का पिष्ट पेषण करने में वे ऐतिहासिकता का परित्याग नहीं करतीं। उनके ऐतिहासिक कथानकों की यह विशेषता है, कि उनमें ऐतिहासिकता की रक्षा की गई है। पौराणिक कथानकों की भाँति इन कथानकों में भी प्रासंगिक कथाओं का समावेश बहुत कम, और आवश्यकता के ही अनुसार किया गया है; फल स्वरूप इन कथाओं में भी कथा प्रवाह की अखंडता मिलती है। 'कमला' के निर्माण में सामाजिक कथा का योग है। कमला के कथानक में यथार्थवाद के तत्त्व हैं, जिनमें जीवन घुला-मिला है।

निष्कर्ष की दृष्टि से भट्टजी के नाटक दो प्रकार के हैं—वियोगांत, और सुखांत। विक्रमादित्य, अंबा, दाहर, सगर विजय और कमला का अन्त दुःख की स्थिति में हुआ है। इसके प्रतिकूल मुक्ति-पथ, और शक-विजय के अन्त में सुख, और आनन्द का वातावरण पाया जाता है। वियोगांत, या दुःखांत नाटक पाश्चात्य कला की देन हैं। हिन्दी में दुखान्त और वियोगांत नाटकों की सृष्टि पाश्चात्य कला के प्रभाव के ही परिणाम स्वरूप होने लगी है। इस प्रकार के नाटक द्वन्द्वात्मक और संघर्षात्मक होते हैं। इस प्रकार के नाटकों में मनुष्य के मन के मनोविकारों के ही चित्र पर्याप्त रूप में मिलते हैं। भट्टजी के वियोगांत नाटकों में भी मनोविकारों के ही चित्र मिलते हैं। मनोविकारों के चित्रण के लिए पाश्चात्य कला के जो अपने विधान हैं, भट्टजी ने उन विधानों का भी पालन किया है। उन्होंने मनोविकारों के चित्रों को स्पष्ट करने के लिए वस्तु-विधान में पाश्चात्य परम्परा को ही अधिक महत्व दिया है। उन्होंने अंकों, दृश्यों, और रंग-संकेतों में पाश्चात्य विधि का पालन तो किया ही है, पात्रों की भाव-भंगिमा में भी पाश्चात्य शैली को महत्व किया है। उनके पात्र रंग मंच पर पाश्चात्य कला का ही अनुसरण करते हैं। रंग मंच पर उनका आना, जाना, और भावों का प्रदर्शन करना पाश्चात्य कला के ही अनुसार होता है। उनके दूसरे प्रकार के नाटक सुखान्त हैं। इन नाटकों में वस्तु योजना सुखान्त नाटकों की प्रकृति

के ही अनुसार की गई है, अर्थात् इन नाटकों में पात्र स्वतन्त्र नहीं हैं। वे लेखक के ही संकेतों पर चलते हुए दृष्टिगोचर होते हैं। इन नाटकों में आन्तरिक द्वन्द्वों को विकसित करने के लिए प्रयास भी किया गया है। इनमें यथार्थवाद और आदर्शवाद का समन्वय भी पाया जाता है।

भट्टजी के नाटकों में दो प्रकार के पात्र पाए जाते हैं। उनके एक प्रकार के पात्रों को हम उच्चवर्गीय, और दूसरे प्रकार के पात्रों को साधारण वर्गीय कह सकते हैं। उच्चवर्गीय पात्र उनके पौराणिक, और ऐतिहासिक नाटकों में मिलते हैं। विक्रमादित्य, दाहर, सगर, वरद, और गंधर्वसेन इत्यादि इसी प्रकार के पात्र हैं। सामाजिक नाटकों में साधारण वर्गीय पात्रों का समावेश है। इस प्रकार के पात्र कमला में मिलते हैं। अपनी अपनी स्थिति के अनुसार उनके पात्र विभिन्न पथों का अवलम्बन करते हैं। उच्चवर्गीय पात्र, जो ऐतिहासिक और पौराणिक रचनाओं में मिलते हैं, भारतीय परंपरा से प्रभावित हैं। उनमें गुणों की स्थापना भारतीय परंपरा को ही दृष्टि में रख कर की गई है। गुणों की दृष्टि से उच्चवर्गीय पात्र तीन श्रेणियों में विभक्त किए जा सकते हैं—धीरोदात्त, धीर प्रशांत, और धीरोद्धत। विक्रमादित्य, दाहर, सगर, वरद, और गंधर्व सेन इत्यादि को गणना धीरोदात्त में की जा सकती है। सिद्धार्थ में धीर प्रशांत के गुण हैं। सोमेश्वर, दुर्दम, हैजान और नहपान इत्यादि में धीरोद्धत के गुण मिलते हैं। साधारण वर्गीय पात्र, जो सामाजिक कृतियों में मिलते हैं, यथार्थवादी हैं। इन पात्रों पर पाश्चात्य कला, और संस्कृति का प्रभाव है। नारी पात्रों में अधिकांश भारतीयता के ही क्षेत्र में दिखाई पड़ते हैं। पुरुष पात्रों की अपेक्षा नारी पात्रों में मानव हृदय की सत्प्रवृत्तियों का विकास सुन्दरता के साथ हुआ है।

भट्टजी की संवाद योजना दो रूपों में विभक्त है। उनकी संवाद योजना का एक रूप तो वह है, जो उनकी प्रारंभिक रचनाओं में मिलता है। उनकी संवाद योजना का यह रूप अधिक चमत्कारिक है। उसमें भावों की अपेक्षा शब्दों को ही अधिक महत्व दिया गया है। शब्दों की क्लिष्टता भी उसमें अधिक है, उसमें वाक्य भी अधिक लंबे-लंबे, और नीरस पाए जाते हैं। उनकी संवाद योजना का दूसरा रूप उनके विकास-काल की रचनाओं में मिलता है। संवाद योजना का यह रूप, उनकी रचनाओं के ही समान विकसित और स्वाभाविक है। इसमें नियन्त्रण, और उत्तेजन-दोनों ही शक्तियाँ निहित हैं। आवश्यकतानुसार इसमें संवादों, और कथोपकथनों पर नियन्त्रण पाया जाता है, और आवश्यकतानुसार उत्तेजन भी मिलता है। इसमें स्थिति, मर्यादा, जाति, पद, और आयु को भी महत्व दिया गया है; दूसरे शब्दों में हम यह कह सकते हैं, कि उनकी संवाद योजना का यह द्वितीय रूप अधिक स्वाभाविक, और भावानुकूल है।

भट्टजी के नाटक देश और काल के चित्र को सुन्दरता के साथ सामने प्रस्तुत करते हैं। उनके पौराणिक नाटक जहाँ पुराण काल के जीवन पर प्रकाश डालते हैं, वहाँ ऐतिहासिक नाटक अपने युग को स्पष्ट करने में पीछे नहीं रहते। उनके दोनों

ही प्रकार के नाटक अपने युग की बहुत सी बातों पर प्रकाश डालते हैं, जिनका संबंध रहन सहन, आचार विचार, विवाह, प्रेम, न्याय, शासन, और जाति-प्रथा इत्यादि से है। सामाजिक नाटकों में भी देश और काल की स्थिति का चित्रण कुशलता के साथ हुआ है। 'कमला' में कई ऐसी समस्याएँ हैं, जो आधुनिक युग के चित्र को सामने उपस्थित करती हैं। गीतों की योजना में भट्टजी को सफलता नहीं मिल सकी है। उनकी गीत योजना अधिक निर्बल, और अस्वाभाविक है। इसके दो कारण हैं। एक तो यह, कि उन्होंने अपने नाटकों में गीतों की भरमार कर दी है, और दूसरा यह, कि उनके गीत अधिक बड़े-बड़े हैं। गीतों की अधिकता और अस्वाभाविक लंबाई के कारण उनकी संगीत योजना में अस्वाभाविकता भी उत्पन्न हो गई है। अभिनय के क्षेत्र में भी भट्टजी को सफलता नहीं प्राप्त हो सकी है। अङ्कों, और दृश्यों के स्थापन में उन्होंने जिस रीति से काम लिया है, अभिनय की दृष्टि से उसमें अभाव है। उनके अंकों और दृश्यों के अनुसार रंग मंच के निर्माण में अनेक बाधाएँ हैं। पात्रों की संख्या भी उनके नाटकों में अधिक मिलती है।

श्री लक्ष्मीनारायण मिश्र

आधुनिक काल के नाटककारों में श्री पं० लक्ष्मीनारायण मिश्र का महत्व पूर्ण स्थान है। प्रसादजी के पश्चात् यही एक ऐसे कलाकार हैं, जिन्हें नाट्य रचना के क्षेत्र में अधिक ख्याति प्राप्त हो सकी है। इन्होंने जो रचनाएँ उपस्थित की हैं, प्रत्येक दृष्टि से उनका अधिक महत्व है। इनकी रचनाओं के नाम इस प्रकार हैं—अशोक, संन्यासी, राक्षस का मन्दिर, मुक्ति का रहस्य, राजयोग, सिन्दूर की होली, आधीरात, गरुड़ध्वज, नारद की वीणा, वत्सराज, दशाश्वमेध, और अशोक वन। इन्होंने एकांकी नाटकों की भी रचना की है। इनके एकांकी नाटकों का एक संग्रह 'अशोक वन' के नाम से प्रकाशित हुआ है। कौशांबी, विदिशा, और दशाश्वमेध आदि भी उनके एकांकी नाटक हैं।

विषय की दृष्टि से हम मिश्रजी के नाटकों को तीन वर्गों में विभक्त कर सकते हैं—पौराणिक, ऐतिहासिक, और सामाजिक। नारद की वीणा पौराणिक कृति है।

मिश्रजी की नाट्य संपत्ति

अशोक, गरुण ध्वज, वत्सराज, और दशाश्वमेध की रचना ऐतिहासिक पृष्ठों के आधार पर हुई है। संन्यासी, राक्षस का मन्दिर, मुक्ति का रहस्य, राजयोग, सिन्दूर की होली, और आधीरात की रचना में सामाजिक तत्वों का योग है। 'नारद की वीणा' में पौराणिक काल की कथा है। इस कथा का मूल तत्त्व देवी भागवत से ग्रहण किया गया है। कथा जिन तत्त्वों के आधार पर संगठित हुई है, उनमें हिरण्य कश्यप और प्रह्लाद के जीवन के तत्त्व प्रचुर परिमाण में हैं। कथा के विकास में समस्याओं की विवेचना को ही अधिक महत्व दिया गया है। जिन समस्याओं को अधिक प्रमुखता दी गई है, उनमें शैव वैष्णव, आर्य अनार्य, धर्म अधर्म और न्याय अन्याय की समस्याएँ ही अधिक मुख्य हैं। 'अशोक' की कथा इतिहास से ली गई है। 'अशोक' मिश्रजी की प्रथम रचना है। 'अशोक' की रचना में अशोक के जीवन की कथा है। कथानक के विकास में शैथिल्य दिखाई पड़ता है।

पात्रों का चरित्र चित्रण भी इसमें स्वाभाविकता के साथ नहीं हुआ है। अशोक के चरित्र को इसमें गिराने की चेष्टा की गई है। इसके विपरीत ग्रीक चित्रों को अस्वाभाविक ढङ्ग से उच्च रूप में प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है। 'गरुड़ध्वज' की कथा भारतीय इतिहास के शुंग काल से ली गई है। कथा का मुख्य नायक शुंग सेनापति विक्रमादित्य है, जिसके चरित्र में त्याग, देश प्रेम, साहस, और पुरुषार्थ के तत्त्व प्रचुर रूप में मिलते हैं। यद्यपि विभिन्न समस्याओं के बीच से कथा स्वाभाविकता के साथ आगे बढ़ती हुई दिखाई देती है, पर इस कथा में कुछ ऐसी समस्याएँ मिलती हैं, जिन्होंने अस्वाभाविकता का वातावरण उत्पन्न कर दिया है। जैसे—शैवों, वैष्णवों, और शाक्तों की समस्याओं के चित्र। शैवों और शाक्तों के चित्रों में अतिरेकता उत्पन्न हो गई है। वत्सराज ऐतिहासिक कृति है। इसकी कथा भारतीय इतिहास की वह सुप्रसिद्ध कथा है, जिसको लेकर भास, वररुचि, गुणाढ्य, श्री हर्ष, क्षेमचन्द्र, और सोमदेव इत्यादि संस्कृत के लेखकों ने रचनाएँ की हैं। आधुनिक काल में प्रसादजी ने भी रचना के रूप में इसका गुंफन किया है। मिश्रजी की कथा में ऐतिहासिक तत्त्वों के साथ ही साथ कल्पना का संमिश्रण भी है। इनके दो अंक की कथा तो ऐतिहासिक तत्त्वों के आधार पर गठित हुई है, पर तीसरे अङ्क की कथा में कल्पना का समावेश है। वास्तविक और कल्पित-दोनों ही कथाओं का सन्निवेशन स्वाभाविकता के साथ हुआ है। यद्यपि मूल कथा में प्रासंगिक बातों का समावेश अधिक संख्या में हुआ है, पर कथा के प्रवाह में अखंडता है। उदयन नाटक का मुख्य पात्र है। उदयन के चरित्र में विशिष्टता है। 'दशाश्वमेध' की कथा कनिष्क काल की कथा है। कथा में आक्रमण, हिंसा, देश प्रेम, और हत्या तथा षड्यन्त्र इत्यादि के ही तत्त्व लगे हुए हैं। इन्हीं तत्त्वों से कथा का संगठन हुआ है। कथा एक विशेष युग की संस्कृति पर प्रकाश डालती है। कनिष्क, वीरसेन, कुषाणराज और वासुदेव आदि इसके पात्र हैं। पात्रों में कुषाणराज वासुदेव का चरित्र अधिक स्वाभाविकता के साथ विकसित हुआ है। नाटक के उद्देश्य के अनुसार उसमें जीवन के तत्त्व भी मिलते हैं।

सन्यासी मिश्रजी की सामाजिक कृति है। इसकी कथा का संगठन वर्तमान काल की नारी समस्याओं को लेकर किया गया है। कथा रुचिकर और प्रवाह पूर्ण है। चरित्रों का चित्रण भी अधिक स्वाभाविकता की स्थिति में हुआ है। पात्रों में रमाकांत, विश्वकांत, मुरलीधर, और मालती इत्यादि का प्रमुख स्थान है। 'सन्यासी' में समाज की समस्याओं के साथ ही साथ राजनीतिक समस्याओं की भी विवेचना की गई है। कहीं-कहीं तो राजनीतिक समस्याओं की विवेचना की ही प्रमुखता मिलती है। मिश्रजी की दूसरी सामाजिक कृति राक्षस का मन्दिर है। राक्षस के मन्दिर की कथा में कई सामाजिक तत्त्व पाए जाते हैं, जिनमें देश्या प्रेम, शराब खोरी, पुलिस के झगड़े, और मातृ-मन्दिर के रूप में मुधार के तत्त्व मुख्य हैं। इन सामाजिक तत्त्वों के आधार पर स्त्री जीवन की समस्याओं और प्रेम की ग्रन्थियों को सुलझाने

की चेष्टा की गई है। पात्रों में रामलाल, रघुनाथ, और असगरी इत्यादि का महत्व पूर्ण स्थान है। कथावस्तु का संगठन स्वाभाविकता के साथ हुआ है। पात्रों के चरित्र-चित्रण में भी स्वाभाविकता के प्रचुर तत्त्व मिलते हैं। 'मुक्ति का रहस्य' भी सामाजिक कृति है। 'मुक्ति के रहस्य' में भी प्रेम और नारी जीवन की ही समस्याओं के चित्र हैं। कथा प्रवाहमय और सजीव है। कथा का विकास स्वाभाविकता पूर्वक उद्देश्य की दिशा में ही हुआ है। आशा, उमाशङ्कर, और डाक्टर मुख्य पात्रों में से हैं। पात्रों के चरित्र चित्रण में भी उद्देश्य की रक्षा की गई है। 'राजयोग' में प्रेम की समस्याएँ हैं। कथानक का संगठन प्रेम के ही तत्त्वों से हुआ है। कहीं-कहीं प्रेम के तत्त्व स्पष्ट न होकर उलझ गए हैं; परिणामतः कहीं कहीं कथानक में शैथिल्य उत्पन्न हो गया है। पात्रों में शत्रु सूदन, चंपा, नरेन्द्र, और गजराज इत्यादि का मुख्य स्थान है। पात्रों का चरित्र चित्रण अनुकूलता के वातावरण में हुआ है। कहीं-कहीं पात्रों के चरित्र चित्रण में इस प्रकार की बातें भी आ गई हैं, जिनसे उनकी स्वाभाविकता पर सन्देह भी उत्पन्न होता है। 'सिन्दूर की होली' में प्रेम, और विधवा की समस्या के चित्र हैं। कथानक के संगठन में यद्यपि प्रेम के ही तत्त्व प्रचुर रूप में मिलते हैं, पर उसके साथ हत्या, षड्यन्त्र, ईर्षा, और विश्वत इत्यादि के तत्त्व भी लगे हुए हैं। पात्रों में रजनीकांत, हरनन्दन, मुरारी, और मनोजशङ्कर का मुख्य स्थान है। नाटक में घटनाओं की अधिकता होने के कारण पात्रों के चरित्र का विकास सुन्दरता के साथ नहीं हो सका है। समस्याओं को लेकर इतने तर्क-वितर्क किए गए हैं, कि नाटक की नाट्यात्मकता का ह्रास सा हो गया है। 'आधीरात' में भी सामाजिक समस्याओं के ही चित्र हैं। पात्रों में मायावती और राघवशरण इत्यादि मुख्य हैं। 'आधीरात' में भी तर्क-वितर्क, और विचारों की मुख्यता है; परिणाम स्वरूप न तो पात्रों के चरित्र का विकास हो सका है, और न कथानक ही अधिक प्रभाव शाली बन सका है!

मिश्रजी की नाट्य सम्पत्ति पर प्रकाश डालने के पश्चात् अब हम उनकी नाट्य कला की विवेचना करेंगे। मिश्रजी बुद्धिवादी व्यक्ति हैं। वे जीवन में प्रत्येक वस्तु को बुद्धि के ही काँटे से तौलते हैं। नाट्य रचना के क्षेत्र में भी उन्होंने बुद्धिवाद का ही पल्ला पकड़ा है। उनकी नाट्यकला के सम्बन्ध में पहली बात जो कही जा सकती है, वह यह है, कि उनकी कला बुद्धि-वादिनी है। बुद्धिवाद के क्षेत्र में उनकी कला पाश्चात्य कला से अधिक प्रभावित है। पाश्चात्य कला में भी इब्सेन की कला ने उनकी कला को अधिक प्रभावित किया है। उन्होंने अपनी कला के शरीर का निर्माण पाश्चात्य कला के ही आधार पर किया गया है। पर यह कहने में संकोच नहीं किया जा सकता, कि उस शरीर में जो आत्मा है, वह पूर्ण रूपेण भारतीय है। इस प्रकार उन्होंने अपनी कला में भारतीय और पाश्चात्य-दोनों ही भावों का समन्वय किया है। उनके अधिकांश नाटकों में उनकी इसी बुद्धिवादिनी कला के दर्शन होते हैं। उनके सभी नाटक समस्या और

मिश्रजी की नाट्यकला

विचार मूलक हैं। सामाजिक नाटक तो समस्याओं को ले करके चलते ही हैं, ऐतिहासिक और पौराणिक नाटकों में भी समस्याओं के ही विवेचन की मुख्यता मिलती है। ऐसा लगता है, कि विवेचन और मनोवैज्ञानिक विश्लेषण इनकी कला को अधिक प्रिय है। कहीं कहीं इस प्रेम ने आसक्ति का रूप धारण कर लिया है। जहाँ कहीं इनकी कला विवेचन के क्षेत्र में आसक्ति ग्रस्त हो गई है, वहाँ उसमें अस्पष्टता उत्पन्न हो गई है। ऐसे स्थलों पर नाट्यात्मकता का ह्रास भी दिखाई देता है।

मिश्र जी की कला पाश्चात्य कला से अधिक प्रभावित है। उनकी कला में बुद्धि और विवेचना के तत्त्वों की प्रधानता है। बुद्धि और विवेचना के फेर में अधिक पड़ने के कारण उनकी कला नाटक के कई आवश्यक तत्त्वों की ओर ध्यान नहीं दे सकी है। 'रंग मंच' की दृष्टि से यदि हम उनकी कला पर दृष्टिपात करते हैं, तो उसमें औदासीन्य पाते हैं। उनकी कला ने एक नवीन रंग मंच की कल्पना की है। रंग मञ्च पर बार बार पर्दों का गिराना और उठाना इनकी कला को प्रिय नहीं है। यही कारण है, कि उनके नाटकों में दृश्यों का विधान नहीं है। मुक्ति का रहस्य, सिन्दूर की होली, आधीरात, राजयोग, दशाश्वमेध, वत्सराज, नारद की वीणा, और गरुड़ ध्वज इत्यादि नाटकों में अंक ही दृश्य का काम भी देते हैं। दृश्यों का विधान न होने के कारण पर्दों का उठाना और गिराना बार बार नहीं होता। दृश्यों का विधान न होने के कारण पात्रों का आना जाना भी निर्धारित नियम के अनुसार नहीं होता; परिणामतः अभिनयात्मकता की रक्षा नहीं होती। मेरी समझ में मिश्र जी की कला में यह एक ऐसा अभाव है, जो उसे रंग मञ्च पर सफल नहीं बना सकता।

मैं कह चुका हूँ कि मिश्रजी की कला में विवेचना के तत्त्व अधिक हैं। वह आदि से लेकर अंत तक समस्याओं के जाल में ही उलझी हुई दिखाई देती है। समस्याओं को लेकर वह तर्क-वितर्क खूब करती है। तर्क-वितर्क के लिए वह क्षेत्र भी तैयार करती है। तर्क-वितर्क और विवेचना के लिए वह मूल समस्या में गौण समस्याओं को भी सृष्टि करती है। कहीं कहीं इन गौण समस्याओं ने अस्वाभाविकता का रूप धारण कर लिया है। कहीं कहीं ये गौण समस्याएँ अनावश्यक भी प्रतीत होती हैं। समस्याओं में उलझी हुई होने के कारण उनकी कला कार्य-व्यापारों और घटना-विकास की ओर बिल्कुल ध्यान नहीं दे सकी है। फल स्वरूप जहाँ उनके नाटकों में 'विवेचन' की प्रचुरता मिलती है, वहाँ उनमें कार्य-व्यापारों और घटनाओं के विकास के प्रति उपेक्षा दिखाई पड़ती है। इसका परिणाम यह हुआ है, कि कई नाटकों में उनकी नाट्यकला केवल विवेचनात्मक ही रह गई है।

मिश्रजी की कला जहाँ घटनाओं और कार्य-व्यापारों के प्रति उदासीन दिखाई देती है, वहाँ चरित्र-चित्रण की ओर वह अधिक जागरूक जान पड़ती है। चरित्र चित्रण की ओर उसने विशेष रूप से ध्यान दिया है। उसके चरित्र चित्रण का लक्ष्य यथार्थवाद है। उसने यथार्थवाद को ही लक्ष्य मान कर अपने पात्रों के चरित्र

का चित्रण किया है। सामाजिक नाटकों में मिश्रजी के पात्र यथार्थवादी तो हैं ही, ऐतिहासिक और पौराणिक नाटकों में भी वे यथार्थवाद का आंचल पकड़ कर मार्ग पर चलते हैं। उनके पात्र बुद्धिवादी हैं। बुद्धिवादी होने के कारण वे सर्वत्र 'यथार्थ' को ही ढूँढते हैं। यथार्थ को ढूँढने में वे जिन साधनों का उपयोग करते हैं, वह बुद्धि और विवेचना के तत्त्व हैं। उनके पुरुष पात्र ही तर्कवादी नहीं हैं, स्त्री-पात्रों में भी पुरुषों की भाँति ही तर्क शीलता पाई जाती है। उनके पुरुष और स्त्री-दोनों ही प्रकार के पात्र मनोवैज्ञानिक ढङ्ग से समस्याओं पर प्रकाश डालते हैं। उनके विचार ही चरित्र के चिह्न हैं। मिश्रजी की कला को विचारों के द्वारा चरित्र के चित्रों को स्पष्ट करने में अधिक सफलता प्राप्त हुई है।

अब हम मिश्रजी के नाटकों के उन तत्त्वों पर विचार करेंगे, जिनके कारण उनके नाटकों को सर्व मान्यता प्राप्त हो सकी है। सर्व प्रथम हम उस तत्त्व को देखेंगे,

मिश्रजी के नाटक और नाटक के तत्त्व

जिसे कथा या कथानक कहते हैं। कथानक की दृष्टि से मिश्रजी के नाटकों के तीन वर्ग किए जा सकते हैं—ऐतिहासिक, सामाजिक, और पौराणिक। उनकी सर्व प्रथम ऐतिहासिक रचना अशोक है। 'अशोक' की कथा अशोक के जीवन काल से संबंधित है। कथा गौरव पूर्ण है। उसमें ऐसे चित्र मिलते हैं, जिनसे भारतीय संस्कृति पर सुन्दरता के साथ प्रकाश पड़ता है। कथा का उद्देश्य और उसका लक्ष्य अशोक के गौरव पूर्ण चरित्र को स्पष्ट करना है। कथा का विकास उद्देश्य और लक्ष्य को ही दृष्टि में रख कर किया गया है। कथा के विकास में स्वाभाविकता और मौलिकता है।

अशोक की रचना के पश्चात् मिश्रजी ने अपने उन सामाजिक नाटकों की रचना की है, जिनमें बुद्धि के तत्त्वों की प्रचुरता है। इन नाटकों के नाम इस प्रकार हैं—संन्यासी, राक्षस का मन्दिर, मुक्ति का रहस्य, राजयोग, सिन्दूर की होली, और आधी-रात। इन नाटकों में मिश्रजी बुद्धिवादी के रूप में प्रस्तुत हुए हैं, इन नाटकों की कथाओं में समस्याओं की प्रमुखता है। अधिकतर समस्याएँ आधुनिक प्रेम और नारी जीवन की समस्याएँ हैं। इन नाटकों की कथाओं में जितना अधिक ध्यान समस्याओं के विवेचन और विचारों के द्वन्द पर दिया गया है। उतना कथा की कथात्मकता पर नहीं। इन नाटकों में कार्य-व्यापारों और घटनाओं का भी अभाव है; परिणाम स्वरूप कथा की कथात्मकता के विकास में कमी पाई जाती है। इस कमी को उन्होंने अपने ऐतिहासिक नाटकों में दूर किया है। सामाजिक नाटकों की रचना के पश्चात् उन्होंने पुनः ऐतिहासिक नाटकों की रचना के क्षेत्र में प्रवेश किया है, और तीन ऐतिहासिक नाटकों की रचना की है, जिनके नाम इस प्रकार हैं—गरुड़ ध्वज, वत्सराज, और दशाश्वमेध। यद्यपि इनकी कथाओं में भी बुद्धि और विचारों के तत्त्वों की प्रचुरता है, पर इनमें कार्य व्यापारों और घटनाओं का भी विकास हुआ है। इनमें आधिकारिक कथाओं में प्रासंगिक कथाएँ भी जोड़ी गई हैं, जिनके कारण कथा के विकास में सहायता प्राप्त हुई है। 'नारद की वीणा' मिश्रजी का पौराणिक

नाटक है। इसकी कथा पुराण से ली गई है, जिसमें आर्यों और अनार्यों के संस्कृति संबंधी संघर्षों के चित्र हैं। कथा रोचक, और प्रभाव पूर्ण है। कथा का विकास अनुकूलता के वातावरण में उद्देश्य की दिशा में ही हुआ है।

मिश्रजी के नाटकों में वस्तु के तत्त्वों का अभाव पाया जाता है। उनके वस्तु के तत्त्वों को जानने के लिए हमें उनके नाटकों के भीतर प्रवेश करना होगा। वस्तु की दृष्टि से हम उनके नाटकों को दो वर्गों में विभक्त कर सकते हैं। उनके नाटकों का एक वर्ग तो वह है, जिसमें उन्हें वस्तु के क्षेत्र में सफलता प्राप्त हुई है। इस वर्ग में उनके ऐतिहासिक और पौराणिक नाटक आते हैं। उनके ऐतिहासिक और पौराणिक नाटकों में कथा-तत्त्व का विकास सुन्दरता के साथ हुआ है। उनमें कार्य-व्यापारों और घटनाओं का भी विकास हुआ है। उनमें आधिकारिक कथाओं में प्रासंगिक कथाएँ भी जोड़ी गई हैं। पर 'अशोक' को छोड़ कर शेष ऐतिहासिक और पौराणिक रचनाओं में भी, अङ्कों और दृश्यों के विधान में किसी सुव्यवस्थित नियम का पालन नहीं किया गया है। इनमें दृश्यों का काम अंकों से ही लिया गया है। दृश्यों का परिवर्तन अङ्कों के भीतर ही रंग-संकेतों के द्वारा किया गया है। दूसरे वर्ग में वे नाटक आते हैं, जिनमें वस्तु के क्षेत्र में मिश्रजी की कला बहुत दूर दिखाई पड़ती है। मिश्रजी के सभी सामाजिक नाटक इसी वर्ग में आते हैं। इनके सभी सामाजिक नाटकों में विचारों के तत्त्वों की ही प्रचुरता है। उनमें कार्य-व्यापारों, घटना-वैचित्र्य, और कार्य-कलापों का अभाव होने के कारण अभिनयात्मकता की कमी है। अङ्कों और दृश्यों की व्यवस्था में किसी नियम का पालन नहीं किया गया है। सभी नाटकों में तीन-तीन अङ्क हैं, जो दृश्य का भी काम देते हैं। अङ्कों के भीतर ही रंग-संकेतों के द्वारा दृश्यों के परिवर्तन की व्यवस्था की गई है। फलतः वस्तु के क्षेत्र में उनकी कला शिथिल पड़ गई है।

मिश्रजी बुद्धिवादी नाटककार हैं। उन्होंने अपने नाटकों की रचना में बुद्धि के तत्त्वों का ही अधिक प्रयोग किया है। उन्होंने विचारों की द्वन्द्वता से ही अपने नाटकों में नाटकत्व उत्पन्न किया है। विचार ही उनकी नाटकीय कला को आगे बढ़ाते हैं, और विचार ही उनके पात्रों के चरित्रों को स्पष्ट करते हैं। उनके सभी पात्र बुद्धिवादी हैं, और विचारों तथा तर्कों के द्वारा अपने व्यापार को चलाते हैं। सभी पात्र बुद्धिवादी हैं, इसीलिए वे उच्च वर्ग के हैं, और प्रायः सभी शिक्षित हैं। बुद्धिवादी होने ही के कारण वे यथार्थवादी भी हैं। यद्यपि उनमें सांस्कृतिकता का भाव पाया जाता है, पर वे संस्कृति और सभ्यता के क्षेत्र में भी यथार्थ का ही पिष्ट-पेषण करते हैं।

मिश्रजी के पात्रों में एक मुख्य विशेषता मिलती है, जो अन्यान्य नाटककारों के पात्रों में बहुत कम दिखाई पड़ती है। मिश्रजी के पात्रों में चरित्र का वैचित्र्य देखते ही बनता है। उनके अधिकांश प्रमुख पात्र दो-दो चरित्रों की सृष्टि अधिक स्वाभाविकता के साथ करते हैं। जैसे—राक्षस का मन्दिर का मुनीश्वर, अशरगी; राजयोग का

नरेन्द्र, चंपा; सिन्दूर की होली का मुरारीलाल, चन्द्रकला; 'मुक्ति का रहस्य' का आशादेवी, वत्सराज का उदयन, नारद की वीणा का नारद, और गरुड़ध्वज का कालकाचार्य। इन पात्रों के द्वन्द्वात्मक चरित्र-सृष्टि से ही मिश्रजी के नाटक अधिक आकर्षक और सजीव बन सके हैं। मिश्रजी के नाटकों की नाट्यात्मकता की वृद्धि का कारण भी यही द्वन्द्वात्मक चरित्र है। उन्होंने अपने पात्रों के चरित्र विकास में, मनोविश्लेषणात्मक शैली से काम लिया है। कहना होगा, कि उनकी यह शैली उनके पात्रों की प्रकृति के अनुरूप ही है। उनके पात्रों का द्वन्द्वात्मक चरित्र, उनकी मनोविश्लेषणात्मक शैली के साँचे में ढल कर अधिक सजीव और प्रभाव पूर्ण बन गई है।

मिश्रजी के नाटकों में नारी पात्र भी मिलते हैं। उनके नारी पात्र दो प्रकार के हैं। एक प्रकार के नारी पात्र तो वे हैं, जो ऐतिहासिक और पौराणिक नाटकों में पाए जाते हैं। जैसे—वासवदत्ता, पद्मा, मेनका, सौम्य दर्शना, मलयवती, वासती और कौमुदी इत्यादि। यह नारी पात्र आदर्शवाद की ही सीमा में अपने कार्य-कलापों का प्रदर्शन करते हैं। उनके दूसरे प्रकार के नारी पात्र वे हैं, जो सामाजिक नाटकों में मिलते हैं; जैसे—चन्द्रकला, मनोरमा, आशादेवी, और अश्गरी इत्यादि। सामाजिक नाटकों के स्त्री पात्र पुरुष पात्रों की भाँति ही यथार्थवाद के क्षेत्र में ही अपने तर्कों की हाट लगाते हैं। इन पात्रों में जहाँ तर्कों की प्रधानता है वहाँ स्त्रियोचित गुणों का अभाव है। वे अपनी समस्याओं को उपस्थित करते हैं, और उनके लिए तर्क भी देते हैं, पर चरित्र का ऐसा कोई चिह्न नहीं बनाते, जिसे नारी-जीवन की दृष्टि से सर्वोत्तम कहा जा सके।

मिश्रजी ने सिद्धांत की दृष्टि से दो क्षेत्रों में अपनी नाट्य प्रतिभा का प्रसार किया है—आदर्शवाद, और यथार्थवाद। उनके ऐतिहासिक और पौराणिक नाटकों में आदर्शवाद की झलक मिलती है। उनके सामाजिक नाटक विशुद्ध रूप से यथार्थवादी हैं। उन्होंने अपने नाटकों की प्रकृति के अनुसार दो प्रकार की शैलियाँ भी काम में लाई हैं। उनके आदर्शवादी नाटकों में जिस शैली का प्रयोग हुआ है, उसे हम काव्यात्मक शैली कह सकते हैं। सामाजिक नाटकों में मनोविश्लेषणात्मक शैली का प्रयोग हुआ है। अपनी इन शैलियों के अनुरूप ही उन्होंने अपने नाटकों में कथोपकथन, और संवादों की योजना भी की है। शैली को ही दृष्टि में रख कर उन्होंने संवादों की योजना भी निश्चित की है। शैली के समान ही उनकी संवाद योजना भी दो प्रकार की है। एक प्रकार की उनकी संवाद योजना वह है, जो उनके सामाजिक नाटकों में मिलती है। उनकी यह संवाद योजना तर्क पर आधारित है। उसमें मनोविश्लेषणात्मक शैली से काम लिया गया है। तर्क की प्रधानता होने के कारण इसमें सौष्ठव और मार्दव का अभाव है। इसकी भाषा भी मिश्रित है। इसमें संस्कृत के तत्सम शब्दों के साथ ही साथ अँगरेजी और फारसी के शब्द भी मिलते हैं। इसमें लिंग और व्याकरण सम्बन्धी अशुद्धियाँ भी पाई जाती

हैं। मिश्रजी की दूसरी प्रकार की संवाद योजना उनके ऐतिहासिक, और पौराणिक नाटकों में मिलती है। उनकी यह संवाद योजना अधिक प्रवाहमयी और परिमार्जित है। इसमें संस्कृत के तत्सम शब्दों की अधिकता है। इसकी शैली काव्यात्मक है, जो सरस, मधुर और ओजमयी है।

देश और काल की दृष्टि से मिश्रजी के नाटकों को तीन वर्गों में विभक्त किया जा सकता है—पौराणिक, ऐतिहासिक, और सामाजिक। 'नारद की वीणा' उनकी पौराणिक रचना है। कहना न होगा, कि 'नारद की वीणा' में देश और काल का चित्रण सुचारुता के साथ हुआ है। 'नारद की वीणा' की कथा में आर्यों और अनार्यों के जीवन सम्बन्धी कितने ही चित्र हैं, जो तत्कालीन युग और समाज पर प्रकाश डालते हैं। इसी प्रकार मिश्रजी की ऐतिहासिक रचनाओं से भी देश और काल की स्थितियों पर प्रकाश पड़ता है। उनकी सभी ऐतिहासिक रचनाएँ अपने युग और काल की स्थितियों को स्पष्ट करती हैं। उनकी ऐतिहासिक रचनाएँ तत्कालीन संस्कृतियों के चित्रों को सामने उपस्थित करने में अधिक प्रभाव पूर्ण हैं। संस्कृतियों के अतिरिक्त वे आचार विचार, राजनीति, शासन, शिक्षा और स्त्री-पुरुष की समस्याओं पर भी प्रकाश डालती हैं। सामाजिक रचनाएँ आधुनिक समाज और युग का चित्र खींचती हैं। अतः कहना होगा, कि मिश्रजी के नाटकों में देश और काल की योजना स्वाभाविकता के साथ हुई है।

मिश्रजी के सभी नाटक विवेचनात्मक हैं। विवेचनात्मक होने के कारण उनमें घटनाओं और कार्य-व्यापारों का अभाव है; परिणाम स्वरूप उनमें अभिनयात्मकता नहीं है। उनके नाटकों का रंग मंच पर सफलता पूर्वक अभिनय नहीं किया जा सकता। इसके दो मुख्य कारण हैं—एक तो यह, कि उनके नाटकों में बुद्धि जनित तर्कों की प्रधानता है, और दूसरा यह, कि उनमें दृश्यों का विधान नहीं है। उनके प्रायः सभी नाटकों में अंकों से ही दृश्यों का भी काम लिया गया है। ऐतिहासिक नाटकों में जहाँ दृश्यों की सरलता है, वहाँ भी तर्कों की प्रधानता है। गीतों की योजना भी मिश्रजी के नाटकों में नहीं मिलती। 'संन्यासी' और 'राक्षस का मन्दिर' में दो एक गीतों की व्यवस्था है। शेष नाटकों में 'गीतों' का अभाव भी उनके नाटकों की अभिनय अनुपादेयता पर प्रकाश डालता है।

श्री हरिकृष्ण प्रेमी ने नाट्य-रचना के क्षेत्र में अधिक सुख्याति प्राप्त की है। इन्होंने कई नाटकों की रचना की है, जिनके नाम इस प्रकार हैं—स्वर्ण विहान, श्री हरिकृष्ण प्रेमी रक्षा बन्धन, पाताल विजय, शिवा साधना, प्रतिशोध, आहुति, स्वप्न भङ्ग, बन्धन, छाया, मित्र, मन्दिर विषपान, उद्धार, शपथ, बादलों के पार, प्रथम जौहर, और शतरंज के खिलाड़ी। प्रेमीजी नाटककार होने के साथ ही साथ कवि भी हैं। इनकी नाट्यकला पर इनके काव्यत्व की छाप स्पष्टतः दिखाई पड़ती है। प्रेमीजी ने एकांकी नाटकों की भी रचना की है। इनके एकांकी नाटकों का संग्रह 'बादलों के पार' के नाम से प्रकाशित हुआ है।

प्रेमीजी के नाटक विषय की दृष्टि से तीन वर्गों में विभक्त किए जा सकते हैं—पौराणिक, ऐतिहासिक, और सामाजिक। पाताल विजय इनका पौराणिक नाटक है।

प्रेमीजी की नाट्य साधना

शपथ, रक्षा बन्धन, शिवा साधना, प्रतिशोध, स्वप्न भङ्ग, मित्र, उद्धार, विषपान और प्रथम जौहर की रचना ऐतिहासिक वृत्तों के आधार पर की गई है। बन्धन और छाया सामाजिक कृतियाँ हैं। पाताल विजय की कथा पुराण से ली गई है। कथा का विकास स्वाभाविकता के साथ हुआ है। कथा में आस्तिकता और नास्तिकता के द्वन्द्वात्मक चित्र हैं, जिससे कथा में सजीवता की अभिवृद्धि हुई है। 'शपथ' प्रेमीजी के ऐतिहासिक नाटकों में सर्व श्रेष्ठ समझा जाता है। इसकी कथा गुप्त काल की कथा है। कथा का उद्देश्य भारत की गौरवमयी संस्कृति के चित्रों को प्रस्तुत करना है। कथा का विकास स्वाभाविकता के साथ उद्देश्य की दिशा में हुआ है। रक्षा बन्धन, शिवा साधना, प्रतिशोध, आहुति, स्वप्न भङ्ग, विषपान, मित्र, रक्षा बन्धन, और 'उद्धार' की कथाएँ इतिहास के पृष्ठों से ली गई। यह कथाएँ मध्यकाल के इतिहास से ली गई हैं। इन कथाओं का चित्रण आधुनिकता की दृष्टि से किया गया है। आधुनिक राष्ट्रीयता के चित्रों को स्पष्ट करने के लिए इन कथाओं में कल्पना का भी समावेश किया गया है। कथाओं का विकास स्वाभाविकता के साथ हुआ है। कथाएँ जिस प्रकार आगे बढ़ी हैं, उसमें प्रगति और विकास के तत्त्व मिलते हैं। कथाएँ अपने लक्ष्य, और उद्देश्य-सिद्धि में सफल हो सकी हैं—यह निसकोच कहा जा सकता है। बन्धन और छाया की रचना में सामाजिक तत्त्वों का योग है। 'बन्धन' की कथा गाँधीवाद से प्रभावित है। 'छाया' की कथा में साहित्यिक जीवन के चित्र हैं।

प्रेमजी की नाट्य कला

प्रेमजी की कला पर युग का प्रभाव है। उन्होंने अपनी कला को युग की भावनाओं के साँचे में ढाला है। उनकी कला युग की भावनाओं को परखने में अधिक तीव्र है। उनकी कला ने इसी बात को सामने रख कर अपने लिए कथानकों का चुनाव किया है। उसने अपने लिए ऐसे कथानक चुने हैं, जिनमें भारतीय संस्कृति के चित्र हैं। कथाओं के चुनने में उसने अपनी एक विशेष प्रकृति का परिचय दिया है। उसने इन कथाओं में केवल उन्हीं तत्त्वों को ग्रहण किया है, जो शौर्य, उदारता, प्रेम, साहस, और दया के चित्र उपस्थित करते हैं। इन कथानकों के उन तत्त्वों को उसने छोड़ दिया है, जो आधुनिक राष्ट्रीयता के विपरीत जाते हैं। उनके स्थान पर वह उन तत्त्वों को जोड़ती है, जो आधुनिक राष्ट्रीयता के पोषक कहे जाते हैं। इन तत्त्वों को जोड़ने में उसने कल्पना से काम लिया है। इस प्रकार हम यह कह सकते हैं, कि कथानक के क्षेत्र में प्रेमीजी की कला ऐतिहासिक तथ्य और कल्पना को साथ साथ लेकर चलती है। प्रेमीजी के नाटकों की सर्व प्रियता का यही कारण है, कि उन्होंने अपने नाटकों के ऐतिहासिक कथानकों को आधुनिकता के साँचे में ढाला है, और इस प्रकार उसमें वर्तमान राष्ट्रीयता की भावना उत्पन्न कर दी है।

कथानक की भाँति संवादों के क्षेत्र में भी प्रेमीजी की कला की अपनी विशेषता है। जिस प्रकार उनकी कला कथानक के क्षेत्र में वर्तमान राष्ट्रीयता का पूरा पूरा ध्यान रखती है, उसी प्रकार संवादों के क्षेत्र में उसने अपनी इस प्रवृत्ति का परिचय दिया है। कथाओं के अनुरूप ही प्रेमीजी के संवाद भी हैं। संवादों के भीतर ऐसे भाव हैं, जो वर्तमान राष्ट्रीयता के चित्रों को स्पष्ट करते हैं। संवाद की शैली भावों के अनुरूप ही मन्द और गतिमयी होती दिखाई पड़ती है। भावों के अनुरूप ही कहीं तो वह गंभीर दिखाई देती है, और कहीं उसमें गतिशीलता का वेग पाया जाता है। प्रेमीजी ने अपने संवादों से दो काम लिया है। कहीं तो उनके संवाद पात्रों के मन के भावों को प्रगट करते हैं, और कहीं उनके द्वारा पात्रों के चरित्रों पर प्रकाश पड़ता है। इन दोनों ही योजनाओं में प्रेमीजी की कला को अधिक सफलता प्राप्त हुई है।

प्रेमीजी की नाट्यकला अधिकतर स्वतन्त्रता का ही परिचय देती है। वह न तो विशेष रूप से पाश्चात्य कला का ही अनुसरण करती है, और न भारतीय परम्परा के ही पीछे दौड़ती है। उसने अपने लिए एक नवीन रास्ता बनाया है, जिसे हम पाश्चात्य और भारतीय परम्परा के बीच का मार्ग कह सकते हैं; दूसरे शब्दों में हम यह भी कह सकते हैं, कि प्रेमीजी की कला ने आवश्यकतानुसार दोनों ही शैलियों से काम लिया है, पर उनकी आसक्ति किसी में भी नहीं है। अंकों और दृश्यों के विभाजन में उन्होंने पाश्चात्य कला से काम लिया है। उनके प्रायः सभी नाटकों में अंकों और दृश्यों का विभाजन पाश्चात्य कला के ही अनुसार हुआ है। भावों और मनोविकारों के प्रदर्शन में भी उनकी कला ने पाश्चात्य शैली को ही ग्रहण किया है। रक्षा बन्धन, शिवा साधना, छाया, और स्वप्न भंग में स्वगत कथनों के प्रयोग द्वारा उसने भारतीय परंपरा की भी पुष्टि की है। इस प्रकार हम यह कह सकते हैं, कि उनकी कला स्वतन्त्रतावादिनी है। वह पाश्चात्य कला और भारतीय परंपरा से प्रभावित होने पर भी किसी में अपनी आसक्ति नहीं रखती।

अब हम प्रेमीजी के नाटक तत्वों की समीक्षा करेंगे। कथानक की दृष्टि से उनकी रचनाएँ तीन वर्गों में विभक्त की जा सकती हैं—पौराणिक, ऐतिहासिक, और सामाजिक। प्रेमीजी गाँधीवाद से अधिक प्रभावित जान पड़ते हैं। उन्होंने अपने तीनों ही प्रकार के कथानकों के विकास में गाँधीजी के सिद्धान्तों को ही दृष्टि में रक्खा है। गाँधीजी के सिद्धान्तों को प्रतिपादन करने वाली कथाएँ उन्होंने अपने तीनों प्रकार के कथानकों की मूल कथाओं में जोड़ी हैं। इन कथाओं को जोड़ने में उन्होंने कल्पना से काम लिया है। इन कथाओं में कल्पित कथाओं के जोड़ने के कारण जहाँ इनके ऐतिहासिक नाटकों में ऐतिहासिक तथ्यों पर पर्दा पड़ गया है, वहाँ इन्हीं के कारण वे आधुनिक जीवन के अनुरूप बन गई हैं, और उनकी सर्व प्रियता बढ़ गई है। प्रेमीजी के सामाजिक कथानक भी गाँधीजी के सिद्धांतों की पुष्टि करते हैं। कथानक के क्षेत्र में प्रेमीजी

प्रेमीजी के नाटकों में नाटक के तत्त्व

सफल नाटककार कहे जा सकते हैं। उनके कथानकों का विकास स्वाभाविकता के साथ हुआ है। उनके कथानकों में नाट्यात्मकता भी प्रचुर रूप में मिलती है।

सिद्धान्त की दृष्टि से प्रेमीजी के नाटकों को हम दो वर्गों में विभक्त कर सकते हैं—यथार्थवादी, और यथार्थवाद तथा कल्पना के योग से निर्मित। उनके शुद्ध यथार्थवादी नाटकों में विषपान, आहुति, और स्वप्न भङ्ग का नाम लिया जा सकता है। इन नाटकों का अन्त दुःख के वातावरण में हुआ है। अतः हम इन्हें दुःखांत नाटक कहेंगे। इनमें भावों के अनुरूप ही वस्तु योजना की गई है। भावों और मनोवेगों के द्वन्दात्मक चित्र इन नाटकों में विशेष रूप से मिलते हैं। इनके दूसरे प्रकार के नाटकों में यथार्थ और कल्पना का मिश्रण है। रक्षा बन्धन, शिवा साधना, और बन्धन इस दूसरे ही वर्ग में आते हैं। इन नाटकों का अन्त सुख की स्थिति में हुआ है। अतः हम इन्हें सुखांत कहेंगे। इनकी प्रवृत्ति के अनुसार ही इनमें वस्तु योजना की गई है। इनके पात्रों में मानवीय गुणों-दया, प्रेम, सहानुभूति और करुणा इत्यादि का उच्च स्तर पर विकास हुआ है। इनके पात्र अपने इन्हीं गुणों के द्वारा परिस्थितियों से संघर्ष करते हैं, और उन पर विजय भी प्राप्त करते हैं।

प्रेमीजी के पात्रों को हम दो वर्गों में बाँट सकते हैं—उनके एक प्रकार के पात्रों को हम आदर्शवादी, और दूसरे प्रकार के पात्रों को यथार्थवादी कह सकते हैं। यद्यपि उनके पात्रों में आदर्शवादी पात्रों की संख्या कम है, पर जहाँ भी कहीं उन्होंने ऐसे पात्रों की योजना की है, स्वाभाविकता के साथ की है। 'रक्षा बन्धन' में हुमायूँ, और 'शिवा साधना' में महाराज शिवाजी आदर्शवादी पात्र हैं। इनके यथार्थवादी पात्रों की संख्या अधिक है, प्रायः सभी नाटकों में यथार्थवादी ही पात्र मिलते हैं। पुरुष पात्रों की भाँति ही स्त्री-पात्रों की योजना भी इनके नाटकों में हुई है। इनके प्रायः सभी नारी पात्रों में मानव हृदय के श्रेष्ठ गुण पाए जाते हैं। इनके नारी पात्रों में ऐसे पात्र नहीं मिलते, जिनके सम्बन्ध में यह कहा जाय, कि वे हीनकोटि का चरित्र उपस्थित करते हैं। अतः इनके सम्पूर्ण नारी पात्रों को यदि आदर्शवादी मान लिया जाय तो अत्युक्ति की बात न होगी।

संवाद के क्षेत्र में प्रेमीजी को अधिक सफलता प्राप्त हुई है। उनके पात्रों के संवादों, और कथोपकथनों में अधिक स्वाभाविकता, और मर्मज्ञता है। उनके पात्र अपनी बात चीत में समय और स्थिति का पूरा-पूरा ध्यान रखते हैं। बात चीत करते हुए वे इस बात का भी भली भाँति ध्यान रखते हैं, कि उन्हें क्या कहना है, और किस प्रकार कहना चाहिए, कि वह अधिक से अधिक प्रभाव पूर्ण बन सके। बात चीत करते हुए वे अपनी मर्यादा का भी ध्यान रखते हैं। उनकी बात चीत में समय और स्थिति के अनुसार ओज और गम्भीरता भी दिखाई पड़ती है। भावों और मनोविकारों के अनुरूप कहीं तो उनकी बात चीत गम्भीरता का रूप धारण कर लेती है, और कहीं वह ओजस्विनी बन जाती है। प्रेमीजी के संवादों की इस विशेषता को दृष्टि में रख कर हम यह कह सकते हैं, कि उनकी संवाद-योजना में नाटकत्व का

समावेश है। देश और काल की योजना की दृष्टि से भी प्रेमीजी एक सफल नाटककार कहे जा सकते हैं। उनके प्रायः सभी नाटक अपने युग और काल की स्थितियों पर पूरा-पूरा प्रकाश डालते हैं। अभिनयात्मकता भी उनके नाटकों में प्रचुरता के साथ मिलती है। उनके प्रायः सभी नाटक रंग मंच पर सफलता के साथ अभिनीत किये जा सकते हैं।

आधुनिक काल के नाट्यकारों में और कई ऐसे कलाकार हैं, जो इस समय नाट्य साहित्य के निर्माण में प्रशंसनीय योग दे रहे हैं। उन सभी नाटककारों के नामों का ऊपर उल्लेख किया जा चुका है। इन नाटककारों में कुछ ऐसे कलाकार हैं, जिन्होंने एकांकी नाटक-रचना के क्षेत्र में अधिक प्रसिद्धि प्राप्त की है। अतः हम एकांकी स्तंभ में ही उनकी रचनाओं पर प्रकाश डालेंगे।

—:*:—

६

एकांकी

विषय सूची

१—एकांकी का जन्म और उसका विकास ६८१
(अ) संस्कृत एकांकी कला-वैदिक काल, (आ)—एकांकी नाटक और भरतमुनि, (इ) संस्कृत में एकांकी के जन्म का कारण, (ई) संस्कृत में एकांकी के भेद, (उ) अँगरेजी में एकांकी कला।

२—एकांकी और उसके तत्त्व ६८५
(ऊ) हिन्दी में एकांकी नाटक, (ए) एकांकी नाटकों के प्रचार के कारण, (ऐ) एकांकी क्या है ? (ओ) एकांकी के तत्त्व।

३—हिन्दी में एकांकी ६९२
(औ) हिन्दी एकांकी की प्राचीन कहानी, (अं) हिन्दी के प्राचीन एकांकी का स्वरूप, (अः) शैली की दृष्टि से हिन्दी के एकांकी, (क) टेक नीक की दृष्टि से हिन्दी के एकांकी, (ख) विषय की दृष्टि से हिन्दी के एकांकी, (ग) वादों की दृष्टि से हिन्दी के एकांकी।

४—हिन्दी एकांकी—भारतेन्दु काल ६९८
(ग) भारतेन्दुकाल-मुख्य प्रवृत्तियाँ, (घ) भारतेन्दु और उनके अनुवर्ती, (ङ) भारतेन्दु हरिश्चन्द्र और एकांकी।

५—हिन्दी एकांकी—प्रसाद युग ७०२
(च) प्रसाद काल-पूर्वार्द्ध, (छ) स्वर्गीय जयशंकर प्रसाद, (ज) उत्तरार्द्ध काल, (झ) डा० रामकुमार वर्मा, (ञ) वर्मा जी के नाटकों पर एक प्रकाश, (ट) वर्मा जी की कला, (ठ) वर्माजी के एकांकी नाटकों में नाटक के तत्त्व, (ड) सेठ गोविंददास, (ढ) सेठजी की एकांकी कला, (ण) सद्गुरुशरण अवस्थी, (त) अवस्थी जी की एकांकी कला, (थ) श्री भुवनेश्वर प्रसाद, (द) श्री भुवनेश्वर की एकांकी कला।

६—हिन्दी एकांकी—आधुनिक काल ७१३
(ध) आधुनिक काल-एक झलक, (न) आधुनिक काल के कलाकार-श्री उदयशंकर भट्ट, (प) भट्ट जी की एकांकी कला।

—:*:—

एकांकी का जन्म और उसका विकास

हमारा आज का साहित्य एकांकी नाटकों से ओत प्रोत है। जिस प्रकार आज के उपन्यास जगत में छोटी छोटी कहानियों का अधिक महत्व पूर्ण स्थान है, उसी प्रकार आज के नाट्य-जगत में एकांकी कला अपना महत्व पूर्ण स्थान रखती है। छोटी छोटी कहानियों की भाँति ही एकांकी कला भी जीवन के एक किसी प्रभाव पूर्ण स्थिति को स्पर्श करती है, और उसी के द्वारा एक ही अंक में जीवन का एक ऐसा मार्मिक चित्र उपस्थित कर देती है, जो अधिक हृदय वेधक होता है। एकांकी की कला को एक ही अंक में प्रभाव के तत्वों को एकत्र करना होता है, अतः उसका काम बड़ी सतर्कता का होता है। जहाँ उसका काम अधिक सजगता का होता है, वहाँ वह अधिक प्रभाव पूर्ण और मार्मिक भी होती है। क्योंकि उसका प्रयास अपने एक ही अंक में उन तत्वों को एकत्र करने के लिए होता है, जो हृदय को पकड़ने में बड़े तीव्र होते हैं। एकांकी कला की इस विशिष्टता ने ही आज उसे मानव हृदय के साम्राज्य की स्वत्वाधिकारिणी बना दिया है।

हिन्दी में ही नहीं संसार की सभी भाषाओं के साहित्य में आज एकांकी की धूम है। ऐसा लगता है, कि एकांकी के भीतर ऐसे तत्वों की प्रचुरता है, जो मानव हृदय को स्वभावतः अधिक प्रिय होते हैं। यदि ऐसी बात न होती तो विश्व के सम्पूर्ण मानव हृदय को एकांकी की कला इस रूप में—एक माप पर विमुग्ध न करती। हिन्दी के क्षेत्र को भी एकांकी की कला ने विमुग्ध कर रक्खा है। दिनों दिन हिन्दी के क्षेत्र में उसकी माँग बढ़ती ही जा रही है, और माँग बढ़ने के कारण हिन्दी के क्षेत्र में शनैः शनै उसका विकास बढ़ता जा रहा है। एकांकी की जिस कला ने हिन्दी जगत को विमुग्ध रक्खा है, उसका जन्म और विकास किस प्रकार हुआ—इस बात का ज्ञान प्राप्त करना अधिक आवश्यक है। आज हिन्दी में एकांकी की जो कला अपना पङ्ख पसार कर उसके गगन पर उड़ान मार रही है, उसके जन्म के मूल में संस्कृत और अँगरेजी के एकांकी नाटकों की कला है। अतः हिन्दी की एकांकी कला के जन्म और उसके विकास को जानने के लिए संस्कृत और अँगरेजी की एकांकी कलाओं के जन्म, तथा उनके विकास पर विहंगम दृष्टि डालनी होगी।

पहले हम संस्कृत एकांकी नाट्यकला पर विचार करेंगे। संस्कृत के आदि ग्रन्थ

वेद हैं। वेदों का अध्ययन करने से पता चलता है, कि वैदिक काल में छोटे छोटे

संस्कृत एकांकी कला-वैदिक काल

नाटकों का प्रचार था, जो यज्ञादि और धार्मिक अवसरों पर हुआ करते थे। यह नाटक संवादात्मक होते थे। इनमें केवल तीन ही पात्र होते थे—यजमान, सोम विक्रेता, और अध्वर्यु! यह कहा नहीं जा सकता कि संस्कृत की एकांकी कला का जन्म इन संवादात्मक नाटकों से हुआ है, पर यह निश्चय पूर्वक कहा जा सकता है, कि वैदिक काल में इस प्रकार के संवादात्मक नाटकों का प्रचार था। वैदिक काल के पश्चात् के साहित्य में भी ऐसे नाटकों का अस्तित्व मिलता है। पाणिनि ने भी अपने व्याकरण शास्त्र में शिलालिन् और कृशाश्व ऐसे नाट्याचार्यों के नामों का उल्लेख किया है।

एकांकी नाटक और भरतमुनि

संस्कृत के एकांकी नाटकों का शृङ्खला बद्ध इतिहास भरतमुनि के समय से मिलता है। संस्कृत में भरतमुनि नाट्यकला के प्रथम और आदि आचार्य माने जाते हैं। भरतमुनि ने रूपक और उपरूपक के २२ भेद किए हैं, जिनमें कई ऐसे हैं, जिनकी गणना एकांकी नाटकों के अंतर्गत की जा सकती है। उनके नाम इस प्रकार हैं—भाण, अंक, वीथी, प्रहसन, गोष्ठी, नाट्यरासक, उल्लाप, प्रेंखण, रासक, श्री गदित, और विलासिका। ये सभी रूपक, और उपरूपक के भेदों में से हैं। इनमें एक ही अंक होता है, इसी-लिए इनकी गणना एकांकी नाटकों में की जा सकती है। सर्व प्रथम भरतमुनि ने ही इनका प्रयोग किया था। सफलता प्राप्त होने पर धीरे-धीरे इनका प्रचार हो गया, और ये अस्तित्व में आ गए। संस्कृत में इन एकांकी नाटकों की भी गणना 'नाटक' के ही अन्तर्गत की जाती है।

यहाँ इस बात पर भी विचार करना आवश्यक होगा, कि वे कौन से कारण थे, जिनसे प्रभावित होकर एकांकी कला की सृष्टि की गई। संस्कृत के प्राचीन नाट्य-

संस्कृत में एकांकी के जन्म का कारण

साहित्य का अध्ययन करने पर पता चलता है, कि एकांकी का जन्म भी उन्हीं कारणों से हुआ है, जिन कारणों से नाट्यकला का जन्म हुआ है। अभिनय और अनुकरण की बात मनुष्य की प्रकृति में है। अपनी इसी प्रकृति के कारण मनुष्य ने नाटकीय कला की सृष्टि की है। एकांकी कला की सृष्टि के भीतर भी मनुष्य की यही प्रवृत्ति दिखाई देती है। नाटक कई अङ्कों के होते हैं, और उनके अभिनय में तीन-चार घण्टे के समय की आवश्यकता होती है। नाटकों के अभिनय में अधिक पात्रों की आवश्यकता होती है, और विशिष्ट प्रकार का रंग मंच भी बनाना पड़ता है। समाज में अनेक प्रकार के लोग होते हैं, और उन्हें अनेक स्थितियों में रहना पड़ता है। समाज में ऐसे लोग भी हुआ करते हैं, जिनके पास नाटक का अभिनय करने के लिए न तो अनुकूल स.धन होते हैं, और न अनुकूल वातावरण ही। हमारी समझ में एकांकी नाटक का जन्म ऐसे ही लोगों के लिए हुआ है। प्राचीन काल में, नाटक के साथ ही साथ एकांकी कला की जो सृष्टि हुई, हमारी समझ में उसके मूल में समाज की व्यापकता और मानव

का रुचि-वैचित्र्य ही था। आज भी एकांकी कला इसी आधार पर विकसित हो रही है।

संस्कृत में भी एकांकी कला का जन्म इसी आधार पर हुआ होगा। संस्कृत में एकांकी के कई भेद हैं, जिनके नाम इस प्रकार हैं—व्यायोग, गोष्ठी, अङ्क, भाण,

संस्कृत में एकांकी के भेद

नाट्य रासक, उल्लाप्य, प्रेखण, श्री गदित, विलासिका, हल्लीश, वीथी, और प्रहसन। व्यायोग में एक अङ्क होता है। इसके कथानक में ऐतिहासिक या पौराणिक तत्त्व होते हैं। नायक धीरोद्धत होता है। स्त्री पात्र इसमें बहुत कम होते हैं, पुरुष पात्रों की ही अधिकता रहती है। हास्य या शृङ्गार रस को इसमें प्रधानता नहीं दी जाती। गोष्ठी में एक अङ्क होता है। पात्रों की संख्या नौ या दस होती है, जिनमें पाँच-छः स्त्रियाँ होती हैं। शृंगार इसका मुख्य रस है। 'अङ्क' में करुण रस की प्रधानता होती है। इसके कथानक में स्त्रियों के विलाप, हार या जीत के भाव तथा वैराग्य के भावों की मुख्यता होती है। 'भाण' में एक ही व्यक्ति को दो व्यक्तियों का कार्य करना पड़ता है, और एक ही पात्र द्वारा सारा कथोपकथन संचालित होता है। 'नाट्य रासक' गीति एकांकी है। इसमें हास्य रस की प्रधानता होती है, पर सहायता के रूप में शृङ्गार भी रहता है। प्रमुख पात्र उदात्त, और उपनायक पीठ मर्द होता है। उल्लाप्य का कथानक दिव्य, नायक धीरोदात्त, और रस शृङ्गार, हास्य तथा करुण होता है। 'प्रेखण' में युद्ध और सङ्कट इत्यादि वृत्तियों का विधान होता है। प्रमुख पात्र हीन पुरुष होता है। 'श्री गदित' का कथानक सुप्रसिद्ध होता है। नायक धीरोदात्त होता है। इसमें भारती वृत्ति की अधिकता होती है। विलासिका का कथानक संक्षिप्त और नायक हीन गुण वाला होता है। 'हल्लीश' में एक ही पुरुष पात्र होता है, जो उदात्त वचन बोलने वाला होता है। वीथी के पात्रों की संख्या एक से तीन तक होती है। इसका नायक कल्पित होता है। शृङ्गार रस इसका मुख्य रस होता है। 'प्रहसन' में हास्य रस की प्रधानता होती है।

हिन्दी की एकांकी कला अँगरेजी की एकांकी कला से अधिक प्रभावित है। अतः अँगरेजी की एकांकी कला के जन्म और उसके विकास पर भी संक्षिप्त रूप से प्रकाश

अँगरेजी में एकांकी कला

डाल देना उचित होगा। अँगरेजी की एकांकी कला का जन्म दसवीं शताब्दी के आस पास माना जाता है। अँगरेजी एकांकी कला के जन्म के मूल में उन ईसाई भिक्षुओं और पादरियों की भावना पाई जाती है, जो जनता को धर्म का उपदेश किया करते थे। ये ईसाई भिक्षु और पादरी दया, करुणा, सहानुभूति, क्षमा, और उदारता सम्बन्धी कथाओं के द्वारा जनता में धर्म और नैतिक भावनाओं का प्रचार किया करते। यह कथाएँ जनता के सामने इस प्रकार प्रस्तुत की जाती थीं, कि उनसे जनता को शिक्षा प्राप्त होने के साथ ही साथ मनोरंजन के तत्त्व भी मिलते थे। इन्हीं कथाओं ने अँगरेजी में सर्व प्रथम एकांकी का रूप धारण किया है। इस प्रकार के एकांकी नाटकों का अँगरेजी में

बहुत दिनों तक प्रचार था। इसके पश्चात् धीरे-धीरे ज्यों-ज्यों युग बदलता गया, एकांकी नाटकों के रूप में भी परिवर्तन होता गया। बीसवीं शताब्दी में जब नाटकों का प्रचार बढ़ा, और मनुष्यों की कार्य-व्यस्तता के कारण वे उनके लिए अनुपयुक्त प्रमाणित होने लगे, तब स्थिति और आवश्यकताओं पर दृष्टि रखते हुए आधुनिक एकांकी नाटकों की सृष्टि की गई। पहले एकांकी नाटकों में ऐतिहासिक भावों की प्रधानता होती थी। धार्मिक भावों के आधार पर भी उनका निर्माण किया जाता था। काल्पनिक कथाओं में प्रेम सम्बन्धी भावों की प्रधानता होती थी, जिनमें हत्या, षड्यन्त्र, हिंसा, प्रतिहिंसा, ईर्षा, और द्रोह इत्यादि के तत्त्व अधिक होते थे। पर इधर इब्सेन और पिनेरो के प्रभाव से अँगरेजी के एकांकी नाटकों में नवीन परिवर्तन हुआ है। पहले जहाँ अँगरेजी के एकांकी नाटकों में भावुकता की प्रधानता होती थी, वहाँ अब अंगरेजी के एकांकी यथार्थवादी पृष्ठभूमि पर जीवन की समस्याओं को लेकर लिखे जाते हैं। आज के एकांकी नाटकों में हृदय के तत्त्वों की नहीं, बुद्धि के तत्त्वों की प्रधानता होती है। अँगरेजी के इन्हीं समस्या प्रधान बुद्धिवादी एकांकी नाटकों का हिन्दी की एकांकी कला पर भी प्रभाव पड़ा है। इन्हीं के प्रभाव वश, आज हिन्दी में भी बुद्धि तत्त्व प्रधान एकांकी नाटक लिखे जा रहे हैं, और दिनों दिन उनका विकास भी होता जा रहा है।

एकांकी और उसके तत्त्व

आज हिन्दी साहित्य में एकांकी नाटकों की रचना की ओर लोगों का ध्यान विशेष रूप से प्रवृत है। साहित्य के अन्यान्य अंगों की भाँति ही, आज एकांकी

हिन्दी में एकांकी नाटक

नाटकों की रचना में भी लोगों ने विशेष प्रगति की है। हिन्दी में एकांकी नाटकों का जन्म किस प्रकार हुआ—यह विचारणीय प्रश्न है। इस प्रश्न को लेकर लोगों ने दो प्रकार के मत निश्चित किए हैं। कुछ लोगों का मत है, कि हिन्दी साहित्य में एकांकी नाटकों का जन्म संस्कृत के द्वारा हुआ है। इसके विपरीत कुछ लोगों का कथन यह है, कि हिन्दी में एकांकी नाटकों का जन्म अँगरेजी के द्वारा हुआ है। दोनों मतों की सत्यता को जानने के लिए हमें यह देखना होगा, कि हिन्दी के एकांकी नाटक शैली, टेकनीक, और पात्रों की योजना इत्यादि में किससे अधिक सादृश्य रखते हैं—संस्कृत के एकांकी नाटकों से, या अँगरेजी के एकांकी नाटकों से। संस्कृत और अँगरेजी के एकांकी नाटकों पर जब हम दृष्टि डालते हैं, तो यह देखते हैं, कि हिन्दी के एकांकी नाटक अँगरेजी के एकांकी नाटकों के अधिक निकट हैं। जिस प्रकार की शैली, कल्पना, पात्र, और टेकनीक इत्यादि अँगरेजी के एकांकी नाटकों में मिलते हैं, उसी प्रकार की शैली, कल्पना, पात्र योजना, और टेकनीक हिन्दी के एकांकी नाटकों में भी मिलते हैं। इसके विपरीत संस्कृत के एकांकी नाटकों से हिन्दी के एकांकी नाटक अधिक दूर दिखाई देते हैं। अतः यह कहना पड़ेगा, कि हिन्दी में एकांकी नाटकों का जन्म अँगरेजी एकांकी नाटकों के आधार पर ही हुआ है। अँगरेजी एकांकी नाटकों की शैली पर ही हिन्दी के एकांकी नाटक लिखे जा रहे हैं। बँगला और मराठी इत्यादि भाषाओं के एकांकी नाटकों ने भी हिन्दी के एकांकी नाटकों को प्रभावित किया है।

एकांकी नाटकों का आज अधिक महत्व है। संसार की सभी भाषाओं में आज एकांकी नाटकों का प्रचार बढ़ता जा रहा है। हिन्दी साहित्य में भी दिनों दिन एकांकी

एकांकी नाटकों के प्रचार का कारण

नाटकों के क्षेत्र में उन्नति होती जा रही है। एकांकी नाटकों के इस प्रचार और विकास के भीतर उनका महत्व छिपा हुआ है। एकांकी नाटक जीवन की एक प्रभाव पूर्ण स्थिति या दशा को लेकर अपने कार्य-व्यापार की रचना करते हैं। वे जिस स्थिति या

तत्व को लेकर चलते हैं, उसमें ऐसे प्रभाव पूर्ण तत्त्व छिपे रहते हैं, जो हृदय पर बड़ी सक्षमता के साथ प्रभाव डालते हैं। एकांकी नाटकों में हृदय की प्रभाव पूर्ण भावनाओं और चित्त की जाग्रत प्रवृत्तियों का समावेश प्रचुरता के साथ होता है। यही कारण है, कि एकांकी नाटकों में मानव-हृदय को आकर्षित करने की अधिक शक्ति होती है। आज के मानव समाज में एकांकी नाटकों के प्रचार और प्रसार का एक और भी कारण है। आज के मनुष्य का जीवन अधिक संघर्षमय है। आज का मनुष्य भौतिक जगत पर विजय प्राप्त करने की कामना में दिन रात संघर्षरत रहता है। आज उसकी लालसाओं का विस्तार अधिक बढ़ गया है, और वह दिन रात उन्हीं की पूर्ति में जुटा रहता है। अतः आज उसके पास समय का अभाव है। समय का अभाव होने के कारण आज वह अपने जीवन की अन्यान्य उपयोगी वस्तुओं को ऐसे बनाता जा रहा है, कि जिससे उनके उपयोग में उसके समय की बचत हो। मनुष्य की इसी अभिलाषा ने साहित्य के अंतर्गत छोटी छोटी कहानियों, और एकांकी नाटकों को प्रश्रय दिया है। आज एकांकी नाटकों का जो अधिक प्रचार हो रहा है, उसके मूल तत्त्व में मनुष्य की यही अभिलाषा छिपी हुई है।

एकांकी क्या है—यहाँ इस पर भी विचार कर लेना आवश्यक है। एकांकी एक अंक का होता है। किन्तु इतने से ही हम एकांकी की परिभाषा के सम्बन्ध में एकांकी क्या है? वास्तविक ज्ञान नहीं प्राप्त कर सकते। एकांकी की परिभाषा को ठीक ठीक जानने के लिए हमें खुलकर विचार करना होगा। एकांकी की परिभाषा के संबन्ध में लोगों के भिन्न भिन्न मत हैं। कुछ लोगों का कहना है, कि नाटक के संक्षिप्त रूप को ही एकांकी कहते हैं। इसके विपरीत कुछ लोग यह भी कहते हैं, कि नाटक और एकांकी में बहुत कम अंतर होता है। पर इस प्रकार के मतों में कोई वास्तविकता नहीं दिखाई पड़ती, क्योंकि नाटक और एकांकी की प्रकृति पर विचार करने पर दोनों में अधिक अंतर दिखाई पड़ता है। नाटक और एकांकी के बाह्य आकार प्रकार में अंतर तो होता ही है, उसके आंतरिक स्वरूप और प्रकृति में भी अंतर होता है। हम जिसे नाटक कहते हैं, उसमें नाटक के सभी तत्त्व पाए जाते हैं। इसके विपरीत एकांकी नाटक में नाटक के सभी तत्व नहीं मिलते। नाटक में जीवन की पूर्ण रूप से विवेचना क्रम बद्ध की जाती है। उसमें कई अंक होते हैं, और दृश्य भी अधिक होते हैं। नाटक में जीवन की विभिन्न परिस्थितियों, घटनाओं, और कार्य व्यापारों के चित्र होते हैं। इसके विपरीत एकांकी नाटक में केवल एक ही अंक होता है। इसमें जीवन की केवल एक ही समस्या प्रभाव पूर्ण घटना या महत्व पूर्ण स्थिति की विवेचना की जाती है। एकांकी नाटक क्या है—इस सम्बन्ध में कुछ विद्वानों के मतों का उल्लेख कर देना अनुचित न होगा। श्री सदगुरुशरण अवस्थी एकांकी नाटकों के ऊपर प्रकाश डालते हुए लिखते हैं—एकांकी नाटक का सुनिश्चित एक लक्ष्य होता है।.....केवल एक ही घटना, परिस्थिति या समस्या प्रबल होती है।

कार्य कारण की घटनावलि, कोई गौण परिस्थिति और समस्या को उसमें कोई स्थान नहीं होता।' सेठ गोविन्ददासजी का कथन है—'एक कृत्य के सम्बन्ध में होना एकांकी के लिए अनिवार्य है।' डाक्टर रामकुमार वर्मा एकांकी के संबन्ध में विचार प्रगट करते हुए लिखते हैं—'विस्तार के अभाव में प्रत्येक घटना कली की भाँति खिल कर पुष्प की भाँति विकसित होती है। उसमें लता के समान फैलने की उच्छृंखलता नहीं।' प्रोफेसर अमरनाथ गुप्त ने भी इसी मत का प्रतिपादन करते हुए लिखा है—'एकांकी नाटक का विषय जीवन की एक घटना है। सहायक विषयों के लिए उसमें कोई स्थान नहीं है।'

एकांकी और नाटक में अधिक अन्तर है। पर नाटक के निर्माण में जिन तत्त्वों की आवश्यकता होती है, उन्हीं तत्त्वों से एकांकी का भी निर्माण होता है। संक्षेप रूप में एकांकी के तत्त्वों के नाम इस प्रकार हैं—कथानक वस्तु, चरित्र चित्रण, कथोपकथन, शैली, और उद्देश्य। एकांकी के कथानक के चुनाव में विशेष ध्यान देने की आवश्यकता है। नाटक के कथानक की भाँति ही एकांकी का कथानक भी इतिहास, पुराण, जीवन, समाज और राजनीति इत्यादि क्षेत्रों से लिया जाता है। यह आकार और विस्तार में अधिक छोटा होता है। इसे अपने छोटे आकार और विस्तार में ही एक मर्म स्पर्शी प्रभाव उत्पन्न करना होता है; साथ ही उसे जीवन के एक विशेष अंश की विवेचना भी करनी होती है; अतः एकांकी के कथानक के चुनाव में बड़ी सतर्कता से काम लेने की आवश्यकता है। एकांकी के कथानक के चुनाव में मुख्य रूप से पाँच बातों पर ध्यान देना चाहिए—'एक तो यह, कि कथानक उद्देश्य के अनुकूल होना चाहिए, दूसरी बात यह, कि कथानक में वास्तविकता होनी चाहिए, तीसरी बात यह, कि कथानक में ऐसे तत्व होने चाहिए, जिनसे जिज्ञासा और कौतूहल के भाव उत्पन्न होते हों, चौथी बात यह, कि कथानक में एकता हो, और पाँचवीं बात यह, कि कथानक में आकस्मिकता अर्थात् उसमें ऐसी क्षमता होनी चाहिए, जो अन्तिम फल को उसकी चरम सीमा तक अपने में छिपाए रहे।

वस्तु को प्लाट भी कहते हैं। कथानक का चयन करने के पश्चात् कलाकार उसे काट छाँट कर सुन्दर, और परिमार्जित बनाता है। उसे ऐसा स्वरूप प्रदान करता है, जिससे वह नाटक का स्वरूप धारण कर सके। कथानक का यही परिमार्जित और सँवारा हुआ रूप 'वस्तु' के नाम से प्रसिद्ध है। वस्तु निर्माण में कलाकार को बहुत ही सतर्क रहने की आवश्यकता है, क्योंकि उसके रचना-व्यापार की सफलता बहुत कुछ वस्तु निर्माण के ही ऊपर निर्भर करती है। कथानक को वस्तु के साँचे में ढालते हुए कलाकार को निम्नांकित बातों पर ध्यान देना चाहिए—'देश काल और पात्रों की स्वाभाविकता, घटनाओं का सामंजस्य, और दर्शकों को अपनी ओर खींच कर उनके चित्त को अपने में लगाना। जो कलाकार वस्तु निर्माण में उक्त बातों पर दत्त चित्तता से ध्यान देता है, उसकी वस्तु योजना अधिक सफल और प्रभाव पूर्ण होती

है। वह अपनी इस प्रभाव पूर्ण वस्तु योजना के द्वारा अपने रचना-व्यापार में सफल होता है, और वह अपने उस उद्देश्य को पूर्ण कर लेता है, जिसके लिए उसका प्रयत्न होता है।

वस्तु का एक उद्देश्य होता है—एक लक्ष्य होता है। वस्तु का सम्पूर्ण प्रयत्न—उसकी सम्पूर्ण योजना अपने उस उद्देश्य तथा लक्ष्य के ही लिए होती है। वस्तु को अपने उद्देश्य और लक्ष्य तक पहुँचने में कई अवस्थाओं को पार करना होता है। साहित्य के आचार्यों ने उनमें चार अवस्थाओं को मुख्यता प्रदान की है, जिनके नाम इस प्रकार हैं—प्रवेश, अन्तर्द्वन्द्व, चरम सीमा, और अन्त। प्रवेश अवस्था प्रारंभ की अवस्था को कहते हैं। इस अवस्था में कलाकार नाटक से सम्बन्ध रखने वाली मुख्य बातों का परिचय पाठकों को देता है, साथ ही पाठकों के मन में जिज्ञासा और विस्मय भी उत्पन्न कर देता है, जिससे उनका मन अन्त तक नाटक में रमा रहता है। अन्तर्द्वन्द्व अवस्था वह है, जो प्रवेश के पश्चात् आती है। इस अवस्था में विचारों और भावों का संघर्ष होता है। विपरीत विचारों और भावों के संघर्ष द्वारा ही इस अवस्था में वस्तु योजना को गति प्रदान की जाती है। इस अवस्था को हम एकांकी नाटक की मुख्य अवस्था भी कह सकते हैं। क्योंकि इसी अवस्था में कलाकार की कुशलता और उसकी मर्मज्ञता देखने को मिलती है। इसी अवस्था में नाटक के भीतर उसके उस प्राण की प्रतिष्ठा होती है, जिसकी ज्योति उसके सम्पूर्ण व्यापार को आलोकित करती है। तीसरी अवस्था में उसके नाम के ही अनुरूप भावों का चरम विकास होता है। इस अवस्था में भाव विकसित होकर एक स्वरूप धारण कर लेता है। इसके साथ ही साथ इस तीसरी अवस्था में लक्ष्य और उद्देश्य प्राप्ति के लिए उसकी गति शीलता का भी पता चल जाता है। पाश्चात्य शैली के एकांकी नाटकों में यह तीसरी अवस्था, जिसे चरम सीमा की अवस्था कहते हैं, दो रूपों में मिलती है। एक रूप को हम उसका आन्तरिक, और दूसरे रूप को बाह्य रूप कह सकते हैं। आन्तरिक रूप में भावों का उत्कर्ष दिखाया जाता है। बाह्य रूप का निर्माण घटनाओं के उत्कर्ष द्वारा किया जाता है। चौथी अवस्था को अन्त की अवस्था कहते हैं। इस अवस्था में नाटक की सम्पूर्ण समस्याओं का चित्र विस्मय पूर्ण ढङ्ग से स्पष्ट हो जाता है।

वस्तु के चित्रों को सामने उपस्थित करने का कार्य पात्रों के द्वारा होता है। वस्तु में जो सार तत्त्व छिपा रहता है, वह पात्रों के द्वारा ही अभिव्यक्त किया जाता है। एकांकी नाटकों में पात्रों की संख्या चार या पाँच से अधिक नहीं होती। चार या पाँच ही पात्र एकांकी नाटकों की संपूर्ण क्रियाओं की पूर्ति करते हैं। एकांकी नाटकों में अधिक पात्रों की योजना करने से उनकी नाटकीय कला का ह्रास होता है। एकांकी नाटकों में नायक तो होता ही है, प्रतिनायक भी होता है। किन्तु प्रतिनायक की योजना विशेष स्थितियों में की जाती है। प्रतिनायक की योजना उस समय की जाती है, जब या तो वस्तु में बाह्य संघर्ष की अधिकता होती है, और या उसमें प्रेम के भावों

की प्रधानता होती है। जिन एकांकी नाटकों में प्रतिनायक की योजना नहीं होती, उनमें सम्पूर्ण कार्य व्यापार नायक नायिकाओं से ही पूर्ण किया जाता है। इस प्रकार के नाटकों में नायक के अतिरिक्त सभी पात्र गौण होते हैं। पात्रों की दृष्टि से हम एकांकी नाटकों को तीन वर्गों में विभक्त कर सकते हैं—एकांकी नाटकों का एक वर्ग तो वह है, जिसमें नायक और प्रतिनायक दोनों की योजना होती है, दूसरा वर्ग वह है, जिसमें नायक और सभी गौण पात्र मिल कर कथा को अग्रसर करते हैं, और तीसरा वर्ग वह है, जिसमें नायक और प्रतिनायक के साथ मिल कर सभी गौण पात्र कथानक के विकास में योग देते हैं।

एकांकी नाटकों के कथानकों में तीन श्रेणी के पात्र होते हैं—नायक, प्रतिनायक और गौण। इन पात्रों से निम्नांकित चार प्रकार के कामों की पूर्ति होती है—उत्तेजक, माध्यम, सूचक, और प्रभाव व्यंजक। कथा सूत्र को उत्तेजित करके उसे आगे बढ़ाने वाले गौण पात्रों को उत्तेजक कहते हैं। माध्यम पात्र वह कहलाता है, जो मुख्य पात्र या नायक के मनोगत भावों को प्रगट करता या करता है। माध्यम नायक प्रधान पात्र के मनोगत भावों को स्वगत होने से रोकता है। यह नायक का या तो कोई मित्र होता है, अथवा आत्मीय होता है। सूचक नाटक की उन वस्तुओं की सूचना देता है, अथवा पिछली घटनाओं की याद दिलाता है, जो नाटक के लिए उपयोगी होती हैं। रहस्यों को प्रगट करने और अप्रत्यक्ष विषयों को सामने स्पष्ट रूप से उपस्थित करने का काम भी सूचक के ही द्वारा होता है। भूमिका की भाँति आकस्मिक उपस्थित होने वाले पात्रों को प्रभाव व्यंजक कहते हैं। ये पात्र संकेत और इंगित के रूप में उपस्थित होकर एकांकी के प्रभाव को परिवर्तित कर देते हैं।

पात्रों के चरित्र चित्रण पर विशेष रूप से ध्यान देने की आवश्यकता है। पात्रों के चरित्र चित्रण के लिए मुख्य रूप से दो बातों पर ध्यान देना चाहिए—एक तो पात्रों की चित्त वृत्ति, और दूसरी पात्रों से सम्बंध रखने वाली घटनाएँ। क्योंकि पात्रों के चरित्र विकास पर इन्हीं दोनों बातों का मुख्य रूप से प्रभाव पड़ता है। चित्त वृत्ति से तात्पर्य पात्रों के विचार से है। चरित्र विकास के लिए पात्रों के विचारों पर नियन्त्रण रखना आवश्यक है। पात्रों के मुख से जो विचार निकलें, वे स्वाभाविक होने चाहिए। स्वाभाविक होने के साथ ही साथ वे देश काल और जीवन के अनुरूप भी हों। विचारों में स्थिति और मर्यादा का भी ध्यान रखना आवश्यक है। विचारों में सम्बद्धता और अनुकूलता होनी चाहिए। विचारों की शृंखला ऐसी होनी चाहिए, कि एक पात्र के विचार दूसरे के विपरीत होने पर भी शृंखला की कड़ी की भाँति ज्ञात होते हों। विचारों की भाँति ही घटनाओं की अनुरूपता पर भी ध्यान देना चाहिए, साथ ही इस बात को भी जानना चाहिए, कि घटनाओं का पात्रों के मस्तिष्क पर किस प्रकार प्रभाव पड़ रहा है। यह भी देखना आवश्यक है, कि एक ही विशेष घटना पात्रों के हृदय में भिन्न भिन्न प्रकार की कैसी हलचलें उत्पन्न कर रही हैं। यह कार्य निरीक्षण की शक्ति के द्वारा किया जा सकता है।

जिस कलाकार में निरीक्षण शक्ति जितनी ही अधिक होती है, वह पात्रों के चरित्र चित्रण में उतना ही अधिक सफल होता है।

संवाद और कथोपकथन का एकांकी में अधिक महत्त्व पूर्ण स्थान है। संवाद एक ऐसा तत्व है, जो एकांकी के स्वरूप को बनाता है, और उसे सफलता के निकट पहुँचाता है। एकांकी में जो विशिष्टता, जो सौष्ठव, और जो आकर्षण होता है, उसके निर्माण में संवाद का अधिक हाथ होता है। चरित्र और कथानक का विकास एकांकी में संवाद के ही द्वारा होता है। कथानक की अवस्थाएँ, जिसे प्रवेश, अंतर्द्वन्द, उत्कर्ष और अपकर्ष कहते हैं, संवाद के द्वारा सामने आती हैं। यही कारण है, कि विद्वानों ने संवाद को एकांकी की आत्मा और उसके प्राणों के रूप में स्वीकार किया है।

एकांकी का संवाद किस प्रकार का होना चाहिए—यही यहाँ विचारणीय प्रश्न है। जिस संवाद का एकांकी के जीवन में इतना अधिक महत्व है, उसकी योजना में कलाकार को अधिक ध्यान देने की आवश्यकता है। एकांकी के संवाद का पहला गुण उसकी प्रभावोत्पादकता है। संवाद की रचना इस प्रकार करनी चाहिए, कि वह दर्शकों और पाठकों को अपनी ओर खींच ले। खींच ही न लें, वरन् उन्हें अपने में रमा लें। संवाद में ऐसी शक्ति होनी चाहिए, कि वह अपने उद्देश्य और इष्ट भाव का पूरा पूरा प्रभाव दर्शकों के हृदय पर डाल दे। संवाद अधिक बड़ा न होना चाहिए। जो कुछ कहना हो, उसे थोड़े ही शब्दों में प्रभाव पूर्ण ढंग से कहना चाहिए। भावों को प्रगट करने के लिए ऐसे शब्दों को चुनना चाहिए, जिनमें थोड़े ही में अधिक भावों को प्रगट करने की शक्ति हो। चातुरी और मर्म स्पर्शिता का होना अति आवश्यक है। संवाद का एक एक शब्द सजीव हो, और भावों का चित्र अंकित करता हो। संवाद योजना में कथानक और चरित्र के विकास पर पूर्ण रूप से ध्यान देना चाहिए। संवाद योजना का प्रत्येक शब्द चरित्र और कथानक पर अपनी मुहर लगाता हो, तथा दोनों के विकास के लिए भरपूर सहायता प्रदान करता हो। संवाद योजना सरल और स्पष्ट भी होनी चाहिए।

संवाद योजना की भाँति शैली का भी एकांकी के जीवन में अधिक महत्व है। शैली ही वह वस्तु है, जिसके द्वारा कलाकार भावों को व्यक्त करता है। इतना ही नहीं, वरन् शैली के भीतर ही कथानक और चरित्र की सफलता छिपी रहती है। शैली को देख करके ही हम यह जान सकते हैं, कि किस कलाकार में कितनी मर्मज्ञता है, पर शैली का कोई रूप निश्चित नहीं किया जा सकता। क्योंकि जितने लेखक होते हैं, पृथक पृथक रुचि होने के कारण सबकी अपनी अलग-अलग शैली भी होती है। फिर भी विद्वानों ने एकांकी की शैली को दो रूपों में विभक्त किया है—विकास की शैली, और उद्घाटन की शैली। विकास की शैली वह है, जिसमें घटना और चरित्र की प्रधानता होती है। इस शैली के नाटकों में

घटना और चरित्रों का विकास अपनी चरम सीमा तक पहुँचता है। दूसरी शैली में, जिसे उद्घाटन की शैली कहते हैं, विचारों की प्रधानता होती है। इस शैली के द्वारा विचारों की ग्रन्थियाँ खुलती हैं, और उनका उद्घाटन होता है। यह शैली व्याख्यात्मक होती है। इन दोनों शैलियों को ही आधार मान कर हिन्दी में दो प्रकार के एकांकी नाटकों की सृष्टि हुई है, जिनमें एक को 'विकासात्मक', और दूसरे को 'संघर्षात्मक' कह सकते हैं। विकासात्मक एकांकी वे हैं, जिनमें घटना कई प्रकार की शक्तियों, और साधनों का संचय करती हुई लक्ष्य की ओर बढ़ती है, और पाठकों तथा दर्शकों की जिज्ञासा को पूर्ण करती है। सेठ गोविन्ददास और डा० रामकुमार वर्मा के एकांकी नाटक इसी श्रेणी के अंतर्गत आते हैं। संघर्षात्मक नाटक वे हैं, जिनमें पात्रों का द्वन्द होता है। श्री भुवनेश्वर के एकांकी नाटकों की गणना इस कोटि में की जा सकती है।

एकांकी का अन्तिम तत्व उद्देश्य है। उद्देश्य अपनी अपनी रुचि के अनुसार भी हो सकते हैं। साधारण रूप से देश प्रेम, देश भक्ति, मानवता, चरित्र विकास, सामयिक समस्याएँ, विश्व-बन्धुत्व, और जीवन की समस्याओं से सम्बन्ध रखने वाले उद्देश्य अच्छे समझे जाते हैं। उद्देश्य ऐसा होना चाहिए, जिससे समाज, देश, और जीवन को गति प्राप्त हो। जहाँ तक हो सके, उद्देश्य को आदर्श की ही पृष्ठभूमि पर स्थित करना चाहिए। यदि उद्देश्य में यथार्थवाद की प्रमुखता हो तो उसे इस प्रकार प्रस्तुत करना चाहिए, जिससे समाज और जीवन में कुरूपता न उत्पन्न हो। कलाकार का काम है अपनी रचनाओं के द्वारा मानव की प्रवृत्तियों को समुज्वल बनाना, और उसके चरित्र को ऊपर उठाना। कलाकार को अपने जीवन के इस महत् लक्ष्य को ही सामने रख कर अपने नाटकों का उद्देश्य भी निश्चित करना चाहिए।

—:o:—

हिन्दी में एकांकी

आज हिन्दी-साहित्य में एकांकी की सफल रचना हो रही है। आज एकांकी के क्षेत्र में ऐसे कलाकार पाये जाते हैं, जिनकी रचनाओं में विश्व-साहित्य के तत्व प्रचुर

हिन्दी एकांकी को रूप में मिलते हैं। आज हिन्दी में कितने प्रकार की एकांकी

प्राचीन कहानी की रचना हो रही है, और उनमें विकास के कितने तत्त्व मिलते हैं—इस पर प्रकाश डालने के पूर्व हमें यह जान लेना आवश्यक है, कि हिन्दी में एकांकी नाटकों का जन्म कब से हुआ है। एकांकी नाटकों के जन्म की कहानी को जानने के लिए हमें भारतेन्दु युग की स्थितियों पर ध्यान देना होगा। भारतेन्दु युग के पूर्व किस प्रकार नई चेतनाएँ भारत में फैलीं, किस प्रकार समाज के जीवन में जागरूकता का सचार हुआ, और किस प्रकार अँगरेजी शिक्षा का प्रभाव भारतीय जीवन पर पड़ा—इन बातों पर भी ध्यान देना होगा। पिछले अध्यायों में कई बार इन बातों पर भली भाँति प्रकाश डाला जा चुका है। यह भी बताया जा चुका है, कि अंगरेजी साहित्य का सर्व प्रथम प्रभाव बँगला साहित्य पर पड़ा था। सर्व प्रथम बगला साहित्य में ही ऐसी रचनाओं की अभिव्यक्ति हुई थी, जिन पर अँगरेजी साहित्य का प्रभाव पड़ा था। एकांकी नाटकों की सृष्टि भी सर्व प्रथम बँगला में ही हुई थी। बँगला के ही नाटकों को देख कर भारतेन्दु हरिश्चन्द्रजी के मन में हिन्दी में भी एकांकी नाटकों के निर्माण की प्रेरणा उत्पन्न हुई थी। भारतेन्दु बाबू ने बँगला और अंगरेजी के नाटकों का अध्ययन भी किया था। किन्तु भारतेन्दु बाबू ने जिन एकांकी नाटकों की रचना की, उनमें उन्होंने संस्कृत की नाट्य-परम्परा का ही पालन किया है। भारतेन्दुजी के पश्चात् उनके युग के सभी लेखकों ने भी संस्कृत की प्राचीन नाट्य-परम्परा का ही पालन किया है। पर इस बात से अस्वीकार नहीं किया जा सकता, कि नये ढङ्ग के एकांकी नाटकों का जन्म भारतेन्दु युग में ही हो चुका था। भारतेन्दु और उनके अनुयायियों की रचनाओं में कहीं कहीं एकांकी की नवीन शैली की झलक देखने को मिलती है।

भारतेन्दुजी के युग के पश्चात् वह युग हमारे सामने आता है, जिसे द्विवेदी युग कहते हैं। द्विवेदी युग का प्रारम्भ होने के पूर्व समाज और जीवन में नई चेतनाएँ व्याप्त हो उठी थीं। राष्ट्रीय समस्याओं से देश का कोना-कोना आन्दोलित

हो उठा था। अँगरेजी शिक्षा और साहित्य के प्रचार से देश के प्रत्येक क्षेत्र में नई-नई भावनाएँ जन्म ले रही थीं। अँगरेजी शिक्षा और साहित्य के प्रचार के कारण हिन्दी के नाट्य साहित्य के क्षेत्र में भी नई भावनाओं ने जन्म धारण किया। नवीन भावनाओं के प्रतिफल स्वरूप ही हिन्दी में आधुनिक एकांकी नाटकों की सृष्टि होने लगी। सर्व प्रथम श्री जी० पी० श्री वास्तव, श्री जयशङ्कर प्रसाद, पं० रामनरेश त्रिपाठी, श्री सुदर्शन, श्री उग्र, और श्री हरिशङ्कर शर्मा इत्यादि लेखकों का ध्यान इस ओर आकर्षित हुआ। इनके पश्चात् डाक्टर रामकुमार वर्मा, श्री भुवनेश्वर, और श्री सत्येन्द्र इत्यादि कलाकारों ने एकांकी के क्षेत्र में नए युग की रचना की। एकांकी का वही युग आज हिन्दी साहित्य में पल्लवित और पुष्पित हो रहा है।

हिन्दी के प्राचीन एकांकी का स्वरूप

हिन्दी एकांकी के जन्म और विकास का जो चित्र ऊपर दिया गया है, उससे पता चलता है, कि हिन्दी एकांकी का जन्म भारतेन्दु के जीवन में हुआ था। हिन्दी एकांकी को जन्म देने का श्रेय भारतेन्दु बाबू को ही है। भारतेन्दु बाबू ने जिस हिन्दी एकांकी को जन्म दिया था, उनके सहयोगियों द्वारा उसका पालन-पोषण हुआ। द्विवेदी युग के प्रथम चरण में यद्यपि हिन्दी के आधुनिक एकांकी का जन्म हो चुका था, और उसमें गति भी उत्पन्न हो चुकी थी, पर फिर भी उस पर प्राचीनता की छाप थी। भारतेन्दु काल, और द्विवेदी काल के उस समय तक, जब तक हिन्दी के एकांकी ने आधुनिकता का रूप नहीं धारण किया था, हिन्दी के एकांकी का स्वरूप क्या था—यहाँ इसी बात पर प्रकाश डालना है। हिन्दी का प्राचीन एकांकी बहुत छोटे आकार का होता था। उसमें घटनाओं की ही प्रधानता होती थी। उसका विषय या तो पौराणिक होता था, या ऐतिहासिक और या नैतिक। सुधार की भावना उसमें मुख्य रूप से होती थी। कला की दृष्टि से वह प्रायः शून्य ही होता था। न उसमें रंग-संकेतों की व्यवस्था होती थी, और न दृश्यों का ही विधान था। इसके प्रतिकूल स्वगत, नान्दी, और मङ्गलाचरण तथा प्रस्तावना का उसमें विधान होता था। जीवन की समस्याओं से उसका कोई सम्बन्ध न था। प्रायः आदर्श ही उसका लक्ष्य होता था। न उसमें गति होती थी, और न जीवन। चरित्र विकास पर भी बहुत कम ध्यान दिया जाता था, सारा प्रयत्न 'रस' परिपाक की ओर केन्द्रित रहता था। पात्र इतने अधिक होते थे, कि अभिनय में अधिक कठिनाई का सामना करना पड़ता था। पात्रों की बात चीत में सयम और समय की अनुकूलता पर बहुत कम ध्यान दिया जाया था। अधिकतर संवाद बड़े बड़े और उपदेशात्मक होते थे। गीतों की भी उनमें व्यवस्था रहती थी। नृत्य के लिए भी विधान था।

आधुनिक एकांकी का स्वरूप इससे बिलकुल भिन्न है। आधुनिक एकांकी जीवन के अधिक निकट है। आधुनिक एकांकी का एक मात्र लक्ष्य जीवन की सम-

शैली की दृष्टि से हिन्दी के एकांकी

स्याओं का चित्रण है। भाषा, शैली, और विधान में भी आधुनिक एकांकी प्राचीन एकांकी से सर्वथा भिन्न है। पात्र, चरित्र, संवाद, कथा इत्यादि क्षेत्रों में आधुनिक एकांकी ने एक नया स्वरूप प्राप्त किया है। अब हम हिन्दी के आधुनिक एकांकी को कई दृष्टियों से समझने की चेष्टा करेंगे। सर्व प्रथम हम शैली की दृष्टि से आधुनिक एकांकी की समीक्षा करेंगे। शैली की दृष्टि से हिन्दी का एकांकी बारह वर्गों में विभक्त किया जा सकता है, जिनके नाम इस प्रकार हैं—सरल शैली के एकांकी, गम्भीर शैली के एकांकी, व्यंगात्मक शैली के एकांकी, हास्यात्मक शैली के एकांकी, भावात्मक शैली के एकांकी, गीतात्मक शैली के एकांकी, प्रतीकात्मक शैली के एकांकी, आलोचनात्मक शैली के एकांकी, समस्या प्रधान शैली के एकांकी, चारित्र्यिक शैली के एकांकी, संवादात्मक शैली के एकांकी, और घटना प्रधान शैली के एकांकी। सरल शैली के एकांकी वे हैं, जिनमें उतना ही प्रगट किया जाता है, जितना, कि आवश्यक होता है। इस शैली के नाटकों में सरसता और सरलता पर अधिक ध्यान दिया जाता है। डाक्टर रामकुमार वर्मा का 'परीक्षा' इसी शैली के अन्तर्गत आता है। गम्भीर शैली के नाटक वे हैं, जिनमें विचारों की गम्भीरता रहती है। दार्शनिक विषयों पर लिखे गए, और विचारात्मक नाटक इसी शैली के अन्तर्गत आते हैं। भट्टजी ने 'धूम शिखा' की रचना इसी शैली में की है। व्यंगात्मक शैली के एकांकी नाटक वे हैं, जिनमें शब्दों की वक्रता के कारण कथन की ध्वनि दूसरी ही निकलती है। इस शैली के नाटकों में व्यंग, कटाक्ष, और वाक् वैदग्ध भी होता है। भुवनेश्वर ने 'ट्राइक' की रचना इसी शैली में की है। हास्यात्मक शैली के एकांकी नाटकों को प्रहसन भी कहते हैं। इन नाटकों में हास्य और विनोद की प्रधानता रहती है। श्री भगवतीचरण वर्मा का 'सबसे बड़ा आदमी' इसी शैली में लिखा गया है। भावात्मक शैली के एकांकी नाटकों में कल्पना और अनुभूति की प्रधानता होती है। इस शैली के एकांकी नाटकों में पद्य की अधिकता होती है। श्री उदयशङ्कर भट्ट का 'विश्वामित्र' इसी शैली में लिखा गया है। गीतात्मक शैली के एकांकी गीतिमय होते हैं, जो कल्पना और अनुभूति को आधार मान कर लिखे जाते हैं। श्री उदयशङ्कर भट्ट ने 'मत्स्य गंधा' की रचना इसी शैली में की है। प्रतीकात्मक शैली के नाटक वे हैं, जिनमें कल्पना और अनुभूति को आधार मान कर अमूर्त को मूर्त रूप दिया जाता है। 'प्रसादजी' का एक घूंट इसी शैली के अन्तर्गत आता है। आलोचनात्मक शैली के एकांकी नाटकों में समस्याओं की आलोचना होती है। इस शैली के नाटक साधारण रूप से मानवीय दुर्बलताओं की ओर संकेत करते हैं, और वर्तमान जीवन की ही अभिव्यक्ति में अपनी सार्थकता समझते हैं। इस शैली के नाटकों को दो वर्गों में विभक्त किया गया है—विवेकमय, और भावुकतामय। विवेकमय शैली के नाटकों में तर्क और भावुकतामय शैली के नाटकों में भावुकता की प्रधानता होती है। समस्या प्रधान शैली के एकांकी नाटकों

में वर्तमान जीवन की समस्याओं की ओर ध्यान आकर्षित करने का प्रयत्न किया जाता है। साथ ही साथ उन पर विचारों का प्रकाश भी फेंका जाता है। चारित्रिक शैली के एकांकी नाटकों में किसी आदर्श चरित्र का चित्रण किया जाता है। इस प्रकार के एकांकी नाटक घटनाप्रधान होते हैं। सेठ गोविन्ददासजी ने अधिकार लिप्सा की रचना इसी शैली में की है। संवादात्मक शैली के एकांकी नाटक वे हैं, जिनमें कथानक को संवाद के रूप में प्रस्तुत किया जाता है। जैसे—सेठ गोविन्ददासजी का चतुष्पद। घटना प्रधान शैली के एकांकी नाटकों में घटनाओं के तारतम्य की ओर विशेष रूप से ध्यान दिया जाता है। इस प्रकार के नाटकों के तीन रूप मिलते हैं—तथ्य मूलक, आदर्श मूलक, और व्याख्या मूलक। तथ्य मूलक में देखी और सुनी हुई बातों को ही सामने प्रस्तुत किया जाता है। आदर्श मूलक में 'आदर्श' चित्रण की ही ओर ध्यान दिया जाता है। यह आदर्श कई प्रकार का होता है, जिसका सम्बन्ध इतिहास, पुराण, राजनीति, समाज, और कल्पना इत्यादि से होता है। व्याख्या मूलक में पौराणिक या ऐतिहासिक कथाओं का चित्रण सामयिक दृष्टिकोण से किया जाता है, जिसमें व्याख्या की प्रमुखता रहती है।

रूप, रंग, और टेकनीक की दृष्टि से भी हिन्दी में कई प्रकार के एकांकी पाये जाते हैं। इस दृष्टि से जब हम हिन्दी के एकांकी पर विचार करते हैं, तो हम उसे

टेकनीक की दृष्टि से हिन्दी के एकांकी

पाँच वर्गों में बँटा हुआ पाते हैं, जिनके नाम इस प्रकार हैं—मालावत् एकांकी, गौण प्रधान एकांकी, अलौकिक एकांकी, एकांकी संक्षिप्ति और उपसर्गीय एकांकी। मालावत् एकांकी उन्हें कहते हैं, जिनमें विविध दृश्यों को एक कथा सूत्र में गूँथा गया हो। जो आपस में सम्बद्ध हों, और जिनका उद्देश्य एक ही दिशा की ओर हो। जैसे—पहाड़ी का 'युग युग द्वारा शक्ति की पूजा।' गौण प्रधान एकांकी नाटकों में गौण पात्र की प्रधानता होती है। यह गौण पात्र मूल कथानक के प्रधान पात्रों के अतिरिक्त होता है, और कथा को सुलझाने की दृष्टि से एक 'केन्द्र बिन्दु' के रूप में स्वीकार किया जाता है। जैसे—प्रोफेसर आनन्द का 'डाक्टर जीवन।' अलौकिक एकांकी नाटक वे हैं, जो परलोक और उसकी समस्याओं से सम्बन्ध रखते हैं। डाक्टर रामकुमार वर्मा का 'अन्धकार' इसी श्रेणी का एकांकी नाटक है। एकांकी संक्षिप्ति उसे कहते हैं, जिसमें किसी बड़े या पुराने नाटक को एकांकी के रूप में परिवर्तित किया जाता है। उपसर्गीय एकांकी उन्हें कहते हैं, जिनमें उपसर्गों के कारण भिन्नता होती है।

विषय की दृष्टि से भी हिन्दी में कई प्रकार के एकांकी पाए जाते हैं। विषय की दृष्टि से हिन्दी के एकांकी नाटकों का वर्गीकरण निम्नांकित रूप से किया जा सकता है—पौराणिक, ऐतिहासिक, सामाजिक, राजनीतिक, दार्शनिक, दृश्यात्मक, और मनोवैज्ञानिक। पौराणिक एकांकी नाटक वे हैं, जिनकी रचना पुराणों की कथाओं

विषय की दृष्टि से हिन्दी के एकांकी

के आधार पर की जाती है। इस प्रकार की रचनाओं में प्राचीन सभ्यता, और संस्कृति के उत्कृष्ट चित्र होते हैं। जैसे—डाक्टर रामकुमार वर्मा का राजरानी सीता। ऐतिहासिक नाटकों के लिए कथानक इतिहास के पृष्ठों से लिया जाता है। इन कथानकों में भूत काल के गौरव पूर्ण चित्र होते हैं। डा० रामकुमार वर्मा का 'शिवाजी' इसी कोटि का एकांकी है। सामाजिक एकांकी नाटकों में समाज की अवस्थाओं या व्यवस्थाओं के चित्र होते हैं। जैसे—श्री उदयशङ्कर भट्ट का 'स्त्री का हृदय।' राजनीतिक एकांकी नाटकों में ऐसे विषयों का चित्रण किया जाता है, जिनका सम्बन्ध वर्तमान राजनीतिक जीवन, स्थिति और सिद्धान्तों से होता है। इस प्रकार के एकांकी नाटकों में कला का अभाव और प्रचार-भाव की प्रधानता होती है। दार्शनिक नाटकों की रचना आध्यात्मिक भावों की पृष्ठभूमि पर की जाती है। डा० रामकुमार वर्मा ने इस प्रकार के नाटकों में अधिक सफलता प्राप्त की है। दृश्यात्मक एकांकी नाटकों में दैनिक जीवन की साधारण घटनाओं के चित्र होते हैं। मनोवैज्ञानिक नाटकों में विचारों की प्रधानता होती है। इन नाटकों में विचारों का दिग्दर्शन मनोवैज्ञानिक आधार पर कराया जाता है।

'वादों' की दृष्टि से भी हिन्दी एकांकी के कई वर्ग किए जा सकते हैं। उन वर्गों में मुख्य वर्ग यह हैं—आदर्शवादी एकांकी, यथार्थवादी एकांकी, प्रगतिवादी एकांकी, कलावादी एकांकी, अभिव्यंजनवादी एकांकी, और प्रभाववादी एकांकी।

'वादों' की दृष्टि से हिन्दी के एकांकी

आदर्शवादी एकांकी उन्हें कहते हैं, जिनमें आदर्श का प्रतिपादन किया जाता है। यह आदर्श दो प्रकार का होता है। एक तो वीर पूजा के भाव से प्रेरित होता है, और दूसरा पूर्णता की कल्पना से प्रेरित होता है। प्रथम प्रकार के आदर्श का केन्द्र-बिन्दु किसी ऐतिहासिक या पौराणिक महापुरुष का जीवन चरित होता है, या किसी ऐसे कल्पित पात्र के भी चरित्र को भी आधार बनाया जाता है, जिसमें गुणों का चरमोत्कर्ष विकास मिलता है, और द्वितीय प्रकार का आदर्श समाज और जीवन की विविध समस्याओं को लेकर खड़ा किया जाता है। इस आदर्श में मनुष्य की सद्-प्रवृत्तियों को उत्तेजित और अनुप्राणित करने की शक्ति सन्निहित रहती है। सेठ गोविन्ददासजी के एकांकी नाटकों में प्रथम, और श्री हरिकृष्ण प्रेमी के एकांकी नाटकों में द्वितीय प्रकार के आदर्श की सृष्टि है। यथार्थवादी एकांकी वे हैं, जिनमें जीवन की वास्तविक स्थितियों, दुर्बलताओं, और कुरूपताओं के चित्र ज्यों के त्यों पाए जाते हैं। इन नाटकों में आदर्श, अध्यात्म और कला के लिए कोई स्थान नहीं रहता। इन नाटकों का एक मात्र लक्ष्य जीवन की दुर्बलताओं और कुरूपताओं के चित्रों को सामने उपस्थित करना होता है। यथार्थवादी एकांकी चार प्रकार के होते हैं—तटस्थता मूलक यथार्थवादी, मनोविश्लेषणात्मक यथार्थवादी, अति यथार्थवादी, और बुद्धिवादी यथार्थवादी। तटस्थता यथार्थवादी उन्हें कहते हैं, जिनमें जीवन के चित्रों की ओर से तटस्थता का भाव होता है। मनोविश्लेषणात्मक यथार्थ

वादी नाटकों में कार्य-कारण की परम्पराओं का उद्घाटन किया जाता है। अति यथार्थवादी नाटक उन्हें कहते हैं, जिनमें नग्न चित्र होते हैं। बुद्धिवादी एकांकी नाटकों में सामाजिक रूढ़ियों पर कलात्मक ढङ्ग से प्रकाश डाला जाता है। प्रगतिवादी एकांकी नाटकों का सम्बन्ध मार्क्सवाद से है। इन नाटकों में अर्थ को आधार मान कर गरीबों, मजदूरों, शोषितों और दलितों के जीवन-चित्रों को सामने उपस्थित किया जाता है। कलावादी एकांकी नाटकों में आनन्द, सौन्दर्य, और शाश्वत भावों की प्रधानता होती है। डाक्टर रामकुमार वर्मा का 'बादल' इसी कोटि का एकांकी नाटक है। कुछ लोग 'कलावाद' में आदर्श और यथार्थवाद का पुट भी मानते हैं। डाक्टर रामकुमार वर्मा के 'पृथ्वीराज की आँखें' में कला, और आदर्शवाद का संमिश्रण है। इसी प्रकार उनके 'चारुमित्रा' में कला, और यथार्थ का समन्वय हुआ है। अभिव्यंजनवादी एकांकी नाटक कलावादी नाटकों की ही श्रेणी में आते हैं। अभिव्यंजनवादी नाटकों में भी सौन्दर्य के भावों की प्रधानता होती है। कलावादी नाटकों में सौन्दर्य शब्द, शैली, और अर्थ में सन्तुलित न होकर केवल अर्थों द्वारा ही अभिव्यक्त होता है। पर अभिव्यंजनवादी नाटकों में सौन्दर्य की अभिव्यक्ति शब्द, शैली, और रूप के ही द्वारा होती है। प्रभाववादी एकांकी नाटकों में 'कला' के प्रभाव की क्षमता दिखाई जाती है। इस प्रकार के नाटकों में मानव आकृति और प्रकृति से सम्बन्ध रखने वाली किसी भी स्थिर वस्तु का क्षणिक प्रभाव मार्मिक रूप में दिखाया जाता है। इस प्रकार के एकांकी नाटकों में अर्थ की व्यंजकता के स्थान पर प्रभाव की अभिव्यक्ति की ही प्रधानता रहती है। श्री गणेशप्रसाद द्विवेदी के 'सुहाग बिंदी' में प्रभाववादी झलक मिलती है।

—:o:—

हिन्दी एकांकी—भारतेन्दु काल

हिन्दी एकांकी के इतिहास को हम तीन कालों में विभक्त करते हैं—भारतेन्दु काल, प्रसाद काल और आधुनिक काल। हिन्दी एकांकी के जन्मदाता भारतेन्दुजी ही हैं। अतः हिन्दी एकांकी के जीवन का प्रारम्भ भारतेन्दु काल से ही माना जाता है। भारतेन्दु काल सं० १९३० से प्रारम्भ होकर संवत् १९८४ तक चलता है। इस काल में हिन्दी एकांकी ने जन्म लेकर अपना चरण विकास की ओर बढ़ाया है। इस काल के मुख्य कलाकार स्वयं भारतेन्दुजी ही हैं। इस काल की रचनाओं की जब हम समीक्षा करते हैं, तो उसकी तीन धाराएँ पाते हैं—राष्ट्रीय नैतिक विचार धारा, सामाजिक यथार्थवादी धारा, और पौराणिक आदर्शवादी धारा। राष्ट्रीय नैतिक विचार धारा के अंतर्गत हम उन एकांकी रचनाओं को लेते हैं, जिनमें राष्ट्रीय भावनाओं की जागृति के लिए प्रयत्न किया गया है, अथवा ऐसे विषयों को एकांकी का रूप दिया गया है, जो राष्ट्रीयता की दृष्टि से जीवन और जागृति के प्रतीक समझे जाते हैं। भारतेन्दुजी इस धारा के उन्नायक हैं। उनकी 'भारत दुर्दशा' और 'भारत जननी' इस वर्ग की सफल रचना है। श्री राधाचरण गोस्वामी की 'भारत माता', और श्री रामकृष्ण वर्मा के 'भारतोद्धार' को भी हम इस भाव धारा की सफल कृति कह सकते हैं। इसी भाव धारा के अंतर्गत हम उन रचनाओं को भी ले सकते हैं, जिनमें इतिहास के गौरव पूर्ण कथानकों के द्वारा देश के जीवन में वीरता, साहस, और शक्ति को उद्बुद्ध करने का प्रयत्न किया गया है। भारतेन्दुजी की नीलदेवी, काशीराम खत्री के तीन ऐतिहासिक रूपक, श्री रामकृष्ण वर्मा की 'पद्मावती' और 'वीर नारी' इत्यादि रचनाएँ इसी कोटि की हैं। इन रचनाओं में ऐतिहासिक कथाओं की ओट से देश के भीतर देश के प्रति प्रेम उत्पन्न करने का प्रयास किया गया है।

भारतेन्दु काल—मुख्य प्रवृत्तियाँ

सामाजिक यथार्थवादी भाव धारा के अंतर्गत वे रचनाएँ आती हैं, जिनमें सामाजिक रूढ़ियों और कुरूपताओं के चित्र अंकित किए गए हैं। इस भाव धारा के भी उन्नायक भारतेन्दुजी हैं। 'भारत दुर्दशा' इस भाव-धारा की उनकी श्रेष्ठ कृति है। पं० प्रतापनारायण मिश्र का कलिकौतुक, काशीनाथ खत्री का बाल विधवा संताप, अंबिकादत्त व्यास का कलियुग और घी, तथा किशोरीलाल गोस्वामी की 'चौपट चपेट'

आदि रचनाएँ इसी भाव-धारा के अंतर्गत आती हैं। पौराणिक आदर्शवादी धारा के अंतर्गत वे रचनाएँ आती हैं, जो पौराणिक या धार्मिक कथाओं के आधार पर लिखी गई हैं। भारतेन्दु हरिश्चन्द्रजी ही इस धारा के भी उन्नायक हैं। उनकी माधुरी, और धनंजय विजय आदि रचनाएँ इस भाव धारा की श्रेष्ठ कृतियाँ हैं। श्री निवास का प्रह्लाद चरित, प्रेमघनजी का प्रयाग रामगमन, और पं० अयोध्या-सिंह उपाध्याय की 'रुक्मिणी परिणय' इत्यादि रचनाएँ इसी वर्ग के अंतर्गत आती हैं।

भारतेन्दु-काल में भारतेन्दुजी के अतिरिक्त कई कलाकार हुए हैं, जिन्होंने एकांकी की रचना में प्रशंसनीय योग प्रदान किया है। इन कलाकारों में पं० प्रताप नारायण मिश्र, श्री निवासदास, पं० बद्रीनारायण चौधरी, श्री कार्तिक प्रसाद खत्री, श्री राधाचरण गोस्वामी, श्री किशोरीलाल गोस्वामी और पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय इत्यादि का महत्व पूर्ण स्थान है। भारतेन्दु हरिश्चन्दजी का इस काल के कलाकारों में सर्वश्रेष्ठ स्थान है। अतः हम यहाँ उन्हीं की रचनाओं पर प्रकाश डालने की चेष्टा करेंगे। क्योंकि उन्हीं की रचनाओं में ऐसी विशेषताएँ पाई जाती हैं, जिनके कारण किसी रचना को किसी युग का प्रतिनिधित्व प्राप्त होता है।

भारतेन्दु हरिश्चंद्र और उनके एकांकी

भारतेन्दुजी के पूर्व हिन्दी साहित्य में नाटक और एकांकी नाटकों का अभाव था। भारतेन्दुजी का संपर्क जब बँगला और अँगरेजी साहित्य से हुआ, तब उन्हें हिन्दी में नाटक और एकांकी नाटक का अभाव खलने लगा। उन्होंने हिन्दी साहित्य के इस अभाव को पूर्ण करने के लिए अपना कदम आगे बढ़ाया। उन्होंने अँगरेजी और बँगला के एकांकी नाटकों का अध्ययन किया। बँगला और अँगरेजी के नाटकों के साथ ही साथ उन्होंने संस्कृत के नाटकों का भी मंथन किया। इतना ही नहीं, उन्होंने कलकत्ता जाकर बँगाली रंग मंचों का भी निरीक्षण किया। पारसियों की थियेटर कला का भी उन्होंने ज्ञान प्राप्त किया। इस प्रकार उन्होंने चारों ओर से नाट्य सम्बन्धी ज्ञान प्राप्त करके अपने भीतर शक्ति संचय की। उन्होंने अपनी नाट्य संबंधी शक्ति के विकास के लिए संस्कृत और बँगला की कई कृतियों का हिन्दी में अनुवाद किया। इसके पश्चात् वे नाट्य-रचना के क्षेत्र में उतरे, और उन्होंने कई मौलिक नाटकों, और एकांकी नाटकों की रचना की। यद्यपि उनके एकांकी नाटकों में संस्कृत की प्राचीन परम्परा की ही रक्षा हुई है, पर इसमें संदेह नहीं, कि उन पर अँगरेजी और बंगला की एकांकी कला की भी छाप है। भारतेंदु बाबू ने जिन एकांकी नाटकों की रचना की है, विषय, शैली, रूप और उद्देश्य की दृष्टि से वे आज के एकांकी नाटकों से सर्वथा भिन्न हैं, पर यह कहते हुए तनिक भी संकोच नहीं किया जा सकता, कि आज के एकांकी नाटकों का मूल भारतेन्दु बाबू के एकांकी नाटकों के ही भीतर छिपा हुआ है।

भारतेन्दु बाबू के एकांकी नाटकों को हम तीन वर्गों में विभक्त कर सकते हैं—मौलिक, अनुवादित, और प्रहसन। प्रेमयोगिनी, मधुरी, भारत दुर्दशा, और नीलदेवी उनकी मौलिक कृतियाँ हैं। 'भारत जननी' धनजय विजय और पाखंड विडंबन उनकी अनुवादित रचनाएँ हैं। 'अन्धेर नगरी' और 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' और विषस्य विषमौषधम् उनका प्रहसन है। प्रेमयोगिनी की रचना में यथार्थवाद की झलक मिलती है। इसमें जीवन के वास्तविक चित्रों को उपस्थित करने का प्रयत्न किया गया है। इसमें पृथक पृथक चार दृश्य हैं। इसकी रचना संस्कृत की प्राचीन परम्परा के आधार पर हुई है। 'माधुरी' मनोविश्लेषणात्मक है। इसमें वियोग शृंगार के उत्कृष्ट चित्र देखने को मिलते हैं। 'भारत दुर्दशा' नाट्य रासक है, जिसकी रचना प्राचीन परम्परा के अनुसार हुई है। इसमें राजनीतिक समस्याओं के चित्र मिलते हैं। नीलदेवी गीत रूपक है, इस पर अँगरेजी की कला की छाप है। इसमें शौर्य, देश भक्ति, और युद्धोत्साह के चित्र मिलते हैं।

भारत जननी बँगला के भारत माता का भावानुवाद है। इसमें भारत की दुर्दशाओं के चित्र हैं, साथ ही देश प्रेम की भावना के भी चित्र इसमें मिलते हैं। इस पर अँगरेजी की एकांकी कला की छाप है। धनजय विजय की रचना संस्कृत के कवि कांचन के एक व्यायोग के आधार पर हुई है। यद्यपि यह अनुवादित है, पर इसमें मौलिक नाटकों का सौष्ठव झलकता है। पात्रों की इसमें बहुलता है। पात्रों में अर्जुन का चरित्र प्रशंसनीय है, जो धीरोदात्त नायक है। स्त्री पात्रों की संख्या बहुत कम है। गद्य की अपेक्षा इसमें पद्य अधिक है। 'पाखण्ड विडंबन' रूपक है, जो 'प्रबन्ध चन्द्रोदय' के तीसरे अङ्क का अनुवाद है। इसमें गीतों की अधिकता है। भाषा में व्रज के अधिक और मारवाड़ी के भी कुछ कुछ प्रयोग मिलते हैं।

'अंधेर नगरी' प्रहसन है। इसमें कुल छः दृश्य हैं। इसमें लोभ के मार्मिक चित्र खींचे गए हैं। कहा जाता है, कि भारतेन्दुजी ने इसकी रचना एक दिन में की थी। 'विषस्य विषमौषधम्' की कथा ऐतिहासिक है, जिसे हास्य रस के साँचे में ढाला गया है। इसमें केवल एक पात्र भंडाचार्य है। यही आकाश भाषित अभिनय प्रणाली द्वारा कथानक और उसके व्यापार को सामने उपस्थित करता है। 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' में मांस भक्षण, व्यभिचार, और मद्य पान की हानियों के चित्र मिलते हैं।

भारतेन्दुजी के एकांकी नाटकों का मन्थन करने से ज्ञात होता है, कि उन्होंने अपने नाटकों में तीन आदर्शों की रक्षा की है—संस्कृत की प्राचीन परम्परा का आदर्श, अँगरेजी की नाट्यकला का आदर्श, और अँगरेजी नाट्यकला से प्रभावित बँगला की नाट्यकला का आदर्श। उनके नाटकों और एकांकी नाटकों में इन्हीं आदर्शों का पालन किया गया है। भारतेन्दुजी के युग में 'एकांकी' नाम की कोई

स्वतन्त्र वस्तु नहीं थी। उन दिनों संस्कृत का 'रूपक' ही एकांकी का पर्यायवाची था। अतः उन दिनों एकांकी के स्थान पर 'रूपकों' की ही रचना हुई है। भारतेन्दुजी के पश्चात् उनके अनुयायियों ने भी उन्हीं के पन्थ का अनुसरण किया है। भारतेन्दुजी के पश्चात् एकांकी के क्षेत्र में जिन रचनाओं का निर्माण हुआ है, उनमें भी उक्त आदर्शों की ही रक्षा की गई है।

—:*:—

हिन्दी एकांकी—प्रसाद युग

प्रसाद काल सं० १९८५ से प्रारम्भ होता है। प्रसाद काल को हम दो वर्गों में विभक्त करते हैं—प्रसाद काल पूर्वार्द्ध, और प्रसाद काल उत्तरार्द्ध। पूर्वार्द्ध के अन्त-

प्रसादकाल—पूर्वार्द्ध गत हम उन रचनाओं को मानते हैं, जो द्विवेदी काल में हुई थीं। एकांकी के विकास की दृष्टि से हम द्विवेदी काल की रचनाओं को प्रसाद काल में ही मानने के लिए विवश हैं; क्योंकि द्विवेदी काल की रचनाओं का अपना कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है। एकांकी के विकास की दृष्टि से इस काल को हम औदास्य का काल कहेंगे। क्योंकि इस काल में एकांकी को विशेष गति नहीं प्राप्त हो सकी है। भारतेन्दुजी ने एकांकी का जो पौदा लगाया था, और जिसका पालन-पोषण उनके सहयोगियों के द्वारा हुआ था, उसे इस काल में विशेष प्रोत्साहन नहीं प्राप्त हो सका। इसके तीन मुख्य कारण थे—एक तो यह, कि अभिनय कला का प्रचार कम था, दूसरा यह, कि रंग मंचों का अभाव था, और तीसरा यह, कि पढ़े-लिखे लोगों की अभिनय की ओर से अरुचि थी। फलतः एकांकी नाटकों का अधिक प्रणयन न हो सका। किन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं, कि इस काल में एकांकी नाटकों की रचना बिलकुल हुई ही नहीं। भारतेन्दु काल में एकांकी नाटक की जो धारा निकली थी, उसका मन्द प्रवाह इस काल में भी प्रवाहित होता रहा। इस काल के एकांकी निर्माताओं में स्वर्गीय जयशङ्कर प्रसाद, श्री रामनरेश त्रिपाठी, श्री जी० पी० श्री वास्तव, श्री सुदर्शन, श्री हरिशङ्कर शर्मा, श्री रूपनारायण पाण्डेय, और श्री प्रेमचन्दजी इत्यादि का महत्व पूर्ण स्थान है।

यह सच है, कि इस काल में हिन्दी के एकांकी को विशेष प्रोत्साहन नहीं प्राप्त हो सका, पर उसके साथ ही साथ यह भी सच है, कि इस काल में ही हिन्दी एकांकी को वह वरदान प्राप्त हुआ, जिसकी शक्ति से वह आगे बढ़ सका, और उन्नति की सीढ़ियों पर चढ़ने में सफल हो सका; दूसरे शब्दों में इसी युग में प्रसादजी का आविर्भाव हुआ है, जो स्वयं इस युग के उन्नायक कहे जाते हैं। इसी युग में प्रसादजी की वे रचनाएँ सामने प्रस्तुत हुईं, जिनमें प्रथम बार एकांकी की नई कला का दर्शन हुआ। प्रसादजी के पूर्व एकांकी की कला का कोई निश्चित और स्थिर स्वरूप न था। जितने कलाकार थे, सबका अपना पृथक-पृथक मार्ग था। सर्व प्रथम प्रसादजी ने ही

हिन्दी की एकांकी कला को एक स्थिर स्वरूप प्रदान किया। इतना ही नहीं, उन्होंने उसे परिमार्जित किया, और युग के साँचे में ढाल कर उसे एक नए रूप में सामने उपस्थित किया। प्रसादजी की रचनाओं में उनकी कला का यह नवीन रूप भली भाँति विकसित हुआ है।

पूर्वार्द्ध काल में यद्यपि कई कलाकारों ने अपनी रचनाओं से एकांकी के भंडार को भरने का प्रयत्न किया है, पर हम उनमें केवल 'प्रसादजी' की ही रचनाओं पर स्वर्गीय जयशङ्कर प्रसाद प्रकाश डालेंगे। क्योंकि एक तो प्रसादजी इस युग के उन्नायक हैं, और दूसरे केवल उन्हीं की रचनाओं में विकास के वे तत्त्व मिलते हैं, जिनसे हिन्दी के एकांकी को अधिक बल प्राप्त हो सका है। प्रसादजी ने कई एकांकी नाटकों की रचना की है, जिनके नाम इस प्रकार हैं—सज्जन, कल्याणी परिणय, करुणालय, प्रायश्चित्त, और एक घूँट। 'सज्जन' की रचना सम्वत् १९६७ के आस-पास हुई थी। एकांकी के क्षेत्र में प्रसादजी की यह प्रथम रचना है। इसमें प्रसादजी की कला का वह रूप नहीं दिखाई पड़ता, जो उनकी पश्चात् की रचनाओं में दिखाई पड़ता है। इस पर भारतेन्दु युग की स्पष्टतः छाप है। इसमें सूत्रधार, नटी, और प्रशस्ति वाक्यों की व्यवस्था है। 'स्वगत कथन' का प्रयोग भी इसमें कई स्थानों पर किया गया है। अतः इस बात से अस्वीकार नहीं किया जा सकता, कि इसकी रचना में प्राचीन परम्परा का योग है। पर इसके साथ ही साथ यह भी कहा जा सकता है, कि इसकी भाषा, शैली, और गति पर नवीनता का पुट है। प्रसादजी की दूसरी रचना प्रायश्चित है, जिसका प्रकाशन सम्वत् १९७१ के आस-पास हुआ था। 'प्रायश्चित' में प्रसादजी की कला परिवर्तित दिखाई पड़ती है। इसमें प्रसाद की कला पर नवीनता का प्रभाव है। इसमें उनकी कला नवीनता की ओर झुकती हुई जान पड़ती है। यद्यपि प्रायश्चित में भी उन्होंने 'आकाश वाणी' और 'स्वगत कथन' को स्थान दिया है, पर 'सज्जन' की तरह इसमें नाँदी पाठ नटी, सूत्रधार और प्रशस्ति वाक्य की योजना नहीं है। 'कल्याणी परिणय' की रचना सम्वत् १९९९ के आस पास हुई थी। इसके कथानक में एक ही घटना को महत्त्व दिया गया है। इसकी रचना में नई और पुरानी-दोनों ही शैलियों की झलक मिलती है। करुणालय एक गीति नाट्य है, जिसकी रचना सं० १९९९ में हुई थी। इसमें नई शैली और नया विधान मिलता है।

एकांकी के क्षेत्र में प्रसादजी की जिस रचना को अधिक ख्याति प्राप्त है, वह एक घूँट है। 'एक घूँट' सफल और उत्कृष्ट एकांकी है। हिन्दी के समालोचकों का कथन है, कि यही वह रचना है, जिसे हिन्दी की प्रथम 'एकांकी रचना' होने का सौभाग्य प्राप्त है। प्रसादजी ने इसकी रचना सम्वत् १९८६ के आस पास की थी। इसकी रचना में नई शैली और नए विधान का योग मिलता है। आज जिस हिन्दी की नवीन कला ने अपनी विशिष्टताओं से सबको विमुग्ध कर रक्खा है, उसका प्रथम दर्शन एक घूँट में ही मिलता है। 'एक घूँट' से ही एकांकी की नवीन कला का

स्रोत उद्भवित हुआ है। अतः 'एक घूँट' का हिन्दी के एकांकी के इतिहास में अधिक महत्व पूर्ण स्थान है। 'एक घूँट' के पश्चात् ही हिन्दी की एकांकी-कला का प्रवाह चारों ओर से निकलता और उमड़ता हुआ दिखाई पड़ता है। 'एक घूँट' के पश्चात् ही एकांकी के क्षेत्र में उन कलाकारों का प्रादुर्भाव हुआ है, जिन्होंने प्रसाद काल के उत्तरार्द्ध का अपनी रचनाओं से महत्व पूर्ण शृङ्गार किया है।

प्रसाद काल के पूर्वार्द्ध में एकांकी की जिस नवीन कला ने जन्म लिया था, उसका विकास उत्तरार्द्ध काल में स्पष्ट रूप से दिखाई पड़ता है। उत्तरार्द्ध काल में

उत्तरार्द्ध काल हिन्दी की एकांकी कला पूर्ण रूप से नवीनता के ही रंग मंच पर दिखाई देती है। विषय, कथानक, वस्तु, पात्र, उद्देश्य, और अन्त इत्यादि सभी दृष्टियों से वह अभिनव रंग मंच पर विहार करती हुई जान पड़ती है। भाषा, शैली, और टेकनीक—इत्यादि क्षेत्रों में पूर्ण रूपेण उसका आकार प्रकार बदला हुआ है। उसके भीतर प्रवेश करने पर हम स्पष्टतः उस पर तीन कलाओं का प्रभाव देखते हैं—बँगला की एकांकी कला का, अँगरेजी की एकांकी कला का, और दोनों से मिश्रित एक नवीन मौलिक कला का। बँगला की एकांकी कला अँगरेजी से प्रभावित है। उत्तरार्द्ध काल के कई कलाकारों ने बँगला के टेकनीक से ही रचना की प्रेरणा प्राप्त की है। इन कलाकारों ने जो रचनाएँ उपस्थित की हैं, उन पर स्पष्ट रूप से बँगला के टेकनीक का प्रभाव है। उन्होंने अपने नाटकों में बंगाली नाटकों के आधार पर ही संकलन त्रय, अर्थात् समय, स्थान और कार्य की व्यवस्था की है। इस युग के कुछ कलाकारों ने अँगरेजी के टेकनीक से जीवन ग्रहण किया है। उन्होंने अँगरेजी के एकांकी के ढङ्ग पर ही अपने नाटकों में कथानक, चरित्र चित्रण, और संवाद इत्यादि की योजना की है। कुछ कलाकारों ने एक नवीन कला का आश्रय लिया है, जिसे हम उनकी मौलिक कला कह सकते हैं। उनकी इस कला पर न तो अँगरेजी की कला का प्रभाव है, और न बंगाली की कला का। उनकी यह कला अँगरेजी और बँगला की कला की विशिष्टताओं से युक्त होने पर भी सर्वथा नवीन है।

उत्तरार्द्ध काल में कई यशस्वी कलाकारों का प्रादुर्भाव हुआ है, जिन्होंने अपनी महत्व पूर्ण रचनाओं से हिन्दी के एकांकी के भण्डार को भरने का प्रयत्न किया है। इन कलाकारों में डा० रामकुमार वर्मा, सेठ गोविन्ददास, श्री सद्गुरुशरण अवस्थी, श्री भुवनेश्वर, श्री सुदर्शन, चन्द्रगुप्त विद्यालङ्कार और श्री सत्येन्द्र इत्यादि का महत्व पूर्ण स्थान है। यद्यपि इन सभी कलाकारों ने एकांकी साहित्य के निर्माण में महत्व पूर्ण योग दिया है, पर हम यहाँ उन्हीं की रचनाओं पर प्रकाश डालेंगे, जिनकी कला में प्रतिनिधित्व के तत्व हैं।

उत्तरार्द्ध काल के कलाकारों में डा० रामकुमार वर्मा का अधिक महत्व पूर्ण

स्थान है। उत्तरार्द्ध काल के एकांकी क्षेत्र में डा० वर्मा ने जो रचनाएँ उपस्थित की हैं, उनका सभी दृष्टियों से अधिक मूल्य है। डा० वर्मा आधुनिक काल के अन्यतम कलाकार हैं। उनकी कई रचनाएँ प्रसाद काल के पश्चात्, आधुनिक काल में प्रकाशित हुई हैं। सुविधा की दृष्टि से यहीं हम उनकी सभी रचनाओं पर प्रकाश डालेंगे। उनका एकांकी साहित्य अतुल है. उन्होंने केवल एकांकी के क्षेत्र में ही अपनी प्रतिभा का सफल उपयोग किया है। इस क्षेत्र में उन्हें सर्वाधिक सफलता प्राप्त हुई है। इस बात में रंच मात्र भी अत्युक्ति न होगी, यदि उन्हें हिन्दी का सर्वश्रेष्ठ एकांकीकार मान लिया जाय। उनकी कला पूर्ण रचनाएँ उन्हें एकांकीकार के सर्वोच्च आसन पर बिठाने के लिए पर्याप्त हैं। वे एक दिन उन्हें उस स्थान पर अवश्य बिठायेंगी, जहाँ बैठ कर कलाकार अमर बन जाता है।

डा० रामकुमार वर्मा

वर्माजी की रचनाओं का जब हम मन्थन करते हैं, तो उन्हें छः वर्गों में विभक्त पाते हैं—ऐतिहासिक, सामाजिक, हास्य रसात्मक, साहित्यिक, पौराणिक, और राष्ट्रीय। ऐतिहासिक वर्ग की निम्नांकित रचनाएँ हैं—पृथ्वीराज की आँखें, विक्रमादित्य, शिवाजी, कौमुदी महोत्सव, तैमूर की हार, मर्यादा की वेदीपर, स्वर्ण श्री, कादम्ब या विष, दीपदान, चारुमित्रा, समुद्र गुप्त, पराक्रमांक, औरङ्गजेब की आखिरी रात, ध्रुवतारिका, दुर्गावती, रात का रहस्य, कलङ्क रेखा, कृपाण की धार, और भाग्य नक्षत्र। सामाजिक कृतियों के नाम इस प्रकार हैं—दस मिनट, चंपक, रूप की बीमारी, उत्सर्ग, अट्ठारह घुलाई, आँखों का आकाश, नमस्कार की बात, प्रेम की आँखें, नहीं का रहस्य, एक्ट्रेस, रेशमी टाई, परीक्षा, रजनी की बात, छोटी सी बात, सही रास्ता, और आशीर्वाद। हास्य रसात्मक वर्ग में निम्नांकित रचनाओं की गणना की जाती है—एक तोले अफीम की कीमत, कहाँ से कहाँ, छींक, रंगीन स्वप्न, इलेक्शन, फेलट हैल्ट, घर और बाहर, फीमेल पार्ट, और वह वोट था। साहित्यिक रचनाओं के नाम इस प्रकार हैं—बादल की मृत्यु, प्रतिशोध, वर्षा गीत, ज्यों की त्यों धर दीनी चदरिया, कलाकार का सत्य, प्रसाद की कला, स्वागत है ऋतुराज, और सूर संगीत। पौराणिक वर्ग के अन्तर्गत निम्नांकित रचनाएँ आती हैं—अन्धकार, रम्य रास, राजरानी सीता, और भरत का भाग्य। राष्ट्रीय रचनाओं के नाम इस प्रकार हैं—पुरस्कार और बापू।

वर्माजी के नाटकों पर एक प्रकाश

डाक्टर वर्मा के ऐतिहासिक वर्ग के सम्पूर्ण नाटक इतिहास की गौरव पूर्ण कथाओं के आधार पर तैयार किए गए हैं। कथाओं के चुनाव में डाक्टर वर्मा ने बड़ी सावधानी से काम लिया है। उनकी सभी कथाएँ ऐसी हैं, जो देश के गौरव के चित्र को स्पष्ट करने के साथ ही साथ संस्कृति के चित्र को बड़ी उज्वलता के साथ सामने उपस्थित करती हैं। इतिहास के पृष्ठों की वे अमर गाथाएँ केवल अतीत के जीवन पर ही प्रकाश नहीं डालतीं, वरन् वे अतीत के जीवन पर प्रकाश डालती हुई वर्तमान जीवन को भी स्पर्श करती

हुई चलती है। उनकी ऐतिहासिक कथाओं के सभी पात्र आदर्शवादी हैं, जो अपने चरित्रों से जीवन के क्षेत्र में अमर चिह्नों की रचना करते हैं। उन्होंने अपनी ऐतिहासिक कथाओं में राष्ट्रीयता और संस्कृति निष्ठता की भर पूर रक्षा की है। राष्ट्रीयता, और संस्कृति निष्ठता की रक्षा के लिए उन्होंने अपने नाटकों में कई तत्त्वों का संचयन किया है। उनका कथानक, उनकी वस्तु योजना, उनका चरित्र चित्रण, उनकी संवाद योजना, और उनकी भाषा तथा उनकी शैली उनके इसी उद्देश्य को पूर्ण करने में संलग्न है। वर्माजी के दूसरे वर्ग के नाटक सामाजिक हैं। सामाजिक नाटकों की कथा काल्पनिक है। इन नाटकों में भी उनकी कथा का उद्देश्य आदर्श चित्रों की ही सृष्टि करना है; पर इनमें उसका गमन यथार्थवाद की भूमि पर से होता है। इन नाटकों में वह यथार्थवाद के मार्ग से ही आदर्शवाद की ओर बढ़ती हुई दृष्टगोचर होती है। डा० वर्मा ने अपने सामाजिक नाटकों के संबंध में स्वयं एक स्थान में लिखा है—'मेरी कला जीवन के यथार्थ से उद्भूत होकर सजीव आदर्श की सृष्टि करने में प्रगतिशील रही है। यों तो जीवन ही एक विशाल नाटक है, और यदि हम कुछ शताब्दियों तक जीवित रहें तो उस विशाल नाटक की चरमसीमा को देखने में समर्थ हो सकेंगे, किन्तु न तो लेखक और न दर्शक या पाठक शताब्दियों क्या, एक शताब्दी के उत्तरार्द्ध तक जीवित रहने का विश्वास कर सकते हैं, यद्यपि उनके दीर्घ जीवन की मेरी ललवती मङ्गल कामनाएँ हैं। तब इस जीवन नाटक की अनुभूति तब तक नहीं हो सकती, जब तक अपनी अन्तर्दृष्टि या अनुभव से कुछ ऐसी घटनाओं की सृष्टि न कर दें, जो उस क्रम को निश्चित निष्कर्ष की ओर गतिशील कर सकें। जीवन के सामाजिक गति प्रवाह को एक बल देना, अथवा उसी दशा में झुकाव ला देना ही मेरी नाटक रचना का प्रमुख उद्देश्य रहा है। अपनी इस कला का प्रयोग मैं सामाजिक नाटकों में विशेष विश्वास के साथ कर सका हूँ।' वर्माजी की तीसरे वर्ग की रचनाएँ हास्य रसात्मक हैं। इन रचनाओं के कथानकों में सामाजिक तत्त्व हैं, जिन पर हास्य रस का पुट है। साहित्यिक वर्ग की रचनाओं में कल्पना और अनुभूति की प्रधानता है। पौराणिक रचनाएँ पौराणिक कथाओं के आधार पर लिखी गई हैं, जिनमें परमोज्वल चरित्रों के चिह्न मिलते हैं। राष्ट्रीय वर्ग की रचनाओं में राष्ट्रीय भावों का विकास मुख्य रूप से हुआ है।

वर्माजी की नाट्य संपत्ति पर प्रकाश डालने के पश्चात् अब हम उनकी नाट्य कला पर विचार करेंगे। वर्माजी ने केवल एकांकी नाटकों की ही रचना की है।

वर्माजी की कला

अतः उनकी कला पर एकांकी की ही दृष्टि से विचार करना होगा। वर्माजी की कला पर पश्चिम की कला का प्रभाव है, उनकी एकांकी कला पश्चिम की ही कला के साँचे में ढली हुई है। वस्तु, रंग, संकेत, संलाप, दृश्य परिवर्तन, शैली और भाषा इत्यादि सभी क्षेत्रों में उनकी कला सर्वथा पाश्चात्य कला के ही पंथ पर चलती हुई दिखाई पड़ती है। वर्माजी पाश्चात्य कला से प्रभावित अवश्य हैं, पर इसका यह तात्पर्य नहीं, कि उन्होंने आँख

बन्द करके अपने को पाश्चात्य कला के ही हाथों में सौंप दिया है। पाश्चात्य कला से प्रभावित होने पर भी उन्होंने अपनी कला की स्वतन्त्रता की रक्षा की है। उनकी कला पाश्चात्य कला से प्रभावित अवश्य है, पर उसके भीतर जो आत्मा निवास करती है, वह विशुद्ध रूप से भारतीय है। उन्होंने विदेशी कला से प्रभावित अपनी कला में भारतीय आदर्शों की स्थापना बड़ी सुन्दरता के साथ की है।

वर्माजी की कला अधिक स्पष्ट और प्रभाव पूर्ण है। कथानक, वस्तु, रंग संकेत, और दृश्यों के क्षेत्र में उसका कार्य प्रभाव पूर्ण है। कथानक अधिक स्पष्ट और स्वाभाविक है। कथानक का विकास पग-पग पर लक्ष्य की ओर अधिक स्वाभाविकता के साथ हुआ है। कथानक में घटनाओं का समावेश अनुकूलता के वातावरण में किया गया है। सभी घटनाएँ नाटकीय वातावरण उत्पन्न करती हैं, और प्रभाव पूर्ण चित्र बनाती हैं। घटनाएँ देश काल के उपयुक्त हैं, और स्पष्टता के साथ जीवन के चित्र बनाती हैं। वस्तु के क्षेत्र में वर्माजी की कला ने अधिक कुशलता प्रदर्शित की है। वस्तु के क्षेत्र में उनकी कला घटनाओं का उतार चढ़ाव करते हुए घटना को चरमोत्कर्ष पर पहुँचा देती है, और घटना की ग्रन्थि को खोल कर सामने स्पष्ट कर देती है। वर्माजी की कला ने रंग संकेत के क्षेत्र में भी अधिक कुशलता प्रदर्शित की है। उनके रंग संकेत में नाटकीय वातावरण की अनुकूलता है। उसमें विविध दृश्यों का विधान मिलता है। उनकी कला ने एक ही अंक में विविध दृश्यों की स्थापना की है। रंग संकेत के द्वारा विविध दृश्यों का विधान करने में उनका कला-चातुर्य स्पष्टतया के साथ दिखाई पड़ता है। उनकी कला में अभिनयात्मकता के तत्त्व प्रचुर रूप में मिलते हैं। उनकी कला रंग मंच के गुणों पर भर पूर ध्यान रखती है, और अभिनयात्मकता की रक्षा करती है। रंग मंच पर पात्रों का किस प्रकार गमनागमन होना चाहिए, और किस प्रकार घटनाओं को प्रभाव पूर्ण तथा कौतूहलमय बनाना चाहिए—इस ओर उनकी कला का ध्यान मुख्य रूप से रहता है।

वर्माजी की कला में तीव्रता और सुकुमारता-दोनों ही गुण प्रचुर रूप में पाए जाते हैं। उनकी कला घटनाओं की ग्रन्थियों को स्पष्ट करने में अधिक तीव्र है। वह घटनाओं के भीतर घुस कर उनके रहस्यों को बड़ी चतुराई के साथ सामने उपस्थित करती है। घटना को चरमोत्कर्ष पर पहुँचाने के लिए उनकी कला नाटकीय कौशल प्रगट करती है। घटना की चरमोत्कर्षता के लिए वह घटना में कई मोड़ उत्पन्न करती है। इस प्रकार घटना में मोड़ उत्पन्न करके वह घटना को अधिक भाव पूर्ण और द्वन्द्वात्मक बना देती है। भावों और द्वन्दों की सृष्टि करके उनके भीतर के रहस्यों को प्रगट करने में वर्माजी की कला अपने दक्ष की एक ही है। विशेषता तो यह है, कि भावों और द्वन्दों के रहस्यों को स्पष्ट करते समय उनकी कला का ध्यान पूर्ण रूप से मानव जीवन की उच्चता और परमोज्वलता की ओर रहता है। उनकी कला

अपना प्रत्येक पग मानव जीवन की उच्चता के लिए ही उठाती है। उसके प्रत्येक कार्य में मानव जीवन की परमोज्वलता का ही प्रयत्न छिपा रहता है। उनकी कला अपनी इसी विशिष्टता के कारण आज भूरि-भूरि आदर की पात्रिणी बन रही है।

वर्माजी कुशल एकांकी नाटककार हैं। एकांकी के क्षेत्र में उनका स्थान सर्वोपरि है। हिन्दी साहित्य में उन्होंने सबसे अधिक एकांकी की रचना की है। यही नहीं, हिन्दी साहित्य में वे ही सर्व श्रेष्ठ एकांकीकार भी हैं। उनका एकांकी साहित्य हिन्दी में चारों ओर फैला हुआ है। उनके एकांकी साहित्य का चारों ओर अधिक आदर है, और मूल्य है। कथा की दृष्टि से उनके एकांकी साहित्य को हम छः वर्गों में विभाजित कर चुके हैं—ऐतिहासिक, सामाजिक, हास्य रसात्मक, साहित्यिक, पौराणिक, और राष्ट्रीय। ऐतिहासिक रचनाओं की कथा इतिहास के पृष्ठों से ली गई है। इन कथाओं में प्रेम के यथार्थ चित्र मिलते हैं। प्रेम के चित्रों के साथ ही साथ यह कथाएँ और भी अनेक मानवी प्रवृत्तियों के चित्र बनाती हुई चलती हैं। इन कथाओं के पात्र आदर्शवादी हैं, जिनमें कार्य संबंधी विशिष्टताएँ हैं। यह प्रत्येक क्षेत्र में विशिष्टताओं के ही चिह्न बनाते हैं। इनकी विशिष्टताएँ देश और उसकी संस्कृति को ऊँचा उठाती हैं। सामाजिक रचनाओं की कथाएँ कल्पनात्मक हैं। इन कथाओं में रोमांस के चित्रों की प्रधानता है। पर इन रोमांसवादी चित्रों की सृष्टि, और उनका अन्त भी चरित्र और आचार के ही क्षेत्र के अन्तर्गत हुआ है। पौराणिक रचनाओं की कथा पुराणों से ली गई है। इन कथाओं में आदर्श के चित्रों की प्रधानता है। कथाओं का विकास अपने लक्ष्य, और उद्देश्य के ही अनुरूप हुआ है। इन कथाओं में भी रोमांस का भाव मिलता है, जिस पर आदर्शवाद का नियन्त्रण है। 'हास्य रसात्मक' रचनाओं की कथाएँ काल्पनिक हैं। इन कथाओं में सामाजिक जीवन के चित्र मिलते हैं, जिन पर हास्य और व्यंग्य का पुट है। साहित्यिक रचनाओं की कथाएँ कल्पनात्मक हैं। इन कथाओं में घटनाओं का अभाव, और भावनाओं की प्रधानता है। भावनाओं की प्रधानता होने के कारण यह कथाएँ काव्यात्मक हो गई हैं, और गद्य काव्य की तरह लगती हैं। राष्ट्रीयता रचनाओं की कथाएँ देश प्रेम पर आधारित हैं।

वर्माजी के एकांकी नाटकों में नाटक के तत्त्व

कथानक की दृष्टि से वर्माजी सफल कलाकार हैं। उनके कथानकों का एक उद्देश्य है आदर्श के सुन्दर चित्र बनाना। उनके कथानकों का विकास बड़ी मनोरमता के साथ उद्देश्य की दिशा में हुआ है। उद्देश्य की पूर्ति के लिए उन्होंने अपने कथानकों में विभिन्न प्रकार की सामग्रियाँ एकत्र की हैं। उन्होंने अपने कथानकों में ऐसी घटनाओं का समावेश किया है, जिनसे उनके उद्देश्य-पूर्ति में अधिक सहायता मिलती है। उनके सभी पात्र और पात्रियाँ भी उनके साथ अधिक सहयोग करती हैं। उन्होंने कथानक को प्रभाव पूर्ण और मार्मिक बनाने के लिए उसमें

'विस्मय' और कौतूहल पूर्ण चित्रों को भी स्थान दिया है। आदि से लेकर अन्त तक उनकी दृष्टि कथानक पर लगी रहती है। यही कारण है, कि उनके कथानक का प्रवाह कहीं भी अपनी मर्यादा को नहीं छोड़ सका है।

वर्माजी के एकांकी नाटकों में वस्तु की योजना और उसका विकास अधिक स्वाभाविकता के साथ हुआ है। उनके नाटकों का अध्ययन करने से पता चलता है, कि उनकी घटनाओं में गति शीलता है। उनके कथानक का विकास प्रत्येक स्थान, और स्थिति में उत्तरोत्तर होता गया है। इतना ही नहीं, उनमें भावों की सघनता, और स्पष्टता भी पाई जाती है। वर्माजी के नाटकों की इन विशेषताओं के मूल में उनकी वस्तु-योजना का ही अधिक महत्व छिपा हुआ है। उन्होंने अपनी वस्तु योजना के क्षेत्र में एक प्रशंसनीय कार्य किया है। वह प्रशंसनीय कार्य है कौतूहल और आश्चर्यजनक स्थितियों का समावेश। उनके एक की नाटकों में आदि से लेकर अन्त तक कौतूहल, और विस्मय उत्पन्न करने वाली स्थितियों का समावेश हुआ है। इसका परिणाम यह हुआ है, कि उनके कथानक का आकर्षणत्व सर्वत्र सुरक्षित रह सका है। इसी के कारण उनके कथानक की सर्वत्र गतिशीलता दिखाई पड़ती है। उन्होंने अपने कथानक में कौतूहल और विस्मयजनक स्थितियों को उत्पन्न करके एक ही घटना के भीतर विविध भाव चित्रों की सृष्टि की है। उनके संपूर्ण भाव-चित्रों में एकता और एकांमता है। घटना के विकास में उन्होंने दो रीतियों से काम लिया है। एक रीति तो वह है, जिसमें घटना तरंगों की भाँति नीचे ऊपर होती हुई विकास की अन्तिम सीढ़ी तक पहुँचती है। 'सम्राट विक्रमादित्य' में इसी रीति के अनुसार घटना का विकास हुआ है। दूसरी रीति में घटना किसी विशेष क्रम के अनुसार अपनी अन्तिम अवस्था की ओर 'गतिशील' नहीं होती। 'रूप की बीमारी' में इसी रीति का पालन किया गया है। वर्माजी को दोनों ही रीतियों में सफलता प्राप्त हुई है। किसी किसी रचना में उन्होंने एक साथ ही दोनों रीतियों से काम लिया है। जहाँ कहीं उन्होंने घटना के विकास में दोनों ही रीतियों का समन्वय किया है, वहाँ 'टेकनीक' का विस्तार अरुचिकर प्रतीत होता है।

वर्माजी की पात्र योजना में हम दो बातों पर विचार करेंगे—एक पात्रों का चयन और दूसरा पात्रों का चरित्र चित्रण। वर्माजी ने अपने पात्रों का चयन तीन स्थानों से किया है—पुराणों से, इतिहास से, और समाज से। उनके पौराणिक पात्रों में प्रजापति, अश्विनी कुमार, कश्यप, सीता, रावण, कृष्ण, और चन्द्रावली इत्यादि अधिक प्रसिद्ध हैं। उनके सभी पौराणिक पात्र आदर्शवादी हैं, और अपने क्षेत्र में अपनी विशिष्टताओं का परिचय देते हैं। ऐतिहासिक पात्रों में सम्राट विक्रमादित्य, अशोक, पृथ्वीराज, शिवाजी, दुर्गादास, और औरङ्गजेब इत्यादि का नाम आता है। पौराणिक पात्रों की भाँति ही ऐतिहासिक पात्र भी आदर्शवादी हैं, और अपनी योग्यताओं का परिचय देते हैं। सामाजिक पात्रों में प्रोफेसर, डाक्टर, और वैज्ञानिक

इत्यादि हैं, जो शिक्षित हैं, और उच्चवंश के हैं। इन पात्रों के चरित्र भी आदर्श के ही चिह्न बनाते हैं।

वर्माजी ने पात्रों के चरित्र चित्रण में अधिक सजगता से काम लिया है। पात्रों का चरित्र चित्रण करते हुए उनका ध्यान सदा अपने लक्ष्य और उद्देश्य की ओर दिखाई देता है। उन्होंने अपने लक्ष्य और उद्देश्य को दृष्टि में रख करके ही अपने पात्रों का चरित्र चित्रण किया है। चरित्र चित्रण में उन्होंने द्वन्दात्मक शैली का अनुसरण किया है। उन्होंने बड़ी सहानुभूति के साथ अपने पात्रों के हृदय के भीतर प्रवेश करके उनके विचारों को जानने और समझने का प्रयत्न किया है। घटना का उनके हृदय पर क्या प्रभाव पड़ता है, और उससे किस प्रकार के परिवर्तन उनके मन में उपस्थित होते हैं—इन बातों पर उनका पूरा-पूरा ध्यान रहता है। वे अपने पात्रों के अन्तर्जगत में ही नहीं प्रवेश करते, वरन् उसके बाह्य जीवन में चारों ओर चक्कर लगाते हैं; तात्पर्य यह, कि वे अपने पात्रों के चरित्र चित्रण के लिए उन साधनों की खोज बड़ी संलग्नता के साथ करते हैं, जिनके द्वारा चरित्रों का चित्र बना करता है। उनके चरित्र-चित्रण में उनकी यह संलग्नता साफ साफ दिखाई पड़ती है। उन्होंने अपने पात्रों के चरित्रों का चित्र उनके विचारों की तूलिका से ही तैयार किया है। चरित्रों के चित्रों को स्पष्ट करने के लिए वे विचारों का द्वन्द पैदा करते हैं, और द्वन्द के ही द्वारा अपने उन पात्रों के चरित्रों को स्पष्ट करते हैं, जो नैतिक चरित्र के गगन पर ध्रुव नक्षत्र की भाँति ही जाज्वल्यमान दिखाई पड़ते हैं। वर्मा जी को अपनी इस शैली में अभूत पूर्व सफलता प्राप्त हुई है। वे अपनी इस शैली के द्वारा अपने पात्रों का ऐसा चरित्र उपस्थित कर सके हैं, जो अधिक स्वाभाविक होने के साथ ही साथ प्रभाव पूर्ण भी है।

चरित्र चित्रण में पात्रों के पारस्परिक संवाद का विशेष महत्व होता है। पात्रों का संवाद ही वह संबल है, जिससे उनके विचारों की अभिव्यक्ति होती है। वर्माजी ने अपने पात्रों के चरित्रों को स्पष्ट करने के लिए उनके संवादों पर अपना पूर्ण रूप से नियन्त्रण रक्खा है। उनके पात्रों के संवादों में पात्रों की योग्यता और गुण समाविष्ट हैं। उनके पात्र अपनी योग्यताओं, और गुणों के ही अनुसार बात चीत करते हैं। उनकी बात चीत में लक्ष्य और उद्देश्य-सिद्धि का पूरा-पूरा ध्यान मिलता है। वे अपने संवादों में ऐसी कला का उपयोग करते हैं, जो लक्ष्य सिद्धि में सहायक होने के साथ ही साथ उन्हें मार्मिक और प्रभाव पूर्ण भी बनाती है। वर्माजी जिस प्रकार अपने पात्रों के संवादों पर ध्यान रखते हैं, उसी प्रकार उनका ध्यान उनकी भाषा पर भी रहता है। संवादों के अनुरूप ही वे भाषा का गठन करते हैं। भाषा के गठन में उनका विशेष ध्यान भावों की ही ओर रहता है। वे अपनी भाषा में प्रायः ऐसे ही शब्दों का प्रयोग करते हैं, जो भावों की मार्मिकता को बढ़ाने के साथ ही साथ भावों को सुन्दरता के साँचे में ढालते हैं। उनकी भाषा के वाक्य मार्मिक शब्दों से बने हुए अधिक भावमय हैं। उनके छोटे छोटे वाक्यों में भावों की गम्भीरता

स्थान-स्थान पर दिखाई पड़ती है। उनकी भाषा में रहस्यात्मकता, और मनोवैज्ञानिकता का भी आविर्भाव हुआ है।

रंग संकेत, अभिनय, और रस भी नाटक के तत्त्व हैं। रंग संकेतों की योजना नाटक में पाँच उद्देश्यों से की जाती है—रंग भूमि की व्यवस्था करने के लिए, पात्रों के अभिनय में सहायता प्रदान करने के लिए, पात्रों की रूप कल्पना में सहायता पहुँचाने के लिए, कथानक की ग्रन्थियों को स्पष्ट करने के लिए और कथावस्तु के तत्त्वों को चित्रण करने के लिए। वर्माजी के एकांकी नाटकों में रंग संकेत योजना के द्वारा इन पाँचों उद्देश्यों की पूर्ति हुई है। अभिनय की दृष्टि से भी उनके सभी नाटक सफल और स्वाभाविक हैं। उनके कई नाटकों का सफलता पूर्वक अभिनय किया जा चुका है। वर्माजी के नाटकों में करुण, और शृंगार की प्रधानता मिलती है। कहीं कहीं हास्य का प्रादुर्भाव भी उनके नाटकों में हुआ है। उन्होंने सुखांत और दुखान्त दोनों ही प्रकार के नाटकों की रचना की है।

सेठ गोविन्ददासजी प्रसाद युग के सफल एकांकीकार हैं। प्रसाद युग के एकांकीकारों में उन्होंने अधिक कीर्ति अर्जित की है। उन्होंने एकांकी के क्षेत्र में जो रचनाएँ

सेठ गोविन्ददास

उपस्थित की हैं, उन्हें हम चार वर्गों में विभक्त करते हैं—सामाजिक, ऐतिहासिक, राजनैतिक, और प्रहसन। धोखेबाज, ईद की होली, मानव मन, महाराज, व्यवहार, बूढ़े की जीभ, जाति उत्थान, फाँसी, टैमिन, वह मरा क्यों, अधिकार लिप्सा, स्पर्धा, प्रलय और सृष्टि, अलबेला, शाप और वर, सच्चा सुख, चालिस घण्टे, और हार्स पावर इत्यादि उनकी सामाजिक रचनाएँ हैं। कंगाल नहीं, जालौक और भिखारिणी, चन्द्रापीड़ और चर्मकार, शिवाजी का सच्चा स्वरूप, निर्दोष की रक्षा, कृष्णकुमारी, सहित या रहित, प्रायश्चित, भय का भूत, अजीबो गरीब मुलाकात, बाजीराव की तस्वीर, सच्ची पूजा, कृषियज्ञ, और अट्ठानवे किसके में ऐतिहासिक तत्त्व लगे हुए हैं। यू० नो०, आई० सी०, भूख हड़ताल, और सुदामा के तंदुल आदि उनकी राजनैतिक रचनाएँ हैं। हार्स पावर, चौबीस घण्टे और वह मरा क्यों उनके प्रहसन हैं। उनके एकांकी नाटकों के कई संग्रह प्रकाशित हुए हैं, जिनमें 'सप्त रश्मि', 'अष्टदल', 'एकादशी', 'पञ्चभूत', 'चतुष्पथ', और 'आप बीती जग बीती' का महत्व पूर्ण स्थान है। उनके एकांकी नाटक इन्हीं संग्रहों में संगृहीत हैं।

सेठजी की कला का क्षेत्र अधिक विस्तृत है। उनकी कला मुख्य रूप से तीन क्षेत्रों से सामग्री ग्रहण करती है—समाज के क्षेत्र से, इतिहास के क्षेत्र से, और राज-

सेठजी की एकांकी कला

नीति के क्षेत्र से। समाज के क्षेत्र में उसकी दृष्टि उन विकृतियों पर जाती है, जिनसे समाज कृण्ण होता जा रहा है। उन विकृतियों में कुछ का नाम इस प्रकार है—अफसरों की अनुभव हीनता, रईसों की अधिकार लिप्सा, ब्राह्मणों की पतितावस्था, कृषक मजदूरों का शोषण, ऊँच नीच का भेद भाव, छुआछूत, भूख हड़तालों का दुरुपयोग, चिकित्सकों की अनुभव

हीनता, और मिनिस्टरों के चुनाव इत्यादि। इसी प्रकार की और भी विविध सामाजिक विकृतियों पर सेठजी की कला ने अपनी दृष्टि डाली है। सेठजी की कला ने एकांकी के रूप में इन्हीं सामाजिक विकृतियों का विवेचन किया है। विवेचन में उसका लक्ष्य आदर्श मूलक है। यद्यपि वह उपदेशात्मक नहीं है, पर आदर्श की ओर वह संकेत अवश्य करती है। उसका लक्ष्य विकृतियों के प्रति 'घृणा', और क्षोभ उत्पन्न करना है। इसमें संशय नहीं किया जा सकता, कि सेठजी की कला को अपने लक्ष्य और उद्देश्य सिद्धि में सफलता प्राप्त हुई है।

सेठजी की एकांकी कला विचार मूलक है। यद्यपि वह समस्याओं पर प्रकाश डालते समय विचारों की गम्भीरता में प्रवेश नहीं करती, फिर भी यह तो कहना ही पड़ेगा, कि उसमें विचारों के तत्त्वों की ही प्रधानता है। उनकी विचार मूलक रचनाओं में धोखेबाज, ईद और होली, मानव मन, और मैत्री का महत्व पूर्ण स्थान है। इन नाटकों में सामाजिक विकृतियों के स्वाभाविकता पूर्ण चित्र मिलते हैं। विकृतियों के चित्रण में यथार्थवादिता का अवलम्बन लिया गया है। जहाँ विकृतियाँ यथार्थ का अंचल को पकड़ कर चलती हैं, वहाँ उनमें स्वाभाविकता दिखाई पड़ती है। इसके विपरीत जहाँ चित्रण में उपदेश की प्रवृत्ति है, वहाँ उनमें अस्वाभाविकता उत्पन्न हो गई है। कहीं कहीं सेठजी की कला आदर्श के मोह में भी ग्रासत हो गई है। जहाँ कहीं वह आदर्श के माह-जाल में फँस गई है, वहाँ वह उपदेशात्मक बन गई है।

इतिहास के क्षेत्र में सेठजी की कला ने ऐसे कथानकों को ग्रहण किया है, जिनमें भारतीय गौरव और उसकी महानताओं के परमोज्वल चित्र हैं। इन कथाओं में कुछ कथाएँ इस प्रकार की भी हैं, जो किंवदंतियों से सम्बन्ध रखती हैं। ऐतिहासिक और किंवदंतियों से सम्बन्धित – दोनों ही प्रकार की कथाएँ भारतीय संस्कृति के परमोज्वल चित्रों को हमारे सामने प्रस्तुत करती हैं। जिस प्रकार सामाजिक कथाओं का उद्देश्य समाज की विकृतियों को प्रस्तुत करना है, उसी प्रकार इन कथाओं का उद्देश्य भारतीय गौरव, और चरित्र के परमोज्वल चित्रों को उपस्थित करना है। इन चित्रों में किसी में भारतीय संस्कृति की परमोज्वलता है, तो किसी में चरित्र की दृढ़ता; किसी में न्याय की उत्कृष्टता है, तो किसी में उदारता, और सहिष्णुता की पराकाष्ठा। इस प्रकार इनके संपूर्ण ऐतिहासिक कथानक राष्ट्रीय प्रेम, और मानवीय गुणों से उल्लसित हैं। इनके ऐतिहासिक एकांकी नाटकों में 'जालौक की भिखारिणी', शिवाजी का सच्चा स्वरूप, चन्द्रापीड़ और चर्मकार, और 'कृष्णकुमारी' इत्यादि का महत्व पूर्ण स्थान है। 'जालौक और भिखारिणी' की कथा संस्कृत की सुप्रसिद्ध पुस्तक 'राज तरंगिणी' के आधार पर तैयार की गई है। 'चन्द्रापीड़ और चर्मकार' की कथा भी राजतरंगिणी पर ही आधारित है। 'शिवाजी का सच्चा स्वरूप' की कथा यदुनाथ सरकार द्वारा रचित 'शिवाजी एण्ड इज़टाइम्स' के आधार पर तैयार की गई है। 'कृष्णकुमारी' की कथा डा० गौरीशंकर ओझा द्वारा

रचित 'राजपूताने के इतिहास' से ली गई है। 'निर्दोष की रक्षा' की कथा अँगरेजी के सुप्रसिद्ध ग्रन्थ 'लेटर मुगल्स' पर आधारित है।

सेठजी के तीसरे प्रकार के एकांकी नाटक राजनीतिक हैं। राजनीतिक एकांकी नाटकों में आई० सी०, यू० नो०, और भूख हड़ताल का स्थान अधिक महत्व पूर्ण समझा जाता है। इन राजनीतिक एकांकियों की कथा कल्पना के आधार पर तैयार की गई है। इनमें राजनीति से सम्बन्ध रखने वाले विभिन्न चित्र हैं। किसी में चुनाव, किसी में मिनिस्टरों की मनः स्थिति, किसी में नाम लोभी कांग्रेस मैन की करतूत, किसी में पूँजीपतियों की लिप्सा, और किसी में किसानों तथा मजदूरों के चित्र हैं। सभी चित्र स्वाभाविक और मार्मिक हैं। प्रत्येक चित्र अपनी स्थिति पर पूरा प्रकाश डालता है। कथानक, पात्र, संवाद, और चित्रण इत्यादि सब का विकास उद्देश्य और लक्ष्य की ही दिशा में हुआ है।

सेठजी की कला ने एकांकी के क्षेत्र में एक नया प्रयोग किया है। वह प्रयोग है उसका मोनोड्रामा। सेठजी ने पाश्चात्य नाटककारों की शैली का अनुसरण करते हुए चार 'मोनोड्रामा' की रचना की है—प्रलय और सृष्टि, अलबेला, शाप और वर, और सच्चा जीवन। अँगरेजी में 'मोनोड्रामा' का अधिक प्रचार है। स्वीडन के सुप्रसिद्ध नाट्यकार 'स्ट्रिन्ड बर्ग' और अमेरिका के 'ओनील' ने 'मोनोड्रामों' के निर्माण में अधिक प्रसिद्धि प्राप्ति की है। संस्कृत में भी 'मोनोड्रामों' की भाँति के नाटक मिलते हैं। संस्कृत की परम्परा में 'आकाश भाषित' नाटक 'मोनोड्रामे' ही होते हैं। इनमें एक ही पात्र होता है। इसलिए हम इन्हें एक पात्रीय 'एकांकी' भी कह सकते हैं। सेठजी की कला ने मोनोड्रामा की रचना में तीन शैलियों से काम लिया है—उसकी एक शैली तो वह है, जिसमें 'आकाश भाषित' प्रणाली ग्रहण की गई है इस शैली में पात्र आकाश की ओर मुँह करके प्रश्न करता है, और स्वयं ही उसका उत्तर भी देता है। 'सच्चा जीवन' में इसी शैली का उपयोग किया गया है; दूसरी शैली वह है, जिसमें नाटक का नायक चश्मा, नोटबुक, कलम, लाइट हाउस, टावर घण्टा, चिमनी, बादल और धरती इत्यादि से बातें करता हुआ समाज और आधुनिक जन समाज की प्रवृत्तियों की आलोचना करता है। 'प्रलय और सृष्टि' की रचना इसी शैली के अनुसार की गई है, और तीसरी शैली वह है, जिसमें एक आपत्ति ग्रस्ता स्त्री रंग मञ्च पर उपस्थित होकर पुरुष को संबोधित करती हुई अपने हृदय की मनोव्यथाओं को प्रगट करती है। उसकी मनोव्यथाओं से पुरुष के हृदय में प्रतिक्रियाएँ होती हैं, पर फिर भी वह मौन ही रहता है। 'शाप और वर' की रचना में इसी शैली का उपयोग किया गया है।

'मोनोड्रामों' में सेठजी की कला अधिक कुशलता के साथ कार्य करती हुई दिखाई पड़ती है। एक ही पात्र के चरित्र में बहुत सी उपयुक्त बातों का समावेश करके उसने अपनी दूरदर्शिता का परिचय किया है। पात्र के चरित्र पर प्रकाश डालने में भी उसकी बुद्धि मत्ता दिखाई पड़ती है। पात्र के चरित्र पर प्रकाश डालते

हुए उसने विभिन्न समस्याओं का विवेचन किया है। समस्याओं का विवेचन करते हुए उसका ध्यान सदैव आदर्श की ओर ही लगा दिखाई देता है। सेठजी कला कहीं भी आदर्श का परित्याग नहीं करती। जिस प्रकार वह 'मोनोड्रामों' में आदर्श का आंचल पकड़ कर चलती है, उसी प्रकार ऐतिहासिक और सामाजिक नाटकों में भी वह आदर्श का ही राग गाती है। सेठजी के ऐतिहासिक नाटकों के सभी पात्र आदर्शवादी हैं। इन नाटकों के कथानकों में आदि से लेकर अन्त तक आदर्श के ही चित्र मिलते हैं। सामाजिक नाटकों में कहीं कहीं उनकी कला पर यथार्थ का रंग अवश्य पड़ गया है, पर इन नाटकों में भी उसका लक्ष्य सर्वत्र आदर्श की ओर ही दिखाई पड़ता है। सामाजिक नाटकों में भी सेठजी की कला ने सर्वोत्तम आदर्श-चित्रों की रचना की है।

सेठजी की कला पाश्चात्य कला से प्रभावित है। उन्होंने अपनी कला का निर्माण पाश्चात्य कला के ही आधार पर किया है। उन्होंने पाश्चात्य कला के ही आधार पर अपने नाटकों में 'टेकनीक' का प्रयोग किया है। उन्होंने 'मोनोड्रामों' में पाश्चात्य शैली के 'टेकनीक' के प्रयोग में बड़ी कुशलता प्रदर्शित की है। इसमें उनकी मौलिकता और उनका नाटकीय चातुर्य भी देखने को मिलता है। इसी प्रकार का नाटकीय चातुर्य उनके सभी नाटकों में मिलता है। उनके सभी नाटकों में अभिनय के तत्त्वों की प्रचुरता है। उनके नाटकों का कथानक अभिनय के तत्त्वों को खोलता हुआ आगे बढ़ता है। उनके नाटकों के कथानकों के विकास में क्रमबद्धता है। उनके नाटकों के कथानक समुद्र की तरंगों की भाँति उठते और गिरते हुए चलते हैं। उनमें कौतूहल और विस्मय उत्पन्न करने वाले चित्र पर्याप्त संख्या में मिलते हैं। वे अपने कौतूहल और विस्मयजनक चित्रों से पाठकों तथा दर्शकों के मन को सहज में ही बाँध लेते हैं, और अन्त तक बाँधे हुए रहते हैं। उनके पात्र आदर्शवादी हैं, चतुर हैं, और अनुभवी हैं। वे बड़ी बुद्धिमत्ता के साथ कथानक के उद्देश्य को पूर्ण करते हैं। उनके संवादों और कथोपकथनों में उनकी बुद्धिमत्ता और दूरदर्शिता साफ-साफ दिखाई पड़ती है। 'नाटकीय कौशल' भी सेठजी के नाटकों में प्रचुर रूप में मिलता है। सेठजी की कला 'नाटक' की मर्यादा को भली भाँति समझती है, और पग-पग पर उसका ध्यान रखती है। यही कारण है, कि उनके सभी नाटक अभिनेय हैं।

सेठजी की कला ने एकांकी के क्षेत्र में एक और नया प्रयोग किया है। वह प्रयोग है, 'उपक्रम', तथा 'उपसंहार'। सेठजी के एकांकी नाटकों को छोड़ कर 'उपक्रम', और 'उपसंहार' का प्रयोग और किसी के नाटक में नहीं पाया जाता। 'उपक्रम' में सेठजी की कला नाटक का एक सूक्ष्म परिचय पाठकों को पहले ही करा देती है। 'उपसंहार' में मुख्य दृश्यों के परिणाम स्पष्ट किए जाते हैं। सेठजी की कला काल संकलन को अधिक महत्व देती है। काल संकलन के लिए ही उसने अपने एकांकी

नाटकों में 'उपक्रम', और 'उपसंहार' की योजना की है। सेठजी की कला को इस योजना में अधिक सफलता भी प्राप्त हुई है।

प्रसाद युग के एकांकीकारों में और कई कलाकारों का समावेश किया जा सकता है, जिनमें श्री सुदर्शन, गोविन्द वल्लभ पन्त, श्री सत्येन्द्र, श्री सद्गुरुशरण अवस्थी, और श्री भुवनेश्वर का अधिक महत्व पूर्ण स्थान है। इन एकांकी नाटककारों में श्री सुदर्शन, श्री गोविन्द वल्लभ पन्त, और श्री सत्येन्द्र मुख्य रूप से एकांकी नाटक के क्षेत्र में नहीं रह सके हैं। अतः हम यहाँ श्री सद्गुरुशरण अवस्थी, और भुवनेश्वर जी की ही रचनाओं पर प्रकाश डालेंगे।

श्री सद्गुरुशरण अवस्थी यद्यपि एकांकीकार के रूप में अधिक प्रसिद्ध नहीं हैं, पर प्रसाद युग के एकांकीकारों में उनका महत्व पूर्ण स्थान है। उन्होंने एकांकी के

श्री सद्गुरुशरण अवस्थी

क्षेत्र में जो रचनाएँ उपस्थित की हैं, उनमें उनकी गुरुता झलकती है। अवस्थीजी की रचनाओं को हम दो वर्गों में विभक्त कर सकते हैं—सांस्कृतिक, और पौराणिक। उन्होंने संस्कृति के चित्रों को स्पष्ट करने के लिए पुराणों का ही मुख्य रूप से आश्रय लिया है। अतः उनकी रचनाओं का दोनों वर्ग एक में ही मिल गया है। उनकी रचनाओं के नाम इस प्रकार हैं—शकुन्तला, तुलसीदास, अहिल्या, कैकेयी, शंबूक, विभीषण, महाभि निष्क्रमण, एक लक्ष्य, सती का अपराध, त्रिशंकु, सुदामा, ध्रुव और प्रह्लाद। 'शकुन्तला' की कथा पुराण से ली गई है। यद्यपि कथा पौराणिक है, पर उसमें नवीनता के भी चित्र मिलते हैं। 'तुलसीदास' में गोस्वामी तुलसीदासजी के जीवन के चित्र हैं, जिनमें वासनामय प्रेम की निस्सारता को प्रधानता दी गई है। 'अहिल्या' की कथा पुराण से ली गई है, जो आदर्श की ओर उन्मुख है। 'कैकेयी' की कथा 'रामायण' की कथा पर आधारित है। यद्यपि कथा प्राचीन, और चिर परिचित है, पर उसको प्रस्तुत करने में नवीन दृष्टिकोण दिखाई पड़ता है। अतः कथा प्राचीन होते हुए भी नवीन ही ज्ञात होती है। शंबूक की कथा भी पुराणों से ही ली गई है। इसमें ऐसे चित्र मिलते हैं, जो वर्तमान वर्ण-व्यवस्था पर चोट करते हैं। कथा का उद्देश्य वर्ण-व्यवस्था पर आक्रमण करना ही प्रतीत होता है। कथा का विकास स्वाभाविकता के साथ उद्देश्य की दिशा में हुआ है। 'विभीषण' की कथा रामायण से ली गई है। इसमें राष्ट्र और कुटुम्ब की भावना से मानव सद् प्रवृत्तियों को सर्वोच्च स्थान दिया गया है। 'महाभि निष्क्रमण' की कथा में वैराग्य के चित्र हैं। 'एक लक्ष्य' की कथा 'महाभारत' से ली गई है। इस कथा में ब्राह्मण और अब्राह्मण की स्थिति पर मार्मिकता के साथ प्रकाश डाला गया है। कथा पुरानी है, पर वह नवीन समस्याओं पर भी प्रकाश डालती है। 'सती का अपराध' की कथा पौराणिक है। कथा में पति की अवज्ञा के दुष्परिणाम के चित्र मिलते हैं। त्रिशंकु, बलि वामन, सुदामा, ध्रुव, और प्रह्लाद इत्यादि रचनाओं का सृजन भी पौराणिक कथाओं से ही हुआ है।

अवस्थीजी की एकांकी रचनाओं का मन्थन करने से ज्ञात होता है, कि उनकी कला को भारत की प्राचीन संस्कृति अधिक प्रिय है। उसने प्रायः सभी कथानक

अवस्थीजी की एकांकी कला

पुराणों से ही लिए हैं। पुराणों के कथानकों में भी उसने प्रायः उन्हीं कथानकों को ग्रहण किया है, जो भारतीय गौरव-चिह्नों के प्रतीक हैं, अथवा जो मानवीय सद् प्रवृत्तियों में, किसी न किसी के परमोज्वल चित्र को सामने प्रस्तुत करते हैं। किन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं है, कि अवस्थीजी की कला रूढ़िवादिनी है। अवस्थीजी की कला ने पुराणों से कथानक अवश्य ग्रहण किए हैं, पर उन कथानकों को उसने नवीन विचारों के साँचे में ढाल कर सामने प्रस्तुत किया है। अवस्थीजी की कला की यह सबसे बड़ी विशेषता है, कि उसने पौराणिक गाथाओं में नवीन आदर्शों का समावेश किया है। अवस्थीजी की पौराणिक गाथाओं का एक उद्देश्य है—एक लक्ष्य है, और वह लक्ष्य है, नवीन आदर्शों को सामने प्रस्तुत करना। कथानकों का विकास स्वाभाविकता के साथ ही लक्ष्य की दिशा में हुआ है। उनके कथानकों के पात्रों की दृष्टि सर्वत्र लक्ष्य की ओर लगी रहती है। लक्ष्य को सामने रख करके ही उनके पात्र बात चीत करते हैं। उनके पात्रों के संलापों में संयम, और अनुशासन है। अभिनय की दृष्टि से भी अवस्थीजी की कला सफल कही जा सकती है। उनके एकांकी नाटकों में अभिनयात्मकता अपने स्वाभाविक रूप में पाई जाती है।

श्री भुवनेश्वर प्रसाद भी प्रसाद युग के ही सफल एकांकीकार हैं। इनकी एकांकी रचनाओं को हम तीन वर्गों में विभाजित कर सकते हैं—प्रारंभिक काल की रचनाएँ,

श्री भुवनेश्वर प्रसाद

विकास काल की रचनाएँ, और प्रौढ़ काल की रचनाएँ। प्रारम्भ काल की रचनाओं में श्यामा-एक वैवाहिक विडंबना, पतित या शैतान, एक साम्यहीन साम्यवादी, प्रतिभा का विवाह, रहस्य रोमांच, लाटरी, और मृत्यु इत्यादि का स्थान है। विकास काल की रचनाओं में हम अकेले नहीं हैं, सवा आठ बजे, आदमखोर, स्ट्राइक, और इन्सपेक्टर जनरल का नाम आता है। प्रौढ़ काल की रचनाओं में रोशनी और आग, फोटो ग्राफर के सामने, ताँबे के कीड़े, इतिहास की केंचुल, आजादी की नींद, जेरू सेलम, सिकन्दर, अकबर, और चंगेज खाँ इत्यादि का महत्व पूर्ण स्थान है।

श्री भुवनेश्वर प्रसाद का सर्व प्रथम एकांकी नाटक 'कारवाँ' प्रकाशित हुआ था। इस नाटक में उन्होंने पाश्चात्य कला का पूर्ण रूप से अनुगमन किया था। केवल कला का ही नहीं, विचार भी उनके पाश्चात्य जीवन के ही थे। उनके 'कारवाँ' का विरोध कई मनीषियों तथा आलोचकों ने किया। पर विरोध होने पर भी नया विचार प्रवाह एकांकी के क्षेत्र में फूट पड़ा, और शनैः शनैः वह फैलने तथा बढ़ने भी लग। कारवाँ के पश्चात् उनके वे नाटक प्रकाशित हुए, जिन्हें हम उनकी प्रारम्भिक काल की रचनाएँ मानते हैं। उनकी प्रारम्भिक काल की रचनाओं पर पूर्ण रूप से पाश्चात्य कलाकारों की रचनाओं का प्रभाव परिलक्षित होता है। उनमें

कुछ रचनाएँ तो ऐसी हैं, जो साफ-साफ 'शा' की रचनाओं का अनुवाद प्रतीत होती है। विकास काल की रचनाओं में श्री भुवनेश्वर की अपनी सत्ता दिखाई पड़ती है। यद्यपि इन रचनाओं पर भी पाश्चात्य कला का ही प्रभाव है, पर इन रचनाओं में उनकी स्वतन्त्र प्रतिभा का भी विकास हुआ है। भाव और कला-दोनों ही दृष्टियों से इस काल की रचनाओं में वे आगे बढ़ते हुए दिखाई पड़ते हैं। प्रौढ़ काल की रचनाओं में श्री भुवनेश्वर ने अपनी मौलिकता का परिचय दिया है। उनकी प्रौढ़ काल की रचनाएँ प्रतीकात्मक हैं, और उनमें कविस्वमय पूर्वालाप की संयोजना की गई है। प्रौढ़ काल में ही श्री भुवनेश्वर ने कुछ ऐतिहासिक नाटकों की भी रचना की है। इन ऐतिहासिक नाटकों में भी उन्होंने नवीन कलात्मक प्रयोग किये हैं।

जिस प्रकार श्री भुवनेश्वर के एकांकी नाटक तीन वर्गों में विभक्त हैं, उसी प्रकार उनकी कला का स्वरूप भी तीन प्रकार का है। उनकी कला का एक स्वरूप तो वह है, जो उनके प्रारम्भिक नाटकों में पाया जाता है। इन नाटकों में उनकी कला का अपना कोई स्वतंत्र स्वरूप नहीं है। इन नाटकों में उनकी कला ने पाश्चात्य कलाकारों का ही अनुगमन किया है। कथानक, पात्र, शैली, चरित्र चित्रण और टेकनीक इत्यादि सभी क्षेत्रों में उसने 'शा' तथा अन्य पाश्चात्य कलाकारों का ही अनुसरण किया है। प्रारंभिक काल की रचनाओं में उनकी कला समस्यावादिनी है। प्रारंभिक काल की रचनाओं के कथानकों का गुंफन समस्याओं को ही लेकर हुआ है। इन समस्याओं में सेक्स, विवाह, और नारी जीवन आदि की समस्याएँ मुख्य हैं। स्त्री जीवन से सम्बन्ध रखने वाली कई ऐसी समस्याएँ हैं, जो भारतीय विचार परम्परा के विपरीत हैं।

श्री भुवनेश्वर की एकांकी कला का दूसरा स्वरूप उनके विकास काल की रचनाओं में पाया जाता है। उनकी यह कला यथार्थवाद को ही अपनी पृष्ठभूमि मान कर अपने कार्य-व्यापार की रचना करती है। इस दूसरे रूप में उनकी कला घोर यथार्थवादिनी है। इस दूसरे स्वरूप में उनकी कला का अपना स्वरूप भी दिखाई पड़ता है। इस दूसरे स्वरूप में ही यह जान पड़ता है, कि उनकी कला में मौलिकता है। इस दूसरे स्वरूप में उनकी कला प्रतीकात्मक भी हो गई है। उनकी कला का तीसरा स्वरूप उनकी प्रौढ़ काल की रचनाओं में मिलता है। इन नाटकों में उनकी कला पूर्ण रूप से प्रतीकात्मक हो गई है। इन नाटकों में पूर्व के नाटकों की अपेक्षा सरसता और भावात्मकता भी अधिक है।

श्री भुवनेश्वरजी की कला पाश्चात्य कला से अधिक प्रभावित है। विचार और अभिनय दोनों ही क्षेत्र में उसने पाश्चात्य कला को ही अपना आधार माना है। उनके कथानकों के पात्र भारतीय अवश्य हैं, और वे भारतीय भाषा में संलाप करते हैं, पर वे अपने संवादों और कथोपकथनों के द्वारा जिस जीवन की सृष्टि करते हैं, अथवा जिस ढंग से समस्याओं का विवेचन करते हैं, उसे हम भारतीय विचार भावना

श्री भुवनेश्वरजी की एकांकी कला

से सर्वथा विपरीत ही पाते हैं। ऐसा लगता है, कि उनकी कला को भारतीय विचार धारा में जीवन के तत्त्व प्राप्त ही नहीं होते। यही कारण है, कि उनकी कला में जहाँ भारतीय जीवन के प्रति उदासीनता दिखाई पड़ती है, वहाँ पाश्चात्य जीवन के प्रति आसक्ति भी प्रगट होती है। इस आसक्ति के कारण कहीं-कहीं उनकी कला का स्वरूप अधिक अस्पष्ट, और अस्वाभाविक हो गया है। विचारों के क्षेत्र में ही नहीं, अभिनय के क्षेत्र में भी उनकी कला पाश्चात्य शैली का ही अनुगमन करती है। वस्तु, पात्र संयोजना, चरित्र चित्रण, संलाप, कथा योजना, रंग संकेत और टेकनीक इत्यादि सभी क्षेत्रों में वे इब्सेन, शा, और ग्लासवर्दी से ही अधिक प्रभावित जान पड़ते हैं।

हिन्दी एकांकी—आधुनिक काल

आधुनिक काल सं० १९९५ से प्रारम्भ होता है। आधुनिक काल को हम दो वर्गों में विभक्त करते हैं—आधुनिक काल प्रथम उत्थान, और आधुनिक काल द्वितीय उत्थान। प्रसाद युग में नई शैली के नाटकों का एक झलक आविर्भाव हो चुका था। प्रसादजी स्वयं नई शैली के विधाता थे। डा० रामकुमार वर्मा और सेठ गोविन्ददास इत्यादि की रचनाओं ने एकांकी जगत में नए युग की स्थापना की थी। प्रसाद युग में ही श्री भुवनेश्वर की रचनाओं ने एक नई दिशा का संकेत किया था। आधुनिक काल के प्रथम उत्थान में श्री भुवनेश्वर की और भी रचनाएँ सामने आईं। उनकी रचनाओं को लेकर एकांकी के क्षेत्र में एक वितंडावाद भी खड़ा हुआ, जिससे एकांकी साहित्य के प्रचार में सहायता प्राप्त हुई। इन्हीं दिनों काशी के 'हंस' ने अपना एकांकी अंक प्रकाशित किया। इसमें एकांकी के संबंध में आलोचनात्मक लेख प्रकाशित किए गए, और साथ ही विभिन्न कलाकारों की मौलिक और अनूदित रचनाएँ भी प्रस्तुत की गईं; परिणाम स्वरूप एकांकी की ओर विशेष रूप से लोगों का ध्यान आकर्षित हुआ, और थोड़े ही दिनों में एकांकी की धूम मच गई। इन्हीं दिनों एक और भी प्रकार की रचना सामने प्रस्तुत हुई। इस रचना को हम रेडियो रूपक कह सकते हैं। यह रूपक रेडियो द्वारा प्रसारित किए जाने के उद्देश्य से लिखे गए। इनकी शैली एकांकी नाटकों की शैली से विभिन्न है।

आधुनिक काल का द्वितीय उत्थान सं० २००२ से प्रारम्भ होता है। द्वितीय उत्थान में एकांकी की कला ने और भी अधिक गहराई में प्रवेश किया है। द्वितीय उत्थान में उसने मनोवैज्ञानिक ढंग से मन के भावों का विवेचन बड़ी सूक्ष्मता के साथ किया है। प्रथम और द्वितीय उत्थान में जिन कलाकारों की कृतियों ने एकांकी के क्षेत्र को अधिक गौरवमय बनाया है, उनमें डा० रामकुमार वर्मा, सेठ गोविन्ददास, श्री उदयशङ्कर भट्ट, श्री लक्ष्मीनारायण मिश्र, श्री हरिकृष्ण प्रेमी, श्री गणेश प्रसाद द्विवेदी, श्री उपेन्द्रनाथ 'अश्क', श्री जगदीश प्रसाद माथुर, श्री भगवतीचरण वर्मा, श्री विष्णु प्रभाकर, और श्री अज्ञेय इत्यादि का महत्व पूर्ण स्थान है। यहाँ हम कुछ विशिष्ट कलाकारों की कृतियों पर विचार प्रगट करने की चेष्टा करेंगे।

आधुनिक काल के कलाकारों में श्री उदयशङ्कर भट्ट का अधिक महत्व पूर्ण स्थान है। इनके एकांकी नाटकों के कई संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं, जिनके नाम

आधुनिक काल के कलाकार—श्री उदयशङ्कर भट्ट

इस प्रकार हैं—अभिनव एकांकी नाटक, स्त्री का हृदय, आदिम युग, समस्या का अन्त, धूम शिखा, अन्धकार और प्रकाश, तीन नाटक, और कालिदास। भट्टजी ने तीन गीति नाट्यों की भी रचना की है, जिनके नाम इस प्रकार हैं—मत्स्य गंधा, विश्वामित्र, और राधा। 'अभिनय एकांकी नाटक' में छः एकांकी संगृहीत हैं—दुर्गा, नेता, उन्नीस सौ पैंतीस, वर निर्वाचन, एक ही कक्ष में, और सेठ लाभचन्द्र। इनमें 'दुर्गा' को छोड़ कर शेष की रचना में सामाजिक तत्वों का योग है। 'दुर्गा' ऐतिहासिक कृति है। 'स्त्री का हृदय' में सात एकांकियों का गुंफन किया गया है—स्त्री का हृदय, नकली और असली दस हजार बड़े आदमी की मृत्यु विष की पुड़िया, जवानी, और मुन्शी अनोखे लाल। इन नाटकों में भी सामाजिक समस्याओं का ही विवेचन किया गया है। 'मुन्शी अनोखे लाल' में हास्य और व्यंग्य की छटा है। इसलिए हम उसे प्रहसन कहेंगे। 'जवानी' एक नाट्य रूपक है। 'आदिम युग' में चार एकांकियों का संग्रह किया गया है—आदिम युग, प्रथम विवाह, मनु और मानव, और कुमार सम्भव। आदिम युग की रचना में पुराणों के तत्व हैं। 'मनु और मानव' में दार्शनिक तत्वों का समावेश है। 'कुमार संभव' को भी पौराणिक ही कहा जा सकता है। 'प्रथम विवाह' में प्रारंभिक आर्य संस्कृति के चित्र हैं। 'समस्या का अन्त' में नौ एकांकी हैं—समस्या का अन्त, गिरती दिवारें, पिशाचों का नाच, बीमार का इलाज, आत्मदान, जीवन वापसी, मन्दिर के द्वार पर, और दो अतिथि। इनकी रचना मनुष्य की विभिन्न मानसिक प्रवृत्तियों को आधार मान कर की गई है। 'धूम शिखा' में छः एकांकी संगृहीत हैं - धूम शिखा, बिस्कोट, नया नाटक, नये मेहमान, अन्धकार और प्रकाश, और अघटित। इन नाटकों में अनुभूतियों की प्रधानता है। इनमें 'बिस्फोट' को छोड़ कर शेष सभी रेडियो पर प्रसारित हो चुके हैं। 'अन्धकार और प्रकाश' में पाँच एकांकी हैं। इनमें क्रांतिकारी को छोड़ कर शेष चार पुराने हैं। 'तीन नाटक' में तीन एकांकी संगृहीत हैं—आदिम युग, मनु और मानव, और कुमार सम्भव। 'आदिम युग' की रचना प्रागैतिहासिक काल की संस्कृति के आधार पर हुई है। 'मनु और मानव' में भी प्राचीन आर्य संस्कृति के ही चित्र मिलते हैं। 'कुमार सम्भव' में मध्यकालीन संस्कृति के चित्र मिलते हैं। मत्स्य गंधा, विश्वामित्र, और राधा भट्टजी के गीति नाट्य हैं, जो अधिक भाव पूर्ण हैं।

भट्टजी की एकांकी कला

भट्टजी कला ने चार क्षेत्रों से सामग्री ग्रहण की है—पौराणिक, ऐतिहासिक, सामाजिक, और दार्शनिक। उनकी चारों प्रकार की रचनाओं पर जब हम दृष्टि डालते हैं, तब हमें उनकी कला के चार रूप दिखाई पड़ते हैं। उनकी कला का एक रूप तो वह है, जो 'अभिनव

एकांकी नाटक' में संगृहीत नाटकों में मिलता है। इन नाटकों में उनकी कला सामाजिक तत्त्वों से ही अपना अभिसार करती है। इन नाटकों में उसने विभिन्न सामाजिक समस्याओं को लेकर कथा सूत्र का निर्माण किया है। इन नाटकों में उनकी कला पर स्पष्टतः गाँधीवादी विचार धारा का प्रभाव दिखाई पड़ता है। इन नाटकों में हमें उनकी कला का जो स्वरूप मिलता है, उसे हम प्रारंभिक स्वरूप कह सकते हैं। उसमें लम्बे संवाद, और बोझिल तर्कों की प्रधानता है। कहीं-कहीं संवादों में अस्वाभाविकता भी दिखाई पड़ती है। यह होते हुए भी उनकी कला के इस रूप में, प्रचुर मात्रा में विकास के तत्त्व मिलते हैं। उनकी कला का दूसरा स्वरूप हमें 'स्त्री का हृदय' में संगृहीत नाटकों में मिलता है। इन नाटकों में उनकी कला 'यथार्थवादिनी' के रूप में दिखाई पड़ती है। इन नाटकों में उनकी कला का ध्यान मुख्य रूप से समाज की विकृतियों की ओर जाता हुआ दिखाई पड़ता है। यद्यपि सामाजिक विकृतियों के चित्रण में उसका कुछ-कुछ ध्यान आदर्श की ओर भी जाता है, पर मुख्य रूप से उसका लक्ष्य 'यथार्थ' चित्रण की ओर ही दिखाई पड़ता है। उनकी कला का यह रूप अधिक सहानुभूतिमय है। सहानुभूतिमय होने के कारण उसमें सरसता और मधुरता भी अधिक है। इन नाटकों के संलापों, और चरित्र चित्रण में मस्तिष्क की अपेक्षा हृदय की शक्तियों से अधिक काम लिया गया है। उनकी कला का तीसरा स्वरूप 'समस्या का अन्त' और 'धूम शिखा' में संगृहीत नाटकों में मिलता है। इन नाटकों में यथार्थवाद को पृष्ठभूमि मान कर सामाजिक समस्याओं की विवेचना की गई है। इन नाटकों में उनकी कला घोर यथार्थवादिनी के रूप में मनुष्य की मानसिक प्रकृतियों के भीतर प्रवेश करती हुई दिखाई पड़ती है। 'धूम शिखा' के नाटकों में वह सर्वाधिक कलात्मक और अनुभूतिमय ज्ञात होती है। उनकी कला का चतुर्थ रूप वह है, जो उनके गीति-नाट्यों में मिलता है। उनकी कला का यह रूप अधिक भावमय है। अपने इस रूप में उनकी कला आन्तरिक भाव-संघर्षों के चित्र उपस्थित करने में अधिक कुशल दिखाई पड़ती है। इस रूप में उसने आन्तरिक भावों में घात प्रतिघात उत्पन्न करने और लहरें उठाने में प्रशंसनीय चातुर्य प्रदर्शित किया है।

भट्टजी की कला दो रूपों में व्यक्त हुई है—बुद्धिवादिनी के रूप में, और भाववादिनी के रूप में। उनके सामाजिक, राजनीतिक और दार्शनिक नाटकों की कला बुद्धिवादिनी है। इन नाटकों में उनकी कला ने बुद्धि को ही आधार मान कर अपने कार्य व्यापार का विस्तार किया है। बुद्धि का अधिक अवलम्ब ग्रहण करने के कारण इन नाटकों में वह अधिक यथार्थवादिनी भी बन गई है। भट्टजी का कला का दूसरा रूप, जिसमें भाव की प्रधानता है, उनके गीति-नाट्यों में मिलता है। उनकी कला का यह रूप भाव से उल्लसित है। उनकी कला अपने इस रूप में उन तत्त्वों को अपना सहचर बनाती है, जिनका संबंध हृदय से अधिक है। यही कारण है, कि उनकी कला के इस रूप में हृदय की शक्तियों का अधिक विकास मिलता है। उनकी

कला का यह रूप अधिक काव्यात्मक, सरस, और मधुर भी है। अभिनय की दृष्टि से भी हम भट्टजी की कला को सफल कह सकते हैं। गीति नाट्यों को छोड़ कर उनके सभी नाटकों में अभिनय के संविधान पाए जाते हैं।

आधुनिक काल के एकांकीकारों में पं० लक्ष्मीनारायण मिश्र भी अपना महत्व पूर्ण स्थान रखते हैं। यद्यपि इनका मुख्य क्षेत्र नाटक है, पर इन्होंने एकांकी के क्षेत्र में भी कीर्ति प्राप्त की है। इन्होंने कई एकांकी नाटकों की रचना की है; जिनमें कुछ के नाम इस प्रकार हैं—शोकवन, प्रलय के पङ्ख पर एक दिन, कावेरी में कमल, बलहीन, नारी का रंग, स्वर्ग में विप्लव, अशोक वन, कौशांबी, विदिशा, और दशाश्वमेध। इन नाटकों की रचना में कई प्रकार के तत्त्व लगे हुए हैं, जिनमें सामाजिक, पौराणिक, ऐतिहासिक और राजनीतिक तत्त्वों की प्रधानता है।

पं० लक्ष्मीनारायण मिश्र

मिश्रजी अपने ढङ्ग के अनूठे एकांकीकार हैं। नाटक की भाँति उनके एकांकी नाटक भी बुद्धि के तत्त्वों से ही अपना शृङ्गार करते हैं। उनकी एकांकी कला को हम बुद्धिवादिनी कह सकते हैं। उनकी एकांकी कला ने समाज, राजनीति, पुराण, और इतिहास से सामग्रियाँ ग्रहण करके उन्हें बुद्धि की कसौटी पर कस कर उनके भीतर छिपी हुई समस्याओं को परखने का प्रयत्न किया है। उनकी कला में जीवन और वस्तु की वास्तविकता को जानने की चेष्टा है। अपनी इस चेष्टा की पूर्ति के लिए वह तर्कों का आश्रय ग्रहण करती है। तर्कों में वह मनोवैज्ञानिकता से काम लेती है। बुद्धि और तर्क का अधिक अवलंब ग्रहण करने के कारण कहीं कहीं उस पर यथार्थवाद का रंग भी दिखाई पड़ता है। पर हम उनकी कला को 'यथार्थवादी' कला की संज्ञा से अभिहित नहीं कर सकते; क्योंकि उनकी कला जिस लक्ष्य और उद्देश्य की ओर उन्मुख दिखाई पड़ती है, उसमें हम आदर्श का ही पुट पाते हैं। अतः यदि हम उनकी कला को यथार्थ और आदर्श से समन्वित कहें तो अत्युक्ति न होगी। उनकी कला का शरीर यथार्थ के साधनों से अवश्य निर्मित हुआ है, पर उसमें आत्मा 'आदर्शवाद' की ही दिखाई पड़ती है। उनकी कला पर पश्चिम की कला का अधिक प्रभाव है। यदि यह भी कहा जाय, तो अत्युक्ति न होगी, कि उन्होंने आँख बन्द करके पश्चिम के कलाकारों की 'कला' का अनुसरण किया है। किन्तु उस कला के साँचे में उन्होंने भारतीय विचारों को ही ढाला है। इस प्रकार पश्चिम की कला के साँचे में भारतीय विचारों को ढाल कर उन्होंने एक नए पंथ का अनुसन्धान किया है।

मिश्रजी की एकांकी कला

आधुनिक काल के एकांकीकारों में श्री उपेन्द्रनाथ 'अश्क' का महत्व पूर्ण स्थान है। 'अश्क' ने नाटक और एकांकी नाटक दोनों की ही रचना की है। उनके नाटकों का नाम इस प्रकार है—जय पराजय, स्वर्ग की झलक, छठा बेटा, कैद, उड़ान, पैतरे, अलग अलग रास्ते, आदर्श और यथार्थ। 'अश्कजी' ने नाटक की अपेक्षा एकांकी के क्षेत्र में अधिक कार्य

श्री उपेन्द्रनाथ 'अश्क'

किया है। एकांकीकार के रूप में उन्हें ख्याति भी अधिक प्राप्त हुई है। उनकी एकांकी रचनाओं को हम तीन वर्गों में विभक्त कर सकते हैं—प्रथम उत्थान, द्वितीय उत्थान, और तृतीय उत्थान। प्रथम उत्थान में उनकी प्रारंभिक काल की रचनाएँ आती हैं, जिनके नाम इस प्रकार हैं—पापी, लक्ष्मी का स्वागत, मोहब्बत, फ़ासवर्ड पहेली, अधिकार का रक्षक, आपस का समझौता, स्वर्ग की झलक, विवाह के दिन, और जोक प्रहसन। द्वितीय उत्थान में उनकी वे रचनाएँ समझी जाती हैं, जिनमें उनकी कला का विकास हुआ है। इन रचनाओं में उनकी कला ने सांकेतिक और प्रतीकात्मक रूप धारण किया है। इन रचनाओं के नाम इस प्रकार हैं—चरवाहे, चिलमन, खिड़की, चुम्बक, मैमूना, देवताओं की छाया, चमत्कार, और सूखी डाली। तृतीय उत्थान में अश्कजी की वे रचनाएँ हैं, जिनमें उनकी प्रौढ़ता देखने को मिलती है। इन रचनाओं में उनकी कला ने मनोवैज्ञानिकता का स्वरूप धारण किया है। इन रचनाओं के नाम इस प्रकार हैं—आदि मार्ग, अंजो-दीदी, भँवर, कइसा साब कइसा काया, अंधी गली, पर्दा उठाओ, पर्दा गिराओ, बतसिया, सयाना मालिक, कस्बे के क्रिकेट, क्लब का उद्घाटन, मुक्के बाजों का स्वर्ग, और जीवन साथी।

विषय की दृष्टि से 'अश्कजी' की रचनाओं के दो वर्ग किए जा सकते हैं—ऐतिहासिक और सामाजिक। उनका जय पराजय नाटक ऐतिहासिक है। शेष नाटकों और एकांकी नाटकों की रचना उन्होंने सामाजिक तत्त्वों के आधार पर की है। शैली की दृष्टि से भी उनके नाटकों के कई वर्ग किए जा सकते हैं। जैसे—दुःखांत एकांकी, सुखांत एकांकी, हास्य प्रधान सुखांत एकांकी, व्यंग्य नाटक, सुखांत सांकेतिक एकांकी, और गम्भीर शैली के नाटक। वेश्या, पापी, लक्ष्मी का स्वागत, विवाह के दिन, देवताओं की छाया में, और तूफान से पहले आदि में दुखान्त एकांकी शैली का प्रयोग हुआ है। 'पक्का गाना' में सुखान्त शैली प्रस्फुटित हुई है। पैंतरे, जोंक, आपस का समझौता, पहेली, नया पुराना, तौलिए, बहिनें, कइसा साब कइसा काया, पर्दा उठाओ, पर्दा गिराओ, कस्बे के क्रिकेट, क्लब का उद्घाटन, और मुक्के बाजों का स्वर्ग इत्यादि में हास्य प्रधान सुखान्त शैली पाई जाती है। स्वर्ग की झलक, और छठा बेटा में व्यंग शैली प्रस्तुत की गई है। चमत्कार में हास्य-व्यंग प्रधान शैली प्रयुक्त हुई है। चरवाहे, मैमूना, चुम्बक, चिलमन, और खिड़की में दुःखांत सांकेतिक शैली का विकास हुआ है। 'सूखी डाली' में सुखान्त सांकेतिक शैली पाई जाती है। उड़ान, जय पराजय, और अलग-अलग रास्ते में गम्भीर शैली का प्रयोग हुआ है।

'अश्कजी' एकांकी के क्षेत्र में जब आए, तब हिन्दी की एकांकी कला का पूर्ण रूप से विकास हो चुका था। हिन्दी के श्रेष्ठ कलाकारों की कृतियाँ सामने प्रस्तुत

अश्कजी की कला

हो चुकी थीं। अतः उन्हें अपनी कला के आदर्श को निश्चित करने में कठिनाइयाँ प्रतीत न हुईं। फिर भी यह स्वीकार किया जा सकता

है, कि उन्होंने अपनी कला के स्वरूप को स्थिर करने में परिश्रम और साधना से काम किया। उन्होंने हिन्दी की 'कला' का अध्ययन किया, और इसके साथ ही साथ उन्होंने पश्चिम की कला का भी मन्थन किया। पश्चिम के कई कलाकारों की कृतियों का उन पर आधक प्रभाव पड़ा। इन कलाकारों में मैटर लिंक, स्ट्रड बर्ग, ओ नील, रिवज, और वैरी इत्यादि का नाम महत्व पूर्ण है। 'अश्कजी' ने अपनी कला के स्वरूप निर्धारण में इन्हीं पश्चिमी कलकारों की कला से सहायता प्राप्त की है। यदि हम यह भी कहें तो अत्युक्ति न होगी, कि उनकी 'कला' ने इन पाश्चमी कलाकारों की 'कला' को अपना पथ प्रदर्शक मान कर अपने कार्य-व्यापार की रचना की है। कथावस्तु, चरित्र चित्रण, उद्देश्य, अन्त और टेकनीक इत्यादि क्षेत्रों में उन्होंने पश्चिमी आदर्शों का ही परिपालन किया है।

अश्कजी की कला यथार्थवादिनी है। उसमें कल्पना का अभाव, और वास्तविक समस्याओं के विश्लेषण की विशेष अभिरुचि है। समस्याओं का विश्लेषण करने में वह विषय के भीतर प्रवेश करती है, और मनोवैज्ञानिक ढङ्ग से विषय के एक एक पहलू पर ध्यान से दृष्टि डालती है। विषय को प्रस्तुत करने में वह विचारों का आश्रय लेती है। विचारों में द्वन्द उत्पन्न करके किसी परिणाम के निकट पहुँचना उनकी कला को अधिक प्रिय है। उनकी कला केवल विश्लेषण ही नहीं करती; वरन् वह विषय की आलोचना भी करती है। विश्लेषण और आलोचना-दोनों प्रवृतियों ने एक साथ मिल कर उनकी कला को अधिक मार्मिक बना दिया है।

अश्कजी की कला ने पाश्चात्य आदर्शों को ग्रहण अवश्य किया है, पर यह स्वीकार करने में सङ्कोच नहीं किया जा सकता, कि उसमें स्वतन्त्रता की प्रवृति है। पाश्चात्य आदर्शों के मार्ग पर चलते हुए उसने प्रत्येक क्षेत्र में अपनी स्वतन्त्र प्रतिभा और प्रवृति का परिचय दिया है। वस्तु, पात्र, चरित्र चित्रण, संवाद और टेकनीक इत्यादि क्षेत्रों में उसकी अपनी मौलिकता दिखाई पड़ती है। टेकनीक के क्षेत्र में तो अश्कजी की कला ने अपनी मौलिकता बड़ी कुशलता के साथ प्रगट की है। 'टेकनीक' के क्षेत्र में उनकी कला विविध रंगी दिखाई पड़ती है। उन्होंने अपने एकांकी नाटकों में विभिन्न 'टेकनीकों' का प्रयोग किया है। उनके सभी प्रकार के टेकनीक रंग मंच के लिए उपयुक्त हैं।

वर्तमान काल के एकांकीकारों में श्री जगदीशचन्द्र माथुर, विष्णु प्रभाकर, शम्भूदयाल सक्सेना, श्री रामचन्द्र तिवारी, श्री भारत भूषण अग्रवाल, और श्रीराम शर्मा 'राम' इत्यादि का भी नाम उल्लेखनीय है।

—:o:—

१०

निबन्ध

विषय सूची

१—निबन्ध क्या है ७२५
(अ) निबन्ध की परिभाषा-विद्वानों के विचार, (आ) निबंध-उसकी भाषा और शैली।
२—हिन्दी में निबन्ध का जन्म और उसका विकास ७२८
(इ) अँगरेजी में निबन्ध का जन्म, (ई) हिन्दी में निबन्ध का जन्म, (उ) प्रबन्ध और निबन्ध, (ऊ) हिन्दी निबन्ध और भारतेन्दु।
३—हिन्दी निबन्ध—भारतेन्दु काल ७३२
(ए) हिन्दी निबन्ध-भारतेंदु जी के पूर्व (ऐ) हिन्दी निबन्ध भारतेन्दु-हरिश्चंद्र, (ओ) भारतेंदु काल के निबन्धकार, (औ) पं० बालकृष्ण भट्ट, (अं) पं० प्रताप नारायण मिश्र, (अः) भारतेन्दु काल के अन्य निबन्धकार।
४—हिन्दी निबन्ध—द्विवेदी काल ७३६
(क) द्विवेदी काल में हिन्दी निबन्ध कला, (ख) पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी, (ग) द्विवेदी काल के निबन्धकार-पं० माधवप्रसाद मिश्र, (घ) बालमुकुन्द गुप्त, (ङ) गोपालराम गहमरी, (च) पं० गोविन्दनारायण मिश्र, (छ) बाबू श्याम सुन्दरदास, (ज) पं० चन्द्रधर शर्मा-गुलेरी, (झ) प० जगन्नाथप्रसाद और पं० द्वारिका प्रसाद चतुर्वेदी, (ञ) सरदार पूर्णसिंह, (ट) पं० पद्मसिंह शर्मा,
५—हिन्दी निबन्ध—आधुनिक काल ७४५
(ठ) पं० रामचंद्र शुक्ल, (ड) आधुनिक काल के निन्धकार, (ढ) प्रेमचन्द, (ण) जयशंकर प्रसाद, (त) गुलाबराय, (थ) पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी, (द) वियोगी हरि, (ध) डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी, (न) जैनेन्द्र कुमार, (प) शेष निबन्धकार।

—:०:—

निबन्ध क्या है ?

निबन्ध गद्य साहित्य का प्राण है। गद्य साहित्य में जो कुछ रहता है, वह सब का सब निबन्ध होता है, यह तो नहीं कहा जा सकता, किन्तु यह अवश्य कहा जा सकता है, कि निबंध में गद्यकारिता के तत्त्व प्रचुर रूप में अंतर्निहित रहते हैं। निबन्ध की भाँति गद्य के और भी कई अंग होते हैं, जैसे—उपन्यास, नाटक, और कहानी इत्यादि। पर निबन्ध के भीतर गद्य के जितने तत्त्व अंतर्निहित रहते हैं, उतने उसके और किसी अंग में नहीं होते। कहानी, उपन्यास और नाटक इत्यादि में गद्य के साथ कहानी, उपन्यास, और नाटक की कलाएँ भी विद्यमान रहती हैं, पर निबन्ध में गद्य के साथ केवल गद्य ही होता है। यही कारण है, कि निबन्ध में गद्य कला का विकास पूर्ण रूप से होता है। फिर भी यह स्वीकार करना ही पड़ेगा, कि निबन्ध का अपना एक विशिष्ट क्षेत्र होता है। निबन्ध पूर्ण रूप से गद्य होते हुए भी आकार प्रकार, स्वरूप, और गुण धर्म में अन्यान्य प्रकार के 'गद्यों' से सर्वथा पृथक होता है।

निबन्ध की परिभाषा
विद्वानों के विचार

'निबन्ध' से हम सभी लोग परिचित हैं। प्रतिदिन हम सब निबंध पढ़ा भी करते हैं। पर निबन्ध क्या है—यह प्रश्न साधारणजनों की तो कोई बात ही नहीं, बड़े बड़े विद्वानों के लिए भी एक जटिल पहेली सा है। विश्व के साहित्य में आज निबन्धों की अपार सम्पत्ति पाई जाती है। विश्व-साहित्य में आज निबन्ध-साहित्य के अनेक विद्वान रचयिता भी पाए जाते हैं, पर निबन्ध क्या है—यह प्रश्न आज भी विवाद की एक वस्तु बना हुआ है। संसार के विद्वानों ने निबन्धों के ऊपर अपने जो मत व्यक्त किए हैं, उनमें साम्य नहीं दिखाई पड़ता। अँगरेजी के सुप्रसिद्ध विद्वान डा० सैमुअल जान्सन ने 'निबन्ध' के ऊपर विचार प्रगट करते हुए लिखा है—'निबन्ध मानसिक जगत का एक शिथिल बुद्धि विलास है, इसलिए वह कोई क्रमिक और नियमित रचना न होकर एक अव्यवस्थित और अपरिपक्व विचार खंड होता है।' अँगरेजी के एक दूसरे विद्वान ने निबन्ध की परिभाषा के सम्बन्ध में अपने विचार इस प्रकार प्रगट किए हैं—'निबन्ध किसी विषय विशेष या किसी विषय के अंश पर एक साधारण कलेवरमयी रचना है, जिसमें प्रारम्भ में अपरि पूर्णता की कल्पना रहती थी। किन्तु अब उसका प्रयोग एक ऐसी रचना के लिए किया जाता है, जिसकी

परिधि के सीमित रहने पर भी शैली प्रायः प्रौढ़ एवं परिमार्जित रहती है।' हिन्दी के सुप्रसिद्ध विद्वान बाबू श्यामसुन्दरदासजी ने 'निबन्ध' के ऊपर निम्नांकित संमति प्रगट की है—'वास्तव में निबन्ध की शिथिल शैली अत्यधिक प्रभावशालिनी होनी चाहिए। बौद्धिक विचारों की शुष्कता और दुरूहता को दूर करने के लिए निबन्ध लेखकों का यह प्रधान साधन है, जिससे वह पाठकों के हृदय को अपनी ओर लगा सकें। उन्हें शैथिल्य पूर्ण हल्का वातावरण बनाना कला की दृष्टि से आवश्यक होता है।' आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्लजी ने निबन्ध के ऊपर अपने विचार इस प्रकार प्रगट किए हैं—'आधुनिक पाश्चात्य लक्षणों के अनुसार निबन्ध उसी को कहना चाहिए, जिसमें व्यक्तित्व अर्थात् व्यक्तिगत विशेषता हो। बात तो ठीक है, यदि ठीक तरह से समझी जाय। व्यक्तिगत विशेषता का यह मतलब नहीं है, कि उसके प्रदर्शन के लिए विचारों की शृङ्खला रखी ही न जाय या जान बूझ कर जगह-जगह से तोड़ दी जाय, भावों की विचित्रता दिखाने के लिए ऐसी अर्थ-योजना की जाय, जो उनकी अनुभूति के प्रकृत या लोक सामान्य रूप से कोई सम्बन्ध ही न रखे, अथवा भाषा से सरकस वालों की सी कसरतें, या हठयोगियों के से आसन कराये जायँ, जिनका लक्ष्य तमाशा दिखाने के सिवा और कुछ न हो।'.....'संसार की हर एक बात और सब बातों से सम्बद्ध है। अपने अपने मानसिक संघटन के अनुसार किसी का मन किसी सम्बन्ध सूत्र पर दौड़ता है, किसी का किसी पर। ये सम्बंध सूत्र एक दूसरे से नथे हुए पत्तों के भीतर की नसों के समान, चारों ओर एक जाल के रूप में फैले हैं। तत्त्व चिंतक या दार्शनिक केवल अपने व्यापक सिद्धांतों के प्रतिपादन के लिए उपयोगी कुछ संबंध सूत्रों को पकड़ कर किसी ओर सीधा चलता है, और बीच के ब्यौरों में कहीं नहीं फँसता। पर निबन्ध लेखक अपने मन की प्रवृत्ति के अनुसार स्वच्छन्द गति से इधर उधर फूटी हुई, सूत्र-शाखाओं पर विचरता चलता है। यही उसकी अर्थ सम्बन्धी व्यक्तिगत विशेषता है। अर्थ सम्बन्ध सूत्रों की टेढ़ी-मेढ़ी रेखाएँ ही भिन्न भिन्न लेखकों का दृष्टि-पथ निर्दिष्ट करती हैं। एक ही बात को लेकर किसी का मन किसी सम्बन्ध-सूत्र पर दौड़ता है, किसी का किसी पर। इसी का नाम है एक ही बात को भिन्न-भिन्न दृष्टियों से देखना। व्यक्तिगत विशेषता का मूल आधार यही है।'

निबन्ध-उसकी भाषा और शैली

निबन्ध की परिभाषा के सम्बन्ध में ऊपर दो प्रकार के मत उद्धृत किए हैं। एक प्रकार के मत पश्चिमी विद्वानों के हैं, और दूसरे प्रकार के मत हिन्दी के आचार्यों के हैं। पश्चिमी विद्वानों के जो मत यहाँ उद्धृत किए गए हैं, वे दो-तीन सौ वर्ष पुराने हैं। इन विद्वानों ने निबन्ध के सम्बन्ध में जो विचार व्यक्त किए हैं, आज के निबन्ध उनके विचारों से विभिन्न हैं। इस बात को स्वीकार करने में संकोच नहीं किया जा सकता, कि आज के निबन्धों का मूल इन प्राचीन विद्वानों के विचारों में अन्तर्निहित है, पर साथ ही यह बात भी निःसंकोच रूप से कही जा सकती है, कि आज निबंध कला

अपनी प्रौढ़ता पर है। प्राचीन विद्वानों ने निबन्ध के सम्बन्ध में अपने जो मत व्यक्त किए हैं, वे आज के निबन्धों पर लागू नहीं होते। स्वर्गीय डा० श्यामसुन्दर-दास, और आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्लजी के विचार आज की निबन्ध कला पर वास्तविकता के साथ प्रकाश डालते हैं। उनके विचारों में आज के निबन्धों का स्वरूप और उनकी शैली तथा उनका गुण अपने तथ्य के साथ छिपा हुआ है।

वर्तमान काल में निबन्ध कला ने अधिक उन्नति अवश्य की है, पर जहाँ तक उसकी परिभाषा का प्रश्न है, वह अपने प्राचीन और नवीन-दोनों ही स्वरूपों में एक सा है। निबन्ध शृङ्खलित विचारों के एक समूह को कहते हैं। निबन्ध में विषय का प्रतिपादन एक परिधि के ही भीतर किया जाता है। अतः विषय को अधिक प्रभाव पूर्ण बनाने के लिए विचारों को अधिक परिपुष्ट और उत्तेजनामय बनाने की आवश्यकता रहती है। निबन्ध में विचारों को एक सीमा के ही भीतर व्यक्त किया जाता है। निबन्ध की भाषा और शैली पर भी नियन्त्रण रखना अधिक आवश्यक होता है। निबन्ध की भाषा और शैली को भी एक सीमा-एक परिधि के ही भीतर अपने व्यापार की रचना करनी पड़ती है। अतः निबन्ध की भाषा और शैली को भी अधिक उत्तेजक और प्राणमय बनाने की आवश्यकता है। निबन्ध की भाषा और शैली जितनी ही प्राणमय होगी, उतना ही निबन्ध के भीतर विचारों की प्रभाव पूर्णता में अभिवृद्धि होगी। भाषा और शैली के प्राणमय से यह तात्पर्य नहीं है, कि निबन्धों की भाषा दुरूह और अलङ्कार युक्त हो, वरन् इसका तात्पर्य तो यह है, कि भाषा और शैली अधिक से अधिक सजीव होनी चाहिए। सजीवता के साथ ही साथ उसमें सरलता का पुट भी होना चाहिए। भाषा और शैली की सजीवता तथा सरलता निबन्धों का अपना एक विशिष्ट गुण है।

—:o:—

हिन्दी में निबन्ध का जन्म और उसका विकास

अँगरेजी में निबंध का जन्म

हिन्दी निबंध के इतिहास पर जब हम दृष्टि डालते हैं, तो इस बात का पता चलता है, कि हिन्दी में निबंध का जन्म अँगरेजों के आगमन के पश्चात् ही हुआ है। इसी बात को दूसरे शब्दों में हम इस प्रकार भी कह सकते हैं, कि हिन्दी में निबन्ध का जन्म अँगरेजी के प्रभाव के कारण हुआ है। अतः हिन्दी निबन्ध के जन्म और उसके विकास पर प्रकाश डालने के पूर्व अँगरेजी निबन्ध के जन्म पर एक प्रकाश डालना समीचीन ही होगा। अँगरेजी में आज निबंधों का अतुल भंडार है। अँगरेजी में आज एक से एक बढ़कर यशस्वी निबन्ध लेखक हैं, जो अपनी रचनाओं से विश्व-साहित्य को आंदोलित कर रहे हैं। इन लेखकों में बेकन, स्टील, एडीसन, गोल्डस्मिथ, हैजालिट, कार्लाइल, रस्किन, लेहंट, चार्ल्सलैम्ब, वाल्टर रैले, और स्टीवेन्सन इत्यादि का महत्व पूर्ण स्थान है। इन निबन्ध लेखकों की आदि कड़ी कहाँ से प्रारंभ होती है—यहाँ हमें इसी बात पर प्रकाश डालना है। अँगरेजी के निबन्ध साहित्य के इतिहास पर जब हम दृष्टि डालते हैं, तो उसके आदि स्रोत पर मिकेल मौंटेन को बैठा हुआ पाते हैं। मिकेल मौंटेन एक फ्रांसीसी विद्वान था, और यही निबन्ध का जन्मदाता माना जाता है। सर्व प्रथम इसी ने ऐसे गद्य की रचना की थी, जिसे निबन्ध कहा जा सकता है। मौंटेन ने ही सर्व प्रथम अपने लेखों का संग्रह 'एसेइस' के नाम से प्रकाशित किया था। इस शब्द का प्रयोग सर्व प्रथम उसने ही 'साहित्यिकता' के अर्थ में किया था। यह बात सच है, कि मौंटेन ने निबन्ध की परिभाषा जिन शब्दों में बताई है, उसके वे शब्द आज के निबन्ध की परिभाषा के लिए उपयुक्त नहीं हो सकते, पर इसके साथ ही साथ यह बात भी सत्य है, कि उसके उन शब्दों में आज के निबन्धों की परिभाषा का मूल स्रोत छिपा हुआ है। मौंटेन ने 'आत्म चरित' चित्रण को निबन्धों में अनिवार्य बताया है, किन्तु आज निबन्धों की सीमा इसकी परिधि से बहुत आगे बढ़ गई है। आज निबंध 'आत्म चरित' में ही सीमित न होकर विविध विषयों के क्षेत्र में बुद्धि और प्रतिभा का महत्व पूर्ण शृङ्गार बना हुआ है।

हिन्दी में निबन्ध का जन्म अँगरेजी के निबन्धों ही के प्रभाव के कारण हुआ है। यह बात नहीं, कि हमारे देश के साहित्य में निबन्धों का प्रचलन नहीं था।

हिन्दी में निबन्ध का जन्म

संस्कृत साहित्य का जब हम मन्थन करते हैं, तब उसमें निबन्ध के कई ऐसे लेखक मिलते हैं, जिनकी रचनाओं में निबन्ध कला का विकास पूर्णता के साथ हुआ है। यह बात सच है, कि उनकी भाषा, शैली, और विषय चित्रण में आज के निबन्धों की सी रसात्मकता नहीं है, पर इसके साथ ही साथ यह बात भी सच है, कि इन निबन्धों में निबन्धात्मकता पूर्ण रूप से सन्निहित है। प्रश्न उत्पन्न होता है, कि संस्कृत में 'निबन्ध' होने पर भी उसका प्रभाव हिन्दी पर क्यों नहीं पड़ा? इसके उत्तर में केवल एक ही बात कही जा सकती है, और वह यह कि संस्कृत के उन निबंधों में दार्शनिकता की मात्रा अधिक थी, जिससे उनका प्रचार सर्व साधारण में बहुत कम था। संस्कृत के उन निबन्धों में रसात्मकता का भी अभाव था। इसके अतिरिक्त संस्कृत अपनी पतनावस्था पर भी थी। उसका पठन पाठन एक प्रकार से बन्द सा हो गया था। फलतः संस्कृत के निबन्धों का प्रभाव हिन्दी साहित्य पर न पड़ सका। हिन्दी में निबन्ध का जन्म अँगरेजी के निबन्धों के प्रभाव के ही कारण हुआ है। हिंदी के निबन्ध इतिहास पर जब हम दृष्टि डालते हैं, तो यह बात स्पष्ट रूप से सामने आती है, कि हिन्दी में निबन्धों की सृष्टि अँगरेजों का भारत में शासन स्थापित होने के पश्चात से ही होने लगी है। हिन्दी के निबन्धों का आकार प्रकार, और उनकी शैली भी अँगरेजी के ही निबन्धों से मिलती-जुलती है। अतः यह बात निःसंकोच रूप से कही जा सकती है, कि हिन्दी में निबन्ध कला का जन्म और उसका विकास अँगरेजी के ही निबन्धों के कारण हुआ है।

हिन्दी के गद्य इतिहास पर जब हम दृष्टि डालते हैं, तो यह देखते हैं, कि हिन्दी में निबन्धों का जन्म बहुत बाद में हुआ है; अर्थात् नाटक, उपन्यास, और कहानी का जन्म होने पर भी बहुत दिनों तक 'निबन्ध कला' अपने अस्तित्व में न आ सकी थी। इसका एक मुख्य कारण है, और वह यह, कि निबन्ध लेखन में जिस सूक्ष्म अध्ययन, विवेचन, और अन्वीक्षण की आवश्यकता होती है, नाटक, उपन्यास, और कहानी इत्यादि के लिए वह आवश्यक नहीं समझी जाती। यही कारण है, कि विश्व की सम्पूर्ण भाषाओं में निबन्ध कला का जन्म उपन्यास, नाटक, और कहानी इत्यादि के जन्म के पश्चात् ही हुआ है। भाषा और साहित्य के इसी प्रकृत नियम के कारण हिन्दी में भी निबन्ध कला का जन्म बहुत देर से हुआ है; अर्थात् उस समय हुआ है, जब भाषा और विचार अधिक परिपुष्ट हो सके हैं। काव्य, कहानी, नाटक और उपन्यास इत्यादि तो हिन्दी के जन्म के साथ ही उसमें लिखे जाने लगे थे, पर साहित्यिक निबन्धों का उसमें उस समय तक अभाव ही था, जब तक, कि वह परिपुष्ट नहीं हो गई थी, और जब तक अँगरेजी के प्रभाव ने उसे पूर्ण रूप से प्रभावित नहीं किया था।

यह बात नहीं, कि निबन्ध की कल्पना ही हमारे मस्तिष्क में नहीं थी। गद्य के इतिहास से यह बात साफ-साफ प्रगट होती है, कि अँगरेजी के सम्पर्क में आने के

'प्रबन्ध' और निबन्ध — बहुत पूर्व से ही हिन्दी में 'निबन्ध' की कल्पना विद्यमान थी। यद्यपि साहित्यिक निबन्धों का पूर्ण रूप से अभाव था, पर निबन्ध शब्द अपने स्थान पर विद्यमान था। यह 'निबन्ध' शब्द हमें संस्कृत से प्राप्त हुआ था। संस्कृत में 'निबन्ध' के लिए प्रबन्ध का प्रयोग प्रचलित है। संस्कृत का 'प्रबन्ध' ही हिन्दी में 'निबन्ध' के रूप में प्रचलित हो उठा। यद्यपि संस्कृत में प्रबन्ध और निबन्ध में पर्याप्त अन्तर समझा जाता है, पर हिन्दी में कुछ दिनों तक 'प्रबन्ध' और 'निबन्ध' दोनों का प्रयोग पर्यायवाची के रूप में होता रहा। संस्कृत के आचार्यों के मतानुसार 'प्रबन्ध' उस रचना को कहते हैं, जिसमें किसी सम्बद्ध विचार या विषय का प्रतिपादन गम्भीरता पूर्वक किया गया हो। इसके प्रतिकूल निबन्ध उस रचना को कहा जाता है, जो बौद्धिक अभिव्यक्ति का साधन हो, तथा जो संक्षिप्त और स्वतन्त्र हो, तथा जिसमें व्यक्तित्व की प्रधानता हो। 'प्रबन्ध' और निबन्ध में मौलिक मतभेद होते हुए भी हिन्दी में कुछ दिनों तक दोनों का प्रयोग एक ही अर्थ में होता रहा। अँगरेजों के शासन की स्थापना के पश्चात् जब हिन्दी अँगरेजी के संपर्क में आई, तो हिन्दी में 'निबन्ध' शब्द ने एक नया अर्थ धारण किया। वह संस्कृत के प्रबन्ध शब्दार्थ से पूर्ण रूप से पृथक होकर अँगरेजी के 'एसे' शब्दार्थ के रूप में व्यवहृत होने लगा। आज हिन्दी में निबन्ध का अर्थ अँगरेजी के 'एसे' के ही अर्थ के रूप में ग्रहण किया जाता है। अँगरेजी के 'एसे' के आकार प्रकार, और गुण-धर्म के समान ही हिन्दी के 'निबन्ध' का आकार प्रकार और गुण-धर्म भी होता है। इसीलिए तो सभी समालोचकों ने एक मत से इस बात को स्वीकार किया है कि हिन्दी के निबन्ध के जन्म और विकास के मूल में अँगरेजी के निबन्धों का ही प्रभाव अन्तर्निहित है।

हिन्दी साहित्य में भारतेन्दु काल नवीन युग का काल माना जाता है। हिन्दी के गद्य और पद्य-जगत में भारतेन्दु काल से ही नवीन भावनाओं का उदय हुआ है। हिन्दी निबन्ध और भारतेन्दु — हिन्दी साहित्य में जिसे खड़ी बोली का गद्य कहते हैं, उसका जन्म और विकास भारतेन्दु काल से ही हुआ है। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र हिन्दी खड़ी बोली गद्य के जन्मदाता माने जाते हैं। भारतेन्दु हरिश्चन्द्रजी ने जिस प्रकार हिन्दी खड़ी बोली के गद्य को जन्म देकर उसमें उपन्यास, कहानी, नाटक, और आलोचना इत्यादि साहित्य के अंगों की सृष्टि की, उसी प्रकार उन्हीं के हाथों द्वारा निबन्ध का पौदा भी रोपा गया। हिन्दी साहित्य में सर्व प्रथम भारतेन्दु हरिश्चन्द्रजी ने ही ऐसे निबन्धों को जन्म दिया, जिनमें अँगरेजी के 'एसे' के गुण मिलते हैं। यद्यपि उन्होंने उच्चकोटि के निबन्धों की रचना नहीं की, किन्तु इस बात से अस्वीकार नहीं किया जा सकता, कि उन्होंने ही हिन्दी निबन्ध के पौदे को लगाया। उन्होंने हिन्दी निबन्ध के पौदे को केवल लगाया ही नहीं, वरन् उसके विकास और उसकी अभिवृद्धि के लिए प्रयत्न भी किया। उनके प्रयत्नों, और उनकी प्रेरणाओं से उनके युग में कई यशस्वी निबन्ध लेखकों का आविर्भाव हुआ, जिनमें

बद्री नारायण चौधरी, लाला श्री निवासदास, पं० गोविन्द नारायण मिश्र, बा० तोताराम, पं० प्रतापनारायण मिश्र, पं० अंबिकादत्त व्यास, पं० बालकृष्ण भट्ट, और पं० केशवराम भट्ट इत्यादि का महत्व पूर्ण स्थान है।

भारतेन्दुजी ने जिस निबन्ध के पौदे को लगाया था, उनके सहयोगियों ने उसे पल्लवित और पुष्पित बनाने के लिए उसे खाद और पानी दिया। हिन्दी निबन्ध का यह शैशव काल था। इस समय वह धीरे-धीरे आगे बढ़ना सीख रहा था। अतः उसका क्षेत्र बहुत ही सीमित था। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र और उनके सहयोगियों ने निबन्ध रचना के लिए जिन विषयों को चुना था, उनमें अधिकतर तीन प्रकार के विषय थे—सामाजिक, ऋतु संबंधी, और पर्व तथा त्योहार संबंधी। अधिकतर निबन्ध पर्वों और त्योहारों पर ही लिखे गए हैं। इन निबन्धों में भी विचारों की अल्पता और वर्णन की अधिकता पाई जाती है। इनके लेखकों ने विचारों और भावों की ओर बहुत कम ध्यान दिया है। उनका ध्यान शब्दों की ओर बहुत अधिक दिखाई देता है। किसी किसी निबन्ध लेखक ने तो शब्दों का 'अनुप्रास' एकत्र करने में अपनी प्रतिभा का अद्भुत चमत्कार प्रगट किया है। पं० रामचन्द्र शुक्ल ने इन लेखकों के संबंध में अपने जो विचार व्यक्त किए हैं, उससे उनकी स्थिति, और उनके स्वरूप का वास्तविक चित्र सामने आ जाता है। देखिए—'बहुत से लेखकों का यह हाल रहा, कि कभी अखबार नवीसी करते, कभी उपन्यास लिखते, कभी नाटक में दखल देते, और कभी कविता की आलोचना करते, और कभी कभी इतिहास और पुरातत्व की बातें सामने लाते।' इस प्रकार इस काल के निबन्ध लेखकों का अपना कोई विशिष्ट लक्ष्य नहीं था। विशिष्ट लक्ष्य न होने के कारण उनके निबन्धों की कला का स्वरूप बिलकुल अस्त-व्यस्त दिखाई पड़ता है। उनके निबन्धों में न गंभीरता है, और न व्यवस्था है; फिर भी उनके निबन्धों का मूल्य है, और वह इसलिए है, कि उनके निबन्ध हिन्दी के निबन्ध साहित्य के इतिहास को सुस्पष्ट करने में अधिक सहायता पहुँचाते हैं।

—:o:—

हिन्दी निबन्ध—भारतेन्दु काल

हिन्दी निबन्ध के इतिहास, और उसके क्रमिक विकास को ठीक ठीक समझने के लिए हम उसे तीन कालों में विभक्त करते हैं—भारतेन्दुकाल, द्विवेदीकाल, और आधुनिक काल। हिन्दी निबन्ध के जन्मदाता भारतेन्दु हरिश्चन्द्र जी हैं। सर्व प्रथम उन्होंने ही हिन्दी निबन्ध को वह स्वरूप दिया, जिसे हम निबन्ध कह सकते हैं। यही कारण है, कि हम भारतेन्दु हरिश्चन्द्र जी से ही हिन्दी निबन्ध के इतिहास का प्रारंभ मानते हैं। पर इसका यह तात्पर्य नहीं है, कि भारतेन्दु हरिश्चन्द्र जी के पूर्व हिन्दी निबन्ध का अस्तित्व ही नहीं था। भारतेन्दु हरिश्चन्द्रजी के पूर्व स्वामी दयानन्द का आविर्भाव हो चुका था। स्वामी दयानन्दजी के द्वारा आर्य समाज की प्रतिस्थापना भी हो चुकी थी। आर्य समाज के विद्वानों और प्रचारकों की ओर से हिन्दी में निबन्ध भी लिखे जाने लगे थे। इन निबन्धों का उद्देश्य केवल धर्म प्रचार, और धार्मिक सिद्धांतों का खंडन मंडन होता था। इनमें न साहित्यिकता थी, और न उनकी भाषा और शैली का ही कोई स्वरूप होता था। इस प्रकार के निबन्धों के प्रणयन में पं० भद्रा राम फुल्लौरी ने अधिक सुकीर्ति प्राप्त की है।

हिन्दी निबन्ध भारतेन्दु जी के पूर्व

सर्व प्रथम भारतेंदु हरिश्चन्द्र जी ने ही हिन्दी निबन्ध को नियम और व्यवस्था के साँचे में ढाला। उन्होंने निबन्ध में साहित्यिकता का समावेश किया, और उसमें मनोवैज्ञानिकता का भी संचार किया। विचार, भाषा, और शैली-प्रत्येक दृष्टि से उन्होंने हिन्दी निबन्ध को एक नया जीवन प्रदान किया। उन्होंने हिन्दी निबन्ध को गतिशील बनाने के लिए तीन पत्र प्रकाशित किए, जिनके नाम इस प्रकार हैं—कवि वचन सुधा, हरिश्चन्द्र चन्द्रिका, और बालबोधिनी। इन पत्रों में भारतेन्दुजी ने विभिन्न विषयों पर लेख प्रकाशित किए। उन्होंने स्वयं विभिन्न विषयों पर महत्व पूर्ण निबन्धों की रचना की। उन्होंने अन्यान्य लेखकों को भी निबन्ध-रचना के लिए प्रोत्साहित किया। कहना न होगा, कि उनके प्रोत्साहन से कई निबन्ध लेखकों का आविर्भाव हुआ, जिन्होंने हिन्दी निबन्ध कला को अग्रसर करने में प्रशंसनीय योग दिया। भारतेन्दु और उनके सहयोगियों के प्रयत्नों से ही हिन्दी निबन्ध कला विघ्न-बाधाओं की खाइयों को पार करती हुई उन्नति के क्षेत्र की ओर आगे बढ़ सकी है।

हिन्दी निबन्ध भारतेन्दु हरिश्चन्द्र

भारतेंदु हरिश्चन्द्रजी ने विभिन्न विषयों पर निबंधों की रचना की है। उनके नाटकों में भी निबन्ध कला का प्रादुर्भाव हुआ है। उन्होंने कई आख्यानों की भी रचना की है। इतिहास के ऊपर भी उन्होंने कई गवेषणात्मक निबन्ध लिखे हैं। उन्होंने हास्य और व्यंग संबंधी लेखों की भी रचना की है। उनके निबंध हरिश्चन्द्र कला भाग ४ में संगृहीत हैं। उनके निबन्धों का जब हम मथन करते हैं, तो उसमें चार प्रकार की शैली पाते हैं—परिचयात्मक शैली, भावात्मक शैली, गवेषणात्मक शैली, और व्यंगात्मक शैली। परिचयात्मक शैली का विकास इतिहास संबंधी लेखों में मिलता है। भाव पूर्ण रचनाओं में भावत्मक शैली मिलती है। भारत जननी, चन्द्रावली, और भारत दुर्दशा इत्यादि नाटकों में इसी शैली का विकास हुआ है। साहित्यिक और ऐतिहासिक निबंधों में गवेषणात्मक शैली का आविर्भाव हुआ है। व्यगात्मक और हास्य रसात्मक लेखों में व्यगात्मक शैली मिलती है।

शैली की दृष्टि से ही नहीं, भाषा की दृष्टि से भी भारतेंदुजी के निबंधों में नवीनता मिलती है। भारतेंदुजी के पूर्व लल्लूलाल, सदल मिश्र, इन्शाअल्लाह खाँ, और प० सदासुख लाल इत्यादि की भाषा का प्रचार था। भारतेन्दुजी ने इन लेखकों से, पृथक अपनी भाषा का गठन किया। उनकी भाषा खड़ी बोली है, जिसमें संस्कृत के चलते हुए तत्सम शब्दों के साथ ही साथ अरबी, और फारसी, के भी प्रचलित शब्द पाए जाते हैं। इन्होंने अपनी भाषा को अधिक से अधिक व्यावहारिक और सजीव बनाने का प्रयत्न किया है। उनके नाटकों में व्यावहारिक भाषा का विकास बड़ी सुन्दरता के साथ हुआ है। निबन्धों की भाषा में उस प्रकार की व्यावहारिकता नहीं पाई जाती। निबन्धों की भाषा में संस्कृत के तत्सम शब्दों का प्रयोग अधिक मिलता है, जिससे प्रवाह और गतिमयता में कहीं कहीं बाधा उपस्थित हो गई है। यह होते हुए भी उस प्रथम भाषा ने भारतेन्दुजी के निबन्धों में ही अपने वास्तविक स्वरूप को प्राप्त किया है।

भारतेन्दुजी ने हिन्दी निबन्ध के जिस पौदे को लगाया था, उसे पल्लवित और पुष्पित बनाने में पं० प्रताप नारायण मिश्र, पं० बालकृष्ण भट्ट, ठाकुर जगमोहनसिंह, बद्री नारायण चौधरी, लाला श्री निवासदास, पण्डित अंबिकादत्त व्यास, पं० सुधाकर द्विवेदी, और पं० राधाचरण गोस्वामी इत्यादि ने प्रशंसनीय योग प्रदान किया है। यद्यपि इन सभी लेखकों ने अपनी भाषा और शैली के द्वारा हिन्दी निबन्ध कला को महत्व पूर्ण बनाने का प्रयत्न किया है, किन्तु इनमें पं० बालकृष्ण भट्ट, और पं० प्रतापनारायण मिश्र की सेवाएँ स्तुत्य हैं। अतः हम यहाँ इन्हीं के ऊपर विशेष रूप से प्रकाश डाल कर भारतेन्दु काल को समाप्त करेंगे।

भारतेन्दु काल के निबंध लेखकों में पं० बालकृष्ण भट्ट का अधिक महत्व पूर्ण

स्थान है। भारतेन्दुजी के पश्चात् पं० बालकृष्ण भट्टजी के प्रयत्नों के द्वारा हिन्दी

पं० बालकृष्ण भट्ट — निबन्ध कला को अधिक बल और जीवन प्राप्त हुआ है। भट्टजी ने हिन्दी निबन्ध कला को दो रूपों में जीवन प्रदान किया है—पत्रकार के रूप में, और निबन्धकार के रूप में। उनका पत्रकार का रूप अधिक स्तुत्य और प्रशंसनीय है। उन्होंने अनेक कठिनाइयों के होते हुए भी बत्तीस वर्षों तक हिन्दी-प्रदीप का प्रकाशन और सम्पादन किया। हिन्दी प्रदीप के द्वारा उन्होंने हिन्दी निबंध कला को अधिक प्रेरणा प्रदान की। उन्होंने हिंदी-प्रदीप में विभिन्न विषयों पर लेख प्रकाशित किए। उन्होंने स्वयं हिन्दी प्रदीप में विभिन्न विषयों पर लेख लिखे। उनके निबंधों का अपना एक स्वरूप है। उनके निबंध छोटे-छोटे विषयों पर बड़े मार्मिक ढङ्ग से लिखे गए हैं। छोटे छोटे विषयों को निबंध का रूप देने में उन्होंने अद्भुत चातुर्य प्रदर्शन किया है। उनके निबंधों का एक संग्रह 'साहित्य सुमन' के नाम से प्रकाशित हुआ है।

शैली और भाषा की दृष्टि से भी भट्टजी के निबंध बड़े मार्मिक हैं। उनके निबंधों में दो शैलियाँ विशेष रूप से पाई जाती हैं—परिचयात्मक शैली, और भावात्मक शैली। सामाजिक विषयों पर लिखे गए कौतूहल वर्द्धक निबंधों में परिचयात्मक शैली का विकास हुआ है। बिद्वत्ता पूर्ण लिखे गए साहित्यिक निबंधों में भावात्मक शैली पाई जाती है। उनकी भावात्मक शैली अधिक आकर्षक, और प्रसाद गुण युक्त है। इसी शैली के निबंधों के कारण भट्टजी को निबंध-जगत में अधिक सुख्याति प्राप्त हुई है। भाषा की दृष्टि से भी भट्टजी का अपने समकालीन निबंधकारों में सर्वोच्च स्थान है। उनकी भाषा बड़ी शिष्ट, और संयत है। उनके निबंधों में दो प्रकार की भाषा पाई जाती है। एक प्रकार की भाषा में संस्कृत के तत्सम शब्दों की प्रधानता है, और दूसरी प्रकार की भाषा में संस्कृत के तत्सम शब्दों के साथ ही साथ अँगरेजी, फारसी, और अरबी शब्दों का भी योग मिलता है। उन्होंने अपनी भाषा में मुहावरों और कहावतों का भी प्रयोग किया है।

भारतेंदुजी के लगाए हुए निबंध के पौदे को पं० प्रतापनारायण मिश्र के द्वारा अधिक बल और जीवन प्राप्त हुआ है। पं० प्रताप नारायण मिश्र भारतेंदु

पं० प्रताप नारायण मिश्र — मण्डल के निबंधकारों में अपना विशिष्ट स्थान रखते हैं। भट्टजी की भाँति ही मिश्रजी ने भी निबंध कला को दो रूपों में प्रोत्साहन प्रदान किया है—संपादक के रूप में, और निबंध लेखक के रूप में। संपादक के रूप में उन्होंने ब्राह्मण, हिन्दोस्थान, भारत जीवन, और फतेहगढ़ पञ्च इत्यादि पत्रों का संपादन किया। 'ब्राह्मण' में उनके निबंध प्रायः प्रकाशित हुआ करते थे। उनके निबंधों का विषय धार्मिक, सामाजिक, और राजनीतिक होता था। वे प्रायः धार्मिक और सामाजिक विषयों को लेकर व्यंग एवं विनोद पूर्ण निबंध लिखा करते थे।

मिश्रजी के निबंधकार का स्वरूप अपनी एक विशिष्टता रखता है। यद्यपि

उन्होंने गंभीर विषयों पर निबंधों की रचना नहीं की है, पर उनके निबंधों में एक विशिष्टता पाई जाती है। यह विशिष्टता है, उनका व्यंग और हास्य। हास्य और व्यंग पूर्ण निबंधों की रचना के लिए ही उन्हें हिन्दी के निबंध-जगत में सुकीर्ति प्राप्त है। उन्होंने सामाजिक, धार्मिक, और राजनीतिक विषयों पर व्यंग्य पूर्ण निबंधों की रचना की है। उनके निबंधों के कुछ विषय इस प्रकार हैं—होली, रिश्वत, देशोन्नति, गुप्त ठग, मुच्छ, गंगाजी, बन्दरों की सभा, जाने न बूझे, कठौता ले कै जूझै। इसी प्रकार के और भी बहुत से चालू, और साधारण विषयों पर उन्होंने निबंध लिखे हैं। उनके निबंधों में न तो विषय का विवेचन मिलता है, और न भावों की गंभीरता ही दिखलाई देती है। उनके सभी निबन्ध वर्णनात्मक हैं, जिन पर हास्य और व्यंग का पुट है। हास्य और व्यंग के द्वारा उन्होंने अपने निबन्धों को अधिक प्रभाव पूर्ण और मार्मिक बना दिया है।

भारतेन्दु मण्डल के निबंधकारों में शैली और भाषा की दृष्टि से मिश्रजी का अधिक महत्व पूर्ण स्थान है। मिश्रजी के निबन्धों में दो प्रकार की शैली पाई जाती है—गंभीर विचारात्मक, और हास्य एवं व्यंग पूर्ण। गंभीर विचारात्मक शैली का विकास उन निबंधों में हुआ है, जिनके विषय साहित्यिक और विचार पूर्ण हैं। इस शैली में मिश्रजी को अधिक सफलता नहीं प्राप्त हो सकी है। इसका कारण यह है, कि यह शैली मिश्रजी की प्रकृति के विपरीत थी। मिश्रजी विनोदी स्वभाव के व्यक्ति थे। उनकी दूसरी शैली जिसे हास्य एवं व्यंग पूर्ण शैली कहते हैं, उनकी प्रकृति के अनुकूल थी। अतः इस शैली में उन्हें अधिक सफलता प्राप्त हुई है। उनके धार्मिक, सामाजिक और राजनीतिक विषयों के निबन्ध इसी शैली में हैं। उनकी इस शैली के दो रूप मिलते हैं—एक रूप तो वह है, जिसमें हास्य और विनोद की अधिकता है और दूसरा रूप वह है, जिसमें व्यंग और कटाक्ष के तत्त्व हैं। इस शैली के दोनों ही रूपों का निर्वाह उनके निबन्धों में अधिक सुन्दरता और कुशलता के साथ हुआ है। शैली के अनुरूप ही मिश्रजी की भाषा भी है। मिश्रजी ने अपने निबन्धों की रचना जन साधारण के लिए की है। अतः उन्होंने अपनी भाषा में ग्रामीण शब्दों का अधिक प्रयोग किया है। उनकी भाषा में अरबी, फारसी और अँगरेजी के चलताऊ शब्द भी मिलते हैं। उन्होंने अपनी भाषा में जन-समाज में प्रचलित कहावतों और मुहावरों का अधिक प्रयोग किया है। उनकी भाषा जन समाज के लिए उपयुक्त तो है, पर वह शुद्ध नहीं है। उन्होंने भाषा की शुद्धता की ओर बहुत कम ध्यान दिया है। उनकी भाषा में व्याकरण और विराम प्रयोग सम्बन्धी अनेक त्रुटियाँ पाई जाती हैं।

भारतेन्दु काल के अन्य निबन्धकार

भारतेन्दु मंडल के लेखकों में पं० बद्री नारायण चौधरी, लाला श्री निवासदास, ठाकुर जगमोहनसिंह, पं० अम्बिकादत्त व्यास, राधाकृष्णदास, और कार्तिक प्रसाद खत्री इत्यादि का भी महत्व पूर्ण स्थान है। बद्री नारायण चौधरी ने सम्पादक और निबन्धकार के रूप में

निबन्ध कला का शृंगार किया है। यह आनन्द कादम्बिनी के सम्पादक थे, और प्रायः इसी में निम्बध लिखा करते थे इन्होंने नाटकों की भी रचना की है। उनकी भाषा और शैली अधिक कला पूर्ण तथा विलक्षण है। उन्होंने अपनी भाषा में अनुप्रासित शब्दों की हाट लगाने में भी अपने ध्यान को केन्द्रित रखा है। लाला श्री निवासदास की भाषा में बोलचाल के शब्द मिलते हैं। इन्होंने अपनी शैली को अधिक व्यावहारिक बनाने का प्रयत्न किया है। ठाकुर जगमोहनसिंह की भाषा में संस्कृत के तत्सम शब्दों की बहुलता मिलती है। पं० अम्बिकादत्त व्यास, राधाकृष्णदास, और कार्तिक प्रसाद खत्री ने भी गद्य में पुस्तकें लिख कर निबन्ध कला को किसी न किसी रूप में प्रोत्साहन प्रदान किया है।

—:*:—

हिन्दी निबन्ध—द्विवेदी काल

हिन्दी निबन्ध का द्वितीय काल द्विवेदी काल है, जिसके प्रवर्तक पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी हैं। भारतेन्दु काल में हिन्दी निबन्ध ने जन्म धारण करके आगे चलने का प्रयत्न किया था। भारतेन्दु काल में उसका क्षेत्र बहुत ही सीमित था। अधिकांश निबन्धकारों ने वर्णनात्मक शैली के क्षेत्र में ही अपनी प्रतिभा का प्रदर्शन किया है। इनकी भाषा में केवल शब्दों का ही बाहुल्य पाया जाता है। कुछ ऐसे भी निबन्धकार भारतेन्दु काल में हुए हैं, जिन्होंने चमत्कार युक्त शब्दों का ढेर एकत्र करने में ही अपनी कला का उपयोग किया है। भारतेन्दु काल के निबन्धकारों की दृष्टि विषय के विवेचन की ओर बहुत कम रही है। भाषा की शुद्धता, और वैज्ञानिकता की ओर भी उन्होंने बहुत कम ध्यान दिया है। भारतेन्दु काल के इन अभावों की पूर्ति द्विवेदी काल में हुई है। द्विवेदी काल में निबन्धकला ने अपने पग को आगे बढ़ाया है। भारतेन्दु काल में जहाँ वह सामाजिक और धार्मिक विषयों को ही लेकर व्यस्त दिखाई पड़ती है, वहाँ वह द्विवेदी काल में राजनीति, साहित्य, अर्थ, पुरातत्व इतिहास, अर्थ, और विज्ञान इत्यादि विषयों के क्षेत्र में भी पदार्पण करती है। द्विवेदी काल में वह विषय के बाहर ही चक्कर न लगा कर उसके भीतर भी प्रवेश करती है। द्विवेदी काल में उसकी दृष्टि विवेचन, और विश्लेषण की ओर दिखाई पड़ती है। शैली और भाषा के क्षेत्र में भी द्विवेदी काल की हिंदी निबन्ध कला ने परमोन्नति की है। द्विवेदी काल में शैली अधिक परिमार्जित, व्यवहारिक, और प्रवाहमयी तथा प्रांजल बनी है। द्विवेदी काल में निबन्ध की शैली की प्रवृत्ति भाव की ओर अधिक उन्मुख हुई है। उसमें वैज्ञानिकता ने भी समावेश किया है। द्विवेदी काल में निबन्ध की भाषा में अधिक परिमार्जन और संशोधन हुआ है। भारतेन्दु काल में निबन्धों की भाषा में जो त्रुटियाँ थीं, उनका पूर्ण रूप से सुधार द्विवेदी काल में हुआ है। द्विवेदी काल में केवल भाषा की त्रुटियों को ही दूर नहीं किया गया, वरन् भाषा के भीतर वैज्ञानिक गुणों का भी समावेश किया गया। भाषा को अधिक शुद्ध, सुदृढ़, और परिमार्जित भी बनाया गया। विचार, शैली, और भाषा-प्रत्येक दृष्टि से द्विवेदी काल हिंदी निबन्ध कला का 'जीवन दाता' काल माना जा सकता है।

जिस प्रकार भारतेंदुजी ने निबन्ध के पौदे को लगा कर यश प्राप्त किया है, उसी प्रकार पं० महावीर प्रसादजी ने उस पौदे को जीवन और प्राण देकर अधिक

पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी

बलवान बनाया है। पं० महावीरप्रसाद द्विवेदीजी ने निबन्ध के पौदे को बलवान, और पुष्ट बनाने के लिए स्तुत्य साधना और प्रयत्न किये हैं। उन्हीं के प्रयत्नों के परिणाम स्वरूप आज हिंदी निबन्ध का पौदा अपने क्षेत्र में, अपनी विशिष्टता के साथ लहलहा रहा है। यही कारण है, कि हम द्विवेदीजी को युग निर्माता मानते हैं। द्विवेदीजी ने उन समस्त त्रुटियों को दूर किया, जो भारतेंदु काल में निबन्ध जगत में व्याप्त थीं। द्विवेदीजी के पूर्व निबन्ध की शैलियाँ सीमित थीं। कुछ ही विषयों पर निबन्ध-रचना की जाती थी, और उनकी कुछ ही शैलियाँ भी थीं। द्विवेदीजी ने विषयों के क्षेत्र का विस्तार किया, और उन विषयों के अनुसार ही उनकी शैलियों की रूप रेखा भी निर्द्धारित की। उन्होंने उन शैलियों को ओज, प्रसाद, और माधुर्य से भी परिपूर्ण किया। उन्होंने शैलियों में भावों के उन्मेष की प्रवृत्ति उत्पन्न की। इतना ही नहीं, उन्होंने उसमें विश्लेषण और विवेचन का गुण भी पैदा किया। इस प्रकार उन्होंने हर एक प्रकार से शैली को परिमार्जित, और परिपुष्ट बनाया। शैली की भाँति ही उन्होंने भाषा का भी संस्कार किया। उनके पूर्व भाषा का कोई स्वरूप नहीं था। जितने निबन्धकार थे, सब की अपनी अपनी भाषा थी। खड़ी बोली का कोई निश्चित स्वरूप न था। भाषा में अशुद्धियों की भी भरमार थी। द्विवेदीजी ने खड़ी बोली के स्वरूप को निश्चित करने, और भाषा को परिमार्जित करने के उद्देश्य से 'सरस्वती' में ऐसे निबन्धकारों की आलोचनाएँ करनी प्रारम्भ कर दीं, जो भाषा के क्षेत्र में असावधानी से काम करते थे। एक ओर उन्होंने निबन्धकारों की त्रुटियाँ बतानी प्रारंभ कीं, और दूसरी ओर उन्होंने भाषा के शुद्ध स्वरूप को भी उपस्थित करना प्रारंभ कर दिया। द्विवेदी जी के इन प्रयत्नों के परिणाम स्वरूप लेखकों और निबन्धकारों का ध्यान भाषा की शुद्धता की ओर आकर्षित हुआ। वे भाषा के क्षेत्र में सतर्कता और सावधानी के साथ काम करने लगे। द्विवेदीजी की आलोचनाओं से भयभीत होकर वे ऐसी भाषा लिखने लगे, जो व्याकरण की दृष्टि से शुद्ध तो होती ही थी, साथ ही उसमें वैज्ञानिक तत्त्वों का भी समावेश होता था। इस प्रकार द्विवेदीजी के प्रयत्नों से खड़ी बोली ने एक स्वरूप धारण किया, और भाषा परिमार्जित तथा शुद्ध हुई।

द्विवेदीजी ने केवल भाषा और शैली के क्षेत्र में ही सुधार नहीं किया, वरन् उन्होंने विषयों के क्षेत्र का भी विस्तार किया। द्विवेदीजी के पूर्व समाज, धर्म और राजनीति संबंधी विषयों पर ही निबन्धों की रचना की जाती थी। इन विषयों के चित्रण में भी, केवल उनके बाह्य स्वरूप का ही स्पर्श रहता था। द्विवेदीजी ने 'सरस्वती' के द्वारा विषयों का विस्तार किया। उन्होंने सरस्वती में विभिन्न विषयों पर लेख प्रकाशित करना प्रारंभ कर दिया। वे 'सरस्वती' में दूसरों के विभिन्न विषयक लेख तो छापते ही थे, साथ ही स्वयं भी विभिन्न विषयों पर लेख लिखते थे। अँगरेजी,

बँगला, और मराठी भाषा के पत्र-पत्रिकाओं से विभिन्न विषयों के लेख अनूदित भी किया करते थे। इस प्रकार के अनूदित निबंधों के द्वारा उन्होंने हिंदी के लेखकों में, विभिन्न विषयों पर लेख और निबन्ध लिखने की प्रवृत्ति भी उत्पन्न की। द्विवेदी जी के इन प्रयत्नों का परिणाम बड़ा ही आशा, और कल्याणजनक हुआ। थोड़े ही दिनों में हिन्दी साहित्य का क्षेत्र विभिन्न विषयों के लेखों से भर गया, और आज तो उसकी विभिन्न विषयक गद्य रचनाएँ गौरव तथा अभिमान की वस्तु समझी जाती हैं।

द्विवेदीजी का संपूर्ण साहित्यिक जीवन भाषा और शैली के निर्माण तथा सुधार में ही व्यस्त रहा। अतः उन्हें निबन्ध-रचना का समय बहुत कम प्राप्त हो सका। उन्होंने जिन निबन्धों की रचना की है, उनमें भी उनका उद्देश्य 'निबन्ध रचना' नहीं, भाषा और शैली का निर्माण ही है। यही कारण है, कि निबन्ध-रचना के क्षेत्र में उन्हें अधिक सुख्याति प्राप्त नहीं हो सकी है। किन्तु इसका यह अर्थ कदापि नहीं है, कि द्विवेदीजी में निबन्ध-रचना की प्रतिभा-शक्ति का अभाव था। द्विवेदीजी ने अपने अवकाश के समय में जिन निबन्धों की रचना की है, अथवा जिन निबन्धों की रचना में उनका उद्देश्य 'निबन्ध-रचना' है, उनमें उनकी निबंधीय प्रतिभा का विकास बड़ी उद्भटता के साथ हुआ है। उनका 'कवि और कविता' शीर्षक निबन्ध इसी प्रकार का है। 'कवि और कविता' की भाँति ही द्विवेदीजी ने और भी उत्कृष्ट निबन्धों की रचना की है। उनके संपूर्ण निबन्धों को हम पाँच वर्गों में विभक्त कर सकते हैं—साहित्यिक, ऐतिहासिक, वैज्ञानिक, आध्यात्मिक, और जीवन परिचय संबंधी। उनके सभी निबन्ध विचार पूर्ण, संयत, और सुगठित हैं। उन्होंने अपने निबन्धों के विषय के अनुरूप ही उनमें शैली और भाषा का भी प्रयोग किया है। उनके निबंधों के संग्रह विचार विमर्श, रसज्ञ रंजन, साहित्य सीकर, प्राचीन चिह्न, और पुरावृत्त आदि नाम से प्रकाशित हुए हैं।

द्विवेदीजी के निबन्धों का जब हम मन्थन करते हैं, तब उनमें तीन प्रकार की शैलियाँ पाते हैं—परिचयात्मक, आलोचनात्मक, और गवेषणात्मक। ज्ञान विज्ञान संबन्धी निबन्धों में परिचयात्मक शैली का विकास हुआ है। यह शैली अधिक सरल और व्यावहारिक है। आलोचनात्मक शैली उन निबन्धों में पाई जाती है, जिनकी रचना लेखकों की त्रुटियों को बताने और भाषा तथा शैली के परिमार्जन के उद्देश्य से की गई है। यह शैली गम्भीर और ओज पूर्ण है। कहीं कहीं इस शैली में व्यंग का भी पुट है। गवेषणा पूर्ण निबन्धों में गवेषणात्मक शैली प्रस्फुटित हुई है। इस शैली के निबन्ध अधिक गम्भीर और चिन्तन पूर्ण हैं। दूसरी शैलियों की अपेक्षा यह शैली अधिक गूढ़ और गम्भीर है। द्विवेदीजी ने अपनी सभी शैलियों में सरल भाषा को ही स्थान देने का प्रयत्न किया है। उनके आलोचनात्मक और गवेषणात्मक निबन्धों की भाषा में संस्कृत के तत्सम शब्द कुछ अधिक अवश्य मिलते हैं, किन्तु वहाँ भी उनकी भाषा की सरलता और सुबोधता सुरक्षित दिखाई पड़ती

है। द्विवेदीजी भाषा के अपूर्व पारखी थे। उन्होंने अपनी भाषा का गठन बड़ी कुशलता के साथ किया है। उनकी भाषा के शब्द अधिक व्यवहारिक और सजीव हैं। उन्होंने संस्कृत, हिन्दी, और उर्दू के व्यवहारिक शब्दों से छोटे छोटे वाक्यों का गठन किया है। उनके छोटे छोटे वाक्य अधिक भाव पूर्ण, आकर्षक और मार्मिक हैं। उनकी भाषा में कहीं-कहीं अँगरेजी शब्द भी मिलते हैं; तात्पर्य यह, कि उन्होंने भाषा को सजीव, व्यावहारिक और सुव्यवस्थित बनाने के लिए चारों ओर से उपयुक्त साधन एकत्र किए हैं।

द्विवेदीजी ने हिन्दी निबन्ध के जिस पौदे को अधिक सुदृढ़ और स्वस्थ बनाया है, उसे उनके काल के कई लेखकों ने जीवन प्रदान किया है। इन लेखकों में द्विवेदी काल के निबन्धकार—पं० माधव प्रसाद मिश्र, श्री बाल मुकुन्द गुप्त, गोपालराम गहमरी, श्री पं० गोविंद नारायण मिश्र, श्री श्याम-सुन्दरदास, श्री पं० चन्द्रधर शर्मा गुलेरी, श्री पं० जगन्नाथ प्रसाद चतुर्वेदी, अध्यापक पूर्णसिंह, और श्री पद्मसिंह शर्मा इत्यादि का महत्व पूर्ण स्थान है। यहाँ हम उन निबन्धकारों के निबन्धों और उनकी भाषा तथा शैली पर प्रकाश डालने की चेष्टा करेंगे।

द्विवेदी काल के निबन्धकारों में पं० माधव प्रसाद मिश्र का नाम सबसे पहले आता है। मिश्रजी ने निबन्ध कला को दो रूपों में प्रोत्साहन प्रदान किया है—सपादक के रूप में, और लेखक के रूप में। संपादक के रूप में उन्होंने 'वैश्योपकारक' और 'सुदर्शन' नामक पत्रों का सम्पादन किया है। 'सुदर्शन' में प्रायः उनके निबन्ध प्रकाशित हुआ करते थे। इनके निबंधों का विषय प्रायः धार्मिक हुआ करता था। यह कट्टर सनातन धर्मी थे। सनातन धर्म के प्रतिपादन में ही यह निबन्धों की रचना किया करते थे। सनातन धर्म के सिद्धांतों का प्रतिपादन करते समय इनके हृदय में आवेग की उमङ्गें उठा करती थीं; परिणाम स्वरूप इनके निबन्धों की शैली में भी अधिक जोश, और प्रगल्भता मिलती है। इनके निबन्धों का संग्रह 'माधव मिश्र निबन्ध माला' के नाम से प्रकाशित हुआ है। विषय की दृष्टि से इसमें इनके निबन्धों को आठ वर्गों में विभक्त किया गया है—जीवन चरित, पुरातत्व, पर्व या त्योहार, साहित्य, राजनीति, स्थान वर्णन और भ्रमण वृत्तांत, धर्म चर्चा, और आंदोलन, तथा कहानियाँ। यों तो इनके सभी निबन्धों में इनकी अपनी विशिष्टता मिलती है, पर उनमें रामलीला, व्यास पूर्णिमा, परीक्षा, धृति, क्षमा, होली, और बड़ा बाजार इत्यादि निबन्ध महत्व पूर्ण समझे जाते हैं।

मिश्रजी संस्कृत के विद्वान थे। अतः इनकी भाषा में संस्कृत के तत्सम शब्दों की अधिकता मिलती है, किन्तु उनकी भाषा को कठिन नहीं कहा जा सकता। संस्कृत के विद्वान होते हुए भी उन्होंने अपनी भाषा को व्यावहारिकता के साँचे में ढाला है। उन्होंने अपनी भाषा में अधिकतर ऐसे शब्दों का प्रयोग किया है, जिन्हें हम प्रचलित शब्द कह सकते हैं। उनके शब्दों की प्रकृति भाव की ओर विशेष रूप से दिखाई

पड़ती है। भाषा की भाँति ही उनकी शैली भी अधिक व्यावहारिक और प्रवाहमयी है। शैली का प्रवाह उनके निबन्धों में सर्वत्र मिलता है। भाव की ओर अधिक प्रवृत्ति होने के कारण कहीं कहीं उनकी शैली में काव्यात्मकता उत्पन्न हो गई है।

श्री बालमुकुन्द गुप्त द्विवेदी काल के परमोज्वल नक्षत्र हैं। निबन्ध जगत की, उन्होंने दो रूपों में सेवा की है—संपादक के रूप में, और लेखक के रूप में। संपादक

बालमुकुन्द गुप्त

के रूप में उन्होंने 'भारत मित्र', और 'बंगवासी इत्यादि पत्रों का संपादन किया है। लेखक के रूप में उन्होंने कई महत्व पूर्ण विषयों पर निबन्धों की रचना की है। उनके निबन्धों का एक संग्रह 'गुप्त निबन्धावली' के नाम से प्रकाशित हुआ है। गुप्त जी के निबन्धों का विषय सामयिक, और राजनीतिक है। उन्होंने सामयिक और राजनीतिक विषयों पर ही चलती हुई भाषा में विनोद पूर्ण निबन्धों की रचना की है। उनके निबन्धों में 'शिव शंभु का चिट्ठा' अत्यधिक प्रसिद्ध है। राष्ट्र निर्माण और साहित्य भी उनके निबन्धों में अच्छा निबंध समझा जाता है।

गुप्तजी पहले उर्दू के क्षेत्र में थे। हिन्दी के क्षेत्र में आने पर भी उनकी भाषा पर उर्दू का प्रभाव बना रहा। उर्दू के प्रभाव के ही कारण उनकी भाषा चलती और फड़कती हुई है। उन्होंने अपनी भाषा में अरबी और फारसी के व्यावहारिक शब्दों का प्रयोग खुलकर किया है। अँगरेजी के शब्दों का प्रयोग भी कहीं कहीं उनकी भाषा में मिलता है। भाषा की भाँति ही उनकी शैली भी उर्दू से प्रभावित है। उनके निबंधों में हम दो प्रकार की शैली पाते हैं—परिचयात्मक, और आलोचनात्मक। परिचयात्मक शैली उनके अधिकांश निबन्धों में मिलती है। इस शैली में छोटे छोटे वाक्य हैं, जो बड़े रोचक हैं। इस शैली में उन्होंने व्यंगात्मक और मुहावरेदार भाषा का प्रयोग किया है। गंभीर विषयों के निबंध आलोचनात्मक शैली में लिखे गए हैं। इस शैली के निबंधों की भाषा में संस्कृत के तत्सम शब्दों की अधिकता मिलती है।

गोपालराम गहमरी यद्यपि मुख्य रूप से निबन्ध लेखक नहीं थे, पर कभी कभी सामयिक पत्र पत्रिकाओं में निबंध लिखा करते थे। उनके निबन्धों में ऋद्धि-सिद्धि

गोपालराम गहमरी

सर्वोत्कृष्ट निबन्ध समझा जाता है। उनके निबन्धों में एक अद्भुत विलक्षणता पाई जाती है। वे अपनी अनुभूत बात को विलक्षण ढङ्ग से पाठकों के सामने प्रस्तुत करते थे। उनके निबन्धों की भाषा बड़ी चटपटी, प्रगल्भ और मनोरंजक है।

पं० गोविंद नारायण मिश्र प्रतिभाशाली निबन्धकार थे। उन्होंने सामयिक, और साहित्यिक विषयों पर निबंधों की रचना की है। उनके निबंधों पर संस्कृत के

पं० गोविंद नारायण मिश्र

उद्भट निबंधकार बाण और दंडी की शैली की छाप है। वे निबन्ध लिखते समय बाण और दंडी की शैली को ही लक्ष्य मान कर निबन्ध लिखते थे। उन्होंने बाण रचित 'कादम्बरी' की शैली पर

हिन्दी में 'कवि और चित्रकार' के नाम से एक पुस्तक का निर्माण करना भी प्रारंभ किया था। पर वह पुस्तक पूर्ण न हो सकी। इस समय उनके जो निबन्ध मिलते हैं, उनसे उनकी भाषा का पता लगता है। उनकी भाषा गद्य काव्य युक्त और समास अनुप्रासिक है। उसमें संस्कृत के तत्सम शब्दों की बहुलता है। उनके निबंधों का एक संग्रह 'गोविंद निबन्धावली' के नाम से प्रकाशित हुआ।

द्विवेदी काल के निबन्धकारों में बाबू श्यामसुन्दरदासजी का अधिक महत्व पूर्ण स्थान है। बाबू श्यामसुन्दरदासजी ने साहित्य-जगत में तीन रूपों में सुकीर्ति प्राप्त

बाबू श्यामसुन्दरदास

की है—ग्रन्थ प्रणेता के रूप में, निबन्धकार के रूप में, और पुस्तक सम्पादक के रूप में। ग्रंथ प्रणेता के रूप में उन्होंने महत्व पूर्ण ग्रंथों की रचना की है। उनके ग्रंथों में 'भाषा विज्ञान', और 'साहित्यालोचन' का स्थान सर्वोपरि है। निबन्धकार के रूप में उन्होंने साहित्य के विभिन्न अंगों पर लेख लिखे हैं। उनके निबन्धों का विषय कला, नाटक, कविता, और आलोचना इत्यादि हैं। उनके निबन्धों में उनके अध्ययन की गम्भीरता और मननशीलता पाई जाती है। उनके निबन्ध अधिक उच्चकोटि के और अधिक भाव पूर्ण हैं। सम्पादक के रूप में उन्होंने विविध पुस्तकों का सम्पादन किया है। उनकी सम्पादित पुस्तकें सर्वोच्च कक्षाओं में पढ़ाई जाती हैं।

बाबू श्यामसुन्दरदासजी के निबन्धों में दो प्रकार की शैली पाई जाती है—विचारात्मक, और गवेषणात्मक। विचारात्मक शैली का उदय भाषा विज्ञान संबंधी विचार पूर्ण निबन्धों में हुआ है। इस शैली में विषय के अनुकूल ही छोटे छोटे वाक्य मिलते हैं, जो अधिक भाव पूर्ण जान पड़ते हैं। कहीं कहीं आवश्यकतानुसार लंबे लंबे वाक्यों का भी प्रयोग हुआ है। इस शैली की भाषा में संस्कृत के क्लिष्ट तत्सम शब्दों की प्रचुरता मिलती है। गवेषणात्मक शैली का विकास गवेषणा संबंधी निबन्धों में हुआ है। विचारात्मक शैली की अपेक्षा यह शैली सरल और व्यावहारिक है। इसमें एक सुयोग्य और अनुभवी अध्यापक की भाँति विषयों को स्पष्ट करने का प्रयत्न किया गया है। बाबू श्यामसुन्दरजी ने शैली के अनुरूप ही भाषा का प्रयोग किया है। उन्होंने गंभीर विषयों पर ही निबंधों की रचना की है। अतः उनकी भाषा भी अधिक गम्भीर और विचार पूर्ण है। उनकी भाषा में संस्कृत के तत्सम शब्दों की बहुलता मिलती है। विदेशी शब्दों का प्रयोग भी उन्होंने तद्भव के रूप में अपनी भाषा में किया है। उनकी भाषा के दो रूप हैं—एक रूप तो वह है, जो उनके ग्रंथों में मिलता है, और दूसरा रूप वह है, जो उनके निबन्धों में प्राप्त होता है। ग्रंथों की भाषा अधिक साहित्यिक और क्लिष्ट है। निबन्धों में सरल और प्रचलित भाषा का प्रयोग हुआ है।

पं० चन्द्रधर शर्मा गुलेरी उत्कृष्ट निबन्धकार थे। यद्यपि उन्होंने थोड़े ही से निबन्धों की रचना की है, पर उन थोड़े निबन्धों से ही निबन्ध जगत में उनका

पं० चन्द्रधर शर्मा गुलेरी — आदर पूर्ण स्थान बन गया है। हिन्दी साहित्य में गुलेरी जी तीन रूपों में प्रसिद्ध हैं—कहानीकार के रूप में, संपादक के रूप में, और निबन्धकार के रूप में। कहानीकार के रूप में उन्होंने उत्कृष्ट कहानियों की रचना की है। 'उसने कहा था' उनकी हिन्दी की सर्वश्रेष्ठ कहानियों में एक कहानी समझी जाती है। संपादक के रूप में उन्होंने 'समालोचक' का संपादन बड़ी विद्वत्ता के साथ किया था। समालोचक में उनके गंभीर और भाव पूर्ण निबन्ध प्रकाशित हुआ करते थे। उनके निबन्धकार का स्वरूप समालोचक के द्वारा ही सामने उपस्थित हुआ था। गुलेरीजी के निबन्धों का विषय सामाजिक, साहित्यिक, और आलोचनात्मक है। उनके निबन्धों में 'कछुआ धरम' अपने ढग का एक महत्त्व पूर्ण निबन्ध है।

गुलेरीजी संस्कृत के विद्वान थे। संस्कृत का अध्ययन उन्होंने गंभीरता से किया था। अतः उनकी भाषा में संस्कृत के तत्सम शब्द अधिक संख्या में मिलते हैं। पर संस्कृत के विद्वान होते हुए भी उन्होंने अपनी भाषा को अधिक व्यावहारिक बनाने का प्रयत्न किया है। यद्यपि उन्होंने गूढ़ और शास्त्रीय विषयों का ही विवेचन किया है, पर उन्होंने उस विवेचन में सरल भाषा का ही उपयोग किया है। उनकी भाषा साँचे में ढली हुई-सी ज्ञात होती है। भाषा की भाँति ही उनकी शैली भी अधिक प्रवाहमयी, आकर्षक, और प्राणमय है।

पं० जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी, और पं० द्वारिका प्रसाद चतुर्वेदीजी ने भी निबन्ध रचना में सुकीर्ति प्राप्त की है। पं० जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदीजी ने हास्य और विनोद पं० जगन्नाथ प्रसाद चतुर्वेदी और पं० द्वारिका प्रसाद चतुर्वेदी — पूर्ण निबन्धों की रचना की है। उनके निबन्धों में स्थायित्व का अभाव है। पं० द्वारिकाप्रसाद चतुर्वेदीजी ने विविध विषयों पर निबन्धों और प्रबन्धों की रचना की है। उनके निबन्ध विद्यार्थियों के लिए अधिक उपयुक्त हैं।

द्विवेदी काल के निबन्धकारों में सरदार पूर्णसिंहजी का नाम अधिक आदर के साथ लिया जाता है। यद्यपि उनके कुल पाँच ही निबन्ध मिलते हैं, पर उन पाँच सरदार पूर्णसिंह — ही निबन्धों से उन्होंने हिन्दी निबंध जगत में अपना एक विशिष्ट स्थान बना लिया है। उनके निबंधों के नाम इस प्रकार हैं—कन्यादान या नयनों की गंगा, पवित्रता, आचरण की सभ्यता, मजदूरी और प्रेम, तथा सच्ची वीरता। इन निबंधों को हम दो श्रेणियों में विभक्त कर सकते हैं—विचार प्रधान, और भाव प्रधान। सच्ची वीरता, आचरण की सभ्यता, और मजदूरी और प्रेम में विचारों की प्रधानता है। कन्यादान या नयनों की गंगा, और पवित्रता में भावों की प्रधानता देखने को मिलती है। सरदारजी के दोनों ही श्रेणी के निबन्ध अधिक संयत, भाव पूर्ण, और प्रभावोत्पादक हैं। दोनों ही प्रकार के निबन्धों में उनकी निबन्धीय कला का विकास स्वाभाविकता के साथ हुआ है। पूर्णसिंहजी के निबन्धों में दो प्रकार की शैली पाई जाती है—वर्णनात्मक, और विचारात्मक। उनकी वर्णनात्मक

शैली अधिक सरल और सुबोध है। विचार पूर्ण निबन्धों में विचारात्मक शैली का विकास हुआ है। वर्णनात्मक शैली से यह अधिक क्लिष्ट और दुरूह है। उनकी दोनों ही प्रकार की शैलियाँ अधिक व्यावहारिक और प्रवाहमयी हैं। शैली की भाँति ही उनकी भाषा भी अधिक सरल और व्यावहारिक है। उन्होंने अपनी भाषा में संस्कृत के तत्सम शब्दों के साथ ही साथ उर्दू और अँगरेजी के चलते हुए शब्दों का भी प्रयोग किया है। शैली की भाँति ही उनकी भाषा के भी दो रूप मिलते हैं—साधारण और क्लिष्ट। वर्णनात्मक शैली के निबन्धों में सरल भाषा का प्रयोग हुआ है। विचारात्मक शैली के निबन्धों में क्लिष्ट भाषा पाई जाती है।

पं० पद्मसिंह शर्मा द्विवेदीकाल के सुयोग्य निबन्धकार थे। उन्होंने हिन्दी-जगत में तीन रूपों में सुकीर्ति प्राप्त की है—टीकाकार के रूप में, आलोचक के रूप में, और निबन्धकार के रूप में। टीकाकार के रूप में उन्होंने बिहारी के दोहों की टीका की है। आलोचक के रूप में उन्होंने बिहारी सतसई की तुलनात्मक आलोचना बड़ी गम्भीरता, विद्वत्ता, और मननशीलता के साथ की है। निबन्धकार के रूप में उन्होंने साहित्य के विभिन्न अंगों, और सामयिक विषयों पर भी निबंधों की रचना की है। उनके निबन्धों के तीन संग्रह प्रकाशित हुए हैं—प्रबन्ध मंजरी, पद्म पराग, और हिन्दी उर्दू और हिन्दुस्तानी। उनके सभी निबंधों में उनकी अपनी विशिष्टता झलकती है। उन्होंने अपने निबंधों में विषयों का प्रतिपादन प्रभावोत्पादक ढंग से किया है।

शर्माजी की शैली दो प्रकार की है—आलोचनात्मक, और वर्णनात्मक। उनकी आलोचनात्मक शैली के दो रूप हैं। एक रूप तो वह है, जो उनके आलोचनात्मक ग्रंथों में मिलता है, और दूसरा रूप वह है, जो उनके निबंधों में पाया जाता है। ग्रंथों की आलोचनात्मक शैली तुलनात्मक है। शर्माजी अपनी इस शैली के अकेले लेखक हैं। यदि यह कहा जाय तो अत्युक्ति न होगी, कि हिंदी में शर्माजी ने ही तुलनात्मक शैली की नींव डाली है। उनकी इस शैली पर उर्दू की शैली की छाप है। उनकी दूसरी प्रकार की आलोचनात्मक शैली, जो उनके निबन्धों में मिलती है, गम्भीर और विचार पूर्ण है। वर्णनात्मक शैली का विकास सामयिक और कुछ साहित्यिक विषयों के निबन्धों में हुआ है। यह शैली अधिक सजीव और प्रसाद गुण युक्त है। इसमें कहीं कहीं हास्य और व्यंग का भी पुट मिलता है। शर्माजी की भाषा भी दो प्रकार की है। एक को हम विशुद्ध हिन्दी कह सकते हैं, और दूसरी को उर्दू शब्द-प्रधान हिंदी। 'बिहारी सतसई' की आलोचना में उर्दू शब्द-प्रधान हिंदी मिलती है। निबन्धों की भाषा में शुद्ध हिन्दी का प्रयोग हुआ।

हिन्दी निबन्ध---आधुनिक काल

आधुनिक काल हिन्दी निबन्ध का स्वर्ण काल कहा जा सकता है। पं० महावीर प्रसाद द्विवेदीजी ने हिन्दी निबन्ध के जिस पौदे को जीवन प्रदान किया था, और जिसे परिपुष्ट बनाने के लिए उन्होंने परिश्रम पूर्ण साधना की थी, वह आधुनिक काल में ही पल्लवित, पुष्पित, और फल युक्त हो सका है। आधुनिक काल में निबन्ध के उस पौदे में एक से एक सरस और सुन्दर फूल लगे हैं,-जिनकी सुरभि से हिन्दी साहित्य का कोना-कोना सौरभित हो उठा है। उसमें केवल फूल ही नहीं लगे हैं, उसने फल भी दिए हैं, जो अमूल्य होने के साथ ही साथ अधिक रस युक्त भी हैं। निबन्ध का सौरभ और उसका रस उसके विचार, भाषा, और शैली की सुन्दरता, संगठन, तथा मनोवैज्ञानिकता है। आधुनिक काल में हिन्दी के निबन्ध ने सुन्दरता, संगठन, और मनोवैज्ञानिकता की दिशा में प्रशंसनीय उन्नति की है। आधुनिक काल में विषय की दृष्टि से उसका क्षेत्र और भी अधिक विस्तृत हुआ है। आधुनिक काल में ऐसे महत्व पूर्ण विषयों पर निबन्धों की रचना की गई है, जिन पर अभी तक किसी का ध्यान नहीं जा सका था। 'मनोविकार' संबंधी विषयों पर निबन्ध इसी काल में लिखे गए हैं। इसी काल में अर्थ, समाज, राजनीति, नागरिक, साहित्य और कला के विभिन्न अंगों पर विविध प्रकार के निबन्धों की रचना की गई है। भाषा और शैली के क्षेत्र में भी आधुनिक काल में अधिक उन्नति की गई है। आधुनिक काल में भाषा को अधिक भाव-व्यंजक बनाने का प्रयत्न किया गया है। उसमें मनोवैज्ञानिकता का भी सञ्चार किया गया है। भाषा की भाँति ही शैली के क्षेत्र को भी विस्तृत किया गया है। आधुनिक काल में कई प्रकार की शैलियाँ आविर्भूत हुई हैं। आधुनिक काल की शैलियों की सबसे बड़ी विशेषता यह है, कि उनकी प्रवृत्ति अन्तर्मुखी है। वे भावों की अभिव्यंजना की ओर जितना अधिक ध्यान देती हैं, उतना विषयों के वर्णन की ओर नहीं। आधुनिक काल की शैलियों में सांकेतिकता, और लाक्षणिकता भी विशेष रूप में मिलती है।

आधुनिक काल का प्रारम्भ हम आचार्य पं० रामचंद्र शुक्लजी से मानते हैं। शुक्लजी ने ही हिन्दी निबन्ध कला को आधुनिकता का स्वरूप दिया है। शुक्लजी ने पं० रामचंद्र शुक्ल ही सर्व प्रथम ऐसे निबन्धों की रचना की, जिसे हम नवीन प्रकार के निबन्ध कह सकते हैं। 'मनोविकार' संबंधी विषयों पर सर्व प्रथम शुक्लजी

ने ही निबन्धों की रचना की। शुक्लजी के 'मनोविकार' संबंधी निबन्ध हिन्दी के निबन्ध साहित्य की अमूल्य संपत्ति हैं। विचार, भाव, भाषा और शैली-प्रत्येक दृष्टि से इन निबन्धों का अपना विशिष्ट स्थान है। इन निबन्धों को लिख कर शुक्लजी ने हिन्दी निबन्ध की दिशा ही बदल दी। मनोविकारों के अतिरिक्त उन्होंने विविध विषयों पर भाव पूर्ण निबंधों की रचना की है, जिनमें नवीन परिवर्तन की सूचना मिलती है।

शुक्लजी युगांतरकारी निबंधकार थे। उनके निबंधों में उनकी उद्भटता साफ-साफ दिखाई पड़ती है। उन्होंने अपनी लेखनी में अतुल शक्ति और विक्रम एकत्र करके विविध विषयों को निबंधों के साँचे में ढाला है। उनके निबन्धों का संग्रह 'चिंतामणि' के नाम से प्रकाशित हुआ है। 'चिंतामणि' के निबंधों को हम दो वर्गों में विभक्त कर सकते हैं—भावात्मक, और समीक्षात्मक। भावात्मक श्रेणी में वे निबंध आते हैं, जो उत्साह, क्रोध, घृणा और भय इत्यादि मनोविकार संबंधी विषयों पर लिखे गए हैं। समीक्षात्मक श्रेणी के निबन्ध दो प्रकार के हैं। एक प्रकार के तो वे हैं, जो समीक्षा के सिद्धांतों पर लिखे गए हैं, और दूसरे प्रकार के वे हैं, जिनकी रचना समीक्षा के व्यावहारिक विषयों पर की गई है। दोनों ही श्रेणियों के निबंध बड़े ही भाव पूर्ण और प्रभावोत्पादक हैं। उनमें निबन्धीय कला का प्रचुर विकास हुआ है। विचार, भाषा और शैली की दृष्टि से भी वे अद्वितीय हैं।

शुक्लजी के सभी निबंधों में कई विशेषताएँ पाई जाती हैं। उनके निबन्धों की पहली विशेषता तो यह है, कि उनमें विचारों की एक रूपता मिलती है, उनके विचार अधिक व्यवस्थित और शृङ्खलित दिखाई पड़ते हैं; दूसरी विशेषता यह है, कि उनके संपूर्ण निबन्धों पर उनके व्यक्तित्व की छाप है। उन्होंने अपने निबन्धों के विषयों को अपने व्यक्तित्व के ही साँचे में ढाला है, तीसरी विशेषता यह है, कि उनमें हास्य, व्यंग, और विनोद के भी तत्त्व मिलते हैं, चौथी विशेषता यह है, कि उनमें मस्तिष्क और हृदय के तत्त्वों का समन्वय हुआ है; परिणाम स्वरूप जहाँ उनमें विचारों की सघनता है, वहाँ भावों की सरसता भी है, पाँचवीं विशेषता यह है, कि उनमें भाषा और शैली की ओजस्विता मिलती है, छठी विशेषता यह है, कि उनके सभी निबन्ध विचारात्मक हैं, जो निगमन शैली में लिखे गए हैं; अर्थात् पहले सिद्धांतों को सूत्र रूप में प्रगट कर दिया गया है, और फिर इसके पश्चात् उदाहरणों, दृष्टांतों और तर्कों के द्वारा विषय का प्रतिपादन किया गया है, सातवीं विशेषता यह है, कि उनमें विषयों का प्रतिपादन बड़ी कुशलता के साथ किया गया है, आठवीं विशेषता यह है, कि उन्होंने विषय को स्पष्ट करने के लिए उनमें कथाओं का भी समावेश किया है, और नवीं विशेषता यह है, कि उनकी भाषा उनके विचारों के अनुकूल है। इस प्रकार शुक्लजी के निबंध नौ मुख्य विशेषताओं से युक्त होकर हिन्दी के निबन्ध-साहित्य में अपना अमूल्य स्थान रखते हैं।

शुक्लजी के निबन्धों में तीन प्रकार की शैली पाई जाती है—आलोचनात्मक शैली, गवेषणात्मक शैली और भावात्मक शैली। आलोचनात्मक शैली का विकास उनके आलोचना संबंधी निबन्धों में हुआ है। यह शैली दो प्रकार की है—एक शुद्ध आलोचनात्मक, और दूसरी व्यंग पूर्ण। दोनों ही रूपों में मार्मिकता देखने को मिलती है। गवेषणात्मक शैली उन निबन्धों में पाई जाती है, जो दार्शनिक विषयों पर लिखे गए हैं। दार्शनिक भावों से पूर्ण होने के कारण यह शैली दुरूह हो गई है। भावात्मक शैली मनोवृत्तात्मक निबन्धों में प्रगट हुई है। यह शैली अपने ढंग की अनूठी है। इसका गठन छोटे छोटे, भाव पूर्ण और मार्मिक वाक्यों से किया गया है। शैली की भाँति ही भाषा के क्षेत्र में भी शुक्लजी ने अपनी परिपुष्टता प्रगट की है। उनकी भाषा बड़ी शिष्ट, संयत और विद्वत्ता पूर्ण है। भाषा पर उनका पूर्ण रूप से अधिकार परिलक्षित होता है। उनकी भाषा के दो रूप मिलते हैं। एक रूप तो वह है, जिसका गठन संस्कृत के तत्सम और क्लिष्ट शब्दों से हुआ है। दूसरे रूप में व्यावहारिक शब्दों की प्रचुरता मिलती है। आलोचनात्मक और गवेषणात्मक शैली के निबन्धों में प्रथम रूप का ही प्रयोग किया गया है। भावात्मक शैली के निबन्धों में दूसरा रूप, जो व्यावहारिक शब्दों से सुगठित हुआ है, मिलता है।

आधुनिक काल के निबन्ध-जगत का शृंगार सैकड़ों यशस्वी निबन्धकारों से हुआ, और हो रहा है। इन निबन्धकारों को हम दो वर्गों में विभक्त करते हैं।

आधुनिक काल के निबन्धकार

एक वर्ग में तो हम उन निबन्धकारों को लेते हैं, जिन्होंने विषय, विचार, भाषा और शैली के द्वारा अपनी विशिष्टता प्रदर्शित की है, और दूसरे वर्ग में उन निबन्धकारों का नाम आता है, जिन्होंने निबन्ध-जगत की स्तुत्य सेवाएँ की हैं। प्रथम वर्ग के निबन्धकारों में स्वर्गीय प्रेमचंद, गुलाबराय, स्वर्गीय जयशङ्कर प्रसाद, डा० सम्पूर्णानन्द, रायकृष्णदास, पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी, वियोगीहरि, पं० हजारी प्रसाद द्विवेदी, जैनेन्द्र कुमार, डा० रघुवीरसिंह, इत्यादि का महत्व पूर्ण स्थान है। द्वितीय वर्ग के निबन्धकारों में पं० सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला', पं० गिरिजादत्त शुक्ल गिरीश, स्वर्गीय पं० लक्ष्मीधर वाजपेयी, कुँवर राजेन्द्रसिंह, बा० ब्रजमोहन वर्मा ठा० श्रीनाथसिंह, डा० पीतांबर दत्त बड़थ्वाल, पं० सद्गुरुशरण अवस्थी, पं० नन्ददुलारे वाजपेयी, पं० रामचन्द्र शुक्ल शिलीमुख, श्री शांतिप्रिय द्विवेदी, कालिदास कपूर, पं० प्रभुनारायण, डा० धीरेन्द्र वर्मा, डा० रामकुमार वर्मा, श्रीमती महादेवी वर्मा, श्री संतराम बी० ए०, प्रो० हंसराज भाटिया, डा० माताप्रसाद गुप्त, डा० उदय नारायण तिवारी, बा० शीतला सहाय, राहुल सांकृत्यायन, डा० रामशङ्कर शुक्ल रसाल, श्री इलाचन्द्र जोशी, श्री प्रभाकर माचवे, डा० नगेन्द्र, श्री रामनाथ सुमन, श्री राजेन्द्रसिंह गौड़, श्री देव शर्मा अभय, श्री केशनी प्रसाद चौरसिया, और श्री मोहनलाल महतो वियोगी इत्यादि का महत्व पूर्ण स्थान है। यहाँ हम अपने इन निबन्धकारों की रचना और उनकी भाषा तथा शैली पर प्रकाश डालने की चेष्टा करेंगे।

स्वर्गीय प्रेमचन्दजी हिन्दी के उपन्यास सम्राट थे। उन्होंने मुख्य रूप से उपन्यास के क्षेत्र में ही सुकीर्ति प्राप्त की है। पर उनके द्वारा कुछ निबंधों और जीवन चरितों की रचना भी हुई है, जिनमें उनकी प्रतिभा की विशिष्टता दिखाई पड़ती है। प्रेमचन्द जी ने अधिकांश निबन्ध सामयिक विषयों पर लिखे हैं। उनके सभी निबन्ध विचारोन्मुख हैं। अतः उनके निबन्धों में विचारात्मक शैली का विकास हुआ है। उन्होंने अपने निबन्धों में जिस भाषा का प्रयोग किया है, वह भाषा उनके उपन्यासों की भाषा से भिन्न है। इस भाषा में, उपन्यासों की भाषा की अपेक्षा संस्कृत के तत्सम शब्द अधिक मिलते हैं।

प्रेमचंद

स्वर्गीय जयशङ्कर प्रसादजी का मुख्य क्षेत्र कविता, नाटक, कहानी और उपन्यास था। उन्होंने मुख्य रूप से कविता और नाटक के क्षेत्र में ही अपनी प्रतिभा की कुशलता प्रदर्शित की है। पर उन्होंने कुछ उत्कृष्ट निबन्धों की भी रचना रचना की है। उनके निबन्धों को हम इन तीन श्रेणियों में विभक्त कर सकते हैं—प्रारंभिक काल के निबन्ध, भूमिका सम्बन्धी निबंध, और काव्यकला में संगृहीत निबंध। उनके प्रारंभिक निबंध 'चित्राधार' में संगृहीत हैं। इन निबंधों की भाषा और शैली में प्रत्यक्ष रूप से शैथिल्य दिखाई पड़ता है। भूमिका सम्बन्धी निबन्ध भूमिका के रूप में लिखे गए हैं। इन निबंधों में प्रसादजी की अध्ययन शीलता और उनकी मर्मज्ञता का विकास हुआ है। इनकी भाषा और शैली अधिक प्रौढ़ तथा गंभीर है। 'काव्य कला' का प्रकाशन उनकी मृत्यु के पश्चात हुआ है। 'काव्यकला' में संगृहीत निबन्ध साहित्यिक हैं, जो उच्च कोटि के हैं। इन निबन्धों का स्थान अन्यान्य निबंधों से अधिक ऊँचा है। इनमें प्रसादजी की गुरुता के वास्तविक रूप में दर्शन होते हैं। भाषा और शैली का विकास भी इन निबन्धों में उच्च स्तर पर हुआ है।

जयशङ्कर प्रसाद

श्री गुलाबराय उच्चकोटि के निबन्धकार हैं। उन्होंने महत्त्व पूर्ण ग्रन्थों की रचना की है। ग्रन्थों की रचना के साथ ही साथ उन्होंने उच्चकोटि के निबन्ध भी लिखे हैं। विषय की दृष्टि से उनके निबन्धों को हम पांच श्रेणियों में विभक्त कर सकते हैं—साहित्यिक, दार्शनिक, आलोचनात्मक, चारित्रिक, और जीवन वृत्तात्मक। उनके निबन्धों का संग्रह प्रबन्ध प्रभाकर और समाज और साहित्य के नाम से प्रकाशित हुआ है। उनके सभी निबन्धों में उनकी अपनी विशिष्टता पाई जाती है। उनके सभी निबन्ध भाव, भाषा और शैली की दृष्टि से महत्त्व पूर्ण समझे जाते हैं। भाव की दृष्टि से उनके निबन्ध दो वर्गों में विभक्त किए जा सकते हैं—भावात्मक और विचारात्मक। उनके दोनों ही प्रकार के निबन्धों का मन्थन करने पर उनमें दो प्रकार की शैलियाँ मिलती हैं, जिन्हें हम तार्किक, और व्याख्यात्मक शैली की संज्ञा दे सकते हैं। उनके मनोवैज्ञानिक निबन्धों में तार्किक शैली का विकास हुआ है। इस शैली में उनके दार्शनिक विचार उद्भूत हुए हैं। उनकी इस शैली को हम आलोचनात्मक शैली भी कह सकते हैं। उनकी दूसरी शैली व्याख्यात्मक है, जिसमें

श्री गुलाबराय

विचारों के साथ ही साथ भावों का भी सामंजस्य पाया जाता है। उनकी इस शैली के वाक्य छोटे छोटे, प्रभाव पूर्ण, और अधिक संयत हैं। उनकी शैली में कहीं कहीं हास्य और व्यंग का पुट भी पाया जाता है।

शैली की भाँति ही श्री गुलाबरायजी के निबन्धों की भाषा ही दो प्रकार की है—एक संस्कृत के तत्सम शब्दों से युक्त, और दूसरी व्यावहारिक जिसमें संस्कृत के तत्सम शब्दों के साथ ही साथ उर्दू और आवश्यकतानुसार अँगरेजी के शब्द भी प्रयुक्त हुए हैं। आलोचनात्मक शैली के निबन्धों में प्रथम प्रकार की भाषा प्रयुक्त हुई है। यह भाषा संस्कृत के तत्सम शब्दों से युक्त है, जिससे कहीं कहीं उसमें क्लिष्टता भी उत्पन्न हो गई है। व्याख्यात्मक शैली के निबन्धों में दूसरी प्रकार की भाषा का प्रयोग हुआ है। यह भाषा अधिक सरल और सुबोध है। भाषा को प्रभाव पूर्ण बनाने के लिए श्री गुलाबरायजी ने उसमें संस्कृत की उक्तियों और मुहाविरों का भी प्रयोग किया है।

श्री पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी उच्च कोटि के निबन्धकार हैं। निबन्ध रचना के क्षेत्र में उन्होंने अधिक यश अर्जन किया है। हिन्दी साहित्य में वे दो रूपों में प्रसिद्ध हैं—ग्रन्थकार के रूप में और निबन्धकार के रूप में।

श्री पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी ग्रन्थकार के रूप में उन्होंने साहित्य, कला, और आलोचना संबंधी विषयों पर महत्व पूर्ण ग्रंथों की रचना की है। निबन्धकार के रूप में उनकी सेवाएँ स्तुत्य हैं। उन्होंने विविध विषयों पर निबन्धों की रचना की है। उनके निबन्धों के विषयों में साहित्य, समाज, इतिहास, दर्शन, और अध्यात्म इत्यादि विषय मुख्य हैं। उनके निबन्धों में उनकी अपनी विशिष्टता पाई जाती है। उनके सभी निबन्ध अधिक भाव पूर्ण हैं, जिनमें उनकी अध्ययन शीलता, और मनन शीलता साफ-साफ झलकती है। पाश्चात्य निबन्ध कला को हिन्दी निबन्ध कला में समावेश करने का श्रेय बख्शीजी को ही है। बख्शीजी ने ही हिन्दी साहित्य में ऐसे निबन्धों की रचना करने में सुकीर्ति प्राप्त की है, जो भाव, भाषा, शैली, और आकार प्रकार में अँगरेजी के निबन्धों से मिलते-जुलते हैं। बख्शीजी के निबन्धों का संग्रह 'प्रबन्ध पारिजात' और 'कुछ' के नाम से प्रकाशित हुआ।

बख्शीजी के निबन्धों में दो प्रकार की शैली पाई जाती है—व्याख्यात्मक, और आलोचनात्मक। उनकी दोनों ही प्रकार की शैलियाँ अधिक संयत, स्पष्ट और प्रभाव पूर्ण हैं। उनकी शैलियों में स्वाभिकता का विकास मनोहरता के साथ हुआ है। उनकी शैलियों में शब्दों, वाक्यों, और विचारों की क्रमबद्धता भी अधिक पाई जाती है। बख्शीजी ने अपनी दोनों ही प्रकार की शैलियों के निबन्धों में शुद्ध भाषा का प्रयोग किया है। उनकी भाषा संस्कृत के तत्सम शब्दों से युक्त है। कहीं कहीं आवश्यकता पड़ने पर उन्होंने संस्कृत के तत्सम शब्दों के साथ ही साथ उर्दू, और तद्भव शब्दों का भी प्रयोग किया है।

वियोगीहरि कई रूपों में प्रसिद्ध हैं—कवि के रूप में, संपादक के रूप में, निबन्ध-

कार के रूप में, और नाटककार के रूप में। कवि के रूप में उन्होंने जो रचनाएँ
वियोगीहरि की हैं, उनमें 'वीर सतसई' का अत्यधिक महत्व पूर्ण स्थान है। सम्पादक के रूप में उन्होंने सम्मेलन पत्रिका, और 'हरिजन सेवक' का सम्पादन किया है। उनके द्वारा कई पुस्तकें भी संपादित हुई हैं, जिनमें 'व्रजमाधुरी सार' मुख्य है। नाटककार के रूप में उन्होंने वीर हरदौल और छत्रयोगिनी नाटिका की रचना की है। 'तरंगिणी' और 'अंतर्नाद' उनके गद्य काव्यों का संकलन है। निबन्ध कार केरूप में 'वियोगीहरिजी' ने अधिक सुकीर्ति प्राप्त की है। उन्होंने साहित्यिक और दार्शनिक विषयों पर महत्व पूर्ण निबन्धों की रचना की है। सामाजिक और धार्मिक विषयों पर भी उन्होंने निबन्ध लिखे हैं। उनके निबन्धों का संग्रह 'साहित्य विहार' के नाम से प्रकाशित हुआ है।

वियोगीहरिजी के निबन्धों में दो प्रकार की शैली पाई जाती है—भावात्मक और विचारात्मक। उनकी भावात्मक शैली के दो रूप मिलते हैं—एक रूप तो वह है, जो उनके 'साहित्य विहार' के निबन्धों में मिलता है, और दूसरा रूप वह है, जो 'अंतर्नाद' में पाया जाता है। 'अंतर्नाद' में इस शैली का जो रूप पाया जाता है, वह अधिक काव्यात्मक है। उनकी दूसरी शैली, जो विचारात्मक है, दार्शनिक निबन्धों में मिलती है। उनकी दोनों ही शैलियाँ अधिक भाव पूर्ण और सरस हैं। उन्होंने अपनी दोनों ही शैलियों में विषयों का प्रतिपादन बड़े ही आकर्षक ढंग से किया है। शैली की भाँति ही उनकी भाषा भी दो प्रकार की है—शुद्ध साहित्यिक और व्यावहारिक। शुद्ध साहित्यिक भाषा संस्कृत के तत्सम शब्दों से युक्त है। व्यावहारिक भाषा में संस्कृत के तत्सम शब्दों के साथ ही साथ उर्दू के भी शब्दों का प्रयोग हुआ है।

डा० इजारी प्रसाद द्विवेदी हिन्दी के वर्तमान निबंधकारों में अपना महत्व पूर्ण स्थान रखते हैं। उनके निबंधों में उनकी मननशीलता, और अध्ययनशीलता पाई
डा० इजारी प्रसाद द्विवेदी जाती है। उनके निबंधों को हम दो श्रेणियों में विभक्त कर सकते हैं—विचारात्मक और आलोचनात्मक। उनके विचारात्मक निबन्ध दो प्रकार के हैं। एक प्रकार के उनके विचारात्मक निबन्ध वे हैं, जिनकी रचना छोटी छोटी बातों को आधार मान कर की गई है। इन निबन्धों में उनकी अनुभूति और विचार-शक्ति का विकास अधिक गम्भीरता के साथ हुआ है। द्वितीय प्रकार के उनके विचारात्मक निबंध समाज और जीवन से सम्बन्ध रखने वाले विषयों पर लिखे गए हैं। आलोचनात्मक निबन्धों को भी दो वर्गों में विभक्त किया जा सकता है—एक शुद्ध साहित्यिक और दूसरा आलोचना सम्बन्धी। शुद्ध साहित्यिक वर्ग के अंतर्गत उन निबंधों की गणना की जाती है, जो साहित्य के विभिन्न अंगों पर शास्त्रीय ढंग से लिखे गए हैं। आलोचनात्मक वर्ग के निबन्धों में रचनाओं की आलोचना की गई है। द्विवेदीजी के इन निबन्धों का संग्रह 'विचार और वितर्क' और 'आशोक के फूल' के नाम से प्रकाशित हुआ है।

द्विवेदीजी के निबन्धों में गवेषणात्मक शैली का विकास स्वाभाविकता के साथ हुआ है। उनके विचारात्मक, और आलोचनात्मक-दोनों ही प्रकार के निबन्धों में यही शैली पाई जाती है। उनकी यह शैली बड़ी प्रौढ़ और संयत है। उसमें विचारों को प्रगट करने और व्यवस्थित रखने की प्रशंसनीय शक्ति है। शैली की भाँति ही द्विवेदीजी की भाषा भी अधिक शुद्ध, और परिमार्जित है। उनकी भाषा में संस्कृत के तत्सम शब्दों की अधिकता मिलती है। स्थान-स्थान पर उर्दू के शब्दों का प्रयोग भी उन्होंने अपनी भाषा में किया है। मुहाविरों का प्रयोग भी उनकी भाषा में हुआ है।

जैनेन्द्रकुमार जैन का मुख्य क्षेत्र उपन्यास है। हिन्दी के उपन्यासकारों में उनका मुख्य स्थान है। पर उन्होंने निबन्धों की भी रचना की है। उनके निबन्धों

जैनेन्द्रकुमार के कई संग्रह प्रकाशित हुए हैं, जिनके नाम इस प्रकार हैं—जड़ की बात, गाँधी नीति, जैनेन्द्र के विचार, संस्मरण, व्यक्तिवाद, और प्रस्तुत प्रश्न है। उन्होंने समाज, दर्शन और गाँधीजी की नीतियों से सम्बन्ध रखने वाले विषयों पर निबन्धों की रचना की है। उनके निबन्धों में विचारात्मक शैली का विकास हुआ है। उनकी भाषा शुद्ध और परिमार्जित है। उन्होंने अपनी भाषा में संस्कृत के तत्सम शब्दों के साथ ही साथ आवश्यकतानुसार उर्दू, फारसी, और अँगरेजी के भी शब्दों का प्रयोग किया है।

आधुनिक काल के द्वितीय वर्ग के निबन्धकारों में डा० सम्पूर्णानन्द, श्री नन्ददुलारे वाजपेयी, डा० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल, पं० बनारसी चतुर्वेदी, पं० हरिशङ्कर शेष निबन्धकार शर्मा, श्री पं० सदगुरुशरण अवस्थी, श्री शांतिप्रिय द्विवेदी, डा० धीरेन्द्र शर्मा, डा० रामकुमार वर्मा, श्रीमती महादेवी वर्मा, श्री इलाचन्द्र जोशी, श्री पं० गंगा प्रसाद पाण्डेय, और प्रोफेसर नगेन्द्र का अत्यधिक महत्व पूर्ण स्थान है। इन निबन्धकारों ने उक्त निबन्धकारों की भाँति ही निबन्ध-जगत में अपनी समान पूर्ण सत्ता स्थापित की है। डा० सम्पूर्णानन्द उच्चकोटि के निबन्धकार हैं। उनके निबन्धों में उनकी अध्ययन शीलता साफ-साफ दिखाई पड़ती है। उनके सभी निबन्ध विचार तथा विद्वत्ता पूर्ण हैं। उन्होंने अपने निबन्धों में गम्भीर विषयों का विवेचन किया है। उनके निबन्धों का विषय समाज, राजनीति और दर्शन है। उन्होंने शिक्षा, और अध्यात्मक सम्बन्धी विषयों पर भी निबन्धों की रचना की है। उनके सभी विषयों के निबन्ध-निबन्ध-जगत की स्थायी सम्पत्ति हैं। जिस प्रकार उनके निबन्धों का विषय गंभीर है, उसी प्रकार उनकी भाषा और शैली भी गम्भीर है। उनकी शैली विचारात्मक है, जो बड़ी संयत और प्रभावोत्पादक है। उनकी भाषा में संस्कृत के तत्सम शब्दों की अधिकता मिलती है।

श्री नन्ददुलारे वाजपेयी श्रेष्ठ निबन्धकार और समालोचक हैं। उन्होंने साहित्य और आलोचना संबंधी विषयों पर महत्व पूर्ण निबन्धों की रचना की है। श्री शांतिप्रिय द्विवेदीजी ने निबन्ध-जगत में अधिक सुकीर्ति प्राप्त की है। उन्होंने साहित्य,

आलोचना, समाज, और जीवन से संबंध रखने वाले विषयों पर निबन्धों की रचना की है। डा० पीतांबर बड़थ्वाल सुयोग्य निबन्धकार थे। उन्होंने आलोचनात्मक निबन्धों की रचना की है। पं० बनारसीदास चतुर्वेदीजी ने राजनीति, समाज, और साहित्य सम्बन्धी विषयों पर निबन्ध लिखे हैं। पं० हरिशङ्कर शर्मा हास्य और व्यंग पूर्ण निबन्धों के उत्कृष्ट लेखक हैं। उन्होंने इस प्रकार के निबन्धों की रचना में अधिक यशअर्जन किया है। शिक्षा, और समाज संबंधी विषयों पर भी उन्होंने निबन्ध लिखे हैं। श्री सद्गुरुशरण अवस्थी विचारात्मक निबन्धों के लेखक हैं। उन्होंने साहित्य और आलोचना सम्बन्धी विषयों पर निबन्ध लिखे हैं। विचार पूर्ण निबन्धों के प्रणयन में डा० धीरेन्द्र वर्मा ने अधिक प्रसिद्धि प्राप्त की है। उन्होंने साहित्य, समाज, आलोचना, और इतिहास से संबन्ध रखनेवाले विषयों पर निबंध लिखे हैं। उनके सभी विषयों के निबंधों में उनकी अपनी विशिष्टता दिखाई पड़ती है। भाव, भाषा और शैली का सुव्यवस्थित स्वरूप उनके निबन्धों में विशेष रूप से देखने को मिलता है। डा० रामकुमार वर्मा ने उच्चकोटि के निबन्धों की रचना की है। उनके निबंधों का विषय साहित्य और आलोचना है। इन्होंने अपने निबंधों में, विषय का प्रतिपादन सरसता, और मधुरता के साथ किया है। सरस, सरल, और मधुर शैली में निबंध-रचना करने में उन्होंने अधिक यश प्राप्त किया है। श्रीमती महादेवी वर्मा का आधुनिक निबंधकारों में प्रमुख स्थान है। उन्होंने समाज और स्त्री जीवन सम्बन्धी विषयों पर भावपूर्ण निबंधों की रचना की है। संस्मरणात्मक चित्रों के अंकन में वे अपने ढङ्ग की हिन्दी में अकेली लेखिका हैं। पं० इलाचन्द जोशी ने साहित्य, समाज और आलोचना सम्बन्धी विषयों पर महत्व पूर्ण निबंध लिखे हैं। पं० गंगाप्रसाद पाण्डेय और प्रोफेसर नगेन्द्र ने भी साहित्य और आलोचना सम्बन्धी विषयों पर निबंध लिखने में सुकीर्ति प्राप्त की है।
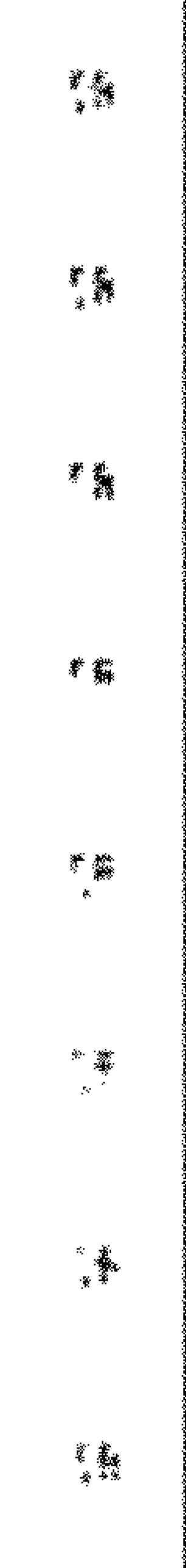
—:०:—